भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास

(मीमांसा, वेदान्त, भगवद्गीता, चार्वाक, बौद्ध और जैन)

जयदेव वेदालंकार

ग्रन्थ—परिचय

भारतीय दर्शन के इतिहास का तृतीय भाग दर्शन शास्त्र के पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत है। इस भाग में मीमांसा दर्शन, वेदान्तसूत्र (ब्रह्मसूत्र) भगवत्गीता दर्शन जो तीन आस्तिक दर्शन माने जाते हैं। इन दर्शनों के क्रमशः प्रमाणमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, धर्मदर्शन, ब्रह्म निरूपण, सृष्टि संरचना, निष्काम कर्म परमतत्त्व, यज्ञ और भक्ति आदि का सूक्ष्म एवं गहन विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

नास्तिक दर्शनों में लोकायत दर्शन, बौद्ध और जैन की विशद् विवेचना प्रस्तुत हुई है। इन दर्शनों के ज्ञानमीमांसा उच्छेदवाद, अनीश्वरवाद, बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, प्रतीव्यसमत्वाद बौद्ध दर्शन की चारों शाखायें - वैभाषिक, सौत्रन्तिक, माध्यमिक और योगाचार मत के साथ साथ जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा, प्रत्यभिज्ञा, तत्त्वमीमांसा, सप्तभंगीनय, पुद्गल, द्रव्य और निर्वाण आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय दर्शन के इतिहास क्रम के विषय में लेखक की यह मान्यता है कि भारतीय आस्कि षड्दर्शनकार अन्तिम दो दर्शन महाभारतकाल में मीमांसा एवं ब्रह्मसूत्र दर्शन के रूप में लिखे गये थे। श्रीमद्भगवत्गीता भी महाभारतकाल के अन्तिम भाग में लिखी गई है। उस के पश्चात चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन का काल माना जा सकता है। मध्यकालीन आचार्यों में शंकर, रामानुज और मध्व दर्शन जैन दर्शन के पश्चात के मानना समीचीन है। इस लिये मध्यकालीन आचार्यों का एक भाष्यकारों का काल है। इस तृतीय भाग में उन दर्शनों का वर्णन नहीं हुआ है।

इस ग्रन्थ के लेखक डा० जयदेव वेदालंकार भारतीय दर्शन के उद्भटट् विद्वान के रूप में विख्यात है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय दर्शन के जिज्ञासुओं, शोध अध्येताओं और प्राध्यापकों के लिये अति उपयोगी ग्रन्थ सिद्ध होगा।

अतः यह ग्रन्थ विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और भारतीय दर्शन के शोध केन्द्रों के पुस्तकालयों के लिये संग्रहणीय है।

भाग - 3 संस्करण 2004
ISBN : 81-8315-000-4
मूल्य : 900-00 रूपये

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास

HISTORY OF INDIAN PHILOSOPHY

तृतीय भाग [PART-III]

(मीमांसा वेदान्त-भगवद्गीता, चार्वाक बौद्ध और जैन)

लेखक

आचार्य डॉ॰ जयदेव वेदालंकार

(दर्शनाचार्य-पी॰एच॰डी॰, डी॰ लिट्)

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष दर्शन विभाग

संकायाध्यक्ष, प्राच्यविद्यासंकाय एवं

पूर्व कुलसचिव गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार (उत्तराञ्चल)
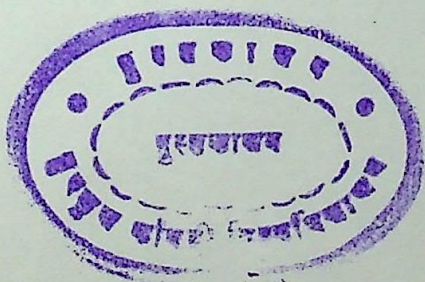
न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन

दिल्ली **(भारत)**

प्रकाशक :
न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन
दुकान नं० १८, ५५७४ ए, द्वितीय तल,
चौ. काशीराम मार्केट, दुर्गा काम्पलेक्स,
न्यू चन्द्रावल, दिल्ली-११०००७
फोन : २३८५१२९४, ५५१९५८०९
E-mail : deepak_nbbc@hotmail.com.

प्रथम संस्करण : २००४

आई.एस.बी.एन. : ८१-८३१५-०००-४

मुद्रक :
जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-७

आत्म निवेदन

भारतीय दर्शन परम्परा अति प्राचीन मानी जाती है। यह सर्वसम्मत मान्यता है कि भारतीय दर्शन परम्परा वेदों से प्रारम्भ हुई है। वैदिक परम्परा के पश्चात् उपनिषदें, ब्राह्मण ग्रन्थ और षड्दर्शन परम्परा को आस्तिक एवं आर्ष परम्परा माना गया है। महाभारत के पश्चात् वैदिकदर्शन की सतत् धारा विलुप्त होनी प्रारम्भ हो गई थी। इसका कारण यह माना जा सकता है कि महाभारत एक महायुद्ध था उसमें विनाशकारी ताण्डव नृत्य हुआ होगा। लाखों व्यक्ति मारे गये होंगे, उसके पश्चात् आर्ष दार्शनिक मान्यताओं में विकार आना प्रारम्भ हुआ होगा। क्योंकि धर्म के स्थान पर धर्म की विकृत तथा वैदिक मर्यादाओं के विरुद्ध वाम मार्ग की मान्यताओं को स्वीकार किया जाने लगा।

भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास के तृतीय भाग में प्रथम अध्याय के रूप में पूर्वमीमांसा अर्थात् मीमांसा दर्शन के प्रमाण, उसकी तत्त्व मीमांसा का वर्णन विस्तार रूप में प्रस्तुत किया गया है। मीमांसादर्शन के सम्बन्धों में अनेक भ्रान्त अवधारणाओं का प्रत्याख्यान करके मीमांसादर्शन के मूल एवं उसके भाष्यकारों जिनमें शबर मुनि प्रमुख हैं। उनके अनुसार मीमांसा दर्शन का विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

द्वितीय अध्याय में वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) की विवेचना की गई है। वेदान्त दर्शन पर अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और द्वैतवाद की दृष्टि में भाष्य जिनमें शंकराचार्य, आचार्य रामानुज और मध्वाचार्य के प्रसिद्ध भाष्य उपलब्ध हैं। वेदान्त दर्शन के भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित सा कर दिया है, इसलिए ब्रह्मसूत्र के मूल सूत्रों के अनुसार वेदान्तदर्शन की अवधारणाओं को विस्तार पूर्वक विवेचित किया है। जिसमें ब्रह्म निरूपण, जीवात्मा और ब्रह्म में भेद, सृष्टि रचना आदि के सम्बन्ध में मूल दर्शन के अनुसार ही विवेचना की गई है।

तृतीय अध्याय में भगवत्गीता दर्शन का वर्णन करते हुए निष्काम कर्म, परम तत्त्व, सृष्टि संरचना, आचार, यज्ञ, भक्ति और मोक्ष की विस्तार पूर्वक व्यख्या की है। भगवत्गीता दर्शन के विषय में अद्वैतवेदान्त, विशिष्टाद्वैत और सांख्य एवं योग के दार्शनिक सिद्धान्तों का व्याख्यान मिलता है ऐसा विभिन्न आचार्यो का मत है।

चतुर्थ अध्याय में चार्वाकदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इस दर्शन में समस्त वैदिक परम्परा का खण्डन किया गया है। चार्वाक केवल इस लोक को स्वीकार करता है। जीवात्मा की चेतनता, परमात्मा का अस्तित्त्व, मोक्षादि के समप्रत्ययों को चार्वाक दर्शन स्वीकार नहीं करता है।

पंचम अध्याय में बौद्ध दर्शन की प्रमाण मीमांसा, तत्त्व मीमांसा और बौद्ध दर्शन की विभिन्न शाखाओं का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

षष्ठ अध्याय में जैन दर्शन का वर्णन करते हुए उसकी ज्ञान मीमांसा तत्त्व मीमांसा, नीतिशास्त्र सम्बन्धी मान्यता और निर्वाण का विवेचन किया गया है।

भारतीय दर्शनों में षड्दर्शन के पश्चात् चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को अनीश्वरवादी होने के कारण नास्तिक दर्शनों में गिना जाता है। उस समय नास्तिको वेद निन्दकः अर्थात् वेदों की निन्दा करने वाले का नास्तिक कहा जाता था। इनमें चार्वाक दर्शन को पूर्ण नास्तिक दर्शन माना जा सकता है, क्योंकि चार्वाक पूर्णरूपेण वैदिक मान्यताओं का अर्थात् अभौतिक तत्त्वों को एकदम अस्वीकृत करता है। चेतनतत्त्व चाहे जीवात्मा के रूप में था चाहे ब्रह्म (ईश्वर) के रूप में हो उसको वह स्वीकार नहीं करता है। उसकी मान्यता के अनुसार मरना ही अपवर्ग है। ''मरणमेव अपवर्गः'' नीति सम्बन्धी मान्यता के विषय में भी वह स्पष्ट रूप में कहता है कि सुख पूर्वक जीना ही मनुष्य का उद्देश्य होना चाहिए सुख पूर्वक जीने के लिए जो भी प्रयास किया जाये वह नैतिक ही है। क्योंकि जीवन का अन्त शरीर का भस्मान्त मात्र करना है। संसार में पुनः आगमन नहीं होता है।

बौद्ध दर्शन में यद्यपि किसी तत्त्व को स्थिर रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है, सभी तत्त्व क्षणिक हैं उनके लिए यही सत् है (यत् क्षणिकं तत् सत्)। यह मान लेने पर भी किसी भी तत्त्व की सातत्यता एवं निरन्तरता को समाप्त हुआ नहीं माना जाता है। आचार तथा निर्वाण की प्राप्ति को पूर्ण रूपेण स्वीकार किया जाता है। निर्वाण को प्रभत करने के लिए समस्त कल्मषों को समाप्त किया जाता है। आचार के कठोर नियमों का परिपालन करने से ही निर्वाण प्राप्त होता

है। इसलिए बौद्ध दर्शन को आंशिक रूप में नास्तिकवादी दर्शन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

जैन दर्शन में ईश्वर के अस्तित्त्व को तो स्वीकार नहीं किया जाता है, परन्तु जीवात्मा की सत्ता को न केवल स्वीकार किया जाता है, अपितु तर्कों से तथा आगम प्रमाणों से सिद्ध किया जाता है। आत्मा जब सिद्ध पुरुष के रूप में हो जाती है तो उसमें उसी प्रकार की शक्ति सम्पन्नता मानी जाती है। जो आस्तिक दर्शनों में ब्रह्म (ईश्वर) की शक्ति के रूप में स्वीकार की जाती है। जैनियों मे अत्यधिक कठोर तपस्या करने का प्रचलन है। निर्वाण एवं मोक्ष को पूर्णरूपेण स्वीकार किया जाता है। जैनियों ने वेदों को भले ही स्वीकार न किया हो, परन्तु अपने आगमों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

भारत में अनादि काल से चली आ रही वैदिक परम्परायें क्यों लुप्त हुई, इसके विषय में अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। भारतीय समाज ने उनको क्यों अस्वीकृत किया? यह एक चिन्तन का विषय है। इस विषय में मेरा यह विचार है कि महाभारत युद्ध में जो मानव जाति का विनाश हुआ था उसकी प्रतिक्रिया समाज में भयंकर हुई होगी। अनेक तपस्वी एवं ज्ञानी पुरुष युद्ध में समाप्त हो गये होंगे, जिसके कारण अनेक मर्यादायें विलुप्त हुई। वस्तुओं का अभाव होने के कारण नैतिकता सम्बन्धी सिद्धिन्तों का ह्यस हुआ होगा। इस स्थिति में आगे चल करके धर्म के प्रति समाज की अरुचि उत्पन्न हुई होगी। समाज को धर्म के प्रति आस्था पैदा करने के लिए अनेक साम्प्रदायिक मतों का प्रारम्भ प्रादुर्भाव हुआ। इसी क्रम में कर्मकाण्ड के तान्त्रिक रूप का भी प्रचलन हुआ धीरे-धीरे धार्मिक रूढ़ियों के कारण समाज में असन्तोष उत्पन्न हुआ। इस असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि समाज में विद्रोह होकर चार्वाक का प्रादुर्भाव हुआ।

भारतीय परम्परा में चार्वाकीय युग बहुत अल्प काल तक ही अवस्थित रह पाया, इस क्रम में आगे चलकर अर्द्ध नास्तिक दर्शन जिनमें जैन और बौद्ध हैं, इन दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। यद्यपि ये दर्शन ब्राह्मणवाद के विरोधी ही कहे जाते हैं, यह प्रायः क्षत्रिय थे, इन्होंने समाज की रूढियों का खण्डन लोकभाषा में किया। जिसके कारण यह बहुत ही शीघ्र समाज में ख्याति को प्राप्त हो गये। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के लिए उस युग में समाज में होड़ सी लग गई थी।

कालान्तर में इन दर्शनों में भी अनेक रूढियाँ एवं दोष उत्पन्न हुए। वैदिक मान्यताओं को विलुप्त होते देखकर, अनेक वैदिक परम्परा के आचार्य उत्पन्न हुए, जिनमें कुमारिलभट्ट, आचार्य शंकर जैसे अनेक ब्रह्मचारी आचार्यों ने वैदिक

परम्पराओं को पुनः स्थापित किया, इसके साथ ही पाखण्ड अज्ञान की रूढियों का प्रबल रूप में खण्डन भी किया। जो समाज वैदिक मान्यताओं से विमुख हो चुका था, उस समाज को इन आचार्यों ने वैदिक मान्यताओं की ओर अपने प्रबल तर्कों एवं प्रमाणों से उन्मुख किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र के इतिहास का यह तृतीय भाग दर्शन के पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। इस ग्रन्थ के परिपूर्ण होने पर मैं सर्वप्रथम जगत् नियन्ता ईश्वर का आभार प्रकट करता हूँ। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में श्री मनदीप वेदालंकार तथा श्री अनीक वेदालंकार की महत्वपूर्ण भूमिका है, इसलिए मैं इनका हृदय से धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। श्री महावीर 'नीर' विद्यालंकार ने प्रूफ शोधन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, अतः इनका भी आभार प्रकट करता हूँ। मैं अपने दोनों पुत्र प्रिय रंजन एवं हेमेन्द्र कुमार को भी साधुवाद देता हूँ, जिन्होंने कम्प्यूटर सम्बन्धी सहयोग प्रदान किया है।

अन्त में, मैं अपनी विदुषी पत्नी डा० सुषमा स्नातिका जो मेरी अन्तः प्रेरणा दायिनी बनकर, सदा शोध ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा ही नहीं देती अपितु समस्त गृह कार्यों से मुक्त रखकर ग्रन्थ लिखने का पूर्ण अवसर प्रदान करती हैं, उनको धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है, जिन्हें मैं लिपि बद्ध कर् सकूँ। उनके लिए तो मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि "तुम जियो हज़ारों साल।"

इस ग्रन्थ को पूर्ण आकार देने में अनेक विद्वानों एवं आचार्यों की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में सहायता प्राप्त की है, उन सबका भी हृदय से आभारी हूँ। वस्तुतः इस ग्रन्थ में जो भी सही है वह मेरे पूर्ववर्ती आचार्यों एवं गुरुजनों का ही है तथा जो भी त्रुटियाँ हैं वह सब मेरी हैं। अलं अति विस्तरेण।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार — विदुषां वंशवदः
१ जनवरी २००४ ईस्वी — **जयदेव वेदालंकार**

विषय-अनुक्रमणिका

विषय प्रवेश

भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास के तृतीय भाग में मीमांसा, ब्रह्मसूत्र, (वेदान्त), भगवद्गीता, चार्वाक, लोकायत, बौद्ध और जैन दर्शन का वर्णन किया गया है। वेदान्त और मीमांसा के विषय में यह मत है कि मीमांसा दर्शन की पहले रचना हुई है अथवा वेदान्त दर्शन की इस विषय में प्रथम मत है कि वेदान्त व्यास मुनि के द्वारा विरचित है। मीमांसा दर्शन जैमिनि के द्वारा प्रणीत है। जैमिनि व्यास के शिष्य थे। इसलिए वेदान्त मीमांसा से पूर्व लिखा गया होगा। इस विषय में अन्य तर्क यह दिया जाता है कि ज्ञान एवं कर्म में कर्मकाण्ड पहले किया जाता है। कर्मकाण्ड पूर्ण होने पर ज्ञानोदय होता है। इस मत के अनुसार अवलोकित किया जाए तो मीमांसा का क्रम (काल) पहले तथा वेदान्त दर्शन का काल उसके अनन्तर मानना चाहिए। इस विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से मीमांसा दर्शन का वर्णन पहले किया है और वेदान्त का वर्णन उसके पश्चात् किया गया है। यह दोनों दर्शन महाभारतकाल में ही लिखे गये हैं।

मीमांसा साहित्य :–

पूर्वमीमांसा का मूल ग्रन्थ जैमिनि के सूत्र है, जिनकी संख्या-२७४५ है। मीमांसा सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इस दर्शन की रचना बारह अध्यायों में होने से इसे द्वादशाध्यायी या द्वादशलक्षणी मीमांसा भी कहते हैं। महर्षि जैमिनि ने अन्य चार अध्यायों की रचना भी की है, जिन्हें संकर्ष (संकषर्ण) काण्ड या देवताकाण्ड कहते हैं। इसमें ४३६ सूत्रों की रचना की गयी है। इस में जैमिनि ने १६ अध्यायों की रचना कर उक्त दर्शन को पूर्ण किया है। यज्ञ से सम्बन्धित विचार प्रायः द्वादश अध्यायों में ही पाये जाते हैं।

जैमिनि-सूत्र पर शबर स्वामी का प्रमुख-गम्भीर भाष्य है, जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। उक्त भाष्य के पूर्व और पश्चात् भी सूत्रों पर उपवर्ष भर्तृहरि, भवदास, देवस्वामी, भर्तृमित्र आदि विद्वानों द्वारा वृत्तियाँ रची गयीं, किन्तु वे सब अब उपलब्ध नहीं हैं।

मीमांसा के दो सम्प्रदाय :-

शाबरभाष्य के व्याख्याकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु) प्रमुख है, इन दोनों के नाम से मीमांसा के दो सम्प्रदाय (भाट्टमत और गुरुमत) विशेष प्रसिद्ध हुए। मुरारि मिश्र नाम के एक तीसरे व्याख्याता भी हुए, पर उनके व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

कुमारिल भट्ट ने शाबर भाष्य पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा, जिसके तीन खण्ड हैं, अर्थात् श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका। प्रभाकर ने भाष्य पर दो व्याख्याएँ लिखीं, एक को 'बृहती' नाम दिया गया है और दूसरी को 'लघ्वी' अथवा 'विवरण'। बृहती को 'निबन्धन' भी कहते हैं।

भाट्ट मत के अनुयायियों में अनेक लेखकों ने कुमारिल के मत की व्याख्या और प्रचार किया। पार्थसारथि मिश्र (१०५०-११२०) ने श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर और टुप्टीका पर 'तन्त्ररत्न' लिखा। 'न्यायरत्नमाला' और 'शास्त्रदीपिका' उनके मौलिक ग्रन्थ हैं। माधवाचार्य (१४वीं शती) ने न्यायमालाविरत ग्रन्थ में अधिकरण विवेचन किया। मण्डन मिश्र (६८०-७५०) ने विधिविवेक, भावनाविवेक, विभ्रमविवेक और 'मीमांसानुक्रमणी ग्रन्थ लिखे। उम्बेक भट्ट (६७०-७५० ई०) ने श्लोक वार्तिक पर 'स्वल्पाक्षरा' व्याख्या रची। प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र (सन् ८४१) ने मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर 'न्यायकणिका' नाम की टीका और शाब्दबोध के विषय को स्पष्ट करने के लिए 'तत्त्वबिन्दु' नाम के मौलिक ग्रन्थ की रचना की।

खण्डदेव (१७वीं शती) ने भाट्ट मत को परिष्कृत करने के उद्देश्य से मीमांसा सूत्रों की 'भाट्टकौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखी और शाब्दबोध विषय के प्रतिपादन में अधिकरण शैली में 'भाट्टदीपिका' तथा 'भाट्टरहस्य' नामक दो मौलिक ग्रन्थों की भी रचना की। 'भाट्टदीपिका' पर खण्डदेव के शिष्य शम्भु भट्ट कविमण्डन (१६४०-१७०० ई०) ने 'प्रभावली' नाम की विस्तृत व्याख्या की।

अप्पय दीक्षित (१५२०-१५९३) ने भाट्ट मत के समर्थन में 'विधि रसायन' की रचना कर उस पर व्याख्या भी की तथा 'उपक्रमपराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' और 'चित्रकूट' नामक तीन मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

भाट्टमत के समर्थन में आपदेव (१५८०-१६५० ई०) ने 'मीमांसान्यायप्रकाश' ग्रन्थ लिखा जिसपर उनके पुत्र अनन्तदेव (१६००-१६७० ई०) ने भाट्टालंकार

'नामक विस्तृत व्याख्या लिखी। इसके अतिरिक्त 'मीमांसान्यायप्रकाश' पर महामहोपाध्याय चिन्नस्वामी शास्त्री (२०वीं शती) की 'सारविवेचनी' तथा वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर की 'प्रभा' नामक व्याख्याएँ भी उपलब्ध हैं।

भाट्ट के ही समर्थन में लौगाक्षिभास्कर ने 'अर्थसंग्रह' तथा केशव भट्ट ने 'मीमांसार्थ प्रकाश' और शंकर भट्ट (१५५०-१६२० ई०) ने 'मीमांसाबालप्रकाश' नामक मौलिक ग्रन्थ लिखे।

स्वामी केवलानन्द सरस्वती ने 'मीमांसाकोष' नामक एक संग्रह ग्रन्थ लिखा जो मीमांसा सम्बन्धी शोध के लिए विशेष उपयोगी है।

वेदान्तसूत्र :-

'वेदान्त' शब्द का यौगिक अर्थ है-वेद का अन्त अथवा वे सिद्धान्त जो वेदों के अन्तिम अध्यायों में प्रतिपादित किए गए हैं और ये ही उपनिषदें हैं। उपनिषदों का विचार भी वही हैं जो वेद का अन्तिम लक्ष्य अथवा वेदों का सार है।[१] वेदान्तसूत्र का दूसरा नाम ब्रह्मसूत्र भी है, क्योंकि यह ब्रह्म-सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या है और शारीरिक सूत्र[२] भी इसी का एक अन्य नाम है इसीलिए कि यह निरुपाधिक आत्मा की अभिव्यक्ति के विषय में प्रतिपादन करता है। जहाँ एक ओर जैमिनि का कर्ममीमांसा ग्रन्थ वेदविहित धर्म तथा उसके फलाफल का अनुसंधान करता है, वहाँ बादरायण का उत्तरमीमांसा दर्शन उपनिषदों के दार्शनिक व ईश्वर ज्ञान सम्बन्धी विचारों का वर्णन करता है। दोनों एकत्र मिलकर सम्पूर्ण वेद के प्रतिपाद्य विषयों का क्रमबद्ध अनुसंधान करते हैं।[३]

उपनिषदें केवलमात्र सत्य के प्रति विविध दृष्टिकोणों मे किए गए दृष्टिपातों की एक श्रृखंला है, किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अन्तिम रूप से विचार करने के प्रति प्रयास नहीं है। तो भी ऐसे व्यक्तियों के ऊपर जो उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा सत्य करके मानते हैं, यह दर्शाने का उत्तरदायित्व है कि उपनिषदों की शिक्षाएं एक संगतरूप में परिपूर्ण इकाई है और बादरायण का प्रयास इसी प्रकार के क्रमबद्ध कार्य की दिशा में उसका ग्रन्थ क्रमबद्ध दर्शन न होकर ईश्वर ज्ञान विषयक एक व्याख्या है। "बादरायण के ग्रन्थ का उपनिषदों के साथ वही

---

१. तिलेषु तैलवद् वेदे वेदान्ताः सुप्रतिष्ठिताः। मुक्तिकोपनिषद्, वेदान्त (२२:९)

२. शरीर, देह।

३. तुलना कीजिए-वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। शंकराभाष्य १:१,१

सम्बन्ध है जैसाकि क्रिश्चियन रूढ़िवादियों का 'न्यूटेस्टामेन्ट' के साथ है, यह उपनिषदों की शिक्षाओं का अनुसंधान करता है, जो ईश्वर, जगत् तथा आत्मा के संसार चक्र में भ्रमण के विषय में तथा मोक्ष की अवस्थाओं के विषय में है। यह प्रत्यक्ष में दिखाई पड़ने वाली सिद्धान्त-सम्बन्धी असंगतियों का निराकरण करता है; उन्हें परस्पर क्रमबद्ध रूप में जोड़ता है; और विशेष करके इसका उद्देश्य विरोधियों के आक्षेपों से बचाना है।[१] पांच सौ पचपन (५५५) सूत्रों के अन्दर, जिनमें से प्रत्येक दो या तीन शब्दों से बने हैं, समग्र दर्शन का परिष्कार किया गया है। सूत्र अपने आप में विशद अर्थ नहीं देते, किन्तु सब कुछ उनके भाष्यकार के ऊपर निर्भर करता है। उन्हें प्रोटियस के समान किसी नियमित रूप में नहीं पकड़ा जा सकता।

उनकी शिक्षाओं की व्याख्या कभी तो साकार ईशवरवाद के उज्ज्वल प्रकाश में की जाती है, और कभी-कभी अस्पष्ट भाववाचक निरपेक्षवाद के रूप में की जाती है। आस्तिकवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत प्रारंभ से ही भिन्न-भिन्न विचार परम्पराएं स्थापित हो गई थीं, जिन्हें शंकर तथा रामानुज प्रभृति विचारकों ने लेखबद्ध किया। टीकाकार जिनमें प्रमुख हैं—शंकर, भास्कर, यादवप्रकाश, रामानुज, केशव, नीलकंठ, मध्व, बलदेव, वल्लभ तथा विज्ञानभिक्षु,[२] एक समान विचाराधारा का परिष्कार नहीं किया और इसलिए इस विषय का निर्णय करना था कि इनमें से, क्योंकि इनकी टीकाएं ऐसे समय में लिखी गई जबकि ये सिद्धान्त अत्यन्त गम्भीर संशय तथा वाद-विवाद के विषय बन चुके थे। ये अपनी-अपनी व्याख्याओं का विकास पूर्व निधारित मतों के आधार पर ही करते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी शब्दों के धात्वर्थ तथा स्पष्ट अर्थों को भी दृष्टि से ओझल कर देते हैं, जिससे कि वे सन्दर्भ को खींच-खींचकर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की सच्चाई को सिद्ध करने में प्रयोग कर सकें। सूत्र ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है, जिसमें से प्रत्येक व्यक्ति को अपना अभिलषित सिद्धान्त अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्राप्त हो सकता है।[३]

वेदान्तसूत्र के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि इस सूत्र ग्रन्थ का साक्षात् सम्बन्ध श्रुति से हैं। इसलिय इस मूल ब्रह्मसूत्र से अद्वैतवेदान्त, विशिष्टा-द्वैत और द्वैतवाद दर्शन विकसित हुए हैं, इसका परिणाम यह हुआ कि आस्तिक

१. ड्यूसन-५, पृ० २१।
२. शंकर भाष्य-१:१,४; १:२, २३; ३:३, ५३; १:३, १९; ४:३, १४
३. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३६९

षड्दर्शनों में ब्रह्मसूत्र एक ऐसा दर्शन है जिसका अपना मूलस्वरूप विलुप्त-सा हो गया है। इसलिए ही ब्रह्मसूत्र की दार्शनिक अवधारणाओं को पृथक् रखकर, इस दर्शन का वर्णन मूल रूप में ही विस्तार पूर्वक लिखा गया है।

भगवद्गीता :-

भगवद्गीता के विषय में यह कहा जाता है कि यह वस्तुतः महाभारत के भीष्मपर्व का एक भाग है यह भारतीय संस्कृति का एक अनुपम ग्रन्थ माना जाता है। भारतीयों के जनमानस में यह ओत-प्रोत है जिस समय महाभारत के युद्ध में दोनों ओर की सेनाएं आमने-सामने खड़ी थी, उस समय अर्जुन के व्यामोह को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण की पुरुषार्थ ही गीता का दर्शन है। गीता में एक प्रकार से संन्यास बाद का खण्डन-सा प्रतीत होता है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता की पद्धति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गीता के सन्देश का क्षेत्र सार्वभौम है। यह प्रचलित हिन्दुधर्म का दार्शनिक आधार है। इसका रचयिता गहरी संस्कृति वाला है, समालोचक न होकर सर्वग्राही है। वह किसी धार्मिक आन्दोलन का नेता नहीं है; उसका उपदेश किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिए नहीं है। उसने अपना कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया, किन्तु मनुष्य-मात्र के लिए उसका निर्दिष्ट मार्ग खुला है। सब प्रकार की उपासना-पद्धतियों के साथ उसकी सहानुभुति है, और इसलिए हिन्दुधर्म की भावना की व्याख्या के कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि हिन्दुधर्म अपनी संस्कृति को भिन्न-भिन्न विभागों में विभुक्त करने की इच्छा नहीं रखता, और न ही अन्य विचारों की विधियों के प्रति खण्डनात्मक भाव रखना चाहता है।[१] गीता केवल अपने विचार की प्रबलता तथा दूरदर्शिता की भव्यता के ही कारण नहीं अपितु भक्ति के प्रति उत्साह तथा धार्मिक भावना की मधुरता के कारण भी हमारे ऊपर अपना असर रखती है। यद्यपि गीता ने धार्मिक पूजा को विकसित करने और अमानुषिक प्रकियाओं का मूलोच्छेदन करने के लिए बहुत कुछ किया, तो भी अपनी खण्डन-विरोधी प्रवृत्ति के कारण इसने पूजा की मिथ्याविधियों को सर्वथा नष्ट नहीं किया।

गीता की उपदेशशैली कट्टरता को लिए हुए है, और इसके रचयिता को लेशमात्र भी इस विषय में सन्देह नहीं हैं कि उससे भूल भी हो सकती है। वह अपने अनुभव के बिल्कुल अनुरूप सत्य का प्रकाश करता है, और वह उस सत्य

१. भगवद्गीता-३:२९

का दर्शन सत्य के पूर्ण रूप में और अनेकांग रूप में करता हुआ प्रतीत होता है, और सत्य की रक्षण शक्ति में भी वह विश्वास करता है। "गीता का सन्त (कृष्ण) अपने ज्ञान तथा मनोभावों को पूर्णता तथा उत्साह के साथ कथन करता है–एक ऐसे दार्शनिक के रूप में नहीं जो किसी सम्प्रदाय विशेष में पले होने के कारण अपनी सामग्री को पूर्वस्थापित विधि की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए तदनुसार विभक्त विधि करता है और अपने सिद्धान्त के अन्तिम निष्कर्ष पर एक क्रमबद्ध विचारों की कसौटी के द्वारा पहुंचता है।[१] गीता की स्थिति एक दार्शनिक पद्धति और काव्यमय उच्च प्रेरणा के मध्य में है। हमें इसमें उपनिषदों की सी मर्यादारहित सुझाव की शक्ति नहीं मिलती, क्योंकि वह जीवन की समस्या का यत्नपूर्वक किया गया एक बौद्धिक समाधान है। इसकी योजना अन्तःकरण के क्लेशों और मानसिक अव्यवस्था से उत्पन्न हुई जटिल परिस्थिति का सामना करने के विचार से की गई है।[२]

गीता पर शंकरभाष्य प्राचीनतम भाष्य के रूप में उपलब्ध हैं, परन्तु शंकर अनेक प्रसंगों में अपने पूर्ववर्ती भाष्यकारों का प्रत्याख्यान करते हैं, इससे ज्ञात होता है कि गीता पर कई अन्य भाष्य भी थे जो इस समय उपलब्ध नहीं हैं। शंकर का भाष्य गीता के रहस्य को समझाते हुए अपने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों की पुष्टि अधिक रूप में करता है। गीता के श्लोकों का अर्थ न्यून रूप में करता है। गीता के अनेक स्थलों पर सांख्ययोग का वर्णन किया है। सांख्य एवं योग शुद्ध रूप में द्वैतवादी दर्शन है।

श्री आनन्दज्ञान ने शंकर भगवत्गीता भाष्य पर भगवद्गीता भाष्य विवरण नाम की एक टीका लिखी, एवं श्री रामानन्द ने भगवद्गीता भाष्य व्याख्या नाम का एक और ग्रन्थ लिखा। ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने गीताशय नाम का एक और भी ग्रन्थ लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर युग के पश्चात् कुछ समय तक गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया। यामुनाचार्य नामक दो व्यक्तियों ने गीता पर पृथक्-पृथक् एक गद्य और दूसरा पद्य दो भाष्य लिखे हैं। गद्य भाष्यकार यामुनाचार्य यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे परन्तु वह रामानुज के गुरु यामुना से भिन्न थे। कंजीवरम् के सुदर्शन प्रेस द्वारा प्रकाशित उसका भाष्य अत्यन्त सुबोध है जिसमें मुख्यतया गीता के श्लोकों का शब्दार्थ है। उसके विचार से गीता

---

१. इण्डियन ऐण्टिकारी-१९१८, पृ० ३, गार्ब्स इंट्रोडक्शन टु दी भगवद्गीता।
२. भारतीय दर्शन, भाग-२, डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ४७९

के प्रथम छः अध्यायों में भक्ति के साधन स्वरूप ईश्वर के यथार्थ ज्ञान का वर्णन है। मध्य के छः अध्यायों में भक्ति एवं पूजा से प्राप्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है और अन्तिम अध्यायों में उन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति, उनमें निहित समस्याओं के स्पष्टीकरण हेतु की गई है।

रामानुज के महान् गुरु श्री यामुन का जन्म ९०६ ई० में बताया जाता है। इन्होंने गीता संग्रह नामक ग्रन्थ में गीता के विषय वस्तु का सार लिखा है। इस पर निगमान्त महोदेशीक ने गीतार्थ संग्रह नामक भाष्य प्रस्तुत किया है। इसी भाष्य पर वखर मुनि ने गीतार्थ संग्रह नाम की टीका लिखी है।

आचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत दर्शन की दृष्टि से गीता पर भाष्य लिखा है। वेदान्ताचार्य वैंकटनाथ ने रामानुज के भाष्य पर तात्पर्यचन्द्रिका नामक उपभाष्य लिखा है।

१३वीं शताब्दी से पूर्व मध्वाचार्य अथवा आनन्द तीर्थ ने गीता भाष्य नामक भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा है। इस पर जयतीर्थ ने प्रमेय दीपिक नामक टीका लिखा है। इस ग्रन्थ पर जयतीर्थ ने शंकर के अद्वैत वेदान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। इस प्रकार गीता पर अनेकों भाष्य एवं टीकाएं उपलब्ध हैं। जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–वल्लभाचार्य, विज्ञानभिक्षु एवं निम्बार्क मत के केशव भट्ट ने भी नामक, आंजनेय ने हनुमद् भाष्य, कल्याणभट्ट ने रसिक रंजिनी, जगद्धर ने भगवद्गीता प्रदीप, जयराम ने गीता सारार्थ संग्रह, बलदेव विद्याभूषण ने गीता भूषण भाष्य, मधुसूदन ने गुढार्थ-दीपिका, ब्रह्मानन्दगिरि; मथुरानाथ ने भगवद्-गीता-प्रकाश, दत्तात्रेय ने प्रबोध-चन्द्रिका, रामकृष्ण मुकुन्ददास, राम नारायण, विश्वेश्वर, शंकरानन्द, शिवदयालु श्रीधर स्वामी ने सुबोधिनी सदानन्द व्यास ने भाव प्रकाश सूर्य-पण्डित ने परमार्थ प्रथा, नीलकण्ठ के भाव-दीपिका और शैव दृष्टिकोण से राजानक और रामकण्ठ ने सर्वतोभद्र नामक ग्रन्थ लिखे।

गीता के सामान्य तात्पर्य पर कई ग्रन्थ लिखे गए, जैसे अभिनव गुप्त और नृसिंह ठाकुर द्वारा भगवद्गीतार्थ संग्रह, गोकुलचन्द्र द्वारा भगवद्गीतार्थ सार वादिराज द्वारा भगवद्गीता लक्षामरण कैवल्पानन्द सरस्वती द्वारा भगवद्गीतासार, नरहरि द्वारा भगवद्गीता सार संग्रह, विठल दीक्षित द्वारा भगवद्गीता-हेतु-निर्णय। उपरोक्त ग्रन्थों में अधिकतर भाष्य या तो शंकर भाष्य पर आधारित है, जो एक ही विचार को दूसरी भाषा में दोहराते हैं और या वैष्णव ग्रन्थों पर आधारित है

जो मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था में नित्य नैमित्तिक कर्मों का मण्डन करते हैं और कभी-कभी वे ईश्वर के स्वरूप तथा जीव के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में मतभेद रखते हैं। युक्ति अथवा मत की दृष्टि से इनमें मौलिकता नहीं है, अतः हम अपने वर्तमान हेतु के लिए इन्हें छोड़ देते हैं।

भगवद्गीता के काल के विषय में विद्वानों का मत एक नहीं है। इस गीता के काल के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत का काल मानना ही अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि पाश्चात्य-दृष्टि से लिखे गये जितने भी इतिहास है, वे सब दोषपूर्ण है। गीता का काल बौद्ध दर्शन से बहुत पूर्व का काल माना जाना चाहिए।

चार्वाक दर्शन (लोकायत) :-

चार्वाक दर्शन के विषय में कोई निश्चित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह माना जाता है कि आचार्य बृहस्पति नाम के किसी आचार्य ने इसको प्रारम्भ किया था इस दर्शन के सिद्धान्त भारतीय दर्शनों में पूर्व पक्ष के रूप में प्रायः मिलते हैं। वस्तुतः यह लोकायत दर्शन पूर्ण रूपेण नास्तिक दर्शन है। भारतीय परम्परा में नास्तिक दर्शन उसे माना जाता है जो वेद की निन्दा करता है। इस प्रकार जैन एवं बौद्ध भी नास्तिक दर्शन माने जाते हैं, परन्तु इन दोनों दर्शनों को पूर्ण रूप से नास्तिक नहीं माना जा सकता है। क्योंकि वेद को छोड़कर आचार एवं मोक्ष के विषय में, इनकी मान्यता भारतीय दर्शनों के अनुसार ही है।

चार्वाक दर्शन में समस्त भारतीय दर्शन के विरुद्ध स्वर मुखरित हुआ है। निम्नलिखित ग्रन्थों में चार्वाक का उल्लेख किसी न किसी रूप में मिलता है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में लोकयत की गणना आन्वीक्षिकी के अन्तर्गत सांख्य और योग के साथ की गई है।[१] इस दर्शन के प्रवर्तक वृहस्पति द्वारा रचित सूत्रों का उल्लेख बार्हस्पत्य सूत्र लोकायतिक सूत्र आदि नामों से हुआ है। पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य 'में उक्त सूत्रों पर लिखी गयी, 'भागुरी' नाम की वर्णिका या टीका का भी उल्लेख है।[२] प्रबोधचन्द्रोय' नाटक के दूसरे अंक में कहा गया है कि वाचस्पति ने जिस तंत्र या शास्त्र की रचना करके चार्वाक को समर्पित किया था; उसका विस्तार चार्वाक और उनके शिष्यों द्वारा किया गया।[३] महाभारत में

१. सांख्यं योगः लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।-अर्थशास्त्र, उपोद्घात।
२. वणिका भागुरी लोकायतस्य। –महाभाष्य-७/३/४५
३. वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्।
तेन च शिष्योपषिष्य द्वारेण बहुली कृतम् तन्त्रम्।।

उल्लिखित वृहस्पति का समय दूसरी शती ई०पू० से पहले होना चाहिए। शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह 'में' पुरन्दर नाम के विचारक का उल्लेख है जो अनुमान प्रमाण की व्यहारिक सत्ता को स्वीकार करता था। इसीलिए उसे सुशिक्षित चार्वाक, कहा गया। कुछ विद्वानों की सम्मति में तत्त्वोपप्लवसिंह का रचियता जयराशि भटट् एक प्रकार के चार्वाकीय मत का समर्थक था। उक्त लेखक ने विभिन्न दर्शनों द्वारा दी गयी प्रमाणों की परिभाषाओं का खण्डन किया है; उसने प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षणों का भी खण्डन किया है।

बौद्धदर्शन :-

बौद्ध दर्शन को महायान दर्शन भी कहा जाता है। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्धाचार्यों में परस्पर मत भेद उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गए थे। इसलिए उन आचार्यों के मत भेदों को दूर करने के लिए कई बार महापरिषद् को आमन्त्रित किया गया। डॉ० राधाकृणन् ने इस विषय में लिखा है कि उन विषयों का निर्णय करने के लिए मगध के समीप राजगृह में एक परिषद् बुलाई गई। जब सब भिक्षु लोग एकत्र हो गए तो बुद्ध के शिष्यों में सबसे अधिक विद्वान् काश्यप से कहा गया कि वह अभिधम्मपिटक में प्रतिपादित अध्यात्म विद्या विषयक विचारों का पाठ करे। इसी प्रकार जो बुद्ध उस समय में वर्तमान शिष्यों में सबसे पुराना शिष्य था; उसे कहा गया कि वह विनयपिटक में मिलने वाले अनुशासन के नियमों एवं उपनियमों को पढ़कर सुनाए और अन्त में बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द से कहा गया कि वह सुत्तपिटक को पढ़कर सुनाए। जिसमें बुद्ध के द्वारा प्रचार के समय में वर्णित कहानियों एवं छोटे-छोटे दृष्टयन्तों का संग्रह है। एक दीर्घकाल तक बुद्ध की शिक्षा का प्रचार नियमपूर्वक शिक्षकों एवं शिष्यों द्वारा ही क्रमागत रूप होता रहा और उस शिक्षा को केवल ई० सन्-८० के बाद ही लंका के राजा वत्तगामनि के शासन काल में लेखबद्ध किया गया। "पुराने समय में अत्यन्त विद्वान् भिक्षु तीनों पिटकों एवं उनके ऊपर की गई टीकाओं को भी मौलिक प्रचार द्वारा ही आगामी सन्तति तक पहुँचाते थे, किन्तु चूंकि उन्होनें अनुभव किया कि जनता प्राचीन शिक्षा से पीछे हटती जा रही है। इसलिए भिक्षु लोग एकत्र हुए और इस विचार से कि सत्य सिद्धान्त स्थिर रह सकें, उन्होंने उन सिद्धान्तों को पुस्तक के रूप में लिखा। पाली की धार्मिक व्यवस्था के तीन विभाग हैं- १. सुत्त अथवा कहानियाँ, २. विनय अथवा अनुशासन, ३. अभिधम्म अथवा सिद्धान्त। पहले सुत्तापिटक के पांच विभाग है, जिन्हें निकाय कहते हैं। इनमें से पहले चार में मुख्य रूप से बुद्ध के सुत्त अथवा व्याख्यान हैं। ये बार्ता

अथवा संवाद के रूप में है। ये जिन सिद्धान्तों को समझाने की कोशिश करते हैं। उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। कालान्तर में बौद्धदर्शन के अनेक तार्किक आचार्य हुए तथा विपुल साहित्य निर्मित हुआ। बौद्ध साहित्य में शास्त्रार्थ शैली का भी दिग्दर्शन होता है। यह सत्य है कि महात्माबुद्ध ने अपने जीवन काल में कोई भी ग्रन्थ नहीं लिखा था। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने उन के उपदेशों को एकत्रित किया था। इसलिए यह सम्भावना है कि बुद्ध के दार्शनिक विचारों में कुछ मिलावट भी हुई होगी।

जैनदर्शन :-

जैनदर्शन के अनेक नाम हैं-इनमें त्रैलोक्यपूजित, अर्हत, वर्धमान, और जिन आदि नाम आते हैं। जैन साहित्य को चार कालों में विभक्त किया जाता है- १. आगम काल, २. अनैकान्त-स्थापन काल ३. प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था काल और ४. नवीनन्याय काल। काल विभाजन के सन्दर्भ में पं० दलसुखभाई मालवणिया ने ठीक ही कहा है कि पूर्वकाल की विशेषताएँ उत्तरकाल में कायम रही है और उस काल का जो नया कार्य है उसी को ध्यान में रखकर उत्तरकाल का नामकरण हुआ है। तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल में उत्तरकाल के विचार-बीच वर्तमान है और पल्लवन की दृष्टि से ही उस काल का नाम पड़ा।

१. आगम काल :-

आगम युग के अन्तर्गत श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों के साहित्य आते हैं। कहा जाता हैं कि आगमों की विषय-वस्तु साक्षात् चौबीसवें तीर्थंकर महावीर की वाणी है, जिनकों गणधरों ने ग्रन्थरूप में निबद्ध किया। वस्तुतः ये आगम ग्रन्थ जैन परम्परा में वेद की तरह मान्य है। कहा जाता है, महावीर की वाणी श्रुत परम्परा में स्मृत होती आयी और काल एवं व्यक्ति की अपेक्षा से उस मूल वाणी में परिवर्तन होता गया। पुनः आगम के कुछ अंश उतने पुराने सिद्ध नहीं होते। इन्हीं सारी बातों को लेकर दिगम्बर सम्प्रदाय श्वेताम्बर के आगामों को मान्य नहीं समझता। अतः आगम साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर-दृष्टि से अलग-अलग है। श्वेताम्बर के अनुसार साधारणतः पैंतालीस आगम ग्रन्थ है। यद्यपि इन सारे आगम ग्रन्थों में मुख्यतः आचार एवं दर्शन-सम्बन्धी विचार देखने को मिलते हैं। फिर भी दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले प्रमुख ग्रन्थ भगवती, सूत्र कृतांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायांग, अनुयोगद्वार आदि। आचार से सम्बन्धित ग्रंथ आचारांग, दशवैकालिक, उपासकदशा, आवश्यक, निशीथ आदि है। इन

आगमों पर बहुत-सी टीकाएं लिखी गयी हैं, जिनमें जैन दर्शन की समुचित व्याख्या उपलब्ध होती है।

२. अनैकान्त-स्थापन काल :-

यह काल जैन दर्शन की व्यवस्थित विचार-श्रृंखला की प्रारम्भिक कड़ी है, क्योंकि इसी काल में नय, सप्तभंगी स्याद्‌वाद आदि को सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया गया। यह सही है कि आगमों में इनके तत्त्व बहुविध वर्तमान है, लेकिन अन्य दर्शनों के समझे इस दर्शन को सबल एवं योग्य बनाने का कार्य इस काल में ही किया है। इस काल के प्रमुख तथा प्रसिद्ध दार्शनिक हैं सिद्धसेन एवं समन्तभद्र। सिद्धसेन की प्रमुख पुस्तकें सन्मतिर्क, न्यायावतार एवं वत्तीसियाँ हैं जिनमें नय स्याद्‌वाद, अनेकावाद, प्रमाण, ज्ञान आदि की समुचित व्याख्या हुई है। समन्तभद्र के ख्याति प्राप्त ग्रन्थ आप्तमीमांसा युक्त्युशासन और बशहस्वयाम्भूस्तोत्र हैं। जिनमें जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। इस काल के अन्य दार्शनिकों में मल्लवादी, सिंहगवि,पात्रकेसरी, श्रीदत्त आदि के नाम उल्लिखित है।

३. प्रमाणशास्त्र-व्यवस्था काल :-

इस काल में तर्क, प्रमाण, प्रमेय आदि विषयों पर काफी विस्तार के साथ चर्चा हुई जिसके फलस्वरूप जैन दर्शन किसी भी अन्य दर्शन के समक्ष अपना गौरव अनुभव करने में समर्थ हो सका। इस काल के प्रमुख दार्शनिक हरिभद्र, जिनभद्र एवं अकलंकार हरिभद्र ने जहाँ अनेकान्त द्वारा अपनी विचार-पद्धति को सर्वांगीण रूप में विकसित किया, वहाँ जैन न्यायशास्त्र के इतिहास में अकलंक प्रमाणशास्त्र को एक व्यवस्था प्रदान की, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी दार्शनिकों ने किया। जिनभद्र का अनेकान्त एवं नय आदि का विवेचन अपने आप में महत्वपूर्ण है। हरिभद्र के प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थ है-अनेकान्तजयपताका, षड्‌दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि। अकलंक के प्रमुख ग्रन्थ हैं-लघीस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय तत्त्वार्थवार्तिक आदि। अन्य प्रमुख दार्शनिकों में विद्यानन्दि मणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र आदि हैं।

४. नवीन न्यायकाल :-

अन्य दर्शनों की भांति इस काल में जैनदर्शन के प्रमुख दार्शनिक यशोविजय है। इन्होंने नवीन न्याय की शैली में जैनदर्शन को ढाला और आगम

आदि ग्रन्थों की व्याख्यायें भी नयी पद्धति से की। इनके ग्रन्थों की संख्या अधिक है। इनके प्रमुख दार्शनिक ग्रन्थों में अष्टसहमस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, जैनतर्क भाषा, नयोपदेश, भाषारहस्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध मत और जैन मत दोनों ही किसी एक प्रज्ञावान आदि कारण की सत्ता को मनाने से निषेध करते हैं। दैवीयरूप सन्तों की उपासना करते हैं, ऐसे पुरोहितों की संस्था को मानते हैं। जो ब्रह्मचर्य का पालन करते हों, और किसी भी कारण तथा किसी भी प्रयोजन के लिए जीव हिंसा को पाप समझते हैं। उक्त दोनों मतों के संस्थापक वे थे, जिन्होंने अपने को पूर्ण बनाया, यद्यपि वे सदा ऐसे नहीं रहे। दोनों ही मत वेदों के प्रामाण्य के यदि विरोधी नहीं तो कम से कम उसके प्रति उदासीन अवश्य हैं। बुद्ध एवं वर्धमान के जीवन एवं शिक्षाओं में भी पाई जाने वाली अद्भुत समानताओं के कारण कभी-कभी यह कहा जाता है कि बौद्ध एवं जैनमत दोनों एक ही हैं और यह कि जैनमत बौद्धमत की एक शाखामात्र है। बार्थ लिखते हैं,-"वर्धमान का-जिन्हें अधिकतर उपयोग में आने-वाले महावीर अथवा वर्तमान युग के 'जिन नाम से पुकारना अधिक उचित होगा-दिव्यचरित्र हमारे आगे गौतम बुद्ध के साथ सम्बन्ध के इतने अधिक और विशिष्ट अंश प्रस्तुत करता है, कि हम विवश होकर अपनी सहज प्रेरणा से इस परिमाण पर पहुंचते हैं, कि वही एक व्यक्ति दोनों चरित्रों का नायक है। दोनों ही का जन्म राजकुल में हुआ; वही सामान्य नाम उन दोनों के बन्धुओं एवं शिष्यों के पाए जाते हैं। उन दोनों का जन्म और मृत्यु एक ही देश में और एक ही युग में हुए। अधिकृत ऐतिहासिक सूचनाओं के अनुसार "जिन" का निर्वाण ईसा से पूर्व ५२६ वें वर्ष में और बुद्ध का ५४३ वें वर्ष में हुआ।

जैनदर्शन का अध्ययन करने वाले विद्वान् प्रायः यह मानते हैं कि महावीर के दार्शनिक सिद्धान्त ब्राह्मणों के विरुद्ध एक प्रकार का आन्दोलन सा था। क्योंकि उस समय ब्राह्मणों का वर्चस्व चारों आश्रमों पर था। परन्तु ऐसी मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती है कि ब्राह्मण ही केवल संन्यास ले सकते थे अन्यवर्ग के लोग संन्यास नहीं ले सकते थे, क्योंकि 'द्विज मात्र' अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र को संन्यास लेने का अधिकार था।

उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित पुनर्जन्म के सिद्धान्त की यह मान्यता थी कि जगत् की समस्त वस्तुओं में जीवात्मा है। जैन दर्शन में यह माना गया है कि अग्नि, वायु और वनस्पति आदि में भी जीवात्मा है। यज्ञों को जैनियों ने ठुकरा

दिया था, क्योंकि यज्ञ ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किये जाते थे। जैनदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता है। जैन दर्शन वस्तुतः निवृत्ति का मार्ग है अत्यधिक कठोर तपस्या करते हुए प्राण छोड़ना ही जैनदर्शन में निर्वाण कहा जाता है।

प्रथम अध्याय
मीमांसादर्शन

प्रमाण निरूपण

मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों को माना जाता है, परन्तु जैमिनि के बाद के आचार्यों ने जिनमें प्रभाकर प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं उन्होंने उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण माना है। कुमारिलभट्ट अनुपलब्धि को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करता है। स्मृति को प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, स्मृति केवल ऐसी ही वस्तुओं का ज्ञान करवाती है, जिनका पहले प्रत्यक्ष हो चुका है।

प्रभाकर ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि जैसे-मन एवं इन्द्रियों के आस्तित्व का ज्ञान हम अनुमान के द्वारा करते हैं। यह ठीक है कि व्यक्ति के बोध की सीमा अल्पकालिक होती है। इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि समवायि कारण (भौतिक कारण) तथा असमवायि कारण दोनों प्रकार के होते हैं। इन्होंने यह माना है कि किसी भी ज्ञान को प्रमाणित रूप में स्वीकार करने के लिए यह आवश्यक है कि उसका सम्बन्ध वस्तु का इन्द्रिय से संयुक्त होना, इन्द्रिय का मन से संयुक्त होना, मन की आत्मा से संयुक्त होना, किसी भी ज्ञान प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इसको स्पष्ट करने के लिए प्रभाकर ने समझाया है कि आत्मा अजन्मा है, उसका कोई कारण नहीं है। इसलिए इसे अर्थात् ज्ञान को आत्मा में ही होना चाहिए। मीमांसा ज्ञान को आत्मा का गुण स्वीकार करता है। इसलिए कोई भी ज्ञान आत्मा के बिना सम्भव नहीं है। आत्मा क्योंकि नित्य है और अजन्मा है इसलिए उसमें जो समवाय-सम्बन्ध से रहता है वह गुण है। इसलिए कहा है कि बोधों का असमवायि कारण एक गुण है, यदि एक नित्य द्रव्य में अस्थायी गुण उदय होते हैं तो यह आवश्यक अन्य द्रव्यों के साथ संयुक्त

होने के कारण ही हो सकता है। क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है कि अन्य द्रव्य भी अन्य द्रव्यों में अन्दर रहते हैं इसलिए उन्हें नित्य मानना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान सन्देह आदि से रहित एक निश्चित ज्ञान है। इसलिए वह आत्मा का एक विशिष्ट गुण है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार के गुण को नित्य द्रव्यों के साथ सम्बद्ध होने के कारण तथा सम्बद्ध होने के लिए असमवायि कारण को कतिपय अन्य द्रव्यों के साथ संयुक्त रूप में होना चाहिए। ऐसे द्रव्य या तो सर्वव्यापक यथा-देश, काल अथवा आणविक हैं।

जब हमारे अनुभव सर्वव्यापक द्रव्यों के साथ संयुक्त होने पर उसकी व्याख्या नहीं कर पाते हैं, उस समय उस अनुभव की व्याख्या करने के लिए जो प्रमाता आत्मा और शरीर तथा इन्द्रियों के मध्य सामंजस्य को स्थापित करने वाला मन आत्मा और इन्द्रियांदि के मध्य पुल का कार्य करता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों को अपने अपने ज्ञान की संवेदनाएं प्राप्त होती हैं। उन संवेदनाओं को प्राप्त करके इन्द्रियाँ मन को समर्पित कर देती हैं। मन उन संवेदनाओं अर्थात् अनुभवों को बुद्धि को समर्पित कर देता है। बुद्धि उचित निर्णयार्थ आत्मा को समर्पित कर देती है। आत्मा अपना अन्तिम निर्णय करके बुद्धि को निर्णय एवं ज्ञान के रूप में बुद्धि को लौटा देता है। बुद्धि उस ज्ञान को प्रकट कर देती है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कुछ आचार्य मन और बुद्धि में वास्तविक भेद नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि मन, बुद्धि चित्त और अहंकार अन्तः करण के चार अंग हैं। इनमें वस्तुगत भेद नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्ति की एक प्रक्रिया एवं इनमें वस्तुगत भेद नहीं है, अपितु ज्ञान प्राप्ति की एक प्रक्रिया एवं अवस्था का नाम है। उस अवस्था की व्याख्या करते हुए आचार्य बतलाते हैं कि जैसे-चक्षुरिन्द्रियों की अवस्था में जो संवेदना प्राप्त होती है, वह "इदं किञ्चित्" की अस्पष्ट संवेदना प्राप्त होती है। इस अवस्था का नाम चिन्ता कहा जा सकता है। वह "इदम् किञ्चित्" क्या है इसकी दूसरी अवस्था संकल्प-विकल्प उस संवेदना में जोड़ देती है। इसलिए उस अवस्था को मन कहा जाता है। उस वस्तु का "अहं" एवं स्वरूप तथा उसमें रहने वाले व्यावर्तक धर्म जो यह स्पष्ट करते हैं कि मेरे अन्दर ये-ये धर्म हैं, मेरी जैसी अन्य वस्तुओं में वे धर्म नहीं है। जैसे-घट, पट नहीं है और पट, घट नही है। यह जो विभेदक ज्ञान प्राप्त होता है। इस अवस्था को ही अहंकार कहा जाता है। इसी प्रकार चतुर्थ अवस्था बुद्धि इस समस्त संवेदनाओं को प्राप्त करके निश्चयात्मक ज्ञान के रूप में अपना निर्णय आत्मा के द्वारा प्राप्त करके दे देती या प्रकट कर देती है, इसी

अवस्था को बुद्धि कहते हैं। इस अवान्तर अवस्था का हमें ज्ञान कैसे प्राप्त होता है। अथवा ज्ञान का स्रोत क्या-क्या है? ज्ञान की सामग्री को सहभागी बनाकर ज्ञान के स्रोत का नाम दिया जाता है।

यहाँ पर मीमांसक यह भी स्पष्ट करते हैं कि मन सुख-दुःख जैसे कार्यों को उत्पन्न करने में समर्थ है। परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द आदि ज्ञान एवं गुणों को मन अकेला उत्पन्न नहीं कर सकता है। इन ज्ञानों को प्राप्त करने के लिए उसके साथ शरीर एवं इन्द्रियों का होना आवश्यक है। इसको स्पष्ट करते हुए उनका कहना है कि किसी व्यक्ति की किसी इन्द्रिय के नष्ट होने पर उस विषय का ज्ञान मन के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता है जैसे-चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट होने पर रूप की संवेदनाएं प्राप्त नहीं हो सकती है। इसलिए रूप का ज्ञान भी नहीं हो पाता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान की सामान्य प्रक्रिया में इन्द्रियों का होना अति आवश्यक है। इस विषय को मीमांसकों ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन्द्रियों के साथ बाह्य वस्तुओं के सम्पर्क के द्वारा मन जिसमें माध्यम का कार्य करता है, तभी आत्मा बाह्य जगत् एवं उसकी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है। आत्मा और मन का सम्बन्ध धर्म-अधर्म के द्वारा सम्पन्न होता है। मीमांसकों की यह भी मान्यता है कि आत्मा की प्रवृत्ति जो मन के प्रति है, उसमें आत्मा को निष्क्रिय नहीं माना गया है। मन एवं इन्द्रियों के सम्बन्ध को समझाते हुए कहा है कि वस्तुतः मन भी एक इन्द्रिय है, क्योंकि यह मानसिक अवस्थाओं जैसे-सुख-दुःख, इच्छा और द्वेष का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। इस विषय में यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि मन तथा इन्द्रियों पर हम निर्भर करते तो हमें सब पदार्थों का ज्ञान एक साथ तुरन्त हो जाता। परन्तु ऐसा न तो देखने में आता है और न अनुभव में आता है।

जब आत्मा मन के सम्पर्क में आता है, उस समय वह अनेक प्रकार के ज्ञान एवं अनुभवों को उत्पन्न करता है। यह सपर्क मन की क्रिया से होता है। जिस क्रिया का निर्णय आत्मा के प्रयत्न अथवा आत्मा के पूर्व कर्म द्वारा प्रेरित अदृष्ट अर्थात् प्रारब्ध द्वारा होता है। मीमांसादर्शन के अनुसार आत्मा अनुभव कर्त्ता एवं कला भोक्ता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कुछ दर्शनों में आत्मा को कर्त्ता नहीं माना जाता है। उनकी इस मान्यता के पीछे यह तर्क हैं कि आत्मा को कर्त्ता मानने से आत्मा विकारी एवं परिणामी मानना पड़ेगा। आत्मा अपने साधनों के द्वारा उनमें प्रेरणा देकर के अपना कार्य करवाता है। जैसे-शरीर अनुभवों एवं कर्म का स्थान है।

इन्द्रियाँ अनुभव के साधन है, क्योंकि यदि इन्द्रियाँ न हो तो जो विभिन्न प्रकार के शरीर को अनुभव प्राप्त होते हैं, वे नहीं होंगे। यह इसलिए मानना पड़ता है कि जिस विषय की इन्द्रिय शक्ति नष्ट हो जाती है उसका ज्ञान भी प्राप्त हो जाता, परन्तु उसका प्राप्त नहीं होता है। इसलिए इन्द्रियाँ अनुभव का साधन है, यह स्पष्ट हो जाता है। यह अनुभव एवं संवेदनाएं दो प्रकार की है-आभ्यान्तर :- जैसे-सुख और दुःख। दूसरा बाह्य, जैसे-रूप रस आदि का ज्ञान जैसे-घट पट आदिका ज्ञान।

इस विषय में प्रभाकर का मत है कि हमारी सम्वित् अर्थात् चेतनता, एक समय में एक ही पदार्थ के साथ सम्पृक्त करती है अथवा होती है, दो के साथ नहीं।

प्रत्यक्षप्रमाण :-

प्रत्यक्ष ज्ञान एक साक्षात् प्रतीति एवं अनुभव है। इस विषय में मीमांसकों की मान्यता प्रायः न्यायदर्शन की तरह ही है। जैसे न्यायदर्शन में कहा गया है। कि सबसे पहले इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होने के पश्चात् प्रथम क्षण में जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह नाम जाति आदि रहित होता है, वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है। निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् नाम, जाति आदि सहित सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें जो ज्ञान प्राप्त करने के बाधक तत्व है उनसे रहित ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहलायेगा। जैसे न्याय में कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के पश्चात् जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसमें तीन प्रकार की शर्ते लगायी गई है। वे तीन शर्ते हैं-अव्यभिचारी, अव्यपदेश्य और व्यवसात्मक अर्थात् निश्चयात्मकं। इसका अभिप्राय यह है कि वह विषय और इन्द्रियजन्य ज्ञान केवल शब्दमात्रात्मक ज्ञान नहीं होना चाहिए। जैसे कहा कि जल ले आओ, तो जल में जो जल शब्द है, उसका केवल जल शब्दात्मक ज्ञान न होकर के जल द्रव्यात्मक ज्ञान होना चाहिए तभी वह जल का प्रत्यक्ष कहलायेगा। इसके लिए न्यायदर्शन ने अव्यपदेश्य शब्द का प्रयोग किया है। दूसरी शर्त यह है कि वह प्रत्यक्ष ज्ञान व्यभिचारी नहीं होना चाहिए। जिसका अर्थ है कि जो वस्तु हमें प्रत्यक्ष रूप में दिखलायी दे रही है, वही वस्तु होनी चाहिए। उसका ज्ञान परिवर्तित नहीं होना चाहिए। जैसे-रेगिस्तान के अन्दर ग्रीष्म ऋतु में जल का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है। परन्तु जब वहाँ जल लेने पहुँचते हैं तो जल प्राप्त नहीं होता है।

इसका यह निष्कर्ष निकला कि जो जल का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ था वह भ्रम था। उस भ्रम को प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है।

इस प्रत्यक्ष ज्ञान में तीसरी शर्त यह है कि वह ज्ञान व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक होना चाहिए। यदि हमारे मन की स्थिति यह है कि यह स्थाणु है या मनुष्य है, इस प्रकार की स्थिति को प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। हमारे बौद्धिक ज्ञान स्तर में निश्चयात्मिकता होनी चाहिए, तभी वह प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में माना जा सकता है।

मीमांसादर्शन में प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुए कहा है कि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर पुरुष की बुद्धि में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है।[१] इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शाबर भाष्य में स्पष्ट किया है कि वर्तमान काल विषयक जो ज्ञान कराने वाला अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान नहीं है उस वस्तु का ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होने से बुद्धि में हानोपादान का विचार आना, इनमें से किसी एक का निश्चय पूर्वक अनुभव होना प्रत्यक्ष कहलाता है।[२]

मीमांसा के अनुसार साक्षात् बोध को प्रत्यक्ष कहा जाता है। पदार्थ और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के साथ इसमें पदार्थ के विशेष गुणों का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होता है। पुनः मन और इन्द्रिय का और अन्ततः मन और आत्मा का सम्बन्ध होता है। इन्द्रियों के सम्बन्ध में न्याय और मीमांसा का समान विचार है। केवल श्रोत्रेन्द्रिय के विवेचन में सामान्य भेद है।

निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष के भेद को प्रभाकर और कुमारिल भट्ट दोनों प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते हैं।[३] निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षणों से युक्त रूप का प्रत्यक्ष बोध नहीं होने पर भी कुमारिल की दृष्टि में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यक्ति का बोध कराता है। व्यक्ति सामान्य और विशिष्ट लक्षणों का अधिष्ठान माना जाता है।[४]

पार्थसारथि की युक्ति इस प्रसंग में यह है कि पदार्थ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के साथ सभी प्रकार के सम्बन्धों से रहित अपना बोध करता है। ऐसी स्थिति

---

१. सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्।। (मीमां० द० १. १. ४)

२. इन्द्रियार्थ सम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षम्। भविष्यश्च एषोऽर्थो, न ज्ञान कालेऽस्तीति। (शबर भाष्य, पृ० १९, भाग-१.)

३. सविकल्पनिर्विकल्पकभेदात् द्विविधः। (श्लो० वा० अनु० १६७)

४. श्लोक वार्तिक प्रत्यक्ष सू०-५:१११३.

में गुण और गुणी एवं सामान्य विशिष्ट में कोई भेद स्पष्ट नहीं होता है। इनके अनुसार सविकल्प प्रत्यक्ष की स्थिति निर्विकल्प प्रत्यक्ष पर आधारित है।[५]

प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध में मीमांसक और नैयायिकों की धारणा समान है, ऐन्द्रियसक्रियता की स्थिति में प्रत्यभिज्ञा विद्यमान रहती है। इन्द्रियों की सक्रियता के अभाव में प्रत्यभिज्ञा का भी अभाव माना जाता है। मीमांसकों की धारणा है कि स्मरणमूलक क्रिया की उपस्थिति के कारण प्रत्पभिज्ञा प्रत्यक्ष मूलक नहीं हो सकती।[६]

मीमांसक योगज अन्तर्दृष्टि को स्वीकार नहीं करते। इनकी धारणा के अनुसार अन्तर्दृष्टि दो प्रकार की होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण सदैव अनुमान से बलवान् होता है।[७] प्रत्यक्ष की ही प्रत्यभिज्ञा होती-अन्य किसी की नहीं।[८] प्रत्यक्ष का अव्यपदेश नहीं होता।[९] प्रत्यक्ष-परोक्ष से भी बलिष्ठ होता है।[१०] प्रत्यक्ष प्रमाण लौकिक है।[११] प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष भेद से छः प्रकार का है-चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, रसना, मनादि[१२] अपने विषय का ज्ञान इस प्रयोग के द्वारा ही होता है[१३] और इस प्रत्यक्ष से बुद्धि का भी प्रदुर्भाव होता है।

अनुमान प्रमाण :-

मीमांसासूत्र के भाष्यकार शाबर ने अनुमान के दो भेद बतलाये हैं-प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध और सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध भेद से दो प्रकार का अनुमान कहा गया है।

---

५. शास्त्रप्रदीपिका पृ० १०९-११०.

६. श्लोकवार्तिक प्रत्पक्षसूत्र-२३४-३८.

७. प्रत्यक्षं अनुमानात् बलवद् भवेद्।-भाव. ३/५/८/२३.
अनुमानात् च बलीयः प्रत्यक्षम्।-भा० ३/८/१०/२२.

८. प्रत्यक्षमेव हि प्रत्यभिज्ञायते नान्यत्। ऋजु० पृ० २४७.

९. प्रत्यक्षं न अव्यपदेश्यम्।-१/१/५./५./पृ० ३४.

१०. प्रत्यक्षं परोक्षात् बलीयः।-३-६-३-१०.

११. प्रत्यक्षं प्रमाणं लौकिकमेव। बाल० पृ० ८.

१२. प्रत्यक्षं षड्विधं चाक्षुष-श्रोत्र-त्वचा-घ्राण-रसना-मानस-भेदात् प्रत्यक्षं व्यभिचरति शक्तिका हि रजतवत् प्रकाशते यतः। बृह० पृ० २०४.

१३. तत्संयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्ममतत् प्रत्यक्षम् सूत्रांश। १-१-४-४. यद्विषयं ज्ञानम् तनैव संप्रयोगे ज्ञानम् तनैव संप्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुष बुद्धिजन सत् प्रत्यक्षम्। (मीमां० कोषः प्रत्यक्ष प्रमाण)

जैसे-धूम-आकृति (धूमत्व या धूम सामान्य को देखकर, अग्निमत्व या अग्नि सामान्य) का अनुमान प्रत्यक्षतोदृष्ट सम्बन्ध तथा देवदत्त के गतिपूर्वक देशान्तर प्राप्ति के ज्ञान आदित्य में गति का स्मरण होना सामान्यतोदृष्ट सम्बन्ध अनुमान है। वैसे-मीमांसा सूत्र में अनुमान के भेदों की व्याव्या उपलब्ध नहीं होती।

"मीमांसा सूत्र" और शाबरभाष्य एवं कुमारिल और प्रभाकर के ग्रन्थों में अनुमान के स्वार्थ-परार्थभेद उपलब्ध न होने के कारण अवयव लक्षणों का स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया। कुमारिल के अनुसार इन्हें तीन अवयव ही अभिप्रेत है:- प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त।

मीमांसा में वादी और प्रतिवादी दोनों अथवा एक में से संशय विपर्यय, अथवा अज्ञान जिसमें ज्ञापित हो वह अनिश्चित होने के कारण कुमारिल के अनुसार असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। इसके दो भेद है-स्वरूपासिद्ध एवं आश्रयासिद्ध विपर्ययासिद्ध संदग्धिासिद्ध तथा अज्ञानासिद्ध भेद से इन दोनों के तीन-तीन अवान्तर भेद माने गए हैं।[१४]

अनुमिति का कारण :-

न्याय :-प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय में अनुमिति का कारण न्यायदर्शन के निषेध तथा अन्य में अप्राप्ति द्वारा शेष विषय में अनुमिति के दर्शन के निषेध तथा अन्य में अप्राप्ति द्वारा शेष विषय में अनुमिति के हेतु का नाम परिमेय है। परिशेष तथा शेषवत् यह दोनों पर्याय शब्द है जैसाकि जो सत्ता वाला अनित्य होता है वह द्रव्य, गुण वां कर्म होता है, यह नियम है।

'वीत' सामान्यतोदृष्ट अनुमान में स्वलक्षण सामान्यदृष्ट नहीं होता अर्थात् लिंग और लिङ्गी व्यापत्तियां सहाचर्य नियम प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी केवल हेतु सादृश्य से और उसके साधन परशु के साथ सहाचर्य प्रत्यक्ष होने के आधार पर हम इन्द्रियों की सत्ता का अनुमान कर लेते हैं। जैसे-अव्यक्त महदादि सब पदार्थ हैं। क्योंकि वे संघात हैं। जो संघात होता है। वह परार्थ होता है। जैसे-शयनासनादि अव्यक्तादि सुख-दुःख मोहात्मकता के कारण सब संघात है। अतः वे भी पदार्थ हैं।

यह सब पुरुष है जो अव्यक्तादि अतिरिक्त है प्रत्यक्षतः यहाँ परार्थ का अनुमान करने पर अर्थात् अव्यक्तादि से अतिरिक्त पुरुष के अस्तित्व का सहज अनुमान कर लेते हैं। न्यायदर्शन में इसकी परम्परा कुछ अलग है।

१४. श्लोक वार्तिक अनुमान श्लो० ७५-७६.

मीमांसादर्शन :-

मीमांसक के सिद्धान्त में अनुमान का जैसे-प्राच्य न्याय एवं नव्यन्याय के आधार पर बतलाया गया हैं, अनुमान की मीमांसक लोग उसी प्रकार तुलना करते हैं। मीमांसा भाष्य वार्तिक में कहा गया है–अन्वय व्याप्ति, व्यतिरेक, व्याप्ति, अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति भेद से तीन प्रकार का विद्यमान है।[१५]

इसी प्रकार यहाँ असिद्ध, अनेकान्तिक और प्रकरण सम ये तीन ही हेत्वाभास माने गये हैं। नैयायिकों के समान पांच नहीं है।[१६] केवल इतना ही न्याय और मीमांसा के अनुमान में अन्तर है। परन्तु मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, इन पाँच अवयवों के अन्तर्गत अनुमान की मान्यता प्रदान करते हैं।[१७]

माध्वाचार्य :-

तर्कशास्त्र में अनुमान का कारण एक दोष रहित तर्क होता है। जिसके द्वारा उसको सहवर्ती के आधार पर किसी वस्तु का भी निश्चय किया जा सकता है। जयतीर्थ द्वारा सहचर्य अथवा व्याप्ति के स्वरूप का अपृथक् व्याप्ति अथवा अविनाभाव के रूप में किया है। व्यासतीर्थ का तर्क शास्त्र एवं तर्कताण्डव में आग्रह के इस पृथक् व्याप्ति का अर्थ वस्तुतः ऐसे अनुभव का बोध होना चाहिए जो आग्रह्य मान्यता अथवा उपस्थिति अन्य देश काल सम्बन्ध में अनुभूति अन्य वस्तु मान्यता के अतिरिक्त असत्य को तब अस्वीकृत करना पड़ेगा कि उन दिनों में स्थित सम्बन्ध व्याप्ति के पूर्वोक्त आधार पर पश्चादुक्त को अनुमान प्रेरित करता है।[१८]

शब्द प्रमाण :-

मीमांसादर्शन के अनुसार ज्ञात शब्द से पदार्थ का स्मरणात्मक बोध होने पर जो वाक्यार्थ ज्ञान होता है। उसे शब्द-प्रमाण कहते हैं। शब्द प्रमाण के सन्दर्भ

---

१५. अनुमिति करणम् अनुमानम् परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमिति अथतत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्ट। (तर्क संग्रह अनु० ख० सू० ५ न्या० द०)

१६. शास्दीपिक-१-१-२५.

१७. डॉ० अमेश मिश्र-भारतीय दर्शन-पृ० २५५.

१८. देशकालसम्बन्धस्य यस्य देशकालसम्बन्धेन येन विनानुपपत्तिरस्त्यिवतेन सह व्याप्तिः।-तर्कताण्डव, पा० लि० पृ०। सन्ध लेख तर्कशास्त्र मध्वदर्शन अनुमान खण्ड।

में शब्द की नित्यता का विवेचन मीमांसकों की ओर से भारतीय ज्ञान-मीमांसा के लिए एक उल्लेखनीय देन है। शब्द की नित्यता की सिद्धि के लिए तर्क प्रस्तुत किये गए हैं हैं। कि जिसे कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द के रूप में ग्रहण किया जाता है। वह शब्द नहीं होकर ध्वनि है। यह ध्वनि नित्य शब्द का प्रतीक है। ध्वनि वस्तुतः शब्द से पृथक् है और अनित्य है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि "यदि वस्तुतः ध्वनि शब्द होती तो 'घट' शब्द के दस बार उच्चारण करने से दस शब्दों का बोध होना चाहिए था। परन्तु एक शब्द का बराबर उच्चारण करने पर भी एक ही शब्द का अर्थ बोध होता है।"

इससे स्पष्ट होता है कि उच्चारण से शब्द की उत्पत्ति न होकर ध्वनि की उत्पत्ति होती है। निष्कर्षतः शब्द नित्य है और शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है।

शब्द प्रमाण का विवेचन करते हुए महर्षि जैमिनि ने मीमांसा सूत्र में लिखा है शब्द (वेदवाक्यस्थ प्रत्येक पद) का अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है। उसके (धर्म का) यथार्थ ज्ञान का साधन होने के नाते शब्द उपदेशात्मक और वेदात्मक होता है। तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त (अनुपलब्धे अर्थे) अवाधित एवं निरपेक्ष विषयक होने के कारण वादरायण मतानुसार उसको प्रमाण कहा जाता है।[१९]

प्रभाकर मत का विवेचन करते हुए शालिकनाथ मिश्र ने प्रमाण के विषय में लिखा है ",अनुभूति ही प्रमाण है" स्मृति से भिन्न ज्ञान को अनुभूति कहते हैं। ऐसा कथन करने का प्रयोजन यह है कि "अनुभूति" प्रमाण लक्षण में स्मृति की व्यावृति हो जाये, क्योंकि स्मृति संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाली पूर्व अनुभूति सापेक्ष ज्ञान है। अतः स्मृति पूर्व ज्ञान की अपेक्षा रखने के कारण अर्थात् सापेक्ष ज्ञान वाली होने के नाते प्रमाण नहीं कही जाती।[२०]

यहाँ यह शंका उत्पन्न हो जाती है कि स्मृति से अतिरिक्त सभी ज्ञान प्रभा

---

१९. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेश-व्यतिरेकश्चार्थे अनुपलब्धे तत् प्रमाणम् वादराणस्यानपेक्षत्वात्। मी० सू० १-१-५.

२०. अनुभूतिप्रमाणं सा स्मृतेरन्या स्मृतिपुनः। पूर्व विज्ञान संस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते। न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तेरपेक्षणात्। प्र० पा० पृ० १०४.

अर्थात् अनुभूति रूप है, तो भ्रमादि स्थल में लक्षण की अति-व्याप्ति होगी, क्योंकि भ्रमादि ज्ञान ही अनुभवात्मक होते हैं। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है-"इदं रजतम्" अर्थात् "रजततम् इदम्" यह एक ज्ञान नहीं अपितु दो ज्ञानों का योग है। यहाँ पर इदम् अंश" अनुभवात्मक ज्ञान का सूचक है और "रजत अंश" स्मरणात्मक ज्ञान का सूचक है। इस 'रजत अंश' ज्ञान के स्मृति मूलक होने के नाते यह अनुभव रूप नहीं है। अतः इसमें प्रामाण्य की आपत्ति नहीं दी जा सकती। "इदम्" यह जो ज्ञान है वह प्रमात्व रूप से इष्ट ही है। केवल रजत ज्ञान ही व्यवहार में विसंवादक होने से भ्रम कहा जाता है। मान लिया जाये कि उक्तोदाहरण में दो ज्ञान है किन्तु "पीतं शंखम्" शंख पीला है-शंख भी पीला ही दिखाई देता है। इसका समाधान यह है कि इस ज्ञान के प्रामाण्य विशिष्ट होने पर भी व्यवहार दशा में विसंवाद होने से यह ज्ञान भ्रान्त कहा जाता है। यहाँ विसंवाद नहीं देखा जाता। अतः भ्रान्ति का व्यवहार भी नहीं होता। इस प्रकार से पीत शंखादि ज्ञान प्रमाण होते हुए व्यवहार-विसंवादि होने के नाते भ्रान्त ही सिद्ध होता है अतः अनुभूति ही प्रमाण है।[२१]

उपमान :-

मीमांसा में उपमान प्रमाण का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि पूर्व ज्ञात का नाम "प्रसिद्ध" और समान धर्म का नाम 'साधर्म्य' है। साधर्म्य सापेक्ष तथा सारूप यह तीनों पर्याय शब्द है। पूर्वज्ञात पदार्थ के समान धर्म द्वारा "साध्य" उपमेय की सिद्धि को 'उपमान' कहते हैं।[२२] अर्थात् वह जिस कारण द्वारा ज्ञात हो उसका नाम "उपमान" है। अनुमान की भांति उपमान भी करणवाची और भाषवाची जानना चाहिए। जैसा कि "गवय" पद के वाच्यार्थ को न जानने वाले नगरवासी पुरुष ने एक वनवासी से पूछा कि कीदृशो गवयाः "गवय कैसा होता है। वनवासी ने उत्तर दिया-"गो सदृशो गवयः"-गौ के सदृश गवय होता है इस प्रकार वनवासी के वचन को सुनकर नगरवासी पुरुष वन में गया, वहाँ जाकर गो सदृश उसने गवय को देखा और वाक्यार्थ स्मरण किया, "गो सदृशोः-अयं गवयः" अतः इस उपमिति असाधारण कारण का नाम उपमान है। इस प्रकार

२१. प्र० पा० पृ० १२६-१२७.

२२. प्रज्ञातसामान्यं समानत्येप्रयज्ञनीय ज्ञातव्यविषयज्ञानमुपमानम्। उपमितिकरणम्-उपमानम्। तर्क संग्रह-८५.

उपमान का निकृष्ट लक्षण यह हुआ कि सादृश्य व्यक्ति के ज्ञान का नाम "उपमान" और उपमान अन्य ज्ञानमुपमिति:-उपमान जन्य ज्ञान का नाम उपमिति है।[२३] अर्थात् "अयं गवयपदवाच्य:" यह गवय पद का वाच्यार्थ है। इस प्रकार पद पदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान को उपमिति कहते हैं। इस रीति के सादृश्य ज्ञान को करण तथा आप्तवाक्यार्थ की स्मृति को "व्यापार" तथा गवयादि पदों का शक्ति ज्ञान फल है।

भाव यह है कि जब पुरुष इस आप्त वाक्यार्थ को जान लेता है-गो के सदृश गवय:" होता है। इन दोनों का साधर्म्य है तब उसको कालानन्तर में साधर्म्य ज्ञान द्वारा जो गवयादि पदों को अपने अर्थ के साथ संज्ञा सम्बन्ध को ज्ञान करा देता है। वही उपमान प्रमाण का उपमिति ज्ञान कहलाता है।[२४] जो गवायादि संज्ञावाची पदों का गवयादि व्यक्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा नहीं हो सकता। अत: उक्त निश्चय का असाधारण कारण उपमान ही है।

अर्थापत्ति :-

उस प्रमाण रूप अर्थापत्ति में उपाय के ज्ञान से उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमा है। इन दोनों में से उपपाद्य ज्ञान प्रमाण है और उपपादक ज्ञान प्रमा (फल) है जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है वह उपपाद्य और जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहाँ उपपादक होता है। जैसे-रात्रि भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का पीनत्व अनुपपन्न है, इस कारण वैसा पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में वैसे पीनत्व की अनुपपत्ति है, इस कारण रात्रि भोजन उस पीनन्व का उपपादक है।

ख्यातिवाद :-

ज्ञान और भ्रम में विभिन्न भेद :-

प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष अर्थात् संयुक्त होने से उत्पन्न हुआ अव्यपदेश्य अर्थात् अशब्द अव्यभिचारी निर्दोष अर्थात् संशय, विपर्ययादि से रहित व्यवसायात्मक निश्चयात्मक ज्ञान ही कहलाता है।[२५]

---

२३. पदसिद्धसाधर्म्यात् साध्यासाधनमुपमानम्। (न्याय भाष्य)

२४. सादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानमुपमानम्। (न्याय भाष्य) सम्बन्धस्य परिच्छेदसंज्ञाया: संज्ञिना सह। प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमान फलं विदु:।। न्या० कुसु०

२५. इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम्। न्या० दर्शन-१/१/४.

इस प्रकार ज्ञान और भ्रम में विभिन्न भेद है। । अतः भ्रम की सर्व-प्रथम परिभाषा उद्धृत करते हैं। जब कोई पदार्थ संशय एवं दोष युक्त हो तथा अव्यवसायात्मक और अनिश्चयात्मक अज्ञान वाला हो उसे भ्रम कहते हैं। न्यायमंजरी में भ्रम की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है[२६] कि यदि किसी वस्तु में ऐसे गुण का वर्णन किया जाय, जो उसमें नहीं हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्ति वा भ्रममूलक ही होगा, उसे नहीं कहा जा सकता। जैसे-'रज्जु में सर्प' "साबुन के झाग में दूध की भ्रान्ति"।

ज्ञान और भ्रम में इन्द्रियों का सम्पर्क तो सही विषयवस्तु से ही होता है। परन्तु अन्य परिस्थितियों एवं उपाधि कारणों से (वातावरणदोष) के कारण उसके गुण स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी को ही भ्रम का भेद माना गया है।

अन्य अप्रासांगिक बाह्य प्रत्यक्षों के कारण भी वस्तु विशेष को अन्य रूप में देखने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है। जैसे-सूर्य रशिमयों को जिस से संस्कृत में मृग मरीचिका कहा जाता है। ये मरुभूमि में प्रायः दिखाई देती है। उस तपती हुई भूमि में नदी के बहते हुए पानी में लहरें सी प्रतीत होती है, वहाँ पानी है यही भ्रम है।[२७]

श्रीजयन्त भट्ट का कथन है कि इन्द्रिय दोष से अथवा उसी प्रकार की वस्तु की स्मृति से जो वस्तु देखी है उससे पूर्व के गुणों का निक्षेप हो जाता है वहीं भ्रम है। इसमें इन्द्रिय सम्पर्क आवश्यक नहीं है। अप्रासांगिक स्मृतियाँ के स्फुरण मात्र में भी ऐसी भ्रान्ति हो जाती है।[२८] मानसिक भ्रान्ति भ्रम के सिद्धान्त के विपरीत को ख्याति या अन्यथाख्याति कहते हैं। जो मनः कल्पना के रूप में पहले से स्थित था वह विषय वस्तु के रूप में दिखाई देने लगता है।[२९]

उत्तरकालीन वैशेषिक जिसकी प्रशस्तपाद और श्रीधर ने व्याख्या की है,

---

२६. न्यायमंजरी, पृष्ठ ८८ पर ज्ञान एवं भ्रम की परिभाषा।

२७. इन्द्रियेणालोच्यमरीचिन उच्चावमुच्यतो निर्विकल्पेन गृहीत्वा पश्चात् तत्रोपधात् दोषात् विपर्येति विकल्पकोक्त्या-प्रत्ययो भ्रान्तो.........व्यभिचारिनार्थस्य। न्या० मंजरी पृ० ८८.

२८. जिसका उल्लेख न्याय मंजरी के पृ० ८९ से १८४ तक है।

२९. हृदये परिस्फुरतो अर्थस्य बहिरवभासनम्। न्या० मंजरी, पृ० १८४ पर वर्णन मिलता है।

इस सम्बन्ध में न्यायदर्शन से वे सहमत हैं। भ्रम (न्याय) अथवा विपर्यय का वैशेषिक की अवस्था में इन्द्रियों का सम्पर्क सदैव सही वस्तु से ही होता है। परन्तु गुणों को उस वस्तु में स्थापित कर देने से भ्रम उत्पन्न होता है।[३०]

किन्तु बौद्ध मत से यह विपरीत है। बौद्धों का कहना है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष भ्रान्ति भ्रम का कारण है कि हम वस्तुओं में भ्रम के कारण जाति गुण, नाम और द्रव्य की कल्पना कर लेते हैं।[३१] भ्रम जागृति और स्वप्न दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। इस प्रकार भ्रम की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भ्रम के भेदों की संख्या या ज्ञान और भ्रम में भेद वहीं कहे जा सकते हैं जोकि ज्ञान के मूल स्रोत हैं। जिन साधनों से ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हीं के विगतार्थ भ्रम का उदय होता है।

भ्रम की स्थिति में दार्शनिकों के मध्य मतभेद है। जैसे परमसत्ता के विषय में दार्शनिकों के मतभेद हैं सत्ता सम्बन्धी अपनी-अपनी मान्यता के साथ भ्रमस्थल में सैद्धान्तिक मतभेद आवश्यक ही है। प्राचीन आचार्यों ने पांच व्याप्तियों का उल्लेख किया है।

ख्यातिवाद सम्बन्धी विभिन्न मत :-

भारतीय मनीषियों के उर्वरा मस्तिष्क में जिस ज्ञान कर्म और भक्ति के त्रिपुथगा का प्रवाह उदित हुआ है। उसने दूर-दूर के मनुष्यों के कल्मष को धोकर उन्हें पवित्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और सदा स्वच्छ बनाकर मानवता का पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास किया है।

न्यायदर्शन में ख्याति को दो भागों में विभक्त किया है-पहला विपरीतख्याति तथा दूसरा-अन्यथाख्याति। जो मनः कल्पना के रूप में पहले से स्थित था वह विषयवस्तु के रूप में दिखाई देने लगता है।[३२]

बौद्ध दर्शन में दो प्रकार की ख्याति मानी जाती है-१. असतख्याति, शून्यवादी बौद्धों का मत है, २. आत्मख्याति, विज्ञानवादी बौद्धों का मत है।

---

३०. शक्तिसंयुक्तेनेन्द्रियेण दोषासहकारिणा रजतसंस्कार सचिवेन सादृश्य मनुरन्धता शुक्तिका विषयो रजताध्यवसाया कृता। न्या.कन्दली पृ० १७७-८१

३१. न्याय मंजरी, पृ० ९३-१००.

३२. विपरीतख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, द्विविधरूपेण प्रसिद्धः। (न्याय भाष्य वात्स्यायन)

अद्वैतवेदान्त में ख्यातिवाद को "अनिवर्चनीय ख्याति" कहा है। वेदान्त परिभाषाकार ने कहा है कि अन्तः करण वृत्ति कुल्यात्माबहिर्वेश को जाकर अन्तःकरण और विषय दोनों को सम्बन्धित करती है।[३३]

विशिष्टाद्वैत में सत्ख्यातिवाद की संज्ञा दी गई है। रामानुज यथार्थवादी दृष्टिकोण के समर्थक है और इसके प्रवर्त्तक बोधायन थे। आपने सत्ख्यातिवाद की व्याख्या की है। उनके अनुसार सारा संसार सत् है और उसकी सत्ता यथार्थ है। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिध्या नहीं होता। ज्ञान सदैव सत्य होता है और ज्ञान का विषय भी सत्य होता है। यह उनके यर्थाथवादी दृष्टिकोण का प्रतिफल है।

अख्याति :-

मीमांसक दर्शन में ख्यातिवाद को अख्याति के नाम से जाना जाता है। मीमांसकों में प्रभाकर आदि के मत आते हैं। अख्याति मीमांसक प्रभाकर सम्प्रदाय के अनुसार सभी ज्ञान यथार्थ है। उनके अनुसार अयथार्थ ज्ञान है ही नहीं। कालिकानाथ ने प्रकरणपंजिका में प्रभाकर मत के ज्ञान के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि सभी ज्ञान यथार्थ है।[३४] इस सिद्धान्त के अनुसार "इदं रजतम्" इसके पश्चात् जो "नेदं रजतम्" यहाँ पर भी "इदं रजतम्" का निषेध नहीं होता है। अपितु रजत के साथ इदं के असम्बन्ध के ज्ञान न होने के कारण यह रजत है, इस प्रकार शब्दादि प्रयोग रूप व्यवहार का ही प्रतिषेध होता है।[३५] भ्रमादि जो शक्ति में रजत का प्रयोग मानते हैं, वह समीचीन नहीं हैं। क्योंकि उक्त शुक्ति का रजत भ्रमस्थल में रजत का आलम्बन शुक्ति का नहीं हो सकता। ऐसा होने पर स्वानुभवविरोध होगा। भ्रमवादी जब रजत का आलम्बन शुक्ति को कहते हैं। उनसे ये लोग पूछते हैं कि "आलम्बन से भ्रमवादियों का क्या अभिप्राय है" क्या जिसकी सत्ता है वह वस्तु ज्ञान का आलम्बन है। ऐसा कहने पर अतिप्रसंग दोष होगा। संसार में सत् वस्तु जहाँ भी है वह किसी भी ज्ञान का आलम्बन हो जायेगी। यदि भ्रमवादी इदम् को कारणत्वेन रजत ज्ञान का विषय मानते हैं, तो भी समीचीन नहीं है। ज्ञान का कारण इन्द्रियाँ भी हो सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञान के

---

३३. वेदान्त परिभाषा, पृ० २३ धर्मराजध्वरीन्द्र, सर्वदर्शन चोक्ष०।

३४. यथार्थ सर्वमेतेहविज्ञानम् (प्रकरण पंजिका-४/१: शलिरकनाथ, चौखम्बा १९०३)

३५. न चैष रजतस्य निषेधः नदान्तायाः किन्तु विवेकाग्रह प्रसंजितस्य रजतमिति रजतव्यवहारस्य। भामती, पृ० २६

प्रति इन्द्रियाँ भी कारण है। अतः इन्द्रियाँ भी रजत ज्ञान का विषय क्यों न हो। यदि कहा जाये कि ज्ञान भी भासत्व के आलम्बन का कारण है तब तो शुक्ति रजत के ज्ञान का आलम्बन हो ही नहीं सकती। 'इदं रजतम्' में शुक्ति रजत की प्रतीति तो होता नहीं। अर्थात् शुक्ति भासती नहीं हैं, अतः वह आलम्बन नहीं हो सकती।[३६]

उक्त भ्रमस्थल में 'रजत' इस प्रकार का अनुभव होता है। शुक्ति ऐसा नहीं होता। अतः अनुभव का विरोध होगा। चक्षु आदि इन्द्रियाँ यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। न कि मिथ्या ज्ञान को उत्पन्न करने में। दृष्टेन्द्रियाँ भी मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि दोष से दूषित होने पर केवडे का बीज बर के अंकुर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण मानना पड़ेगा कि कारणगत दोष कारण में कार्य जन्य शक्ति को व्यवहृत करते हैं। कारण मे नये कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न नहीं करते हैं।[३७]

इसीलिए मीमांसकों के अनुसार "इदं रजतम्"-यहाँ इदं का प्रत्यक्ष भी सत्य ज्ञान है और रजत की स्मृति भी सत्य ज्ञान है। एक-जातीय ज्ञान न होकर दो प्रकार के ज्ञान है। इन दो प्रकार के ज्ञानों का जातिगत अकारणगत एवं विषयगत पार्थक्य है। भ्रान्त व्यक्ति उसे समझ नहीं पाता । भ्रान्त व्यक्ति के लिए दोनों ज्ञान की ख्याति दो ज्ञानों के रूप में नहीं होती। अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में नहीं होती। अपितु विशिष्ट एक ज्ञान के रूप में प्रतीति होती है। तदनुकूल वह व्यवहार भी करता है, "इदरजतम्" में अभेद उपलब्धि करके भ्रान्त व्यक्ति उसे उठाने के लिए दौड़ता है। वह इस रजत के ज्ञान को सत्य समझ बैढता है। अख्याति वादी सभी ज्ञान यथार्थ है। इसके समर्थन में अनुमान का प्रयोग कर सकते हैं।

प्रामाण्यवाद

ज्ञान की प्रामाणिकता को निश्चित करने के लिए भारतीय दर्शनमें प्रामाण्य-वाद के नाम से यह वाद विख्यात है। सन्दर्भ में प्रमाण के प्रामाण्य शब्द का अर्थ स्पष्ट करना अपेक्षित है। प्रामाण्य का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है प्रमाण का प्रमाणित

३६. न हि रजतनिर्भासस्य शुक्तिकालम्बनं युक्तम् अनुभवविरोधात् न खलु सत्तामात्रेणा-वलम्बनम् अतिप्रसंगात् लम्बनं.......इत्यादि। भासती, पृ० २३.
३७. भामती, पृ० २७.

होना। इस समस्या पर भारतीय दर्शनों में पर्याप्त मतभेद रहा है। नैयायिकों के अनुसार यथार्थता अर्थात् विषय के अनुरूप होना, बौद्ध तथा मीमांसाकों के अनुसार मुख्यता है। अनाधिगतता अर्थात् पहले ग्रहण न किया जाना। एक विकट समस्या जो हमारे सम्मुख आती है।' वह यह है कि जो हमे ज्ञान प्राप्त हो रहा है, हम कैसे निश्चित करे कि जो ज्ञान है उसमें प्रमा की विशेषताएँ है अथवा हमारा ज्ञान प्रमा की कोटि में आता है। जब किसी को कोई भी ज्ञान होता है, वह प्रायः दो प्रकार का होता है-संशयात्मक तथा निश्चयात्मक। संशयात्मक ज्ञान को कोई भी प्रमा नहीं मानता है। इस विषय में किसी प्रकार का दर्शनों में कोई भेद नहीं है। निश्चयात्मक ज्ञान प्रायः यथार्थ होता है परन्तु वह कभी-कभी मिथ्या भी होता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर निश्चयात्मक ज्ञान होने पर भी यह कैसे माना जाय कि हमारा ज्ञान प्रमा रूप है तथा अप्रमा नहीं है। जिस समय हमें निश्चयात्मक ज्ञान होता है उस ज्ञान को हम प्रामाणिक मानते हैं। इस विषय में तीन विकल्प सम्भव हैं प्रथमतः-ज्ञान होने पर उसको सामान्यतः प्रामाणिक ही माना जाता है अर्थात् किसी ज्ञान द्वारा वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तो उसे अप्रामाणिक माना जाता है। द्वितीय-स्थिति में ज्ञान होने पर उसे न प्रामाणिक मानते हैं और न अप्रामाणिक मानते हैं। व्यक्ति उसके विषय में प्रवृत्त होता है, यदि व्यक्ति की प्रवृत्ति सफल होती है अथवा वह उस विषय को वैसा पाता है जैसे उसने उस ज्ञान को ग्रहण किया था तो उस ज्ञान को वह प्रामाणिक मानता है। यदि उसकी प्रवृत्ति असफल होती है अर्थात् वह विषय को ज्ञान के रूप में नहीं पाता है तो वह अपने ज्ञान को अप्रामाणिक मानता है तृतीय अवस्था यह है कि वह व्यक्ति ज्ञान होने पर प्रायः उसे अप्रामाणिक मानता है परन्तु सफल प्रवृत्ति होने पर उसे प्रामाणिक मानने लगता है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण के विषय में इन उपर्युक्त अवस्थाओं में प्रथम मीमांसक का मत है। द्वितीय मत न्याय-वैशेषिक का है तथा तृतीय मत बौद्धो का है यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि यदि यह माना जाता है कि जब ज्ञान होता है तभी अर्थात् उस ज्ञान को ग्रहण करने के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी बोध हो जाता है। इसे प्रामाण्य का स्वतः होना माना जाता है। इसी मत को स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है। इसके विपरीत यदि यह माना जाता है कि ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति ज्ञान के ग्रहण के समय न होकर उसके पश्चात् किसी अन्य ग्राहकसामग्री के द्वारा होती है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा जाता है।

इस मत को परतः प्रामाण्य वाद के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार अप्रामाण्य के विषय में भी मानी जाती हैं कि यदि यह माना जाये कि जिस समय ज्ञान की उत्पत्ति होती है अर्थात् बोध होता है उसी समय अप्रामाण्य की उत्पत्ति एवं बोध हो जाता है तो उसे अप्रामाण्य कहा जायेगा। यदि यह माना जाये कि ज्ञान की उत्पत्ति एवं बोध के पश्चात् अन्य ज्ञान द्वारा अप्रामाण्य का बोध होता है तो वह मत परतः अप्रमाण्यवाद कहा जायेगा।

स्वतः प्रामाण्यवाद दो प्रकार का माना जा सकता है-

१. यदि यह माने कि जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति हुई है उन्हीं कारणों से प्रामाण्य की भी उत्पत्ति होती है। यह स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जायेगा। यह निष्कर्ष उत्पत्ति की दृष्टि से माना जाता है।

२. यदि यह कहा जाये अथवा माना जाये कि ज्ञान का बोध जिन कारणों से हुआ है उन्हीं कारणों से प्रामाण्य का भी बोध हो जाता है। इसे ज्ञप्ति की दृष्टि से स्वतः प्रामाण्यवाद कहा जाता है।[३८]

परतः प्रामाण्यवाद के भी भेद माने जाते हैं-१. उत्पत्ति की दृष्टि से जहाँ ज्ञान को उत्पन्न करने वाली और प्रामाण्य को उत्पन्न करने वाली ग्राहक सामग्री भिन्न हो। २. ज्ञप्ति की दृष्टि से जहाँ ज्ञान के ज्ञान की सामग्री और प्रामाण्य के ज्ञान की सामग्री से भिन्न हो।

भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद के विषय में निम्नलिखित मत प्राप्त होते हैं-

१. **न्याय**-वैशेषिक-प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों परतः।

२. **मीमांसक**-प्रामाण्य स्वतः, अप्रामाण्य परतः।

३. **वेदान्त**- प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः।

४. **बौद्ध**-(१) प्रामाण्य परतः, अप्रामाण्य स्वतः (२) (कमलशील) प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः कहीं परतः।

५. **जैन**-प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः कहीं परतः।

६. **सांख्य**-प्रामाण्य और अप्रामाव्य दोनों स्वतः।

स्वतः प्रामाण्यवाद-मीमांसा भाट्टमत

यह बतलाया जा चुका है कि मीमांसा के अनुसार प्रामाण्य स्वतः होता है।

---

३८. तुलनीयः ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वमेव स्वतस्त्वं प्रामाण्यस्य।(तर्कभाषा, पृ० २३१)

यह स्वतस्त्व भी तीन प्रकार का माना जाता है-उत्पत्ति में, कार्य में और ज्ञप्ति में। कुमारिल की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ में कुछ निश्चित शक्तियाँ होती है। जब वह पदार्थ उत्पन्न होता है तो वे शक्तियाँ भी साथ-साथ स्वतः ही उत्पन्न होता है तो वे शक्तियाँ भी साथ-साथ स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। जो शक्ति पदार्थ में स्वतः उत्पन्न नहीं होती वह अन्य किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती।[३९] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जब ज्ञान की उत्पत्ति होती है तो अर्थ-बोध की शक्ति भी ज्ञान में स्वतः उत्पन्न हो जाती है अतः उत्पत्ति की दृष्टि से ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। नैयायिक चक्षुरादि के नैर्मल्यं आदि गुणों द्वारा ज्ञान में यथार्थता की उत्पत्ति मानते हैं, किन्तु मीमोसकों के अनुसार यथार्थता गुणों द्वारा नहीं, दोषों के अभाव द्वारा होती है। यदि गुणों के कारण ज्ञान में यथार्थता होती है तो कामला रोग से युक्त नेत्र द्वारा उत्पन्न "शंख पीला है" यह ज्ञान शंख अंश में भी सत्य नहीं होता, क्योंकि नैर्मल्य आदि गुणों का अभाव तो वहाँ भी है। मीमांसक-मत में यहाँ ज्ञानोत्पादक सामान्य सामग्री से जो शंख-ज्ञान होता है वह यथार्थ है किन्तु पित्त दोष के कारण शंख में पीतता की प्रतीति होती है।

कार्य की दृष्टि से स्वतस्त्व दिखलाते हुए कुमारिल कहते हैं कि पदार्थ अपनी उत्पत्ति के लिए अवश्य कारण की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु अपने कार्य के लिए नहीं। अपने कारणें से उत्पन्न होने के बाद पदार्थ स्वयं अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं।[४०] पार्थसारथि मिश्र इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि घड़ा जिस प्रकार अपनी उत्पत्ति के लिए तो मृत्पिण्ड आदि कारणों पर निर्भर रहता है किन्तु उत्पन्न होने के बाद जलानयन रूप कार्य के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति के लिए गुणवान् या गुणरहित कारणों की अपेक्षा रहता है।, किनतु अपने कार्य-विषय को निश्चत करना के लिए वह किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता; वह अपने अर्थ-परिच्छेदरूप कार्य में निरपेक्ष होता है।

ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रामाण्य की स्वतोग्राह्यता बताते हुए कुमारिल कहते हैं किं ज्ञान होने पर उसके प्रामाण्य के लिए किसी ओर को (दोषाभाव आदि की) नहीं खोजा जाता, दोषों का ज्ञान न होने मात्र से बिना प्रयत्न के ही मिथ्यात्व की

---

३९. न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन पार्यते। श्लो० वा० १, १, २, ४७.
४०. आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षवा भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवत्तिः स्वयमेव तु।। श्लोक वा० १, १, २, ४८.

निवृत्ति हो जाती है (और प्रामाण्य का ग्रहण हो जाता है) अतः बोधात्मक होने के कारण ज्ञान का प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है। जहाँ बाधक ज्ञान या कारण-दोष ज्ञान होता है, वहाँ ज्ञान की स्वाभाविक प्रामाणिकता नहीं रहती।[४१] प्रामाण्य के ज्ञान में कारण के गुणों का कुछ उपयोग नहीं है; उनसे दोषों का अभाव सिद्ध होता है और दोषों के अभाव से दोनों प्रकार की अप्रामाणिकता (कारण दोष-ज्ञान और बाधक ज्ञान) का अभाव निश्चित हो जाता है। यदि पूर्वपक्षी यह शंका करे कि गुणों की प्रामाणिकता का ज्ञान किसी ओर ज्ञान से और उस ज्ञान की प्रामाणिकता का ज्ञान किसी ओर ज्ञान से होगी, तो उसका उत्तर है कि गुण ज्ञात होते हुए अपना कार्य (प्रामाण्य ज्ञान कराना) नहीं करते, अतः उनके ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, गुण अपनी सत्तामात्र से दोष के अभाव को जानने में उपयोगी होते हैं,[४२] और इस प्रकार ज्ञान का स्वाभाविक प्रामाण्य बना रहता है।

यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुमारिल के अनुसार ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान की कारण-सामग्री की दोष-रहितता के ग्रहण से हो जाता है और क्योंकि कारण-सामग्री की दोष-रहितता के विषय में हमें अलग से कुछ सोचना नहीं पड़ता ज्ञान के ग्रहण के साथ ही उसका ग्रहण हो जाता है: अतः प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः माना गया है। किन्तु यहाँ यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं किया गया है कि ज्ञान का ग्रहण कैसे होता है। शाबरभाष्य में यह ज्ञान का ग्रहण अनुमान से माना गया है। इसके अनुसार "अर्थ के अज्ञात रहते हुए कोई व्यक्ति ज्ञान का ग्रहण नहीं करता अर्थ ज्ञात होने पर अनुमान से ज्ञात का ग्रहण कर लेता है"[४३] शबर के अनुसार पहले अर्थ का ज्ञान होता है और उसके पश्चात् उस ज्ञान का बोध होता है।[४४] अतः ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता।[४५] इस प्रकार शाबरभाष्य में यह तो स्पष्ट प्रतिपादन हमें पार्थसारथि मिश्र की शास्त्रदीपिका में प्राप्त होता है पार्थसाथि मिश्र रथि योगाचार ओर सौत्रान्तिक मतों की समीक्षा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि कोई अर्थ ज्ञान का विषय क्यों कहलाता है-घटज्ञान का विषय घट ही क्यों माना जाता है? इसके चार सम्भावित समाधान प्रस्तुत किये गये हैं :-

---

४१. श्लोक वार्तिक, १, १, २, ५२-५३.
४२. श्लोक वार्तिक, १, १, २, ६५-६७.
४३. न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते। ज्ञाते तु अनुमानादवगच्छति, शाबर (भाष्य०-१/१/५.
४४. पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते।-शाबर भाष्य १/१/५.
४५. तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः।-शाबर भाष्य १/१/५.

१. जो अर्थ ज्ञान का हेतु होता है वहीं उसका विषय कहलाता है। यह मत नैयायिक का माना जाता है।

२. ज्ञान में जिस अर्थ का सारूप्य होता है वहीं उस ज्ञान का विषय कहलाता है। यह मत सौत्रान्तिक बौद्धों का माना जाता है।

३. ज्ञान जिस अर्थ के आकार में भासित होता है वही अर्थ ज्ञान का विषय कहलाता है। यह विज्ञानवादी बौद्धों का मत है।

४. ज्ञान जिस अर्थ में 'प्रकटता' या 'ज्ञातता' को उत्पन्न करता है वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। यह मीमांसक का मत है।

पार्थसारथि मिश्र ने प्रथम तीन मतों का खण्डन किया है और चतुर्थ की स्थापना की है। उनका विवेचन संक्षेप में इस प्रकार है :-

१. यदि जिस पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति हुई है वही पदार्थ उस ज्ञान का विषय माना जाता है तो इसमें कठिनाई यह है कि हमारे घट-ज्ञान का कारण जिस प्रकार घट है, उसी प्रकार नेत्र, प्रकाश आदि भी है तो नेत्र, प्रकाश आदि ज्ञान के विषय क्यों नहीं होते? अतः कारण को विषयता का नियामक नहीं माना जा सकता।

२. सौत्रान्तिकों के अनुसार जिस नील आदि विषय का ज्ञान से ग्रहण होता है वह ज्ञान में अपने आकार को अर्पित कर देता है अतः ज्ञान नील आदि आकार वाला हो जाता है। इससे यह निश्चित किया जाता है कि यह नील आदि का ज्ञान है। इस प्रकार ज्ञान में जिस अर्थ का आकार होता है वही अर्थ ज्ञान का विषय कहलाता है। यह मत योगाचार विज्ञानवाद की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है क्योंकि यदि ज्ञान में ही आकार मान लिया जाये तो बाह्य विषय को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

३. विज्ञानवादी के अनुसार नील आदि पदार्थ ज्ञानरूप ही है, इससे भिन्न नहीं है। अतः नील आदि का ज्ञान के साथ तादात्म्य है और जिस नील आदि का ज्ञान में तादात्म्य रूप में भास होता है, वहीं नील आदि ज्ञान का विषय होता है।

पार्थसारथि मिश्र ने इस मत का विस्तार से खण्डन किया है[४६] और यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान से उत्पन्न होने वाला फल या धर्म जिस पदार्थ में रहता है वही पदार्थ ज्ञान का विषय होता है। पार्थसारथि मिश्र ने इस धर्म का

४६. शास्त्रदीपिका (बनारस), पृ० २९४.

'प्रकाशमानत्व', 'प्रकाशन', 'भासन' आदि शब्दों से उल्लेख किया है जिसे बाद में 'ज्ञातता' 'प्रकटता' अथवा 'प्राकाट्य' पुकारा गया है।

पार्थसारथि मिश्र ने यह भी दिखलाया है कि ज्ञान किस प्रकार अनुमेय है।[४७] उनके अनुसार विज्ञान की क्रिया सकर्मक है और अर्थ उसका कर्म है। जिस प्रकार पाक आदि क्रिया चावल आदि में गलना आदि फल उत्पन्न कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान-क्रिया भी अपने कर्म में फल उत्पन्न करती है। हम जानते हैं कि एक ही पदार्थ किसी ज्ञान का विषय होता है। यह तभी संभव हो सकता है जब यह माना जाये कि ज्ञान द्वारा अर्थ में कोई फल या विशेषता उत्पन्न की जाती है जिसके कारण यही पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है। इस तर्क में स्पष्टतः पार्थसारथि मिश्र ज्ञातता की सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण से कर रहे हैं।, यद्यपि अर्थापत्ति का नाम उन्होंने नहीं लिया है। यह ज्ञातता रूप फल, उनके अनुसार, ज्ञान का कार्य है, अतः अपने कारण रूप ज्ञान का अनुमान कराता है। इस प्रकार ज्ञान प्रत्यक्ष न होते हुए भी अपने ज्ञातता रूप फल द्वारा जान लिया जाता है[४८]

पार्थसारथि मिश्र ने ज्ञान का बोध अनुमान द्वारा माना है, किन्तु कुछ परवर्ती लेखकों ने अनुमान के स्थान पर अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का बोध माना है। केशव मिश्र के अनुसार घट आदि विषय का ज्ञान होने पर "मुझे घट ज्ञात हो गया" इस रूप में घट की ज्ञातता का बोध होता है। इससे यह अनुमान होता है कि ज्ञान के उत्पन्न होने पर कोई ज्ञातता नामक धर्म (विषय में) उत्पन्न हो गया। यह क्योंकि ज्ञान के पूर्व उत्पन्न नहीं हुआ था और ज्ञान के उत्पन्न होने पर उत्पन्न हो गया। अतः अन्वय और व्यतिरेक दोनो के द्वारा ज्ञान से उत्पन्न होता है, यह निश्चित हो जाता है इस प्रकार ज्ञान से उत्पन्न यह ज्ञातता नामक धर्म बिना ज्ञान के नहीं हो सकता, क्योंकि कारण न होने पर कार्य भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से ज्ञातता के द्वारा उसके कारण भूत ज्ञान का अपेक्षा हो जाता है।[४९]

ज्ञातता के विरुद्ध प्रायः सभी दर्शन यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञातता

---

४७. शास्त्रदीपिका (बनारस), पृ० २०१-२०८.

४८. तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयति सिद्धयत्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानम्। शास्त्रदीपिका (बनारस), पृ० २०२.

४९. तर्क भाषा (मुसलागांवकर), पृ० २३७.

के सिद्धान्त को मानने पर तो अतीत और अनागता पदार्थ हमारे ज्ञान के विषय ही नहीं होगें, क्योंकि उनमें ज्ञातता को उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता, जब धर्मी हो नहीं होगा तो धर्म कहां से हो आयेगा[५०] इस आपत्ति का उत्तर देते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं। कि जिस प्रकार बीते हुए दिनों में "यह दसवाँ दिन था।" इस प्रकार संख्या की प्रतीति होती है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत् पदार्थों में भी ज्ञान द्वारा प्रकाशन रूप धर्म उत्पन्न कर दिया जाता है।[५१]

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार जिस अर्थापत्ति द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है उसी अर्थापत्ति द्वारा प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है।[५२] किन्तु अर्थापत्ति द्वारा प्रामाण्य का ग्रहण कैसे होता है यह स्पष्ट नहीं किया गया है।

परतः अप्रामाण्य :-

कुमारिल ज्ञान के प्रामाण्य को तो स्वतः मानते हैं किन्तु अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। अप्रामाण्य का बोध उनके अनुसार, दो प्रकार से होता है-या तो हमारा ज्ञान किसी परवर्ती ज्ञान से बाधित हो जाये या उसके कारण के दोषों का ज्ञान हो जाये। परवर्ती ज्ञान से बाधित होने का उदाहरण है-हमें "इदं रजतम्" यह ज्ञान होता है और बाद में "नेदं रजतम्" यह ज्ञान हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रथम ज्ञान-"इदं रजतम्" का अप्रामाण्य सिद्ध हो जायेगा। इस बाधकी स्थिति में, कुमारिल के अनुसार, पूर्वज्ञान की अयथार्थता साक्षात् रूप से सिद्ध हो जाती है। दूसरी ओर जब कारण दोष-ज्ञान द्वारा अप्रामाण्य का ग्रहण होता है तो ज्ञान के अप्रामाण्य का ग्रहण साक्षात् रूप से नहीं होता। मान लीजिए हमें पीले शंख का ज्ञान होता है: और इसके बाद हमें लगता है कि चक्षु में कामला दोष है। इस दोष-ज्ञान से हमारे पीले शंख का ज्ञान अयथार्थ सिद्ध हो जागगा; हमें पता लग जायेगा कि शंख में पीलेपन का ज्ञान कामलादोष जन्य है। यहाँ साक्षात् रूप से कारण-दोष का ज्ञान होता है और उससे पूर्वज्ञान (पीलेपन का ज्ञान) बाधित हो जाता है। इस प्रकार पूर्वज्ञान की अयथार्थता का साक्षात् बोध नहीं होता, कारण दोष-ज्ञान के माध्यम से होता है। कारण दोष-ज्ञान का पूर्वज्ञान के साथ परम्परया सम्बन्ध होता है।[५३]

---

५०. शास्त्रदीपिका, पृ० १९१, तर्कभाषा, पृ० २३९.

५१. शास्त्रदीपिका, पृ० २०८.

५२. तर्क भाषा, पृ० २३१.

५३. श्लोक वार्तिक १, १, २, ५६-५८.

परतः अप्रामाण्य के सिद्धान्त में यह भी ध्यातव्य है कि बाधक ज्ञान पूर्वज्ञान के अप्रामाण्य का बोध तभी कराता है जब कि उसका अपना बाधक कोई और ज्ञान न हो अथवा उसमें कारण-दोष का ज्ञान न हो। यदि बाधक ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञान से बाधित हो जाता है या उसमें भी कारण-दोष का ज्ञान होता है तो यह मिथ्या सिद्ध हो जाता है और पूर्वज्ञान की प्रामाणिकता बनी रहती है। यहाँ यह शंका हो सकती है कि ऐसी स्थिति में प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता तृतीय ज्ञान पर निर्भर करती है फिर उसकी स्वतः प्रामाणकिता कहाँ रही? इसके उत्तर में कुमारिल कहते हैं। कि प्रथम ज्ञान में दोष का निश्चय न होने मात्र से स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि हो जाती है, वह अपनी प्रामणिकता के लिए किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है। इसी प्रकार यदि तीसरे ज्ञान में भी दोष की संभावना हो तो चतुर्थ ज्ञान द्वारा उसका निश्चय कर लिया जाता है और इसके आधार पर द्वितीय ज्ञान को प्रामाणिक कहा जा सकता है। यह कारण-दोष या बाध-ज्ञान की परम्परा तीन या चार ज्ञानों तक चलती है, इनमें से जिस ज्ञान में किसी प्रकार का अपवाद उपलब्ध होता है, वह अप्रामाणिक हो जाता है और इस प्रकार चारों ज्ञानों में से किसी एक की प्रामाणिकता का निश्यच हो जाता है। तीन चार ज्ञानों से अधिक ज्ञान की आवश्यकता नही होती। इनमें जो भी ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है उसकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होती है, अन्य ज्ञान केवल दोष के अभाव को सिद्ध करते हैं।

बौद्धों द्वारा भाट्टमत की आलोचना :-

बौद्ध-न्याय के ग्रन्थ तत्त्व-संग्रह में शान्तरक्षित ने मीमांसा के स्वतः प्रामाण्यवाद के प्रामाण्य में स्वाभाविक शक्ति होने का क्या तात्पर्य है? (१) क्या यह शक्ति नित्य ओर निर्हेतुक है, इसलिए स्वाभाविक कही गई है? अथवा (२) यह शक्ति अनित्य होते हुए भी ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही साथ उत्पन्न हो जाती है; बाद में अन्य हेतुओं से उत्पन्न नहीं होती, अतः स्वाभाविक है? पहला पक्ष स्वीकार करने पर विकल्प सम्भव है- (१) यह नित्य शक्ति प्रमाणों से भिन्न है, (२) वह प्रमाणें से अभिन्न है, (३) वह प्रमाणों से भिन्न और अभिन्न दोनों है।, (४) वह न प्रमाणों से भिन्न है, न अभिन्न है। इसमें प्रथम विकल्प सम्भव नहीं क्योंकि समस्त पदार्थों की शक्ति उनसे अभिन्न हुआ करती है। यदि दूसरा विकल्प माना जाये कि शक्ति पदार्थ से अभिन्न हो जायेगी। पदार्थ हेतुओं से उत्पन्न होता है अतः अनित्य होता है यदि शक्ति पदार्थ से अभिन्न है तो वह

भी हेतु निरपेक्ष होने से नित्य होती हैं। यदि प्रमाण हेतु-निरपेक्ष होते तो उनसे होने वाला कार्य या तो सदैव होना चाहिए या कभी नहीं। प्रमाण का कदाचित् होना तभी हो सकता है जब वह हेतु-सापेक्ष हो। प्रमाणों का स्वरूप कदाचित् ही निष्पन्न होता है यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है ओर उसका कार्य कभी-कभी ही होता है। जिससे प्रमाणों के स्वरूप के कदाचित् होने का अनुमान भी किया जाता है। अतः प्रमाणों को हेतु-निरपेक्ष मानने में प्रत्यक्ष ओर अनुमान दोनों से ही विरोध है। अतः प्रमाणों से अभिन्न नित्य प्रामाण्य-शक्ति उनमें नहीं रह सकती। दूसरे, यदि स्वाभाविकी प्रामाण्य-शक्ति को प्रमाणों से अभिन्न माना जाता है तो नित्य शक्ति से युक्त होने के कारण ज्ञान भी नित्य होगा क्योंकि यदि ज्ञान अनित्य होगा, तो उसकी शक्ति नित्य कैसे हो सकती है? इस प्रकार उस शक्ति के दो विरुद्ध स्वभाव होंगे और वह एक नहीं रहेगी। तीसरी विकल्प-शक्ति प्रमाणों से भिन्न और अभिन्न दोनों है-विरोध के कारण नहीं माना जा सकता। चौथे विकल्प-वह प्रमाण से न भिन्न है, न अभिन्न है-में भी विरोध होगा, अतः वह भी सम्भव नहीं है।

यदि यह माना जाये कि प्रामाण्य शक्ति अनित्य होते हुए भी ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो जाती है, बाद में अन्य हेतुओं से नहीं आती, तो इसमें सिद्ध-साध्यता दोष है क्योंकि बौद्ध भी यह मानते हैं कि सभी पदार्थ निरंश है और जब वे अपने कारणों से उत्पन्न हो जाते हैं तो उत्पत्ति के पश्चात् उनमें अन्य कारणों द्वारा किसी शक्ति का आधान किया जाना संभव नहीं है। जहाँ अन्य शक्ति का प्रादुर्भाव देखा भी जाता है वहाँ प्रथम पदार्थ नष्ट हो जाता है। बौद्धमत में सभी पदार्थ क्षणिक है, अतः ज्ञान भी क्षणिक है, वह उत्पत्ति के बाद स्थित हीं नहीं रहता, फिर उसमें प्रामाण्य-शक्ति का आधान कैसे संभव है?[५४] शान्तरक्षित की यह सम्पूर्ण आलोचना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती क्योंकि मीमांसक के स्वतः प्रामाण्यवाद का यह अभिप्राय ही नहीं है जो शान्तरक्षित ने ग्रहण किया है। किन्तु शान्तरक्षित ने कुछ अन्य दोष भाट्टों के स्वतः प्रामाण्य-वाद में दिखलाये हैं, जो काफी कुछ युक्ति संगत प्रतीत होते हैं। ये दोष इस प्रकार है :-

(१) मीमांसक एक ओर तो प्रामाण्य का ग्रहण स्वतः मानता है दूसरी ओर सभी पदार्थों की शक्ति का बोध अर्थापत्ति द्वारा मानता है-इन दोनों में विरोध है

५४. तत्त्व संग्रह, कारिका २८, २१-३१.

क्योकि प्रामाण्य भी शक्ति रूप ही है।[५५] यदि मीमांसक यह कहे कि ज्ञान का बोध अर्थापत्ति द्वारा ही होता है किन्तु स्वतः प्रामाण्य का तात्पर्य है कि कोई प्रमाण अपने कार्य पदार्थ का निश्चय करने में दूसरे की अपेक्षा नहीं करता, तो यह युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान का ग्रहण होने पर ही प्रामाण्य का निश्चय होगा और प्रामाण्य का निश्चय होने पर ही कोई प्रमाण अपने अर्थ का निश्चय करा सकता है। संशययुक्त ज्ञान अपने अर्थ का निश्चय करा नहीं सकता।[५६] फिर प्रमाण अपने अर्थ-निश्चय रूप कार्य में निरपेक्ष कैसे माना जा सकता है?

(२) मीमांसक का यह कथन कि जिस प्रकार घट आदि उत्पत्ति के लिए मिट्टी आदि कारणों की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु जल-आनयन आदि कार्य में स्वतः समर्थ होते हैं, इसी प्रकार प्रमाण भी अपनी उत्पत्ति के लिए कारणों की अपेक्षा करता है किन्तु उत्पत्ति के पश्चात् अपने अर्थ-प्रकाशन रूप कार्य में स्वतः हो समर्थ होता है-युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। मीमांसक ज्ञान को क्षणिक मानता है। कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, फिर वह कोई कार्य कैसे कर सकता है।[५७]

यदि मीमांसक ज्ञान को नित्य माने तो यह उसके सिद्धान्त के विरुद्ध होगा ओर युक्तियों द्वारा भी यह बात सिद्ध नहीं की जा सकती।[५८] कमलशील के अनुसार ज्ञान का अपना कोई कार्य ही नहीं हो सकता क्योंकि मीमांसक के इस कथन में कि अपने विषय का बोध कराना ही ज्ञान का कार्य है, बोध और ज्ञान समानार्थक शब्द है, ज्ञान अपने आपकों कैसे उत्पन्न कर सकता है? यदि मीमांसाक यह माने कि "यह प्रमाण है" इस प्रकार का निश्चच कराना ही ज्ञान का कार्य है, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि संशय-स्थल में इस प्रकार का निश्चय नहीं होता और भ्रान्ति के स्थल में "यह ज्ञान प्रमाण नहीं है" इस प्रकार का विपरीत निश्चय होता है।

(३) मीमांसक ने जो युक्तियाँ स्वतः प्रामाण्य की सिद्धि में दी है वही अप्रामाण्य के स्वतस्त्व को सिद्ध करने में दो जा सकती है। प्रामाण्य में ही

---

५५. तत्त्व संग्रह, कारिका २८, ३८, ३९.
५६. तत्त्व संग्रह, २८४१.
५७. तत्त्वसंग्रह कारिका २९२०, २९२१.
५८. तत्त्वसंग्रह कारिका २९२४.

मीमांसक ने कौन सा चमत्कार देखा जिससे प्रामाण्य को स्वतः पाना और अप्रामाण्य को परतः।[५९] यहाँ कमलशील के अनुसार मीमांसक का यह कथन-"न हि स्वतो सती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते" युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वस्तुतः उस असत् वस्तु की उत्पत्ति हुआ करती है जिसकी कारण सामग्री एकत्रित हो जाती है। आकाश-कुसुम आदि सर्वथा असत् वस्तुओं की उत्पत्ति इसलिए नहीं होती, क्योंकि उनके उत्पादन में समर्थ कारण सामग्री नहीं पाई जाती। जो वस्तु सत् है उसकी उत्पत्ति तो हो ही नहीं सकती, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि विद्यमान वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती।[६०]

(४) यदि स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय हो जाये तो संशय और भ्रान्ति आदि कहीं भी नहीं होंगे।[६१] किन्तु लोक-व्यवहार में यह सर्प है या रज्जु इस प्रकार का संशय होता है तथा रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होने के अनन्तर "यह सर्प नहीं रज्जु है" इस प्रकार उस भ्रान्ति का बाध हो जाता है। यदि ज्ञान-ग्रहण के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता, तो इस प्रकार के संशय आदि नहीं हुआ करते।[६२]

(५) यदि प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है तो विभिन्न वादियों का प्रामाण्य के विषय में मतभेद कैसे हो सकता? कोई प्रामाण्य को स्वतः मानता है, कोई परतः इस प्रकार का विवाद ही नहीं होता। कोई भी विवाद भ्रान्ति के कारण होता है और भ्रान्ति तभी होती है जब ज्ञान की प्रामाणिकता का निश्चय नहीं हुआ हो। निश्चयात्मक ज्ञान रहने पर भ्रान्ति नहीं रहती। भ्रान्ति न रहने पर विवाद भी नहीं होना चाहिए। किन्तु इस विषय में परस्पर विवाद देखे जाते हैं, अतः यह निश्चय होता है कि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः नहीं होता।[६३]

(६) यदि प्रामाण्य स्वतः होता तो विसंवाद (असफल प्रवृत्ति) नहीं होता। जो व्यक्ति अप्रामाणिक ज्ञान को प्रमाण समझ कर प्रवृत्त होता है वही अपनी प्रवृत्ति में असफल होता है। इस प्रकार विफल प्रवृत्ति भ्रान्ति के कारण होती है और भ्रान्ति तभी होती है जब ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण न हो। अतः स्वतः

५९. तत्त्वसंग्रह कारिका २८४२-४५.

६०. तत्त्वसंग्रह, पंजिका, कारिका २८४४-४५.

६१. तत्त्व संग्रह २९२७.

६२. तत्त्व संग्रह २९२८.

६३. तत्त्व संग्रह २९४५.

प्रामाण्यं मानने पर विसंवाद (विफल-प्रवृत्ति) नहीं बन सकता, किन्तु विसंवाद देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि ज्ञान का प्रामाण्य स्वतः नहीं होता।[६४] यदि मीमांसक कहे कि जो व्यक्ति अप्रामाणिक ज्ञान से प्रवृत्त होता है उसकी प्रवृत्ति विफल हुआ करती है और अप्रामाण्य का निश्चय परतः ही होता है[६५] तो बोद्धों का उत्तर है कि मीमांसक के अनुसार सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः निश्चित हो जाता है। अतः जहाँ प्रामाण्य का निश्चय नहीं होगा वहाँ ज्ञान अप्रामाणिक हो जायेगाा, क्योंकि प्रमाण और अप्रमाण एक दूसरे के अभाव रूप है। इस प्रकार प्रमाण-निश्चय के समान अप्रामाण्य का निश्चय भी उत्पत्ति के अनन्तर ही हो जायेगा और अप्रामाणिक ज्ञान से किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं होगी। फिर तो असफल प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।[६६]

न्याय-वैशेषिक-मत :-परतः प्रामाण्यवाद

न्याय- वैशेषिक सम्प्रदाय प्रामाण्य और अप्रामाण्यवाद दोनों को परतः मानता है। प्रामाण्यवाद सम्बन्धी विवेचन हमें मुख्यतः वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका में जयन्त की न्यायमंजरी में, श्रीधर की न्याय कन्दली में, केशव मिश्र की तर्कभाषा में तथा नव्यन्याय के प्रायः सभी ग्रन्थों में प्राप्त होता है। नीचे संक्षेप में न्याय-वैशेषिक-मत प्रस्तुत किया जा रहा है।

मनुष्य की प्रवृत्ति दो प्रकार के पदार्थों में होती है-एक दृष्ट पदार्थों में और दूसरी अदृष्ट पदार्थों में। दृष्ट पदार्थ दो प्रकार के होते हैं-अनभ्यासदशापन्न (जिनमें प्रथम बार प्रवृत्ति हो रहीं है) और अभ्यासदशापन्न (जिनमें पहले अनेक बार प्रवृत्ति हो चुकी है) प्रवृत्ति के लिए मनुष्य को विषय का यथार्थ ज्ञान आवश्यक नहीं है, अर्थ की प्रतीति-मात्र से उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। कहीं-कहीं अर्थ में सन्देह से भी बुद्धिमानों की प्रवृत्ति देखी जाती है। किन्तु सन्देह का अर्थ यहाँ, जयन्त के अनुसार, उभयकोटिक ज्ञान नहीं है अपितु प्रमाण्य का निश्चय न होना है। यह यद्यपि एकाकोटिक ज्ञान ही होता है, किन्तु इसको उपचार से संशय कहा जाता है। वास्तव में प्रथम दशा में ज्ञान न प्रामाणिक रूप में जाना जाता है न अप्रामाणिक रूप में। दोनों रूपों में ग्रहण न होने के कारण यह संशय है। अथवा निश्चय का निमित्त न होने तथा संशयजनक सामग्री के विद्यमान होने से ऐसे

---

६४. तत्त्व संग्रह २९४६-४७.

६५. तत्त्व संग्रह २९४८.

६६. तत्त्व संग्रह २९५०-५३.

स्थलों पर संशय का प्रयोग उचित है।[६७] मनुष्य यदि अभ्यास दशापन्न ज्ञान में प्रवृत्त होकर ज्ञान के अनुसार फल प्राप्त कर लेता है तो उसकी प्रवृत्ति सफल कहीं जाती है। इसी को प्रवृत्ति-सामर्थ्य या-अर्थक्रिया कहा जाता है इस समर्थ या सफल प्रवृत्ति द्वारा यह निश्चय किया जाता है। कि जिस ज्ञान से प्रवृत्ति हुई है वह ज्ञान प्रमाण है। अभ्यासदशापन्न पदार्थों में प्रवृत्ति-सामर्थ्य तक जाने की आवश्यकता नहीं होती। यदि उसमें पहले प्रवृत्ति-सामर्थ्य द्वारा प्रामाण्य का अनुमान किया जा चुका है तो उसके सजातीय होने मात्र से ही अभ्यासदशापन्न ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है।

अदृष्ट पदार्थों का उदाहरण है वेद में प्रतिपादित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों से स्वर्ग आदि फलों की प्राप्ति। यहाँ वेद-प्रामाण्य प्रवृत्ति-सामार्थ्य के बिना निर्धारित किया जाता है। किन्तु वे भी स्वतः प्रमाण नहीं माने जाते। प्रथमतः प्रवृत्ति-सामर्थ्य द्वारा वेद के दृष्टार्थक भाग आयुर्वेद आदि के प्रामाण्य का निश्चय कर लिया जाता है, फिर आप्तोक्त होने के कारण उनके समान जातीय ज्योतिष्टोम आदि के प्रतिपादक वेद-भाग का भी प्रामाण्य निश्चित कर लिया जाता है।[६८] इस प्रकार सभी ज्ञानों का प्रामाण्य प्रवृत्ति-सामर्थ्य आदि के द्वारा अनुमान से सिद्ध हो जाता है।

न्याय-वैशेषिक-मत के अनुसार ज्ञान ग्रहण अनुव्यवसाय नामक मानस प्रत्यक्ष द्वारा होता है। प्रथमतः हमे "अयं घटः"- "यह घट है"-इस रूप में घट आदि विषय का ज्ञान होता है। इसके पश्चात् "अहं घटं जानामि"-मैं घट जानता हूँ "या" घटज्ञानवान् अहम्"-में घट-ज्ञान से युक्त हूँ-इस प्रकार का अनुव्यवसाय होता है जो मानस-प्रत्यक्ष होता है। इसे मानस-प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है क्योंकि इसमें मन रूप इन्द्रिय का आत्मा में स्थित घट-ज्ञान के साथ सन्निकर्ष होता है, बाह्य इन्द्रिय का कोई सन्निकर्ष नहीं होता। इस मानस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है। किन्तु हम देख चुके हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान के पश्चात् होने वाली समर्थ प्रवृत्ति द्वारा अनुमान से होता है। अतः प्रामाण्य का ग्रहण ज्ञान के ग्रहण से भिन्न साधन द्वारा होने के कारण इस को परतः मानना पड़ता है।

न्याय-वैशेषिक के इस परतः प्रामाण्य की आलोचना करते हुए मीमांसक

---

६७. न्यायमंजरी, भाग १, पृ० १५६ तथा आगे, भाग, पृ० २६०, २६१.
६८. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका-(न्यायदर्शनम्), पृ० ९.

का कथन है कि यदि फल ज्ञान द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होगा तो फल ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय किससे होगा? इसके प्रामाण्य के निश्चय के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा। इस आपत्ति के उत्तर में न्याय-वैशेषिक का कथन हैं कि बुद्धिमान् लोग फल की परीक्षा की अपेक्षा ही नहीं करते; फल तो उन्हें जैसा मिल जाता है, वैसा ही इष्ट हो जाता है। वे तो फल के साधन की परीक्षा करते हैं। उदाहरणार्थ-प्यासे को जल का ज्ञान होने पर जल लेने के लिए प्रवृत्ति हो जाती है। फिर वह जल को प्राप्त कर पी लेता है। जिससे उसकी पिपासा की शान्ति हो जाती है। इतने से ही प्रमाता कृतकृत्य हो जाता है, वह पिपासा की शान्ति रूप फल की परीक्षा करता ही नहीं।[६९] अतः फल ज्ञान के प्रामाण्य की परीक्षा की आवश्यकता होने से अनवस्था दोष का प्रश्न ही नहीं होता।

जो प्रवर्तक प्रथम ज्ञान होता है,वह बिना जल के भी मरुमरीचिका में देखा गया है, इसलिए उसके विषय में लोगो को संशय हो सकता है। अर्थ-क्रिया-ज्ञान तो जल के मध्य स्थित लोगो को होता है। अतः यह जल के बिना नहीं हो सकता ओर उसमें संशय भी नहीं हो सकता। संशय ने होने पर उसमें प्रामाण्य के विचार की अपेक्षा ही नहीं होती।[७०] फिर भी यदि फल ज्ञान के प्रामाण्य के निश्चय की आवश्यकता हो ही तो यह निश्चय कैसे होता है। इस विषय में जयन्त और वाचस्पति मिश्र के उत्तर भिन्न-भिन्न है।। जयन्त के अनुसार फलज्ञान होने पर 'विशेष' का दर्शन हो जाने के कारण उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। यह 'विशेष' जयन्त के अनुसार, पीना, स्नान करना, तर्पण करना इत्यादि कार्य हैं। मिथ्याज्ञान से प्रवृत्ति होने पर ये 'विशेष' नहीं देखे जाते। यही विशेष-दर्शन है। इसी से अर्थ-क्रिया ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। अथवा, कारण की परीक्षा से भी अर्थक्रिया-ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित हो जाता है।[७१]

वाचस्पति मिश्र के अनुसार, अर्थ-क्रिया ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान द्वारा सिद्ध होता है। फल ज्ञान भी, उनके अनुसार, अभ्यासदशापन्न ज्ञान है, अतः तज्जातीय लिंग के द्वारा इसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। वस्तु-ज्ञान तथा सफल प्रवृत्ति दोनों ही परम्परा से अनादि हैं, अतः अनवस्था-दोष भी नहीं

---

६९. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका-(न्यायदर्शनम्), पृ० ९.
७०. न्याय मंजरी, भाग-१, पृ० १५९.
७१. न्याय मंजरी, भाग-१, पृ० १५९.
७२. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (न्या० दर्शनम्), पृ० ९.

होगा।[७२] यहाँ यह शंका की जा सकती है कि यदि अनुमान द्वारा फल ज्ञान का प्रामाण्य निश्चित होता है तो अनुमान के प्रामाण्य का निश्चय कैसे होगा और इस प्रकार क्या अनवस्था दोष नहीं आएगा? इस शंका का समाधान वाचस्पति मिश्र के अनुसार यह है कि प्रत्यक्ष और शब्द आदि प्रमाणों का प्रामाण्य तो अवश्य परतः सिद्ध होता है, किन्तु अनुमान का प्रामाण्य स्वतः ही है, क्योंकि समस्त व्यभिचार-शंकाओं से रहित लिंग-परामर्श के द्वारा अनुमान ज्ञान की उत्पत्ति हुआ करती है।[७३] अनुमान का स्वतः प्रामाण्य होने के कारण अनवस्था-दोष नहीं होगा।

बौद्धों की ओर से कमलशील ने न्याय-वैशेषिक के इस मत का निराकरण किया है कि अभ्यासवती प्रवृत्ति में भी प्रामाण्य का परतः अर्थात् अनुमान द्वारा ही निश्चय होता है। बौद्धों के अनुसार अभ्यास के पश्चात् होने वाला ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। अनुमान द्वारा अभ्यासापन्न ज्ञान का प्रामाण्य मानने पर, कमलशील के अनुसार, व्याप्ति-ग्रहण या लिंग-निश्चय कैसे होगा? यदि अभ्यास से ही लिंग का निश्चय होता है तो फिर अभ्यास-ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानने पर ही क्या आपत्ति है?[७४]

न्याय द्वारा मीमांसक मत ही आलोचना :-

भाट्टमत के स्वतः प्रामाण्यवाद की आलोचना के अधिकांशतः "ज्ञातता" के सिद्धान्त पर ही आक्रमण किया गया है। जयन्त के अनुसार ज्ञातता के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष तो हो नहीं सकता, अतः उसका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। अतएव ज्ञातता की यथार्थता का भी ग्रहण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा सम्भव नहीं। मानस-प्रत्यक्ष द्वारा भी ज्ञातता की यथार्थता का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि "नील" का अनुभव होने के पश्चात् "यह नील का अनुभव यथार्थ है "इस प्रकार का मानस प्रत्यक्ष देखने मेंनहीं आता। यदि मानस प्रत्यक्ष को स्वीकार भी कर लिया जाये तो दूसरे ज्ञान से प्रामाण्य का ग्रहण होने के कारण उसकी स्वतो-ग्राह्यता कहाँ रहीं? अनुभव द्वारा भी प्रामाण्य का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि फलगत प्रामाण्य के निश्चय के लिए कोई लिंग ही उपलब्ध नहीं होगा। ज्ञातता को ज्ञान-बोध का लिंग तो अवश्य माना जा सकता है किन्तु वह प्रामाण्य का ज्ञापक नहीं हो सकती। यदि यह मान लिया जाये कि नील-संवेदन रूप जो

---

७३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (न्या० दर्शनम्), पृ० ९.
७४. तत्त्व संग्रह, कारिका २९७०-७२ पर पञ्जिका।

अनुभव होता है। उसी से ज्ञान की यथार्थता का भी बोध हो जाता है, तब तो सीपी में होने वाली रजत की भ्रान्ति भी यथार्थ ज्ञान मानली जायेगी। अतः उत्पन्न होते ही प्रमाण में प्रामाण्य का निश्चय मानना उचित नहीं।[७५]

उत्पत्ति की दृष्टि से भी प्रामाणय को स्वतः मानना उचित नहीं क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारणों के अधीन होती है और प्रामाण्य भी एक कार्य है। अतः प्रामाण्य स्वतः कैसे हो सकता है? यदि मीमांसक यह माने कि ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए ज्ञान की उत्पादक सामग्री से भिन्न किसी गुण की अपेक्षा नहीं होती, यही प्रामाण्य का स्वतस्त्व है तो यह भी युक्ति-युक्त नहीं क्योंकि कार्य दो प्रकार का होता है-सम्यक् और असम्यक्। इनमें सम्यक् की उत्पत्ति गुण युक्त कारणों से होती है और असम्यक् की दोषयुक्त कारणों से। अतः यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति गुणयुक्त कारणों से ही हो सकती है। ज्ञान की यथार्थता में गुण कारण होते हैं, यह बात लोक-व्यवहार से भी सिद्ध होती है। आयुर्वेद के विद्वान् नेत्र आदि इन्द्रियों की गुणाभिवृद्धि के लिए अनेक ओषधियों का उपयोग बतलाते हैं। अतः प्रामाण्य की उत्पत्ति को गुणाधीन मानना ही उचित है।[७६]

अर्थबोध रूप कार्य की दृष्टि से भी प्रामाण्य का स्वतस्त्व नहीं होता। जयन्त पूछते हैं कि ज्ञान की सम्पूर्ण सामग्री अपना कार्य करने में निरपेक्ष रूप से समर्थ होती है या सामग्री का एक भाग, अथवा उससे उत्पन्न ज्ञान? यह सत्य है कि सा़मग्री अपने कार्य के उत्पादन में निरपेक्ष होती है, किन्तु इतने मात्र से ही स्वतः प्रामाण्य नहीं आ जाता क्योंकि प्रामाण्य का निश्चय दूसरे के अधीन होता है। यदि हम सामग्री के किसी एक भाग को ले तो वह ज्ञान रूप कार्य के उत्पादन में भी परापेक्ष ही होता है, क्योंकि एक ही कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। सामग्री से उत्पन्न ज्ञान फल रूप ही है, प्रमाण (साधन) नहीं है। उसका अपना कुछ कार्य ही नहीं है जिसके विषय में उसकी सापेक्षता या निरपेक्षता का विचार किया जा सके। यदि यह माना जाये कि पुरुष की प्रवृत्ति ही ज्ञान का कार्य है तो पुरुष के प्रवृत्त होने में उसकी इच्छा आदि की अपेक्षा होती है।[७७] अतः ज्ञान अपने कार्य में निरपेक्ष नहीं होगा। जयन्त की इस आलोचना में मीमांसा के वास्तविक सिद्धान्त कि ज्ञान अपने विषय-प्रकाशन रूप कार्य मे निरपेक्ष है, को

७५. न्याय मंजरी, भाग-१, पृ० १५५-५७.
७६. न्याय मंजरी, भाग-१, पृ० १५७-५८.

स्पर्श भी नहीं किया गया है। अतः इस आलोचना को उचित नहीं कहा जा सकता।

केशव मिश्र ने भी स्वतः प्रामाण्यवाद का खण्डन किया है। उन्होंने इसके खण्डन में निम्नलिखित युक्तियाँ प्रस्तुत की है[७८] -

१. ज्ञातता जैसी कोई वस्तु नहीं होती है। मीमांसक ज्ञातता के प्रतिपादन में कहता है कि बिना ज्ञातता के विषयता ही नहीं बन सकती, जिसमें ज्ञातता उत्पन्न होती है वहीं ज्ञान का विषय होता है। इस पर न्याय का उत्तर है कि विषयता के लिए ज्ञातता को मानने की आवश्यकता नहीं है, ज्ञान और विषय का एक स्वाभाविक सम्बन्ध है जिससे उनमें परस्पर विषय-विषयिभाव हो जाता है।

२. यदि ज्ञातता के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है तो अतीत और अनागत पदार्थों का विषयत्व ही नहीं होगा, क्योंकि उनमें ज्ञातता को उत्पन्न ही नहीं किया जा सकता, जब धर्मी ही नहीं होगा, तो धर्म कैसे उत्पन्न होगा?

३. ज्ञातता को मानने पर ज्ञातता भी अपने ज्ञान का विषय बनेगी और उसमें एक और ज्ञातता माननी होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। यदि अनवस्था से बचने के लिए मीमांसक यह कहे कि ज्ञातता का विषयत्व स्वभावतः होता है, उसमें किसी दूसरी ज्ञातता को मानने की आवश्यकता नहीं, तो घट आदि में भी ज्ञातता मानने का क्या लाभ? वहाँ विषयत्व स्वभावतः माना जा सकता है।

४. यदि ज्ञातता को स्वीकार कर ले तो ज्ञान का बोध ज्ञातता मात्र से होगा, जबकि प्रामाण्य का बोध ऐसी ज्ञातता-विशेष से होगा, जो कि प्रामाणिक ज्ञान की अव्यभिचारी है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जिससे ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है? यदि इसके उत्तर में मीमांसक यह कहे कि किसी ज्ञातता-विशेष से जो कि प्रामाणिक ज्ञान की अव्यभिचारी हो, ज्ञान और प्रामाण्य दोनों एक साथ ग्रहण कर लिए जाते हैं तो यही बात अप्रामाण्य के विषय में भी कही जा सकती है किसी ज्ञातत्ता विशेष से, जो कि अप्रामाणिक ज्ञान की अव्यभिचारी है, ज्ञान और अप्रामाण्य एक साथ ग्रहण कर

---

७७. न्याय मंजरी, भाग-१, पृ० १५८.
७८. तर्क भाषा (मुसलगाँवकर), पृ० २३७-२४४.

लिए जाते हैं। अतः यदि मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः मानता है तो उसे अप्रामाण्य को भी स्वतः मानना चाहिए और यदि वह अप्रामाण्य को परतः मानता है तो प्रामाण्य को भी परतः मानना चाहिए।

बौद्ध-मत :-

बौद्धों का ज्ञान-प्रामाण्य सम्बन्धी विवेचन हमें शान्त रक्षित के ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह तथा उस पर कमल शील की टीका 'तत्त्वसंग्रहपंजिका' में उपलब्ध होता है।

बौद्धों के अनुसार किसी पदार्थ की शक्ति उस पदार्थ के साथ ही उत्पन्न हो जाती है। अतः ज्ञान की प्रामाण्य-शक्ति भी ज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो जाती है। अतः उत्पत्ति की दृष्टि से बौद्धों का स्वतः प्रामाण्यवादी माना जा सकता है। किन्तु प्रामाण्य-शक्ति का निश्चय, बौद्धों के अनुसार स्वतः नहीं होता अर्थात् ज्ञान के स्वरूप मात्र से या अनुभव मात्र से प्रामाण्य का ग्रहण नहीं होता। यदि केवल अनुभव द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का बोध हो जाये तो "यह केशपाश है" इस प्रकार का ज्ञान भी प्रामाणिक हो जाया करता है किन्तु इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ अनेक केशों में एकत्व की प्रतीति होती है।[७९] प्रामाण्य-शक्ति सभी ज्ञानों में नहीं होती, केवल प्रामाणिक ज्ञानों में होती है। इसका निश्चय बौद्धों के अनुसार दो प्रकार से होता है-(१) अर्थक्रिया-ज्ञानद्वारा, (२) हेतु शुद्धि के ज्ञान द्वारा। यदि कोई अनजाने में विष खा लेता है, तो तत्काल ही विष के मूर्छा आदि परिणाम दृष्टि गोचर नहीं होते, अतः यह निश्चय नहीं हो पाता कि उसने विष खाया है या कुछ ओर किन्तु कुछ समय पश्चात् मूर्छा आदि परिणामों को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि उसने विष ही खाया है, यही अर्थक्रिया ज्ञान है इसी को "संवाद ज्ञान" कहा गया है। संवाद-ज्ञान का अर्थ है एक ज्ञान की दूसरे ज्ञान से संगति होना। यह कई प्रकार से हो सकती है। यदि किसी ने दूर से वीणा का शब्द सुना और समझा कि यह वीणा का शब्द है, फिर निकट जाकर नेत्रों से देखा तो "यह वीणा है" इस प्रकार का ज्ञान हुआ, यहाँ श्रोत्रज्ञान का चाक्षुषज्ञान से संवाद होता है, अतः श्रोत्रज्ञान की प्रामाणिकता का ज्ञान निश्चय हो जाता है। एक दूसरे उदाहरण में, किसी व्यक्ति को "यह जल है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह जल लेने के लिए प्रवृत्त होता

७९. तत्त्व संग्रह, २८३२, ३४.

है। और उस जल से उसे पिपासा की शान्ति आदि अर्थक्रिया की उपलब्धि हो जाती है। यहाँ अर्थक्रिया के संवाद से प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। इसे अर्थक्रिया-संवाद कहा जाता है। कहीं-कहीं अर्थक्रिया-ज्ञान को ज्ञान-प्रामाण्य के निश्चय के लिए एक पृथक् तत्त्व मान लिया गया है। उदाहरणार्थ पार्थसारथि मिश्र ने बौद्धों के अनुसार प्रामाण्य-निश्चय के तीन साधन बतलाये हैं-

(१) कारण शुद्धि, (२) संवाद, (३) अर्थक्रिया ज्ञान।[८०]

जैनमत :-

जैन-दर्शन में प्रतिपादित प्रामाण्यवाद सम्बन्धी सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन में शान्तरक्षित तथा कमलशील द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत से मिलता जुलता है। दोनों ही जगह प्रामाण्य ओर अप्रामाण्य दोनों ही अभ्यास-दशा में स्वतः और अनभ्यास-दशा में परतः होते हैं तथा अर्थक्रिया-ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य होता है। देवसूरि के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों उत्पत्ति में परतः और ज्ञप्ति में कहीं स्वतः और कहीं परतः होते हैं।[८१] इससे स्पष्ट है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य उत्पत्ति में परतः होते हैं अर्थात् प्रामाण्य की उत्पत्ति गुणों के अधीन होती है और अप्रामाणिक की दोषों के। किन्तु ज्ञप्ति में ये दोनों कहीं स्वतः होते हैं, कहीं परतः अर्थात् अभ्यासदशा में स्वतः होते हैं और अनभ्यासदशा में परतः।

यहाँ यह शंका उठाई जा सकती है कि जैन-दर्शन अनेकान्त वादी है और यदि अनेकांतवाद प्रमाण्य-क्षेत्र में भी घटित हो तो कोई ज्ञान केवल प्रमाण या अप्रमाण्य कैसे हो सकता है? प्रत्येक ज्ञान को प्रमाण और अप्रमाण दोनो होना चाहिए। इस शंका का समाधान विद्यानन्द ने किया है। उन्होंने अकलंक की युक्तियों के आधार पर भ्रम को भी आंशिक दृष्टि से प्रामाणिक बताया है। नैयायिकों के अनुसार नेत्र में रतौंधी आदि इन्द्रिय-दोषों के कारण दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं। यही भ्रान्ति-ज्ञान है। जैन-दार्शनिकों के अनुसार यहाँ संख्या के विषय में विसंवाद होने के कारण संख्या-सम्बन्धी ज्ञान अप्रामाणिक है, किन्तु चन्द्रमा के स्वरूप-अंश में तत्त्व ज्ञान और अविसंवादी-ज्ञान होने के कारण उस अंशों में वह ज्ञान प्रामाणिक है। अतः कोई भी भ्रम-ज्ञान पूर्वतः भ्रम-ज्ञान नहीं

---

८०. शास्त्रदीपिका (चौखम्भा), पृ० ७७.

८१. प्रमाण नयतत्त्वालोकालङ्कार १, २१.

होता। प्रत्येक ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों का सांकर्य होता है।[८२] यहाँ पुनः शंका हो सकती है कि यदि किसी ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य निश्चित नहीं है तो एक ज्ञान को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक कैसे कहा जा सकता है?

उक्त शंका का उत्तर देते हुए अकलंक कहते हैं कि संवाद या विसंवाद के प्रकर्ष की अपेक्षा होने पर प्रमाण्य या अप्रामाण्य का व्यवहार किया जाता है। जहाँ संवाद का आधिक्य होता है वहाँ प्रामाण्य होता है और जहाँ विसंवाद का आधिक्य होता है वहाँ अप्रामाण्य होता है। जिस प्रकार कस्तूरी आदि द्रव्यों में स्पर्श आदि गुणों की अपेक्षा गन्धगुण का उत्कर्ष होने से वह गन्धद्रव्य कहलोते हैं जैसे पृथिवी में भी रूप-रस आदि की अपेक्षा गन्ध का आधिक्य होने के कारण इसका लक्षण "गन्धवती" किया जाता है, इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान में विसंवाद की अपेक्षा संवाद का उत्कर्ष होने के कारण उसे प्रमाण कहा जाता है और मिथ्याज्ञान में संवाद की अपेक्षा विसंवाद की मात्रा अधिक होने के कारण उसे अप्रमाण कहा जाता है।[८३]

उक्त विवेचन को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि जैन-दर्शन ने अपने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त का अनुसारण करते हुए ज्ञानों को भी कुछ अंशों में प्रामाणिक और कुछ अंशों में अप्रामाणिक माना है तथा कुछ ज्ञानों में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय स्वतः और कुछ ज्ञानों में इनका निश्चय परतः माना है।

अद्वैतवेदान्त-मत :-

अद्वैतवेदान्त में ज्ञान-प्रामाण्य-विषयक विवेचन में हमें धर्मराजाध्वीन्द्र कृत वेदान्त-परिभाषा में प्राप्त होता है। अद्वैत वेदान्त मीमांसा के समान ही ज्ञान-प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनो में स्वतः मानता है। उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों में स्वतः मानता है। उत्पत्ति में प्रामाण्य के स्वतः होने का यहाँ मीमांसा के समान ही अभिप्राय यह है कि जिस सामग्री से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उससे ही ज्ञान में स्थित प्रामाण्य भी उत्पन्न हो जाता है। ज्ञप्ति में स्वतः होने का अद्वैत-वेदान्त के सन्दर्भ में अभिप्राय है कि जिस साक्षि-चैतन्य के द्वारा ज्ञान का ग्रहण किया जाता है। उसी के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण कर लिया जाता है। अद्वैत-वैदान्त के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान में हमारी बुद्धि-वृत्ति इन्द्रिय के माध्यम से

---

८२. अष्टशती १०१.

८३. द्रष्टव्यः न्यायवतार वार्तिक वृत्ति, टिप्पणी, पृ० १७२.

बाहर विषय के आकार को धारण कर लेती है। यही विषयाकार-परिणत बुद्धि-वृत्ति ज्ञान है। साक्षि-चैतन्य के द्वारा इसका ग्रहण होता है। तभी उस चैतन्य के द्वारा ही इसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार जिस साधन से ज्ञान का ग्रहण होता है उसी से प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है।

अप्रामाण्य का ग्रहण भी यहाँ मीमांसा के समान उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों में परतः माना गया है। अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में ज्ञान की सामान्य सामग्री के साथ-साथ दोष भी कारण होते हैं। यही अप्रामाण्य की उत्पत्ति में परतस्त्व है। इसी प्रकार अप्रामाण्य का ग्रहण साक्षि-ज्ञान से नहीं होता, अपितु अनुमिति आदि अन्य साधनों से होता है यही अप्रामाण्य का ज्ञप्ति में परतस्त्व है।

सांख्य-योग-मत :-

सांख्य-योग दर्शन के मूल-ग्रन्थों में हमें ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य के सम्बन्ध में कोई मत प्राप्त नहीं होता, किन्तु कुमारिल[८४] ने तथा कमलशील[८५] ने प्रामाण्य-सम्बन्धी जो विविध मत प्रस्तुत किये हैं, उनमें एक प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने का है। जयन्त ने भी न्यायमंजरी में इस मत का उल्लेख किया है।[८६] सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानने वाला सम्प्रदाय सांख्य है। किन्तु 'सर्वदर्शन-संग्रह' में यह किस आधार पर कहा गया है, स्पष्ट नहीं है। सांख्य तथा योग दर्शन सत्कार्यवादी हैं। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि ज्ञानों का प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य स्वतः न होगा तो वह किसी अन्य के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। किन्तु यह बात केवल प्रामाण्य की उत्पत्ति की दृष्टि से कहीं जा सकती है, इससे प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञप्ति में स्वतः होना किस आधार पर माना जा सकता है, यह कहीं स्पष्ट नहीं है।

बौद्ध और न्याय की आपत्तियों का मीमांसक द्वारा उत्तर :-

मीमांसकों ने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार प्रथम ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए अर्थ या ज्ञान की अपेक्षा है। उसी प्रकार अर्थ क्रिया

---

८४. श्लोक वार्तिक १, १, २, ३४.

८५. तत्त्वसंग्रह पंजिका २८११.

८६. न्यायमंजरी, भाग-१, पृ० १४६.

ज्ञान के प्रामाण्य के लिए एक अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी। द्वितीय अर्थक्रिया ज्ञान के प्रामाण्य के लिए एक अन्य तृतीय ज्ञान के संवाद की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। मीमांसकों की ओर से यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार अर्थक्रिया ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रथम ज्ञान भी, फिर प्रथम ज्ञान में ही प्रामाण्य का सन्देह क्यों होता है। अर्थक्रिया ज्ञान में क्यों नहीं है?[८७]

मीमांसक की ओर से यह भी स्वीकार किया गया है कि परतः प्रामाण्य मानने पर इतरेत्राशय दोष होगा। क्योंकि बुद्धि पूर्वक कार्य करने वाला व्यक्ति ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर ही किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार पुरुष की प्रवृत्ति के अनन्तर अर्थ क्रिया की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रवृत्ति और प्रामाण्य का निश्चय एक-दूसरे पर आश्रित है। मीमांसकों ने यह भी कहा है कि अर्थ क्रिया ज्ञान सदैव प्रमाण नहीं होता। जैसे कि स्वप्न का अर्थ क्रिया ज्ञान, भ्रान्तिजनक होता है। इसलिए इसके आधार पर प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करना उचित नहीं है।

मीमांसकों ने यह भी माना है कि यदि प्रमाण की यथार्थता एक-दूसरे प्रमाण से निश्चित होगी, तो प्रथम प्रमाण दूसरे के प्रति प्रमेय हो जायेगा। एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय दोनों नहीं हो सकती है; क्योंकि एक में परस्पर विरोध है। इन्होंने अपने मत को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि कारण की शुद्धता से प्रामाण्य का निश्चय करने में अनवस्था दोष होगा, क्योंकि प्रथम ज्ञान का निश्चय कारण शुद्धि के ज्ञान से होगा और कारण शुद्धि के ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय करने के लिए शुद्धि को ज्ञान की अपेक्षा होगी।

मीमांसक प्रमाण्यवाद का मूल वेदों को स्वतः प्रामाण्य सिद्ध करने में मानते हैं। क्योंकि इनके अनुसार वेद अपौरुषेय है। इसलिए आप्त पुरुष के रूप में उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है। वेदों को अपौरुषेय मानने में दो मत प्रचलित है-प्रथम मत के अनुसार अपौरुषेय का अर्थ-वेद पुरुष अर्थात् व्यक्ति द्वारा नहीं रचे गये हैं। पुरुष अर्थात् ब्रह्म ने वेदों का ज्ञान, जो नित्य ज्ञान है, आत्मा अर्थात् व्यक्ति को प्रदान किया है। दूसरे मत के अनुसार-यह माना

---

८७. तत्त्वसंग्रह २८५३.

जाता है कि वेद का ज्ञान स्वतः अर्थात् प्रकृत रूप में प्रदत्त है। ईश्वर आदि उस ज्ञान को प्रदान नहीं करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि वेद स्वयं यह कहता है कि-उस यज्ञ स्वरूप ब्रह्म (ईश्वर) से ऋग्, साम और यजु का ज्ञान प्राप्त होता है।[८८]

मीमांसादर्शन का प्रारम्भ धर्म के स्वरूप के प्रतिपादन से होता है। धर्म को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता नहीं है क्योंकि धर्म इन्दियों से सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः मीमांसा ने कहा है कि धर्म का स्वतः प्रामाण्य है।

धर्म दर्शन

भारतीय षड्दर्शनों में वैशेषिक और मीमांसादर्शन का प्रारम्भ धर्म के व्याख्यान से होता है। दोनों में धर्म का अर्थ कुछ भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। वैशेषिक दर्शन में यह माना है कि धर्म का अर्थ, जिससे अभ्युदय, अर्थात् लौकिक उत्थान तथा निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है, वह धर्म है।[८९] यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि लौकिक उन्नति तभी सम्भव है व्यक्ति पदार्थों के धर्म अर्थात् उनके वैज्ञानिक रहस्य को जानकर जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास करें। इसलिए वैशेषिक दर्शन में पदार्थों के धर्म का व्याख्यान करते हुए स्पष्ट किया है कि धर्म-धर्मी सम्बन्ध से ही वैज्ञानिक उन्नति की जा सकती है। इस वैज्ञानिक अर्थात् लौकिक उन्नति के साथ-साथ आत्मा के विकास की पराकाष्ठा अर्थात् मोक्ष का तत्त्व ज्ञान प्राप्त करना धर्म है।

मीमांसादर्शन में धर्म का अर्थ-धर्म-धर्मी रूप में नहीं किया गया है। यहाँ कहा है कि इसके अनन्तर अर्थात् वेदाध्ययन के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा होती है। यहाँ पर 'अथ' शब्द का अर्थ मंगल अर्थ भी होता है, प्रारम्भ एवं मांगलिक भी होता है। अधिकतर आचार्य 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य अर्थात् इसके पश्चात् का अर्थ ही ग्रहण करते हैं। इसलिए इसका अर्थ किया है कि स्वाभावतः प्रश्न उठता है, किसके अनन्तर? उत्तर मिला-वेदाध्ययन के अनन्तर। केवल

---

८८. यस्मात्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानिजज्ञिरेः।
तस्माद् यजुस् तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे।। यजु० ३१-३.

८९. यतोऽभ्युदयः निःश्रेयसःसिद्धिः स धर्मः।। वैशेषिक सृ० १/१.

पाठमात्र का पारायण करना वेदाध्ययन नहीं है, प्रत्युत गुरुकुल में वास करते हुए गुरुमुख से अर्थ-ज्ञानसहित विधिपूर्वक वेद का अध्ययन 'वेदाध्ययन' माना जाता है। मीमांसा शास्त्र में यह व्यवस्था की गई है कि-यदि किसी विधि के फल का निर्देश नहीं किया गया है, तो उस विधि के अदृष्टफल (स्वर्ग) की कल्पना उसी अवस्था में की जानी चाहिए, जब उस विधि का कोई दृष्टफल सम्भव न हो।[९०] अध्ययन विधि का दृष्टफल वेदार्थज्ञान स्पष्ट है। अध्ययन वेदार्थज्ञान का साधन है, अतः 'वेदार्थज्ञान' अध्ययन का फल है। अध्ययन विधि का तात्पर्य पाठमात्र का पारायण करना न होने से अध्ययन विधि के फलस्वरूप में स्वर्गफल की कल्पना करना अनुचित है।

वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्र में स्नातक[९१] हो जाने का विधान है। स्नातक होने का तात्पर्य है-गुरुकुल-वास को छोड़कर गृहस्थधर्म में प्रवेश करना। ऐसी दशा में अध्येता व्यक्ति के सन्मुख यह संशयात्मक स्थिति आ जाती है कि वेदाध्ययन के अनन्तर व्यक्ति धर्म जिज्ञासा का विचार करे अथवा स्नातक होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे? यदि "वेदमधीत्य स्नायात्" विधि के अनुसार गृहस्थाश्रम में व्यक्ति प्रवेश करता है, तो प्रस्तुत धर्म जिज्ञासा का विचार ध्वस्त हो जाता है। यदि धर्मजिज्ञासा में प्रवृत्त होता है, तो अधीत्य स्नायात् विधि की बाधा होती है। इस संशयात्मक स्थिति का समाधान आचार्यों ने इस प्रकार किया है-

'अधीत्य स्नायात्' विधिवाक्य के 'अधीत्य' पद में 'क्त्वा' प्रत्यय का अर्थ आनन्तर्य नहीं है, जिससे उसका यह अर्थ समझा जाये कि वेदाध्ययन के तत्काल अन्नतर स्नातक हो जाये। तात्पर्य हुआ-शब्दार्थज्ञानपूर्वक जैसे ही वेदाध्ययन सम्पन्न हो, उसके तत्काल अनन्तर गुरुकुल-वास छोड़कर स्नातक हो जाना चाहिए, ऐसा अभिप्राय उस विविधवाक्य का नहीं है। 'क्त्वा' प्रत्यय पाणिनि-व्यवस्था के अनुसार 'पूर्वकाल' अर्थ में होता है। इसका तात्पर्य होता है। स्नातक होने से पूर्वकाल में किसी भी समय वेदाध्ययन सम्पन्न हो जाना चाहिए।

वस्तुतः शब्दार्थ ज्ञानपूर्वक वेद का अध्ययन केवल शाब्दिक जानकारी तक ही सीमित समझना चाहिए। शास्त्रीय कर्मानुष्ठान की प्रयोगात्मक पद्धति का ज्ञान

---

९०. सम्भवति दृष्टफलकत्वे कस्यचिद्विधरे दृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।

९१. "वेदमधीत्य स्नायात्" (मनु ३/२)

उतने से सम्पन्न नहीं हो पाता। उसी जानकारी के लिए जैमिनि मुनि ने इस द्वादशाध्यायी मीमांसा-शास्त्र का प्रारम्भ किया। अर्थज्ञान सहित वेदाध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय यागादि कर्म की प्रयोंगात्मक पद्धति को जानने के लिए मीमांसा-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। वेदाध्ययन की पूर्ण सम्पन्नता के अन्तर्गत ही इस समझना चाहिए। गुरुकुल में वास करते हुए ही यह समस्त अध्ययन पूर्ण किया जाता है। इसके अनन्तर स्नातक होने का विधान है। फलतः प्रस्तुत सूत्र के साथ वेदमधीत्य स्नायात् विधि का कोई विरोध नहीं है।

इस मान्यता पर अपात्ति करते हुए पूर्वपक्षी ने कहा है कि वेदाध्ययन के अतिरिक्त तथा अन्य कर्मों के अनन्तर भी धर्म जिज्ञासा मानी जा सकती है।[९२] शबर भाष्य में इस शंका को प्रस्तुत करते हुए उसका उत्तर देते हुए कहा है कि आचार्य जैमिनि ने उस प्रकार के धर्मजिज्ञासा का वर्णन करते हुए 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है। जो वेदाध्ययन के बिना सम्भव नहीं है।[९३]

सूत्र में आये धर्म शब्द का अर्थ करते हुए शबरभाष्य में स्पष्ट किया गया है कि धर्म के लिए जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा। वह जिज्ञासा निश्चय से उसके जानने की इच्छा है। उस धर्म के जानने की इच्छा कैसे करे? धर्म क्या है? उसका लक्षण क्या है? उसके साधन क्या है? उसके साधनाभास क्या है? और पुरुष या क्रतु में प्रधान कौन है? इत्यादि रूप से धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए। इनमें धर्म क्या है? और उस का लक्षण क्या है? ये दोनों विषय 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' क्रिया में प्रवर्तक वाक्य ही जिसका लक्षण है, और जो निःश्रेयस से युक्त करने वाला है, वह धर्म है। इस एक सूत्र से ही कह दिये गये हैं। इसके साधन क्या है और साधना भास क्या है? कहाँ कौन प्रधान है, और कहाँ पुरुष गौण है, अर्थात् पुरुष की अपेक्षा क्रतु प्रधान है, इन सब प्रतिज्ञाओं का पिण्डीभूत यह सूत्र है-"अथातो धर्म जिज्ञासा।"[९४]

आचार्य जैमिनि ने यह स्पष्ट किया है कि धर्म की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं की जा सकती उसने इस विषय में युक्ति दी है कि इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु धर्म के विषय में इस प्रकार का

---

९२. अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता, प्रागपि च वेदाध्ययनात्।

९३. तादृशी तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्या शब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, यो वेदाध्ययनमन्तरेण न संभवति। शाबर भाष्य, पृ० ५.

९४. धर्माय जिज्ञासा धर्म जिज्ञासा। सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा। शाबर भाष्य, पृ० ८.

प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए कहा है कि धर्म की सिद्धि शब्द प्रमाण से ही सम्भव है। यह स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध तो नित्य नैसर्गिक है। उसके अर्थात् धर्म का साधन उपदेश अर्थात् विधि वाक्य है। जो विधिवाक्य ज्ञान के साधन बनते हैं, उनका कभी भी विपर्यय नहीं होता है। इसलिए विधिवाक्य, अनुपलब्ध अर्थात् अतीन्द्रिय विषयों में प्रमाण है। वादरायण आचार्य के मत में अन्य की अपेक्षा से रहित अर्थात् ये विधिवाक्य तथा शब्द प्रमाण स्वत: प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है।[९५]

सूत्र के 'औत्पत्तिक' पद का अर्थ व्याख्याकार आचार्यों ने 'नित्य' अथवा स्वाभाविक किया है। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:" इत्यादि वैदिक वाक्यों का अपने उन-उन प्रतिपाद्य अर्थों के साथ शक्ति रूप[९६] सम्बन्ध नित्य है। ये वाक्य त्रिकाल में भी उस अर्थ का व्यभिचार नहीं करते, अर्थ का अन्यथा बोधन नहीं करते। यद्यपि लोक में 'पर्वतो वह्निमान्' (पहाड़ में आग है) यह सुनकर भी जब तक श्रोता प्रत्यक्ष से आग न देख ले उसकी सत्यता में सन्देह बना रहता है। इससे ज्ञान होता है; शब्द अपने प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष आदि की अपेक्षा रखता है। यह स्थिति धर्मज्ञान में केवल विधिवाक्य को प्रमाण माने जाने के लिए चुनौती है। यहाँ भी सन्देह की सम्भावना बनी रह सकती हैं। तथापि सूत्रकार ने सूत्र में 'अनुपलब्धे अर्थे' पदों को रखकर इस सम्भावना का निराकरण कर दिया है।

लौकिक वाक्य में प्रतिपाद्य अर्थ इन्द्रियग्राह्य होने से, शब्द द्वारा अर्थ को जान लेने पर भी प्रत्यक्ष से जान लेने की उत्सुकता बनी रहती है, क्योंकि लौकिक वाक्य का प्रवक्ता पुरुष भ्रम-प्रमाद आदि दोषों से युक्त हो सकता है, वहाँ शब्द के अप्रामाण्य का सन्देह सम्भव हैं परन्तु वैदिक विधिवाक्य जिस अर्थ का उपपादन करता है, वह शब्देतर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सर्वथा अनुपलब्ध है; शब्द से अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण की प्रवृत्ति वहाँ सम्भव नहीं। अत: उस अर्थ को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने की उत्सुकता का प्रश्न ही नहीं उठता। वैदिक वाक्य के अपौरुषेय होने से वहाँ भ्रम आदि दोषों की सम्भावना भी नहीं। इसी कारण धर्मज्ञान का साधन विधिवाक्य रूप उपदेश सदा अव्यभिचारी होता

---

९५. औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थे-अनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षत्वात्।। मीमांसा क्षू० ५, अ०१, पा० १.

९६. अमुक शब्द अमुक अर्थ के बोध न कराने में शक्त है, यह अर्थ और शब्द का वाच्य-वाचक-सम्बन्ध ही "शक्ति" कहा जाता है।

है। उसके प्रतिपाद्य अर्थ में कभी किसी प्रकार का विपर्यय नहीं आता। ऐसा वह विधिवाक्य अनुपलब्ध-अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण है। वैदिक विधि वाक्य रूप शब्दप्रमाण की यह स्थिति वादरायण आचार्य को अभिमत है। क्योंकि वैदिक वाक्य अपने प्रामाण्य में अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता; वह स्वतः प्रमाण है।

उक्त तीन सूत्रों [३-५] की व्याख्या आचार्य उपवर्ष ने अन्य प्रकार की है। तीसरे सूत्र में 'न' का अध्याहार करके आचार्य का कहना है-धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। मीमांसा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द अर्थापत्ति, अभाव (अनुपलब्धि) ये छह प्रमाण स्वीकृत है, जो शास्त्र व लोक में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं में एक 'शब्द' प्रमाण है; वैदिक विधिवाक्यों का उसी में समावेश है। सभी प्रमाणों का प्रामाण्य उनके यथार्थ प्रयोग पर आधारित है। प्रयोक्ता भी भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से रहित होना चाहिए।

चक्षु आदि इन्द्रिय तथा अन्य प्रत्यक्ष साधनों के दोष पूर्ण होने पर प्रत्यक्ष का प्रमाण्य दूषित होगा। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जन्य ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर प्रत्यक्षाभास ही होगा। अनुमान का प्रामाण्य, हेत्वाभास आदि दोषों से रहित होने पर मान्य होता है। उपमान का प्रामाण्य भी सदृश्यज्ञान में कोई दोष व न्यूनता न होने पर स्वीकार किया जाता है। शब्द के प्रमाण्य के लिए उसके उपदेष्टा का 'आप्त' होना आवश्यक है। जैसे-लौकिक वाक्य का प्रामाण्य, उपदेष्टा के आप्त होने पर आधारित है, इसी प्रकार वैदिक वाक्य का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर है; वहाँ भ्रम प्रमाद आदि दोष की नितान्त सम्भावना नहीं। ऐसी दशा में धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना आवश्यक होगा। आप्तोपदिष्ट वैदिक वाक्य उसका असंदिग्ध निमित्त है।

यहाँ जिज्ञासा होती है-'अग्निहोत्रं जुहुयात्'[९७] अथवा "ज्योतिष्टोमेन यजेत्"[९८] एवं "कलञ्जं न भक्षयेत् "इत्यादि समस्त विधिनिषेध वाक्य ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के है, जिनके प्रवक्ता अस्मदादि सदृश मानव व्यक्ति है। यद्यपि वे उच्च कोटि के लोककर्त्ता पुरुषों में है।, फिर भी उनमें भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का होना सम्भव है अतः धर्मज्ञान के निमित की परीक्षा होनी चाहिएं।

इस विषय में आचार्य उपवर्ष के कथन का तात्पर्य है-शब्द का प्रामाण्य

९७. कौशी० ब्रा० ४/१४।। काण्ड सं० ६/७।।
९८. तुलना करें तां० ब्रा० १६/१!२।।

सर्वत्र उपदेष्टा का आप्तता पर निर्भर है। भले ही उक्त विधि-निषेध वाक्यों का उपदेष्टा परम आप्त परमेश्वर न हो, पर जो अतिमानव उपदेष्टा है; उनकी आप्तता में संशय व विश्वास उनके प्रति अश्रद्धा व श्रद्धा होने पर निर्भर है। यद्यपि श्रद्धा, आप्तता व प्रामाण्य का निर्णायक नहीं, उस दशा में विधिवाक्यों द्वारा प्रतिपादित अर्थ का मूल परमेश्वरोक्त वेद में देखना होगा। जो अंश वेदानुकूल है, वह अर्थ होने से धर्म है; जो वेदानुकूल नहीं है, वह अनर्थ होने से अधर्म है। इसी आशय के आधार पर सूत्रकार जैमिनि ने पञ्चम सूत्र में वादरायण आचार्य की सहमति का उल्लेख किया है। फलतः धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना निष्प्रयोजन है।

यदि ऐतरेय आदि ब्राह्मणों के मानव-प्रोक्त होने से उनमें भ्रमादि दोष के सम्भव होने के कारण उनके प्रामाण्य में सन्देह हो सकता है, तो उसके निवारण के लिए वेदमूलकता का आश्रय लिया जा सकता है? इससे उक्त विधि-निषेध आदि वाक्यों की प्रमाणिकता के लिए आप्तोक्त होने की रेखा परम आप्त परमेश्वर तक पहुँच जाती है। अतः उनका प्रामाण्य निभ्रन्ति हो जाता है। तब धर्मज्ञान के निमित्त की परीक्षा करना व्यर्थ है वह विधि आदि वाक्यों द्वारा असन्दिग्ध रूप में जान लिया जाता है, जो वाक्य शब्द प्रमाण रूप है, जिसे स्वीकृत छह प्रमाणों में गिना गया है।

आचार्य उपवर्ष के अनन्तर होने वाले शबर स्वामी, कुमारिल भट्ट प्रभाकर आदि मीमांसकों को यह सन्देह सदा सताता रहा प्रतीत होता है कि यदि विधिवाक्यों को आप्तोक्त माना गया, तो वे आप्त मानव हो सकते हैं और मानव में स्वभाव-दौर्बल्य से भ्रम, प्रमाद आदि दोषों का उभरना अनायास प्राप्त है। ब्राह्मणादिगत विधिवाक्यों के प्रमाण्य के लिए आप्तोक्तता के आधार को हटाकर, शब्द-अर्थ और उनके सम्बन्ध की नित्यता को आधार ठहराया, उसी के अनुसार प्रस्तुत सूत्रों का व्याख्यान किया जिसके लिए 'औत्पत्तिकः' पद का स्वाभाविकः, नित्यः अर्थ करना उदाहरण है।[९९]

शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों को नित्य स्वीकार किए जाने से शब्द प्रामाण्य के लिए आप्त प्रवक्ता की जड़ ही उखड़ जाती है। वैदिक शब्द नित्य है, उसका प्रेरिता या प्रवक्ता कोई नहीं। अर्थ यह सब संसार है, शब्द के अर्थ

---

९९. साधनार्थमिदं सूत्रम्। अस्यार्थ :-'आत्पत्तिकोऽनित्यः शब्दार्थ-सम्बन्धः तस्य धर्मस्य निमित्तं पूर्वसूत्रे समासान्तर्गतों निमित-शब्द इहानुषज्यते।' (हलायुधकृत-"मीमांसाशास्त्र सर्वस्व")

रूप में वस्तुमात्र का व्यवहार होता है। यह सब भी नित्य है। इस प्रकार बेद शास्त्र का प्रेरिता व जगत् का स्रष्टा अमान्य हो जाता है। यह स्थिति सूत्रकार जैमिनि को अभिमत प्रतीत नहीं होती, क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जैमिनि के उस लेख का विरोध होता है, जो उसने शब्द-प्रामाण्य के लिए प्रस्तुत सूत्र में वादरायण की सहमति का उल्लेख किया है। सहमति तभी सम्भव है, जब शब्द प्रामाण्य का आधार आप्तोक्ता को माना जाए। वादरायण ने वेदान्त के तृतीय सूत्र में ब्रह्म को शास्त्र का योनि कारण माना है, जो उसके प्रामाण्य का आधार है। शबर स्वामी आदि मध्यकालिक आचार्यों ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। इस विचार में ईश्वर का अस्तिव भी अमान्य हो जाता है।

सर्ग के प्रारम्भिक काल में आदिपुरुष ब्रह्मा द्वारा वेद के शब्दों से वस्तुओं के नाम रखे गये; यह मनु ने अपने धर्मशास्त्र में बताया है[१००] इससे स्पष्ट होता है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक हो, ऐसा संकेत सर्गादिकाल में निर्धारित किया गया। 'गो' पद अमुक प्राणी का वाचक हो, 'अश्व' पद अमुक का, इस प्रकार लोक व्यवहार की सिद्धि के लिए यह संकेत किया गया। इसी के अनुसार वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध रूप शक्ति 'पद' में निहित रहती है, जो पद का उच्चारण व दर्शन होने पर नियत अर्थ का बोध कराती है। शब्द के नित्य होने पर भी अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध संकेत-कृत है, अतः नित्य नहीं माना जाना चाहिए। यह आचार्य उपवर्ष का विचार है।

शब्द नित्य है :-

शब्द नित्य है अथवा अनित्य है, यह विषय मीमांसक और अन्य दार्शनिकों के मध्य विवाद का विषय रहा है। पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि कतिपय आचार्यों का विचार है कि शब्द उत्पन्न किया जाता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति के लिए प्रयत्न किया जाना देखा जाता है।[१०१]

शब्द दो प्रकार का है-वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। शब्द का पहला प्रकार मानव द्वारा उच्चारित होता है। आभिधानिक आचार्यों ने बताया है कि जब कोई व्यक्ति कुछ कहना या बोलना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि द्वारा बाच्य अर्थों की विचारकर बोलने की इच्छा से अन्तः करण मन को प्रेरित करता है, शरीर में

---

१००. द्रष्टव्य मनुस्मृति, १/२१।।
१०१. कर्मैके तत्र दर्शनात्।।६।।

हरकत करता है, उससे प्राणवायु प्रेरित होकर मुख के कण्ठ, तालु आदि स्थानों में टकराता हुआ यथाक्रम वर्णसमुदाय-शब्द के रूप में उच्चरित होता है।[१०२] आत्मा की इच्छा के अनुसार आन्तर और बाह्य करणों का यह समस्त प्रयत्न साध्य व्यापार शब्दोच्चारण रूप में शब्द की उत्पत्ति को स्पष्ट करता है।

ध्वन्यात्मक शब्द मानवेतर प्राणी तथा घण्टा, वेणु, वीणा, मृदंग आदि के सहयोग से उत्पन्न हुआ माना जाता है। वर्णात्मक शब्द न होने की दशा में मानव मुख द्वारा उच्चरित शब्द भी ध्वन्यात्मक माना जाता है। स्पष्ट है, यह दोनों प्रकार का शब्द प्रयत्न साध्य देखे जाने से अनित्य है। इस कारण से भी अनित्य है-

सूत्र में 'च' पद से 'देशान्तर' की पूर्ति कर लेनी चाहिए। विभिन्न देशों में अनेक व्यक्तियों को समान काल में 'गाय ले आओ' (गामानय) आदि समान पदों की उपलब्धि होती है।[१०३] मथुरा में देवदत्त ने अपने शिष्य को कहा-'गामानय'। उसी समय पाटलिपुत्र में यज्ञदत्त ने अपने पुत्र को कहा-गामानय'। विभिन्न स्थानों में अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द की यह स्थिति शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करती है। शब्द को नित्य मानने वाले आचार्य लाधव के कारण शब्द के एकत्व को भी स्वीकार करते हैं। एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न स्थलों में एक-एक प्रयुक्त हो, यह व्यवहार्य प्रतीत नहीं होता। उच्चरित एकदेशी शब्द में उत्कृष्ट (महत्) परिणाम की कल्पना निर्युक्तिक है। जो शब्द जहाँ उच्चरित होता है, वह अपने रूप में एक इकाई है। अनेक देशों में अनेक व्यक्तियों द्वारा समान काल में उच्चरित शब्द अनेक हो सकते हैं, एक नहीं। इसी कारण वे अनित्य हैं।

उच्चारण से पूर्व शब्द उपलब्ध नहीं होता; उच्चारण के अनन्तर क्षणमात्र में नष्ट अथवा अनुपलब्ध हो जाता है। शब्द के विषय में यह कहना भी अनुपपन्न है कि वह विद्यमान रहता हुआ उपलब्ध नहीं हो रहा। क्योंकि विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि में व्यवधान आदि कारण यहाँ कोई दिखलाई नहीं देता, इसलिए अस्थिर होने से शब्द को अनित्य मानना संगत है।[१०४]

शब्द के अनित्य होने का अन्य कारण है-घट बनाने के लिए जैसे लोक

---

१०२. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युक्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूच्चरन् मन्दं ततो जनयति स्वरम्।।

पाणिनीय शिक्षा (श्लोकात्मिका)

१०३. सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्।।९।।

१०४. अस्थानात्।।७।।

में 'घटं करोति' पदों का प्रयोग होता है, ऐसे ही शब्द के विषय में प्रयोग होता है-'शब्दं करोति'। 'कृञ' धातु का अर्थ नव निर्माण है; जो अब तक नहीं है, उसका नव-निर्माण, निवीन रूप में रचना। यह व्यवहार व प्रयोग अनित्य अर्थों के लिए नियत है। अतः शब्द को अनित्य मानना न्याय होगा।[१०५]

इस कारण से भी शब्द अनित्य है-वर्णों एवं शब्दों में प्रकृति विकार भाव देखा जाता है। जहाँ प्रकृति-विकार भाव है, वह निश्चित अनित्य है। जैसे-सुवर्ण का विकार कुण्डल एवं मृत् (मिट्टी) का विकार घट आदि अनित्य है, वैसे ही 'दधि-अत्र' में 'दधि' के 'इ' का 'यह विकार होकर 'दध्यत्र' प्रयोग होता है। यह विकार शब्द की अनित्यता का साधक है। प्रकृति-विकार में परस्पर सादृश्य देखा जाता है।[१०६] सुवर्ण कुण्डल, मृद्-घट, काष्ठ-यूप आदि में जैसे परस्पर सादृश्य है, इसी प्रकार 'इ' और 'य' में दोनो का तालुस्थान होना, तथा स्पष्ट और ईषत्स्पृष्ट प्रयत्नरूप सादृश्य है। यह स्थिति इनके प्राकृतिक-विकार भाव को स्पष्ट कर अनित्यत्व को सिद्ध करती है।

अन्य वक्ष्यमाण कारण से भी शब्द अनित्य है-

शब्द उच्चारण करने वले बहुत व्यक्ति जब मिलकर एक साथ उच्चारण करते हैं; तब एक व्यक्ति द्वारा किये गये उच्चारण की अपेक्षा सामूहिक उच्चारण में शब्द की वृद्धि-बढ़ोतरी-महत्ता अनुभव होती है; अर्थात् वह शब्द ऊँचे स्वर में सुनाई देता है। शब्द का इस प्रकार मन्द और तीव्र स्वर उसकी अनित्यता का साधक है। एकमात्र नित्य वस्तु मन्द भी हो और तीव्र भी यह सम्भव नहीं।[१०७]

उच्चारण-विषयक ऐसे सामूहिक प्रयत्न को शब्द का अभिव्यंजक नहीं माना जा सकता। क्योंकि अभिव्यञ्जक चाहे अल्प हो या महान् वह अभिव्यञ्जक के स्वरूप को नहीं बदल सकता। घट आदि पदार्थ के अभिव्यंजक प्रदीप, चाहे एक हो, या सहस्र हो, घट का स्वरूप प्रत्येक दशा में समान दिखाई देता है। फलतः शब्द के उच्चारण में पुरुष का प्रयत्न शब्द का उत्पादक है, अभिव्यंजक नहीं। अतः शब्द को अनित्य मानना प्रमाणसिद्ध है। ऐसी स्थिति में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को नित्य नहीं माना जा सकता। इसके फलस्वरूप धर्मज्ञान में उसे निमित्त बताना प्रमाणणिक न होगा।

शब्द नित्यत्व अनित्यत्व-विषयक पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने प्रत्येक सूत्र का

१०५. करोतिशब्दात्॥८॥

१०६. प्रकृतिविकृत्योश्च॥१०॥

१०७. वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य॥११॥ मीमांसा, १. १. ११.

उत्तर देते हुए कहा है कि सूत्र में 'समम्' पद के बल पर 'मतद्वये' पद का तथा प्रयत्न के अनन्तर उच्चरित शब्द के उच्चारण से पूर्व और पश्चात्-उपलब्ध न होने की स्थिति के अनुसार सूत्रार्थ की पूर्ति के लिए 'क्षण' पद का अध्याहार अपेक्षित है। शब्द नित्य है, या अनित्य? ये शब्दविषयक दो मत है। जो शब्द को नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि शब्द का यह उच्चारण या क्षणमात्र उपलब्धि स्थायी शब्द की अभिव्यक्तिमात्र है। जैसे प्रकोष्ठ-स्थित घटादि स्थायी पदार्थ प्रदीपादि प्रकाशरूप साधन के उपस्थित होने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं, और साधन के अभाव में पुनः अनभिव्यक्त है इसी प्रकार विवक्षाजन्य कोष्ठ्य वायु को कण्ठ-तालु आदि के साथ अभिघातरूप साधन के उपस्थित होने पर स्थायी शब्द अभिव्यक्त हो जाता है; साधन के अभाव में अनभिव्यक्त रहता है।[१०८]

जो आचार्य शब्द को अनित्य मानते हैं, वे प्रयत्न के अनन्तर उच्चारण आदि रूप में शब्द को उत्पन्न हुआ बताते हैं। उच्चारण से पहले उसका अभाव था, और उच्चारण के अनन्तर वह ध्वस्त हो जाता है, अर्थात् उच्चारण से पूर्व या पश्चात् शब्द का अस्तित्व नहीं है।

सूत्रकार का तात्पर्य है, उच्चारण रूप में शब्द का क्षणमात्र उपलब्ध होना-नित्य, अनित्य-दोनों पक्षों में समान है। उच्चारण को चाहे शब्द की उत्पत्ति माना जाये या अभिव्यक्ति, इससे शब्द की उपलब्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः शब्द का क्षणिक दर्शन दोनों मतों में से किसी एक का समर्थन नहीं करता। यदि सुपुष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया जाता है कि शब्द स्थायी है, नित्य है, तो शब्द के क्षणिक दर्शन को निश्चित ही शब्द की अभिव्यक्ति माना जायेगा। इसी सन्दर्भ में पूर्व पक्ष के विपरीत तर्कों का समाधान आगे यथाक्रम प्रस्तुत है।

सप्तम सूत्र द्वारा पूर्वपक्ष ने कहा, शब्द स्थायी तत्व नहीं है; क्योंकि उच्चारण के पूर्व और पश्चात् अनुपलब्ध है। सूत्रकार ने समाधान किया है कि विद्यमान शब्द का अभिव्यंजक प्रयत्न के पूर्वोत्तर काल में उपलब्ध न होना शब्दग्राहक श्रोत्ररूप विषय को प्राप्त न होने से होता है।[१०९]

शब्द सदा विद्यमान है, स्थायी है। विवक्षा से प्रेरित अभिव्यंजक वायु के कण्ठ, तालु आदि में-अभिघात से शब्द अभिव्यक्त हो जातां है। उच्चारण काल में मुखगत वायु बाह्य स्तिमित वायु को धकेलना है, अर्थात् अभिघात से उसे

---

१०८. समं तु तत्र दर्शनम् ।।१२।। मी० द० सू० १. १. १२.

१०९. सतः परमदर्शनं विषयानागमात्।।१३।। मी० द० सू० १. १. १३.

सक्रिय कर देता है। अपनी सक्रियता की क्षमता के अनुसार शब्द की तरंग सब ओर फैलती चली जाती है। श्रोत्र द्वारा शब्द का ग्रहण होना शब्द की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वायु के संयोग-विभाग, शब्द दर्शन-अदर्शन में निमित्त है। जब अभिव्यंजक वायुसंयोग रहता है, शब्द प्रकट होता है, सुनाई नहीं देता। अभिव्यंजक के न रहने पर उसके पूर्वोत्तर-काल में विद्यमान भी शब्द का अदर्शन रहता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

संयोग आदि को शब्द का अभिव्यंजक मानने पर आंशका होती है-शब्द आकाश-देश माना जाता है, अर्थात् आकाश में शब्द की अभिव्यक्ति होती है। शब्द का ग्राहक श्रोत्र आकाश रूप है। आकाश सर्वत्र व्याप्त एक तत्त्व है। जो आकाश कर्ण-प्रवेश से सम्बद्ध है, वहीं समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है। ऐसी दशा में शब्द की अभिव्यक्ति मथुरा में होने पर वह पाटलिपुत्र में भी सुनाई देना चाहिए, क्योंकि नित्यत्ववादी शब्द को नित्य एवं एक मानता है। तब एकत्र अभिव्यक्त शब्द सर्वत्र आकाश में सुनाई देना चाहिए।

इस शंका के समाधान का संकेत प्रथम पंक्तियों में हो गया है। शब्द के अभिव्यंजक संयोग आदि की तथा वायु के वेग आदि की अपनी क्षमता सीमित है। जिस प्रदेश में अभिव्यञ्जक, शब्द को अभिव्यक्त करता है, उसकी क्षमता के अनुसार उतने प्रदेश में शब्द सुनाई देता है। दूर देश स्थित श्रोत्र तक अभिव्यंजक संयोग आदि का सम्पर्क न हो सकने के कारण वहाँ स्थित भी शब्द अभिव्यक्त नहीं होता। अतः मथुरास्थित अभिव्यंजक का प्रभाव पाटलिपुत्र में भी हो, ऐसी कल्पना करना निराधार है।

अष्टम सूत्रोक्त पूर्वपक्ष का समाधान सूत्रकार ने किया है कि शब्द के साथ 'कृ' धातु के निर्देश का तात्पर्य केवल शब्द के उच्चारण में है। 'शब्दं कुरु' का केवल यह अर्थ है-शब्द का उच्चारण करो। 'कृ' धातु का अर्थ केवल नव निर्माण अथवा अभूत-प्रादुर्भावमात्र नहीं है। इस धातु को अनेक अर्थों में विभिन्न आचार्यो ने प्रयुक्त किया है। लोक में प्रयोग होता है-'गोमयान् कुरु' इसका अर्थ है-'संवाहे गोमयान् एकत्रीकुरु' कुरड़ी (धूरे) पर गोबर को इकट्ठा' करो। यहाँ 'कृ' धातु का अर्थ नवनिर्माण न होकर 'एकत्रित करना' है। इसी प्रकार प्रस्तुत में 'शब्दं कुरु' का अर्थ शब्द का उच्चारण करना है, शब्द का निर्माण नहीं है।[११०]

नवम सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष का सूत्रकार ने समाधान किया है कि

---

११०. प्रयोगस्य परम्॥१४॥ मी० द० सू० १. १. १४.

आदित्य-सूर्य के समान एक साथ अनेक देशों में शब्द की उपलब्धि समझनी चाहिए।[१११]

देशान्तर-स्थित विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान काल में एक ही शब्द का उपलब्ध होना व्यवहार्य नहीं, यह आक्षेप निराधार है। सूर्य जब प्रातः काल पूर्व दिशा में उदय होता है, तब पृथिवी के उस भाग पर बसे दूरस्थित विभिन्न व्यक्ति एक ही सूर्य को उस दिशा व देश में देखते हैं। सूर्य एक है, देश भी एक है, उपलब्ध व्यक्ति व उपलब्धि के साधन अनेक है। इसी प्रकार शब्द एक ही शब्द का देश भी एक ही व्यक्ति व संयोग आदि साधन अनेक है। जैसे एक सूर्य अनेक देश स्थित व्यक्तियों द्वारा साधनों की विद्यमानता में युगपत् उपलब्ध होता है, इसी प्रकार एक महान् शब्द संयोगादि साधनों की विद्यमानता में दूर-स्थित विभिन्न व्यवितयों द्वारा युगपत् उपलब्ध होता है। शब्द के अभिव्यंजक साधन जहाँ विद्यमान होंगे, शब्द उपलब्ध होगा। इसमें योगपद्य बाधक नहीं हो सकता। न यह अव्यवहार्य है, और न शब्द के सतत् सुनाई देते रहने की सम्भावना हो सकती है।

दसवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष भी निराधार हैं। सूत्रकार ने बताया कि एक वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का प्रयोग किया जाना विकार नहीं है।[११२]

'दधि'+अत्र पद में 'इ' के स्थान में व्यवहार के लिए 'य' का प्रयोग होना वर्णो में प्रकृति-विकार-भाव का व्यवस्थापक नहीं है। अभिधानकों ने इसे विकार मानकर 'आदेश' कहा है। एक वर्ण के स्थान में व्यवहारानुकूल अन्य वर्ण के प्रयोग की व्यवस्था आदेश है। इकार और यकार परस्पर सर्वथा भिन्न वर्ण है। कोई किसी का विकार या प्रकृति नहीं। जैसे मिट्टी से घड़ा सुवर्ण से कुण्डल, वीरण नामक तृण (पनी नामक घास की जड़, जो खस नाम से प्रसिद्ध है। यह दुमट किस्म की नमी की जगह में प्रायः पैदा होती है) से चटाई आदि बनाये जाते हैं, इनमें प्रकृति-विकार भाव है, वैसा वर्णो में नहीं।

शब्द के नित्य मानने वाले व्याकरण शास्त्र में इस सिद्धांत को स्वीकार किया है।[११३]

---

१११. आदित्यवद्यौगपद्यम्।।१५।। मी० द० सू० १.१.१५.

११२. वर्णन्तरम् विकारः।।१६।। मी. द० सू० १. १. १६.

११३. महाभाण्यकार पतंजलि ने इस विषय पर चर्चा करते हुए सिद्धान्त बताया–

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।

एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपद्यते।। (१. १. २०)

यह तो स्वाभाविक है: परन्तु शब्द को अनित्य मानने वाले न्यायशास्त्र में भी वर्णों के प्रकृति-विकार भाव की मान्यता की स्वीकार न कर आदेशपक्ष को सिद्धान्त मानता है।[११४] किन्हीं दो वस्तुओं का साधारण सादृश्य उनके परस्पर प्रकृति-विकार भाव का प्रयोजक नहीं होता। कुण्डे में रखे दहीं और बोइया में रखे माधी फूलों के उज्ज्वल श्वेतरूप सादृश्य को क्या उनके परस्पर प्रकृति-विकार भाव का साधक माना जा सकेगा? फलत: वर्णों में प्रकृति-विकार-भाव की कल्पना कर शब्द की नित्यता पर जो आक्षेप किया गया, वह नितान्त निराधार है।

ग्यारहवें सूत्र द्वारा प्रस्तुत आक्षेप का सूत्रकार ने समाधान किया है कि सूत्र में दूसरा 'परा' पद पहले पद का विशेषण होने से स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। 'पर' पद के दो अर्थ प्रसिद्ध है-अतिशय ओर अन्य। ग्यारहवें आक्षेप में कहा गया है कि शब्द की मन्दता और तीव्रता मृदुता-पटुता उसके अनेंक व अनित्य होने के साधक है। सूत्रकार का उत्तर है, मृदुता व पटुता धर्म वर्ण अथवा शब्द के नहीं है ये 'नाद' के धर्म है उसी में वृद्धि अथवा वृद्धि का अतिशय रहता है, वर्ण अथवा शब्द में नहीं। एकत्रित होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा उच्चारित वर्णों या शब्दों का प्रचय (ढेर) पटुता अथवा तीव्रता हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि शब्द निरवयव है; प्रथम उन्हीं वस्तुओं में सम्भव है, जो सावयव हों। शब्द ऐसा नहीं, अत: शब्द में प्रचय की कल्पना निराधार होने से पटुता या महत्ता उसका धर्म सम्भव नहीं।[११५]

सूत्रकार का कहना है-यह 'नाद' का धर्म है। नाद क्या है? इसका विवरण व्याख्याकारों ने दिया है शब्द के अभिव्यंजक संयोग-विभाग जब निरन्तर किये जाते हुए शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, तब वे (संयोग-विभाग) 'नाद' शब्द से कहे जाते हैं। तात्पर्य हुआ जब अनेक व्यक्ति मिलकर शब्द उच्चारण करते हैं अथवा भेरी (नगाड़ा) आदि को निरन्तर अभिहत करते हैं, तब उच्चारण के वे ही अनेक वर्ण व अनेक ध्वनियाँ कान के पूरे पर्दे को व्याप्त कर सुनाई देते हैं। पटुता-मन्दता (ऊँच-नीच), निरन्तर होने वाले या न होने वाले संयोग-विभाग का धर्म है। दोनों अवस्थाओं में वर्ण एक ही रहते हैं। 'गामानय' पद चाहे मन्द कहे जायें या तीव्र, इन पदों में कोई अन्तर नहीं आता; सुनाई देना, या सुनना' क्रिया में अन्तर हो सकता है, जिसका कारण व्यंजक की तीव्रता-मन्दता है। जैसे-प्रकोष्ठ

११४. द्रष्टव्य-न्यायदर्शन, सभाष्य [२.२. ४०-५६]
११५. नादवृद्धिः परा॥१७॥ मी० द० सू० १. १. १७.

में रखें घटादि पदार्थों में व्यंजक प्रकाश की मन्दता व तीव्रता से कोई अन्तर नहीं आता-दिखाई देना या देखना क्रिया में भले ही स्पष्टता व अस्पष्टता का अन्तर न रहे, पर स्थायी घटादि में कोई अन्तर नहीं-ऐसे ही स्थायी शब्द सदा एक बना रहता है, उसमें मन्दता-तीव्रता आदि धर्म कभी नहीं होते। ये धर्म, शब्द के अभिव्यंजक संयोग-विभाग के है, जो 'नाद' शब्द वाच्य है।

शब्द के नित्यत्व में ग्यारह आक्षेपों का समाधान कर सूत्रकार ने वक्ष्यमाण हेतुओं से शब्द को नित्य सिद्ध करने के प्रसंग में प्रथम हेतु प्रस्तुत किया है कि-शब्द का उच्चारण अन्य व्यक्ति को अर्थ विशेष का बोध कराने के लिए किया जाता है। यदि शब्द अनित्य है: और उच्चारण के अनन्तर तत्काल नष्ट हो जाता है, तो अन्य को बोध कराने के लिए उच्चारण किया जाना ही व्यर्थ है, क्योंकि उस दशा में शब्द का उच्चारयिता अन्य को बोध कराने में असमर्थ रहेगा। यदि उच्चारण के अनन्तरं भी शब्द रहता है, उसका नाश नहीं होता, तो अनेक बार उसके प्रयोग में आने से बोध कराया जाना तथा बोध होना युक्त है। शब्द को अनित्य मानने पर उसी शब्द के अनेक बार व्यवहार में अथवा प्रयोग में आने की स्थिति कभी नहीं आ सकती; क्योंकि उत्पन्नप्रध्वंसी (उत्पन्न होते हो नष्ट होने वाला) शब्द उच्चरित होने पर प्रत्येक बार नया होता है। इसी कारण इस पक्ष में एक शब्द का अनेक बार प्रयोग सम्भव नहीं। न वह किसी अर्थ का बोध कराने में समर्थ है।[११६]

सूत्रकार ने शब्दनित्यत्व में दूसरा हेतु प्रस्तुत किया कि किसी पद से उसके अर्थ का बोध होने के अनेक कारण होते हैं।[११७] उनमें साधारण जन के बोध के लिए सर्वसुलभ साधनवृद्ध व्यवहार है। बड़ों के परस्पर वार्तालाप के अनुसार सक्रिय व्यवहार के द्वारा समीप बैठा या खेलता हुआ बालक बड़ों के द्वारा उच्चरित पदों के अर्थों को जान लेता है। 'गाय लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को 'यह गाय है' 'तथा भैस लाओं' अथवा 'घोड़ा लाओ' कहने पर लाये हुए प्राणी को यह भैंस है अथवा यह घोड़ा है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के नियत वाच्य-वाचक-सम्बन्ध को अनेक बार के व्यवहार से बालक जान लेता है।[११८]

---

११६. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्।।१८।। मी. द० सू० १. १. १८.

११७. आचार्यों ने शक्तिग्रह के निम्नकारण बताये हैं–

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोशाप्तवाक्याद व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धा।।

११८. सर्वत्र यौगपद्यात्।।१९।। मी० द० सू० १. १. १९.

इसमें रहस्य यह है-'गाय लाओं' कहने वाले वक्ता का तात्पर्य 'गो' पद से गायमात्र का निर्देश करना नहीं है। यह भी नहीं है कि चाहे जिस गाय को ले आओं। यह निर्देश उस समय एक विशिष्ट गाय के लिए किया जाता है। परन्तु यहाँ भी 'गो' पद समस्त गो-जाति रूप अपने अर्थ की अभिव्यक्ति को खो नहीं देता। यही कारण है-दो-चार बार उक्त व्यवहार को देखने के अनन्तर बालक को फिर कभी यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि गोपद बोध्य यह गाय है, घोड़ा नहीं है। वह बिना किसी के बताये संसार भर की समस्त गायों को पहचानता है, और यह भी जानता है इसका वाचक पद 'गो' है। इससे स्पष्ट है कि गो पद व्यक्ति विशेष प्राणी को कहने के साथ समस्त जाति' रूप अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

यदि शब्द-अर्थ के इस सम्बन्ध को किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कृत्रिम सांकेतिक माना जाता है, तो वह संकेत अंगुलिनिर्देशपूर्वक किसी विशेष गोपिण्डा व्यक्ति के प्रति ही किया जा सकता है। जातिमात्र के प्रति ऐसा निर्देश सम्भव न होगा, अतः शब्द-अर्थ का यह उम्बन्ध नित्य-नैसर्गिक है, यही मानना न्याय है।

शब्द की नित्यता में सूत्रकार ने तीसरा हेतु प्रस्तुत किया है कि एक व्यक्ति अपने साथी को कहता है-मैं प्रतिदिन प्रातः सौ बार गायत्री मन्त्र का जप करता हूँ। मन्त्र एक है, जो शब्द रूप है। सौ का सम्बन्ध 'जपना' क्रिया के साथ है, मन्त्र के साथ नहीं। मैंने आपको दस बार कहा है: घर छोड़कर कहीं न जाओं'। यहाँ शब्द समूह-वाक्य एक है, दस संख्या का सम्बन्ध कहना क्रिया के साथ है। एक 'गो' शब्द को अनेक बार उच्चारण करने पर व्यवहार यही होता है कि गो शब्द अनेक बार कहा। यह व्यवहार नहीं होता है कि अनेक 'गो' शब्द कहे। इससे स्पष्ट होता है-शब्द स्थायी है, नित्य है। वहीं शब्द बार-बार उच्चारित होता रहता है। कोई भी शब्द अपने पूर्व-उच्चरित शब्द से भिन्न नहीं होता। साधारण जन भी यह जानते हैं, और व्यवहार भी ऐसा करते हैं; एक ही 'गो' शब्द बार-बार उच्चरित होता रहता है।[११९]

शब्द की इस एकता को सादृश्यमूलक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रवक्ता व्यक्ति की जानकारी और व्यवहार में यह कभी नहीं देखा-सुना जाता कि प्रथम उच्चरित गो शब्द के सदृश यह गो शब्द उच्चारण किया जा रहा है

११९. संख्याऽभावात्॥२०॥ मी० द० सू० १. १. २०.

प्रत्युत जानकारी और व्यवहार यही रहता है कि यह वही गो शब्द है जिसको पहले उच्चरित किया था। अत: शब्द की एकता को सादृश्यमूलक भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। वस्तुओं के भेद का प्रथम स्पष्ट ज्ञान होने पर भी भ्रान्ति हुआ करती है, परन्तु एक गो शब्द अन्य गो शब्द से भिन्न है, इससे प्रत्यक्ष आदि कोई प्रमाण नहीं है।

शब्द के नित्यत्व में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया है कि-अपेक्षित ज्ञान न होने से शब्दनाश के कारण का ज्ञान न होने से शब्द नित्य है।[१२०]

यह एक व्यवस्था है-जो पदार्थ उत्पन्न होता है, कालान्तर में वह नष्ट हो जाता है परन्तु जिस पदार्थ को उत्पन्न होते हुए हम नहीं देख पाते, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति को हमने नहीं देखा, ऐसे पदार्थ को देखकर उसके विनाश का निश्चय हो जाता है। नये वस्त्र को देखकर नितान्त ग्रामीण व्यक्ति भी यह जानता है कि धागों के सीधे-आड़े संयोग से यह कपड़ा बना है। संयोग के विच्छिन्न हो जाने पर अथवा धागों के टूट जाने पर यह कपड़ा नष्ट हो जायेगा; यद्यपि उस व्यक्ति ने उसे उत्पन्न होते नहीं देखां परन्तु इसके विपरीत, शब्द के विषय में यह किसी ने नहीं जाना कि ये शब्द के उत्पत्ति-कारण है; और इनके विनाश से शब्द का विनाश हो जाएगा शब्द विनाश के कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है, यह निश्चय होता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है कि शब्द के उत्पत्ति-विनाश के कारण उपलब्ध नहीं है, यह कथन संदिग्ध प्रतीत होता है; क्योंकि आन्तरिक वायु उभरकर जब मुख के कण्ठ-तालु आदि स्थानों में अभिघात करता है; तभी शब्द का उच्चारण होता है। इससे स्पष्ट है-वायु का संयोंग, शब्द की उत्पत्ति का तथा उसका अभाव अर्थात् वायु का विभाग शब्द के विनाश का कारण है।[१२१]

आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया है कि-विशेष ज्ञान के अभाव से संयोग के शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग-विषयक विशेष ज्ञान के अभाव से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई है।

गत सूत्र की व्याख्या में व्याख्याकारों के विवरण के अनुसार यह स्पष्ट होता है कि गत सूत्र में सूत्रकारों ने-शब्द का कोई उपादान कारण मानने की दशा

---

१२०. अनपेक्षत्वात्॥२१॥ मी० द० सू० १. १. २१.
१२१. प्रख्याऽभावाच्च योगस्य॥२२॥ मी० द० सू० १. १. २२.

में-शब्द-विनाश का कोई कारण उपलब्ध नहीं, ऐसा कहा है। यह सर्वमान्य विचार है कि प्रत्येक कार्यवस्तु का कोई उपादान-कारण अवश्य रहता है, उसके नाश से कार्य वस्तु का नाश हो जाता है। इसी को अन्य तन्त्र के अनुसार जन्य वस्तु के समवायि असमवायि-निमित्तकारण के रूप में कहा जा सकता है। गत सूत्र में सूत्रकार ने शब्द के उत्पत्ति-विनाश के समवायि-असमवायि कारणों की अनुपलब्धि का निर्देश किया है। तात्पर्य हैं, शब्द का न कोई समवायि कारण है, न असमवायिकारण। इसलिए समवायि-असमवायिकारण के नाश से शब्द के नाश का प्रश्न ही नहीं उठता इसी भावना से गत सूत्र में शब्द विनाश के कारण अनुपलब्धि का निर्देश किया है। शब्द की अभिव्यक्ति में वायुसंयोग का योगदान समवायि-असमवायि कारणता के अन्तर्गत नहीं आता। शब्द के प्रति संयोग-साचिव्य की वास्तविकता को न समझकर जिज्ञासा की गई है, यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया है।

जिज्ञासु ने वायु एवं वायु-संयोग-विभाग को शब्द की अभिव्यक्ति में उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण समझकर जिज्ञासा की। उसी के अनुसार शिक्षाकार आचार्यों का प्रमाण उपस्थित किया-'वायुरापद्यते शब्दताम्' वायु शब्दभाव को प्राप्त हो जाता है। इससे प्रतीत होता है-शब्द वायु का परिणाम अथवा विकार है।

आचार्य सूत्रकार ने कहा-शब्द की अभिव्यक्ति के प्रति वायु एवं वायु संयोग के योगदान की विशेष जानकारी की ओर ध्यान नहीं दिया। शब्द की अभिव्यक्ति में वायु एवं वायुसंयोग निमित्त कारण मात्र है, उपादान अथवा समवायि-असमवायि कारण नहीं। यदि ऐसा होता तो शब्द वायु अवयवों का संघटनमात्र (सन्निवेश विशेष) होता। परन्तु शब्द का ऐसा स्वरूप जाना नहीं जाता। कारण यह है-वायु का ग्रहण त्वक् (स्पर्शक) इन्द्रिय से होता है; यदि शब्द वायवीय होता, तो उसका ग्रहण त्वक् इन्द्रिय से होना चाहिए था। इसके विपरीत शब्द का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से होता है, जो नहीं होना चाहिए था। वायु का ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है-शब्द वायु का विकार या परिणाम नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति के प्रति वायु-निमित्तता की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

शब्द के नित्य होने में सूत्रकार ने प्रमाण का संकेत किया है कि लिंङ्ग के देखे जाने से भी शब्द नित्य है, यह समझना चाहिए।

ऋग्वेद [८/७५/६] में पाठ है-'वार्चा विरूप नित्यया,' ऋचा के इस अंश में शब्दरूप वाक् (वाणी) को नित्य कहा है। इस सूत्र का ऋषि विरूप है। देवता अग्नि है। सूक्त का मुख्य प्रतिपाद्य विषय अग्नि का स्तवन अथवा वर्णन करना है। परन्तु प्रसंगवश वाणी-शब्द की नित्यता भी इससे सूचित हो जाती है। लिङ्ग पद का तात्पर्य है-छिपे अर्थ को प्रसंगतः प्रकट करना-'लीनमर्थं गमयति बोधयति इति लिङ्गम्'। अग्नि वर्णन परक ऋग् वाक्य प्रसंगतः वाक्-उच्चारण रूप शब्द की नित्यता का भी कथन करता है। अतः शब्द को नित्य मानना पूर्णतया प्रामाणिक है।[१२२]

अथवेदस्यार्थप्रत्यायकत्वम् अधिकरणम्-७.

शिष्य जिज्ञासा करता है-शब्द तथा शब्द अर्थ के सम्बंध को नित्य मानने पर भी विधिवाक्य (चोदना) को धर्म में प्रमाण माना जाना युक्त नहीं, क्योंकि पद और वाक्य परस्पर भिन्न होते हैं। पद ही वाक्य नहीं होता। फलतः एक पदमात्र के अर्थज्ञान से वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होता। तब शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध का नित्य होना विधि वाक्य से धर्मज्ञान की प्रामाणिकता को सिद्ध करना अशक्य होगा।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित करते हुए कहा है कि शब्द व शब्दार्थ-सम्बन्ध के औत्पत्तिक-नित्य माने जाने पर भी न कहने वाले होते है विधिवाक्य समूह धर्मज्ञान के अर्थ-वाक्यार्थ के पदार्थ निमित्तक न होने से। पदार्थ ज्ञान से वाक्यार्थज्ञान भिन्न है तथा पदार्थ वाक्यार्थ का निमित्त नहीं होता। इसलिए पदार्थ ज्ञान होने पर भी चोदना रूपा विधि वाक्य ,धर्म की जानकारी देने में असमर्थ होंगे।[१२३]

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधिवाक्य है। इसका अर्थ है-स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र होम करे।[१२४] विधि वाक्य का यह इतना अर्थ वाक्य के किसी एक पद-अग्निहोत्र, जुहुयात् या स्वर्गकाम से अभिव्यक्त नहीं होता। इनके अतिरिक्त इस वाक्य में अन्य कोई चौथा वाक्य रूप पद समुदाय लोक में प्रयुक्त नहीं, जिससे वृद्धव्यवहार आदि द्वारा वाक्यार्थ-बोध हो सके।

---

१२२. लिङ्गदर्शनाच्च।।२३।। मी० द० सू० १. १. २३.

१२३. उत्पत्तौवाऽवचनाः स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात्।।२४।। मी० द० सू० १. १. २४.

१२४. 'अंग्नि होत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'

यद्यपि अग्निहोत्र आदि पदों का पृथक् आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया है कि उन-उन निश्चित अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ पदों का क्रिया-वाचक पद के साथ पाठ-संगत उच्चारण देखा जाता है। अतः क्रिया वाचक पद के साथ पद-समुदाय रूप वाक्य के अर्थ का बोध होता है; क्योंकि वाक्यार्थ के पदार्थ ज्ञान निमित्तक होने से।[१२५]

पूर्व सूत्रोक्त का यह विचार निराधार है कि पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है पदबोधित अर्थ की उपेक्षा करके वाक्य पृथक् रूप से किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है, ऐसा समझना नितान्त असंगत है। पदार्थ को छोड़कर वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराये इसमें कोई प्रमाण नहीं है। वाक्य में क्रियावाचक पद का होना आवश्यक है। पदसमुदायी वाक्य में किसी निश्चित अर्थ का बोध कराने की शक्ति प्रत्येक पद में निहित रहती है। उससे अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ बोधक शक्ति वाक्य में निहित हो, ऐसा नहीं है। पदार्थ ज्ञान ही वाक्यार्थ ज्ञान में कारण है। वाक्यगत पदों के अर्थों को जबतक नहीं जाना जाता, तब तक वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। पदार्थ ज्ञान होने पर ही वाक्य का अर्थ जाना जा सकता है। इससे स्पष्ट है क्रियावाचक पद से युक्त वैदिक पद समुदाय से ही अपूर्वसंज्ञक धर्म का बोध कराया जाना सम्भव है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामा यहाँ पर-अग्निहोत्र संज्ञक होम के अनुष्ठान द्वारा स्वर्गप्राप्ति की भावना करे-यह वाक्यार्थज्ञान पदार्थ ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। पद द्वारा उपस्थित अर्थों की स्पष्ट आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि (आसक्ति), तात्पर्य आदि सहयोगी निमित्तों की उपस्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। यह स्थिति वाक्यार्थ-शुद्धि की नियामक है।

शिष्य जिज्ञासा करता है कि लोक में पदार्थं ज्ञान से वाक्यार्थ-ज्ञान-वृद्धव्यवहार आदि द्वारा-होना सम्भव है। पर वैदिक वाक्य में यह कैसे होगा? आचार्य सूत्रकार ने इस शंका का उत्तर देते हुए कहा है कि-लौकिक वाक्य में प्रामाणान्तर से गृहीत अर्थ की व्यवस्था से वाक्य के प्रयोगकार पुरुष के साथ सम्बन्ध होता है।[१२६]

लौकिक वाक्यों में-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा-पद-पदार्थ का ज्ञान हो जाता है, तब आकांक्षा आदि के अनुसार पुरुष द्वारा पद-लौकिक वाक्यों में पुरुष का सम्बन्ध स्पष्ट है। परन्तु वैदिक स्वर्ग आदि अर्थों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को

---

१२५. तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्॥२५॥ मी० द० सू० १. १२५.

१२६. लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्॥२६॥ मी० द० सू० १.१.२६.

प्रवृत्ति न होने से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि विधिवाक्य-रचना में पुरुष का सम्पर्क न होने से यह पद समुदाय पौरुषेय नहीं। अपौरुषेय होने के कारण शब्द व शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्य होने से अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराने में वैदिक वाक्य का सामर्थ्य है।

शिष्य जिज्ञासा करता है कि वेद अपौरुषैय है, यह कैसे जाना जाये? जबकि पुरुष-सम्बन्ध से वेदों के नाम उपलब्ध है।[१२७]

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य की उक्त जिज्ञासा का सूत्र के माध्यम से समाधान किया है कि वेदों को और कतिपय जन समीप समय की रचना कहते हैं, क्योंकि वे पुरुषविशेषों के नाम से जाने जाते हैं।[१२८]

वेद व वैदिक संहिताओं के नाम विभिन्न पुरुषों के नाम के साथ सम्बद्ध हैं-शाकल, वाजसनेयि, कौथुम, आथर्वण, काठक मैत्रायणी, तैत्तिरीय, कालापक, मौद्गल, पैप्पलादक आदि। ये पुरुष विशेष उन संहिताओं के रचयिता प्रतीत होते हैं। जिनका प्रादुर्भाव समीपकाल में सम्भव है। वेदों के साथ उनके नाम का जुड़ा होना, उनकी रचना माने बिना, अन्य कारण से नहीं हो सकता। विधिवाक्य उसी वाङ्मय के अन्तर्गत होने से पौरुषेय है। भले ही उसके कर्त्ता का आज स्मरण न रहा हो, पर इतने से विधिवाक्य को अपौरुषेय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए अतीन्द्रिय धर्म की जानकारी में विधिवाक्य को निरपेक्ष प्रमाण कहना संगत न होगा।

उक्त कथन के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि अनित्य जन्म-मरण धर्मा पुरुषों का उल्लेख देखे जाने से भी वेद पुरुषकृत है।[१२९] उस शाखा के साथ उनका नाम जुड़ गया। कालान्तर में शिष्य-परम्परा द्वारा शाखागत विशिष्ट अनुष्ठानों के सहयोग से कृष्णयजु की चौरासी शाखा हो गई। ये व्यक्ति उन शाखाओं के रचयिता नहीं थे।

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है-तब बवर व कुसुरुविन्द आदि के नाम वैदिक वाङ्मय में क्यों है? वे तो शाखा-प्रवक्ता नहीं?

सूत्रकार ने शिष्य की उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि

---

१२७. अथ वेदापौरुषेयत्वाधिकरणम् ८।

१२८. वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः

१२९. अनित्यदर्शनाच्च।।२८।। मी० द० सू० १. १. २८.

अनित्यदर्शन हेतु से जो प्रस्तुत किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे शब्द सुनने में केवल समान प्रतीत होते हैं, उनका अर्थ वस्तुतः कुछ और रहता है।[१३०]

सूत्र में 'तु' पद का प्रयोग प्रायः सर्वत्र पूर्वपक्ष के निराकरण का द्योतक माना जाता है। निराकाण, किसी अर्थ का निषेध करना है। अतः 'तु' पद का सीधा 'निषेध' अर्थ करना उपयुक्त है। वेद के अनित्यत्व और पौरुषेयत्व-सिद्धि के लिए जो हेतु दिया गया वह युक्त नहीं, क्योंकि 'प्रावाहाणि' आदि पदों को अपत्यार्थक मानकर बवर व प्रवाहण आदि को ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष माना जाय, यह आवश्यक नहीं। 'प्रावाहणि' आदि पद केवल सुनने-उच्चारण में अथवा लेखन आदि में अपत्यार्थ के समान प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः ये अपत्यार्थक न होकर अन्य अर्थ के वाचक है। धात्वर्ध के आधार पर तीव्रता से बहने वाला वायु 'प्रवाहण' है। उससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि का अनुकारणमात्र बबर या बर्वर आदि पद हैं। ऐसे उल्लेख ऐतिहासिक व्यक्ति परक न होकर संसार में नित्य घटने वाली प्राकृतिक क्रियाओं के विषय में समझने चाहिए।

ऋग्वेद में ऋषि-नाम मूलतः किन्हीं विशेष व्यक्तियों के नहीं है। ये प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप प्रवक्ता के रूप में ये केवल कविनिबद्ध प्रवक्ता है, न मन्त्रार्थ-द्रष्टा, न रचयिता। ये ऐसे नाम है। जैसे 'पञ्चतन्त्र' आदि में कवि ने प्रवक्ता के रूप में अनेक कल्पना जन्य नाम जोड़े हुए है। अनन्तर-काल में जिन व्यक्तियों ने वेद के उन-उन अंशों पर मन्त्रार्थं के चिन्तन व दर्शन तथा अध्यापन एवं प्रचार प्रसार आदि की भावना से कार्य किया, वे लोक-व्यवहार में उन-उन नामों से व्यवहृत होने लगे। वह परम्परा आज तक चालू है। इसलिए अपोरुषेय वेद का प्रामाण्य निर्बाध समझना चाहिए।

वेद में जन्म-मरणधर्मा पुरुषों का उल्लेख पाया जाता है। ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में सूत्र से सम्बद्ध ऋषि का नाम निर्दिष्ट रहता है। कतिपय आचार्यों का कहना है ऋषि वेद-मन्त्रार्थ के द्रष्टा है, उनकी स्मृति के लिए नाम निर्देश रहता है। अन्य आचार्यों का कहना है, ये ऋषि मन्त्रों के रचयिता है। दोनों अवस्थाओं में इनका मानव शरीरधारी होना निश्चित हैं इनमें से लगभग दो-तिहाई ऋषियों के नामों का निर्देश ऋचाओं में उपलब्ध होता है। यह इस तथ्य को

---

१३०. परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्॥३१॥ मी० द० सू० १. १. ३१.

प्रमाणित करता है कि इन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव के अनन्तर ऋचाओं की रचना हुई। ऐसे पुरुषों से प्रोक्त होने के कारण विधिवाक्यों का निर्भ्रान्त प्रामाणिक होना संगत नहीं कहा जा सकता।

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा है कि सूत्र में 'तु' पद जिज्ञासा रूप पूर्वपक्ष की निवृत्ति तथा सिद्धान्त पक्ष के कथन का द्योतक है। उक्त जिज्ञासा में वैदिक साहित्य के कतिपय पदों के प्रयोग के आधार पर वेद का नित्यत्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया। सूत्रकार का कहना है-अध्ययनाध्यापन में प्रयुक्त वेद शब्दमय है। शब्द की नित्यता प्रथम प्रमाण पूर्वक सिद्ध कर दी गई है। तब शब्दमय वेद को अनित्य तथा पुरुष कृतिकहना संगत नहीं।[१३१]

शिष्य जिज्ञासा करता है-यदि ऐसा है, तो वेद में अनित्य पुरुषों का उल्लेख कैसे हैं? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि प्रवचन पद में 'प्र' उपसर्ग का अर्थ 'प्रकृष्ट' है, अर्थात् विशेष जो कार्य अन्य किसी के द्वारा उस रूप में न किया जाये। 'वचन पद' का अर्थ-कथन अथवा अध्यापन है। जिस व्यक्ति ने किसी एकमात्र शाखा का विशेष रूप से अध्यापन कराया वह शाखा उस प्रवक्ता के नाम से व्यवहृत होने लगी। अतः वैदिक वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं के साथ जो विशेष व्यक्तियों के नाम जुड़े हैं, वे केवल उन व्यक्तियों के द्वारा शाखा का प्रवचन के कारण है, उनके कर्त्ता या रचयिता होने के कारण नहीं। सम्भव है, उन-उन शाखाओं का अनन्य साधारण प्रवचन कठ, कलाप आदि व्यक्तियों के द्वारा किया गया हो। कहा जाता है-वैशम्पायन सब शाखाओं का अध्यापन कराता था, कठ केवल एक शाखा का अध्यापक था, वह अन्य किसी शाखा का अध्यापन नहीं कराता था। इसी प्रकार कलाप आदि एक-एक शाखा के अध्यापक रहे।[१३२]

शिष्य शंका करता है-उक्त प्रसगों के अतिरिक्त वैदिक वाङ्मय में अन्य अनेक ऐसे अटपटें व असम्भाव्य प्रसंग कहे जाते हैं, जैसे-गावोंवै सत्रमासत 'तथा वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' उनका क्या होगा?

सूत्रकार ने शिष्य की शंका का परिहार करते हुए कहा है कि-कर्म में

१३१. उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्।।२९।। मी० द० सू० १. १. २९.

१३२. आख्या प्रवचनात्।।३०।। मी० द० सू० १. १. ३०.

ठीक नहीं, विशेष नियोग होता है, उक्त प्रकार के वाक्यों का कर्म के साथ सम्बन्ध से।

सूत्र में 'वा' पद शंका के निवारण का द्योतक है। मीमांसा-शास्त्र की चालू मान्यता के अनुसार अनुष्ठान के प्रवर्त्तक केवल विधिवाक्य प्रमाण है, जैसे 'आग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि जो विधिवाक्य नहीं है, जैसे-वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता 'इत्यादि तथा जो वाक्य असम्भाव्य अर्थ का निर्देश करते हैं,' जैसे-गावों वे सत्रमासत 'वायु तीव्रगामी देवता' है; गाये सत्र में आसीन हुई, आसन पर बैठी। इस प्रकार के वाक्य विधिवाक्य न होते हुए तथा आपातत अटपटे लगते हुए भी अप्रमाण नहीं हैं, ये सन्दर्भ विधिवाक्यों से प्रतिपादित अनुष्ठेय धर्म की स्तुति आदि करने के आधार पर 'अर्थवाद' कहे जाते हैं। ऐसे जितने प्रकार के अर्थवादी वाक्य हैं, वे सब विधिवाक्य बोधित अर्थ कि स्तुति आदि के द्वारा उनसे सम्बद्ध हैं; उन्हीं के वे अंश है। इसलिए विधिवाक्यों के प्रामाण्य के समान उनका भी प्रामाण्य है।[१३३]

कुमारिल भट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ मीमांसा श्लोक बार्तिक में विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया है कि न्याय-वैशेषिक, और बौद्ध आदि दर्शनों में शब्द को अनित्य माना है वह अनुचित है।

शब्द की नित्यता को सिद्ध करते हुए कहा है कि शब्द चुकिं विभु है, और सर्वगत है। इसलिए इसकी एक देश प्रतीति ही भ्रान्ति है। क्योंकि सर्वगत होने के कारण शब्द किसी प्रदेश से बंधा नहीं रह सकता है। पूर्वपक्षी की इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कुमारिल भट्ट ने माना है कि यह ठीक है कि शब्द में एक देशता और नाना देशता की दोनों ही प्रतीतियाँ भ्रान्ति ही है। परन्तु शब्द में एक देशता के प्रतीति के भ्रमत्व का उपपादन प्रकृति उपयोगी नहीं है। शबर मुनि ने भी अपने भाष्य में यदि "श्रोत्र संयोग विभागदेशम्" यह कह कर शब्द में नाना देशता की प्रतीति को भ्रम माना है।[१३४]

कुमारिल भट्ट ने स्पष्ट किया है कि "शब्द की व्यापकता ही शब्द में नाना देश, ताकि प्रतीति में भ्रमत्व का ज्ञापक प्रमाण है।" यह कहना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतिपक्षी वैशेषिक शब्द को विभु नहीं मानते, इसलिए उक्त भ्रम ज्ञान

---

१३३. कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्।।३२।। मी० द० सू० १. १. ३२.

१३४. सूत्रेण युगपद्भावः..उदाहृतः......अतस्तदनुसारेण.......कीर्तनम्। (मी० श्लो० वा० पृ० ९४९)

के रूप में श्रोत्र का विषय देश में न आने को इस आशय से उपस्थित करते हैं कि शरीर अवयव स्वरूप (कर्ण शष्कुली) अपने देश में विद्यमान श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द को नाना देशों में ग्रहण नहीं कर सकता है। इसलिए ऐसा निर्णय करना पड़ता है। शब्द की नाना देशता काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। शब्द की काल्पनिक नाना देशता शब्द के नानात्व का साधक नहीं हो सकता, अतः शब्द अनेक नहीं है।

यह हुई अनेक वक्ता और एक श्रोता के स्थल की बात। जहाँ वक्ता एक ही हो, श्रोता भी अनेक हों वहाँ जो शब्द में एकदेशता की प्रतीति होती है उस प्रतीति में भ्रमत्व का ज्ञापक प्रमाण श्रोत्र का विषय देश में अनागमन ही है। इस भ्रमत्व की चर्चा आप्रासांगिक होने के कारण छोड़कर भाष्यकार ने शब्द में अनेक-देशावगति के भ्रमत्व का ही उल्लेख किया।

मीमांसादर्शन में यह सिद्ध किया गया है कि वैदिक वाङ्मय का प्रत्येक भाग कर्त्तव्य कर्मों से ही सम्बन्ध रखता है कर्मकाण्ड का वर्णन अधिक रूप में ब्राह्मणों में मिलता है। वेद के विषय वस्तु का वर्गीकरण इस प्रकार भी किया गया है-(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नाम धेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि वेद नित्य है, इसमें यह युक्ति दी जाती है कि क्योंकि वे शब्द जिनसे वेद मन्त्र बने हैं। वे नित्य है, शब्द और उसके अर्थ के मध्य इस प्रकार का सम्बन्ध है जो कि नैसर्गिक माना जा सकता है। इसका तात्पर्य केवल यही है कि सहायकों का अभाव है किन्तु इससे शब्दार्थ-सम्बन्ध का अभाव नहीं हो जाता। यदि आंख प्रकाश के अभाव में नहीं देख सकती तो इसका यह अर्थ नहीं है कि आंख देखने के सर्वथा अयोग्य है। सहायक यह ज्ञान है कि इस-इस प्रकार का शब्द इस-इस प्रकार के पदार्थ विषय का द्योतक है, और यह ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। शब्द के अन्दर अभिव्यक्ति का गुण उसके अपने स्वभाव से निहित है। घट इत्यादि साधारण संज्ञाओं के विषय में यह सर्वथा सत्य है, जहाँ कि शब्दों का अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध किसी परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र है। शब्द तथा उनसे निर्दिष्ट पदार्थ दोनों नित्य है और अज्ञात काल से मनुष्य उन्हीं पदार्थों के लिए उन्हीं शब्द का प्रयोग करते आए हैं।

प्रभाकर के अनुसार, केवल ध्वनि अथवा अस्पष्ट शब्द नाम की कोई वस्तु नहीं है। समस्त शब्द किसी न किसी अक्षर के रूप में सुने जाते हैं। शब्द उन

अक्षरों से भिन्न नहीं है। जिनसे यह बना है। अक्षरों का प्रत्यक्ष श्रवेणेन्द्रिय द्वारा होता है, और वह क्रम जिसमें यह प्रत्यक्ष होता है यह निर्णय करता है कि किन शब्दों का बोध हुआ है। एक शब्द में जितने अक्षर है उतने ही प्रत्यक्ष ज्ञान भी होते हैं, और इन प्रत्यक्ष ज्ञानों की अत्यधिक समीपता के कारण हम कल्पना करते हैं कि शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही है। प्रत्येक अक्षर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होते ही विलुप्त हो जाता है और अपने पीछे एक संस्कार छोड़ जाता है। भिन्न-भिन्न अक्षरों द्वारा छोड़े हुए संस्कार अन्तिम अक्षर के संस्कार के साथ संयुक्त होकर पूर्ण शब्द के विचार को उत्पन्न करते हैं, जिसके अन्दर अर्थ को प्रकट करने की शक्ति होती है।[१३५] क्योंकि शब्द की क्षमता अक्षरों की भिन्न-भिन्न क्षमताओं से उत्पन्न होती है, इसलिए अक्षरों की क्षमताओं को शाब्दिक बोध का सीधा कारण बताया गया है। शब्दार्थ का बोध इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त नहीं होता। इन्द्रियाँ अक्षरों को प्रस्तुत करती है, जिनमें अक्षरों से बने हुए शब्द द्वारा प्रकट की गई वस्तु का बोध करने की शक्ति रहती है। इस प्रकार प्रभाकर का मत है कि अक्षर शाब्दिक बोध के साधन है। शब्दों में नैसर्गिक रूप से द्योतन की शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वे पदार्थों को प्रकट करते हैं भले ही हम उनके अर्थों को समझ सके, या न समझ सके।[१३६]

प्रभाकर की भान्ति कुमारिल भी तर्क करता है कि सार्थकता स्वयं अक्षरों के अपने अन्दर रहती है, न कि किसी विशेष स्फोट में। इसलिए वह उस प्रकल्पना का प्रत्याख्यान करता है। जिसके अनुसार शब्द का निर्माण करने वाले अक्षरों की क्षणिक ध्वनियों के अतिरिक्त उत्पन्न नहीं होती।

सामान्यत: शब्दों और विशेषत: वेदों के नित्यस्वरूप के विरुद्ध अनेको आपत्तियों पर विचार किया गया है। सर्वसाधरण का यह अनुभव है कि समग्र मौखिक शब्दोच्चारण मनुष्यों के प्रयत्न द्वारा होता है और इसलिए इसका प्रारम्भ है। अत: इसे नित्य नहीं माना जा सकता। जैमिनि का उत्तर है कि उच्चारण पहले

---

१३५. तुलना कीजिए; शास्त्रदीपिका पृ० २६६ से आगे।

१३६. प्रभाकर के अनुसार, जो अन्विताभिधानवाद की प्रकल्पना को स्वीकार करते हैं, शब्दों के अर्थ केवल उसी अवस्था में जाने जा संकते हैं, जबकि वे ऐसे वाक्य में आते हैं, जो किसी कर्त्तव्य का आदेश करता हो। इस प्रकार शब्द पदार्थों को केवल इस प्रकार के वाक्य के अन्य अवयवों से सम्बद्ध रूप में ही द्योतित करते हैं।

से विद्यमान शब्द को केवल प्रत्यक्ष ज्ञान के योग्य बनाने में सहायक होता है; किन्तु यह इसे पहली बार निर्मित नहीं करता है। (२) यह कहा जाता है कि शब्द कुछ ही समय के लिए अपना अस्तित्व रखता है, क्योंकि उच्चारण होते ही यह नष्ट हो जाता है। जैमिनि का कहना है कि शब्द नष्ट नहीं होता, बल्कि केवल अपनी मूल अव्यक्त दशा में लौट जाता है। इस जगत् में ऐसी अनेक वस्तुएं है जो प्रत्यक्ष का विषय न होती हुई भी अपना अस्तित्व रखती है। जब लोग शब्दों के 'निर्माण' के विषय में कहते हैं तो जैमिनि के अनुसार, निर्माण से तात्पर्य उन ध्वनियों से होता है, जो शब्द को अभिव्यक्त करती है। (३) एक ही शब्द का उच्चारण एक ही समय में भिन्न-भिन्न पुरुषों द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में किया जाता है। यदि शब्द एक नित्य तथा सर्व-व्यापक सत्ता होती , तो यह सम्भव न हो सकता। जैमिनि का उत्तर है कि जिस प्रकार अनेकों पुरुष भिन्न-भिन्न स्थानों में और एक ही समय में एक ही सूर्य का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं इसी प्रकार वे एक ही शब्द का उच्चारण करते हैं। (४) शब्दों में परिवर्तन होते हैं, तो नहीं होने चाहिए थे यदि वे नित्य होते। प्रत्युत्तर में जैमिनि का कहना है कि शब्दों में परिवर्तन नहीं होता, है, जो नहीं होने चाहिए थे यदि वे नित्य होते। प्रत्युत्तर में जैमिनि का कहना है कि शब्दों में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु अन्य शब्द उनका स्थान लेते हैं। (५) शब्द का परिणाम जब इसका उच्चारण एक अथवा अनेक मनुष्य करते हैं तदनुसार घटता तथा बढ़ता है। जो बढ़ता भी है वह नित्य नहीं हो सकता। जैमिनि बलपूर्वक कहते हैं कि वह नित्य नहीं हो सकता। जैमिनि बलपूर्वक कहते हैं कि शब्द का परिणाम कभी बढ़ता या घटता नहीं है, यद्यपि मनुष्यों से प्रकट हुई ध्वनि बढ़ती या घटती है।[१३७]

जैमिनि अपने मत के समर्थन में निश्चयात्मक धारणाएं उपस्थित करते हैं। शब्द सर्वथा विद्यमान रहता है। क्योंकि इसके उच्चारण केवल इसे औरों के प्रति व्यक्त करने के प्रयोजन से ही होता है। अविद्यमान वस्तु के व्यक्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं होता। फिर जब 'गाय' शब्द उच्चारण किया जाता है तो सदा ही इसे पहचान लिया जाता है कि यह वही शब्द है। लोग 'गाय' शब्द को तीन या चार बार उच्चारण करने की बात कहते हैं, वे ऐसे तीन या चार शब्दों को उच्चारण करने की बात नहीं कहते। यह शब्द एकत्व अथवा नित्यस्वरूप को प्रतिपादन करता है। अनित्य वस्तुओं के नाश के कारण पाए जाते हैं, किन्तु हमें शब्दों के विनाश के ऐसे कारण नहीं मिलते। वायु से उत्पन्न ध्वनि उस शब्द

१३७. १: १, ६-१७.

से भिन्न है, जिसे व्यक्त करने के लिए इसका उपयोग होता है। इसके अतिरिक्त हमे अनेकों वैदिक मन्त्र ऐसे मिलते हैं जो शब्द के नित्यस्वरूप पर बल देते हैं।[१३८]

शबरमुनि ने भी अपने मीमांसा भाष्य में शब्द की नित्यता को सिद्ध करते हुए स्पष्ट किया है कि शब्द नित्य है, इसमें यह हेतु है कि दर्शन के परार्थ होने से शब्द का जो दर्शन अर्थात् उच्चारण है, वह परार्थ है, दूसरे को अर्थ का बोध कराने के लिए होता है। उच्चरित होते ही शब्द के विनष्ट हो जाने पर एक दूसरे को अर्थ का बोध कराने का समर्थ नहीं हो सकता। इस हेतु से (उच्चरित होते ही नष्ट होने वाले शब्द को) दूसरे के लिए उच्चारण नहीं कर सकता। और यदि विनष्ट नहीं हुआ, तब तो उसकी बहुत बार उपलब्धि होने से अर्थ का ज्ञान होता है, यह युक्त है। यदि यह कहो कि अर्थवान् के सादृश्य से अर्थ का ज्ञान होता है। तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी शब्द चाहे वह उच्चरित प्रथम शब्द हो चाहे अन्य श्रुत शब्द अर्थवान् नहीं है, सब के नये होने से। क्योंकि अनित्य मानने वाले के मत मे सभी शब्द नये हैं, और किसी भी नये शब्द के अर्थ की प्रतीति ने होने से प्रथम उच्चरित शब्द भी अर्थवान् नहीं हो सकता। यदि कहो कि किसी पूर्व शब्द का कृत्रिम अर्थ-सम्बन्ध होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। पूर्व के सादृश्य है इस ज्ञान के होने पर व्यामोह से ज्ञान नहीं होगा, शाला शब्द से माला ज्ञान के समान। अर्थात् जैसे शाला और माला शब्द में एक व्यंजन के अतिरिक्त सादृश्य होने पर भी शाला शब्द में एक व्यंजक के अतिरिक्त सादृश्य होने पर भी शाला शब्द से माला का ज्ञान नहीं होता। यदि कहो कि जैसे गावी शब्द से सास्ना आदि से युक्त में ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती अर्थात् गावी शब्द से सास्नादि से युक्त प्राणी की प्रतीति होती है। उसी प्रकार अन्य शब्द से भी अर्थ का ज्ञान हो सकता। [तो यह कथन भी ठीक नहीं है]। क्योंकि वहाँ गावी शब्द के उच्चारण करने वाले को गो शब्द के उच्चारण की इच्छा नहीं होती। पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि उच्चारण करने वाले ने जिस शब्द का व्यवहार कराने के लिए उच्चारण किया है, उसका शब्दार्थ-सम्बन्ध भी कृत्रिम है, यह उपपन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ न अन्य शब्द के उच्चारण को इच्छा है, और ना ही एक उच्चारण यत्न से व्यवहार तथा अर्थ सम्बन्ध किया जा सकता है। इसलिए शब्द के उच्चारण के परार्थ होने से शब्द नित्य है।[१३९]

---

१३८. १: १८-२३.

१३९. नित्यः शब्दो भवितुमर्हति। दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनमुच्चारणं तत् परार्थम् परमर्थं प्रत्याययितुम्'.......न चैकेनोच्चारणयत्नेन संख्या संव्यवहारश्चायर्थ सम्बन्धश्च शक्यते कर्त्तुम्। तस्माद्दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः। शबर भाष्य सू० १८ पर भाष्य

शबर भाष्य में शब्द नित्य है यह सिद्ध करते हुए कहा है कि आठ बार गौ शब्द उच्चरित हुआ है ऐसा लोक में कहते हैं, आठ बार गो शब्द उच्चरित हुआ है ऐसा लोक में कहते हैं, आठ गो-शब्द उच्चरित हुए ऐसा नहीं कहते। यदि ऐसा लौकिक पुरुषों का कथन है तो इससे क्या? इस वचन से जाना जाता है कि लौकिक पुरुष एक गोशब्द को ही पुनःपुनः उच्चरित जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि हमारी इन्द्रियों में कोई दुर्बलता नहीं है। इसी प्रकर अन्य भी जानते हैं कि यह वही गो शब्द है। जानने वाले यदि जानते हैं कि यह वहीं गो शब्द है तो हमारे समान ही अन्य भी यह नहीं कह सकते कि यह गोशब्द पूर्व उच्चरित गो शब्द से भिन्न है और यदि आपका यह विचार है, कि गो शब्दों में भिन्नत्व होने पर भी सदृशता से व्यामूढ हुए 'वहीं है' ऐसा कहेंगे। तो यह ठीक नहीं है। वे पुरुष सदृश है यह नहीं जानते अर्थात् सादृश्य का ज्ञान उन्हें नहीं होगा तो क्या ज्ञान होता है? यह वहीं है जो पूर्व उच्चरित हुआ था। भिन्नत्व का विस्पष्ट ज्ञान होने पर ही व्यामोह जाना जाता है। यह अन्य हैं, इसमें न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अन्य प्रमाण है।[१४०]

शबर मुनि ने सूत्रकार जैमिनि के शब्द नित्यत्व की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि यद्यपि शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध औत्पत्तिक अर्थात् नित्य है, फिर भी धर्म चोदनाक्षणवाला नहीं है। अर्थात् चोदनवाक्य से गम्यमान नहीं है। चोदन अर्थात्-प्रेरक वचन निश्चय ही वाक्य है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य के किसी पद से 'अग्निहोत्र' से स्वर्ग होता है। ऐसा अर्थ विदित नहीं होता। तीनों पदों के उच्चरित होने पर यह अर्थ जाना जाता है। यहाँ तीन पद के समुदाय के अतिरिक्त चौथा कोई शब्द नहीं है। यह समुदाय लोक में नहीं है, जिससे इस के वृद्ध व्यवहार से अर्थ जाना जाये। ये पद पृथक्-पृथक् रूप से लोक में प्रयुक्त हैं, उनका अनित्य नित्य है। समुदाय प्रयुक्त नहीं है। इसलिए इस पदसमुदाय से गम्यमान अर्थ कृत्रिम है अथवा व्यामोहरूप है। पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है। पद सामान्य अर्थ में ही वर्तमान होता है, और वाक्य विशेष अर्थ में वर्तमान होता है। सामान्य अन्य है, और विशेष अन्य है, अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न हैं पदों के अर्थों से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होता, [पद और वाक्य का सम्बन्ध न होने से] सम्बन्ध न होने पर यदि किसी पदार्थ के ज्ञात होने पर

---

१४०. अनेन वचनेनागवगम्यते प्रत्यभिजानन्तीति। वयं तावत् प्रत्यभिजानीमो नः करणदौर्बल्यम्। एव मन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति स एवायमिति। शबर मु० सू० २० पर भाष्य, पृ० ७३.

अर्थान्तर का ज्ञान हो जावे, अथवा एक पदार्थ के ज्ञात होने पर सब पदार्थ जाने जायें। इस प्रकार नहीं होता, इसलिए पदार्थ से वाक्यार्थ भिन्न है।[१४१]

आत्मास्तित्त्व-विचार

शबरमुनि अपने भाष्य में अनात्मा का आक्षेप करते हुए कहते हैं कि-शरीर से अन्य वह कौन है। (जो स्वर्ग लोक को जाता है) उसको हम उपलब्ध नहीं करते? उत्तर-प्राण आदि के द्वारा उसको उपलब्ध करते हैं; जो प्राणन क्रिया करता है, अपान क्रिया करता है, उच्छ्वास लेता है, पलक झपकता है, इत्यादि क्रियाएँ करने वाला है, वह इस शरीर यज्ञायुधी है। आक्षेप शरीर ही प्राण लेता है। और अपान क्रिया करता है। उत्तर यह ठीक नहीं प्राण आदि शरीर के गुणों से विपरीत धर्म वाले हैं; क्योंकि जब तक शरीर रहता है, तब तक रहने वाले न होने से। जब तक शरीर रहता है, तब तक उसके रूप आदि गुण रहते हैं। प्राण आदि तो शरीर रहने पर भी नहीं रहते। सुख आदि स्वयं उपलब्ध किये जाते हैं; शरीर के गुण रूप आदि के समान दूसरे भी उपलब्ध नहीं किये जाते। अर्थात् शरीर के गुण रूपादि स्वयंवेद्य भी होते हैं और परसंवेद्य भी, परन्तु सुखादि स्वयंवेद्य हो जाते है। इसलिए शरीर के गुणो से वैधर्म्य होने से प्राणादि क्रिया और सुखादि की उपलब्धि करने वाला शरीर से भिन्न यज्ञायुधी है[१४२]

पूर्वपक्ष को ओर से विज्ञानवादी कहता है कि यह कैसे जाना जाए कि सुखादि से भिन्न सुखादि का संवेधक है। सुखादि से भिन्नआत्मा को कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। आत्मा तो खरगोश के सींग के समान नहीं है। यदि यह यहाँ कहा जाये कि आत्मा के बिना किसके सुखादि है? तब यह कहा जायेगा कि किसी के नहीं है। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो-जो उपलब्ध होता है उस-उस के सम्बन्धी को अवश्य होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है। जिसका सम्बन्ध भी उपलब्ध होता है और सम्बन्धी भी उसका यह सम्बन्धी है यह जाना जाता है। चन्द्रमा या सूर्य को देखकर उसके सम्बन्ध को ढूढ़ने की इच्छा उत्पन्न नहीं है कि किसका है अथवा किसका नहीं है? इसलिए सुखादि

१४१. यद्यत्पौत्पत्तिको नित्यः शब्दोऽर्थ सम्बन्धश्च, तथापि न चोदनालक्षणो धर्मः। चोदना हि वाक्यम्। नहि आग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः 'इत्यतो' वाक्यादन्यतस्मात् पदाद् अग्निहोत्रात् स्वर्गौ भवतीति गम्यते। (शबर मु० भाष्य, पृ० ७९)

१४२. प्राणाऽऽदिभिरेनमुपलभामहे-योऽसौ प्राणिति, आपानिति, उच्छवसिति, निमिषति, इत्यादि चेष्टितवान् सोऽत्र शरीरे यज्ञायुधी इति। (मी० द० १-१-५ पर शाबर भाष्य)

से भिन्न तथा उससे युक्त कोई नहीं है। यदि उपलब्ध हुए का अवश्य सम्बन्धी कल्पना करने योग्य होता है, तो दूसरे के सम्बनध से सम्बन्धी की कल्पना करनी होगी। इससे अनवस्था ही होगी।

उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए शबरमुनि ने अपने भाष्य में कहा है कि यदि विज्ञान से भिन्न अन्य कोई नहीं है तो "जानाति" अर्थात् जानता है का कर्त्ता कौन है? इसलिए "जानता है" इस क्रिया के द्वारा अनुमान से आत्मा सिद्ध होता है। क्योंकि ज्ञान से भिन्न जानने वाला कोई आत्म तत्त्व होना अपेक्षित है।[१४३]

आत्मतत्त्व को सिद्ध करने के लिए शबर मुनि ने अपने भाष्य में स्मृति, इच्छा को आत्मा का लिङ्ग माना है।[१४४]

आचार्य कुमारिल भट्ट ने आत्मा को सिद्ध करते हुए बौद्धादि दार्शनिकों के आक्षेपों का परिहार सशक्त तर्को द्वारा प्रस्तुत किया है। कुमारिल भट्ट ने आत्में को सिद्ध करते हुए कहा है कि 'तस्य एष' इत्यादि वाक्य के द्वारा शरीर के स्वर्ग जाने का बोध अभिप्रेत नहीं हैं। किन्तु आत्मा के स्वर्ग जाने को बोध ही अभिप्रेत है, जिस आत्मा का 'एष:' शब्द वाच्य यह शरीर (भोगायतन) है। शरीर और शरीरों को एक मान कर शरीर के साथ सम्बद्ध अप्रत्यक्ष आत्मा को भी 'एष:' शब्द वाच्य यह शरीर (भोगायतन) है। शरीर और शरीरों को एकमान शरीर के साथ सम्बद्ध अप्रत्यक्ष आत्मा को भी 'एष:' शब्द से एवं 'यज्ञायुधी' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है एवं इस आत्मा को सर्वगत हाने पर भी अपने ज्ञान प्रयत्नादि के द्वारा यज्ञ का साक्षात् कर्त्ता भी कहा जा सकता है।

यद्यपि स्वर्ग के यज्ञ स्वरूप साधन के साथ आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, फिर भी शरीर के द्वारा आत्मा का भी यज्ञों के साथ सम्बन्ध है। अत: लक्षणा वृत्ति के द्वारा शरीरस्थ आत्मा को 'यज्ञायुधी' शब्द से लिया जा सकता है। अत: 'तत्स एष' इत्यादि वाक्य में प्रत्यक्षविरोध नहीं है।[१४५]

---

१४३. यदिविज्ञानादन्यो नास्ति, कस्तर्हि 'जानाति' 'इत्युच्यते? ज्ञानस्य कर्तुरभिधानमनेव शब्देनोपपद्यते। (शबर भाष्य पृ० ४९)

१४४. इच्छया आत्मानमुपलभामहे। कथमिति? उपलब्धपूर्वे हि अभिप्रेते भषतीच्छा। (शबर भाष्य पृ० ५०)

१४५. साक्षाद् यद्यपि सम्बधो नात्मनो यज्ञसाधनैः।
तथापि लक्षणावृत्त्या शरीरद्धारको भवेत्।।१।। मी० द० श्लोकवार्तिक।

इसी प्रकार उक्त वाक्य में 'एषः' शब्द के द्वारा देह में रहने वाले 'प्रत्यक्षत्व' का 'उपचार' भी आत्मा में होता है। अतः अप्रत्यक्ष आत्मा का भी प्रत्यक्ष विषय के बोधक 'एतत्' शब्द के एक वचनान्त 'एषः' शब्द से बोध हो सकता है।[१४६]

पूर्वपक्ष ने आक्षेप करते हुए शबर भाष्य में कहा है कि ज्ञान से भिन्न आत्मा का जो प्रतिपादन किया गया है वह व्यर्थ है, क्योंकि तत्स 'एष यज्ञायुधी' इत्यादि वाक्यों को 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों के समान अर्थवाद भी माना जा सकता है। अतः उक्त वा में प्रत्यक्ष विरोध के परिहार के लिए आत्मा का चह निरूपण व्यर्थ है।[१४७]

इस आक्षेप का भाष्यकार ने परिहार यह किया है कि केवल 'यज्ञायुधी' वाक्य में प्रत्यक्ष विरोध के परिहार के लिए ही आत्मा का निरूपण 'कोसावन्यः' इत्यादि सन्दर्भ से नहीं किया है। किन्तु शरीरादि से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध न होने पर सभी विधिवाक्यों के ऊपर अप्रामाण्य का जो आक्षेप आ जाता है उसके परिहार के लिए भी, क्योंकि उन वाक्यों से कथित स्वर्गादि साध्यों एवं यज्ञ, अपूर्वादि साधनों का सम्बन्ध शरीरात्मक आत्मा के साथ उपपन्न नहीं होता है, क्योंकि वे सभी विधिवाक्यों जन्म-जन्मान्तर में फलों के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं, जो शरीर को ही आत्मा मान लेने से अनुपपन्न हो जाता है।[१४८]

यदि आत्मा को विज्ञान मात्र माने तो उसके कर्त्तव्य और भोक्तृत्व दोनों विशेष रूप से अनुपपन्न हो जायेंगे, क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। यदि कर्त्ता को ही भोक्ता भी मानना है तो यह क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानने के पक्ष में दुर्घट है। यदि शरीर को आत्मा मानें तो यागों के बोधक वाक्य अप्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि शरीरपात के बाद किसी भोक्ता का रहना सम्भव नहीं है। यागादि के फल इस शरीर के समय अप्राप्त है।[१४९]

---

१४६. प्रत्यक्षत्वं च देहस्थं भाक्तमात्मनि कल्पितम्।
आत्मनः स्वर्गयानं वा शरीरस्योपचर्य्यते॥२॥ मी० श्लो० वा०।

१४७. नैरात्म्येनात्र चाक्षिप्ताः सर्वा एव हि चोदना। साध्यसाधनसम्बन्धस्तदुक्तो न हि सिद्धयति॥

१४८. ता हि कर्त्तुः फलेलाहु सम्बन्धं त्क्वापि जन्मनि। न च विज्ञानमात्रत्वे भोक्तृकत्तृत्वसम्भवः॥४॥

१४९. शरीरविनिपाताच्च परं नान्यद् यदेष्यते। अदत्त फलइष्टयादौ तदा तद्वनं मृषा॥५॥
(मी० श्लो० वा०, ३, ४, ५)

'तस्मात्' वेदों में प्रामाण्य की सिद्धि के लिए ही भाष्यकार ने 'आत्मा' का प्रतिपादन किया है। अतः वेदव्याख्यान के बीच में आत्मा का निरूपण अप्रासागिंक नहीं है, भले ही 'यज्ञायुधी' प्रभृति वाक्यों को अर्थवाद मानकर उनके प्रामाण्य का समर्थन किया जा सके। अर्थात् वाक्य के प्रामाण्य के समर्थन के व्याज से सम्पूर्ण वेद के प्रामाण्य का समर्थन ही भाष्यकार को आत्म निरूपण से भी अभिप्रेत है।[१५०]

आत्मा के प्रसंग में संक्षेपतः हम लोगों का सिद्धान्त हैं कि 'आत्मा' शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि इन तोनों से ही भिन्न है। 'आत्मा' नित्य है एवं शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि सभी विनाशी हैं। 'तान्येवाऽनुविनश्यति' इत्यादि उपनिषदों के द्वारा आत्मा के विनाश का प्रतिपादन इष्ट नहीं है किन्तु शरीरादि का विनाश ही उन वाक्यों का अर्थ है।[१५१]

आत्मा को नित्य मानने पर आक्षेप :-

पहली बात तो यह है कि आत्मा को यदि 'नित्य' माने तो उसमें क्रिया का रहना सम्भव नहीं होगा। क्रियाओं से सर्वदा रहित पदार्थ में कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये दो भी नहीं रह सकते, अर्थात् क्रियाशून्य पदार्थ कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। यदि क्रिया शून्य पदार्थ को कर्त्ता और भेक्ता मान भी ले तथापि फलोपभोग के समय 'में' अपने किये हुए अमुक कर्म का यह फल भोग रहा हूँ (मत्कृतस्यामुककर्मणः फलमिदमुपभुज्यते) इस आकार का 'परामर्श' (अनुसन्धानात्मक ज्ञान) सम्भव न होने सके उक्त कर्मों में 'रस' अर्थात् अनुराग उत्पन्न नहीं होगा। अनुराग के न रहने से आगे तत्सजातीय कर्मों का अनुष्ठान ही अनुपन्न हो जायेगा।[१५२]

'यह मेरे अनुष्ठानों का फल है' फलोपभोग के समय जिन्हें उक्त आकार का परामर्श नही रहता है, उनके लिए अपने भोग में और परोपभोग में कोई अन्तर नहीं है, क्योकि स्वोपभोग्य फल में अनुराग के द्वारा उक्त फल के कारणीभूत यज्ञादि का पुनरनुष्ठान ही स्वोपभोग से परोपभोग में अन्तर है। परोप-भोग्य फलों

१५०. तस्माद् वेदप्रमाणार्थमात्मात्र प्रतिपादयते।
यद्यपि प्रकृतं वाक्यं व्याख्यायेतार्थवादतः॥६॥ मी० श्लो० वा० ६.

१५१. नित्यः कर्तृत्व भोक्तृत्वे प्रतिपन्नोऽपि सन् यंद। न कर्मफलसम्बन्धं भोगकालेऽवबुध्येत्॥८॥

१५२. माया यत्तु कृतं कर्म तस्येदं भुज्यते फलम्। शुभाशुभं मयैवेति तदा कोऽस्य रसो भवेत्॥९॥

में अनुराग नहीं रहता। अतः परोपभोग्य फलों के कारणीभूत यज्ञों का अनुष्ठान वह नहीं करता। इसलिए इस पक्ष में स्वोपभोग और परोपभोग में कोई अन्तर नहीं हैं।[१५३]

इसी प्रकार फल परामर्श के बिना निषिद्ध कर्म का परित्याग भी नहीं होगा, क्योंकि वह सेचेगा कि भोग के समय मुझे यह याद थोड़े ही रहेगा कि 'अमुक' अशुभ कर्म का यह कड़ुआ फल है, अतः आगे इस प्रकार के कर्मों के अनुष्ठान से बचना चाहिए।[१५४]

जिस प्रकार आत्मा को अनित्य मानने के 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोनों दोष होते हैं, उसी प्रकार आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में भी ये दोनों ही दोष होंगे, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में कर्मों के अनुष्ठानों से विरति समान है। कर्म करने पर भी कर्त्ता का नाश 'कृतनाश' कहलाता है।[१५५] एवं कर्म न करने पर भी फल की प्राप्ति 'अकृताभ्यागम' दोष कहलाता है।[१५६]

आत्मनित्यत्वपक्ष के दोषों का समाधान :–

भाष्यकार ने उक्त आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा है कि आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में कथित 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोष नहीं है, क्योंकि 'अमुक कर्म के फल का उपभोग मैं कर रहा हूँ, इस आकार के अनुसन्धान (परामर्श) का भी कोई उपयोग स्मृति में नहीं है, क्योंकि भोग के समय स्मृति से न अनुकूल वस्तुओं में प्रवृत्ति ही होती है, न प्रतिकूल वस्तुओं से निवृत्ति ही होती है। अर्थात् भोग प्रवृत्ति के बाद उत्पन्न होता है, भोग का परामर्श प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता।[१५७]

प्रवृत्ति का कारण है 'समीहितसाधनत्व' का परामर्श अर्थात् याग में

---

१५३. अमरमृश्यमाणे हि स्वकर्मप्रत्यये फले न विशेषो भवेत् कश्चित् स्वपरात्मोपभोगयोः।।१०।।

१५४. कुर्वन्नप्यशुभं कर्म तेनैव चिन्तयेन्नरः। न स्परिष्यामि भोंगेऽहिमिति नैतद् विवर्जयत्।।११।। उक्त सभी (मी० श्लो० वा०)

१५५. तत्र नित्यत्वपक्षेऽपि कृतनाशकृतागमौ। फलतस्तुल्यरूपो चेद् वृथा तत्प्रतिपादनम्।।१२।। श्लो० वा०

१५६. (१) कर्त्तुः कृतेऽपि कर्मणि नाशः कृतनाश। (२) भेक्तुश्चाकृते कर्मणि आगमः 'अकृतागम'। न्या० रत्नाकर

१५७. नैषदोषो न भोगे हि स्मृतिर्न उपयुज्यते। न प्रवृत्तिर्निवृर्त्तिर्वा भोगकाले स्मृतेर्भवेत्।।१३।। श्लो० वा०

अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति के साधनत्व-इष्टसाधनत्व का परामर्श। विद्वानों को यह परामर्श तो शास्त्र के द्वारा ही प्राप्त रहता है।[१५८]

यदि भोग से पूर्व की तरह भोग के समय भी यागादि में कथित समीहित साधनत्व का परमर्शात्मक ज्ञान कुछ विद्वानों को हैं; और कुछ अविद्वज्जनों को यह ज्ञान नहीं है, तथापि कोई दोष नहीं है, क्योंकि यागादि में उन अविद्वानों का कोई आकार नहीं है।[१५९]

कथित समीहित साधनत्व का ज्ञान यदि केवल शास्त्र स्वरूप शब्द प्रमाण से ही होता है तो इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि सभी प्रमाणों के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान आवश्यक नहीं है। एवं एक प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने पर प्रमा के अन्य 'करण' अप्रमाण नही हो जाते।[१६०]

इस प्रकार यह निश्चित है कि भोग के समय याग में समीहित साधनत्व (इष्टसाधनत्व) कापान प्रवृत्ति के लिए उपयोगी नहीं है; अनुष्ठान काल में ही याग में इष्टसाधनत्व का ज्ञान अपेक्षित है। यह ज्ञान विद्वानों को है ही। जो पुरुष अनुष्ठान के समय याग को समीहित का साधन नहीं समझता, उसे 'अविद्वान्' होने के कारण याग करने का अधिकार ही नहीं है।[१६१]

भोग से पूर्व यागादि में वेदादि शास्त्रों के द्वारा परामर्श ही वस्तुतः वेदों का प्रामाण्य है, क्योंकि भोगकाल में उत्पन्न यागादिविशेष्यक इष्टसाधनत्व प्रकारक बुद्धि की सफलता अन्वयव्यतिरेक से उसी प्रकार ज्ञात होगी; जिस प्रकार लोक में रथमर्को की कारणता सारथि में अन्वयव्यतिरेक से ज्ञात होती है। इस प्रकार याग में इष्टसाधनत्व का ज्ञान शास्त्रीय न होकर लौकिक हो जायेगा, जिससे वेदों का प्रामाण्य व्याहत होगा।[१६२]

---

१५८. तदङ्गं यः परामर्शस्तदस्तित्वं च मृग्यते। प्राक् प्रवृत्तेस्तु सोऽस्त्येव विदुषो शास्त्रतः स्फुटः।।१४।। श्लो० वा०

१५९. पश्चादपि च शास्त्रजा विमृशन्त्येव केचन। तेषामेवाधिकारश्च मा भूदविदुषां तु सः।।१५।। श्लो० वा०

१६०. परामर्शश्च सर्वत्र नास्ति सर्वप्रमाणकः। न चान्येनापरामृष्टे स्यादन्यस्या प्रमाणता।।१६।। श्लो० वा० उक्त सभी श्लो० (मीमांसा श्लो० वा० से उद्धत है)

१६१. नावबुध्येत यस्त्वेषं ममास्मात् कर्मणः फलम्।
भविष्यतीत्यविद्वत्वाद् देवादिवात्र न क्रिया।।१७।। मी० श्लो० वा०

१६२. भोगकालेऽनुसन्दध्यात् फलं यदि तु कश्चन।
रथादिकर्मवद् यागे शास्त्रं स्यादप्रकल्पकम्।।१९।। मी० श्लो० वा०

पूर्वपक्षी आक्षेप करता हुआ कहता है कि आत्मा को यदि 'विभु' मानेंगे तो उसे कर्त्ता नहीं माना जा सकेगा। कर्त्ता के लिए अभिमत देशों के साथ संयोग एवं विरुद्ध देशों के साथ वियोग ये दोनों ही आवश्यक है। विभु पदार्थ चूंकि निष्क्रिय होता है, अतः उसमें क्रिया-सापेक्ष संयोग और वियोग दोनों ही नहीं हो सकते। आत्मा को यदि नित्य मानेंगे तो उसमें भोग की उत्पत्ति नहीं होगी; क्योंकि नित्य पदार्थ अविकारी होता है। अतः आत्मा नित्य होने के कारण अविकारी होगा। अतः नित्य 'अविकारी' आत्मा अपनी पुरानी असुखावस्था को छोड़कर सुखावस्था अथवा दुःखावस्था में कैसे परिणत होगी। यदि क्रियावस्था में (कर्तृत्वावस्था में) अथवा सुखादि अवस्थाओं में (भोक्तृत्वावस्था में) अपनी वह अकर्तृत्वावस्था एवं अभोक्तृत्वावस्था को छोड़कर आती है तो आत्मा को क्रिया के समान ही अनित्य मानना होगा।[१६३]

सिद्धान्त पक्ष ने परिहार करते हुए कहा है कि नित्य पदार्थ में कर्तृत्व की उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है कि अनित्यता दो प्रकार की होती है-(१) विकार स्वरूप एवं (२) स्वरूपोच्छेद स्वरूप। आत्मा में इन में प्रथम प्रकार की अनित्यता को स्वीकार करते हैं, क्योंकि पूर्व की अपनी उदासीनावस्था को छोड़कर ही कर्तृत्वावस्था और भोक्तृत्वावस्था को प्राप्त होता है। किन्तु उस समय भी उसके स्वरूप का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा बनी रहती है। अतः आत्मा को विकारी रूप अनित्य तो मानते हैं, किन्तु विनाशी स्वरूप अनित्य नहीं मानते।[१६४]

इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि आत्मा का अत्यन्त विनाश मानें अर्थात् आत्मा का कथित स्वरूपोच्छेद स्वरूप अनित्यता माने तभी कथित 'कृतनाश' और अकृताभ्यागम 'इन दोनो दोषों की आपत्ति होगी। अवस्थान्तरप्राप्ति स्वरूप अनित्यता को स्वीकार करने पर जिस प्रकार लोक में एक शरीर में बाल्य और यौवन दोनों की प्रतीति होती है: उसी प्रकार एक आत्मा में स्वरूपोच्छेदाभाव

---

१६३. तव नित्यविभुत्वाभ्यामात्मानो निष्क्रिया यदि।
सुख दुःखाविकार्याश्च कीदृशी कर्तृभोक्तृता।।२०।। वही
अथ कर्त्तत्ववेलायां दुःखादेश्चापि जन्मनि।
प्रागपादन्यथात्वं स्यान्नित्यतास्य विरुध्यते।।२१।। वही

१६४. नानित्य शब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते। विक्रियामात्रवाचित्वे न ह्युच्छेदोऽस्य तावता।। मी० श्लो० वा० २२)

रूप 'नित्यत्व' एवं अवस्थान्तर प्राप्ति स्वरूप अनित्यत्व दोनों की प्रमा प्रतीति हो सकती है।[१६५]

मेरे ये सुख-दुःख आत्मा की विभिन्न अवस्थायें है' यह जानकर लोग सुख प्रयोजक पाकादि के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, एवं अपश्य भोजनादि से निवृत्त होते हैं, इन सुख-दुःखादि की अवस्थाओं से विनिर्मुक्त लोक में कोई नहीं देखा जाता।[१६६]

फिर भी अवस्थाओं के विनाशी होने पर अवस्थावान् आत्मा को विनाशी नहीं कहा जा सकता। अतः लोग सभी अवस्थाओं में एक ही भोक्ता मानते हैं।[१६७]

सुखदुःखादि अनेक उत्पत्ति-विनाशशील अवस्थाओं से गुजरते हुए भी पुरुष चैतन्य, द्रव्य, सत्तादि को नहीं छोड़ता।[१६८]

जो कोई किसी पदार्थ को दूसरी अवस्था की प्राप्ति को उस अवस्था वाले पदार्थ का विनाश मानते हैं। (अर्थात् निरन्वय विनाश मानते हैं) उनके मत से दुःखी पुरुष जब सुखावस्था को प्राप्त होता है, उस समय उस पुरुष का अत्यन्त विनाश ही मानना होगा। जो कोई आत्मा की सत्ता को सदा स्वीकार करते हैं, एवं उनमें सभी अवस्थाओं की अनुवृत्ति मानते हैं, उन्हें सुख के समय भी दुःख की सत्ता माननी होगी।[१६९]

'तस्मात्' आत्मा न अपनी अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न ही है, न सर्वथा अभिन्न है। कथञ्चिद् भिन्न भी हैं कथञ्चिद् अभिन्न भी। जैसे कि कुण्डल स्वर्ण से न सर्वथा भिन्न है न सर्वथा अभिन्न ही। अथवा रस्सी से प्रतीत होने वाला सर्प न रस्सी से सर्वथा भिन्न है न सर्वथा अभिन्न। अतः आत्मा को नित्य मानने से 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' दोष नहीं हैं।[१७०]

---

१६५. स्यातामत्यन्तनाशेऽस्य कृतनाशाकृतागमौ। न त्ववस्थान्तरप्राप्तो लोके बालयुवादिवत्।। (मी० श्लो० वा० २३)

१६६. अवस्थान्तरभाव्येतत् फलं............न च कस्यचित्।।२४।। श्लो० वा० २४

१६७. अनुच्छेदात् तु नान्यत्वं भोक्तुर्लोकोऽवगच्छति।।२५।। श्लो० वा० २५

१६८. सुख-दुःखाद्यवस्थाश्च गच्छन्नपि नरो मम।
चैतन्यद्रव्यसत्तादिरूपं नैव विमुञ्चति।।२६।। मी० श्लो० वा० २६.

१६९. दुःखिनः सुख्यवस्थायां नश्येयुः सर्वं एव ते। दुखित्वं चानुवर्तेत विनाशे विक्रियात्मके।।२७।। श्लो० वा०

१७०. तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुतगमात्मकः। पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु स्वर्णवत्।।२८।। श्लो० वा०

यदि आत्मा में सुख-दुःखादि अवस्थाओं में कर्तृत्व और भोक्तृत्व मानते तो कथित 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' की आपत्ति हो सकती थी। हम तो उन अवस्थाओं से युक्त आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता मानते हैं। अतः इस पक्ष में कृतनाश और अकृताभ्यागम इन दोनों दोषों का कोई अवसर नहीं है।[१७१]

यह भी कहा जा सकता है कि अवस्थाओं का अत्यन्त विनाश नहीं होता। पहली अवस्था के रहते दूसरी अवस्था नहीं आ सकती। इसलिए उत्तरावस्था की अनुकूलता के लिए दोनों ही अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मा में पहली अवस्था विलीन हो जाती है।[१७२]

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि आत्मा की औदासीन्यावस्था और कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अवस्थाएं परस्पर विरोधिनी हैं। अतः एक अवस्था के धर्मी स्वरूप आत्मा में दूसरी अवस्था की निष्पत्ति कैसे हो सकती है?[१७३]

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि उक्त विभिन्न अवस्थाएं अपने-अपने व्यक्तिगत रूप से (तद्व्यक्तित्वादि विशेष रूप से) परस्पर विरोधिनी हैं। किन्तु उन सभी अवस्थाओं में जो एक 'आत्मावस्थात्व' रूप सामान्य धर्म है, 'उसके द्वारा आत्मा की सभी अवस्थायें परस्पर अविरोधिनी हैं, क्योंकि औदासीन्य एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सभी अवस्थाओं में 'आत्मवृत्तित्व' समान है।[१७४]

कथित रीति से आत्मा को नित्य मानने के पक्ष में वेद प्रामाण्य का प्रतिपादन किया गया है। यदि शरीर को ही आत्मा मानें, अथवा आत्मा को ज्ञानमात्र स्वरूप मानें, इन दोनों ही पक्षों में (अर्थात्आत्मा को अनित्य मानने वाले नैरात्म्यवादियों के पक्ष में) अनुष्ठानकर्त्ता यह पहले ही समझ लेता है कि 'फल प्राप्ति के समय में विनष्ट हो जाऊँगा,' अतः मुझे फल नहीं मिलेगा। अथवा किसी दूसरे (शरीर अथवा विज्ञान) को फल मिलेगा।" अर्थात् शरीर को आत्मा मानने के पक्ष में फलप्राप्ति के समय शरीर की सत्ता नहीं रहेगी। विज्ञान को आत्मा

---

१७१. न च कर्तृत्वभोक्तृत्वे पुंसोऽवस्थासमाश्रिते। तेनंवास्थावतस्तत्त्वात्.....तत्फलम्।।२९।। श्लो० वा०

१७२. न चावस्थान्तरोत्पादे पूर्वात्यन्तं विनश्यति। उत्तरानुगुणत्वात् तु सामान्यात्मनि लीयते।।३०।। श्लो० वा०

१७३. स्वरूपेण ह्यवस्थानामन्योन्यस्य विरोधिता।–श्लो० वा०।

१७४. अविरुद्धस्तु सर्वासु सामान्यात्मा प्रवर्तते।। मी० श्लो० वा० ३१।।

मानने के पक्ष में फल प्राप्ति के समय कोई दूसरा विज्ञान ही रहेगा। इस प्रकार आत्मा को अनित्य मानने के पक्ष में वेदप्रामाण्य की सिद्धि नहीं होगी।[१७५]

इस श्लोक में आक्षेप करते हुए कहा गया है कि जन्मान्तर की उपपत्ति के लिए ही तो आत्मा को नित्य मानते हैं। क्षणिक विज्ञान को ही आत्मा मानने में भी जन्मान्तर स्वीकार करते हैं। अतः आत्मा को अनित्य मानने पर भी तन्मूलक अनुष्ठानों में प्रवृत्ति और वेदों का प्रामाण्य इन दोनों को उपपत्ति होगी। इसके लिए आत्मा को नित्य मानने की कौन सी आवश्यकता है?[१७६]

इस उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए कहा है कि विज्ञान मात्र को आत्मा मानने वाले भले ही दूसरा जन्म मानें, किन्तु इससे एक ही पुरुष में यागादि का कर्त्तृत्व और तत्फल भोक्तृत्व दोनों की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। अतः यागादि कर्म करने वाले विज्ञान की सत्ता भोग के समय नहीं रह सकती। फलतः 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' को आपत्ति रहेगी।

वस्तुतः क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर देहान्तरप्राप्ति स्वरूप जन्मान्तर ही उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि 'अविभु' होने के कारण एक साथ ही विभिन्न-कालिक विभिन्न देशिक दो देशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। एवं निष्क्रिय' होने के कारण एक देह से दूसरे देहों में जा भी नहीं सकता।[१७७]

पूर्वपक्षी ने आक्षेप किया है कि कुछ ज्ञानों का सन्तान (समूह) 'आत्मा' है। जो 'विज्ञान सन्तान' यागादि कर्मों का अनुष्ठान करता है, वहीं 'सन्तान' उसके फल को भी भोगता है। प्रत्येक क्षण में विज्ञान भेद सन्तान के एक रहने पर भी उसी प्रकार उपपन्न हो सकता है, जिस प्रकार आप (मीमांसकों) के मत में एक ही नित्य आत्मा की अनेक अवस्थायें हो सकती हैं। अतः विज्ञान को आत्मा मानने पर भी एक ही विज्ञान स्वरूप आत्मा में कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों की उपपत्ति हो सकती है। तस्मात् इस पक्ष में भी कृतनाश और अकृताभ्यागम की आपत्ति नहीं हैं।[१७८]

---

१७५. नैरात्म्यवादपक्षे तु पूर्वमेवावबुध्यते...........वेद प्रमाणता।।३२-३ मी० श्लो० वा०।।
१७६. जन्मान्तरेऽभ्युपेतेऽपि ज्ञानमात्रात्मवादिनाम्।
ज्ञानानां क्षणिकत्वाद्धि कर्त्तृभोक्त्रन्यता भवेत्।।३३-३४।। मी० श्लो० वा०
१७७. निष्क्रियत्वाविभुत्वाभ्यां न च देहान्तराश्रितिः।।३४।। मी० श्लो० वा०
१७८. कर्त्ता य एव सन्तानो ननु भोक्ता स एव नः।
विज्ञानक्षणभेदस्तु त्वदवस्थान्तरैः समः।।३५।। श्लो० वा०

सिद्धान्ती ने इसका परिहार करते हुए कहा है कि अनन्त ज्ञानों के समूह स्वरूप एक आत्मा का दीर्घकालसाध्य किसी कर्म का कर्त्ता होना सम्भव नहीं है। अनन्त ज्ञानों के एक समूह में किसी एक कर्मकर्त्तृत्व 'कूलकल्पोपम' है,अर्थात् जिस प्रकार एक ही दीर्घ प्रसाद का निर्माण कुल के अनेक पुत्र-पित्रादि के द्वारा हो-उसी प्रकार का है।[१७९]

पूर्वपक्षी ने आपत्ति करते हुए कहा है कि प्रत्येक विज्ञान स्वरूप सन्तानी या समुदायी भले ही कर्त्ता न हो सके, किन्तु विज्ञानों का एक समूह तो कर्त्ता हो सकता है, एवं वही भोक्ता भी होगा।

इस पूर्वपक्ष का समाधान किया है कि यदि (अनित्य) सन्तानी विज्ञानों से भिन्न एक नित्य सन्तान को स्वीकार न करेगा तो उक्त रीति से एक सन्तान स्वरूप आत्मा में कर्त्तृत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वह सन्तान क्षणिक विज्ञान स्वरूप सन्तानियों से अभिन्न होने के कारण कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि अनित्य सन्तानियों से अर्थात् प्रत्येक विज्ञान व्यक्तियों से सन्तान को भिन्न मानेंगे तो विज्ञान से भिन्न नित्य आत्मा की ही सिद्धि हो जायेगी। उसके लिए 'भले' ही 'सन्तान' नाम की कल्पना कर ली जाय किन्तु इससे वस्तुगति में कोई अन्तर नहीं आता है।[१८०]

'यदि सन्तान' को आत्मा मानेंगे तो भोक्तृ सन्तान और कर्तृसन्तान दोनों के अत्यन्त भिन्न होने से 'अकृताभ्यागम' स्वरूप दोष अनिवार्य होगा।[१८१]

यदि यह कहें कि प्रत्येक विज्ञान स्वरूप सन्तानी क्षणिक होने के कारण कर्त्ता या भोक्ता भले ही न हो सके, किन्तु उन सन्तानियों का सन्तान या समूह तो हैं, जो कर्त्ता और भोक्ता हो सकता है। किन्तु बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि-कथित युक्ति के अनुसार यदि सन्तानी (प्रत्येक विज्ञान) सन्तान (विज्ञान) समुदाय से अभिन्न है, तो सन्तान भी प्रत्येक विज्ञान से अभिन्न होने

---

१७९. कर्त्तृत्वमेव दुःसाधं दीर्घकालेषु कर्मसु।
सत्सु ज्ञानसहस्रेषु कलकल्पोपमं हि तत्।।३६।। मी० श्लो० वा०

१८०. व्यक्तिरिक्तो हि सन्तानो यदिनाभ्युपगम्यते।
सन्तानिनामनित्यत्वात् कर्त्ता कश्चिन्न लभ्यते।।३७।। मी० श्लो० वा०

१८१. भोक्तुरत्यन्त भेदाच्च प्रसज्येताकृतागमः।
कृतनाशं तु न ब्रूमः कृतं नैव हि केनचित्।।३८।। मी० श्लो० वा०

के कारण क्षणिक ही होगा। इस पक्ष में 'अकृताभ्यागम' दोष का उपपादन पूर्व किया जा चुका है।[१८२]

सन्तानी से यदि सन्तान को अतिरिक्त मानेंगे एवं क्षणिक न मानकर स्थायी मानेंगे तो यद्यपि 'अकृताभ्यागम' का परिहार हो जायेगा, किन्तु कर्त्तृत्व की अनुपत्ति रहेगी ही, क्योंकि बौद्धों के मत में 'वस्तु' (भावपदार्थ) क्षणिक ही होती है। संसार यदि क्षणिक नहीं है तो बौद्धों के मत से वस्तु स्वरूप न होकर गगन कुसुमादि की तरह अवस्तु ही होगा। अवस्तु में किसी कार्य का कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है।[१८३]

यदि क्षणिक विज्ञान स्वरूप सन्तानियों को परस्पर भिन्न मानने पर भी क्षणिक मानें तो अवस्तुत्वापत्तिमूलक कर्त्तृत्वानुपपत्ति का तो उद्धार होगा, किन्तु दीर्घकाल साध्य किसी कर्म का कर्त्तृत्व क्षणिक सन्तान में सम्भव नहीं होगा। एवं भोग का सम्पादन अन्य क्षणिक सन्तान के द्वारा होने के कारण कथित 'अकृताभ्यागम' दोष भी होगा। ये दोनों ही दोष दिखाये जा चुके हैं।

यदि उक्त दोनों दोषों के परिहार के लिए सन्तान को अक्षणिक वस्तु मान लें तो अपने सिद्धान्त (बौद्ध सिद्धान्त) की हानि होगी, क्योंकि बौद्ध गण वस्तुओं को क्षणिक ही मानते हैं। अतः 'वस्तु' भी हो एवं 'अक्षणिक' भी हो ये दोनों बातें बौद्ध सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

विज्ञानवादी योगाचार सम्प्रदाय के पक्ष में एक यह भी दोष होगा कि क्षणिक विज्ञान से अतिरिक्त विज्ञान सन्तान नाम के एक द्रव्य (वस्तु) की सत्ता माननी होगी। किन्तु उनके मत में विज्ञान से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं है।[१८४]

यदि सन्तानियों से (समूहघटक प्रत्येक विज्ञान व्यक्ति से) एक सन्तति को अभिन्न माने तो ग्राह्य और ग्राहक दोनों को ज्ञान स्वरूप मानने मे यह आपत्ति दी गयी है कि ग्राह्य और ग्राहक दोनों चूंकि ज्ञान स्वरूप हैं, अतः दोनों को अभिन्न मानना होगा। ग्राह्य और ग्राहक दोनों को यदि भिन्न मानें तो ग्राह्य ज्ञान और ग्राहक

---

१८२. सन्तानानन्यतायां तु वाचीयुक्तयन्तरेण ते तत्र चोक्तम्।

१८३. न चावस्तु सन्तानः कर्तृतां व्रजेत्।।३९।। मी० श्लो० वा०

१८४. सन्तानक्षणिकत्वे च तदेवाक्षणिकस्त्वथ।
सिद्धान्तहानिरेवं च सोऽपि द्रव्यान्तरं भवेत्।।४०।। मी० श्लो० वा०

ज्ञान इन दोनों को भी भिन्न मानना होगा। किन्तु बौद्धों के पक्ष में सभी ज्ञान निरालम्बन होने के कारण-निर्विषयक होने के कारण अभिन्न हैं।

इसी प्रकार प्रकृत में भी सन्तान को यदि सन्तानियों से अभिन्न मानें तो एक सन्तान अनेक सन्तानियों से अभिन्न होने के कारण अनेक होगा। इसी प्रकार सन्तानी भी एक सन्तान से अभिन्न होने के कारण अनेक न होकर 'एक' ही होंगे। इसलिए यह पक्ष भी ठीक नहीं है।[१८५]

'तस्मात्' सन्तान रूप आत्मा को सन्तानियों से अत्यन्त भिन्न माने अथवा कुछ अंशों में ही भिन्न माने, दोनों ही पक्षों में सांख्य और वैशेषिकसम्मत आत्मा से वह किसी भी अंश में भिन्न नहीं होगा।[१८६]

यदि विज्ञान सन्तान को सन्तानी विज्ञानों से अभिन्न न मानें तो वह 'सन्तान' ही नही कहला पायेगा, क्योंकि वायु, दीप प्रभृति का एक समूह वायु व्यक्ति का या दीप व्यक्तियों का भिन्न-भिन्न समूह नहीं कहलाता, सन्तानयों से अभिन्न समूह ही 'एक सन्तान' कहलाता है।[१८७]

पूर्वपक्षी ने कहा है कि सन्तान भी विज्ञान है, सन्तानी भी विज्ञान स्वरूप होने के कारण अभिन्न है। इस प्रकार सन्तान और सन्तानी दोनों विज्ञान स्वरूप होने के कारण अभिनव है। बौद्धों के इस सिद्धान्त का खण्डन पहले ही 'शून्यवाद' में किया जा चुका है। इस प्रकार यह उपपादन किया गया है कि आत्मा को नित्य माने बिना उसमें कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व के सामानाधिकरण की उपपत्ति नहीं हो सकती।[१८८]

इसी प्रकार नित्य आत्मा को स्वीकार किए बिना बौद्धों के मत से विहित चैत्यवन्दनादि कर्मों से दूसरे समय में फल की प्राप्ति नहीं होगी। जिस प्रकार हम लोग फल की सिद्धि के लिए 'अपूर्व' को स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार बौद्धों

---

१८५. एका चाव्यतिरिक्ता च सन्तानिभ्योऽथ सन्ततिः।
भेदाभेदौ प्रसङ्क्तव्यौ ग्राह्यग्राहकयोर्यथा।।४१।। मी० श्लो० वा०

१८६. तस्मादत्यन्तभेदो वा कथञ्चिद्वापि भिन्नता।
सन्तानस्येत्ययं चात्मा स्याद् वैशेषिकसांख्ययोः।।४२।। मी० श्लो० वा०

१८७. सन्तानोऽयं स एवेति न त्वभेदाद् विना भवेत्।
वायुदीपादिसन्ताने वायुत्वादिनं भिद्यते।।४३।। मी० श्लो० वा०

१८८. ज्ञानत्वेनापि भिन्नत्वं शून्यवादे निराकृतम्। -वही

के मत से स्वीकृत चित्तधारा स्वरूप वासना से भी कालान्तर में फल की निष्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि क्षणिक चित्तों से न कोई वासित हो सकता है, न कोई किसी को वासित कर सकता है। इसी रीति से कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व का निराकरण 'निलम्बनवाद' में किया जा चुका है।[१८९]

बौद्धगण वासना को तो इसलिए स्वीकार करते हैं कि मीमांसाकों की तरह क्रिया न रहने पर भी अपूर्व की तरह कर्त्ता में फल का संपादन हो सके। किन्तु फल कालपर्यन्त विज्ञान स्वरूप कर्त्ता की सत्ता ही जब संभावित नहीं है तो उक्त वासना से कौन वासित होगा? अत: 'वासना' की कल्पना ही व्यर्थ है।[१९०]

यदि यह कहो कि वासना से विज्ञानों का सन्तान वासित होगा तो फिर प्रश्न होगा कि वह सन्तान नित्य है, अथवा क्षणिक है। यदि नित्य मानोगे तो क्रिया के न रहने से वह 'अर्थक्रियाकारी' नहीं होगा। अर्थक्रियाकारित्व के न रहने से वह 'अवस्तु' हो जायेगा। अवस्तु किसी से वासित कैसे होगा, क्योंकि वस्तु ही वासित होता है? यदि सन्तान को क्षणिक मानोगे तो फल के समय तक उसकी सत्ता ही नहीं रहेगी जिससे उसका भोत्तृत्व ही अनुपपन्न हो जायेगा।[१९१]

यदि यह कहो कि क्षणिक विज्ञान में रहने वाली वासना यद्यपि अपने आधार भूत विज्ञान के नष्ट होते ही विनष्ट हो जाती है, फिर भी तज्जनित दूसरा विज्ञान स्व सजातीय दूसरी वासना को उत्पन्न करके ही विनष्ट होता है। इस प्रकार वासनाओं से युक्त विज्ञानों की जो धारा चलती है, इस धारा का अन्तिम विज्ञान ही भोक्तृत्व रूप वासना से युक्त विज्ञान है, अर्थात् भोक्ता है। किन्तु ऐसी कल्पना करने पर 'कृतनाश' और अकृताभ्यागम 'इन दोनों ही दोषों की आपत्ति होगी, क्योंकि इस पक्ष में कर्तृविज्ञान और भोक्तृ विज्ञान दोनों भिन्न-भिन्न ही होंगे। विभिन्न कालिक होने के कारण इन दोनों में तादात्म्य नहीं हो सकता।[१९२]

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि देवदत्त स्वरूप कर्तृविज्ञान एवं देवदत्त स्वरूप ही भोक्तृविज्ञान दोनों यद्यपि उसी प्रकार भिन्न हैं, जिस प्रकार देवदत्तविज्ञान से विष्णुमित्र विज्ञान भिन्न है, फिर भी दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि देवदत्त स्वरूप कर्तृविज्ञान से भिन्न होने पर भी भोक्तृविज्ञान उस

---

१८९. तथैव कर्मभिर्वेष्टा फलार्थं चित्तवासना।।४४।। मी० श्लो० वा०
१९०. न चात्र वासनाकालं किञ्चित्तमवस्थितम्।।४५।। मी० श्लो० वा०
१९१. अवस्तुत्वाच्च..........वास्यते।।४५।। मी० श्लो० वा०
१९२. तत्पारम्पर्यजातेऽपि भुञ्जाने.........कृतनाशाकृतागमौ।।४६।। मी० श्लो० वा०

कर्तृविज्ञान से उत्पन्न होता है। फलतः कथित कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान भिन्न होने पर भी परस्पर 'हेतुफलभावपन्न' है। इसलिए यह नियम किया जा सकता है कि कारण विज्ञान (कर्तृविज्ञान) के द्वारा अनुष्ठित कर्म का फल कार्य विज्ञान को प्राप्त होता है। किन्तु बौद्धों का यह 'हेतुफल भाव' वाला पक्ष ही सिद्ध नहीं हैं, क्योंकि उक्त दोनों ही विज्ञानों के क्षणिक होने के कारण दोनों में कार्य कारणभाव हो ही नहीं सकता।[१९३]

यदि किसी प्रकार दोनों के विज्ञानों में 'हेतुफलभाव' अर्थात् एक को हेतु दूसरे को उसका फल मान भी ले, तथापि 'कृतनाश' एवं 'अकृताभ्यागम' इन दोनों दोषों का परिहार नहीं होता, क्योंकि फल भोग के समय कर्तृविज्ञान का नाश हो जाता है, एवं भोक्तृविज्ञान के द्वारा कर्म अनुष्ठित ही नहीं है।[१९४]

यदि कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान इन दोनों को विज्ञान होने के कारण 'एक' मानेंगे अथवा दोनों को एक ही पृथिवी पर वास करने के कारण 'एक' मानेंगे और इसी एकता के आधार पर कृतनाश और अकृताभ्यागम का परिहार करेगे तो एकता के ये विज्ञानत्व और एक पृथिवी पर वास रूप हेतु तो यज्ञदत्तविज्ञान और विष्णुमित्रविज्ञान इन दोनों में भी समान रूप से हैं। अतः देवदत्त के द्वारा कृत कर्म का फल विष्णुमित्र को मिलना चाहिए। अतः यह समाधान भी बौद्धों का ठीक नहीं है।[१९५]

वस्तुतः बौद्धों के मत से कर्तृविज्ञानाश्रय पृथिवी और भोक्तृ विज्ञानाश्रय पृथिवी एक ही नहीं हैं। एवं दोनों में अनुस्यूत तत्काल पर्यन्त स्थायी कोई विज्ञानत्व भी नहीं है, क्योंकि उनके मत से सभी पदार्थ क्षणिक है।

पूर्वपक्षी ने कहा है कि जिस विज्ञान सन्तति से कर्तृविज्ञान उत्पन्न होता है, भोक्तृ विज्ञान भी उसी सन्तति के अन्तर्गत है। इसलिए कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान साक्षात् या परम्परा से एक ही विज्ञान के द्वारा निष्पन्न होने के कारण 'एक' है। अतः उक्त दोनों दोष नहीं हैं। किन्तु बौद्धों की यह उक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'यच्चित्तजत्व' नाम की कोई एक वस्तु बौद्धों के पक्ष में सम्भव नहीं हैं। कर्त्ता और भोक्ता में एकचित्तजत्व' के न रहने से दोनों 'यत्' और 'तत्'

---

१९३. सन्तानन्तरजेभ्यश्च............हेतुफलभावतः..........दुस्साधः।।४७।। वही

१९४. परिहारो नचानयोः। मी० श्लो० वा०

१९५. तस्मिन्नसत्यपि...........त्वमन्यथा,..........विशेषतः।।४८।। मी० श्लो० वा०

शब्द के अर्थ नहीं हो सकते। अतः यच्चित्तजं कर्तृविज्ञानम् 'तच्चित्तजमेव भोक्तृविज्ञानम्' इस प्रकार का प्रयोग संभव नहीं है, क्योंकि भिन्न वस्तुओं का परामर्श यत् और तत् शब्द से संभव नहीं है।[१९६]

इसलिए विज्ञानसन्तान को आत्मा मानने वाले बौद्धों को भी कथित 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' सवरूप दोनों दोषों से बचने के लिए कर्त्ता और भोक्ता दोनों को एक मानना ही होगा।[१९७]

पूर्वपक्ष ने यह कहा है कि यह अव्यभिचरित नियम नहीं है कि कर्त्ता और भोक्ता को एक होना ही चाहिए, क्योकि पिता अपने पुत्र को अपने से भिन्न जानते हुए भी उसकी फलप्राप्ति के लिए कर्म करता है। अतः भोक्ता यदि कर्त्ता से भिन्न भी है, तथापि उसे फल प्राप्त हो सकता है। अतः कथित दोनों दोष नहीं हैं।[१९८]

पूर्वपक्षी पुनः शंका करते हुए कहता है कि यह दोष भी नहीं है कि यदि कर्तृविज्ञान के द्वारा किये गये कर्म का फल उससे भिन्न भोक्तृविज्ञान में मानें तो देवदत्त विज्ञान के द्वारा किये गये कर्म के फल का भोग यज्ञदत्तविज्ञान में भी आपन्न होगा, क्योंकि एक पुरुष विज्ञान के द्वारा उपार्जित धन उसी पुरुष के वंशजों को मिलता है, अन्य पुरुषों के वंशजों को नहीं। यद्यपि स्ववंशज और परवंशज दोनों ही समान रूप से उपार्जन करने वाले पुरुष से भिन्न हैं फिर भी जिस प्रकार स्ववंशज ही उस पुरुष के द्वारा उपार्जित धन के अधिकारी होते हैं। उसी प्रकार सन्तान के अन्तर्गतं कर्तृविज्ञान के द्वारा अनुष्ठित कर्म का अधिकारी उक्त सन्तान के अन्तर्गत भोक्तृविज्ञान ही होगा, भले ही भोक्तृविज्ञान और अन्य विज्ञान दोनों की समान रूप से कर्तृविज्ञान ही होगा, भले ही भोक्तृविज्ञान और अन्य विज्ञान दोनों ही समान रूप से कर्तृविज्ञान से भिन्न हों।[१९९]

सिद्धान्ती ने इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा है कि बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार स्ववंशज पुत्र पौत्रादि में आत्मीयत्व की अर्थात् अभेद की बुद्धि होती है, उसी प्रकार कर्तृविज्ञान और भोक्तृविज्ञान

---

१९६. समान इति.............विना।

तेन यच्चित्तजं.............इति वो मृषा।।४९।। मी० श्लो० वा०

१९७. तेनैकात्मकतैवष्टव्या तत्सन्तानान्मवादिभिः।।५०।। मी० श्लो० वा०

१९८. नन्वन्यत्वं...........पुत्रादिफलसिद्धये। प्रवर्तन्ते...........अपि।।५१।। मी० श्लो० वा०

१९९. अन्यत्वे च समानेऽपि..............................क्षणाः।।५२।। वही

दोनों एक सन्तानान्तर्गत होने पर भी दोनों में आत्मीयत्व की (अभेद की) बुद्धि नहीं होती है।[२००]

दूसरी बात यह है कि पिता-पुत्र का दृष्टांत ही उपयुक्त नहीं है, क्योंकि पुत्र का भरण पिता केवल उसी के फल की इच्छा से नहीं करता है, किन्तु वृद्धावस्था में 'यह मेरा भी भरण करेगा' इस आत्मफलेच्छा से प्रेरित होकर भी पिता-पुत्र का भरण करता है। आत्मफलमूलक पुत्र के भरण की पिता की प्रवृत्ति आम लोगों (बौद्धों) के मत से उपपन्न नहीं होगा। ('न वाऽरे पुत्रस्य कामाय पुत्र-प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति"-वृहदारण्यक)। इस दृष्टान्त असिद्धि के कारण भी बौद्धों का उक्त समाधान ठीक नहीं है।[२०१]

पुत्र के भरण से भिन्न बार्द्धक्य में पिता के स्वभरण की इच्छा को छोड़कर भी पुत्र के भरण का समर्थन किया जा सकता है, क्योंकि मनु ने कहा है-

बृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः।

आप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्।।

अर्थात्-वृद्ध, माता-पिता, साध्वी पत्नी एवं शिशु पुत्र इन सभी का पालन सौ अकर्त्तव्य करके भी करना चाहिए। इस वचन के अनुसार पुत्र का भरण स्वागत पुण्य स्वरूप फल के लिए भी किया जा सकता है। अर्थात् पुत्र के उपकार के लिए ही पुत्र का भरण नहीं किया जाता है।[२०२]

जो पिता वृद्ध होने के पहिले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उस पिता को तो पुत्र के भरण से प्राप्त होने वाला स्वभरण स्वरूप फल भी प्राप्त नहीं होता।[२०३]

यदि बौद्ध दार्शनिक सामानान्तर प्रत्यय स्वरूप बुद्धि से दूसरी बुद्धि की उत्पत्ति न मानकर शरीरादि भूतपदार्थों से ही बुद्धि की उत्पत्ति मानें तो कलल, बुदबुद् एवं मूर्च्छादि अवस्थाओं में भी ज्ञान की सिद्धि के लिए जो अनुमान वे दार्शनिक लोग उपस्थित करते हैं, उस अनुमानकाल से कोई दृष्टांत नहीं मिलेगा।

---

२००. न तावद् बुद्धिरत्रैवमपि चात्मफलेच्छया।।५३।। मी० श्लो० वा० ५३.
२०१. अपि च........आत्मफलेच्छया..........नास्ति ते।।५३।। मी० श्लो० वा०
२०२. फलान्तरमनुद्दिश्य.........निभ्रत्ति।। मी० श्लो० वा०।
२०३. विनष्टस्य तु.........भरणात् फलम्।।५४।। मी० श्लो० वा०

बौद्धों के उक्त अनुमान स्वारस्य है कि मूर्च्छादि अवस्थाओं के बाद उत्पन्न प्रथम बुद्धि भी स्वाव्यवहित पूर्ववर्त्ती किसी बुद्धि से ही उत्पन्न होती है। अतः मूर्च्छादि अवस्थाओं में भी बुद्धि रहती है भले ही वह अव्यक्तावस्था में रहे।[२०४]

इस अनुमान में जिन द्वितीयादि बुद्धियों को दृष्टान्त रूप में उपस्थित किया गया है वे यदि शरीर से ही उत्पन्न होती हैं, तो उनमें बुद्धन्तरपूर्वकत्व स्वरूप हेतु ही नहीं है, अतः वे दृष्टांत कैसे हो सकती है? इसलिए बौद्धगण शरीर को चैतन्य का आश्रय नहीं मान सकते।

यदि उक्त ज्ञान की स्थिति को बिना आधार के ही मान लें, तो फिर वह 'शक्ति' आत्मस्वरूप ही होगी, भले ही उसे आत्मा शब्द से अभिहित न कर 'शक्ति' नाम से ही पुकारे, क्योंकि उसकी सत्ता तो आगे की दूसरी बुद्धियों की उत्पत्ति के लिए मानना आवश्यक है।

यदि मूर्च्छादि अवस्थाओं में रहने वाली ज्ञान की अव्यक्तावस्थारूपा शक्ति का आधार किसी को मानेंगे तो वह आधार ही आत्मा होगी।[२०५]

बौद्ध चूंकि अमूर्त हैं, अतः उसमें क्रिया नहीं होती, निष्क्रिय वस्तुओं में सञ्चार नहीं होता। इसलिए एकदेहस्थ बुद्धि का संचार दूसरे देहों में नहीं हो सकता' मीमांसकों के इस कथन पर बौद्धों का आक्षेप है कि मूर्त्त पदार्थों का भी क्रियावश दूसरे देहों में गमन सम्भव नहीं है, क्योंकि सभी पदार्थ क्षणिक है, क्षणिक पदार्थों में क्रिया नहीं हो सकती। इसलिए एक क्षण के समान ही दूसरे क्षणों में क्रियाओं की भी परम्परा ही चलती है। जैसे जल के एक बुद्बुद् से तत्सदृश दूसरे बुद्बुद की उत्पत्ति होती है अथवा दीप की एक ही ज्वाला से अन्य ज्वालाओं की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार एक बुद्धि से दूसरी बुद्धियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार बुद्धि का देहान्तसंचार अनुरपपन्न नहीं है।[२०६]

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिस जलबुद्बुद् का आधार भी जल है, एवं ज्वाला दृष्टांत का भी आधार दीप है ही। किन्तु बुद्धि का कोई इस प्रकार का आधार नहीं है।

अतः 'कृतनाश' और 'अकृताभ्यागम' इन दोनों ही दोषों के परिहार के

---

२०४. तथैवोत्तरकालेऽपि...........न विद्यते।।७०।। मी० श्लो० वा०
२०५. शक्त्याधार प्रक्लृप्तौ..........................प्रकलप्यते।।मी० श्लो० वा०
२०६. ज्वालाबुद्बुद्.........................धियाम्।।७२।। मी० श्लो० वा०

लिए 'नित्यपुरुष (आत्मा) की कल्पना आवश्यक है। चूंकि वह भोक्ता है, इसलिए वह 'चेतन' भी है। दूसरे देहों के साथ सम्बद्ध होने के लिए उसको 'विभु' भी मानना ही होगा, क्योंकि 'विभु' पदार्थ बिना क्रिया के भी अनेक वस्तुओं के साथ सम्बद्ध हो सकता है। देह के साथ आत्मा का 'आयतनत्व' रूप सम्बन्ध है। देहस्वरूप आयतन में आत्मा भोग करता है। जैसे 'विचाराधिकरण' में ही राजा विचार करता है।'

आत्मा यदि विभु है तो उसे निष्क्रिय मानना होगा निष्क्रिय व्यक्ति कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वह कर्त्ता नहीं होगा तो कर्तृवाचक 'यजमान' शब्द से अर्थात् 'एष यज्ञायुधी यजमान': इत्यादि वेदवाक्यों में प्रयुक्त यज्ञमान शब्द से उसका बोध ही कैसे होगा? यह आक्षेप जो 'नचास्य यजमानत्वम्' (श्लोक-१०) इत्यादि से उठाया गया है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा सक्रिय है, निष्क्रिय नहीं। यह सत्य है कि परिस्पन्द रूपा क्रिया उसमें नहीं है, क्योकि वह विभु है, मूर्त्त नहीं। किन्तु कणाद ऋषि के अनुयायी वैशेषिकों की तरह हम लोग उत्क्षेपणादि पाँच प्रकार के परिस्पन्दों को ही क्रिया नहीं मानते।[२०७]

यह नियम नहीं है कि कर्त्ताओं से स्वसमवेता क्रिया का ही सम्पादन हो, क्योंकि कर्त्ता अन्य (सहायक) कर्त्ताओं में भी धात्वर्थ स्वरूप क्रिया का सम्पादन करता है। धातु के जितने भी अर्थ हैं, वे सभी 'क्रिया' हैं। अर्थात् धात्वर्थ ही क्रिया है वह 'परिस्पन्द' रूप भी हो सकती है, अन्य स्वरूप भी हो सकती है। यह भी नियम नहीं है कि कर्त्ता कर्म का अवश्य ही आधार हो। कर्त्ता से भिन्न वस्तुओं में क्रिया के रहने पर भी कर्त्तृत्व का सम्पादन हो सकता है।

अस्पन्द स्वरूप (धात्वर्थ रूप) सत्ता, ज्ञान, यागादि क्रियाओं का आत्मा साक्षात् ही आधार है।[२०८]

यदि स्पन्द रूप क्रिया मात्र से कर्त्तृत्व को स्वीकाद करें और स्पन्द रूपा क्रिया केवल मूर्त्त द्रव्य में ही रहे, तथापि आत्मा को कर्त्ता होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि आत्माधिष्ठित द्रव्य में ही कर्त्तृत्व के अनुकूल चेष्टा रूपा क्रिया की उत्पत्ति होती है। मृत देहादि जो आत्माधिष्ठित नहीं है, उनमें उक्त क्रिया की

---

२०७. यज्ञमानत्वमाप्यात्मा.........प्रपद्यते.............कणभोजिवत्।।७४।। मी० श्लो० वा०
२०८. सत्ताज्ञानादि रूपाणां कर्त्ता तावत् स्वयं पुमान्।।७६।। मी० श्लो० वा०

उत्पत्ति नहीं होती है। अत: यही युक्त है कि आत्मा ही परिछन्द क्रिया का भी प्रयोजक है, भले ही उन क्रियाओं का स्वतन्त्रकर्त्ता भौतिक पदार्थ ही हो।

अथवा आत्मा में जब भूत में क्रिया को उत्पन्न करने का उद्देश्य रहता है, तभी देह इन्द्रिय प्रभृति भूत पदार्थ क्रियाशील होते हैं। अत: भूत पदार्थों में क्रिया की उद्देश्यता ही आत्मा का कर्त्तृत्व है। इसलिए देहादि भौतिक पदार्थों में जितनी भी क्रियायें होती हैं; वे सभी आत्मा से ही उत्पन्न हुई कही जाती हैं।

क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्तृत्व भी आत्मा में ही है, क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्ता भी आत्मा ही है, क्योंकि भौतिक पदार्थ आत्म परिग्रह के बिना क्रिया के उत्पादन में अक्षम होने के कारण अस्वतन्त्र है। अत: आत्मा ही भूतगत परिस्पन्द रचना क्रिया का भी स्वतन्त्र कर्त्ता है।

अथवा आत्मा धर्म और अधर्म के द्वारा क्रियाशील जिन देहेन्द्रियादि भौतिक पदार्थों का अर्जन करता है, वह अर्जन ही आत्मा में कर्त्तृत्व का प्रयोजक व्यापार है, क्योंकि देहेन्द्रियादि के अर्जन स्वरूप व्यापार के बिना आत्मा में किसी क्रिया की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। इस प्रकार ऋत्विजों के द्वारा परशु में जो क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया का कर्त्तृत्व यजमान में ही माना जाता है।[२०९]

जिस प्रकार ऋत्विक् के द्वारा सोमपरिक्रय विहित होने के कारण ऋत्विक् के द्वारा की गयी सोमपरिक्रय रूप क्रिया का कर्त्तृत्व यजमान में मानते हैं, उसी प्रकार भूत में उत्पन्न क्रिया के द्वारा ही आत्मा में कर्त्तृत्व माना जा सकता है।[२१०]

जिस प्रकार धात्वर्थ स्वरूपा अपरिस्पन्दात्मिका क्रिया यजमान में नहीं रहती है, किन्तु ऋत्विक् में रहती है, फिर भी सोमक्रम रूप धात्वर्थात्मक क्रिया का कर्त्ता यजमान होता है, उसी प्रकार देहादि में रहने वाली परिस्पन्दात्मक गमनादि क्रियाओं का कर्त्तृत्व भी आत्मा में स्वीकार किया जा सकता है।

अथवा जिस प्रकार लकड़ी में रहने वाली छिद्धात्वर्थ रूपा छेदन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त होता है। तदनुसार ही 'देवदत्त: काष्ठं छिनत्ति इत्यादि प्रयोग होते हैं) उसी प्रकार शरीर में रहने वाली धात्वर्थ रूपा परिस्पन्दात्मिका गमनादि

---

२०९. तत्कर्मोपार्जितैश्चैतै:..............कर्मसु। कर्तृता...........कर्मवत्।।७९।। मी० श्लो० वा०

२१०. यथापरिकयाम्नानाद्....................भूतद्वारत्वमाश्रितम्।।८०।। मी० श्लो० वा०

क्रियाओं का भी कर्त्ता आत्मा हो सकता है अर्थात् अन्यसमवेत क्रिया से भी कर्तृत्व का निष्पादन हो सकता है।

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि यह ठीक है कि द्वैधीभाव स्वरूप फल को उत्पन्न करने वाले उद्यम-निपातनादि व्यापारों के 'योग' (सम्बन्ध) से देवदत्त में काष्ठागत छेदन क्रिया की कर्त्तृता है। किन्तु आत्मा में शरीरगत गमनादि क्रियाओं का कर्त्तृत्व किस सम्बन्ध के कारण रहेगा? इस शंका का उत्तर देते हुए कहा है कि–

यदि धात्वर्थ स्वरूप व्यपार से भिन्न व्यापार के द्वारा भी कर्त्तृत्व की उपपत्ति 'देवदत्तः काष्ठं छिनत्ति' इत्यादि स्थलों में देवदत्त में हो सकती है तो शरीर निष्ठ गमन क्रिया के तदनुकूल प्रयत्न स्वरूप कर्त्तृत्व की उपपत्ति भी आत्मा में स्वीकार की जा सकती है इसमें 'सत्ता' स्वरूप व्यापार के द्वारा सभी क्रियाओं का कर्त्तृत्व आत्मा में है। एवं सङ्कल्प, प्रर्यन्त प्रभृति व्यापारों के द्वारा आत्मा विभिन्न क्रियाओं का कर्त्ता है, अर्थात् कुछ क्रियाओं में संकल्प के द्वारा एवं कुछ क्रियाओं में प्रयत्नादि के द्वारा आत्मा सहायक है।

जिस प्रकार देवदत्त में परिस्पन्द रूपा क्रिया होती है, उस प्रकार आत्मा में परिस्पन्दनात्मक क्रिया के न रहने से कर्त्तृत्व में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि कर्त्तृत्व के लिए अपेक्षित धर्म सर्वत्र एक ही प्रकार के नहीं होते। छेदन स्वरूप एक ही क्रिया की सैनिक तलवार चलाकर निष्पन्न करता है, सेनापत्ति उसी छेदन क्रिया में सैनिक को अपने वचनमात्र से नियुक्त करता है जब कि राजा तो अपनी सत्ता मात्र से बिना एक शब्द निकाले ही उस छेदन क्रिया का प्रायोजक होता है।

'तस्मात्' जिस प्रकार देवदत्त में द्विधाभाव स्वरूप भोक्तृत्व के न रहने पर भी तदनुकूल उद्यमनिपातनादि के द्वारा भेत्तृत्व (भेदन क्रियाकर्त्तृत्व) की उपपत्ति होती है, उसी प्रकार आत्मा में चलन क्रिया के न रहने पर भी तदनुकूल संकल्प प्रयत्नादि के द्वारा कर्त्तृत्व की उपपत्ति हो सकती है।

यदि यही आग्रह हो कि कर्त्ता में चलनात्मक कर्म को रहना ही है तो इसकी भी उपपत्ति आत्मा में इस प्रकार की जा सकती है कि पूर्वजन्म के शरीरादि भूत पदार्थों में रहने वाले जो याग-हिंसादि परिस्पन्दनात्मक कर्म थे, उनके द्वारा प्राप्त इस जन्म के शरीरादि भूत पदार्थों में विद्यमान उन परिस्पन्दनात्मक कर्मों के द्वारा ही आत्मा के कर्त्तृत्व है।[२११]

---

२११. कर्मान्तरैर्यदा दानं.....................................पुनः॥८८॥ मी० श्लो० वा०

इसी प्रकार उस जन्म में जो उससे भी पूर्वजन्मों के कर्मों के द्वारा आत्मा में क्रिया के कर्तृत्व की उपपत्ति की जा सकती है। संसार चूंकि अनादि है, अतः इस प्रकार की कर्म परम्परा को स्वीकार कर लेने से अनवस्था की आपत्ति नहीं दी जा सकती।[२१२]

पूर्वपक्षी ने प्रश्न करते हुए कहा है कि यदि स्व से भिन्न शरीरादि भूत पदार्थों के द्वारा किये गये कर्म से पुरुष (आत्मा) बद्ध होता है तो फिर जिस आत्मा के अपने कर्म क्षीण (विनष्ट) हो चुके हैं उसे दूसरी आत्मा से किये गये अप्रक्षीण कर्मों से भी बन्ध की आपत्ति होगी, क्योंकि अनात्मीयत्व तो सभी कर्मों में समान हैं इस पूर्वपक्ष का यह उत्तर है कि–आत्मा के अपने शरीर से किये गये कर्मों का जब विनाश हो जाता है, तो दूसरी आत्माओं के शरीरों से किय गये अप्रक्षीण कर्मों से भी वह बद्ध नहीं होता है।[२१३]

चूंकि नियमतः उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी से बने 'यूप' में ही 'उद्गाता' के द्वारा 'अन्वारम्भण' क्रिंया होती है अतः (यूप का निर्माण चूँकि नियमतः उदुम्बर काष्ठ से ही होता है इसलिए उक्त अन्वारम्भग क्रिया नियमतः यजमान कर्तृक होने पर भी उदुम्बरकर्तृक भी कहलाती है। तदनुसार ही औदुम्बरो यूपः' इस श्रौत्रवाक्य में 'औदुम्बर' यह कर्तृप्रत्ययान्त पद प्रयुक्त है। किन्तु काष्ठ तो अचेतन है, अतः उसमें कृतिमूलक कर्तृत्व का मुख्य व्यवहार सम्भव नहीं है। इसलिए इस स्थल में यजमान के शरीर के द्वारा ही काष्ठ में कर्तृता माननी होगी।

'तस्मात्' जिस प्रकार आकृति (जाति) में ही शास्त्र (शब्द) की अभिधेयता युक्तियों से सिद्ध है फिर भी व्यक्ति के द्वारा ही वह निष्पन्न होती है, उसी प्रकार आत्मा में ही यद्यपि मुख्य कर्तृत्व है, किन्तु उसकी निष्पत्ति शरीर के द्वारा ही होती है।[२१४]

पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति करते हुए कहा गया है कि सुखादि चूंकि शरीर के अन्तः प्रदेश में रहते हैं, अतः उनमें इन्द्रियों का उचित सम्प्रयोग संभव नहीं है इसीलिए सुखादि का प्रत्यक्ष दूसरे को नहीं हो पाता। अर्थात् जिस प्रकार कुडयादि से व्यवहित राजदारादि का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु इस अप्रत्यक्ष से

---

२१२. तानि भूतान्तरेभ्यश्च..................विद्यते।।८९।। मी० श्लो० वा०

२१३. कर्मक्षयात् त्वनात्मीयैः..............................लिम्पति।।८९।। वही

२१४. "तस्मात् यथाकृतौ..............................भूतेन्द्रियसमाश्रयः।।९१।। मी० श्लो० वा०

राजदारदि अतीन्द्रिय नहीं हो जाती, क्योंकि अन्तःपुर स्थित मनुष्यों को राजदारादि का प्रत्यक्ष होता है। अतः सुखादि का प्रत्यक्ष भी किसी अन्य पुरुष को हो सकता है। अतः दूसरों को इन्द्रिय के द्वारा उपलभ्य न होने से यह सिद्ध नहीं होता है कि 'सुखादि' शरीर के गुण नहीं हैं।[२१५]

इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि शरीर को खण्डित कर देने से भी शरीर के अन्तः प्रदेश में रूपादि गुणों की उपलब्धि होती है, किन्तु सुखादि की उपलब्धि नहीं होती है। अतः जिस प्रकार (मनोबुद्ध्यादि) शरीर के गुण नहीं है, उसी प्रकार सुखादि भी शरीर के गुण नहीं हैं।[२१६]

सुखादि शरीर के गुण नहीं हैं केवल इतने से ही 'सुखादि आत्मा के गुण है' यह निष्पन्न नहीं हो जाता। इसके लिए स्वतन्त्र प्रमाण चाहिए। इस औत्सुक्य का निवारण इस प्रकार किया जा सकता है कि–

सुखादि चूंकि गुण है, अतः रसादि के समान ही उनका कोई आश्रय अवश्य है। शरीर उनका आश्रय नहीं है। सुतराम शरीर से भिन्न सुखादि का जो आश्रय है, वहीं है आत्मा, इस प्रकार सुखादि में शरीरगुणत्व के निराकरण का आत्मा की सिद्धि में उपयोग समझना चाहिए। इस प्रसंग में निष्पन्न अनुमानों के प्रयोग में लिखा जा चुका है।

पूर्वपक्ष की ओर से शंका करते हुए कहा है कि यदि अहम् प्रत्यय के विषय में आत्मा को सिद्ध करने का प्रयास होता है तो यह क्यों न माना जाए, कि देह और आत्मा में जों अभेद की भ्रान्ति है, उससे ही अहं प्रत्यय के विषय आत्मा में कृशता प्रभृति धर्मों की भ्रान्ति होती है। अतः अहं प्रत्यय के विषय में कृशता आदि के सामानाधिकरण (अभेद) की प्रतीति भ्रान्ति रूप ही है।

पुनः शंका करते हुए कहा है कि तो फिर अहं प्रत्ययबोध्य में कृशता, स्थूलता प्रभृति देहधर्मों के सामानाधिकारण मूलक अहं कृशः, अहं स्थूलः, इत्यादि प्रतीतियाँ कैसे होती है?

इस उक्त शंका का उत्तर देते हुए कहा है कि देह और आत्मा दोनों को अभिन्न समझने की भूल से ही कृशता और स्थूलता का अध्यास (भ्रम) अहं पद बोध्य आत्मा में होता है। अहं पद बोध्य में कृशता और गुरुता की प्रतीति को

२१५. अन्तःस्थितेर्न दृष्टिश्चेत्।।९१।। मी० श्लो० वा०

२१६. पातितेऽप्यनुपग्रहात्..........न सुखादि.........गुणः।।९२।। मी० श्लो० वा०

भ्रम इसलिए मानते हैं कि मेरा शरीर 'गुरु' (स्थूल) है, मेरा शरीर कृश है 'इत्यादि आकारों के प्रत्यय अहं पद बोध्य के सम्बन्ध से युक्त अत एव उससे भिन्न शरीर में ही होते हैं। अर्थात् इन बाधक प्रतीतियों से आत्मा में देह का अभेद बाधित होकर आत्मा में देह के कृशता प्रभृति धर्मों की प्रतीतियों को भ्रान्ति स्वरूप करार देता है।[२१७]

इसी प्रकार 'इदं मम इन्द्रियम् ईदृशं तस्य चक्षुः, मे मनः श्रान्तम् अर्थात् यह मेरी इन्द्रिय है उसकी आँख इस तरह की है, मेरा मन श्रान्त है इत्यादि आकारों को प्रतीतियों से चूंकि चक्षु, मन प्रभृति इन्द्रियों में अहं प्रत्यय बोध्य आत्मा का भेद सिद्ध है, अतः इन्द्रियों में अज्ञातृत्व की भी सिद्धि जाननी चाहिए। अतः 'ज्ञाता' जैसे देह से भिन्न है, उसी प्रकार इन्द्रियों से भी भिन्न है।[२१८]

पूर्वपक्षी ने प्रश्न उठाते हुए कहा है कि 'कृशोऽहम्, स्थूलोऽहम्' इत्यादि प्रतीतियों की तरह 'कृशं मे शरीरम्', 'स्थूलं मे शरीरम्' इत्यादि प्रतीतियाँ भी होती हैं। इनमें देह में आत्मा के अभेद की पर्यवसायिनी प्रथम प्रकार की दोनों प्रतीतियों को भ्रम मानने में एवं देहादि में आत्मा के 'भेदपर्यवसायिनी' अन्य दोनों प्रतीतियों को प्रमा मानने में कौन सी विशेष युक्ति? समान युक्ति से उल्टा भी तो कहा जा सकता है?

इस उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि पहले से यह सिद्ध है कि 'शरीर ज्ञाता नहीं है'। अतः शरीर में ज्ञातृत्वपर्यवासयिनी 'कृशोऽहम्' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रम मानते हैं। ज्ञाता से भिन्न होने पर भी शरीर से चूंकि उसका धनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः तत्सम्बन्ध मूलक शरीर और आत्मा में अभेदपर्यवासयिनी 'अहं कृशंः' इत्यादि प्रतीतियाँ होती है।[२१९]

पुनः आपत्ति करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार 'मम शरीरम् ममेन्द्रियाणि' अर्थात् यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं। शरीरादि में अहं पर बोध्य आत्मा का व्यवहार होता है, उसी प्रकार 'ममात्मना नायमर्थो ज्ञातः (अर्थात् –मेरी आत्मा इस विषय को नहीं जानती।) इत्यादि प्रकार के अहं पद बोध्य आत्मा से भिन्न एक आत्मा का भी व्यवहार होता है। इस व्यवहार के द्वारा अहं

२१७. भ्रान्ति सा भेद रूपं.......................तदितीष्यते।।१२७।। मी० श्लो० वा०
२१८. इदं ममेदृशं...दृश्यते।।१२८।। वही
२१९. अज्ञातृत्वस्य....................स्यादभेदमतिभ्रमः।।१२९।। मी० श्लो० वा०

पद बोध्य आत्मा से भिन्न एक आत्मा की भी सिद्धि होती। किन्तु सो अयुक्त है।

इस आपत्ति का समाधान करते हुए कहा है कि उक्त व्यवहार आत्मा की एक प्रकार की दूसरी अवस्था को स्वीकार करके किया जाता है। 'मम' शब्द के अर्थ एवं आत्मा इन दोनो को अभिन्न समझकर उक्त व्यवहार नहीं किया जाता। अतः दूसरी आत्मा की आपत्ति इससे नहीं होती हैं।[२२०]

कोई कहता है कि जहाँ कहीं आत्मा शब्द के साथ 'मम' शब्द का व्यवहार होता है, उन सभी स्थलों में 'आत्मा' शब्द से शरीर का ही बोध इष्ट है। अतः आत्मान्तर की कथित आपत्ति नहीं है। किन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योकि 'मम' शब्द मुख्यतः ज्ञाता का ही वाचक है। आत्मा हो ज्ञाता है। अतः आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ 'मम' शब्द का मुख्यार्थ नहीं हो सकता। इसलिए अवस्थान्तर के द्वारा वहीं 'ममात्मा' इत्यादि भेदमूलक व्यवहारों का हेतु हो सकता है।

ज्ञान के भेद से ही वस्तुओं में भेद होता है 'ममात्मना' नायमर्थो ज्ञातः" इत्यादि स्थलों में एक आत्मा से भिन्न किसी दूसरी आत्मा की प्रतीति नहीं होती है। अतः उक्त स्थलों में दूसरी आत्मा की प्रतीति स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिए शरीर में आत्मा की प्रतीति भ्रान्ति स्वरूप ही है।

जिन्हें आत्मा और शरीर 'नाना' है, अर्थात् भिन्न हैं, इस प्रकार की बुद्धि नहीं है (फलतः जिन्हें देह के ही आत्मा समझने की भ्रान्ति है) उन्हीं को देह में अहम् बुद्धि होती है।[२२१]

उन (देहात्मवादियों) को भी देह को ज्ञाता समझने के कारण ही देह में 'अहम्' प्रत्यय होता है। फलतः देह की आत्मा ज्ञातविषयक ही है। इसलिए शरीर को आत्मा समझना भूल ही है।[२२२]

जिन लोगों को श्रवण मननादि के द्वारा शरीर और आत्मा में नानात्व (भेद) का ज्ञान ध्रुव है, उन्हें कभी भी देह में आत्मा की बुद्धि अर्थात् 'अहं प्रत्ययं' नहीं होता है योगियों को ज्ञाता में जो अहं प्रत्यय की निवृत्ति की बात कही जाती है

---

२२०. ममात्मेति..................................कल्पना।।१३०।। वही
२२१. ये चेहाज्ञात............................अहं मति।।१३२।। मी० श्लो० वा०
२२२. तत्रापि..............................आत्मनि।।१३३।। वही

वह भी प्रशंसामूलक ही है, क्योंकि उस समय भी 'अहं जानामि' इस प्रकार की प्रतीति की अनुवृत्ति अवश्य रहती है।[२२३]

यदि योगियों को अहं प्रत्यय न हो तो योगाङ्ग 'ध्यान' ही अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि समान विषयक आत्म बुद्धि की अविच्छिन्न धारा को ही 'ध्यान' अथवा 'उपासना' कहा जाता है अपनी आत्मा का ज्ञान 'अहम्' इसी प्रकार का हो सकता है। यह अहं प्रत्यय योगियों को भी रहता है। योगियों में यदि अहं प्रत्यय की सत्ता न माने तो शिष्यों को उनका उपदेश भी अनुपपन्न हो जायगा। अतः योगियों को भी आत्मा का ज्ञान अवश्य ही होता है। केवल 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं स्पृशामि' इत्यादि आकारों की स्वात्म विषयक प्रत्यभिज्ञाओं से ही आत्मा में 'अहं प्रत्ययविषयत्व' का उपपादन नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरों की आत्मा में भी अहं प्रत्ययविषयत्व प्रतीति अनुमान प्रमाण से होती है।

यदि कोई पुरुष किसी शास्त्र के उत्तरार्द्ध के अध्ययन में प्रवृत्त दिखता है तो उसकी इस प्रवृत्ति से उस पुरुष में यह अनुमान अवश्य होता है। (अयं पुरुषः 'अहं पूर्वार्द्ध शास्त्रार्थज्ञानवान्' इत्ततज्जानवान् एतज्जानं बिना उत्तरार्द्धप्रवृत्त्यनुपपत्तेः) अर्थात्–पुरुष अनुमान करता है कि इस पुरुष को 'मुझे शास्त्र के पूर्वार्द्ध का ज्ञान है' इस प्रकार का अहंकारात्मक ज्ञान अवश्य है। अन्यथा यह पुरुष शास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति आदि से ही शास्त्र को पढ़ता है। अतः अनुमान से भी आत्मा में अहं प्रत्यय विषयत्व का अनुमान होता है।[२२४]

इस प्रकार सार्वजनीन आत्मा की उन प्रत्यभिज्ञाओं से नैरात्म्यवादियों का यह अनुमान 'जीवच्छरीरं निरात्मकं शरीरत्वान्मृतशरीरवत्' (जीवन से युक्त शरीर भी चूंकि मृत शरीर के समान शरीर ही है, अतः उसी के समान आत्मा से रहित भी है–यह अनुमान बाधित हो जाता है। एवं नैरात्म्यवाद के साधक उक्त अनुमान को दूषित करने वाले 'ये' प्रतिहेतु भी हैं।[२२५]

(१) जो आत्मा कल अहं प्रत्यय के द्वारा गृहीत हुआ था, उस आत्मा की अनुवृत्ति (सत्ता) आज भी है; क्योंकि आज की प्रत्यभिज्ञा में विषयीभूत बोद्धा की तरह वह भी अहं प्रत्यय का विषय है।[२२६]

---

२२३. ये तु......................अहं कृताः।..............निवर्त्तते।।१३४।। वही
२२४. शास्त्रादावर्धविज्ञाते.......................पुनः।।१३५।। मी० श्लो० वा०
२२५. तेनास्मात् प्रत्यभिज्ञानात्....................प्रतिहेतवः।।१३६।। वही
२२६. ह्यस्तनाहम्मतिग्राह्यो..................बोधृवत्।।१३७।। वही

(२) किं वा यह प्रतिपक्षानुमान भी हो सकता है कि आज की प्रत्यभिज्ञा में विषय होने वाली आत्मा कल होने वाली प्रत्यभिज्ञा का भी विषय होगी, क्योकि दोनो ही दिनों में वह ज्ञातृत्व से युक्त रहेगी।

(३) अथवा इस प्रतिज्ञानुमान में ज्ञातृत्व के समान ही 'अहंप्रत्ययगम्यत्व' को भी प्रतिहेतु किया जा सकता है। तदनुसार यह प्रत्यनुमान होगा कल होने वाली प्रत्यभिज्ञा का भी विषयीभूत आत्मा उसी प्रकार आज की प्रत्यभिज्ञा का भी विषय है, क्योंकि दोनों ही दिनो में वह अहं प्रत्यय का विषय है।

(४) किं वा यह प्रतिपक्षानुमान भी किया जा सकता है कि 'एक सन्तान सम्बन्धिनोऽहं प्रत्यया: एकज्ञातृविषया: अहं प्रत्ययत्वात् अर्थात् अतीत (काल) और आज (वर्तमान) के एकसन्तानवर्ती जितने भी अहं प्रत्यय है, वे सभी चूंकि अहं प्रत्यय है,' अत: उन सभी प्रत्ययों में एक ही 'ज्ञाता' विषय है।

वेदों को प्रमाण मानने वाले जो प्रतिवादी अथवा शिष्य यो वा विज्ञानधन एवैतेभ्य भूतेभ्य: समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' (वृहदारण्यक उप.-६-५) इस वेदवाक्य के द्वारा ही नैरात्मत्म्यवाद का समर्थन करते हैं उन्हीं को समझाने के लिए भाष्यकार ने 'अविनाशी बाऽरे आत्मा' (वृह.-६-५) इस ब्राह्मणवाक्य का उल्लेख किया है।[२२७]

केवल उपनिषद् के वचनो से ही शरीरादि से भिन्न नित्य आत्मा का अस्तित्व प्रतिपन्न नहीं होता है, किन्तु 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम:' इत्यादि विधिवाक्य भी नित्य आत्मा के बिना अनुपपन्न होकर उसके अस्तित्व का आक्षेप करते हैं। आत्मा को समझाना चूँकि अति गहन है, अत: विधिवाक्यों के द्वारा आक्षिप्त आत्मा का ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन उननिषदों के द्वारा किया गया है।[२२८]

भाष्यकार ने यदि 'विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ विज्ञानमपास्य तन्निदर्श्यताम्' (शबर भाष्य पृ. ६०/ पृ० १)अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त यदि कोई ज्ञाता है तो उसे ज्ञान से अलग करके दिखलाये)।

यह पूर्वपक्ष उपस्थित कर 'स्वसंवेद्य: स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्,

---

२२७. वेदादेवा..............................ब्राह्मणाभिधा।।१४०।। मी० श्लो० वा०
२२८. अन्यथानुपपत्तेश्च..........................समर्थनम्।।१४१।। मी० श्लो० वा०

अशक्यत्वाच्च नासावपि शक्यते निदर्शयितुम्' अर्थात् आत्मा स्वसंवेद्य है, अतः उसे दूसरे को दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि एक की आत्मा को देखने की शक्ति दूसरी आत्मा में नहीं है। इस सन्दर्भ के द्वारा समाधान करते हुए जो 'शान्तायां वाचि किं ज्योतिरयं पुरुषः? आत्मज्योतिः सम्राडिद्रिति होवाच' यह ब्राह्मणवाक्य का उल्लेख किया है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि आत्मा को समझाने की शक्ति जब 'वचन' में समाप्त हो जाती है तो यह आत्मा किस 'ज्योति' के द्वारा अर्थात् किस प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होता है, क्योंकि वह सम्राट्' हैं अर्थात् वह सभी समार्थ्यों से युक्त है।

परात्मा की अवगति से जो स्वात्मा की उक्त 'अवगति' बतायी गई है, यह 'परात्माऽवगति' ही किस प्रकार होगी? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि 'यदाऽसौ पुरुषः' इस भाष्य के द्वारा यह उपपादन किया जा चुका है कि अविनाभूत चेष्टा से दूसरे की आत्मा का अनुमान होता है अनुमान का प्रयोग श्लोक १३५ की व्याख्या में लिखा जा चुका है।[२२९]

पूर्वपक्ष भाष्य में भूत चैतन्यवाद के लिए जो 'विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' इस उपनिषद् वाक्य का उल्लेख किया गया है,[२३०] यह वाक्य 'शरीरादि भूत ही आत्मा है' इस पक्ष का प्रतिपादक नहीं है, क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी को पहले तो आत्भा के अजर, अमर होने का उपदेश किया। फिर 'विज्ञानधन' इत्यादि वाक्य के द्वारा आत्मा को विनाशशील कहा। वाद में एक आत्मा कों 'असद्रूप' भी कहा, फिर सद्रूप भी कहा। इन नाना प्रकार के विरुद्ध मतवादों से विमूढ़ हाकर मैत्रयी ने प्रार्थना की कि 'अत्रैव मा भगवान् मोहान्तमापीपदत्' अर्थात् भगवान् मुझे इस प्रकार के नाना मतों के मोह में न डालें।

मैत्रेयी की इस प्रार्थना से पसीज कर महर्षि याज्ञवल्क्य ने न वा अरे! मोहं ब्रवीमि अविनाशी वा अरे! आयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति' इस वाक्य के द्वारा यह चरम उपदेश किया है कि मेरा अभिप्राय तुझे विभ्रम में डालने का नहीं है, मुझे तो इन मतभेदों से दूर अजर, अमर आत्मा के विशुद्ध तत्त्व को समझाने का है।

---

२२९. आत्मज्ञानाविनाभूतदृष्टचेष्टानिरूपणात्।
परेषामात्मविज्ञानमनुमानादुदाहृतम्।।१४५।। मी० श्लो० वा०

२३०. वृहदारण्यक अ० ६ ब्रा० ५

सिद्धान्त प्रतिपादक उक्त उपनिषद् वाक्य का यह अभिप्राय है कि 'आत्मा' तो स्वरूपतः अविनाशी 'नित्य' ही है। किन्तु उसी नित्य आत्मा को जब विनाशी से तत्सम्बद्ध पुरुष (आत्मा) में भी विनाशित्व का व्यवहार कुछ लोग करते हैं। उन लोगों के मत का ही प्रतिपादन 'तान्येवानुविनयति' इस वाक्य से किया गया है। तस्मात् 'भूतादि अर्थात् शरीर इन्द्रिय प्रभृति भूत पदार्थ और विज्ञान ये सभी 'अचेतन' है, आत्मा तो इन सभी अनित्य अचेतन पदार्थों से विपरीत नित्य और चेतन नही है।[२३१]

इस प्रकार प्रतिपादित होने पर भी 'आत्मा शरीरादि से भिन्न है' इस प्रकार का बोध स्थिर नहीं रहता, क्योंकि अहं स्थूलः अहं गच्छामि, इत्यादि प्रतीतियों के द्वारा शरीर में अहं प्रत्यय विद्यमान रहता है। फिर कौन सा ऐसा उपाय है जिससे 'आत्मा' शरीादि विनाशी पदार्थों से भिन्न है आत्मा का इस आकार का ज्ञान अविचल एवं दृढ़ हो?

इस उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि वेदों के प्रामाण्य की सिद्धि ही इस शास्त्र का प्रधान उद्देश्य है। यह काम 'आत्मा नित्य है' केवल इतने के प्रतिपादन से सम्पन्न हो जाता है। आत्मा शरीरादि पदार्थों से भिन्न एवं नित्य है' इस ज्ञान के दृढ़ होने के उपाय इस शास्त्र में नहीं कहे गये हैं। यही ज्ञान दृढ़ होने पर मोक्ष का उत्पादक होता है। मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान की दृढ़ता उपनिषद् की सेवा से प्राप्त होती है। अतः मोक्षोपयोगी आत्मज्ञान की जिन्हें अभिलाषा हो वे वेदान्त '(उपनिषद्)' का सेवन करें।[२३२]

डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक में आत्मा के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों का वर्णन करते हुए कहा है कि-मीमांसक आत्माओं के अनेकत्व की प्रकल्पना को मानते हैं।[२३३] इसलिए कि अनुभवों की विविधता को व्याख्या की जा सके। शरीरों की क्रियाओं से हम आत्मा के अस्तित्व का अनुमान करते हैं, क्योंकि बिना आत्मा की कल्पना के उनकी व्याख्या नहीं हो सकती। जिस प्रकार मेरी क्रियाएं मेरी आत्मा की कारण है, उसी प्रकार अन्य क्रियाएं अन्य आत्माओं के

२३१. अविनाशी स्वरूपेण..................भूतादीनामसंज्ञिता।।१४७।। मी० श्लो० वा०
२३२. इत्याह नास्ति..........................वेदान्तनिषेणवोन।।१४८।। वही
२३३. बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो भिन्नात्मा विभुर्ध्रुवः।
नानाभूतः प्रतिक्षेत्रमर्थ ज्ञानेषु भासते।। (सर्वसि० सारसग्रंह ६ः २०६) श्लो० वा० पृ० ५-७

कारण है। धर्म और अधर्म के भेद जो आत्माओं के गुण है, भिन्न-भिन्न आत्माओं के अस्तित्व के कारण ही है। यह दृष्टान्त कि जिस प्रकार एक सूर्य भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रतिबिम्बित होकर विविध धर्मों वाला हो जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में प्रतिबिम्बित होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, प्रतिबिम्ब के माध्यम से सम्बन्ध है, सूर्य से नहीं। यदि उक्त दृष्टान्त को सत्य माना जाए, तो आत्माओं के सम्बन्ध में प्रकट होते नानाविध गुण शरीरों से सम्बद्ध होंगें, आत्मा से नहीं। किन्तु सुख-दुःख आदि आत्मा के गुण है शरीर के नही।[२३४]

प्रभाकर का आत्मा से तात्पर्य एक ऐसी वस्तु से हैं जो बुद्धिविहीन है और ज्ञान, क्रियाशीलता, अनुभव अथवा सुखोपभोग तथा दुःख आदि जैसे गुणों का अधिष्ठान है।[२३५] एक स्थायी अनन्य आत्मा का कोई सीधा ज्ञान नहीं है। उसकी सिद्धि परोक्षरूप में विचार के स्थायी विषयों के प्रत्यभिज्ञारूपी तथ्य के द्वारा होती है।[२३६] प्रत्यभिज्ञा की घटना में दो अवश्य होते हैं; एक समृति तथा दूसरा पदार्थ का पूर्वानुभव। इस तथ्य का, कि हम भूत काल के बोध को स्मरण कर सकते हैं।

इसका अर्थ है कि एक स्थायी आत्मा का अस्तित्व है जो भूतकाल के प्रत्यक्ष ज्ञान तथा वर्तमान काल के स्मरण की आश्रय है। इस प्रकार, प्रभाकर के अनुसार, स्थायी आत्मा या निजी व्यक्तित्व प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं बल्कि उसका आश्रय है। यह सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तन शील है। यह स्वतः प्रकाश नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें प्रगाढ़ निद्रा में भी ज्ञान होता। किन्तु ऐसा होता नहीं है, यद्यपि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा विद्यमान रहती है। स्वतः प्रकाश बोध, 'में घड़े को जानता हूँ', घड़े को बोध के विषय के रूप में अभिव्यक्त करता है और आत्मा को बोध के आश्रय के रूप में। आत्मा बोध के आश्रय रूप में तुरन्त जानी जाती है, जैसे कि घड़ा बोध के विषय रूप में जाना जाता है। जो मै इस रूप में प्रतीत होती है वह आत्मा है और वह विषय 'प्रमेय' सम्बन्धी सब

---

२३४. झाः प्रभाकर मीमांसा।

२३५. कर्त्ता भोक्ता जडो विभुरिति प्राभाकराः। मधुसूदन सरस्वतीकृतः सिद्धान्तविन्दु८। न्याय रत्नावलि–स च ज्ञानस्वरूपभिन्नत्वाज्जडः, जानामीति ज्ञानाश्रयत्वेन स भाति न ज्ञानरूपत्वेन।

२३६. विवरणप्रमेय संग्रह, थिबौत का आग्लभाषानुवाद, पृ० ४०५ (इण्डियन थौट, खण्ड-१)

अवयवों से स्वतन्त्र है। क्योंकि सब बोधो में, यहाँ तक कि उन बोधों में भी जहाँ शरीर का कोई बोध नहीं है, आत्मा हमें अभिव्यक्त होती है, इस लिए आत्मा को शरीर से भिन्न माना गया है। आत्मा अपने आप में प्रत्यक्ष योग्य नहीं है, किन्तु उसे सर्वदा बोध के कर्त्ता के रूप में जाना जाता है, कर्म के रूप में नहीं। बोध का कर्म आत्मा के अन्दर स्वफल को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए आत्मा बाह्य या आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। विषय चैतन्य से अलग आत्म चैतन्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। आत्मा चैतन्य का विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकती।[२३७] यह कर्त्ता है, सुखोपभोक्ता है और यद्यपि अचेतन है तो भी सर्वत्र उपस्थित है। इस प्रकार यह शरीर, इन्द्रियों और बुद्धि से पूर्णरूप में भिन्न है। इसकी सब बोधों में अभिव्यक्ति होती है और यह नित्य है।

प्रभाकर नहीं मानता है कि आत्मा अणु के आकार की है या उस शरीर के आकार की है, जिसे यह सूचना देती है। यद्यपि यह सर्वत्र उपस्थित है तो भी दूसरे शरीर में जो कुछ हो रहा है उसे अनुभव नहीं कर सकती, क्योंकि यह उसी का अनुभव कर सकती है जो कुछ उस शरीर रूपी यन्त्र में हो रहा है, जो आत्मा को भूतकाल के कर्म से प्राप्त हुआ है। आत्माएं अनेक है, प्रत्येक शरीर में एक आत्मा है। अपनी मुक्तावस्था में आत्मा केवल सद्रूप में अवस्थित रहती है और एक साथ एवं वस्तुओं के सामुहिक बोध का आश्रय होती है, किन्तु संवेदना का आश्रय नही होती, क्योंकि सुख और दु:ख के धर्म अपने को सिवाय शरीर के अन्यत्र अभिव्यक्त नहीं कर सकते। यह अनश्वर है, क्योंकि इसकी सत्ता किसी कारण के द्वारा नहीं उत्पन्न हुई।[२३८]

पार्थसारथि आत्मा के विषय में तर्क करता है कि ऐसा मानने में कि आत्मा प्रत्यक्ष की विषयी और विषय दोनों ही है, किसी प्रकार का परस्पर-विरोध नहीं है। जब प्रभाकर कहता है कि आत्मा बोधरूपी कर्म से व्यक्त होती है, तो उसका तात्पर्य यह है कि आत्मा भी चैतन्य का विषय है। प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण में चैतन्य में विषय प्रकट होता है, विषयी प्रकट नहीं होता। यह प्रत्यक्ष के विषय रूप में जानी गई आत्मा ही है, जिस चैतन्य में वर्तमान प्रत्यभिज्ञा तथा स्मरण के विषय रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि आत्मा की प्रत्यभिज्ञा में आत्मा विषय नहीं

२३७. शास्त्रदीपिका, (पृ० ३४८-४९) शब्दमाधुत्वं हि प्रयोगतोऽवगन्तत्यम्, अस्ति चात्मनः।

२३८. झाकृत प्राभाकरमीमांसा।

होती, तो कर्म विषयहीन हो जाएगा। किन्तु बिना विषय के कोई चैतन्य नहीं हो सकता। इस लिए आत्मा को अवश्य आत्मा-चैतन्य का विषय मानना चाहिए।[२३९] आत्मा का ज्ञान प्रामाणिक बोध की उसी प्रक्रिया से होती है जिससे कि स्वयं विषयों को होता है, परन्तु तो भी आत्मा बोध का विषयी है, विषय नहीं, जैसे कि एक व्यक्ति जो पैदल चलता है, यद्यपि चलने की क्रिया उसकी अपनी ही है, चलने की क्रिया का कर्त्ता माना जाता है; विषय नहीं।

कुमारिल भट्ट के अनुयायियों के अनुसार, प्रत्येक बोधात्मक कार्य में आत्मा अभिव्यक्त नहीं होती। विषय-चैतन्य सर्वदा आत्मा द्वारा आत्मसात् नहीं किया जाता। व्यक्ति कभी विषय को जानता है कि "यह घड़ा है" किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह घड़े को जानता है। आत्मा विषय-चैतन्य (विषयवृत्ति) के विषयी या विषय के रूप में अभिव्यक्त नहीं होती, किन्तु कभी-कभी विषयवृत्ति के साथ एक अन्य भिन्न चैतन्य होता है, अर्थात् आत्मप्रत्यय जिसका आत्मा विषय है। प्रभाकर का ऐसा मानना उचित है कि अनात्म के चैतन्य में विषयी सदा उपलक्षित रहता है, किन्तु यह सदा स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं होता। आत्मा की उपस्थिति तथा उपस्थिति की चेतना में भेद है, हमारे लिए यह आवश्यक नहीं है कि जब भी हम किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करें तो आत्मा के विषय में भी अभिज्ञान हों। आत्मा केवल आत्मचैतन्य में ही अभिव्यक्त होती है, जिसे और विषय-चैतन्य को एक नहीं माना जा सकता। आत्मा चैतन्य केवल विषय-चैतन्य से उच्चतर कोटि का चैतन्य है।[२४०] विषय-बोध के साक्षात् अथवा मुख्य अनुभव तथा चिन्तनात्मक एवं गौण अनुभव में, जिसमें मन अपने ऊपर वापस लौट आता है, भेद है।

प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करता है कि आत्मा और संवित् अथवा चैतन्य एक समान है और इसीलिए वह ऐसा कहने के लिए बाध्य है कि आत्मा स्वतः प्रकाश नहीं है। किन्तु इस मत का पक्षपोषण कठिन है।आत्मा प्रमातृ अर्थात् जानने वाली है और प्रभाकर संवित् अथवा चैतन्य का कभी ज्ञाता और कभी बोधरूप में वर्णन करता है।[२४१] कुमारिल की इस प्रकल्पना का कि आत्मा मानसिक

---

२३९. प्रभाकर मीमांसा पृ० ३४४ से आगे।

२४०. शास्त्रदीपिका, (पृ० ३४४-५२) तस्मान्मानसाहं प्रत्ययगम्य आत्मा।

२४१. संवित् का प्रयोग चैतन्य के अर्थों में किया गया है। 'संवित् उत्पत्ति कारणम् आत्ममनरसन्निकर्षाख्यम्' (प्रकरणपञ्चिका, पृ० ६३)

प्रत्यक्ष का विषय है, खण्डन करते हुए, शालिकनाथ स्वीकार करता है कि आत्मा स्वतः प्रकाश है और बाह्य पदार्थों के बोध में भी संलग्न रहती है।[२४२] इस प्रकार यह चैतन्य का अचेतन आश्रय नहीं है। संवित् स्वतः प्रकाश है, यद्यपि इसका बोध चैतन्य के विषय के रूप में नहीं होता। फिर, बोधों को आत्मा के परिणाम परिवर्तित रूप कहा जाता है, और इसलिए आत्मा की प्रकृति को चैतन्यमय होना चाहिए, अन्यथा यह बोधों के रूप में परिणत नहीं हो सकती। आत्मा चैतन्य का विषय नहीं हो सकती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यह चैतन्यरहित है। यह समस्त ज्ञान का आधार है। स्वयं ज्ञान के अन्दर ही यह विषयी अथवा अहं के रूप में प्रकट होती है। अहं आत्मा से न तो अधिक है, न कम है, जिसे हम तुरन्त अभिज्ञ होकर बोध का विषयी अथवा आश्रयरूप जानते हैं। आत्मा न तो द्रव्य है, न गुण है, न कर्म है। यह केवल चैतन्य है। जैसाकि अद्वैतवेदान्तवादी कहेंगे जब यह मायावश अहंकारत्व के इन्द्रिय-सम्पर्क में आती है तो अहं बन जाती है। प्रगाढ़ निद्रा में 'अहंरूप' अनुपस्थित रहती है, जबकि आत्मा अहंकारत्व के सब प्रतिबन्धों से मुक्त रहती है, जबकि आत्मा अहंकारत्व के सब प्रतिबन्धों से मुक्त रहती है। पदार्थों के बोध में सर्वव्यायी आत्मा अथवा चैतन्य पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध से युक्त प्रकट होती है। प्रभाकर इस विषय में अभिज्ञ प्रतीत होता है कि उसकी प्रकल्पना उसे अद्वैत वेदान्त की स्थिति की ओर ले जाती है, परन्तु उसे चिन्ता है कि इस पर बल नहीं देना चाहिए, क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्यों तथा उनके उत्तरदायित्व के भेदों पर बल देना है। प्रभाकर कहता है 'यह कथन कि' में और 'मेरा' ये उक्तियां आत्मा के सम्बन्ध में एक मिथ्या विचार की ओर संकेत करती है, उन व्यक्तियों के प्रति होना चाहिए, जिन्होंने सांसारिक पदार्थों की ओर अपनी आसक्ति का दमन कर लिया है, उनके प्रति नहीं जो कर्म में जुटे हुए है।[२४३]

प्रभाकर के मत में ज्ञान विषयक परिकल्पना त्रिपुटी सम्वित् मानी जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान के प्रत्येक कर्म में ज्ञाता, ज्ञेय, तथा ज्ञान, तीनों एक ही समय में प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान अपने को तथा ज्ञाता अर्थात् ज्ञेय को भी प्रकट करता है। इसकों स्पष्ट करते हुए प्रभाकर ने कहा है कि "मैं इसे जानता हूँ (अहं इदं जानामि) इस चैतन्य में हमारे पास तीन प्रस्तुत पदार्थ है। "मैं"

---

२४२. स्वयं प्रकाशत्वेन, विषयप्रतीतिगोचरत्वेन (प्रकरण पञ्चिका, पृ० १५१)
२४३. वृहती, पृ० ३२, 'एशियाटिक सोसायिटी ऑफ बंगाल, में मीमांसासूत्र।

अथवा विषयी (अहं वृत्ति) 'इसे' अथवा विषय अर्थात् विषयवृत्ति, तथा चेतन अभिज्ञता (स्वसम्वृत्ति)। डा० साधाकृष्णन् ने प्रभाकर के इस मन्तव्य की तुलना करते हुए हैमिल्टन से तुलना प्रस्तुत की है। हैमिल्टन के अनुसार, ज्ञान की क्रिया को इस प्रकार के सूत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है, "मैं जानता हूँ।" चैतन्य की क्रिया को इस प्रकार के सूत्र में अभिव्यक्त किया जा सकता है," मैं जानता हूँ कि मै जानती हूँ। परन्तु जिस प्रकार हमारे लिए जानना असम्भव है बिना साथ-साथ यह जाने कि हम जानते हैं, उसी प्रकार बिना हमारे वस्तुत: जाने हुए यह जानना भी असम्भव है कि हम जानते हैं वैरिस्कों से भी तुलना कीजिए,' 'मैं जान सकूँ, इसके लिये यह आवश्यक है कि मैं अपने चैतन्य से अभिज्ञ होऊँ, कि मैं यह जान सकूँ आवश्यक है कि मैं जानता हूँ।" परिणाम यह निकलता है कि चैतन्य की क्रिया अपनी और विचार करने वाले विषयी की यथार्थता को सिद्ध करती है।[२४४]

प्रभाकर ने स्पष्ट किया है कि समस्त चैतन्य एक ही समय में आत्म चैतन्य है और विषय चैतन्य भी है। प्रकरण पञ्चिका में कहा है क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में हमे पदार्थों का कुछ ज्ञान होता, इसलिए हमे आत्मा का ज्ञान नहीं होता, यद्यपि यह विद्यमान रहती है। यदि प्रगाढ़ निद्रा में आत्मा विद्यमान न रहती, तो हम निद्रा से जागने पर अपने-आपको भी न पहचान सकते ।[२४५] उन्होंने आगे कहा है कि समस्त ज्ञान चाहे वह आनुमानिक हो या शाब्दिक, आत्मा मन के कर्तृत्व तथा सम्पर्क से साक्षात् जानी जाती है। बोध-सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया में आत्मा का तो सदा सीधा और तात्कालिक बोध होता है, किन्तु अनात्म विषय (पदार्थ) का सदा सीधा और तात्कालिक बोध नहीं होता है। स्मृति और अनुमान में विषय (पदार्थ) सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता। यद्यपि परोक्ष ज्ञान में पदार्थ सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जाता, तो भी परोक्ष ज्ञान स्वयं सीधा चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।[२४६] बोध भी सीधा ज्ञान के द्वारा आत्मज्ञात है। बोध को जो प्रकाश-स्वरूप है, अन्य किसी वस्तु की आवश्कता व्यक्त होने के लिए नहीं होती। इसलिए बोध को स्वतोज्ञात कहा जाता है। बोध

---

२४४. भारतीय दर्शन (डॉ राधा कृष्णन्) पृ० ३४०

२४५. प्रकरणपञ्चिका, पृ० ५९

२४६. प्रकरणपञ्चिका पृ. ५६

प्राप्त करने वाली आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ प्रकाशस्वरूप नहीं हैं, और इसलिए उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने से अतिरिक्त किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता रहती है जो प्रकाश स्वरूप हो। बोध स्वतः प्रकाशित हैं और उनका प्रत्यक्ष पदार्थों की भाँति नहीं होता।[२४७] उनका बोध अन्य बोधों से नहीं होता। वे कभी भी विषय (प्रमेय) नहीं है, और इसलिए सुख-दुःख की भाँति उनका बोध नहीं होता। उनका बोध-बोधों के रूप में होता है, विषयों के रूप में नहीं।[२४८]

यदि बोधों का बोध प्रमेय पदार्थों के रूप में हो, तो हर एक बोध को अपने बोध के लिए अन्य बोध की आवश्यकता होगी, और इस सिलसिले का कहीं अन्त न होगा। प्रभाकर अनुभव करता है कि उसकी प्रकल्पना प्रकटरूप में शब्द के इस कथन से संगत नहीं है कि ज्ञान ग्रहण करने में हम पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं, बोधों का नहीं, और इसलिए वह तर्क उपस्थित करता है कि यद्यपि बोध स्वतः प्रकाशित हैं, तो भी उनकी उपस्थिति अनुमान से जानी जाती है। अनुमान इस तथ्य से कि हमें पदार्थ का बोध हुआ हमें बतलाता है कि बोध का अस्तित्व है। यह बोध एक प्रमेय है, अर्थात् सत्य ज्ञान का विषय है, किन्तु यह संवेद्य अर्थात् अपनी पूर्णता में जाना गया पदार्थ नहीं हैं। प्रभाकर के अनुसार, संवेद्य की अवस्था हमारे सामने केवल तभी होती है जबकि पदार्थ का रूप अभिव्यक्त हो, और यह इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष जाने, गए पदार्थों के विषय में ही सम्भव है। क्योंकि बोधों का कोई रूप नहीं है, इसलिए उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उनकी उपस्थिति केवल अनुमान द्वारा जानी जाती है। अनुमान पदार्थ के रूप का अथवा वस्तु तत्व का ज्ञान नहीं कराता, बल्कि केवल इसके अस्तित्व का ज्ञान कराता है।[२४९]

प्रभाकर और कुमारिल दोनों स्वीकार करते हैं कि बोध जो आत्मा के परिणाम है, अनुमान के विषय हैं। दोनों ने ही ज्ञान की प्रामाणकिता का निर्णय किसी बाह्य वस्तु द्वारा नहीं होता बाह्य पदार्थों की पुनरावृत्ति का प्रश्न नहीं है। बोध की प्रामाणिकता उस बल से लक्षित होती है, जिससे समस्त प्रत्यक्ष ज्ञान हमें बाह्य जगत् में क्रिया करने की प्रेरणा करता है। समस्त ज्ञान हमारे अन्दर इस विशिष्ट प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है और किसी परवर्ती अनुभव की मध्यस्थता

२४७. स्पेस टाइम एण्ड डेयटी, खण्ड १, पृ० १२-१३)
२४८. संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया।
२४९. नाप्यनुमाना रूपग्रहण सनमात्रग्राह्यनुमानं भवति।

की प्रतीक्षा नहीं करता। एक बोध जो एक पदार्थ का ज्ञान ग्रहण करता है अप्रामाणिक नहीं हो सकता। यदि बोध अपने में प्रामाणिक न होते तो हम अपने बोधों में विश्वास न कर सकते। प्रामाणिकता का भाव मौलिक हैं और प्राप्त किया हुआ नहीं है। जबकि ज्ञान स्वतः प्रकाशित है, यह प्रामाणिकता ज्ञान के साधनों से प्राप्त की हुई है। ज्ञान की अवस्थाएँ भी उसकी प्रामाणिकता-सम्बन्धी चेतना को उत्पन्न करती हैं।[२५०]

प्रभाकर ज्ञान को प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक रूप में विभक्त करता है। अनुभूति अथवा साक्षात् ज्ञान प्रामाणिक है, और स्मृति अप्रामाणिक है। "प्रामाणिक बोध अथवा ज्ञान स्मरण से भिन्न है, क्योंकि स्मरण को पूर्णज्ञान की आवश्यकता होती है"[२५१] पूर्वज्ञान पर निर्भरता ही स्मृति की अप्रामाणिकता का कारण है ऐसे बोध जो विषय से परोक्षरूप से सम्बन्ध रखते हैं, अप्रामाणिक हैं। प्रभाकर और कुमारिल दोनों ने ही विषय के पूर्वज्ञान के अभाव को प्रमाणिक ज्ञान की कसौटी माना है। यद्यपि कुमारिल असंगतियों के अभाव पर भी बल देता है समस्त ज्ञान प्रामाणिक है और हमें कर्म करने की प्रेरणा करता है।

जिसे विपर्यय कहा जाता है वह मिथ्याज्ञान नहीं है। यदि समस्त बोध स्वप्रकाश है और इसलिए यर्थार्थ है, तो 'यह चांदी है' इस निर्णय में जो चेतना अभिव्यक्त होती है वह भी भ्रांत नहीं हो सकती। जब हम सीप को भूल से चांदी समझ लेते हैं तो यह भूल उसके अन्तर्गत दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों में--अर्थात् चांदी के विचार और 'यह' के संस्कार में भेद न करने के कारण है। हम प्रत्यक्ष देखे गए तथा स्मरण किए गए तत्त्वों को एक मनोविकृति में मिश्रित कर लेते हैं। बोध का विषय वह वस्तु है जो चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। 'वह चांदी है' इनमें चैतन्य को जो प्रस्तुत किया गया है, वह 'चांदी' है, 'सीप' नहीं है हम सीप का बोध चांदी के रूप में नहीं करते, क्योंकि सीप कभी भी चैतन्य के अन्दर प्रविष्ट नहीं हुआ। जिस विचार का स्मरण किया जाता है वह तथ्य के अनुकूल नहीं होता, क्योंकि 'यह चांदी है' इस प्रकार के निर्णय का, जब ज्ञाता सीप के टुकड़े को उठाता हैं तो 'यह तो केवल एक सीप का टुकड़ा है,' इस निर्णय द्वारा निराकरण हो जाता है। यह भूल प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्व में भेद न रख सकने,

---

२५०. "तत्त्वचिन्तामणि" नामक पुस्तक से उद्धृत।

२५१. प्रमाणम् अनुभूतिः सा स्मृतेरन्या न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तित्यपेक्षणात्। (प्रकारण पञ्चिका, पृ० ४२)

अर्थात् अख्याति के कारण है। प्रत्यक्ष देखा गया तत्व 'यह' और स्मरण किया गया तत्त्व चांदी सत्य है, केवल मात्र दोनों में जो भेद है उसकी 'अख्याति' है। यह अख्याति ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोषों के कारण है और सीप तथा चांदी के सादृश्य के संकेत के कारण है, जो पूर्वज्ञान चांदी के मानसिक संस्कार को जगा देता है। प्रस्तुत तथा स्मृत तत्त्वों के भेद की यह अनभिज्ञता हमें क्रिया के प्रति अग्रसर करती हैं वास्तविक अनुभव में चांदी के प्रामाणिक तथा अप्रामाणिक बोध में कोई भेद नहीं है, क्योंकि कर्ता में दोनों ही उसी एक प्रकार की कार्य शीलता को जन्म देते हैं।

अन्य सम्प्रदायों ने इस प्रकल्पना की आलोचना की है। 'प्रत्यक्षीकृत तथा स्मृति बोध दोनों चैतन्य में प्रकट होते हैं या नहीं? यदि नही प्रकट होते तो वे विद्यमान नहीं है और यदि प्रकट होते हैं तो दोनों के भेद का प्रत्यक्ष न होना असम्भव है"[२५२] यह प्रकल्पना इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ है कि जब तक भूल विद्यमान रहती है, तब तक चैतन्य के समक्ष वास्तविक प्रस्तुति होती है। केवल स्मृतिरूप आकृति नहीं होती। स्मृति प्रमोष का कारण बताना। कठिन है, जो साक्षात् प्रस्तुति की भांति को जन्म देता है।[२५३] गंगेश का तर्क है कि भेद की अचेतनता उस क्रियाशीलता का कारण नहीं हो सकती जिसकी ओर मनुष्य प्रेरित होता है। प्रस्तुत तत्त्व, अर्थात् सीप का ज्ञान, जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य की इच्छा नहीं है विरुद्ध प्रतिक्रिया की ओर ले जाएगा और स्मृत चांदी का ज्ञान क्रियाशीलता की ओर ले जाएगा, तथा दोनों के मध्य भेदविषयक अचेतनता का परिणाम निश्चेष्टता होगा। यह समझना कठिन है कि किस प्रकार अचेतनता किसी को क्रियाशीलता के लिए प्रेरित कर सकती है।[२५४]

प्रभाकर का यह मत है कि प्रत्येक ज्ञान की क्रिया में विषय विषयी और विषय का ज्ञान व्यक्त होते हैं, मनोविज्ञान के साक्ष्य के अनुकूल नहीं है। जब हम किसी विषय (पदार्थ) को जानते हैं तो इसकी कोई आवश्कता नहीं है कि साथ-साथ ज्ञान की विषय-वस्तु में मेरा भी उल्लेख रहे। यदि व्यक्ति दूषित मनोवृत्ति का नहीं है तो सम्भावना यहीं है कि इसमें अहं का कोई उल्लेख

---

२५२. देखिए-पण्डित-न्याय सूत्र, खण्ड-१२, पृ० १०९

२५३. विवरण प्रमेय संग्रह १:१।

२५४. "तत्त्वचिन्तामणि" नामक ग्रन्थ से उद्धृत है।

सम्मिलित न होगा। प्रभाकर भूल से परवर्ती विचार के साक्ष्य को ही प्रत्यक्ष का साक्ष्य मान लेता है। जब कोई व्यक्ति अपने पदार्थ-विषयक ज्ञान के विषय में विचार करता है तो उसके विचार में विषय और विषयी दोनों उपस्थित है। हम किसी वस्तु के विषय में ज्ञात वस्तु के रूप में तब तक विचार नहीं कर सकते, जब तक कि उसके साथ ज्ञाता का भी सम्बन्ध न रहे। परन्तु कोई कारण नहीं है कि क्यों कोई व्यक्ति वस्तु के विषय में उसके ज्ञात वस्तु के रूप में विचार किए बिना विचार न करे। चिन्तन की क्रिया जो विचार में पदार्थों के केवल निरीक्षण से एक उच्चतर स्थिति को प्रस्तुत करती है, हमें ज्ञान के उपलक्षणों के विषय में बताती है। प्रभाकर का विश्वास है कि हम बिना यह जाने कि हम जानते हैं, नहीं जान सकते।[२५५] प्रतीत होता है कि वह "मैं जानता हूँ" और 'मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ" इनमें जो भेद है, उसे स्वीकार नहीं करता। फिर यदि बोध स्वतः प्रकाश हो तो पदार्थ बोध की अभिव्यक्तियों के रूप में प्रकट होंगे, यथार्थ पदार्थों के रूप में नहीं, और इस प्रकार हम विषयी विज्ञानवाद में आ पड़ते हैं।[२५६] विषयी-विज्ञानवाद में बचने के लिए प्रभाकर यह मत प्रकट करता है कि स्वतः प्रकशित बोध भी अनुमान से जाने जाते हैं। शब्द के इस कथन पर कि बोधों का नहीं अपितु पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया जाता है, टिपण्णी करते हुए वह कहता है कि इससे परिणाम यह निकलता है कि बोधों का ज्ञान केवल अनुमान से होता है[२५७] किन्तु यह बोधों के स्वतः प्रकाशत्व का विरोध करता है। शालिकनाथ का सुझाव है कि अनुमान से जो बोध होता है वह मन का आत्मा के साथ सम्पर्क है, तो चैतन्य को उत्पन्न करता है।[२५८] यदि यही सब कुछ है, जिसका अनुमान किया जाता है, तो यह कहना अुनचित है कि बोधों का अनुमान किया जाता है। जब तक यह कहा जाएगा कि बोध स्वतः प्रकाशित है, विषयी विज्ञानवाद का तब तक भय बना ही रहेगा। प्रभाकर हमें यह नहीं बताता कि ज्ञान का स्वरूप क्या है। केवल यही कहता है कि स्वतः प्रकाश इसका लक्षण है। वह ज्ञान की परमसत्ता पर बल देता है, और आनुषंगिक रूप में यह प्रतिपादन

---

२५५. इटली के विचारक बोनाटेली की भी सम्मति यह है कि किसी तथ्य के ज्ञान के अन्दर तथ्य का ज्ञान और ज्ञान का तथ्य एक साथ रहते हैं।
२५६. श्लोक वार्तिक-(शून्यवाद) पृ० २३३
२५७. अतः सिद्धमानुमानिकत्वं बुद्धेः।
२५८. प्रकरण पञ्चिका, पृ० ६३.

करता है कि स्वयं ज्ञान के अन्दर विषयी तथा विकास का अर्थ किस प्रकार आ जाता है यदि उसे इस प्रकल्पना के उपलक्षणों का परिष्कार किया जाता तो वह अपनी द्वैतपरक पूर्वकल्पनाओं को त्याग देने की ओर बढ़ सकता था।

कुमारिल की ज्ञानविषयक प्रकल्पना :-

ज्ञान एक गति है जो आत्मा की क्रियाशीलता से उत्पन्न होती है और जो वैषयिक वस्तुओं के चैतन्य की उत्पत्ति में परिणत होती है। किसी पदार्थ का बोध आगे उक्त बोध के बोध में परिणत न होकर पदार्थ की प्रकटता में परिणत होता है।[२५९] किसी भी ज्ञान की क्रिया में चार अवयव होते हैं: १ ज्ञाता, २. ज्ञेय; ३, ज्ञान का साधन (ज्ञानकरण); और ४. ज्ञान का परिणाम (ज्ञातता)। कुमारिल के अनुसार, बोध का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता, बल्कि वह बोध से उत्पन्न प्रकटता (ज्ञातता) से अनुराग किया जाता है।[२६०] बोध के प्रत्येक क्रिया में दृष्टा तथा दृष्य वस्तु के मध्य एक सम्बन्ध हमें कर्ता की क्रिया का अनुमान करने, योग्य बनाता है, जो ज्ञान के विषय में बोध है। ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्बन्ध से बोध का अनुमान होता है, जसका ज्ञान तथा ज्ञेय के सम्बन्ध से बोध का अनुमान होता है, जिसका ज्ञान मानस-प्रत्यक्ष से होता है। यदि यह दूसरा अवयव जो ज्ञाता और ज्ञेय की मध्यस्थता करता है, न होता तो पदार्थ के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो सकता। ज्ञान के अन्तर्निहित विषयी तथा विषय के विशिष्ट सम्बन्ध से बोध के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। चैतन्य को यहाँ एक प्रकार की तृतीय वस्तु माना गया है; जो आत्मा और अनात्मा का सम्बन्ध जोड़ती है। जिनके मत में समस्त बोध स्व प्रकाश है वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान के अन्तर्गत जो आत्मा और अनात्मा का सम्बन्ध है, वह मानस प्रत्यक्ष का विषय है। "घड़ा मेरे द्वारा जाना गया" हम ऐसा नहीं कह सकते, जबतक कि हम ज्ञान प्राप्त करने वाले आत्मा तथा ज्ञात पदार्थ के सम्बन्ध को और बोध तथा बोध के विषय के परस्परिक सम्बन्ध को न जानें।[२६१]

यदि बोध अथवा चैतन्य स्वतः प्रकाश है, और यदि पदार्थ (विषय) चैतन्य से युक्त होता है तो चैतन्य और पदार्थ के मध्य जो सम्बन्ध है वह किसके

---

२५९. देखिए. फिलासोफिकल रिव्यू जुलाई, १९२२, पृ० ४००.

२६०. ज्ञाततानुमेयं ज्ञानम्। और देखिए १:१, १ पर शबर भाष्य।

२६१. अन्यथा ज्ञातो मया घट इति ज्ञानज्ञेयसम्बन्धो ज्ञातृज्ञेय सम्बन्धो वा न व्यवहर्तुं शक्यते।-(शास्त्रदीपिका। पृ० १५८)

द्वारा व्यक्त होता है? दोनों के बीच का सम्बन्ध उसी बोध द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह बोध के उत्पन्न होने के साथ ही साथ अस्तित्व में नहीं आया। जब बोध उत्पन्न होता है तो यह अपने पदार्थ को अभिव्यक्त करता है, और इसलिए दोनों का सम्बन्ध उस बोध का विषय नहीं हो सकता। क्योंकि बोध क्षणिक होता है, इसलिए हम नहीं कह सकते कि यह पहले पदार्थ को व्यक्त करता है और तब पदार्थ के साथ अपने सम्बन्ध को। न यही कहा जा सकता है कि बोध और पदार्थ का सम्बन्ध स्वतः प्रकाश है, क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार कुमारिल के अनुयायी विरोध में कहते हैं कि आत्मा और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध आभ्यन्तर प्रत्यक्ष का विषय है, जो बोध के अस्तित्व को सिद्ध करता है।[२६२]

बोध का अस्तित्व बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए 'अतिशय' द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।[२६३] अतिशय को उन्हें भी स्वीकार करना होता है जो ऐसा मत रखते हैं कि ज्ञाता ज्ञात पदार्थ और बोध इन तीनों की अभिव्यक्ति चैतन्य द्वारा होती है (त्रितयप्रतिभासवादिभिः)। कुमारिल, इसलिए कि वह बाह्य पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा कर सके, बोध की स्वतः प्रकाशता का निषेध करता है। न्याय वैशेषिक के अनुयायी उस मत का विरोध करते हैं, जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि हम बोध के द्वारा अपने विषय के अन्दर उत्पन्न किए गए अतिशय से बोध का अनुमान करते हैं। बोध को ऐसा न मानना चाहिए कि वह जिसका बोध कराता है उसे परिवर्तित कर देता है। ज्ञात होना पदार्थों का कोई गुण नहीं है, बल्कि एक प्रकार का स्वरूप-सम्बन्ध है जो विषय और बोध के मध्य रहता है

कुमारिल भट्ट ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि ग्राह्य और ग्राहक यदि अभिन्न है तो फिर यह कहना भी सम्भव नहीं है कि एक समय कोई ग्रहण के योग्य है और दूसरा अयोग्य है एवं एक ही "ग्राह्यग्राहकोभ्यस्वरूप" संवित्ति में तुम (बौद्ध) ने परस्पर विरुद्ध 'उद्भव' एवं 'अभिभव' की कल्पना कैसे की।?

२६२. न, तदुत्पत्त्यवस्थायां सम्बन्धस्याऽनिष्पन्नत्वात्। प्रकाशकत्वमेव हि संविदा विषयेण सम्बन्धों नान्य, तेन जातायां संविदि विषये च प्रकाशिते निष्पद्यमानः सम्बन्धो न तथा संविदा शक्यते विषयी कर्तुम्।—(शास्त्रदीपिका पृ० १५८)

२६३. अर्थगतो वा ज्ञानजन्योऽतिशयः कल्पयति ज्ञानम्। (शास्त्रदीपिका, पृ० १५९)

क्योंकि यदि कोई अंश अभिभूत होगा तो उसके दूसरे अंश का भी अभिभव अवश्य होगा। एवं जो अंश 'अभिभूत' होगा वह गृहीत न होने के कारण ग्राह्य स्वरूप ही न रह सकेगा। इसी प्रकार जो अंश ग्रहण के अयोग्य होगा, वह भी गृहीत न हो सकने के कारण ग्राह्य स्वरूप न हो सकेगा। उद्भव और अभिभव के प्रसङ्ग में जो दीपप्रभादिगत रूप का दृष्टांत देते हो, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन स्थलों में गृहीत होने वाले रूपादि गृहीत न होने वाले स्पर्शादि से भिन्न ही है। अतः एक के ग्रहण के समय दूसरे का अग्रहण अयुक्त नहीं है।[२६४]

आप लोगों का (बौद्धों का) यह कहना भी ठीक नहीं है कि शब्द से अभिन्न उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म शब्दग्रहण में भासित नही होते अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य दोनों अभिन्न होने पर भी नियमतः एक साथ भासित नहीं भी हो सकते हैं, क्योंकि शब्द उसके और अनित्यत्व-कृत-कत्वादि धर्म जब भिन्न-भिन्न बुद्धियों से गृहीत होते हैं तो शब्द को अपने अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्मों से भिन्न कैसे माना जा सकता है? क्योंकि विभिन्न बुद्धियों से गृहीत होना ही वस्तुओं में परस्पर भेद का नियामक है। शब्द और उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म यदि नियमतः एक ही बुद्धि से गृहीत नहीं होते हैं तो वे अवश्य ही परस्पर भिन्न हैं। अतः उन धर्मों को शब्द से अभिन्न मानकर कही हुई आप (बौद्धों) की बातें संगत नहीं हैं।[२६५]

शब्द एवं उसके अनित्यत्वादि धर्म, इन दोनों के स्वरूप एवं दोनों के स्थिति देश ये दोनों के ही एक हैं। अतः शब्द एवं उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म दोनों भिन्न नहीं हैं, क्योंकि 'मूर्ति' एवं 'स्थितिदेश' ये दोनों ही वस्तुओं में परस्पर भेद के नियामक हैं। अतः शब्द और उसके अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म ये सभी अभिन्न ही हैं। बौद्धों का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह 'इयत्ता (सीमा) नहीं की जा सकती कि देशभेद' और 'संस्थान भेद' केवल ये दोनों ही भेद के नियामक है, क्योंकि यह प्रमाण से सिद्ध है कि देशभेद एवं सांस्थान भेद के न रहने पर भी वस्तुओं में परस्पर भेद हो सकता है।[२६६]

---

२६४. अयोग्यता विकल्प्यैवम् दृष्टान्तायेऽत्र कीर्तिताः। रूपादिभेदात् तत्र स्यादुद्भवाभिभवाद्यपि।।९७।। मी० श्लो० वा०

२६५. अभिन्नत्वेऽपि न ग्राह्यमिति यच्चाब्रवीद्भवान्। कृतकत्वादिधर्मणां धीभेदेऽनन्यता कथम्।।९९।। वही

२६६. न चेयत्तैव भेदस्य देशतो मूर्तितोऽपि वा।।१००।। मी० श्लो० वा०

शब्द के अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म शब्द से भिन्न ही है, क्योंकि कार्यों में कारणों का सम्बन्ध ही 'कृतकत्व' है। कुछ वस्तुओं की 'अनित्यता' उनके आश्रयीभूत आत्मा की स्वरूपावस्थिति स्वरूप है। एवं सभी कालों में वस्तुओं की सत्ता ही उनकी 'नित्यता' है। पदार्थों की यह सर्वदा स्थिति ही उनका 'वस्तुत्व' है।[२६७]

प्रमा अप्रमा साधारण केवल ज्ञान का सम्बन्ध ही वस्तुओं की ज्ञेयता है। एवं प्रमाण जनित (प्रमा) ज्ञान का सम्बन्ध ही 'प्रमेयत्व' है। इस प्रकार शब्दादि के कृतकत्वादि धर्म अपने आश्रयोभूत शब्दादि से अवश्य ही किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं।[२६८]

'तस्मात्' यह निश्चित जानिये कि जिस प्रकार रूप स्पर्शादि समान देशों में रहते हुए भी भिन्न आकार को बुद्धियों से गृहीत होने के कारण परस्पर भिन्न है, उसी प्रकार शब्दादि के अनित्यत्व-कृतकत्वादि धर्म भी विभिन्न आकार की बुद्धियों के द्वारा गृहीत होने के कारण भिन्न ही हैं।

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि ग्राह्य और ग्राहक भिन्न होते हुए भी अत्यन्त भिन्न नहीं है। उनकी इस आंशिक भिन्नता से भी उनमें कथित उद्भव अभिभवादि को उपपत्ति हो सकती है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि हम लोग किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु से अत्यन्त भिन्न नहीं मानते, क्योंकि अन्ततः वस्तुत्व रूप से सभी पदार्थ अभिन्न है ही। फलतः जिन दो वस्तुओं में से एक अभिभूत होता है, और दूसरा अनुद्भूत उन दोनों वस्तुओं में किसी प्रकार अभेद के रहने पर भी अन्य प्रकार से भेद भी अवश्य रहता है।[२६९]

फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि शब्द के कृतकत्वादि धर्म यदि शब्द से अभिन्न हो तो वे शब्दग्रहण में नियमतः भासित क्यों नहीं होते? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि कृतकत्वादि क्रियादिधटित है। शब्दग्रहण से अव्यवहित पूर्वक्षण में क्रियादि के ग्रहण की सामग्री कारणों का समूह का संबलन नहीं रहता

---

२६७. कारणानां हि सम्बन्धः कार्ये कृतकतोच्यते।।१०१।। श्लो० वा०
नित्यत्वं सर्वदा सत्ता वस्तुत्वं सर्वे कीर्त्यते।।१०२।। वही।

२६८. प्रमाणज्ञानसम्बन्धः प्रमेयज्ञेयतोच्यते। सर्वत्र-चात्र भिन्नत्वमस्ति।।१०३।। मी० श्लो० वा०

२६९. अत्यन्तभिन्नतास्माभिर्नैव कस्याचिदिष्यते। सर्वं हि वसतुरूपेण भिद्यते न परस्परम्।।१०५।। श्लो० वा०

है। उस समय केवल शब्द ग्रहण की सामग्री ही संवलित रहती है। इसलिए शब्दग्रहण के साथ उसके कृतकत्वादि धर्मों का ग्रहण नहीं होता।[२७०]

ग्राहक और ग्राह्य इन दोनों में यदि न किसी प्रकार ज्ञानगत कोई भेद हैं, न उत्पादन सामग्रियों में कोई अन्तर है, इसलिए यदि दोनों अभिन्न है तो दोनों को नियमतः साथ गृहीत होना ही होगा। अतः प्रकृत में शब्दादि का दृष्टांत उपयुक्त नहीं है।

बौद्ध गण यह कह सकते हैं कि 'ग्राह्य' उसी को कहते हैं कि जिसका ग्रहण हो, एवं 'ग्रहण' उसे कहते हैं जो नीलादि ग्राह्य विषयों का प्रकाशक हो। इस प्रकार ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व दोनों में से प्रत्येक परस्परसापेक्ष है, अतः एक साथ दोनों का ग्रहण नहीं होता। किन्तु उन लोगों का यह समाधान भी इस लिए युक्त नहीं है कि दोनों में परस्पर सापेक्षता के रहने पर भी दोनों के संनिधान (सामीप्य) को नहीं रोका जा सकता। इसलिए ज्ञान और विषय इन दोनों का साथ-साथ ग्रहण बौद्धों के पक्ष में नहीं रोका जा सकता।[२७१]

पूर्वपक्षी ने आपत्ति उठाते हुए कहा है कि नीलादि ग्राह्य विषयों की प्रतीति 'इदं नीलम्' इत्यादि आकारों की होती है। 'इदं ग्राह्यम्' अथवा 'इदं ग्राहकम्' इत्यादि आकारों की नहीं होती है। संवित्तिस्वरूप ग्राहक के सम्बन्ध से नीलादि में उसी समय ग्राह्यता की उत्पत्ति होती है। ग्राह्यत्व ग्रहण स्वरूप किया (धात्वर्थं) का कर्मत्वस्वरूप है। इस ग्राह्यता का भान लादि के ग्रहण के समय नहीं होता। फिर नीलादि के ग्रहण को ग्राहकपेक्षी कैसे कहते हैं? अतः नीलादि का ग्रहण-ग्राहक एवं ग्राह्य एतदुभयाकारक नहीं होता।[२७२]

यद्यदि 'नीलम्' इसी आकार की बुद्धि होती है, 'इदं ग्राह्यम्' अथवा 'इदं ग्राहकम्' इत्यादि आकारों की नीलादिविषयों की बुद्धियाँ नहीं होती हैं फिर भी ग्राह्यत्व रूप से ग्राह्य की अथवा ग्राहकत्व रूप से ग्राहक की प्रतीति भले ही न हो, फिर भी स्वरूपतः ग्राह्य और ग्राहक का भान नीलादि प्रत्ययों में अवश्य होता है। एवं यदि ग्राह्य और ग्राहक दोनों का साथ-साथ भान न हो तो फिर 'नीलम्'

---

२७०. सर्वं च कृतकत्वादि क्रियाहेत्वाद्यपेक्षया।
गृह्यते तदसंवित्ताभेदेऽपि न गृह्यते।।१०६।। श्लो० वा०

२७१. ज्ञाने नैवंविधो..........विद्यते।............सन्निहितश्च सः।।१०७।। श्लो० वा०

२७२. ननु ग्राहकमित्येवं ग्राह्यमित्यपि वा मतिः। नीलादिग्रहणे नास्तीत्यपेक्षा कथमुत्यते।।१०८।। वही

इस प्रतीति के बाद होने वाले 'नीलं जानामि' इन दो आकारों की दो प्रतीतियाँ नियमतः एक ही सामग्री से कैसे उपपन्न होगी?[२७३]

ज्ञान एवं अर्थ दोनों में अभेद मानने पर मीमांसकों ने आपत्ति दी थीं कि यदि दोनों को अभिन्न मानेंगे तो घटग्रहण के साथ-साथ घट से अभिन्न घटज्ञान का भी ग्रहण अवश्य होना चाहिए। इस पर बौद्धगण कह सकते हैं कि घट विषयक पहला ज्ञान केवल ग्राह्यस्वरूप घटविषयक 'घटः' इस आकार का होता है। एवं तदुत्तर उसी घटविषयक ज्ञान का ज्ञान घट 'जानामि' इस आकार का होता है। आगे घट और घटज्ञान दोनों की स्मृतियाँ होती है। इस स्मृति से यह अनुमान होता है कि घट और घटज्ञान एक है[२७४]

उपर्युक्त बौद्धों के इस आक्षेप का यह समाधान है कि यदि प्रथम उत्पन्न 'घटः' इस आकार के ज्ञान को एतज्ज्ञा विषयक एवं दूसरे ज्ञान को भी तद्विषयक ही मानें, अर्थात् घटस्वरूप विज्ञान ही मानें तो यह दूसरा ज्ञान भी तद्रूप ही होगा। अर्थात् 'घटः' एतदाकारक ही होगा, 'घटंजानामि' एतदाकारक नहीं है। इसके आगे जो 'मम घटज्ञानमासीत्' इस आकार की घटज्ञान ज्ञानविषयक स्मृति होती है, उसका भी 'घटः' यही आकार मानना होगा। फलतः 'घटः' इस आकार के ज्ञान के बाद जो 'घटं जानामि-मम घटज्ञानमासीत्' इत्यादि ज्ञानों की परस्पर में 'विशेष' अर्थात् अन्तर की उपलब्धि होती है, वह न हो सकेगी। अतः ज्ञान और अर्थ एक नहीं है।[२७५]

यदि ज्ञान और 'अर्थ' को भिन्न मानते हैं तो 'ग्राहकाकारक' अर्थात् घट के ग्राहक ज्ञान के आकार के 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान में 'आकारप्रचय' की उपपत्ति होती है। अर्थात् 'घटः' इस आकार के ज्ञान की अपेक्षा 'घटं जानामि' इस आकार के ज्ञान में आकार वृद्धि की उपपत्ति होती है। ज्ञान और अर्थ को अभिन्न मानने में 'आकारप्रचय' स्वरूप इस विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि प्रथम ज्ञान के ही 'घटः एवं ज्ञानम् ये दो आकार होंगे तो तद्विषयक

---

२७३. मा भूदेवं तथाप्यत्र द्वयाकारे ग्रहण भवेत्।
एवंवागृह्यमाणे वा ज्ञाने द्वयाकारता कथम्।। (श्लो० वा० १०९)

२७४. एकाकारं किल ज्ञानं प्रथमं यदि कल्प्यते।
ततंस्तद्विषयाप्यन्या तद्रूपैव मतिर्भवेत्।।१११।। श्लो० वा०

२७५. घट विज्ञान तज्जान विशेषोऽतो न सिध्यति।
ग्राहकाकारसंवित्तौ त्वाकारप्रचयो भवेत्।।११२।। श्लो० वा०

द्वितीय ज्ञान में कथित 'विषय और ज्ञान' ये दोनों एवं स्वस्वरूप तृतीय ज्ञान में ये तीनों ही भासित होंगे। अर्थात् यह तीसरा ज्ञान घट, ज्ञान एवं घटज्ञान एतत्त्रितयाकारक होगा। इस प्रकार आगे-आगे के ज्ञानों में पूर्व-पूर्व विज्ञान की अपेक्षा उत्तरोत्तर विज्ञानों में 'आकारप्रचय' की (विषयवृद्धि की) उपपत्ति होगी। इस प्रकार की आकार वृद्धि से पूर्वोत्तर विज्ञानों की परस्पर भिन्नता की सिद्धि होती है।[२७६]

एवं 'ज्ञातो घट:' इत्यादि स्थलों में ज्ञान और घट (विषय) दोनों साथ ही स्मृति स्वरूप इन ज्ञानों में भासित होते हैं। पूर्वानुभव के बिना समृति नहीं हो सकती। अत: यह मानना होगा कि इस स्मृति से पहले ज्ञान भी अनुभूत हो चुका है।

'उत्तरोत्तरविज्ञान विशेषात्' (श्लो०-११०) इत्यादि श्लोक से जो 'आकार प्रचय' की बात कही गयी है, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि आकार वृद्धि स्वरूप 'आकारप्रचय' की उपलब्धि ज्ञानपरम्पराओं में नहीं होती। संवित सवरूप ज्ञान तो केवल स्व-स्वरूप' ही है। घटादि विषयाकार तो बाह्यविषयस्वरूप स्वतन्त्र ही हैं। ज्ञानों का परिचय जो 'नीलम्, नीलज्ञानम्' इत्यादि आकारों के द्वारा दी जाती है, उसका यह हेतु है कि विषयों के बिना ज्ञानों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञान और विषय अभिन्न हैं फलत: 'नीलाकारकं ज्ञानम्' इस वाक्य का नीलविषयकं ज्ञानम् यह अर्थ है। उस वाक्य का नीलाभिन्नं ज्ञानम्' यह अर्थ नहीं है।[२७७]

इससे यह निष्पन्न होता है कि ज्ञानत्व स्वरूप अपने स्वभाव अपने स्वभाव (धर्म) के कारण सभी ज्ञान एक है एवं अपने विषयों की विभिन्नता के कारण विभिन्न प्रतीतियाँ होती हैं। यह कल्पना निरर्थक है कि ज्ञान ही स्वाकारक एवं विषयाकारक दोनों है।[२७८]

जिस प्रकार आकार से युक्त घटादि वस्तुओं में 'आकार युक्तत्व' स्व समता के रहने पर भी भेद 'स्वभावत: सिद्ध है, उसी प्रकार सभी ज्ञानों में 'निराकारत्व' स्वरूप साम्य के रहने पर भी उनके परस्पर भेद की सिद्धि में कोई

---

२७६. परेष्वाकार वृद्धयैवं.............ग्राहक: पुरा।।११४।। श्लो० वा० (पृ० ३९०)
२७७. विषय व्यपदेशाच्च नर्ते ज्ञाननिरुपणम्।।११५।। मी० श्लो० वा०
२७८. तस्मात्..................................किमाकारन्तरेण न:।।११६।। वही

बाधा नहीं है। 'ज्ञातो मया घटः' इस स्मृति के द्वारा जो ज्ञान के पूर्वानुभव की कल्पना की गयी है, वह भी ठीक नहीं है, उस स्मृति में तो ज्ञान का विषयविषया भान अर्थापत्ति के द्वारा ही प्राप्त होता है।[२७९]

हम लोगों के (मीमांसकों के) द्वारा ज्ञान और विषय के अभेदपक्ष में दिये गये 'ग्राह्यज्ञान में तदभिन्न ग्राहक (संवित्ति) का भी ग्रहण होना चाहिए' इस आपत्ति को आप (बौद्धों) ने दोनों को वास्तविक अभिन्नता के कारण इष्ट कहकर जो 'अनापत्ति' करार दिया है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि हम लोग इस आपत्ति बोधक वाक्य का प्रयोग करते कि चूंकि ग्राह्य और ग्राहक अभिन्न है, अतः एक के ग्रहण से दूसरे का भी ग्रहण अवश्य होना चाहिए तो इस 'अनापत्ति की बात ठीक हो सकती थी। किन्तु हम (मीमांसक) ने इस वाक्य का प्रयोग किया है। हम लोगों ने तो यह कहा है कि ग्राह्य (विषय) एवं ग्राहक (संवित्ति) इन दोनों में से किसी एक के ग्रहण से दूसरा गृहीत ग्राहक दोनों भिन्न ही है।[२८०]

कुमारिक भट्ट ने श्लोक वार्तिक में अन्य दार्शनिकों के लक्षण का प्रत्याखान् करते हुए तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों को स्पष्ट करते हुए माना है कि क्योंकि अनुमानादि में लिङ्गादि के जिस ज्ञान का उपयोग होगा वह सविकल्पक ज्ञान रूप ही हो सकता है। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष प्रमाण मानना ही होगा। इसलिए कि उस सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण से जो लिङ्गादि का ज्ञान होगा, वह द्वतितत्प्रकारक होने से प्रमात्मक होगा, अतः उसका कारण रूप उस सविकल्पक ज्ञान भी अवश्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण है किन्तु इन्द्रियजनित सविकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय से निर्विकल्पक ज्ञान भी उत्पन्न होता है, इसलिए कि इन्द्रियपात के बाद पहिले 'केवल' वस्तु-विषयक ज्ञान ही उत्पन्न होता है, उसमें विशेषण, नाम प्रभृत्ति विषय नहीं होते जैसें कि छोटे बालकों या गूंगे प्रभृति मनुष्यों का जो ज्ञान होता है, जिसका विषयादि के द्वारा विवरण नहीं दिया जा सकता।[२८१]

---

२७९. निराकारत्वसाम्येऽपि................सिध्यति।।११७।। श्लो० वा०

२८०. ग्राह्यग्राहकतैवास्य केनचिन्नोपलभ्यते।
प्रत्यक्षज्ञान पक्षे च नैषा स्यादानुमनिकी।।११८।। श्लो० वा० "इति"

२८१. अस्ति ह्यलोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्। बालमूकादिसदृशं विज्ञानं शुद्धवस्तुजम्।।११२।। श्लो० वा०

'सामान्य' अर्थात् जिससे विभिन्न व्यक्तियों में एक आकार की प्रतीति हो, 'विशेष' अर्थात् जिससे समान विभिन्न व्यक्तियों में भी परस्पर भिन्नत्व की प्रतीति हो-इनस्वरूपों के सामान्य और विशेष इन दोनों में से कोई भी निर्विकल्पक ज्ञान में भासित नहीं होता। इन दोनों का आश्रयीभूत धर्मिस्वरूप वस्तु ही केवल निर्विकल्पक ज्ञान में भासित होती है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान अथवा आलोचन ज्ञान शुद्धवस्तुविषयक ही है, विशेषण विषयक या नाम विषयक नहीं।[२८२]

वेदान्तियों का कहना है कि केवल 'महासामान्य' ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भासित होता है, जिसका ज्ञान 'द्रव्यम्' सत् इत्यादि आकार का होता है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण केवल सामान्य स्वरूप विषय का ही ग्राहक है। (घटत्व-पृथिवीत्वादि विशेष धर्मों का ग्रहण सविकल्पक ज्ञान से होता है)।[२८३]

वे विशेष धर्म दो प्रकार के हैं। कुछ 'विशेष धर्म तो केवल एक ही व्यक्ति में रहते हैं, जैसे कि वैशेषिको 'विशेष' पदार्थ या तद्व्यक्तित्वादि धर्म। कुछ विशेष धर्म ऐसे भी होते हैं, जो अनेक आश्रयों में रहते हैं। जैसे-गोत्व, अश्वादि। ये सत्तादि यहाँ सामान्यों की अपेक्षा विशेष धर्म हैं। किन्तु इनमें से बहुत से आश्रयों में विशेष धर्म सामान्य धर्म भी होते हैं, क्योंकि आश्रयीभूत विभिन्न व्यक्तियों में अनुवृत्तिप्रत्यय को अर्थात् एकाकारक प्रतीति को भी उत्पन्न करते हैं। किन्तु उन धर्मों को व्यावृत्ति बुद्धि के अर्थात् अपने आश्रयों को औरों से भिन्न रूप में समझाने के कारण ही उनकी विशेष धर्म रूप में भी कल्पना की गई है। किन्तु 'सत्' इस एक आकार की प्रतीति ही चूंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गो अश्व प्रभृत्ति विभिन्न व्यक्तियों में होती हैं, अतः सत्ता प्रभृति केवल सामान्य या महासामान्य ही कहे जाते हैं।[२८४]

उपर्युक्त कथन संगत नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य (वस्तु) की उपलब्धि भिन्न-भिन्न रूपों में विर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा होती है। लेकिन वह भेद शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता, तथा यह भी नहीं समझा जा सकता कि निर्विकल्पकज्ञान में भासित होने वाली वस्तुओं में परस्पर में भेद हैं ही नहीं।

अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षुःपात के बाद नील और पीत दोनों

---

२८२. न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते। तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते।।११३।।

२८३. महासामान्यमन्यैस्तु द्रव्यं सदिति चोच्यते।।११४।। श्लो० वा०
विशेषास्तु प्रतीयन्ते सविकल्पक बुद्धिभिः।।११५।। श्लो० वा०

२८४. ते च केचित्..........प्रत्यक्षं न विशिष्यते।।११५-१६।। श्लो० वा०

वस्तुओं का जो विर्विकल्पक होता है, उसे एक ही प्रकार का होता है। इसी तरह तिक्त और मधुर का शीत और ऊष्ण का तथा गौ अश्व का जो चक्षु:पात के बाद निर्विकल्पक बोध होता है, उसे एक ही प्रकार का नहीं कहा जा सकता। अतः निर्विकल्पकज्ञान में भी 'विशेष' का भान होता है।[२८५]

सविकल्पकज्ञान की तरह निर्विकल्पक में भी सामान्य और विशेष एतदुभयात्मक वस्तु ही भासित होती है। वस्तु को उभयात्मक कहने का इतना ही अर्थ है कि वस्तु अपने में रहने वाले सामान्य धर्म और विशेष इन दोनों धर्मों के आश्रयीभूत वस्तु को ही समझता है। वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तु ही भासित होती हैं, उसमें रहने वाला सामान्य धर्म या विशेष धर्म-एतदुभयात्मक है। निर्विकल्पक ज्ञान से ज्ञाता तो केवल सामान्य और विशेष इन दोनों धर्मों के आश्रयीभूत वस्तु को ही समझता है। वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान में केवल वस्तु ही भासित होती हैं, उसमें रहने वाला सामान्य धर्म या विशेष धर्म नहीं क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में जो विषय भासित होता है वह स्वभिन्न-भिन्नत्व रूप में रहने वाले सामान्य (अर्थात् अनुवृत्तिप्रत्यय कारण रूप से ही नहीं) अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान में केवल विषय स्वयं भासित होता है अपने सामान्य धर्म ओर विशेष धर्म के साथ नहीं।[२८६]

निर्विकल्पक ज्ञान के पश्चात् उसी वस्तु का जाति नामादि के साथ जिस सविकल्पक बुद्धि के द्वारा ग्रहण होता है; उस सविकल्पकज्ञान को भी हम लोग प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। इन्द्रियाँ बुद्धि में कारण है, कर्त्ता नहीं, इन्द्रियों में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः यह कहना ठीक नहीं हैं कि सविकल्पकज्ञान, पूर्वज्ञातविषयक होने के कारण स्मृति रूप है एवं स्मृति को उत्पन्न करने की शक्ति इन्द्रियों में नहीं है। सुतराम् स्मृतिरूप-सविकल्पकज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है।[२८७]

इन्द्रियादि करणों से ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होता है, क्योंकि समझने वाला आत्मा स्व-स्वरूप आत्मा में ही विषयों को जान लेता है। आत्मा में ही स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा प्रभृति को उत्पन्न करने का भी सामर्थ्य है। इन्द्रियादि में स्मरणादि ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है।

---

२८५. तदयुक्तम् प्रतिद्रव्यं..............नास्तीति गम्यते।।११७।। वही

२८६. निर्विकल्पक बोधेऽपि...............शुद्ध तु गृह्यते।।११८।। वही

२८७. करणं चेन्द्रियं बुद्धेर्न तत्र ज्ञानमाहितम्।
तत: स्मृत्यसमर्थत्वाद् विकल्पोऽतो न वार्यते।।१२१।। मी० श्लो० वा०

अतः इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के रहते हुए आत्मा अगर स्मृतिरूप सहायक के द्वारा भी नाम-जात्यादि के साथ वस्तुओं के सविकल्पकज्ञान को उत्पन्न करता है तो वह प्रत्यक्षत्व से युक्त ही है, अर्थात् इस प्रकार इन्द्रिय जनित उक्त सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है।[२८८]

इस प्रकार का (स्मृति की सहायता से उत्पन्न) वह सविकल्पक ज्ञान चूंकि इन्द्रिय से उत्पन्न होता है, अतः इन्द्रियों के द्वारा उसका "व्यपदेश" होता है। अर्थात् वह 'प्रत्यक्ष' शब्द से व्यवहृत होता है। जो ज्ञान अपनी उत्पत्ति में सविकल्पक होते हुए भी इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसे हम मीमांसक भी प्रत्यक्ष नहीं मानते। अर्थात् इन्द्रिय जन्यत्व ही 'प्रत्यक्ष' का लक्षण है, इन्द्रियमात्र जन्यत्व नहीं है। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष स्मृति से उत्पन्न होते हुए भी इन्द्रियों से उत्पन्न होने से 'प्रत्यक्ष' है।[२८९]

इस प्रकार इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष के एवं जाति-प्रभृति से युक्त होकर विषयों का ज्ञान बार-बार होता रहेगा, तथापि वे सभी ज्ञान सविकल्पक प्रत्यक्ष' ही कहलायेंगे, क्योंकि सभी ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न है।

'पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि अगर जिस किसी प्रकार इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने से ज्ञान, प्रत्यक्ष कहलाये, तो फिर इन्द्रियपत होने से ही वह क्यों नहीं उत्पन्न हो जाता? अतः केवल इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध का पूर्व में रहना ही प्रत्यक्षत्व का प्रायोजक नहीं हैं इसी आक्षेप का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। अगर किसी को घर के भीतरी भाग में प्रवेश करते ही गर्मी के कारण वहाँ की वस्तु ज्ञात नहीं हो पाती, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे ही विषय वाद में इन्द्रियों से गृहीत नहीं होते।[२९०]

उक्त आक्षेप का उत्तर देते हैं कि उक्त स्थल में उस पुरुष को घर के भीतरी भाग में प्रवेश करते ही वहाँ के जिन विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, उन विषयों का तत्क्षण ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान अस्फुट रहता है, कुछ समय के बाद पुनः इसी विषय का स्फुट ज्ञान उत्पन्न

---

२८८. विकल्पयन् स्वधर्मेण वस्तुप्रत्यक्षवान् नरः॥१२३॥ मी० श्लो० वा०

२८९. तच्चैतदिन्द्रियं.............प्रत्यक्षमिष्यते॥१२४॥ श्लो० वा०

२९०. न हि प्रविष्टमात्राणामुष्णाद् गर्भगृहादिषुं
अर्था न प्रतिभान्तीति गृह्यन्ते नेन्द्रियैः पुनः॥१२६॥ श्लो० वा०

होता है। किन्तु इस प्रकार तो प्रकृत में भी कहा जा सकता है कि विषय के ऊपर इन्द्रियपात होते ही केवल विषय का अस्फुट ज्ञान ही उत्पन्न होता है, बाद में उसी विषय के नाम जात्यादि से युक्त रूप से अच्छी तरह समझा जा सकता है।

अगर स्मृति के बाद उत्पन्न होने वाले सविकल्पक ज्ञान को केवल इन्दिय व्यापार के न रूकने के कारण ही प्रत्यक्ष माना जाय तो फिर निर्विकल्कपकज्ञान के बाद आँखों को मूँद रखने वाले पुरुष के सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। इसी पूर्व-पक्ष का समाधान 'यदि त्वालोच्य' इस श्लोक से किया गया है।) निर्विकल्पक ज्ञान के बाद इन्द्रियों को समेट लेने पर किसी को उस विषय का सविकल्पक ज्ञान होता है भी तो वह सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता क्योंकि उस सविकल्पक ज्ञान से पहिले इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध नहीं हैं।[२९१]

यद्यपि प्रत्यक्ष और अनुमानादिज्ञान इन सबों के प्रति आत्माप्रभृति समान रूप से कारण है किन्तु विषय और इन्द्रिय का सन्निकर्ष केवल सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही विशेष रूप से कारण है। अतः इन्द्रिय बोधक 'अक्ष' शब्द से युक्त "प्रत्यक्ष' शब्द से प्रकृत सविकल्पक साक्षात्कार रूप ज्ञान का ही व्यवहार होता है।[२९२]

इसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान में भी 'केवल' इन्द्रिय कारण नहीं है किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष की तरह विषय के साथ संबद्ध इन्द्रिय ही निर्विकल्पकज्ञान का भी कारण है। अतः निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग इन्द्रिय-सम्बन्ध मूलक ही है। अथवा निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति, इन्द्रिय-सन्निकर्ष रूप-व्यापार के बिना मान लेने पर भी इन्द्रिय में जो निर्विकल्पक ज्ञान का परम्परया कारणत्व है, उसी से उसमें 'प्रत्यक्ष' शब्द के प्रयोग की आपत्ति हो सकती है, अतः 'प्रत्यक्ष' शब्द को साक्षात्कारात्मक ज्ञान में 'रूढ़' भी मानते हैं-जैसे कि 'पंकज' शब्द का 'पंकाज्जातः' इस प्रकार का 'योग'कमल एवं पंक से उत्पन्न कुमुदादि में साधारण रूप से रहने पर भी कमल में 'पंकज' शब्द को रूढ़ भी मान लेते हैं जिससे कुमुदादि में पंकज शब्द का प्रयोग नहीं हो पाता। उसी प्रकार प्रत्यक्ष शब्द के योगार्थ अनुमानादि भी है, किन्तु वे प्रत्यक्ष शब्द के रूढ्यर्थ नहीं है। अतः उनमें 'प्रत्यक्ष' शब्द का प्रयोग नहीं हो पाता है।[२९३]

---

२९१. यदि त्वालोच्य................विकल्पयेत्...न स्यात्....अनुसारतः।।१२८।।

२९२. असम्बन्ध विकल्पेऽपि तुल्यमात्मादि कारणम्।श्लो० वा०

२९३. निर्विकल्पबोधेऽपि नाक्षं केवलकारणम्।
तत्पारम्पर्यजाते वा रुढि;ः स्यात् पङ्कजादिवत्।।१३०।। मी० श्लो० वा०

अथवा 'प्रत्यक्ष' शब्द को सविकल्पक प्रत्यक्ष में केवल रूढ़ ही मानें (प्रत्यक्ष शब्द को पंकज शब्द की पंकज शब्द की तरह 'योगरूढ़' न माने) तदनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष शब्द का मुख्य व्यवहार होना चहिए, क्योंकि साधारण जन जिस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष शब्द भूरि प्रयोग करते हैं उस रीति से उतनी मात्रा में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में साधारण जन प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग नहीं करते।[२९४]

जिन ज्ञानों में प्रत्यक्ष शब्द की प्रसिद्धि वृद्धानुमत हो, उनमें यदि प्रत्यक्ष पद की रूढ़ि न माने तो बौद्धों के मत में भी, स्वसंवित्तिरूप ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का व्यवहार किस रूप में उपपन्न होगा? अगर मन रूप इन्द्रिय के सम्बन्ध द्वारा उस 'स्वसंवित्तिरूप' ज्ञान में प्रत्यक्षत्व का सम्पादन करें तो फिर मन का यह सम्बन्ध गोत्वादि विषयों के साथ भी उसी प्रकार है। अतः मन रूप इन्द्रिय से गोत्वादि का प्रत्यक्ष भी मानना होगा।[२९५]

अगर इसका इस प्रकार समाधान करें कि मन चूंकि इन्द्रिय है, अतः उसमें प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति अवश्य है, किन्तु यह शक्ति घटत्वादि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष के लिए उपयोगी नहीं है। मन से केवल 'स्वसंवित्ति' रूप आन्तर-विषय का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः मन से गोत्वादिविषयक प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं दी जा सकती। (लेकिन यह समाधान भी ठीक नहीं है) क्योंकि साधारण जन तो मन से भी बाह्य विषयों का ही प्रत्यक्ष मानते हैं। 'स्वसंवित्ति' प्रभृति आन्तरविषयों का नहीं। अतः साधारणजनों के व्यापार की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसलिए साधारणजों को अनुभव के अनुसार बाह्यविषयक इन्दियजनित सविकल्पज्ञान में "रूढ़ि" और "परिभाषा" इन दोनों में से किसी एक को मानना ही होगा। केवल इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान में ही प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार लोकविरुद्ध होगा, क्योंकि इन्दिय-सम्बन्ध से उत्पन्न निर्विकल्पक ज्ञान में जनसाधरण "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग नहीं करते।[२९६]

अथवा जिस विषय का निर्विकल्पक ज्ञान होगा उस विषय में मन भी इस निर्विकल्पक ज्ञान के साहाय्य से गोत्वादि बाह्य विषयों में प्रवृत्त होकर तद्विषयक

२९४. प्रत्यक्षं सम्मतं लोके न तथा निर्विकल्पकम्॥१३१॥

२९५. कल्पनायाः स्वसंवित्ताविन्द्रियाधीनता कथम्। मनस्तत्रेन्द्रियं चेत् स्याद् गोत्वादापि तत्समम्॥१३४॥

२९६. स्वसंवित्तौ.................. ह्येवमिच्छति, तस्मात्...............अपि वा॥१३५॥

सविकल्पक प्रत्यक्ष का सम्पादन कर सकता है इस प्रकार मन से उत्पन्न अनुमानादि स्वरूप सविकल्पक ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति का वारण ही हो सकता है। बाह्य इन्द्रियों के साहाय्य के बिना भी केवल मन से सुख-दुःखादि विषयों के प्रत्यक्ष का होना सभी मानते हैं।[२९७]

जैसे आप (बौद्धों) के मत में 'स्वसंवित्ति' रूप ज्ञान और 'गोत्वादि विषयक सविकल्पक ज्ञान' दोनों ही समान रूप से मन से उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रत्यक्ष के लक्षण में चूंकि 'कल्पनापोढ़' शब्द का उपादान है अतः 'कल्पनारूढ़' गोत्वादि संवेदनों में प्रत्यक्ष शब्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु 'कल्पनापोढ़' स्वसंवित्तिरूप ज्ञान में ही प्रत्यक्षत्व का व्यवहार होता है उसी प्रकार हम लोगो के मत में भी प्रत्यक्ष लक्षण के लक्ष्य को इन्द्रियजन्य होने के समान "अपरोक्षावभासी" भी होना चाहिए। ऐसा मान लेने पर वहीं ज्ञान प्रत्यक्ष कहलायेगा, जिसका अनुव्यवसाय "साक्षात्करोमि" इस आकार का होगा। अतः अनुमानादि सविकल्पक ज्ञानों में प्रत्यक्षलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय अर्थ के सन्निकर्ष के बाद जो सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह चूंकि लिङ्गज्ञान, सादृश्यज्ञान प्रभृति करणों से उत्पन्न नहीं होता है अतः उसे अनुमान प्रभृति में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। इसलिए परिशेषात् उसे प्रत्यक्ष ही कहना पड़ेगा। (इस प्रकार परिशेषानुमान से भी इनिद्रयजनित सविकल्कज्ञान में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि अवाधित है।) यतः उसके प्रामाण्य की बाधा के लिए कोई भी दोषरूप बाधक उपस्थित नहीं है, अतः उसे अप्रमाण भी कहना ठीक नहीं है।[२९८]

एवं उसका विषय पहले से ज्ञात नहीं है, अतः इन्द्रियजनित सविकल्पक ज्ञान स्मृति-स्वरूप भी नहीं है (फलतः अनुभव रूप ही है) अतएव वह प्रत्यक्ष-प्रमाण' ही है, तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुमानादिबाध के जितने भी 'व्यवहार' होते हैं वे सभी इन्द्रियजनित सविकल्पकज्ञान में समान रूप से होते हैं अतः यह भी अवश्य ही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[२९९]

---

२९७. मनसस्त्विन्द्रियत्वेन................; यथा................भविष्यति।।१३६।।

२९८. लिङ्गाद्यभावतश्चापि...............................च युज्यते।।१३८।। श्लो० वा०

२९९. न च पूर्वमदृष्टत्वात् स्मृतित्वमुपपद्यते। तस्मात् प्रत्यक्षमेवेदम् व्यवहारस्तथैव च।।१३९।। श्लो० वा०

अनुमान :–

प्रमाताज्ञातसम्बन्ध :–कथित अनुमानलक्षण के बोधक वाक्य में प्रयुक्त 'ज्ञातसम्बन्धस्य' पद के समाज्ञ के भेद से चार अर्थ हो सकते हैं :–

१. 'ज्ञातः सम्बन्धों येन' इस समास के अनुसार ज्ञातसम्बन्ध पद से अनुमितिस्वरूप प्रमिति का कर्त्ता (ज्ञाता) अभिप्रेत है। तदनुसार उक्त अनुमान लक्षण वाक्य की संस्कृत व्याख्या इस प्रकार की होगी "ज्ञातसम्बन्धस्य प्रमातुः पुरुषस्य हेतु स्वरूपैकदेशस्य सम्बन्धाद् बह्विस्वरूपैकदेशान्तरे चक्षुषाऽसंनिकृष्टे या बुद्धिरुत्पद्यते सा अनुमितिः तत्करणमनुमानं प्रमाणम्"। अर्थात् जिस पुरुष को हेतु में साध्य के व्यप्तिस्वरूप सम्बन्ध का ज्ञान है, उस पुरुष में उस सम्बन्ध के एकदेश अर्थात् एक सम्बन्धी स्वरूप हेतु के ज्ञान से चक्षु से असंनिकृष्ट उसी सम्बन्ध के दूसरे सम्बन्धी वह्नि के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको 'अनुमिति' कहते हैं।

एकदेश्यथवोच्यते :–

२. अथवा उक्त 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से सपक्ष (दृष्टान्त) स्वरूप 'एकदेशी' ही विवक्षित है। ज्ञात सम्बन्धस्य इस समस्त पद का यह विग्रह अभिप्रेत है। 'ज्ञातः सम्बन्धो..सा अनुमितिः।' अर्थात् महानसादि सपक्षों में धूम एवं वह्नि का नियत सामानाधिकरण्य स्वरूप व्याप्ति सम्बन्ध ज्ञात होता है। उस व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध का एक एक देश है धूम औद दूसरा एकदेश (सम्बन्धी) है वह्नि। चूंकि इन दोनों का सम्बन्ध महानस में ही ज्ञात होता है, अतः महानस (सपक्ष) इन दोनों ही एकदेशों का सन्धि स्थल है। अतः 'सपक्ष' ही एकदेशी शब्द से अभिप्रेत है। इस सपक्षरस्वरूप एकदेशी के धूम स्वरूप एकदेश के ज्ञान से चक्षु से असंनिकृष्ट दूसरे वह्नि स्वरूप एकदेश में (विधेयता सम्बन्ध से) जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसको 'अनुमिति' कहते हैं। इस अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है।[३००]

कर्मधारयपक्षो वा.......एकदेशता॥

३. अथवा 'ज्ञातसम्बन्ध' पद से ज्ञातश्चासौ सम्बन्धश्चेति ज्ञात सम्बन्धः' इस व्युपत्ति के द्वारा सपक्ष में ज्ञात वह्नि और धूम का व्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध

---

३००. प्रमाता ज्ञातसम्बन्ध एकदेश्यथवोच्यते।
कर्मधारयपक्षो वा सम्बन्धिन्येकदेशता।।२।। मी० श्लो० वा०

ही अभिप्रत हैं सभी सम्बन्धद्विनिष्ठ होते हैं। इसलिए अपने दोनों ही सम्बन्धियों में एक ही सम्बन्ध के रहने से प्रकृत में सम्बन्ध ही एकदेशी है। सम्बन्ध रूप एकदेशी का जो 'हेतु' स्वरूप प्रथम एकदेश, उसके ज्ञान से सम्बन्ध स्वरूप एक देशी के ही चक्षु से असंनिकृष्ट दूसरा साध्यस्वरूप एकदेश में उत्पन्न होने वाली बुद्धि अनुमिति है।

४. किं वा हेतु एवं साध्य इन दोनों का समुदाय ही प्रकृत में 'ज्ञात-सम्बन्ध' शब्द से अभिप्रेत हैं तदनुकूल समास इस प्रकार है-'ज्ञातः सम्बन्धो ययोः तयो समुदाय एव ज्ञातसम्बन्ध शब्दार्थः। हेतु और साध्य इन दोनों के समुदाय का जो 'समुदायी' अर्थात् एकदेश (हेतु) उसके ज्ञान में इन्द्रियासंनिकृष्ट जो उसके दूसरे समुदाय अर्थात् साध्यस्वरूप एकदेशान्तर उसमें विधेयता सम्बन्ध से होने वाली बुद्धि ही अनुमिति प्रमा है एवं उसका कारण ही अनुमान प्रमाण है।

अनुमान के उक्त लक्षण में उपात्त 'सम्बन्ध' शब्द से लिङ्ग (हेतु) स्वरूप 'धर्म' का लिङ्गि (साध्य) के साथ 'व्याप्ति' स्वरूप सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। इस सम्बन्ध में व्याप्त (हेतु) ही अनुयोगी एवं गमक है, एवं व्यापक ही प्रतियोगी है एवं गम्य (ज्ञाप्यय) है।[३०१]

जो जिस पदार्थ से न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल अथवा समकाल में रहे, वही उस वस्तु का 'व्याप्य' है। एवं (तुल्यन्याय से) जो जिससे अधिक देश एवं अधिक काल में रहे किंवा समकाल में भी रहे, वहीं उसका 'व्यापक' है। फलतः जो जिससे अधिक देश अथवा अधिक काल में न रहे, वहीं उस वस्तु का व्याप्य है। एवं जो जिससे न्यूनदेश अथवा न्यूकाल में न रहे वही उसका 'व्यापक' है।[३०२]

व्याप्य और व्यापक के कथित लक्षण के कारण ही क्रमशः व्याप्त यदि कालतः एवं देशतः व्यापक की अपेक्षा न्यून अथवा समकाल का होता है तो व्याप की भूत वस्तु के देश और काल का अतिक्रमण नहीं करता, इसलिए उक्त लक्षण से युक्त व्याप्य के गृहीत होने पर व्यापक गृहीत हो जाता है। यदि उक्त

---

३०१. सम्बन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना।
व्याप्योस्य गमकत्वं च व्यापकं गम्यमिष्यते।।४।। श्लो० वा०

३०२. यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत्।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाप्यधिकोऽपि वा।।५।। श्लो० वा०

रूप की वस्तु के व्याप्य के गृहीत होने पर भी वह गृहीत नहीं होगा तो फिर दोनों में व्याप्य व्यापक भाव ही भंग हो जाएगा। धूमादि ज्ञापक वस्तुओं की सत्ता यदि ज्ञाप्य वह्नि प्रभृति वस्तुओं के देशकाल के अतिरिक्त देशकालों में भी माने तो ज्ञापक वस्तुओं का 'अधिकवृत्ति' हो जायेगा, एवं तद्भिन्न' ज्ञाप्य पदार्थ व्यपाक नहीं रह जायगा। व्यापक पदार्थ से अधिक देश में न रहने वाली वस्तु में व्याप्य पदार्थ की गमकता (ज्ञापकता) बराबर अक्षुण्ण रहेगी। व्यापक पदार्थ व्याप्य पदार्थ के समान अधिकरण में रहे अथवा या अधिक अधिकरणों में रहे कभी भी व्याप्त पदार्थ का ज्ञापक नहीं होगा, क्योंकि वह व्याप्य पदार्थ के देश और काल को छोड़कर भी रहता है।[३०३]

यद्यपि व्यापक का अनुमान 'घटोऽनित्यः कृतकत्वात्' इत्यादि स्थलों में होता है तथापि उक्त व्यापकीभूत वस्तु अपने व्यापकत्व के बल से उक्त व्याप्यनुमान का हेतु नहीं है। किन्तु वह चूंकि ज्ञाप्य (साध्य) का व्याप्य है, इसलिए वह उस साध्य का ज्ञापक हेतु है।

कहने का भाव है कि कृतकत्व एवं अनित्यत्व ये दोनों समदेश और समकाल में रहने वाले हैं। अतः इन दोनों में से कोई भी एक दूसरे का व्याप्य और व्यापक दोनों है। किन्तु उनमें ज्ञापकता अपने व्याप्यत्व के कारण ही है भले ही वह व्यापक भी हो। इस प्रकार ज्ञाप्यता भी उनमें व्यापकता के कारण ही है, व्याप्यता के कारण नहीं, भले ही वह व्याप्य भी हो।[३०४]

यह बात गोत्व एवं विषाणित्व (विषाण) के प्रसङ्ग में स्पष्ट है। गोत्व न्यून देशवृत्ति होने के कारण विषाण का व्याप्त ही है, व्यापक नहीं। गोत्व में विषाण की व्याप्यता उसकी व्यापकता के साथ नहीं है, अर्थात् गोत्व में विषाण असङ्कीर्ण व्याप्यता है। अतः यहाँ गोत्व से विषाण का ही अनुमान होता है, व्यापकीभूत विषाणित्व से गोत्व का अनुमान नहीं होता।[३०५]

चूंकि व्याप्यत्व (व्याप्ति) ही हेतु में साध्यज्ञापकत्व का प्रयोजक है, अतः

---

३०३. तेन व्याप्ये गृहीतेऽथे व्यापकस्तस्य गृहीते।
न ह्यन्यथा भवत्येषा व्याप्यव्यापकता तयोः।।६।। श्लो० वा०

३०४. व्यापकत्वगृहीतस्तु व्याप्यो यद्यपि वस्तुतः। अधिक्येऽप्यविरुद्धत्वाद् व्याप्यं न प्रतिपादयेत्।।७।।

३०५. व्याप्यत्वाद् गमिका गावो व्यापिका न विषाणिता।।८।। श्लो० वा०

जिन दो वस्तुओं में समान रूप से एक दूसरे की व्यापकता और व्याप्यता दोनों ही हैं ऐसे स्थलों में भी अनुमिति का प्रयोजक ज्ञाप्य (साध्य) की व्याप्यता ही होगी। भले ही उसमें ज्ञाप्य (साध्य) की वस्तुतः व्यापकता भी रहे। अतः उसमें (हेतु में) साध्य की व्यापकता के रहते हुए भी वह व्यापकता साध्य की अनुमिति की प्रयोजक नहीं होगी।[३०६]

तस्मात् 'एषा' साध्य के न्यूनस्थानों में अस्तित्व मूलक अथवा साध्य के समान अधिकरणों में अस्तित्व मूलक हेतु की 'व्याप्यता' जिस प्रकार के अविराम रेखा से युक्त धूमादि हेतुओं में जिस प्रकार के 'आर्द्रेन्धन-संयोगादि विशिष्ट बह्नि के साध्य' 'धर्म्यन्तर' में अर्थात् पक्ष से भिन्न महानसादि धर्मियों में ज्ञात है, उसी प्रकार का व्याप्यांश उसी प्रकार के तावद्देशकालवर्त्ति साध्य की अनुमिति को उत्पन्न करता है। व्यापक के व्याप्त की अनुमिति नहीं होती है। धर्म्यन्तरेषु' पद से यह ध्वनित होती है कि सपक्ष में साध्य के साथ हेतु के सामानाधिकरण्य का दर्शन ही व्याप्यत्व का या व्याप्ति का प्रयोजक है। इसके लिए साध्य के सभी आश्रयों में हेतु के सामानाधिकरण्य का दर्शन प्रयोजक नहीं है।[३०७]

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि सपक्ष भी तो बहुत से हो सकते हैं, उन सभी सपक्षों में किसी एक प्रमाण से व्याप्ति का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण किसी काल और किसी विशेष देश के साथ नियमित है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि व्याप्ति किसी एक प्रमाण से निश्चित नहीं होती। बहुत से प्रमाण के द्वारा महानसादि अनेक सपेक्षों में धूम और अग्नि का जब साहचर्य देखा जाता है, एवं कहीं भी व्यभिचार नहीं देखा जाता, तब कहीं जाकर व्याप्ति निर्णीत होती है।

जो धूम पर्वत में देखा जाता है महानस में उसी का साहित्व अग्नि के साथ तो देखा नहीं जाता। इस प्रकार गोष्ठादि में भी पर्वतीय धूम से भिन्न दूसरे धूम का ही साहचर्य वह्नि के साथ देखा जाता है। अतः प्रश्न होता है कि किस धूम में किस वह्नि की व्याप्ति है? किस धूम के साथ किस वह्नि का साहचर्य किस धूम में किस वह्नि की व्याप्ति का प्रयोजक है?

इन उक्त प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है कि 'भूयोदर्शन' से अर्थात् बराबर साथ देखे जाने से धूमसामान्य में वह्निसामान्य की व्याप्ति ही गृहीत होती है।

---

३०६. तत्रापि व्याप्यतैव स्यादङ्गं न व्यापिता पुनः।।९।। श्लो० वा०

३०७. तस्य तावति तादृक् स दृष्टो धर्म्यन्तरे पुनः।
व्याप्यांशो व्यापकांशस्य तथैव प्रतिपादकः।।११।। श्लो० वा०

सामानधिकरण्य में जो महानसोयत्वादि विशेष धर्म है, उनका व्याप्ति में 'हान' अर्थात् 'प्रमोष' हो जाता है अर्थात् वे विशेष धर्म व्याप्ति से छंट जाते हैं।[३०८]

कहीं-कहीं विशेषव्यक्ति के साथ विशेषव्यक्ति की भी व्याप्ति गृहीत होती हैं जैसे कि कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देखकर उस देश में रोहिणी नक्षत्र के सम्बन्ध में व्याप्ति गृहीत होती है![३०९]

यदि यह मान लिया जाये कि व्याप्य से व्यापक का अनुमान होता है तो फिर अग्नीषोमीयपशु प्रभृति को यज्ञीयहिंसा में भी हिंसात्व हेतु से अधर्मत्व के अनुमान की आपत्ति होगी। किन्तु यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि अधर्म में हिंसात्व की व्याप्ति के रहते हुए भी हिंसात्व अधर्मत्व का प्रयोजक नहीं है। अधर्मत्व का प्रयोजक है निषिद्धत्व। अर्थात् हिंसा केवल हिंसा होने के नाते ही अधर्म नहीं है किन्तु हिंसा चूंकि निषिद्ध है इसलिए अधर्म है। अग्नीषोपीय हिंसा चूंकि निषिद्ध नहीं है अतः हिंसा होते हुए भी अधर्म नहीं है।[३१०]

जिस हेतु में साध्य के अन्वय के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा न हो वहीं 'प्रयोजकहेतु' है। जिस हेतु में साध्य का अन्वय किसी दूसरे वस्तु के अधीन हो, उसके न रहने से साध्य का अन्वय न रहे, वहीं हेतु 'अप्रयोजक' है। निषिद्धत्व तो सुरापानादि में भी है, किन्तु हिंसात्व नहीं है। फिर भी उनमें अधर्मत्व है। हिंसात्व निषिद्धत्व को साथ लेकर ही अधर्मत्व के साथ रहता है। अतः हिंसात्व अधर्मत्व का साथक 'प्रयोजक' हेतु नहीं है।

निषिद्ध होने के कारण ही हिंसा अधर्म है। स्वयं हिंसात्व अधर्मत्व का प्रयोजक नहीं है। अतः 'हिंसा अधर्मरूपा हिंसात्वात्' इस आकार के अनुमान में 'हिंसात्व' के अप्रयोजक होने के कारण दोष नहीं है, किन्तु 'हिंसा अधर्मस्वरूपा निषिद्धत्वात् सुरापानादिवत्' इस प्रकार अधर्मत्व के प्रयोजक निषद्धत्व हेतु से ही हिंसा में अधर्मत्व की सिद्धि हो सकती है।[३११]

'तस्मात् जिस हेतु में साध्य का साधन करने की शक्ति ज्ञात हो वही हेतु

---

३०८. भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः।
ज्ञायते भेदहानेन कश्चिच्चापि विशेषयोः।।१२।। श्लो० वा०

३०९. कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिग्यासत्तिक्लृप्तिवत्।।१३।। श्लो० वा०

३१०. व्याप्तेश्चदृथ्यमानाया......................व्यापकांशावधारणा।।१४-१५।। श्लो० वा०

३११. निषिद्धत्वेन हिंसानामधर्मत्वं.............प्रयोजकात्।।१७-१८।। श्लो० वा०

साध्य का साधक हो सकता है। साध्य की व्याप्ति से युक्त होने पर भी यदि साध्य का साधन करने की 'प्रयोजकत्व' रूपा शक्ति किसी हेतु में ज्ञात नहीं है तो फिर उस हेतु से साध्य का साधन नहीं हो सकता।

शब्द प्रमाण :–

कुमारिल भट्ट ने शब्द प्रमाण को पृथक् रूप में प्रमाण स्वीकार किया है। वे उन मीमांसकों का खण्डन करते हैं जो शब्द प्रमाण को अलग से प्रमाण न स्वीकार करके अनुमान में ही शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव करते हैं। वे अनुमान के ही अर्थ लिंगक और शब्दलिंगक दो भेद करते हैं, एवं अर्थलिंगक अनुमान के उदाहरण के रूप में धूमादिलिंगक वह्नि प्रभृति के अनुमानों को एवं शब्दलिंगक अनुमान के उदाहरण के रूप में 'घटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यजनित 'अस्तिवान् घट:' इत्यादि अनुमितियों को उपस्थित करते हैं। इस दृष्टि से धर्म को अनुमानगम्य इस लिये कहा जाता है कि 'धर्म' अर्थात्मक लिंगजनित अनुमान का विषय नहीं हैं। वेद स्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय तो धर्म ही है।[३१२]

भविष्यत् होने के कारण प्रत्यक्षावेद्य धर्म को अनुमान का भी जो अविषय कहा गया है। वह कथित अर्थलिंगक अनुमान से अगम्य होने के कारण ही। अर्थात् धर्म का 'अनुमानागम्यत्व' अर्थलिंगक अनुमान से अगम्यत्व स्वरूप ही है फलत: धर्म भी वेदस्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय है ही।

'अनु पश्चात् मानस् अनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार यदि 'ज्ञानान्तरभाविज्ञानत्व' को ही 'अनुमान' शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त मानें और तदनुसार शब्दज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण, शब्दबोध को भी अनुमान की संज्ञा दें तो हम लोगों को इस में कुछ आपत्ति नहीं है, क्योंकि इससे वेद स्वरूप आगम के प्रामाण्य में कोई बाधा नहीं आती है।[३१३]

यदि "ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसंनिकृष्टेऽर्थेबुद्धि:" भाष्यस्थ इस अनुमान लक्षण के अनुसार शाब्दबोध की अनुमिति कहना चाहे, तो इस लक्षण के अनुसार धर्म वेद स्वरूप शब्दलिंगक अनुमान का विषय नहीं होगा, जिससे वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। अर्थात् लक्षण के अनुसार यदि शब्द

---

३१२. अनुमान विशेषोऽयमीदृग् धर्मस्य बोधक:।।४४।। श्लो० वा०

३१३. भविष्यत्यर्थरूपं तु लिंगं धर्मे निराकृतम्।। संज्ञानुमानतेच्छा तु न दुष्येदागमेऽपि न:।।४५।।

को अनुमान से अभिन्न माने तो शब्द में अप्रामाण्य के द्वारा वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति अवश्य होगी। यदि 'शब्द' को भी शब्दव्युत्पत्ति रूप योग के अनुसार अनुमान शब्द का अभिधेयमात्र मानें तो वेदों में अप्रमाण्य की आपत्ति नहीं होगी।[३१४]

आप्त पुरुष स्वरूप विशेष वक्ता की बुद्धि के बिना केवल शब्द से अर्थ का अनुमान संभव नहीं है। इसलिए जो कोई शब्द को लक्षणतः अनुमान का विषय मानेंगे, उन्हें अर्थाविसंवाद के साथ आप्तोक्तत्व की व्याप्ति को आगे रखना ही होगा। इस व्याप्ति की संभावना केवल पौरुषेय वाक्य में ही है, क्योंकि अपौरुषेय वेद का जो अर्थाविसंवाद है वह आप्तोक्तत्वमूलक नहीं है। इसलिए वेद में अनुमान विधया प्रामाण्य संभव नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो वेदो में पौरुषेयत्व की आपत्ति होगी।[३१५]

यदि लक्षण के अनुसार भी सभी शब्दों को अनुमानविधया प्रमाण माने तथापि वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अनुमान के द्वारा ही विधि वाक्य से प्रतिपादित 'कार्य' स्वरूप अर्थ में वेद के प्रामाण्य का द्वारा प्रतिपादित वायु का क्षिप्रगामित्व अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। क्योंकि 'वायुर्वै' इत्यादि वाक्य के अर्थ में सत्यत्व की व्याप्ति उपलब्ध है। उसी को दृष्टान्त बनाकर 'अग्निहोत्रंजुहुयात्' इत्यादि अन्य वेदवाक्यों में भी प्रामाण्य का समर्थन किया जा सकता है।[३१६]

नादित्ययूपेनैकान्तात्

'आदित्यो वै यूपः' इस वेद वाक्य के द्वारा प्रतिपादित यूप का आदित्य स्वरूप होना प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः उक्त अनुमान का वैदेकदेशत्व' हेतु उक्त वाक्य में रहने पर भी 'अर्थाविसंवाद' स्वरूप (सत्यत्व) नहीं है। अतः उक्त वैदेकदेशत्व हेतु व्यभिचारी होने के कारण 'अर्थाविसंवाद' (सत्यत्व) का साधक नहीं हो सकता। अतः लक्षणतः शब्द को अनुमान से अभिन्न से अभिन्न मानने

---

३१४. लक्षेणन त्वभिन्नत्वं यदि शब्दानुमानयोः। वेदज्ञानाप्रमाणत्वं स्यादतल्लक्षणत्वः।।४६।। श्लो० वा०

३१५. आप्तवादाविसंवाद सामान्यान् नृवचस्सु हि।
लक्षणेनानुमानत्वात् प्रामाण्यं सिद्धिमृच्छति।।४७।। श्लो० वा०

३१६. नन्वेकदेशसत्यत्वे..................वाक्यवत्।।४९।। श्लो० वा०

पर जो वेदों में अप्रामाण्य की आपत्ति आती है। उसका निवारण नहीं किया जा सकता।

तद्वद्वा गौणता भवेत्

इस अनैकान्तिकत्व दोष के निवारण के लिए कहा जा सकता है कि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि वाक्यों के समान ही 'आदित्यो वै यूपः' इत्यादि वाक्यों को भी यूप की स्तुति का प्रयोजक कहा जा सकता है। अतः उसमें भी 'अर्थाविसंवाद' स्वरूप साध्य है ही। इसलिए उक्त वैदेकदेशत्व हेतु व्यभिचरित नही है। इस समाधानाभास का यह प्रतिसमाधान है कि यदि आदित्य-वाक्य की क्षेपिष्ठ-वाक्य की तरह स्तावक मानेंगे तो उन्हीं दोनों वाक्यों की तरह अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि मुख्य विधिवाक्यों की भी गौण' भी मानना होगा, क्योंकि क्षेपिष्ठ-वाक्य को इसलिए प्रमाण मानते हैं कि उसका प्रतिपाद्य वाक्य वायु का क्षिप्रगामित्व अन्य प्रमाण से सिद्ध है। इसी दृष्टान्त के अनुसार अग्निहोत्रादि मुख्य वाक्यों को भी किसी प्रकार किसी देवता की स्तुति के द्वारा प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ का ज्ञापक मानकर ही प्रमाण मानना होगा, जिससे इन मुख्य वाक्यों में 'गौणता' आ जायेगी। अर्थात् ये वाक्य भी विधिवाक्य न रहकर अर्थवाद वाक्य हो जायेंगे।[३१७]

'तस्मात्' यदि अनुमानलक्षणाक्रान्त होने के कारण ही शब्द में अनुमानविधया प्रामाण्य माने तो यह प्रामाण्य लौकिकवाक्यों में और वैदिकवाक्यों में दोनों में ही समान रूप से स्वीकार करना होगा। ऐसा संभव नहीं है कि लौकिक वाक्यों की तो अनुमान विधया प्रमाण माने, किन्तु वैदिकवाक्यों को अनुमान निरपेक्ष स्वतन्त्र शब्द प्रमाण मानें।[३१८]

जिस लिये कि लौकिक वाक्य एवं वैदिक वाक्य दोनों में समान युक्ति से समानधर्म प्रयुक्त ही प्रामाण्य है, इसलिए अक्षपादोक्त 'आप्तोपदेशः शब्द' (न्या० सू०) यह शब्द प्रमाण का लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि वेद चूंकि किसी के द्वारा रचित नहीं है, अतः आप्तोक्तत्वप्रयुक्त प्रामाण्य वेदों में संभव नहीं है। एवं लौकिक शब्दों का प्रामाण्य भी उसके आप्तोक्तत्वप्रयुक्त नहीं है।

---

३१७. तस्माल्लक्षणभेदेन यदि शब्दप्रमाणता। समा लोके च वेदे च सिद्धा वेद प्रमाणता॥५१॥
३१८. तेन चाप्तोपदेशत्वं...प्रमाणता॥५२॥ श्लो० वा०

वैदिक वाक्यों का ही नहीं लौकिक वाक्यों का प्रामाण्य भी आप्तपुरुषों के अधीन नहीं हैं। इस प्रसङ्ग में युक्तियाँ पहले दी जा चुकी है कि यदि दोष न जान पड़े तो लौकिक वैदिक सभी वाक्य स्वतः प्रमाण ही है।[३१९]

शब्द में अनुमानभिन्नत्व के प्रतिपादन का मूल उद्देश्य चोदना स्वरूप शब्द में प्रामाण्य का प्रतिपादन करना ही है। सो हो चुका। अब शब्द प्रमाण में अनुमान भेद के साधक युक्तियों का प्रतिपादन ही अवशिष्ट है। अनुमान के साथ शब्द की इतनी ही समता है कि दोनों भिन्न होते हुए समान रूप से प्रमाण है।[३२०]

प्रमाण स्वरूप शब्द में ही अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन इष्ट है। प्रमाणभूत शब्द (१) पद और (२) वाक्यभेद से दो प्रकार के हैं। हम लोग यद्यपि 'पद' को प्रमाण नहीं मानते 'वाक्य' को ही प्रमाण मानते हैं। अतः पद स्वरूप शब्द में अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन हम लोगों के लिए आवश्यक नहीं है। फिर भी जो लोग शब्द को अनुमान विधया प्रमाणमानते है। वे 'पद' को ही प्रमाण मानते हैं, वाक्य को नहीं। अतः पहले पद स्वरूप शब्द में ही अनुमान के अभेद का खण्डन करते हैं।[३२१]

शब्द को अनुमान से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण मानने में (१) पहली युक्ति यह है कि दोनों के ज्ञाप्य (प्रमेय) भिन्न हैं। आगे यह निर्णय करना है कि 'सामान्य' ही शब्द प्रमाण का विषय है। अनुमान प्रकरण में धर्मविशिष्ट धर्मी 'स्वरूप विशेष को ही अनुमान का विषय कहा गया है। अतः भिन्न विषयों के ज्ञापक होने के कारण शब्द अनुमान स्वरूप नहीं हो सकता।[३२२]

पहले इस प्रसंग के श्लोक-१८ में कहा जा चुका है कि शब्द स्वरूप लिङ्ग में जब तक पक्षसत्त्वादि त्रैलक्षण्य का विघटन नहीं दिखलाया जाता, तब तक अन्य किसी वैलक्षण्य के दिखाने से उसमें अनुमानभिन्नत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। अतः प्रकृत में 'विषयभेद' का प्रदर्शन युक्त नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अनुमान प्रमाण उन सभी विषयों का ज्ञापक नहीं है जिन विषयों का बोध शब्द प्रमाण से होता है। एवं शब्द प्रमाण भी उन सभी विषयों का ज्ञापक नहीं है। जिनका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। अर्थात् 'एकदेशज्ञानादेशान्तरे' बुद्धि इस सन्दर्भ द्वारा भाष्यकार ने 'विशिष्टविषकबोधजनकत्व' को भी अनुमान प्रमाण का लक्षण कहा है, जो लक्षण शब्द प्रमाण में नहीं है।

---

३१९. तस्याः स्वतः प्रमाणत्वं न चेत् स्याद्दोषदर्शनम्।।५३।। श्लो० वा०

३२०. अनुमानेन चैतस्य प्रामाण्यं केवलं समम्।। श्लो० वा०

३२१. पदे तावत् कृतो यत्नः परैरित्यत्र वर्ण्यते।।५४।। श्लो० वा०

३२२. विषयोऽन्यादृशस्तावद्....................स्थापयिष्यति।।५५।। श्लो० वा०

किसी ने आक्षेप करते हुए कहा है कि केवल सामान्य ही शब्द प्रमाण का विषय नहीं है, 'विशेष' भी उसका विषय है। यदि कोई 'को याति?' यह प्रश्न करता है तो 'अश्वः' केवल इस पद के प्रयोग से भी उसका उत्तर हो जाता है। ऐसे स्थलों में केवल अश्वादि पद भी 'अश्वविशिष्टक्रिया' स्वरूप 'विशिष्ट' का बोधक होता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि पदस्वरूप शब्दप्रमाण केवल 'सामान्य का ही बोधक है।[३२३]

इस उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए कहा है कि उक्त स्थल में केवल 'अश्व' इस पद से क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध नहीं होता है। किन्तु सामर्थ्य स्वरूप लिंगप्रमाण से को याति? इस प्रश्न वाक्य में जो 'याति' स्वरूप क्रियापद है। उसके अनुषङ्ग के द्वारा 'अश्व' पद के बाद 'याति' पद की कल्पना की जाती हैं उसके बाद 'अश्वों याति' इस कल्पित वाक्य से क्रियाविशिष्ट अश्व का बोध होता है। जैसे कि 'द्वारम्' केवल इस पद के श्रवण के बाद 'संव्रियताम्' इस पद की कल्पना की जाती है। इस कल्पित पद से 'संवरण' रूप कार्य को समझकर संवरण कार्य का संपादन करता है। इस प्रकार एक ही पद को सुनने पर भी दूसरे पद के अनुमान से विशिष्टबोधक वाक्य की कल्पना की जाती है, उस वाक्य से ही विशिष्ट बोध होता है। तस्मात् केवल पद स्वरूप शब्द प्रमाण अनुमान के समान विशिष्ट का बोधक नहीं है।[३२४]

यदि विशिष्ट विषय का बोधक होने से ही अनुमान प्रमाण हो तो गोमान् पाचकः 'इत्यादि पद अन्ततः विशिष्टवाचक होने से अनुमान प्रमाण हो जायेंगे। इस आक्षेप का यह समाधान है कि पूर्व में किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध धर्मी में पहले से असिद्ध साध्य स्वरूप धर्म का बोध अनुमान से होता है। कथित 'गोमत्' प्रभृति पदों के द्वारा जिस विशिष्ट का बोध होता है, वह पूरा पहले ही वक्ता की बुद्धि के द्वारा गृहीत (सिद्ध) रहता है अतः सिद्धयभाव स्वरूप 'पक्षता' के अभाव से ही उक्त शब्द बोध की अनुमिति नहीं कही जा सकता। अतः उक्त विशिष्ट बोधक पद भी अनुमान नहीं है।[३२५]

दूसरी बात यह भी है कि गोमत् प्रभृति पदों से जहाँ विशिष्ट बोध की बात कही जाती है, उन सभी स्थलों में 'गो' प्रभृति प्रकृति एवं 'मतुप्' प्रभृति प्रत्यय पृथक्-पृथक् अपने-अपने अर्थ के बोधक होते हैं वैशिष्ट्य का प्रत्यय तो प्रकृति

---

३२३. सामान्यादतिरिक्तं तु शाब्दे वाक्यस्य गोचरः।। श्लो० वा०

३२४. सामर्थ्यादनुमेयत्वादश्रुतेऽपि पदान्तरे।।५७।। श्लो० वा०

३२५. वाक्यार्थेऽपि पदं.........................पूर्वमवधारितः।।६०।। श्लो० वा०

एवं प्रत्यय के समभिव्याहार से ही होता है। अतः वास्तव में पद 'विशिष्ट' का बोधक नहीं है। स्वतन्त्र रूप से गृहीत धर्मी ही स्वतन्त्र रूप से स्मृत साध्य से युक्त होकर अनुमान प्रमाण के द्वारा गृहीत होता है। शब्द प्रमाण स्थल में धर्मी स्वतन्त्र रूप से पूर्व मे ज्ञात नहीं रहता है, इस वैषम्य के कारण भी शब्द प्रमाण अनुमान के अन्तर्गत नहीं है।[३२६]

अनुमान प्रमाण से विशेष्य का ज्ञान पहले होता है, विशेषण का पीछे। शब्द प्रमाण स्थल में विशेषण ही पहले ज्ञात होता है, विशेष्य पश्चात् ज्ञात होता है। इस वैलक्षण्य के कारण भी शब्द और अनुमान ये दोनों स्वतन्त्र अलग-अलग प्रमाण है।

पूर्वपक्ष ने आक्षेप करते हुए कहा है कि शब्द तो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा स्वतन्त्र रूप से पहले ज्ञात रहता है। उसी में अर्थ की सिद्धि करेंगे? अर्थात् घटशब्दो घटस्वरूपार्थवान् घटशब्दत्वात् शब्दत्वाद्वा ऐसा ही क्यों न मान लें? इस प्रकार शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है।[३२७]

सिद्धान्त पक्ष ने इसका समाधान करते हुए कहा है कि इसरीति से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं ही सकता, क्योंकि उक्त अनुमान के प्रतिज्ञावाक्य का स्वरूप 'घट शब्दों घटस्वरूपार्थवान्' इस प्रकार का होगा। इस प्रतिज्ञा का एकदेश जो 'घट शब्द' वही हेतु है। तस्मात् उक्त रीति के अनुसार भी शब्द प्रमाण का अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

पूर्व-पक्षी ने पुनः शंका करते हूए कहा है कि जिस प्रकार 'महानसीयो धूमः वह्निमान् धूमात्' इस अनुमान में प्रतिज्ञा का एकदेश ही हेतु होता है, उसी प्रकार प्रकृत शब्दपक्षंक अर्थानुमान में भी संभव क्यों नहीं है?[३२८]

पूर्वपक्षी की शंका का परिहार करते हुए कहा है कि यह भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रकृत शब्दपक्षक अर्थानुमान दो ही प्रकार से संभव है (१) गोशब्दः सास्नाद्यर्थवान् शब्दत्वात्' (२) गो शब्दत्वाद्वा।' इनमें 'शब्दत्व' स्वरूप प्रथम हेतु 'अनैकान्तिक' है क्योंकि शब्दत्व घटादि शब्दों में भी है, वहाँ सास्नादिमत्व

---

३२६. भेदबुद्धेश्च वैषम्यं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः। विशेषण विशेष्यार्थस्वातन्त्र्यग्रहणं न च।।६१।। श्लो० वा०

३२७. अथ शब्दोऽर्थवत्त्वेन पक्षः कस्मान्न कल्प्यते।।६२।।

३२८. प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते। पक्षे धूमविशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते।।६३।। श्लो० वा०

स्वरूप अर्थ नहीं है। गोशब्दत्व स्वरूप दूसरा हेतु वस्तुतः गोशब्दस्वरूप ही है, अतः प्रतिज्ञार्थैकदेश होने के कारण वह भी हेतु नहीं हो सकता। गोशब्दत्व नाम की कोई विशेष जाति एकमात्र व्यक्तिवृत्ति होने के कारण नहीं है, क्योंकि हम लोगों मीमांसकों के मत से गकारादि एक शब्द वास्तव में एक ही है।[३२९]

यदि यह कहें कि गकारादि प्रत्येक व्यञ्जकभेद से भिन्न हैं, अतः अनेक हैं, अतः अनेक व्यक्तियों का संग्राहक होने के कारण गत्वादि जातियाँ प्रामाणिक है। इसलिए गोशब्दत्व हेतु में प्रतिज्ञैकदेशार्थत्व की आपत्ति नहीं है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोग व्यञ्जक के भेदों से एक ही वर्ण के अनेक भेदों को स्वीकार नहीं कहते हैं।

एक बात और भी है। शब्द में अर्थ की 'विशिष्टता किस प्रकार संभव है? देशिकविशिष्टता और कालिकविशिष्टता ये दोनों ही संभव नहीं हैं, क्योंकि घटादि अर्थ भूतलादि देशों में रहते हैं, एवं शब्द आकाश में रहता है। इसी प्रकार युधिष्ठिर शब्द की सत्ता इस काल में भी है, किन्तु युधिष्ठिर स्वरूप अर्थ की सत्ता इस काल में नहीं है। अतः शब्द न देशतः अर्थविशिष्ट हो सकता है और न कालतः।[३३०]

यदि यह कहे 'शब्दोऽर्थविशिष्टः' इस प्रतीति की विषयता शब्द और अर्थ दोनों में है। अतः एक प्रतीतिविषयत्व रूप सम्बन्ध के द्वारा शब्द अर्थ से युक्त है। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं है क्योंकि सम्बन्धियों के ज्ञान से पहले सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए उक्त सम्बन्ध के ज्ञान से पहले ही 'शब्द' अर्थवान्' यह ज्ञान अवश्यक होगा। फिर इस ज्ञान के उत्पन्न हो जाने के बाद अनुमान किस ज्ञान के लिए प्रवृत्त होगा? अर्थात् ज्ञातज्ञापक होने के कारण वह प्रमाण ही नहीं रह जायेगा।[३३१]

कोई कहते हैं कि गो शब्द में गो स्वरूप अर्थवत्ता की अनुमिति भले ही संभव न हो, किन्तु गो शब्द में गो स्वरूप अर्थविषयक बोधजनन (प्रत्यायन) शक्ति का अनुमान करेंगे। किन्तु सो भी संभव नहीं है, क्योंकि इससे प्रश्न उत्पन्न होगा कि 'शक्ति' किसकी? यदि गो शब्द की? तो फिर तादृश शक्तिविशिष्ट गो शब्द ही पक्ष होगा एवं तादृश गोशब्दत्व ही हेतु भी होगा। किन्तु इससे हेतु में जो प्रतिज्ञार्थैकदेशत्व की आपत्ति दी गयी है, वह ज्यों की त्यों रहेगी। इसलिए गो

---

३२९. शब्दत्वं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते।
व्यक्तिरेव विशिष्यातो हेतुश्चैका प्रसज्यते।।६४।। श्लो० वा०

३३०. भवेद् व्यञ्जकभेदाच्चेन्नत्वेवं प्रत्ययोऽस्ति नः।
कथं चास्य विशिष्टत्वं न तावद् देशकालतः।।६५।। मी० श्लो० वा०

३३१. तत्प्रतीतिशिष्टश्चेत् परं विमनुमीयते।

शब्द स्वरूप विशेष में कथित प्रत्यायन शक्ति का अनुमान भी नहीं किया जा सकता।[३३२]

जिस प्रकार सभी वह्नियों में रहने वाले वह्निसामान्य (वह्नित्व) का अन्वय महानसादि में रहने वाले सभी वह्निविशेषों में देखा जाता है, उसी प्रकार सभी शब्दों में प्रत्यय जनकत्वरूपा एक ही शक्ति का अन्वय सभी शब्दों से है। यदि पूर्वश्रुत शब्द पहले से ज्ञात रहता तो वर्त्तमान काल में श्रुत गोशब्द विशेष में कथित 'शक्ति' का अनुमान हो भी सकता था। अतः किसी भी प्रकार के विशेष में शक्ति की सत्ता का समर्थ नहीं किया जा सकता। फलतः गोशब्दसामान्य में ही शक्ति रहेगी। तादृशक्तिविशिष्ट ही पक्ष भी होगा और हेतु भी वही होगा। वहीं सपक्ष भी होगा। अतः उक्त प्रत्यायन शक्ति का भी अनुमान नहीं हो सकता।[३३३]

'तस्मात्' शब्द विशिष्ट अर्थ अनुमेय नहीं हो सकता। फलतः शब्द पक्षक अनुमान के द्वारा शब्द के स्वतन्त्र प्रामाण्य का निराकरण नहीं हो सकता। केवल 'विषयभेद' के कारण ही शब्द प्रमाण अनुमान प्रामाण से भिन्न नहीं है, किन्तु अनुमान के प्रधान लक्षण 'त्रैरूप्य' के न रहने से भी वह अनुमान से भिन्न है। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्व, और विपक्षसत्त्व इन तीनों में से कोई भी शब्द प्रमाण में संभव नहीं है।[३३४] प्रथमतः पक्षसत्व अर्थात् पक्षधर्मता के प्रसंग में ही विचार किया जाए कि जिस अनुमान में शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव करते है तो उसमें पक्ष धर्मता कैसे सम्भव है।

प्रकृत अनुमान में शब्द ही हेतु है अतः वह स्वयं धर्मी पक्ष नहीं हो सकता। इसलिए 'अर्थ' का ही धर्मी पक्ष हो सकता। इसलिए 'अर्थ' को ही धर्मी मानना होगा। तदनुसार 'अर्थः शब्दवान्' इसी आकार की अनुमिति होगी। किन्तु अर्थ स्वरूप 'पक्ष' की धर्मता शब्द स्वरूप हेतु में नहीं आ सकती, क्योंकि 'धर्मता है वृत्तिता स्वरूप। वृत्तिता बिना सम्बन्ध के सम्भव नहीं है। 'क्रियाकर्तृ सम्बन्ध ' के बिना किसी के साथ किसी का सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

राजा चूंकि भृत्य का भरण करता है: अतः राजा में भृत्यवृत्ति भरणक्रिया का कर्तृत्व है अर्थात् भृत्य स्वरूप अधिकरण कारकनिष्ठ जो भरण क्रिया उत्पन्न होती है, उसका कर्तृत्व राजा में है, अतः राज गत इस कर्तृत्व स्वरूप सम्बन्ध के कारण ही 'राज्ञो भृत्यः' यह व्यवहार होता है।[३३५]

---

३३२. न प्रत्यायन शक्तिश्च विशेषस्यानमीयते।।६६।। मी० श्लो० वा०

३३३. सामान्यस्यैव शक्तत्वं पक्षों हेतुस्तदेव च।।६७।। श्लो० वा०

३३४. कथं च पक्षधर्मत्वं शब्दस्येह निरुप्यते।।६८।। श्लो० वा०

३३५. न क्रियाककृर्तृ...........................क्वचित्।। श्लो० वा०

वार्तिककार ने शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ में समवायादि अन्य किसी सम्बन्ध की संभावना के न रहने पर भी यदि कोई यह कह सकता है कि अर्थ शब्द का ज्ञाप्य विषय है; जैसे कि अभाव अनुपलब्धि प्रमाणगम्य होने के कारण अनुपलब्धि प्रमाण का विषय कहलाता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ का ज्ञापकत्व सम्बन्ध है, इसलिए 'अर्थ' शब्द का 'विषय' है। यही शब्द का विषयता सम्बन्ध अर्थ में है।[३३६]

तो ऐसा कहने वालों को भी विचार करना होगा कि अर्थ और शब्द का न अधिकरणीभूत देश एक है न दोनों परस्पर एक दूसरे के सम्मुख है। फिर अर्थ शब्द का 'विषय' कैसे हैं?

तस्मात् शब्द चूंकि अर्थविषयक बुद्धि को उत्पन्न करता है, अतः अर्थ शब्द का विषय है। एवं इस विषयता सम्बन्ध के द्वारा ही शब्द अर्थ का धर्म है।[३३७]

इस वस्तुस्थिति के अनुसार मानना होगा कि शब्द में जब अर्थवाचकता सिद्ध हो जायेगी, तब वह अर्थ स्वरूप पक्ष का धर्म होगा। किन्तु वाचकत्व की सिद्धि के बाद सिद्ध होने वाली पक्षधर्मता प्रकृत अनुमान का अङ्ग नहीं हो सकती।[३३८]

शब्द अर्थ का ज्ञापक है, इसीलिए वह अर्थ का धर्म है। शब्द चूंकि अर्थ का धर्म है, इसीलिए अर्थ का ज्ञापक है। इस प्रकार इस पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है। इसलिए विषयता सम्बन्ध के द्वारा पक्षधर्मत्व की कल्पना भी संभव नहीं है।

जिस पुरुष को शब्द और अर्थ के वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध का ज्ञान रहता है, उसी पुरुष को यह पक्षधर्मताज्ञान भी होता है। शब्द अर्थ का धर्म है, अर्थात् शब्द अर्थ में विद्यमान हैं जिस पुरुष को उक्त वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है उसे उक्त पक्षधर्मता का ज्ञान भी नहीं होता। फलतः पक्षधर्मता उक्त सम्बन्ध ज्ञान सापेक्ष है। केवल पक्ष और हेतु इन दोनों वस्तुमात्र सापेक्ष नहीं है।[३३९]

धूमादि में भी यही स्थिति देखी जाती है। धूम में पर्वतसम्बन्ध के कारण

---

३३६. राजा भर्त्ता....................................उच्चत।।६९।। श्लो० वा०

३३७. वदेयुपक्षधर्मत्वं.............................कथम्। न तद्..................धर्मकल्पना।।१६/३/७५

३३८. तत्रवाचकताया.................................चैवमनुमानता।।७६।। श्लो० वा०

३३९. न चागृहीत...............................पक्षधर्ममतिर्भवेत्।।७८।। श्लो० वा०

ही पक्षधर्मता आती है, स्वरूपतः केवल धूम 'पक्षधर्म' नहीं है। फलतः अर्थ में शब्द की अनुमिति से पहले उक्त वाच्यवाचकभाव का ज्ञान नहीं होगा। अतः प्रकृत में इस युक्ति से भी पक्षधर्मता अनुपपन्न है। इसलिए शब्द प्रमाण अनुमान प्रमाण से भिन्न हैं।

कदाचित् यह कहें कि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक सम्बन्ध का जो ज्ञान था, उस ज्ञान में विषयी भूत सम्बन्ध के द्वारा ही एतत् काल में भी शब्द में अर्थ स्वरूप पक्ष के वृत्तित्व का ज्ञान होगा। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि पहले से ज्ञात न रहने पर सर्वप्रथम भी 'धूमवानयम्' इत्याकारक पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। अर्थात् जिस पुरुष को धूम में वह्नि के नियम का ज्ञान है, उसकों पूर्व में महानसादि सपक्षों में पूर्व से धूम और वह्नि के नियम का ज्ञान है, उसकों पूर्व में महानसादि सपक्षों में पूर्व से धूम और वह्नि के सामानाधिकरण्य के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है, यदि ऐसा न मानें तो 'सपक्षान्वय' स्वरूप हेतु के पूर्वलक्षण के स्मरण से ही अनुमिति हो जाती, स्वतन्त्र रूप से 'पक्षसत्त्व' स्वरूप हेतु के उत्तर लक्षण को अनुमान का अङ्ग मानने की आवश्यकता ही न रह जाती।[३४०]

धूमादि हेतुओं में 'सपक्षान्वय' स्वरूप पूर्व सम्बन्ध से ही पक्षान्वय स्वरूप उत्तर सम्बन्ध पक्षधर्मता ज्ञान में भासित होता है।, किन्तु 'अत्र' अर्थात् अर्थपक्षक शब्दानुमान स्थल में 'सपक्षान्वय' स्वरूप पूर्वसम्बन्ध से अधिक किसी वस्तु का भान नहीं होता है, क्योंकि प्रकृत में पक्ष और सपक्ष एक ही है। सापक्षान्वय स्वरूप पूर्व सम्बन्धनाधिक पिषयक भी यह पक्ष धर्मता ज्ञान शब्द से अर्थ की प्रतीति के बाद ही उत्पन्न होता है। अतः वह अर्थः शब्दवान् इस अनुमिति का कारण भी नहीं हो सकता।[३४१]

जिस प्रकार पर्वतादि धर्मीविषयक पूर्वज्ञान के बाद ही धूमादि में पक्षधर्मता आती हैः उस प्रकार से प्रकृत में पक्षधर्मता की उपपत्ति संभव नहीं है; क्योंकि अर्थ स्वरूप धर्मी पूर्वगृहीत नहीं है। जिस शब्दार्थ स्वरूप वस्तु को आप धर्मी कहते हैं, वही तो हम लोगों से स्वीकृत शब्द प्रमाण का प्रमेय है। वह यदि पक्षधर्मताज्ञान के द्वारा ज्ञात हो जायेगा तो फिर अनुमान की आवश्यकता ही क्या रह जायेगी?[३४२]

---

३४०. धूमवानयम्.................................लक्षणात्।।८०।। श्लो० वा०

३४१. न त्वत्र पूर्वसम्बन्धादधिका पक्षधर्मता। न चार्थप्रत्ययात् पूर्वमित्यनङ्गमियं भवेत्।।८१।।

३४२. न च धर्मी..........................अवधारणात्। यश्चात्र.......................एव नः।।८२।। श्लो० वा०

अर्थस्वरूप धर्मी (पक्ष) यदि पूर्व में ज्ञात नहीं रहेगा तो तद्धर्मत्वावधारण 'अर्थात्' पक्षधर्मत्वावधारण (पक्षधर्मता का निश्चय) ही कैसे होगा? यदि अर्थ स्वरूप पक्ष की वृत्तिता शब्द हेतु में अवधारित ही है तो पक्षधर्मत्वावधारण से किसी अन्य वस्तु का ज्ञान अपेक्षित ही नहीं जिसे हम अनुमिति कह सकें। अतः शब्द स्वरूप अनुमान प्रमाण से जिस अनुमिति की बात कही है जिसके लिए पक्षधर्मता का संबलन सम्भव ही नहीं है।[३४३]

प्रकृत अनुमान में सपक्षसत्त्व का संबलन भी संभव नहीं है, क्योंकि शब्द रूप अनुमान प्रमाण का अपने प्रमेय अर्थ के साथ किसी सपक्ष में अन्वय का निरूपण भी संभव नहीं है, क्योंकि किसी व्यापार के द्वारा ही हेतु और साध्य का अन्वय सपक्ष में प्रदर्शित होता है।[३४४]

जिस प्रकार 'यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इत्यादि वाक्यों से धूम में वह्नि का अन्वय देशिकाव्याप्ति स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा प्रदर्शित होता है, प्रकृत में उस रीति से 'यत्र शब्दोऽस्ति तत्राऽर्थोऽप्यस्ति' इस प्रकार के अन्वय का प्रदर्शन नहीं है।[३४५]

'यत्र देशे शब्दस्तत्र देशेऽर्थः' इस प्रकार का देशिक अन्वय सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों विभिन्न देशों के है। एवं यस्मिन् काले शब्दः तस्मिन् कालेऽथेः 'इस प्रकार का कालिक अन्वय भी संभव नहीं है, क्योंकि युधिष्ठिर शब्द की सत्ता बहुत पहले थी, अभी नहीं है।[३४६]

यदि यह कहे कि शब्द नित्य है एवं विभु है, अतः सभी कालों में और सभी देशों में सभी शब्दों की सत्ता है, अतः सभी कालों और सभी देशों में अर्थों के साथ उसका 'अन्वय' अक्षुण्ण है। किन्तु यह कहना भी संभव नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वय तो सभी शब्दों का सभी अर्थों के साथ है। इस अन्वय का अभाव किसी शब्द का किसी भी अर्थ में नहीं। अतः उक्त रीति से शब्द का अन्वय अर्थ में मानने से सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जायेंगे।

---

३४३. न चानवधृते.........................ततः परम्। पक्षधर्मादि................अनुमानिता।।८४।। श्लो० वा०

३४४. यत्र धूमोऽस्ति.......................निश्चयः।।८६।। श्लो० वा०

३४५. न तावत् तत्र देशेऽसौ तत्काले नावगम्यते।। (श्लो० वा०)

३४६. भवेन्नित्यविभुत्वाच्चेत् सर्वार्थेषु च तत् समम्।।८७।। श्लो० वा०

पार्थसारथि ने शास्त्रदीपिका ग्रन्थ में शब्द प्रमाण का निरूपण करते हुए कहा है कि "जब कोई वाक्य श्रवण किया जाता है, उस समय आप्त पुरुष के द्वारा कथित होने के कारण उसको प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है। अतः शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है। इसलिए वाक्य के अर्थ का प्राप्त ज्ञान लिङ्ग-लिङ्गि पूर्वक नहीं होता है। इसलिए वेदवाक्य किसी पुरुष के द्वारा रचित न होने के कारण स्वतः प्रामाण्य है"[३४७]

अर्थापत्ति

कुमारिलभट्ट ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्लोकवार्तिक में अर्थापत्ति प्रमाण का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है कि शाबर भाष्य में अर्थापत्ति प्रमाण का लक्षण इस प्रकार है :-"अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थ कल्पना।" अर्थात् 'दृष्ट' एवम् 'श्रुत' अर्थ जिसके बिना उपपन्न न हो, उसकी 'कल्पना' ही 'अर्थापत्ति' है।[३४८]

उक्त लक्षण वाक्य में प्रयुक्त 'दृश' धातु को यदि ज्ञान सामान्य का वाचक मानें तो लक्षणवाक्य का 'श्रुतः' यह अंश व्यर्थ हो जाता है। यदि 'दृश्' धातु को चाक्षुष ज्ञान का वाचक माने तो अनुमानादिपूर्वक अर्थापत्तियों में अर्थापत्ति का उक्त लक्षण अव्याप्त हो जायेगा।

दूसरी बात यह भी है कि जो प्रमाण से अवगत होगा वह 'अनुपपन्न' कैसे होगा? उपपन्नता प्रमाण सिद्धता से भिन्न कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है।

इन सभी प्रश्नों का यह समाधान है कि 'प्रमाणषट्क विज्ञान' अर्थात् प्रत्यक्षादि छः प्रमाणें से व्यवस्था के अनुसार प्रमित होकर जो अर्थ अपनी अनुपपत्ति के द्वारा दूसरे अर्थ की कल्पना करे, वहीं अर्थापत्ति है। फलतः भाष्यस्थ लक्षण में 'दृश्' धातु ज्ञान सामान्यार्थक ही है।[३४९]

---

३४७. अत्यन्तादृष्टपुरुषप्रणीतेपि वाक्ये अवगते तु वाक्यार्थे सत्याऽसत्यत्वसंशसे प्रणेतुराप्तत्वावग में सति सत्यत्वमनुमयिमानं न वाक्यार्थावगतेराप्तत्वावधारणानपेक्ष-जन्मनोऽनुमानत्वमापादयति। तस्मात्प्रमाणान्तरमेव लोके शब्दामित्यऽपौरुषेयस्यापि वेदस्य सिद्धं प्रामाण्यम्। (शास्त्रदीपिका, शब्दनिरुपणः पृ० २०७)

३४८. 'अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुती वाऽर्थोन्यथानोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।' शाबर भाष्य

३४९. प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता।।१।। (श्लो० वा०)

किन्तु उक्त 'दृश्' धातु को ज्ञानसामान्यार्थक मान लेने से 'श्रुतः' पद व्यर्थ सा हो जाता है। अतः उक्त 'दृष्ट' पद का अर्थ है शब्द से भिन्न प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों के द्वारा ज्ञात 'विषय', क्योंकि लक्षण वाक्य में 'श्रुत' से अतिरिक्त 'दृष्ट' का उपादान किया गया है। इस उपादान से ही समझते है कि 'दृष्ट' पद से प्रयुक्त 'दृश्' धातु शब्द से अतिरक्ति पाँच प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण से उत्पन्न सभी ज्ञानों का बोधक है।[३५०]

ज्ञानसामान्यार्थक दृश् धातु से निष्पन्न 'दृष्ट' शब्द से यद्यपि शब्द प्रमाण मूलक अर्थापत्ति का संग्रह भी संभव है, फिर भी कुछ विशेषों के कारण शब्द प्रमाणमूलक अर्थापत्ति को 'श्रुतार्थापत्ति' के द्वारा विशेष रूप से अभिहित किया गया है। वह 'विशेष' यह है कि 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द से संगृहीत होने वाली सभी अर्थापत्तियाँ 'प्रमेयग्राहिणी' है। अर्थात् जीवित देवदत्त के गृहाभावदर्शन से उसके बहिरस्तित्व स्वरूप 'प्रमेय' की ही ज्ञापिका हैं। श्रुतार्थापत्ति' के द्वारा दिन में भोजन न करने वाले पीन देवदत्त के रात्रि भोजन स्वरूप 'प्रमेय' के ग्राहक 'रात्रौ भुक्ते' इस वाक्य स्वरूप 'प्रमाण' का ही ग्रहण होता है। बाद में 'रात्रिवाक्य' स्वरूप प्रमाण के द्वारा रात्रिभोजन स्वरूप अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार 'श्रुतार्थापत्ति' प्रमाणग्राहिणी है। इसलिए अन्य अर्थापत्तियों से विलक्षण होने के कारण उसका अलग से अभिधान किया गया है।[३५१]

प्रमाण चूँकि छः प्रकार के है।, अतः तत्पूर्विका अर्थापत्ति भी (१) प्रत्यक्षपूर्विका (२)अनुमानपूर्विका (३) उपमानपूर्विका (४) शब्दपूर्विका (५) अर्थापत्ति पूर्विका एवं (६) अनुपलब्धिपूर्विका भेदों से छः प्रकार की है। इनके ये उदारहण है- (१) प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात दाह के द्वारा वह्नि में जो दहन शक्ति की कल्पना की जाती है, वह 'प्रत्यक्षपूर्विका' अर्थापत्ति है।[३५२]

(२) सूर्य में अनुमित गति के द्वारा सूर्य में गमनशक्ति की कल्पना 'अनुमानपूर्वक' अर्थापत्ति है।

(३) शब्द मूलक (श्रुत) अर्थापत्ति का उदाहरण इसी प्रकरण में आगे (श्लोक-५१) में कहेंगे।

---

३५०. दृष्टः पञ्चभिरप्यस्माद् भदेनोक्ता श्रुतोद्भवा।।२।। (श्लो० वा०)

३५१. प्रमाणग्राहिणीत्वेन यस्मात् पूर्वविलक्षणा।।२।। (श्लो० वा०)

३५२. तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानाद् दाहाद् दहन शक्तता। वह्नेरनुमितात् सूर्ये यानात् तच्छक्तियोग्यता।।३।। (श्लो० वा०)

(४) 'अनेन सदृशी मदीय गौः' इस उपमिति में विषयीभूत गो में उक्त गवयज्ञानग्राह्यत्व की कल्पना 'उपमानपूर्विका अर्थापत्ति' का उदाहरण है।[३५३]

शब्द से अर्थ का अभिधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि शब्द में वाचकता शक्ति न मानी जाय। अतः शब्द के द्वारा अर्थ के अभिधान से शब्द में वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप 'अर्थापत्ति' निष्पत्ति होती है। शब्द में यह वाचकत्व शक्ति तब तक उपपन्न नहीं होगी, जब तक कि उसे नित्य न माना जाये। तस्मात् शब्द में नित्यत्वकल्पना स्वरूप अर्थापत्ति शब्द में उक्त वाचकत्व शक्ति की कल्पना स्वरूप अर्थापत्तिमूलक है।[३५४]

आगे दर्शनस्य परार्थत्वात् में यह कहा जायगा कि शब्द में अभिधा की अनुपपत्ति से वाचकत्व शक्ति की कल्पना करके, इस शक्ति की अनुपपत्ति से शब्द में नित्यत्व की कल्पना की जाती है।

प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों के अभाव से निर्णीत गृहवृत्ति जीवितचैत्र के अभाव से जो चैत्र के बहिः सत्त्व की कल्पना की जाती है, वही अभावप्रमाणमूलक अर्थापत्ति का उदाहरण है। अथापत्ति के सामान्य उदाहरण के रूप में भाष्यकार ने इसी स्थल का उपादान किया है।[३५५]

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि भाष्यकार ने तो केवल अभावप्रमाण मूलक अर्थापत्ति को ही उदाहरण के रूप में लिखा है फिर अन्य प्रमाणमूलक अर्थापत्तियों का यह विस्तार क्यों? इस प्रश्न का यह समाधान है कि गृहाभाव के द्वारा बहिसत्व की कल्पना सभी अर्थापत्तियों का सूचक है, केवल अभाव प्रमाणमूलक कल्पना में अर्थापत्तित्व का विधायक नहीं है।

अर्थापत्ति को अनुमान का ही एक प्रभेद मानने वाले नैयायिकादि कहते है कि भाष्यकार ने जो गृहासत्त्व से बहिः सत्त्व की कल्पना की बात कही है, वह तो 'देवदत्तो' वहिरस्ति विद्यमानत्वे सति गृहाभावत् मद्वत, इस अनुमान से ही निष्पन्न हो जाती है। इसके लिए अर्थापत्ति नाम के अतिरिक्त प्रमाण की कौन-सी आवश्यकता है? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि उक्त कल्पना में चूंकि अनुमान

३५३. श्रुतार्थापत्तिरत्रैव परस्तादभिधास्यते। गवयोपमिता या गौस्तज्जानग्राह्यता मता।।४।।
३५४. अभिधानप्रसिद्ध्यर्थ.......................................प्रकल्पनम्।।५।। श्लो० वा०
३५५. प्रमाणाभावनिर्णीत..................दर्शिता। तामभावोत्स्थिता.............उदाहरेत्।८।।

के पक्षधर्मत्वादि अङ्गों की अपेक्षा नहीं होती है, अतः वह कल्पना अनुमिति नहीं कहला सकती।[३५६]

चैत्र के बहिःसत्त्व की कल्पना का जिस अनुमान में अन्तर्भाव की संभावना है, उसके दो ही स्वरूप हो सकते है-(१) चैत्रवोहिपर्देशविशिष्टः गृहेऽभावात्' (२) बहिर्देशो वा चैत्रविशिष्टः गृहेऽभावात्'। इन दोनों ही अनुमानों का गृहवृत्ति अभाव स्वरूप हेतु न गृह का धर्म है न चैत्र स्वरूप पक्ष का धर्म एवं न बहिर्देश स्वरूप पक्ष का ही धर्म है।[३५७]

यदि उक्त अनुमान में चैत्राभावविशिष्ट गृह' को ही हेतु बनावें तो उसमें भी पक्षधर्मत्व की उपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वह चैत्रविशिष्ट बहिर्देश का ही धर्म है बहिर्देशविशिष्ट चैत्र का नहीं। एवं गृहाभावविशिष्ट चैत्र को भी पक्षधर्म (हेतु) नहीं माना जा सकता, क्योंकि पक्ष के गृह स्वरूप होने पर ही प्रकृत में पक्षधर्मता की प्रतीति हो सकती है। किन्तु चैत्र स्वरूप पक्ष में अथवा बहिर्देश स्वरूप पक्ष में गृहसत्व की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि गृह में चैत्रासत्त्व की प्रतीति के समय गृह की ही प्रतीति होती है चैत्र की प्रतीति नहीं होती है।[३५८]

गृह में चैत्र का अदर्शन भी उक्त अनुमान का हेतु नहीं हो सकता। आगे 'अभावपरिच्छेद' में इसकी युक्ति कहेंगे कि जिस प्रकार 'अभाव किसी अनुमान के द्वारा प्रमित नहीं हो सकता, उसी प्रकार अभाव किसी अनुमेय का साधक हेतु भी नहीं हो सकता। अतः वेशमन्यदृष्टत्वात्' यह हेतु भी पक्षधर्मता के अभाव के कारण ही उपयुक्त नहीं हो सकता।[३५९]

यह कहना भी संभव नहीं है कि गृह में अदर्शन के द्वारा निश्चित चैत्राभाव को ही उक्त अनुमिति का लिंग कहेंगे, क्योंकि उक्त चैत्राभाव गृह में है, बहिर्देश स्वरूप या चैत्र स्वरूप पक्ष में नहीं। अतः उस हेतु भी पक्षधर्मता नहीं रह सकती।[३६०]

अनुमिति के प्रमेय पक्ष को पहले से ज्ञात होना चाहिए। बाह्य देश अथवा

---

३५६. अभावगताच्चैत्राद्.................................अनुमानतः।।१०।। श्लो० वा०

३५७. वहिर्देशविषिष्टेऽर्थे देशे.................................कथम्।।११।। श्लो० वा०

३५८. तदभावविशिष्टं...प्रतीयते।।१२।। श्लो० वा०

३५९. न चात्रा दर्शनम्.................................अभिधास्यते....................हेतुनं कल्प्यते।।१३-१४।। श्लो० वा०

३६०. नदीपूरेण या वृष्टिरूपरिष्टात् प्रतीयते। देशे कथमदृष्टे तु पक्षधर्मत्व सम्भवः।।१७।। श्लो० वा०

चैत्र पूर्व से ज्ञात न होने के कारण प्रमेय पक्ष नहीं हो सकता। इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि नदी की पूर्णता से ऊपर के प्रदेश में वृष्टि का अनुमान तो पूर्व से अज्ञात ऊपर के प्रदेश में ही होता है, अतः पक्ष के लिए पूर्व ज्ञात होना आवश्यक नहीं है।[३६१]

इस उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए कहा है कि उक्त स्थल में नदीपूर्णता से ऊपर के प्रदेश में वृष्टि का अनुमान नहीं होता, किन्तु पूर्ण नदी वाले प्रदेश में ही 'वृष्टिमत्परदेशत्व' का अनुमान होता है। अर्थात् उससे यही समझा जाता है कि पूर्ण नदी वाला यह देश वर्षा वाले देश के नीचे है। फलतः प्रकृत में पूर्व नदीविशिष्ट देश ही पक्ष है और यह पहले से ज्ञात नहीं हैं।[३६२]

यदि नदी पूर्णता से ऊपर के देश में वर्षा का अनुमान ही अनुभव सिद्ध हो तो फिर प्रतिज्ञावाक्य का यह उलट-फेर सर्वाऽनुभव विरुद्ध है। यदि इस वस्तु स्थिति को स्वीकार करें तो उक्त स्थल में अर्थापत्ति से ही ऊपर के देश में वर्षा की कल्पना समझनी चाहिए, क्योंकि नदी की पूर्णता ऊपर के देश में वर्षा के बिना अनुपपन्न है।

'चैत्रों बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहेऽभावात्' इस अनुमान का हेतु 'जीवन विशिष्ट देवदत्त में रहने वाला गेहाभाव' है। उसी में चैत्र (पक्ष) निरूपित वृत्तिता (धर्मता) का ज्ञान आवश्यक है। किन्तु जब तक चैत्र में बहिरस्तित्व ज्ञात नहीं होगा तब तक चैत्र में 'जीवित्वे सति गृहाभाव' स्वरूप हेतु ज्ञात नहीं होगा तब तक चैत्र में 'जीवित्वे सति गृहाभाव' स्वरूप हेतु ज्ञात नहीं हो सकता।[३६३]

क्योंकि पर्वत में धूमवत्ता की प्रतीति स्वरूप पक्ष धर्मता के ज्ञान में अग्निमत्ता की कोई अपेक्षा नहीं होती है। पर्वत में धूम का ज्ञान वह्निसापेक्ष नहीं है। फलतः पक्षधर्मता के ज्ञान में साध्य का कोई हाथ नहीं रहता। अतः प्रकृत में पक्षधर्मताज्ञान वहिसत्त्व के अधीन रहने के कारण अनुमिति के लिए उपयोगी नहीं हो सकता।[३६४]

वर्त्तमानत्वानपेक्ष केवल गृहावृत्तित्वाभाव मृत चैत्र में भी है अतः व्यभिचारी होने के कारण वह चैत्र में वहिसत्त्व का ज्ञापक नहीं हो सकती वस्तुगति यह है

३६१. वृष्टिमत्परदेशत्वं नदी पूरवन्तोऽत्र तु देशस्य प्रतिपद्यन्ते।।१८।। श्लो० वा०
३६२. यद्वार्थापत्तिरेव सा।।१८।। श्लो० वा०
३६३. जीवतश्च गृहाभावः.............कल्प्यते.............जायते।।१९।।
३६४. अग्निमत्तानपेक्षा तु धूमवत्ता प्रतीयते।।२०।। श्लो० वा०

कि लिए उपयोगी नहीं हो सकता। वस्तुगति यह है कि चैत्र की वर्त्तमानता के साथ सम्बन्ध से गृहाभाव के द्वारा गृह से चैत्र की सत्ता निवृत्त होकर बहिर्देश में नियमित होती है।[३६५]

चैत्र के जीवन के साथ असंबद्ध 'केवल' गृहाभाव का जो स्वतन्त्र रूप से ज्ञान होता है, उसके द्वारा प्राप्त होने वाली बहिः सत्ता केवल चैत्र में ही नियमित नहीं है। चैत्र में वर्त्तमानता की सिद्धि हो जाने पर इस गृहवृत्तित्वाभाव की वृद्धि के द्वारा देवदत्त की सत्ता गृह से हट कर बहिर्देश में स्थापित हो जाती है।[३६६]

जीवित्व विशेषण से रहित (निरपेक्ष) केवल गृहवृत्तित्वभाव (गेहाभाव) मृत चैत्र में व्यभिचारी है। अतः वह चैत्र में बहिर्वृत्तित्व का अनुमापक नहीं है। विद्यमानत्व विशिष्ट चैत्र में बहिर्वृत्तित्व का अनुमापक नहीं है। विद्यमानत्व विशिष्ट चैत्र में जो गृहवृत्तित्व का अभाव है, उसी में बर्हिर्वृत्तित्व की व्याप्ति है। एवं वही अर्थापत्ति प्रमाण का प्रमेय भी है तद्भिन्न कौन सी वस्तु अवशिष्ट है जिसका अनुमान प्रमाण से भान होगा। अतः अर्थापत्ति का कार्य अनुमान से नहीं हो सकता।

'तस्मात्' प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा गेह का ज्ञान होने पर एवं अभाव प्रमाण से उस चैत्राभाव के ज्ञात होने पर ज्योतिष शास्त्र से चैत्र में जिस विद्यमानत्व का ज्ञान होता है, वह विद्यमानत्व अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा बहिःस्थित चैत्र में व्यवस्थित होता है। यहाँ लिंगादि से बहिःसत्त्व का कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता।[३६७]

फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि चैत्रनिष्ठ बहिः सत्त्व का उक्त ज्ञान अनुमिति से भिन्न क्यों है? इस संभावित प्रश्न का यह समाधान है कि जीवी चैत्रः बहिरस्ति गृहावृत्तित्वात्' यदि ऐसा अनुमान करेंगे तो 'गृहावृत्तित्व' हेतु 'जीवनविशिष्ट चैत्र' स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीवनविशिष्ट चैत्र की सत्ता सभी संभावित अधिकरणों में प्राप्त है। अतः गृह में भी प्राप्त है। फलतः केवल गृहाभाव जीवनविशिष्ट चैत्र स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकता। इसलिए उक्त अनुमान के 'गृहावृत्तित्व' हेतु में बहिरस्तित्व विशेषण देना होगा; क्योंकि बहिरस्तित्वविशिष्ट गृहाभाव जीवनविशिष्ट चैत्र स्वरूप पक्ष का धर्म हो सकता है, क्योंकि बहिरस्तित्व से उक्त विशिष्ट गृहासत्त्व की विद्यमानता बाधित नहीं है, भले केवल गृहासत्त्व की विद्यमानता बाधित रहे।

---

३६५. गेहाभावत्वमात्रं तु यत् स्वतन्त्रं प्रतीयते।।२३।। श्लो० वा०

३६६. तेनास्य निपेक्षस्य व्यभिचारो मृतादिना। श्लो० वा०
यस्य त्वव्यभिचारित्वं न ततोऽन्यत् प्रतीयते।।२५।।

३६७. तस्मात् प्रत्यक्षतो............................स्थितम्।।२६।। श्लो० वा०

प्रकृत में चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व ही अनुमेय भी है। फलतः अनुमिति के लिए अपेक्षित पक्षधर्मताज्ञान में ही 'चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व' भासित हो जायगा। आगे ज्ञातव्य न रहने के कारण ही अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति रुक जायगी। अथवा यों कहिये कि जिसके द्वारा चैत्रनिष्ठ बहिरस्तित्व का ज्ञान होगा, वह ज्ञान पक्षधर्मता जन्य होकर स्वयं पक्षधर्मताज्ञान स्वरूप है। तस्मात् बहिरस्तित्व का प्रकृत ज्ञान अनुमिति स्वरूप नहीं है।[३६८]

यदि इस स्थिति में भी उक्त बर्हिर्वृत्तित्वज्ञान को अनुमिति स्वरूप मानेंगे तो 'अन्योन्याश्रय' दोष इस रीति से आ पड़ेगा कि बर्हिर्वृत्तित्वविषयक अनुमिति के द्वारा बर्हिर्वृत्तित्वविशिष्ट गृहाभावस्वरूप पक्षधर्म का ज्ञान अनुमितिसापेक्ष होगा, वह अनुमिति पक्षधर्मताज्ञानसापेक्ष होगी, अतः अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता।[३६९]

यह 'प्रमेयानुप्रवेशिता' की आपत्ति तो अर्थापत्ति को प्रमाण मानने के पक्ष में भी समान है। कहने का तात्पर्य है कि उक्त बर्हिर्वृत्तित्वज्ञान को यदि अर्थापत्ति प्रमाण जन्य मानें, तथापि पहले ही बहिर्वृत्तित्व का ज्ञान आवश्यक होगा, क्योंकि केवल गृह में चैत्र के न रहने से ही चैत्र के बाहर रहने की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि चैत्र की मृत्यु हो जाने पर भी गृहवृत्तित्वभाव की उपपत्ति हो सकती है। इसलिए यही कहना होगा कि विद्यमानत्वविशिष्ट (जीवनविशिष्ट) चैत्र का गृह में रहना ही उसके बहिभाव का ज्ञापक है। गृहाभावविशिष्ट चैत्र का वर्त्तमानत्व उसके बहिर्भाव के ज्ञात हुये बिना नहीं जाना जा सकता। फलतः अर्थापत्ति प्रमाण से चैत्र के बहिर्भाव विषयक ज्ञान के लिए अपेक्षित ज्ञान से ही चैत्र का बहिर्भाव ज्ञात हो जाएगा। आगे अर्थापत्ति प्रमाण की कोई अपेक्षा नहीं रह जाएगी। इस उक्त आक्षेप का समाधान करते हुए कहा है कि अर्थापत्ति प्रमाण में यह 'प्रमेयाऽनुप्रवेश' दोष नहीं है, क्योंकि बहिर्भाव के बिना विद्यमानत्वविशिष्ट चैत्र का गृह में न रहना चूंकि उसके बाहर रहने के बिना अनुपपन्न है, अतः एक के बिना दूसरा प्रतिहत होता है, इस प्रतिघात से जो 'असम्भावना' उत्पन्न होती है, उस 'असम्भावना' को बहिसत्त्व स्वरूप अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा मिटाना ही अर्थापत्ति प्रमाण का फल है। फलतः अर्थापत्ति की सामग्री ही अनुमान की सामग्री से भिन्न है। अतः वह अनुमिति से सर्वथा भिन्न है।[३७०]

---

३६८. पक्षधर्मात्मलाभाय....................पक्षधर्म्यप्रन्वयादिभिः।।२७।। श्लो० वा०

३६९. पक्षधर्मादिविज्ञानं....................................भवेत्।।२८।। श्लो० वा०

३७०. अन्यथानुपपत्तौ तु प्रमेयानुप्रवेशिता। ताद्रूप्येणैव विज्ञानान्न दोषः प्रतिभाति नः।।२९।।

अर्थापत्तिस्थल में व्याप्ति का ज्ञान भी पहले नहीं रहता। इसलिए भी वह अनुमान से भिन्न है, क्योंकि जिस समय अर्थापत्ति प्रमाण के बल से गृहाभाव के द्वारा बहिर्भाव की कल्पना की जाती है, उसके बाद ही गृहाभाव और बहिर्भाव में व्याप्ति भी गृहीत होती है। अर्थापत्ति प्रमाण की परिणति से पहले चूंकि व्याप्ति का ज्ञान सम्भव नहीं है अत: गृहाभाव और बहिर्भाव में व्याप्ति यदि है भी तथापि व्याप्ति के गृहीत न रहने के कारण अर्थापत्तिप्रमिति में उसका उपयोग नहीं हो पाता। अत: व्याप्ति ज्ञान जन्य न होने के कारण भी अर्थापत्ति अनुमिति से भिन्न है।[३७१]

गृहाभाव और बहिर्भाव इन दोनों को व्याप्ति का ज्ञान सभी को नहीं होता। किन्तु जिस पुरुष को उक्त व्याप्ति का ज्ञान नहीं भी रहता है, उसे भी गृहाभाव के द्वारा बहिर्भाव की कल्पना स्वरूप प्रमिति होती है। इसलिए अर्थापत्ति नाम के स्वतन्त्र प्रमाण की सत्ता अनिवार्य है।[३७२]

उपमान

'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्' इस न्याय सूत्र के अनुसार न्याय शास्त्र में उपमान प्रमाण का यह विवरण मिलता है कि कोई नागरिक वन में जाने पर अगर वहाँ के निवासियों से पूछता है कि 'कीदृग्गवय:?' अर्थात् गवय कैसा होता है? सादृश्यघटित 'गोसदृशो गवय:' यह वाक्य ही उपमान प्रमाण है। किन्तु उपमान प्रमाण का यह लक्षण 'शब्दज्ञानादर्थे ज्ञानम्' (शाबरभाष्य पृ० ३७) आता है, अत: शाबर भाष्य में इसका दूसरा लक्षण किया गया है।[३७३]

'गोसदृशोगवय:' इस वाक्य से भी तभी बोध होता है, जब कि उसमें आप्तोच्चरितत्व का निश्चय रहे अत: 'आप्तोपदेश: शब्द:' (न्या० सू० १-१-७) इस न्यायसूत्र के अनुसार भी उक्त न्यायसूत्रानुयायी उपमान प्रमाण शब्द प्रमाण के ही अन्तर्गत आ जाता है।[३७४]

---

३७१. अविनाभाविता चात्र तदैव परिकल्प्यते। न प्रागववृतेत्येवं सत्याप्येषा न कारणम्।।३०।। श्लो० वा०

३७२. गृहाभाववहिर्भावौ न च दृष्टौ नियोगत:।
साहित्येऽपि प्रमाण च तयोरन्यत्र विद्यते।।३१।। (श्लो० वा०)

३७३. कीदृग्गवय...............गौर्यवयस्तथा..................प्रसिद्धम्।।१।। श्लो० वा०

३७४. शाबरे पुन:.........................उपवर्णितम्।।२।। श्लो० वा०

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि शाबरभाष्य में जो 'उपमानमपि सादृश्यमसंनिकृष्टेऽर्थे बुद्धिः' उपमान का यह लक्षण लिखा गया है, एवं 'यथा गवयदर्शनं गोस्मरणस्य' इस वाक्य से उदाहरण दिखलाया गया हैं, वे दोनों ही सङ्गत नहीं है, क्योंकि सादृश्य विशिष्ट गो का प्रत्यक्ष जिस गो विषयक स्मरण को उत्पन्न करता है, उसी स्मरण को उपमान कहा गया है। किन्तु स्मरणात्मक होने से वह प्रमाण हो ही नहीं सकता। इष्ट देवता का जो बार-बार स्मरण रूप ध्यान किया जाता है, उस ध्यानात्मक स्मरण से इस गो स्मरण का कोई भी अन्तर नहीं है। ध्यान यदि स्मरणात्मक होने से प्रमाण नहीं है, तो गो की उक्त स्मृति भी प्रमाण (प्रमा) नहीं है।[३७५]

जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' यह प्रत्यभिज्ञा स्वरूप ज्ञान देवदत्तादि विषयों में ज्ञातज्ञापक स्मृति स्वरूप होने पर भी 'एतत्काल वा एतद्देश रूप अंश में अज्ञात-ज्ञापक होने के कारण प्रमाण है। उसी प्रकार अतिदेशवाक्य जन्य ज्ञान भी कुछ अंशों में ज्ञात-ज्ञापक होने पर भी कुछ अंशों में अज्ञात-ज्ञापक होने से प्रमाण हो सकता है। किन्तु इस कथन में भी कुछ सार नहीं है, क्योंकि कथित उपमान तो नगरस्थ व्यक्ति के अनुभव के अनुसार ही उत्पन्न होता है। अतः नगरस्थ पूर्वानुभव में विषयीभूत वस्तु से अधिक कोई भी वस्तु विषय नहीं हो सकती। अतः यह स्मृति प्रत्यभिज्ञा के समान नहीं है।[३७६]

कुछ नैयायिकगण उपमान का स्वरूप ऐसा मानते हैं कि-जिस पुरुष ने गो को प्रत्यक्ष देखा है और 'गौरिव गवयः' यह अतिदेश वाक्य भी सुन रखा है वन में जाने पर उसी पुरुष को गवय को देखने पर जो गो सादृश्यविशिष्ट गो का ग्राहक 'अयं गवयः गो दृश्यविशिष्टः' इस आकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को वे उपमान कहते है।[३७७]

नैयाापिकों की उक्त कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि गवय तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही गृहीत होता है, उस ज्ञान में भासित होने वाला गो सादृश्य अतिदेशवाक्य के द्वारा पूर्व में ही अनूभूत है,; अतः प्रकृत में वह स्मृति का ही विषय है। इस लिए इन विषयों में किसी के ज्ञान के लिए दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं है।

---

३७५. पुरुषप्रत्ययेनैव....................एव सः॥३॥ श्लो० वा०

३७६. सदृशादुपजायेत या............सदृशान्तरे॥..............कथं भवेत्॥४॥ श्लो० वा०

३७७. श्रुतातिदेशवाक्यानामारण्ये.......................................अनुरञ्जिता॥६॥ श्लो० वा०

नैयायिकगण कहते हैं कि गो सदृशः कश्चिदस्ति 'इस प्रकार से साधारण रूप से ' गोसाादृश्य पूर्व से ज्ञात है। एवं स्मरण भी उसका अवश्य होता है किन्तु सादृश्यविशिष्ट गवय पूर्व से ज्ञात नहीं है, न वह विशिष्ट प्रत्यक्ष के द्वारा ही ज्ञात होता है। अतः गोसादृश्य विशिष्ट गवयविषयक ज्ञान के लिए उपमान प्रमाण की आवश्यकता है।[३७८]

तात्कालिक कारणों से जिन अवगत विषयों का ज्ञान होता है उस ज्ञान को 'संगति' कहते हैं। इस 'संगति' के संवाद और 'अनुवाद' ये दो नाम और है। प्रकृत में गोसदृशोऽयं गवयः इस आकार के जिस ज्ञान की चर्चा है, वह ज्ञान उक्त संगति' स्वरूप ही है। यह संगति नाम का ज्ञान चूंकि स्मृति के समान ही पूर्वानुभूत विषय से किसी अन्य विषय का नहीं है, अतः स्मृति के समान ही वह भी प्रमाण (प्रमा) नहीं है। अतः इसके लिए उपमान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसलिए गोसृदश्योऽयं गवयः' इस ज्ञान में जो अंश अतिदेश वाक्य के द्वारा ज्ञात है, वह उपमान प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। इसी ज्ञान का जो गवय स्वरूप अंश पूर्व से ज्ञात नहीं है वह एवं उसमें रहने वाला सादृश्यवैशिष्ट्य ये दोनों प्रत्यक्ष प्रमाण के ही विषय है। जैसे कि घट एवं तद्गत घटत्वादि दोनों ही प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय है। यह बात प्रत्यक्षपरिच्छेद के (श्लो०-२३४ के) उत्तरार्द्ध से भी कही जा चुकी है।[३७९]

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि गोसादृश्य ज्ञान में विषयीभूत जो 'गो' स्वरूप अंश है, वह स्मरणात्मक है, फिर सम्पूर्ण गो सादृश्य को प्रत्यक्ष का विषय कैसे कहा जा सकता है?

इस उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्षपरिच्छेद में विविक्ता एव तेऽर्थाः इत्यादि से कहा जा चुका है कि एक ही विशिष्ट ज्ञान का कोई अंश स्मरणात्मक और कोई अंश अनुभवात्मक हो सकता है। अतः इस प्रमाण के ज्ञानों के स्मरण में प्रामाण्य और अनुभव में प्रामाण्य असम्भावित नहीं है, अतः गोसादृश्यज्ञान का जो गवांश है वह चूंकि स्मरणात्मक है, इसलिए गोसादृश्य विषयक अनुभवात्मक ज्ञान के प्रमा होने में कोई बाधा नहीं है।[३८०]

---

३७८. प्रत्यक्षो गवयस्तावत् सादृश्यस्मृतिरत्र तु।
ननु सादृश्ययुक्तेऽर्थे न स्मृतिर्नेन्द्रियाद् गति।।७।। श्लो० वा०

३७९. पूर्ववाक्यार्थ.............प्रमाणता.............प्रत्यक्षमिति स्थितम्।।८-९।। श्लो० वा०

३८०. स्मर्यमाणस्य चांशस्य विवेकेना प्रमाणता।
श्रुतातिदेशवाक्यत्वं न चातीवोपयुज्यते।।१०।। श्लो० वा०

कथित श्लोक (६) के द्वारा जो उपमान का लक्षण उपस्थित किया गया है, उसमें 'श्रुतातिदेशवाक्यानाम्' यह विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि जिस पुरुष ने 'गोसदृशोगवय:' यह अतिदेश वाक्य नहीं भी सूना है, किन्तु गो को अपनी आंखों से देख चुका है, उस पुरुष को भी वन में गवय को देखने पर 'अयं गोसदश:' इस प्रकार की उपमिति होती है।[३८१]

अगर यह कहो कि 'अश्रुतातिदेशवाक्य' पुरुष को यद्यपि 'अयं गोसदृश:' यह ज्ञान होता है, फिर भी अयं गोसदृशो 'गवयपदवाच्य' इस प्रकार का संज्ञानुसंधान' नही होता। 'अयम्' पिण्ड में 'गवयपदवाच्यत्व' की प्रतीति ही वास्तव में उपमिति है, उसके लिए उपमान लक्षणश्लोक में 'श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' यह लिखना उचित ही है। गोसादृश्य विशिष्ट गवय ही प्रकृत में उपमान प्रमाण का प्रमेय है।, उसका ज्ञान यदि हो जाता है तो 'गवय' शब्द उसकी संज्ञा है यह ज्ञान यदि नहीं भी होता है तो इसमें कौन सी क्षति है?[३८२]

नैयायिकगण तो 'समाख्यासम्बन्ध' अर्थात् 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' को उपमान प्रमाण का विषय मानते है, इस सम्बन्ध' स्वरूप इस प्रमेय का ज्ञान उस पुरुष को नहीं हो सकता जिसने 'गो सदृशोगवय:' इस अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है। अत: उपमान के कथित लक्षण वाक्य में श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' यह विशेषण व्यर्थ नहीं है।

नैयायिकों की यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकृत उपमान प्रमाण का प्रमेय 'शब्दार्थसम्बन्ध' या 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध' है ही नहीं, क्योंकि वह सम्बन्ध तो कथित अतिदेश वाक्य से ही ज्ञात है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि अतिदेश वाक्य के द्वारा ज्ञात समाख्या-सम्बन्ध की प्रत्यभिज्ञा' उपमान प्रमाण से ही होती है; क्योंकि अरण्य में जाने पर उक्त पुरुष को 'इसी का नाम गवय है।' केवल इतना ही ज्ञात होता है, जितना कि अतिदेश वाक्य से है। न उससे अधिक न उससे कुछ न्यून विषय उसमें भासित होता है। प्रत्यभिज्ञा में पूर्वज्ञात विषय से किञ्चिदधिक विषय का भान होता है। प्रकृत में 'गोसदृशो गवयपदवाच्य:' इस आकार की वाच्यत्व शक्ति का जो ज्ञान होता है, अथवा 'गवयपदं गो सदृश्यवाचकम्' इस आकार का जो

३८१. अथ संज्ञानुसन्धानं...........वर्ण्यते.............प्रतीयते।।१२।। श्लो० वा०
३८२. न च शब्दार्थसम्बन्ध:..............................ह्यसौ।।१३।। श्लो० वा०

वाचकत्व शक्ति का ज्ञान होता है, ये दोनो ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा स्वरूप नहीं हैं, क्योंकि वाच्यत्व और वाचकत्व ये दोनों ही शक्ति स्वरूप होने के कारण अतीन्द्रिय है। अतः उनकी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती अतः उक्त दोनों ही ज्ञान स्मृति स्वरूप है अतः प्रमा नहीं है। अतः उन ज्ञानों के सम्पादन के लिए भी उमपान प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।[३८३]

इस प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि गो सादृश्य विशिष्ट गवय का ज्ञान दो प्रकार का होता है–१-अशब्दज्ञानानुविद्ध एवं, २-शब्दज्ञनानुविद्ध। इसमें पहला ज्ञान उस व्यक्ति को होता है; जिसने अतिदेश वाक्य को नहीं सुना है। दूसरा ज्ञान उस व्यक्ति को होता है जिसने अतिदेश वाक्य सुना है। पहला ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है, क्योंकि उसका विषय पहले अज्ञात है। दूसरा ज्ञान अप्रत्यक्षात्मक है अर्थात् -स्मृत्यात्मक है, क्योंकि उसका विषय अतिदेश वाक्य के द्वारा पहले से ज्ञात है। इनमें अप्रत्यक्षात्मक दूसरे ज्ञान के सम्पादन के लिए उपमान प्रमाण की अवाश्यकता होगी। अतः उपमान लक्षण के बोधक श्लोक में (श्लो०६) 'श्रुताऽतिदेशवाक्यानाम्' इस विशेषण का प्रयोग सार्थक है।

इस कथन का खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है कि शब्द प्रमाण के द्वारा ज्ञात विषय का भी यदि इन्द्रियसंप्रयोगज उपयुक्त ज्ञान हो तथापि उसके प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। इसका उपपादन प्रत्यक्षपरिच्छेद (श्लोक०१२३) में किया जा चुका है। अतः प्रकृत गो सादृश्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा हो सकता है। उसके लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः उपमान लक्षण बोधक श्लोक के 'श्रुतातिदेश वाक्यानाम्' इस विशेषण का वैयर्थ्य यथावत् है।[३८४]

'तस्मात्' उपमान नाम के लिए किसी स्वतन्त्र प्रमाण को मानने की इच्छा रखने वालों को उसके लिए कोई ऐसा सादृश्यविशिष्ट असाधारण विषय चुनना होगा, जिसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा संभव न हो सके। किन्तु ऐसा कोई प्रमेय नहीं है अतः उपमान नाम के किसी प्रमाण को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।[३८५]

कल्पनापोढ़प्रत्यक्षवादी बौद्धों के मत से सामानाधिकरण्य सम्बन्धेन

---

३८३. न चास्य प्रत्यभिज्ञानं..................................हो सेष्यते।।१४।। श्लो० वा०

३८४. शब्दानुविद्ध बोधेऽपि प्रत्यक्षमुपपादितम्।। श्लो० वा०

३८५. तस्मात् सादृश्ययुक्तार्थः प्रमेयोऽपूर्व उच्यताम्।।१५।। श्लो० वा०

गोसादृश्यविशिष्ट गोत्व का ज्ञान भले ही प्रत्यक्ष रूप में न हो सके किन्तु व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के मत से जैसे कि घटत्वादि जातियों का प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही गवयगत गोसादृश्य स्वरूप धर्म का ज्ञान भी प्रत्यक्ष प्रमाण से क्यों नहीं होगा? उसके लिए उपमान नामके स्वतन्त्र प्रमाण की आवश्यकता क्यों स्वीकार की जाए?[३८६]

निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वाले बौद्धों के मत से तो जिस प्रकार गवादि का भी विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्षाभास ही है। उसी प्रकार गो सादृश्य विशिष्ट गवय का विशिष्ट ज्ञान भी प्रत्यक्षाभास ही है। क्योंकि गवयस्वरूप धर्मी से भिन्न अथवा अभिन्न गोसादृश्य नाम की किसी वस्तु की सत्ता सम्भावित नहीं है। यदि गो सादृश्य को गवय से अतिरिक्त मानेंगे तो गवय को छोड़कर स्वतन्त्र रीति से उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए। यदि गवयरूप धर्मी से उसे अभिन्न मानेंगे तो उसमें गवयस्वरूप मात्रता की आपत्ति होगी। अतः उनके मत से उपमान प्रमाण के लिए कोई असाधारण प्रमेय ही नहीं प्रतिपन्न होता। अतः प्रमेयाभाव प्रयुक्त ही उपमान प्रमाण की स्वीकृत बाधित है।

बौद्धगण सादृश्य की अतिरिक्त सत्ता को अस्वीकार करने के लिए यह युक्ति भी देते हैं कि आगे विद्यमान गवय में रहने वाली सादृश्य नाम की कोई वस्तु होती तो पूर्व से अज्ञात रहने पर भी उसके प्रतियोगी के ज्ञान के विना भी जैसे-जाति का ग्रहण होता है, वैसे भी उसका ही ग्रहण होता है। किन्तु वस्तु गति इसके सर्वथा विपरीत है, अर्थात् पुनः स्थित गवयादि में ही पूर्वानुभूत गोसादृश्य का ज्ञान होता है। एवं उसके लिए प्रतियोगी ज्ञान की भी अपेक्षा होती है। इसलिए गोसादृश्य नाम का कोई प्रमेय नहीं है।

यदि यह कहें कि गोसादृश्य प्रतियोगी सापेक्ष है, अतः उसका ज्ञान प्रतियोगी ज्ञान के बिना नहीं होता है, तो इस प्रसंग में प्रष्टव्य होता है कि सादृश्य की उत्पत्ति में प्रतियोगी की अपेक्षा है अथवा ज्ञप्ति में। सादृश्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति इन दोनों को प्रतियोगी सापेक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि मृत देवदत्त के सादृश्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति दोनों यज्ञदत्त में होती है। अतः सादृश्य वासनाप्रसूत ही है, उसकी प्रतीति प्रमा नहीं हो सकती। इसलिए वह प्रमेय भी नहीं हो सकता।[३८७]

---

३८६. व्यवसायात्मकत्वं..................यदेष्यते..........नमीयते।।१६।। श्लो० वा०

३८७. प्रत्यक्षाभासमेतत् तु निर्विकल्पवादिनाम्। प्रमेयवस्त्वभावाच्च नाभिप्रेता प्रमाणता।।१७।। श्लो० वा०

इस प्रसंग में मीमांसकों से पूछा जा सकता है कि जिन युक्तियों से बौद्धगण सादृश्य को प्रमेय न मानकर प्रमेय के अभाव से ही उपमान प्रमाण का खण्डन करते हैं एवं सादृश्य के ज्ञान को प्रत्यक्षभास कहते हैं, फिर उसे प्रत्यक्षगम्य मानकर उसे उपमान प्रमाण का प्रमेय कैसे कहते है? इस प्रश्न का उत्तर मीमांसक यह देते हैं कि सादृश्य की वस्तुता अर्थात् वास्तविक सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि अबाधित प्रत्यक्ष प्रतीति के द्वारा ग्राह्य होने के कारण उसकी सत्ता किसी से बाधित नहीं हो सकती।[३८८]

यह जो कहा गया कि सादृश्य यदि स्वतन्त्र प्रमेय होता तो प्रतियोगी के ग्रहण के विना उसका ग्रहण होता? इस प्रश्न के उत्तर के लिए सादृश्य के स्वरूप को जानना आवश्यक है। सादृश्य का यह स्वरूप है कि विभिन्न जाति की वस्तु के अवयवों के सामान्य के साथ विभिन्न जाति की वस्तुओं का 'योग' अर्थात् सम्बन्ध ही 'सादृश्य' है। इस स्वरूप के सादृश्य का ज्ञान प्रतियोगि ज्ञान के विना सम्भव नहीं है। किन्तु इस सापेक्षता से सादृश्य की वस्तुसत्ता में कोई बाधा नहीं आती है, क्योंकि उसके स्वरूप के अन्तर्गत है।

उक्त 'योग' अथवा सम्बन्ध की जिस किसी प्रकार की सत्ता सादृश्य के प्रकृत लक्षण में 'योग' शब्द से अभिप्रेत नहीं है किन्तु जात्यन्तरप्रतियोगिकत्वविशिष्ट वस्तु का जात्यन्तर की वस्तु के साथ 'योग' ही विवक्षित है। प्रकृत में गोसादृश्य का गवय में इस प्रकार के 'योग' को बिना गो स्वरूप प्रतियोगी के जानना सम्भव नहीं है। इस प्रकार उक्त विशिष्ट योग अथवा विशिष्ट सम्बन्ध को जानने के लिए गो स्वरूप प्रतियोगी को जानना आवश्यक है। इसलिए प्रतियोगी को जाने बिना सादृश्य को न जान सकना उचित है। किन्तु इससे सादृश्य की वास्तविकता में कोई बाधा नहीं आती है।

सादृश्य के उक्त लक्षण में 'अवयव' का ग्रहण भी उपलब्ध ही है, अवयव पद उसके सभी सम्बन्धियों का बोधक है एवं 'जाति' शब्द भी उसमें रहने वाले सभी धर्मों का बोधक है। यह जो कहा गया है कि सादृश्य की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति में प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं है-सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्य की उत्पत्ति में या ज्ञप्ति में प्रतियोगी अपनी सत्ता के द्वारा भले ही अपेक्षित न रहे, किन्तु स्वस्मरण के द्वारा अवश्य ही अपेक्षित है। जहाँ केतकी की गन्ध और सर्प की गन्ध के समान प्रतियोगी और अनुयोगी के गुणों में समानता रहती है, ऐसे

३८८. सादृश्यस्यापि वस्तुत्वं न शक्यमपबाधितुम्। श्लो० वा०

स्थलों में अवयवी के गुणों में अवयवों के गुणों की समानता के आधार पर सादृश्य का व्यवहार होता है।[३८९]

जैसा एक अवयवी के अवयवों के साथ दूसरे अवयवी के अवयवों में सादृश्य का व्यवहार होता है।-जैसे कि कमलपत्र के साथ 'कमलपत्राक्षी' स्त्री के अवयव भूत चक्षु में सादृश्य का व्यवहार होता है वह कैसे उपपन्न होगा? क्योंकि जात्यन्तरभूत अवयवों में दूसरी जाति के अवयवी के अवयवों के सामान्य के 'योग' को सादृश्य कहा गया है? इस प्रश्न का यह समाधान है कि पद्मपत्र और चक्षु ये दोनों भी अपने अवयवों के अवयवी हैं, उन अवयवों की समानता के योग से ही ऐसे स्थलों में सादृश्य का व्यवहार जानना चाहिए।[३९०]

इस प्रकार १. जाति, २. गुण, ३. द्रव्य, ४. क्रिया, ५. शक्ति एवम्, ६. स्वधर्म प्रभृति सामान्य के योग से अर्थात् कहीं एक सामान्य के योग से कहीं दो सामान्यों के योग से और कहीं तीन सामान्यों के योग से सादृश्य के विविध भेद है :-

१. जाति (जन्म) मूलक सादृश्य का व्यवहार अग्नि और ब्राह्मण में अग्निर्वै ब्राह्मणः' इत्यादि वेदों में उपलब्ध होता है, क्योंकि अग्नि और ब्राह्मण दोनों की उत्पत्ति एक ही ब्रह्मा के मुख से प्रजापतिर्मुखतस्त्रिवृतंछन्दसां निरमीतीनमीत अग्नि देवानाम् ब्राह्मणं मनुष्यसाणाम्' इस श्रुति के द्वारा कथित है।

२. गुण सामान्य के योग से दो चित्रों में सादृश्य का व्यवहार होता हैं

३. द्रव्यसामान्यमूलक सादृश्य का व्यवहार एक प्रकार के अलंकार धारण करने वालों में अथवा एक प्रकार के धनादि से युक्त पुरुषों में होता है।

४. क्रिया सामान्य के योग से श्येनयाग में अन्य यागों से सादृश्य का व्यवहार होता है।

५. समान शक्ति के कारण सिंह और देवदत्त में सादृश्य का व्यवहार 'सिंहों वै देवदत्तः' इत्यादि आकारों का होता है।

६. पञ्चावत्तनराशंस और द्वितीय प्रयाजत्वादि में स्वधर्म सामान्य के योग से सादृश्य का व्यवहार होता है।

---

३८९. भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्।।१८।। श्लो० वा०

३९०. एवं जातिगुणद्रव्य क्रिया शक्तिस्वधर्मतः। एकैकद्वित्रिसामस्त्यभेदादेताय चित्रता।।२०।। श्लो० वा०

इस प्रसंग में किसी का आक्षेप हो सकता है कि अवयव सामान्य स्वरूप धर्म अथवा उक्त धर्मों के भूयस्त्व को ही सादृश्य का लक्षण कहना चाहिए। इन धर्मों के 'योग' पर्यन्त जाना व्यर्थ है। इस आक्षेप का यह समाधान है कि :- अवयव सामान्य अथवा उन सामान्यों में रहने वाले भूयस्त्व को सादृश्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भूयस्त्व से सामान्य में ही सादृश्य का व्यवहार होता है। अर्थात् गवय जाति गोजातीय अवयवी के अवयवों की सामनता (सामान्य) से युक्त होने के कारण गोसदृशत्व रूप से व्यवहृत होती है। अतः सामान्ययोग 'ही सादृश्य' है। सामान्य अथवा सामान्यगत भूयस्त्व सादृश्य नहीं है।[३९१]

किसी ने आक्षेप करते हुए कहा है कि-'भूरिसामान्ययोग' स्वरूप सादृश्य को माने तो 'यमज्' अर्थात् जुड़वें दो भाइयों में सादृश्य का व्यवहार कैसे उपपन्न होगा? अर्थात् 'सामान्य' नित्य है, यमज दो भाई विनाशशील हैं, अतः उनके अवयवों का भी आश्रय के विनाश से विनाश अवश्य होगा। इसलिए आश्रय के अभाव से यमज दो भाइयों में सादृश्य अनुपपन्न हो जाएगा। यमज भाइयों में भी अवयव की समानता का सम्बन्ध (योग) देखा जाता है, अतः वहाँ भी सादृश्यों का व्यवहार अनुपन्न नहीं है। समानता का यह 'योग' कहीं बहुत से अवयवों का होता है। कहीं दो ही अवयवों का होता है, किन्तु इससे कथित 'सामान्ययोग' के 'वस्तुत्व' में कोई व्याघात नहीं होता है।[३९२]

यह जो कहा गया है कि भाइयों के विनाश से आश्रयाभाववश अवयव 'सामान्य' अनित्य हो जाएगा। फलतः सामान्य के नित्यत्व का सिद्धान्त व्याहृत हो जायेगा। इस कथन में भी कुछ सार नहीं है।, क्योंकि आश्रय के अभाव से यदि कोई सामान्य अनित्य ही होगा तो इसमें क्षति ही क्या है?[३९३]

गोत्वादि सामान्य भी इसलिए नित्य नहीं है कि वे जाति स्वरूप हैं, नित्य इसलिए है कि उनके आश्रय अनन्त है, अतः सभी समयों में कोई न कोई आश्रय व्यक्ति में अवश्य रहती है। अतः सभी सामान्य नित्य नहीं है। वस्तुतः सामान्य नित्य ही है, क्योंकि सभी सामान्यों का कोई न कोई आश्रय विश्व में सभी समय कहीं न कहीं अवश्य रहता है।[३९४]

---

३९१. न धर्मा एव सादृश्यं भूयस्ता वा तदाश्रयाँ भूयस्त्ववद्धि जात्यादि सदृशत्वेन दृश्यते।।२१।। श्लो० वा०

३९२. यमयोः कथमेतच्चेद्.............................क्वचिदल्पीयसामपि।।३२।। श्लो० वा०

३९३. समान्यान्यपि......................प्रकल्प्यते।।२३-२४।। श्लो० वा०

३९४. सदृशावयवत्वं तु यत्र नाम प्रतीयते।तदप्यवयवानां स्यात् समानावयवान्तरैः।।२७।। श्लो० वा०

पद्मदल और अक्षि प्रभृति में जिस प्रकार परस्पर के अवयवों मे ही समानता के कारण सादृश्य का उपपादन किया गया है, उसी प्रकार अवयव के अवयवों में परस्पर समानता के आधार पर सादृश्य का उपादान करना चाहिए।[३९५]

इस प्रकार द्व्यणुक पर्यन्त के द्रव्यों में 'परस्पर अवयव परम्परामूलक समानता के आधार पर सादृश्य का उपपादन करना चाहिए। इसके आगे निरवयव परमाणुओं में जिस किसी प्रकार के सामान्य हैं, वे सादृश्य बुद्धि के प्रयोजक नहीं है। अर्थात् उन्हें 'समान' तो कहा जा सकता है। किन्तु 'सादृश्य' नहीं कहा जा सकता।

अनेक गो व्यक्तियों में तदव्यक्तित्व प्रयोजक अवयवभेदादि का प्रतीति पूर्वक जहाँ सामान्य की प्रतीति होती है, वहाँ उनमें सादृश्य की प्रतीति होती है। किन्तु जहाँ दोनों में रहने वाले 'गोत्व' सामान्य मात्र कि प्रतीति होती है, वहाँ सादृश्य की प्रतीति नहीं, किन्तु अभेद की प्रतीति होती है। इस रीति से सादृश्य भेदमूलक है।

चित्र में जो मनुष्य के सादृश्य की प्रतीति होती है, वह कैसे उपपन्न होगी? मनुष्य के अवयवों के जो हस्तत्वादि धर्म हैं, वे चित्र के अवयवों में नहीं रह सकते। मनुष्य के हस्तादि अवयवों में रहने वाले हस्तत्वादि धर्म चित्र भले ही न रहें, तथापि मनुष्य के संस्थान, परिणाम, वर्ण प्रभृति में सामान्यों की सत्ता है ही। उन्हीं से चित्र में मनुष्य के सादृश्य की उपपत्ति होगी।[३९६]

जिन द्रव्यों के अवयवों में समानता के रहने पर भी रूप, रस, गन्धादि में समानता रहती है, उन द्रव्यों में रूप-रसादिगत सामान्यमूलक भी सादृश्य का व्यवहार होता है। फलतः जिस प्रकार के सामान्य के रहने पर सादृश्य काव्यवहार होता है। यह नियम नहीं है कि केवल अवयवगत सामान्य के रहने पर ही सादृश्य का व्यवहार हो, अथवा रूपादिगत सामान्य के रहने पर ही सादृश्य का व्यवहार हो। सादृश्य के व्यवहार के लिए अवयव सभी धर्मों में समानता आवश्यक नहीं है।[३९७]

'सर्व सर्वात्मकम्' इस न्याय के अनुसार पृथिव्यादि सभी द्रव्यों में सब रूप-रसादि सर्वदा विद्यमान रहते हैं। किन्तु 'परिणाम' अथवा चित्रकार के कौशल के कारण, विशेष द्रव्यों में विशेष रूप-रसादि की ही उपलब्धि होती है।

३९५. प्रधानानां तु सामान्यं यत्रैकं सम्प्रतीयते।
स एवेति भवेत् तत्र तद्भेदे सदृशत्वधीः॥२९॥ श्लो० वा०

३९६. चित्रादौ यत्र............भवेत्............समानता॥३०॥

३९७. रूपगन्धरसानां च................कश्चित्............उपजायते॥३१॥

एतावता जहाँ जिनकी उपलब्धि नहीं होती है, वहाँ भी उनकी सत्ता को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि पहले से अपने उपादान में सूक्ष्म रूप से अविद्यमान वस्तु की कभी उत्पत्ति (अभिव्यक्ति) नहीं हो सकती। जैसे कि गगन में कुसुमादि की उत्पत्ति नहीं होती। अत: सभी कार्य अपने उपादानो में अभिव्यक्ति से पूर्व भी विद्यमान रहते हैं।

यह जो कहा गया है कि सादृश्य अपने धर्मी से भिन्न है? या अभिन्न? इस का यह उत्तर है कि सादृश्य अपने आश्रयीभूत धर्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है। एवं धर्म (सादृश्य) अपने आश्रयीभूत धर्मी से सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। किन्तु धर्म की अवान्तर स्थिति है अर्थात् वह अपने धर्मी से कुछ अंशों में भिन्न भी है एवं कुछ अंशों में अभिन्न भी।[३९८]

इस प्रकार सादृश्य की वस्तुसत्ता के प्रतिपादित होने पर 'प्रमेयवस्त्वभावाच्च नाभिप्रेता प्रमाणता' इत्यादि से उपमान के प्रामाण्य पर जो आक्षेप किया गया था, उसका भी निराकरण हो जाता है। उसी श्लोक के उत्तरार्द्ध से जो सादृश्य ज्ञान के प्रत्यक्षत्व के ऊपर आक्षेप किया गया है, उसका यह समाधान है कि वस्तुभूत सादृश्य के साथ चक्षु का एक धर्मी में सन्निकर्ष के रहने पर जो वृद्धि उत्पन्न होती है, अथवा चक्षु: सन्निकर्ष के कारण जो धर्म और धर्मी को एक ही समय बुद्धि उत्पन्न होती है। उनके प्रत्यक्षत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता। तदनुसार गवय में जो गो की सादृश्यबुद्धि उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उत्पन्न हो जायगी, उसके लिए अलग से उपमान प्रमाण को मानने की आवश्यकता नहीं है।

धर्म दो प्रकार का होता है १. व्यासज्यवृत्ति और २. अव्यासज्यवृत्ति। 'व्यासज्यवृत्ति' वह धर्म है जो पर्याप्ततया अपने सभी आश्रयों में ही प्रतीत हो, प्रत्येक में नहीं। जैसे कि उभयत्व-त्रित्वादि। इन धर्मों की प्रतीति अपने आश्रयो भूत प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती। जैसे कि 'एकमुभयम्' 'एकं त्रीणि' इत्यादि प्रतीतियाँ नहीं होती हैं। यद्यपि एक व्यक्ति में भी द्वित्व 'त्रित्वादि' धर्मों का सम्बन्ध है। दूसरा 'अव्यासज्यवृत्ति' धर्म वह है जिसकी प्रतीति आश्रयी भूत समुदाय और तद्घटक प्रत्येक में समान रूप से होती है, जैसे कि घटत्वादि सामान्य इनकी सत्ता सभी घटादि व्यक्तियों में समस्त और व्यस्त रूप से होती

३९८. नहि शक्त्यात्मना निश्चिदसज्जन्म प्रपद्यते।। धर्माणां न च नानात्वमस्ति चावान्तरस्थिति:।।३३।।

है। यह 'सादृश्य' स्वरूप धर्म अव्यासज्यवृत्ति है। अतः गोस्वरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष न होने पर भी गवयस्वरूप दूसरे आश्रय में उसका प्रत्यक्ष हो सकता है।[३९९]

चक्षु के द्वारा गवय में जो गोसादृश्य का ज्ञान होता है, उसका यह क्रम है कि पहले गवय में चक्षु के संयोग से गवयत्व विशिष्ट गवय का प्रत्यक्ष होता है। बाद में गो का स्मरण तदन्तर उस गवय में गोसादृश्य का प्रत्यक्ष होता है। इस क्रम के अनुसार गवय में चक्षुः संयोग और गवय में गोसादृश्य के बीच में गोस्मरण के रहने से उक्त चक्षुः संयोग गो स्मरण से व्यवहित होने के कारण गवय में गो सादृश्य विषयक प्रत्यक्ष का 'कारण' नहीं हो सकता। अतः गवय में गो सादृश्य का जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्षाभास ही है। अतः उक्त गोसादृश्यविषयक प्रमा के लिए ही उपमान प्रमाण आवश्यक है। नैयायिकों का यह कथन इस लिए उपयुक्त है कि-मध्व में गो का स्मरण होने पर भी गवय में जो चक्षुः सम्बन्ध है उसमें कोई बाधा नहीं आती है। अतः नैयायिकों का यह मत ठीक नहीं हैं कि गवयनिष्ठ गोसादृश्य के ज्ञान के लिए उपमान प्रमाण मानना चाहिए।[४००]

जिस लिए कि प्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण का कोई प्रमेय नहीं हैं 'तस्मात्' इसी हेतु से भाष्यकार ने (१)- गवयसादृश्यविशिष्ट स्मर्यमाण 'गो' को (२) अथवा स्मर्यमाण गो में रहने वाले गवय के सादृश्य को उपमान प्रमाण का प्रमेय कहा है।[४०१]

भाष्यकार के उदाहरण के प्रसङ्ग में कहा जा सकता है कि गवय में गो सादृश्य का ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होता है। 'गो' स्मृति का विषय है। फिर कौन सा विषय अवशिष्ट रह जाता है जिसकी प्रमा के लिए उपमान को प्रमाण माना जाय? यह आपत्ति उठाई गई है।[४०२]

इस प्रसंग में आपत्ति उठाते हुए कहा जा सकता है कि गोस्वरूप पक्ष में संयोग समवयादि सम्बन्ध से गवय भले ही न रहे, किन्तु सादृश्यादि सम्बन्ध तो गो में गवय का है ही। पक्षधर्म होने के लिए पक्ष में हेतु के संयोगादि सम्बन्धों

---

३९९. सामान्यवच्च................समाप्यते।.................तदुपपद्यते।।३५।। श्लो० वा०
४००. तत्रयद्यपि गां.............जायते।.............गोचरः।।३६।। श्लो० वा०
४०१. तस्माद्यत् स्मर्यतत् स्यात्.........विशेषितम्.............तदन्वितम्।।३७।। श्लो० वा०
४०२. प्रत्क्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते। श्लो० वा०

का ही रहना आवश्यक नहीं है, जिस किसी प्रकार का सम्बन्ध रहने से भी पक्षधर्मता की उपपत्ति हो सकती हैं।

इस उक्त आपत्ति का समाधान करते हुए कहा है कि यदि किसी प्रकार 'गोसादृश्य विशिष्ट' गवय को पक्ष का धर्म मान भी ले तथापि उस गवय के साथ सादृश्य सम्बन्ध से गो का अन्वय संभव नहीं है, क्योंकि गो में गवय का सादृश्य अभी ज्ञात होता है। गवयगत गोसादृश्य पहले तो गवयगत सादृश्य के साथ ज्ञात नहीं है। अतः गोसादृश्य विशिष्ट गवय भी हेतु नहीं हो सकता।[४०३]

एवं जिस व्यक्ति ने गो और गवय दोनों को साथ-साथ एक ही समय नहीं भी देखा है, किन्तु केवल गो को देखने के बाद वन में जाने पर गवय को देखता, उसको भी गो में गवय के सादृश्य की प्रतीति होती हैं यह प्रतीति अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकती। इसलिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है।[४०४]

यदि यह कहें कि गो में गवयसादृश्य का अनुमापक दोनों में रहने वाले श्रृङ्गित्वादि धर्म है : किंतु यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वे श्रृङ्गित्वादि धर्म तो गवय में केवल गोसादृश्यज्ञान को उत्पन्न करके ही कृतकार्य हो जाते हैं। उनसे गो में गवयसादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता। श्रृङ्गित्वादि धर्मों से तो पहले गो में गवयसादृश्य का ज्ञान होता है। उस सादृश्य ज्ञान से गो में गवयसादृश्य की अनेन सदृशी मदीया गोः इस आकार की प्रतीति होती है, जो उपमान प्रमाण से ही सम्भव है। अतः श्रृङ्गित्वादिलिङ्गिक अनुमान से भी प्रकृत में काम नहीं चल सकता।[४०५]

यदि श्रृङ्गित्वादि स्वरूप लिङ्गों द्वारा प्रतीति होगी भी तो वह सादृश्य शून्य केवल गो की ही होगी, क्योंकि 'गो' श्रृंगादि के सदृशय नहीं है, किन्तु गवय के सदृश है। श्रृङ्गित्वादि लिंगों पहले गवय में गोसादृश्य की प्रतीति ही होती है। उसके बाद उस लिंगज गवय निष्ठ गोसादृश्य ज्ञान से गो में गवयसादृश्य की प्रतीति होती है। फलतः 'गोनिष्ठ गवयसादृश्य' की प्रतीति लिंगज नहीं है।

इस प्रसंग में कहा जा सकता है कि दोनों शृङ्गित्वादि धर्मों में भी तो परस्पर सादृश्य है। सादश्य से युक्त इन धर्मों से गो में गवयसादृश्य की प्रतीति हो सकती

---

४०३. सादृश्यं न च सर्वेण पूर्वं दृष्ट तदन्वयि।।४५।।
४०४. एकस्मिन्नपि..............वने।..........मतिः।।४७।। श्लो० वा०
४०५. श्रृङ्गित्वादेरथोच्येत..........गवि?..........प्रत्युपक्षयात्।।४८।।श्लो० वा०

है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उससे शृङ्गित्वादि धर्मों में ही परस्पर सादृश्य की प्रतीति होगी। शृङ्गित्वादि धर्मों से तो सादृश्यरहित ही गवयादि की प्रतीति होगी। किन्तु अनैकान्तिक होने के कारण शृङ्गित्वादि तो गो का अनुमापक लिंग भी नहीं है।[४०६]

उक्त आक्षेप का परिहार करते हुए कहा है कि यह ठीक है कि कथित विषयों में से प्रत्येक का ग्रहण अन्य कारणों से हो सकता है, किन्तु 'स्मर्यमाण गोनिष्ठ गवय सादृश्य 'स्वरूप विशिष्ट' का ग्रहण किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं हैं अतः यह विशिष्ट ही उपमान प्रमाण का प्रमेय है इसके लिए उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना आवश्यक है।[४०७]

जिस प्रकार पर्वतादि देश (पक्ष) प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात रहते हैं। वह्नि प्रभृति साध्य स्मृति के द्वारा गृहीत रहते है। फिर भी वह्निविशिष्ट पर्वत 'स्वरूप विशिष्ट' विषय की प्रमा के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपमान के प्रसङ्ग में भी जानना चाहिए।[४०८]

उपमान को उपमानभास से पृथक् समझाने के लिए ही उपमान का लक्षण कहा गया है, किन्तु उपमानाभास क्या है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि-जिन दो असादृश्य वस्तुओं में सादृश्य की कल्पना के द्वारा जिस सादृश्य का प्रत्यय उत्पन्न होता है, उसको ही 'उपमानभास' कहते है।[४०९]

बाधबुद्धि के द्वारा 'सादृश्याभास' का निर्णय होता है। अर्थात् जहाँ सादृश्य बुद्धि के बाद 'नेत्रौ सदृशौ' यह बाधबुद्धि उत्पन्न होती है, उस सादृश्य को ही सादृश्यभास समझना चाहिए। जैसे कि पुआल के ढेर की तुलना यदि हाथी से की जाय तो वह सादृश्य नहीं, 'सादृश्य' नहीं, 'सादृश्याभास' होगा। क्योंकि सादृश्य के अनुयोगी पुआल के समीप रहने वाला पुरुष सहज में ही उसमें हाथी के सादृश्य की असारता को समझकर उसके साधक उपमान को सहज में ही उपमानाभास समझ लेता है। इस प्रकार गवय के समीप का व्यक्ति पूर्वदृष्ट गो के

---

४०६. सदृशावयवत्वे तु..........भवेत्।............गौरनुमीयते।।५१।। श्लो० वा०

४०७. विशिष्टस्यान्यतोऽसिद्धेरुपमान प्रमाणता।।३८।। श्लो० वा०

४०८. प्रत्यक्षेऽपि यथाा देश स्मर्यमाणे च पावके।
विशिष्ट विषयत्वेन नानुमानाप्रमाणता।।३९।। श्लो० वा०

४०९. यत्र त्वसदृशादेव..........................कल्पना।।४०।। श्लो० वा०

सादृश्य को समझकर उसे उपमान प्रमाण का कार्य समझ लेता है, क्योंकि वह सादृश्यबुद्धि बाधित नहीं होती है।[४१०]

प्रमाणद्वयवादी बौद्ध एवं वैशेषिकगण एवं प्रमाणत्रयवादी सांख्याचार्यगण उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं उन लोगों के मत से भी 'एतत्सदृशी मदीया गौ:' इस प्रकार का अनुमान होगा। तदुसार 'एतत्सदृशत्व विशिष्ट मदीय गो' स्वरूप पक्ष ही अनुमान प्रमाण का प्रमेय होगा। इसकी सिद्धि के प्रयोजक (१) गोगत गवयसादृश्य (२) गवयगत गोसादृश्य एवं (३) सादृश्य विशिष्ट गवय ये तीन हो ही सकते हैं। इन तीनों हेतुओं में से किसी हेतु में पक्षधर्मता की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार यदि सादृश्य से रहित केवल गो को ही अनुमेय मानेंगे तो प्रश्न होगा कि गो यह अनुमान किस देश में होगा? क्या(१) जहाँ गवय में शृङ्गादि धर्म देखे जाते हैं, उस देश में होगा? (२) नगर में जहाँ गो पहले दृष्ट थी? इन दोनों में से एक भी संभव नहीं है, क्योंकि गवयदेश में गो बाधित है। अत: उस देश में यदि गो का ज्ञान मानेंगे तो वह ज्ञान भ्रान्ति रूप ही होगा। एवं असन्निकृष्ट नगर में गो का ज्ञान स्मरण रूप ही होगा। अत: वह भ्रान्ति स्वरूप ही होगा। इसलिए अनुमानादि से भिन्न उपमान नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है।[४११]

इस उपमान प्रमाण का पहला असाधारण उपयोाग यह है कि 'सौर्यंचरूंर्निर्वपेत्' इस वाक्य का सादृश्य आग्नेय वाक्य में भी है। अत: सौर्यचरू के निर्वाप में होने वाले क्रियाकलापों का अतिदेश आग्नेय चरू के निर्वाप में भी होता है। यह कर्य अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता। इस प्रकार उपमान प्रमाण हम अस्तिकों के लिए परम उपयोगी है।[४१२]

उपमान प्रमाण का दूसरा उपयोग यह है कि इसी के द्वारा 'ब्रीहिभिर्यजेत्' से प्राप्त ब्रीहि की अप्राप्ति दशा में ब्रीहिसदृश नीवार नाम के अन्न से होम होता है, यह कार्य भी अनुमान प्रमाण से नहीं हो सकता।[४१३]

उपमान प्रमाण का तीसरा प्रयोजन यह है कि किसी एक वस्तु का

---

४१०. न चैतस्यानुमानत्वं पक्षधर्माद्यसम्भवात्।।४३।। श्लो० वा०

४११. इत्थं चानुमिमानस्य............प्रसज्यते।.........वर्तते।।५२।। श्लो० वा०

४१२. भिन्नानुमानद्................दुष्टम्.............उपयुज्यते।।५३।। श्लो० वा०

४१३. प्रतिनिधिरपि............नीवारजातौ...........नक्षणस्योपमाया:।।५४।। श्लो० वा०

किञ्चित्सादृश्य किसी एक वस्तु में हैं, एवं उसी वस्तु का भूरि सादृश्य किसी दूसरी वस्तु में है। इस स्थिति में बहुतर सादृश्य से युक्त का ग्रहण एवं अल्पतर सादृश्य से युक्त वस्तु का परित्याग भी उपमान प्रमाण के द्वारा ही संभव है। इसी से अल्पतर सादृश्य से युक्त वस्तु की बुद्धि में प्रामाण्य भी गृहीत होता है।[४१४]

उपमान प्रमाण का चौथा उपयोग यह है कि बहुतर अंशों में सादृश्य से युक्त वस्तु के सादृश्य की बुद्धि भी शीघ्र उत्पन्न होती है। अतः अल्प सादृश्य से युक्त में सादृश्य की उत्पन्न बुद्धि होने पर भी पूर्वजात उक्त बुद्धि से बाधित हो जाती है। जिससे उसका अनुष्ठान में उपयोग निवारित हो जाता है।[४१५]

अभाव (अनुपलब्धि)

मीमांसादर्शन के शबरमुनि के भाष्य में अभाव प्रमाण का लक्षण करते हुए कहा है कि "अभावोऽपि प्रमाणाभावो 'नास्ति' इत्यास्यार्थस्यासंनिकृष्टस्य"। अभाव अर्थात् प्रमाणों का अभाव, नास्ति शब्द से व्यवहृत्त होने वाले स्वरूप का ज्ञापक स्वतन्त्र प्रमाण ही है। क्योंकि नास्ति शब्द से व्यवहृत होने वाला पदार्थ प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों से असन्निकृष्ट अर्थात् अगम्य है। पूर्वपक्ष के इस आरोप का खण्डन करते हुए 'मीमांसा श्लोक वार्तिक' में कुमारिल भट्ट ने कहा है कि भाष्य में जो 'प्रमाणाभाव' शब्द है, उसमें प्रयुक्त 'प्रमाण' शब्द से घटादि भाव पदार्थों के ज्ञापक प्रत्यक्षादि पांच प्रमाण ही अभिप्रेत है,' 'तदभाव' स्वरूपता 'अभाव' स्वरूप छठे प्रमाण के लक्षण में है ही, अतः प्रकृत में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् वस्तु की सत्ता के लिए प्रयुक्त होने वाले ये प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाण घटादि वस्तुओं की सत्त्वविषयक प्रतीति के अन्य कारणों के न रहने पर भी उनकी प्रतीति के उत्पादन में सफल नहीं होते। अतः उन वस्तुओं की असत्ता की प्रतीति के लिए ही 'अभाव' प्रमाण की प्रवृत्ति होती है।[४१६]

भाष्यकार के उक्त सन्दर्भगत 'असंनिकृष्टस्य' पद का अर्थ है कि घटादि पदार्थ अपने सद्रूप अभाव प्रमाण के प्रमेय न होने पर भी 'अंसङ्कर' अर्थात् असद्रूप से ही अभाव प्रमाण के प्रमेय है।

---

४१४. प्रतिकृतिरपि च गौणे..........तत्र मिथ्या..........सादृश्य युक्तम्।।५५।। श्लो० वा०

४१५. मतिरपि च तयैव..च बाधः।।५५।। श्लो० वा०

४१६. प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभाव प्रमाणता।।१।। श्लो० वा० (अभाव)

१. दूध में दही की 'नास्तिता की क्षीरे दधि नास्ति' इस आकार की प्रतीति होती है, उस 'नास्तिता' को अर्थात् दूध में दही की असद्रूपता को 'प्रागभाव कहते हैं।'[४१७]

२. दही में दूध के अभाव की 'दुग्धं नास्ति' इस आकार की जो प्रतीति होती है, दूध की इस नास्तिता को प्रध्वंसाभाव कहते हैं।

३. 'अयं गौः नाश्वः' इस आकार की जो गो में अश्वाभाव की प्रतीत होती है, अश्व की इस नास्तिता को अर्थात् असद्रूपता को 'अन्योन्याभाव' होती है, क्योंकि समान युक्ति से अश्व में गो की नास्तिता की भी प्रतीति होती है।

४. खरहे के शिर के दोनों छोर के अभाव ऊँचे नहीं रहते एवं वे गवादि के सींग की तरह ठोस भी नहीं रहते। अतः श्रृंग के असद्रूप की जो 'शशशृङ्ग नास्ति' इस आकार की प्रतीति होती है, उस प्रतीति के विषय श्रृंग के असद्रूप को ही 'शशश्रृंग का अत्यन्ताभाव' कहते है। अभाव स्वरूप भाव के इस प्रकार के असद्रूपों" की प्रतीति 'अभाव' प्रमाण से ही होती है। इस 'अभाव' प्रमाण को 'दृश्यादर्शन' एवं 'अनुपलब्धि' भी कहते है।[४१८]

यदि अभाव नाम के इस प्रमाण को स्वीकार न करें तो 'क्षीरे दधि अस्ति' 'दध्निक्षीरमस्ति' घटे पटोऽस्ति, शशे श्रृंगमस्ति, पृथिव्यादि भूतवर्गे चैतन्यमस्ति' आत्मनो मूर्त्तिरस्ति, अप्सु गन्धोऽस्ति, अग्नौ रसोऽस्ति वायौ रूपरसगन्धाः सन्ति, व्योम्नि स्पर्शोऽस्ति' इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति होगी।[४१९]

जो सम्प्रदाय 'अभाव' को निःस्वभाव 'एवं अवस्तु' स्वरूप तुच्छ मानते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि जो दही पहले से विद्यमान नहीं था, पीछे फिर सत्ता का लाभ करता है, अतः उसे 'उपादेय' अथवा कार्य कहते है। जो क्षीर पहले से था किन्तु दधि के आविर्भाव के बाद 'नहीं रहता है वही क्षीर दधि का उपादान कारण कहलाता है' यह कार्य कारण भाव अनुपपन्न हो जायेगा, यदि 'अभाव' के प्रागभाव और ध्वंस स्वरूप भेदों को स्वीकार न करें।[४२०]

---

४१७. वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया।। श्लो० वा०।।२।।
४१८. क्षीरे दध्यादि............उच्यते।.....गवि यः..........उच्यते।।३-४।। (श्लो० वा०)
४१९. क्षीरे दधि....................आत्मनि...........प्रमाणता।।५-६।।
४२०. न च स्याद्...........................यदि।।७।। श्लो० वा०

इसी प्रकार 'गौरश्वो न भवति' अश्वों गौर्न भवति 'यह जो गो और अश्व में परस्पर दोनो के अभाव की प्रतीति होती है वे दोनों ही प्रतीतियाँ उपपन्न नहीं होगी, यदि अभाव के अन्योन्याभाव स्वरूप प्रकार को स्वीकार न करें। इसी प्रकार 'विषाणशून्य शशः' यह व्यवहार भी उत्पन्न नहीं होगा यदि अभाव के 'अत्यन्ताभाव' स्वरूप भेद को स्वीकार न करें। अतः अभाव 'निःस्वभाव' या तुच्छ नहीं है।

क्योंकि 'अवस्तु' के ये प्रागभावादि अवान्तर भेद नहीं हो सकते। अतः अभाव (गगनकुसुमादि के समान) अवस्तु नहीं है। किन्तु धटादि के समान वस्तु ही है। दूध में जो दही का अभाव रहता है, वह अभाव दुग्ध स्वरूप ही है, क्योंकि धर्म और धर्मी दोनों अभिन्न है। इस न्याय के अनुसार दही का प्रागभाव क्षीर स्वरूप 'वस्तु' का ही धर्म है। इसलिए वह प्रागभाव भी 'वस्तु' ही है, अवस्तु नहीं, क्योंकि जो स्वयं अवस्तु 'स्वरूप होगा, वह वस्तु का धर्म नहीं हो सकता। इस युक्ति से भी 'अभाव' वस्तु ही है, अभाव नहीं।[४२१]

प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यन्ताभाव इन सभी विभिन्न व्यक्तियों में 'ये अभाव है।' इस एक आकार की प्रतीति होती है। प्रागभावादि प्रत्येक में यह 'प्रागभाव हैं, ध्वंस नहीं अथवा यह ध्वंस है। अत्यान्ताभाव नहीं, इत्यादि आकारों की व्यावृत्ति प्रतीतियाँ होती है। इस लिए जिस प्रकार गवादि वस्तुओं में अनुवृत्ति प्रतीति और व्यावृत्ति प्रतीति दोनों होती है, उसी प्रकार उक्त दोनों ही प्रतीतियाँ अभावों में भी होती है, अतः अभाव भी गवादि के समान 'वस्तु' ही है। गगनकुसुमादि के समान अवस्तु नहीं।[४२२]

कथित युक्तियों से दिखलाया जा चुका है कि अभाव भी गवादि पदार्थों की तरह प्रमाज्ञान का विषय होने के कारण 'प्रमेय' है। जब प्रमेय है तो अवश्य ही 'वस्तु' भी है, क्योंकि गगनकुसुमादि 'अवस्तु' कभी भी प्रमाज्ञान के विषय (प्रमेय) नहीं होते। तस्मात् अभाव भी चूंकि गवादि वस्तुओं के समान प्रमेय है, अतः 'वस्तु' भी है।

कदाचित् यह कहें कि अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति के उक्त व्यवहार गौण है, क्योंकि वे प्रतीतियाँ भ्रान्ति स्वरूप हैं अतः उन प्रतीतियों से अभाव में वस्तुत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं होगा-क्योंकि-किसी

४२१. न चावस्तुन एते............वस्तुता...............कारणादितः॥८। श्लो० वा०
४२२. यद्वाऽनुवृत्ति................यतस्त्वयम्................गम्यते॥९॥ श्लो० वा०

की प्रतीति को भ्रान्ति स्वरूप मानना अथवा किसी लोकसिद्ध व्यवहार को 'गौण' कह देना किसी प्रबल युक्ति के बिना संभव नहीं है। प्रकृत में ऐसी कोई प्रबल विरोधी युक्ति नहीं है। अतः अभाव की सामान्य विशेषरूपवता मिथ्या नहीं है।[४२३]

भाष्यस्थ 'प्रमाणाभाव' शब्द से प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपत्ति स्वरूप 'अभाव' ही विवक्षित है। अभाव प्रमाण स्वरूपा यह अनुपत्ति दो प्रकार की है। (१) आत्मा के परिणाम स्वरूप प्रत्यक्षादि ज्ञानों के अभावमात्ररूप एवं (२)-भूतल में उत्पन्न होने वाले घटाभाव विषयक ज्ञान स्वरूप।[४२४]

पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति की गयी है कि जिस समय भूतल में घट नहीं रहता उस सयम भूतल के अतिरिक्त किसी 'अभाव' नामक वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। भाव पदार्थ की उपलब्धि तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही होती है।, फिर अभाव नाम के प्रमाण की किस प्रमेय को समझने के लिए आवश्यकता है?[४२५]

इस आपति का परिहार करते हुए कहा है कि सभी वस्तुओं के दो स्वरूप है-१-सद्रूप और २-असद्रूप। घट अपने घटत्व रूप से सत् है, वही घट पटत्वरूप से असत् है। भूतल में अपनी सत्त्वदशा में वह घट सत्त्व की प्रतीति को उत्पन्न करता है, एवं भूतल से अन्यत्र वही घट असद्रूप से (पटत्वादि रूपों से) घटाभाव प्रतीति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार एक वस्तु में अन्य वस्तु कभी अपने स्वरूप के द्वारा प्रतीत होती है, कभी पररूप के द्वारा प्रतीत होती है। जब वह पररूप के द्वारा प्रतीत होती है। तभी उसकी प्रतीति उस वस्तु के अभाव की प्रतीति कहलाती है।[४२६]

किस समय वस्तु सद्रूप से ज्ञात होती है? एवं किस समय अपने असद्रूप से ज्ञात होती है? इन प्रश्नों का यह उत्तर हैं कि-जिस समय वस्तुओं के इन दोनों रूपों में से जो रूप 'उद्भूत' रहता है, अथवा जिस रूप से वस्तु को जानने की इच्छा रहती है, उसी रूप से उस समय वस्तु का ज्ञान होता है एवं उसी रूप से वस्तु का 'अस्ति' अथवा 'नास्ति' यह व्यवहार होता हैं अतः प्रकृत

---

४२३. न चौपचारिकत्वं..........यदृच्छया.............मृषा।।१०।। श्लो० वा०
४२४. प्रत्यक्षादेरनुत्पत्ति............उच्यते................वान्यवस्तुनि।।११।। (श्लो० वा०)
४२५. स्वरूपपररूपाभ्याँ नित्यं सदसदात्मके। श्लो० वा०
४२६. वस्तुनि ज्ञायते कैश्चिद् रूपं किञ्चिद् कदादन।।१२।। श्लो० वा०

भाष्यसन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के जो अभाव 'नास्ति' शब्द से बोध्य अर्थ का बोधक हो वही 'अभाव' नाम का प्रमाण है।[४२७]

क्योंकि उस समय वस्तुओं का उद्‌भूत रूप ही प्रतीति में सहायक होता हैं फिर भी उस समय उसका 'दूसरा' अर्थात् अनद्‌भूत रूप भी विद्यमान रहता है। अथवा सद्रूप एवं असद्रूप दोनों में एक से ग्रहण में भी दूसरे रूप की अनुवृत्ति बनी रहती है। क्योंकि किसी भाव पदार्थ का जो 'अयमेव' इस आकार का निर्णयात्मक ज्ञान होता है वह दूसरी वस्तु के अभावविषयक ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है।[४२८]

सद्‌विषयक सभी निर्णय अभावविषयक भले ही न हों, किन्तु अभावविषयक 'नास्ति' इस आकार की सभी प्रतीतियाँ नियमतः भावानुविद्ध अर्थात् भावषियक अवश्य होती है। क्योंकि अभाव विषयक सभी प्रतीतियाँ 'इदमिहनास्ति' अथवा 'इदमिदं न भवति' इत्यादि आकारों की ही होती है। जिनमें अभावों के साथ-साथ भाव पदार्थ भी अवश्य ही भासित होते हैं। कोई भी अभाव की प्रतीति भावसम्बन्ध के बिना नहीं होती है।[४२९]

पूर्वप्रदर्शित रीति से यह स्थिर हो गया कि सभी वस्तुओं के सद्रूप और 'असद्रूप' दोनों ही हैं। अर्थात् सभी 'सदसदात्मक' है। इनमें जिस समय प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अभाव प्रमाण' असदंश को प्रकाशित करने के लिए व्यापृत होता है। उस समय भाव के ज्ञापक प्रत्यक्षादि प्रमाणवस्तुओं के भावांश के सद्रूप को प्रकाशित करने कने लिए व्यापृत्त नहीं होता।[४३०]

पूर्वपक्षी शंका करते हुए कहता है कि अभाव चूंकि भाव से अभिन्न है, अतः इन्द्रियों का सम्बन्ध यदि भाव पदार्थों के साथ है तो अभावों के साथ भी भाव पदार्थों से अभिन्न होने के कारण अवश्य है। इस प्रकार इन्दियों से ही अभावों का भी ग्रहण हो सकता है।[४३१]

---

४२७. यस्य यत्र यदोदभूतिर्जिघृक्षा वोपजायते। चेत्यतेऽनुभरवस्तस्य तेन च व्यपदिश्यते।। (श्लो० वा० १३)

४२८. तस्योपकारत्वेन............................अनुगमोऽस्तिहि।। (श्लो० वा० १४)

४२९. नास्तीत्यपि............कृते.............वर्जितम्।। (श्लो० वा० १६)

४३०. प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु................यदा...........जिघृक्षिते।।१७।। श्लो० वा०

४३१. ननु भावदभिन्नत्वात् सम्प्रयोगोऽस्ति तेन च।।१९।। श्लो० वा०

पूर्वपक्षी की उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि यह सत्य है कि भाव और अभाव दोनों अभिन्न हैं। फिर भी 'अत्यन्त अभिन्न' नहीं हैं। जेसे कि रूपरसादि गुण एक आश्रय में रहने के कारण अभिन्न होते हुए भी अपने रूपत्व और रसत्व रूपों से भिन्न भी है वैसे ही भूप्रदेशगत अभाव भूप्रदेश रूप धर्मी से अभिन्न होते हए भी अपने 'अभावत्व' रूप से अपने धर्मी से भिन्न भी है। अतः भूतल में इन्द्रिय संयोग है इसलिए भूतल से कथंचिद् 'भिन्न अभाव में इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। धर्म से भिन्न धर्मी की सत्ता का प्रतिपादन प्रत्यक्षपरिच्छेद के प्रसंग में किया गया है।[४३२]

यदि धर्म और धर्मी सर्वथा एक हो तो कथञ्चित् उद्भूत होने के कारण एक का ग्रहण और अभिभूत होने के कारण दूसरे का अग्रहण उपपन्न नहीं होगा। तस्मात् हम लोगों (मीमांसाकों) के मत से धर्मी और धर्म में अभेद के समान ही कथञ्चिद् भेद भी है।

भाव स्वरूप धर्मी और अभाव स्वरूप धर्म इन दोनों में भेद का एक यह प्रयोजक है कि भाव पदार्थ के ज्ञान के लिए इन्द्रिय का संयोग अपेक्षित होता है, किन्तु अभाव पदार्थ के ज्ञान में इन्द्रिय संयोग की अपेक्षा नहीं होती है। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न होते तो नियमतः दोनों का एक ही प्रमाण से ग्रहण होता है।[४३३]

कोई कहते है कि जिस प्रकार एक ही पुरुष में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों के प्रतियोगिता में भेद रहने के कारण एक धार्मिक पितृत्व और पुत्रत्व धर्म भिन्न होते है, उसी प्रकार रूपरसादि के एक धार्मिक होने पर भी उनके ग्राहक भिन्न है, इसलिए एक-धार्मिक होने पर भी भिन्न ही है। यदि वे सर्वथा अभिन्न होते तो रूपग्राहक चक्षु से रूप से अभिन्न रस का भी ग्रहण होता, अथवा रसग्राहिका रसना से तदभिन्न रूप का भी ग्रहण होता। इसी प्रकार भूतलादिधर्मिक घटाभावादि धर्म भी भूतलादि से भिन्न हो सकते है।[४३४]

हम लोग मीमांसागण तो रूपादि में भी बुद्धिभेदमूलक ही भेद-मानते है। यह बुद्धि भेद भी भाव और अभाव में है ही, क्योंकि अभाव की प्रतीति नअर्थ-ग्राहिणी होती है। भूतलादिभावविषयक प्रतीतियों मे कहीं नञर्थ का प्रवेश नहीं होता है। अतः बुद्धिभेदमूलक भेद भी भाव और अभाव में बराबर है ही।[४३५]

४३२. न ह्यात्यन्तमभेदोऽस्ति रूपादिवदिहापि नः।।१९।। श्लो० वा०
४३३. इदमेव निमित्तं..........प्रतीयते..........अपेक्षणम्।।२१।। श्लो० वा०
४३४. रूपादेरपि................ग्राहकभेदतः..............रूपताम्।।२२।। श्लो० वा०
४३५. बुद्धिमात्र कृतो............हि न च............अवकल्पना।।२३।। श्लो० वा०

पूर्वपक्षी ने आपत्ति करते हुए कहा है कि भाव और अभाव के समान ही जिन रूप-रसादि का आश्रय एक है, उनमें भी परस्पर भेद ही मान लें। यदि इस प्रसंङ्ग में यह कहें कि दोनों की प्रतीति चूंकि एक आश्रय में होती हैं, अतः उन दोनों को किसी अंश में अभिन्न भी मानना पड़ता है तो इसका यह उत्तर है कि जिस प्रकार अनेक वृक्ष परस्पर भिन्न होते हुए भी समुदाय की दृष्टि से 'वनम्' इस एकविषयक प्रतीति के विषय हैं, फिर भी वे वृक्ष अभिन्न नहीं होते, उसी प्रकार रूप-रसादि अथवा भावाभावादि में परस्पर भेद मानने पर भी उक्त अभेदप्रतीति की उपपत्ति हो सकती है।

पूर्वपक्षी की इस आपत्ति का परिहार करते हुए कहा है कि एक आश्रय में रहने के कारण किन्हीं अनेक वस्तुओं का एक समुदाय नहीं माना जा सकता है।(प्रत्यक्ष परि० श्लोक-१५२ में देखिए)[४३६]

धर्म और धर्मी को 'एक' एवं 'नाना' दोनों यदि मान ले तथापि कोई विरोध नहीं, क्योंकि अपेक्ष्य के भेद से आपेक्षिक एकत्व और नानात्व दोनों ही उत्पन्न हो सकते है, क्योंकि उक्त रीति से दोनों में कोई विरोध नहीं है। जैसे कि रूप और रस दोनों 'सत्' है इस लिए दोनों अभिन्न है। एवं दोनों गुण है। इस लिए भी गुणत्व रूप से दोनों अभिन्न हैं। किं वा दोनों द्रव्याश्रयित हैं इस लिए भी द्रव्याश्रयितत्व रूप से दोनों अभिन्न है। किन्तु रूप 'रूपत्व' से युक्त है और रस 'रसत्व' से। रूप में न रसत्व है न रस में रूपत्व है। इस प्रकार स्ववृत्ति असाधारण धर्म स्वरूप रूपत्वादि धर्मों के द्वारा रूप और रस दोनों भिन्न भी हैं।[४३७]

यदि एक ही अधिकरण में एक ही वस्तु की सत्त्वप्रतीति एवं असत्त्वप्रतीति दोनों आपेक्षिक न हो तो दोनों में भेद नहीं होगा। एवं ऐसा होने से दोनों में से किसी एक के सत्त्व की ही प्रतीति होगी। अथवा असत्त्व की ही प्रतीति हीगी। किन्तु वस्तुगति सर्वथा इसके विपरीत है, क्योंकि एक ही भूतल में यदि घट का संयोग रहता है, तो घट के सत्त्व की प्रतीति होती है। यदि घट का संयोग नहीं रहता है तो घट के असत्त्व की प्रतीति होती है।[४३८]

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि केवल भूतल में ही इन्द्रिय का संयोग

---

४३६. न च देशाद्यभिन्नानां समुदायावकल्पना।।२३।। श्लो० वा०।।

४३७. सद्गुणद्रव्यरूपेण.....................विभिन्नता।।२४।। श्लो० वा०

४३८. यदितदूदपेक्षात्र न..............नः। तत्सम्बन्धे..............।।२५-२६।। श्लो० वा०

रहता है तो केवल इन्द्रियसंयुक्तत्व स्वरूप 'सद्रूप' से केवल भूतल ही प्रकाशित होता है। भूतल का वही इन्द्रियसंयोग यदि घटसंयोगानात्मक होता है, अर्थात् घटं संयुक्तत्वेन भूतल संयुक्त नहीं होता है तो 'घटशून्यं भूतलम्' इस आकार की प्रतीति होती है।

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि यदि अभाव की सत्ता को स्वीकार भी कर ले, तथापि उसका प्रमात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही होगा, क्योंकि रूपादि से युक्त भूतलादि में भी खुली हुई आँखों वाले पुरुष को ही 'घटो नास्ति' यह बुद्धि होती है, अन्धे को नहीं, अथवा मुंदी हुई आँखों वाले को नहीं। एवं भूतले 'घटो नास्ति' इस आकार की प्रतीति 'साक्षात्कारात्मक' है एवं विशिष्टज्ञान स्वरूप है। इसकी विशिष्टता' और साक्षात्कारात्मकता दोनों ही तभी उपपन्न हो सकती है, जब अभाव की उक्तप्रतीति को इन्द्रियजन्य मानें। यदि ऐसा नहीं मानेंगे अर्थात् भूतलांश की प्रतीति प्रत्यक्ष से और घट नास्तित्व की प्रतीति अभाव प्रमाण से मानेंगे तो अभाव विशिष्टभूतल की प्रतीति 'अभाव'प्रमाण से मानेंगें तो अभाव विशिष्टभूतल' की प्रतीति 'अकारणक' हो जायगी। अतः अभाव नाम का अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है।[४३९]

पूर्वपक्षी के इस आक्षेप का समाधान करते हुए कहा है कि भूतले घटो नास्ति 'इस आकार का' नास्तिता विषयक ज्ञान मन से ही होता है। उसमें चक्षुरादि इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती है। भूतलादि आश्रय स्वरूप 'वस्तु' की सत्ता का इन्द्रिय जनित ज्ञान एवं अभाव के घटादि प्रतियोगियों का स्मरण इन दोनों का साहय्य उक्त अभाव प्रतीति में अवश्य ही अपेक्षित होता है।

पुनः प्रश्न हो सकता है कि इन्द्रिय में ही भाव और अभाव दोनों के ग्रहण की शक्ति क्यों नहीं मान लेते है? भाव ग्रहण के लिए इन्द्रिय में शक्ति को स्वीकार करना ही है, फिर अभाव ग्रहण के लिए इन्द्रिय से अन्यत्र 'दृश्यादर्शन' शक्ति मानने में गौरव दोष है। अतः 'अभाव' अथवा 'दृश्यादर्शन' नाम का कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है कि जहाँ कोई पुरुष केवल 'स्वरूप' को अर्थात् आधार भूत देश मात्र को देखता है, उस देश में व्याघ्रादि हिंस्र जन्तुओं को नहीं देखता। इसलिए व्याघ्रादि प्रतियोगियों का स्मरण संभव न होने के कारण व्याघ्रादि के अभाव का ग्रहण भी संभव नहीं होता है।[४४०]

४३९. गृहीत्वा............प्रतियोगिनम्..............अक्षानपेक्षणात्।।२७।। श्लो० वा०

४४०. स्वरूपमात्रं दृष्ट्वापि पश्चात् किञ्चित् स्मरन्नपि।
तत्रान्यनास्तितां पृष्टस्तैव प्रतिपद्यते।।२८।। श्लो० वा०

देशमात्र को देखकर जाने के बाद यदि कोई उसे पूछता है कि 'प्रातः काल जब आप वहाँ थे तो उस देश में व्याघ्रादि कोई हिंस्रजन्तु आया था तो वह पुरुष पूर्वाधिगत देश का स्मरण करते हुये व्याघ्रादि के अभाव का उसी समय अनुभव करता है; जिसका पूर्व से अनुभव नहीं था। पहले ज्ञात न रहने के कारण अभाव का स्मरण भी नहीं हो सकता। उस समय अभाव का प्रत्यक्ष भी नहीं ही सकता, क्योंकि इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध एवं वर्त्तमान विषय का ही प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध एवं वर्त्तमान विषय का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः अभाव को समझने के लिए सभी जगह इन्द्रिय से काम नहीं चल सकता। इसके लिए 'अभाव' नामक प्रमाण को स्वीकार करन आवश्यक है।

यह अनुपलब्धि (अभाव) नाम का प्रमाण अनुमान स्वरूप भी नहीं है। अर्थात् अभाव का बोध अनुमान प्रमाण से भी नहीं हो सकता, क्योंकि अभाव के ज्ञापक उपयुक्त हेतु का संबलन संभव नहीं है।

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि अभाव विषयक ज्ञान में भासित होने वाला 'भाव' पदार्थ ही अभावविषयक अनुमान हेतु होगा?[४४१]

इसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि उक्त भाव पदार्थ भी अभाव ग्रहण का उपयुक्त लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि 'भूतले घटो नास्ति' इस अभावविषयक प्रतीति में भूतल और घट ये दोनों पदार्थ भासित होते है। यदि भाव पदार्थ का लिंग मानेंगे तो प्रकृत में ये ही दोनों भाव पदार्थ लिंग हो सकते हैं। तदनुसार प्रकृत में अनुमान के ये दो प्रयोग होगे (१) भूतले घटो नास्ति घटवत्त्वात् (२) भूतले घटो नास्ति भूतलत्वात्। इन में घट स्वरूप भाव इसलिए हेतु नहीं हो सकता कि घटाभाव प्रतीति के समय घट की प्रतीति सम्भव नहीं है। अप्रतीयमान घट हेतु हो नहीं सकता।[४४२]

भूप्रदेश अथवा भूतलत्व इसलिए हेतु नहीं हो सकता कि वह पक्ष में वृत्तित्व रूप से ज्ञात नहीं है। जैसे कि पदधर्मिक पदार्थानुमान में पदत्व अथवा पद इसी लिए हेतु नहीं होता, कि दोनों पक्षधर्मत्व रूप से ज्ञात नहीं रहते। अर्थात्

---

४४१. न च.........प्रतीयते–भावांशो–ननु लिङ्......नाजिघृक्षणात्।।
४४२. अभावावगतेर्जन्म..........जिघृक्षिते..........जायते मतिः।।३०।।

भूतल अथवा भूतलत्व हेतु जब तक अभाव के साथ गृहीत नहीं होगा तब तक तद्धर्मत्वेन गृहीत नहीं होगा। यदि अभाव गृहीत हो जायेगा तो अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी।[४४३]

दूसरी बात यह है कि भूप्रदेश हेतु चूंकि घट के साथ भी रहता है, क्योंकि 'भूतलेन घटो नास्ति' इस प्रतीति के समान 'भूतले घटोऽस्ति' इस आकार की प्रतीति भी होती है। अतः भूप्रदेशत्व हेतु घटज्ञान में व्यभिचारित होने के कारण घटाभाव का व्याप्त नहीं है। इसलिए भी वह हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि जिसकी सत्ता जिस वस्तु में कभी देखी जाती है, उसी वस्तु में उसका अभाव भी कभी देखा जाता है।[४४४]

भूतल के साथ अथवा भूतलत्व के साथ अन्वयसहचार भी नहीं है, क्योंकि जिस आश्रय में जो अभाव पहले कभी नहीं देखा गया है, वही अभाव इस आश्रय में बिना चक्षु की अपेक्षा से ज्ञात होता है। फलतः उक्त स्थल में अभाव ज्ञान की उपपत्ति बिना 'अभाव प्रमाण' के (अनुपलब्धि प्रमाण के) नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में से किसी की भी संभावना वहीं नही है। यदि भूतलादि आश्रय स्वरूप भाव पदार्थों का सम्बन्ध किसी एक अभाव के साथ गृहीत है, केवल इसीलिए किसी अन्य अभाव का भी वह ज्ञापक लिंग हो तो फिर सभी भाव पदार्थ सभी भाव पदार्थों के ज्ञापक लिंग होंगे।[४४५]

यदि यह कहें कि भूतलादि भाव पदार्थों का व्याप्ति सम्बन्ध अभाव सामान्य के साथ गृहीत है, सामान्य का पर्यवसान विशेष में होता है, अतः भूतलादि भाव पदार्थों से घटाभावादि विशेष अभावों का अनुमान हो सकता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि भूतलादि आश्रय स्वरूप भावांशों के गृहीत होने पर भी सभी वस्तुओं के अभाव का ज्ञान भूतल में नहीं होता। अतः भूतल स्वरूप भाव पदार्थ का व्याप्ति सम्बन्ध सभी अभावों के साथ नहीं है। अर्थात् अभाव सामान्य के साथ व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। इसलिए व्यभिचारी होने

---

४४३. न चैष पक्षधर्मत्वं पदवत् प्रतिपद्यते।।३१।। श्लो० वा०

४४४. कश्चित् भावेऽपि..................कदाचिदवगम्यते।।३२।। श्लो० वा०

४४५. यत्राप्यदृष्टपूर्वत्वं यदभावस्य तत्र च। तद भावमतिर्दृष्टा सम्बन्धेऽक्षानपेक्षया।।३३।। श्लो० वा०

के कारण भूतलादि आश्रय स्वरूप भाव पदार्थों से भी अभाव सामान्य के बोध के द्वारा घटाभावादि विशेष अभावों का बोधनहीं हो सकता।[४४६]

दूसरी बात यह है कि सम्बन्ध के ग्रहण में उसके अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों सम्बन्धियों का ज्ञान आवश्यक है। प्रकृत अनुमान के प्रयोजक व्याप्तिसम्बन्ध का प्रतियोगी है 'अभाव'। अनुमान से पहले साध्य स्वरूप अभाव का ज्ञान आवश्यक है। इस अभावज्ञान के लिए दूसरे अनुमान के अवलम्बन से 'अभाव प्रमाण' को स्वीकार करना होगा। अतः अनुमान प्रमाण से अभाव का बोध नहीं हो सकता।[४४७]

'तस्मात्' अभाव की प्रमिति के लिए प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त एक 'अन्य' प्रमाण भी मानना होगा, जिसका व्यवहार हम लोग अभाव दृश्यादर्शन, अनुपलब्धि प्रभृति शब्दों से करते है।[४४८]

बौद्धगण प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अनुपलब्धि लिंग' के द्वारा अभाव का अनुमान करते हैं। अर्थात् 'भाव' स्वरूप भूतलादिलिंगक अनुमान से भले ही घटाभाव का बोध संभव न हो, क्तिु 'भूतलं घटाभाववत् घटाऽनुपलब्धेः' इस अनुमान से घटाभाव का ज्ञान हो सकता है।

बौद्धों का कहना है कि देखे जाने योग्य ज़िस वस्तु की उपलब्धि जहाँ नहीं होती है, वहाँ उस वस्तु का अभाव रहता है। जैसे कि बुद्धि के रहने पर भी आत्मा की उपलब्धि नहीं होती है, अतः बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा का अभाव स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'भूतल प्रदेश' में जब घट नहीं देखा जाता है तो उक्त व्याप्ति से अनुपलब्धि लिंग के द्वारा घटाभाव का अनुमान होता है।

इस प्रसंग में बौद्धों के ऊपर आक्षेप किया जा सकता है कि घटानुपलब्धि हेतु भी तो घटोपलब्धि का अभाव स्वरूप ही है, इसको समझने कि लिए भी दूसरी अनुपलब्धि की आवश्यकता होगी जो अनवस्था में परिणत हो जायेगी।

बौद्धगण इसका उत्तर देते हुए कहते है कि 'भूतलं घटाभाववत्' इस ज्ञान में विषय होने वाले भूतल और घटाभाव इन दोनों में से अकेले भूतल की जो उपलब्धि होती है, वही प्रकृत में घटानुपलब्धि है। केवल भूतलोपलब्धि को

---

४४६. गृहीतेऽपि....................व्यभिचारादलिङ्गता।।३५।। श्लो० वा०
४४७. सम्बन्धे गृह्यमाणे..............ध्रुवम्..........उपजायते।।३६।। श्लो० वा०
४४८. तदानीं न हि.........भवेत्............गतिः।।३७।। श्लो० वा०

छोड़कर घटानुपलब्धि नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नही है। फलतः केवल भूतल की उपलब्धि ही घटानुपलब्धि है, जो चक्षु से ही उत्पन्न होती है। एवं स्वसंवेद्य होने के कारण उसको जानने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए अनवस्था दोष की कोई भी संभावना नहीं है। कथित भूतलोपलब्धि ही घटाभाव व्यवहार के योग्य होने के कारण 'घटाभाव' कहलाती है। घटाभाव नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु नहीं है। तस्मात् घटादि के प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति नाम की जो कथित 'अनुपलब्धि' वही भूतल में घटाभाव का ज्ञापक लिंग है।

अथवा अनुपलब्धिलिंगक उक्त अनुमान 'वीतानुमान' अर्थात् व्यापकाभावलिंगक व्याप्याभाव का अनुमान ही है, क्योंकि जो 'दृश्य' होगा, उसकी सत्ता यदि रहेगी तो उसका 'दर्शन' अवश्य होगा। इस प्रकार दृश्य की सत्ता में दर्शन की व्याप्ति अवश्य है। तदनुसाार दर्शन है व्यापक और दृश्य है व्याप्य। प्रकृत में घटत्रिषयक दर्शन स्वरूप व्यापक नहीं है, अतः उसके व्याप्य दृश्य की सत्ता भी नहीं है। इस आकार का अनुमान निष्पन्न होता है भूतले घटो नास्ति दृश्यभूत घटानुपलब्धेः।[४४९]

किन्तु बौद्धों का उक्त कथन असंगत है, क्योंकि अनुमान के द्वारा सामान्य ही ज्ञात होता है, विशेष नहीं। इस नियम के अनुसार अनुपलब्धि सामान्य से अभाव सामान्य की ही बुद्धि होगी। किन्तु प्रकृत में ज्ञेय है अभाव विशेषस्वरूप 'घटाभाव' जिसकी अनुमिति घटानुपलब्धि से ही होगी, केवल अनुपलब्धि सामान्य से नहीं, क्योंकि घटसत्वदशा में भी अनुपलब्धि सामान्य की सत्ता रहती है। यदि प्रकृत में अनुपलब्धि 'शब्द से घटानुपलब्धि को ही ले,' एवं उसी को घटाभाव का अनुमापक माने एवं इस प्रकार व्यभिचार के कारण का प्रयास करें, तो द्रष्टव्य होगा कि यह घटानुपलब्धि क्या है? यदि भूतलोपब्धि स्वरूप है तो व्यभिचार का वारण नहीं होगा क्योंकि भूतलोपलब्धि घटसत्त्वदशा में भी रहने के कारण 'साधारणी' है अर्थात् व्यभिचारिणी है, इसलिए उससे घटाभाव की अनुमिति कैसे होगी?[४५०]

यदि घटानुपलब्धि शब्द से घटोपलब्धि के अभाव को लें तो फिर उसके साथ अन्वयग्रहण के समय इस उपलब्ध्य भाव विषयक ज्ञान के लिए किसी अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा होगी जो अनवस्था में परिणत हो जायेगी।

---

४४९. प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिर्न तु लिङ्गभविष्यति। श्लो० वा०

४५०. न विशेषणसम्बन्धः........कथं तथा।।नच..................हेतुना।।४० श्लो० वा०

इसी प्रकार 'दर्शननिवृत्ति' से 'दृश्यनिवृत्ति' स्वरूप वीतानुमान में भी अनवस्था होगी, क्योंकि 'दर्शननिवृत्ति' भी अभाव स्वरूप है।, उसे समझने के लिए किसी दूसरी अनुपलब्धि की अपेक्षा होगी जो फिर अनवस्था में ही परिणत हो जायेगी। तस्मात् 'प्रत्यक्षादि' की अनुत्पत्ति 'स्वरूप अनुपलब्धि' प्रमाण से अभाव का ज्ञान कहीं मानना होगा। पीछे भले ही अनुपलब्धिलिंगक अभाव का अनुमान हो अतः 'अभाव' नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है।[४५१]

प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति स्वरूप 'अभाव' प्रमाण का फल है 'नास्ति' इस आकार की बुद्धि इसलिए 'अभाव' नाम का स्वतन्त्र प्रमाण अवश्य है, क्योंकि उसके बाद ही उक्त 'नास्ति' इस आकार की बुद्धि होती है।[४५२]

प्रत्यक्षादि की अनुत्पत्ति चूंकि प्रागभाव स्वरूप है।, अतः किसी भी कारण से उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। 'अनुमान' अर्थात् अनुमिति को 'त्रिलक्षण' से युक्त हेतु से उत्पन्न होना अनिवार्य है। अतः कारणजन्य 'अनुपलब्धि' प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में नहीं हो सकता।[४५३]

पूर्वपक्षी ने आपत्ति उठाते हुए कहा है कि प्रमाण अभाव स्वरूप कैसे हो सकता है क्योंकि प्रमाण को भाव स्वरूप होनाा अनिवार्य है?[४५४]

इसका समाधान करते हुए कहा है कि इसका प्रमेय भी अभाव स्वरूप ही है। अतः जैसा प्रमेय है वैसा ही प्रमाण भी है। जैसा कि घटादिभाव स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक प्रमाण अभाव स्वरूप नहीं होता, वैसे ही 'अभाव' स्वरूप प्रमेय का ज्ञापक भी भाव स्वरूप नहीं हो सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाण भाव स्वरूप हैं, अतः इनसे अभाव की प्रतीति नहीं हो सकती।[४५५] यह कोई राजाज्ञा नहीं है कि प्रमाण' भाव स्वरूप ही हो। जिसका फल 'परिच्छेद' ही अर्थात् प्रमात्मक बुद्धि हो वही प्रमाण है। प्रमाण के इस लक्षण के अनुसार 'अभाव' भी प्रमाण है, क्योंकि उससे भी 'घटो नास्ति' इत्यादि आकारों की प्रमात्मक बुद्धियाँ उत्पन्न होती है।[४५६]

---

४५१. स चान्येन...........अनन्तता................विना ध्रुवम्।।४२।। श्लो० वा०
४५२. नास्तीति धीः.................जन्मनः। तस्यैव............प्रतीयते।।४३।।
४५३. त्रिलक्षणेन या बुद्धिर्जन्यते सानुमेष्यते।
न चानुत्पत्तिरूपस्य कारणापेक्षिता कश्चित्।।४४।। श्लो० वा०
४५४. मानं कथमभावश्चेत् प्रमेयं चास्य कीदृशम्।।
४५५. मेयो यद्वदभावो हि मानमाप्येवमिष्यताम्।।४५।। श्लो० वा०
४५६. भावात्मकस्य..........स्थितम्............द्वयोरपि।।४७।श्लो० वा०

अभाव स्वरूप अनुपलब्धि को प्रमाण न मानने का केवल एक हेतु है, वह हेतु हैं, कारण केवल भाव स्वरूप ही हो 'इस प्रकार का मिथ्याज्ञान'। यदि 'कारण भाव पदार्थ ही हो' यह नियम स्वीकार कर लिया जाए तो तुल्ययुक्त्या यह भी स्वीकार करना होगा कि 'अनुमापक हेतु भी भाव पदार्थ ही हो' अथवा 'प्रमेय भी भाव पदार्थ ही हो'। इन नियमों को स्वीकार करने से प्राग्भावादिमूलक कार्यकारण व्यवहारों की जो अनुपपत्ति पहले दिखलायी गयी है, वह ज्यों की त्यों रहेगी।[४५७]

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुपलब्धिलिंगक अभावसाध्यक अनुमान में कथित अनवस्था दोष ही केवल नहीं है, किन्तु पक्ष धर्मता की उक्त अनुमान की उपपत्ति नहीं हो सकती। यदि 'अभावो भूतलवृत्तिः, अनुपलब्धेः' ऐसा अभाव स्वरूप प्रमेयपक्षक अनुमान मानें तो हेतु में पक्षधर्मता उपपन्न नहीं होगी, क्योंकि अनुपलब्धि है, अनुत्पत्ति स्वरूप उसमें अभाव का न कालिक सम्बन्ध है, न देशिक सम्बन्ध। अतः वह अभाव स्वरूप पक्ष का धर्म नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अभाव स्वरूप पक्ष यदि पहले ज्ञात नहीं है तो तद्धर्मत्वेन अनुपलब्धि रूप हेतु गृहीत नहीं हो सकता। यदि ज्ञात है तो अभाव स्वरूप पक्ष अनुमेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह पहले से ही ज्ञात है। फलतः जिस पक्ष में घटादि का अभाव स्वरूप साध्य है उसके साथ घटादि अनुपलब्धि स्वरूप हेतु का कोई सम्बन्ध ही नहीं है।[४५८]

इसका फलितार्थ यह हुआ कि जिस धर्मी में अभाव स्वरूप साध्य विद्यमान नहीं है, उसी पक्ष का यह घटानुपलब्धि धर्म होगा। इससे अनुपलब्धि लिंग में पक्षधर्मता ही विघटित होगी, क्योंकि जो स्वयं विद्यमान नहीं है, वह न किसी का धर्मी हो सकता है, न किसी का धर्म ही हो सकता है।[४५९]

यदि यह कहे कि अभाव को ही पक्ष करेंगे और उसमें अनुपलब्धि हेतु से भूतलवृत्तित्व की सिद्धि करेंगे। इस दृष्टि से 'अभाव' ही अनुपलब्धि प्रमाण का 'प्रमेय' अर्थात् 'विषय' होगा जिससे अनुपलब्धि हेतु की पक्षधर्मता की कथित

४५७. यदि चास्य...........अभिमानिता।।४८।। न लिङ्गत्वाप्रमेयत्वे..........नसिध्यति।।४९।। श्लो० वा०

४५८. प्रमाणानामनुत्पत्तेर्नाभावस्यापि.......................विद्यते।।५०।। श्लो० वा०

४५९. यो न सन्निहितस्तत्र....................धर्मधर्मित्ववर्जनात्।।५१।।

अनुपपत्ति मिट जायेगी। किन्तु ऐसा कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि अनुमिति के बाद ही अभाव में कथित विषयता आवेगी। इसलिए विषयता सम्बन्ध के द्वारा पक्षधर्मता की उपपत्ति नहीं हो सकती।[४६०]

अभाव स्वरूप पक्ष में अनुपलब्धि स्वरूप हेतु का संयोग समवायादि सम्बन्ध भी नहीं है जिससे तन्मूलक पक्षधर्मता की उपपत्ति हो सके। यदिअभाव में अनुपलब्धि का किसी प्रकार का सम्बन्ध मान भी लें, तथापि निस्तार नहीं है, क्योंकि अभावग्रहण से पहले सम्बन्ध नहीं होगा, अभावग्रहण के बाद उसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अर्थात् अनुपलब्धि हेतु सिद्धसाधन दोष से ग्रसित हो जायेगा।[४६१]

तस्मात् इन उपपत्तियों से ये दो अनुमान निष्पन्न होते है, जिनसे प्रत्यक्षादि भावात्म प्रमाणों से अतिरिक्त 'अभाव' नाम के प्रमाण की सिद्धि होती है।

१. प्रथम अनुमान का स्वारस्य है कि जिस प्रकार प्रत्यक्षादि भाव स्वरूप प्रमाणें के प्रमेयों का अभाव 'प्रमेयाभाव' शब्द से व्यवहृत होता है, उसी प्रकार उन प्रमेयों के अभाव का ज्ञापक प्रत्यक्षादि भाव स्वरूप का अभाव स्वरूप प्रमाणों का अभाव (अनुपलब्धि) भी अवश्य ही 'प्रमाणाभाव' शब्द से व्यवहृत होने योग्य है।[४६२]

"प्रमाणभावो (अनुपलब्धि) प्रत्यक्षादोर्भिद्यते अभावशब्दवाच्यत्वात् प्रमेयाभाववत्"

२. द्वितीय अनुमान का यह आकार है-

"प्रमेयाभावो स्वजातीयेन प्रमाणेन गृह्यते प्रमेयत्वात् भावाख्यप्रमेयवत्"।

अर्थात् जिस प्रकार भाव स्वरूप प्रमेय भाव स्वरूप प्रमाण से ही गृहीत होता है, उसी प्रकार अभाव स्वरूप प्रमेय भी अभाव स्वरूप प्रमाण से ही गृहीत हो सकता है। अतः प्रत्यक्षादि भावात्मक प्रमाणों से भिन्न अभाव नाम का प्रमाण भी अवश्य है।[४६३]

---

४६०. अभावेन तु................विद्यते।।५२।।

४६१. संयोग समवायादिसम्बन्धो नैव विद्यते। नागृहीते हि धर्मत्वं गृहीते सिद्धसाधनम्।।५२।।

४६२. अभाव शब्दवाच्यत्वात् प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते।
प्रमाणानामभावों हि प्रमेयाणामभाववत्।।५४।। श्लो० वा०

४६३. अभावो वा प्रमाणेन............मीयते............पृथक्।।५५।। श्लो० वा०

इस प्रकार 'वस्त्वसंकरसिद्धिश्च' से पहले कह आये हैं कि वस्तुओं की सभी प्रकार की 'असंकरता' अर्थात् 'असद्रूपता' फलतः नास्तिता 'अभाव' प्रमाण से ही ज्ञात ही सकती है। तदनुसार हम लोगों के लिए इस 'अभाव' नाम के प्रमाण का असाधारण उपयोग यह है कि जिस प्रकार 'दर्शादि' यागों के कौन-कौन से अङ्ग हैं–इस प्रश्न का उत्तर 'चोदना' शब्द स्वरूप भाव प्रमाण से समझते है, उसी प्रकार "श्रुति द्वारा कथित अङ्ग से अतिरिक्त कोई उनका अङ्ग नहीं है" यह 'अभाव' प्रमाण से अतिरिक्त और किसी प्रमाण से समझना सम्भव नहीं है।[४६४]

(१) सम्भव और (२) ऐतिह्य नाम के दो और प्रमाणों को पौराणिक लोग स्वीकार करते हैं, इन दोनों का उल्लेख भाष्यकार ने क्यों नही किया? इस प्रश्न का यह समाधान है कि युक्ति के द्वारा एवं व्यासादि आप्तपुरुषों के द्वारा ये छः प्रमाण ही ज्ञात हैं। अतः भाष्यकार ने छः प्रमाणों का ही उल्लेख किया है। इन से भिन्न कथित संभव और ऐतिह्य इन दोनों प्रमाणों का अन्तर्भाव कथित प्रत्याक्षादि प्रमाणों में ही हो जाता है। अतः इन दोनों का उल्लेख भाष्यकार ने नहीं किया।[४६५]

सहस्रादि बड़ी संख्याओं के द्वारा जो शतादि अवान्तर संख्याओं का बोध होता है, अथवा प्रस्थ स्वरूप महापरिमाणों से जो कुड्यादि अवान्तर परिमाणों का ज्ञान होता है, वे सभी ज्ञान चूंकि व्याप्ति मूलक है, अतः वे सभी ज्ञान अनुमित्यात्मक हैं; इसलिए अनुमान प्रमाण से ही उत्पन्न होते है। अतः 'संभव' प्रमाण में ही अन्तर्भूत है।

पुरुषवचन की परम्परा को ऐतिह्य कहते हैं। यथा 'वटे-वटे वैश्रवणः' इस प्रकार वचन निर्णयजनक न होने के कारण प्रमाण ही नहीं हैं। यदि है तो शब्द प्रमाण ही नहीं है। यदि है तो शब्द प्रमाण के अन्तर्गत है।

'प्रातिभज्ञान' के प्रामाण्य का खण्डन 'औत्पत्तिकसूत्र' में ही किया जा चुका है। लोकप्रसिद्धि भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अन्तर्गत है। अतः केवल छः प्रमाण ही है, न इसमें अधिक है, न कम हैं।[४६६]

---

४६४. युक्त्यागमाभ्यामिति तर्कितोऽयं.........भाष्ये.............सिद्धमेतत्।।५७।। श्लो० वा०
४६५. कर्माणि सर्वाणि.............यदङ्गकाण्डैः..........क्रतूनाम्।।५६।। श्लो० वा०
४६६. इह भवति शतादौ सम्भवाद्या सहस्रान्मतिरवियुतभावात् सानुमानादभिन्ना।
जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तं भवति तु यदि सत्यं नागमाद् भिद्यते तत्।।५८।।
श्लो० वा०

कर्मकाण्ड दर्शन

मीमांसादर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि को एक यज्ञ का परिचक्र मानना है। इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि स्वयं एक यज्ञ है। इसलिए ही मीमांसादर्शन में कर्मकाण्ड के विभिन्न आयामों की विस्तार पूर्वक व्याख्या का वर्णन मिलता है। उन यज्ञों में यह वर्णन किया गया है कि विभिन्न देवताओं की स्तुति यज्ञों के द्वारा की जानी अपेक्षित है।

यज्ञ का शस्त्रीय अर्थ क्या है? सबसे पूर्व इसका अर्थ समझ लेना अपेक्षित है। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ-यज् देवपूजासंगतिकरणदानेषु (धातुपाठ) इस धातु से यज्ञयाचयत विच्छप्रच्छरक्षो नङ् (अष्टा-३/३/९०) इस पाणिनीय वचनानुसार भाव में नङ् (न) प्रत्यय होकर बनता है। 'यज्ञ' धातु के देवपूजा संगति करण और दान ये तीन अर्थ हैं। देवपूजा में 'देव' शब्द 'दिवु क्रिडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति-मोदमस्वप्नकान्तिगातिषु' (धातु०-४/१) इस पाणिनीय निर्देश के अनुसार वह्वर्थक हैं। और पूजा का अर्थ है—सत्कार-यथायोग्य व्यवहार। इसलिए 'देव' चाहे जड़ प्राकृतिक तत्व वा प्रक्रियाँ हो चाहे चेतन, सभी के साथ यथायोग्य व्यवहार करना देवपूजा कहाती है। प्राकृतिक पदार्थ अग्नि जल, वायु आदि का प्राणिमात्र के कल्याण के लिए उचित उपयोग देवपूजा है, और उनके द्वारा किसी के घर को जलाना, किसी क्षेत्र के जलप्रवाह को रोककर अन्य क्षेत्र में सूखा डालना, वायु में प्रदूषण उत्पन्न करके प्राणियों के जीवन को संकट में डालना, आदि देव अपूजा है। संगतिकरण का तात्पर्य है-किन्हीं पदार्थों का यथोचित मात्रा में संयोग करना, जिससे प्राणियों का कल्याण एवं उत्कर्ष हो, श्रेष्ठ धर्मात्मा विद्वानों का सत्संग करना आदि। इस संगतिकरण के द्वारा शिल्पविज्ञान भी 'यज्ञ' है। दान का तात्पर्य है-स्वयमुपार्जित धन-सम्पत्ति विद्या आदि को प्राणिमात्र के कल्याण के लिए प्रयुक्त करना। इस प्रकार 'यज्ञ' शब्द का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद १/२ के भाष्य में लिखा है—"धात्वर्थ के योग से यज्ञ का अर्थ तीन प्रकार का होता है। एक-देवपूजा=विद्या ज्ञान और धर्म के अनुष्ठान से वृद्ध देव=विद्वानों का ऐहिक और पारलौकिक सुख के सम्पादन के लिए सत्कार करना। दूसरा-अच्छे प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल-विरोध ज्ञान की संगति से शिल्पादि विद्या का प्रत्यक्षीकरण, तथा नित्य विद्वानों के समागम (संगति) का अनुष्ठान। तीसरा-विद्या सुख धर्मादि शुभगुणों का नित्य दान करना।"

यजुर्भिर्यजन्ति (निरुक्त १३/७) इस वचन के अनुसार यजु से जिस यज्ञ का निरूपण किया है, उसका निर्देश यजुर्वेद के उपक्रम में श्रेष्ठतमाय कर्मणे (१/१) से श्रेष्ठतम कर्म रूप में किया है, और उपसंहार में कुर्वन्नेवेह कर्माणि (४०./२) के रूप में निष्काम कर्म का संकेत किया है। इस प्रकार संसार के समस्त शुभ कर्म, जो व्यक्तिभेद से अथवा देश-काल-भेद से अपने और प्राणिमात्र के कल्याण के लिए कर्त्तव्य है; उन समस्त यज्ञरूप कर्मों का ही यजुर्वेद में वर्णन है।[४६७] यह यजुर्वेद के उपक्रम और उपसंहार से जाना जाता है। शतपथ-ब्राह्मण में श्रेष्ठतम कर्म की व्याख्या "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म :" द्वारा द्रव्ययज्ञ तक सीमित कर दी है। इसकी यदि शतपथ-ब्राह्मण के द्रव्ययज्ञपरक व्याख्यान की दृष्टि से देखा जायें, तो शतपथकार की व्याख्या एकांश में ठीक है।[४६८]

द्रव्य-यज्ञों का लक्षण : –

इस यज्ञ का लक्षण कात्स्यायन श्रौतसूत्र में 'द्रव्यं' देवता त्यागः (१/२/२) किया है। इसका तात्पर्य है-जिस कर्म में द्रव्य देवता और त्याग तीनों का सहभाव होता है, वह यज्ञ कहाता है। याज्ञिको के शब्दों में 'देवतोद्देशेन द्रव्यस्य त्यागो यज्ञः' अर्थात् जो देवता को उद्दिष्ट करके किसी द्रव्य का त्याग करना 'यज्ञ' कहता है। अतः ये यज्ञ किसी द्रव्य से किये जाते है।, अतः गीता (४/२८) में इन्हें द्रव्ययज्ञ कहा है।

यज्ञों में देवतोद्देश से हव्य द्रव्य का त्याग प्रायः अग्नि में किया जाता है। परन्तु यज्ञ की उक्त परिभाषा में त्याग-स्थान का विशिष्ट निर्देश न करने से 'देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग' इतना ही यज्ञ का तात्पर्य समझना चाहिए। इसी लिए सोमयागों के अन्त में अवभृथ-होम जल में किया जाता है। "अप्सुजुहोति" और सोमक्रय के लिए सोमक्रमणी अर्थात् जिसे देकर सोम खरीदना होता है। गो की सोमविक्रमी के समीप ले जाते समय गौ का सातवाँ पैर जहाँ भूमि पर पड़ता है उस स्थान में धृताहुति दी जाती है-'सप्तमे पदे जुहोति' इसी प्रकार वृषोत्सर्ग यज्ञ में वृष (सांड) का प्रजापति देवता के लिए वृषभ पर विशेष चिन्ह अंकित करके त्याग (उत्सर्जनमात्र) होता है।[४६९]

४६७. धात्वर्थाद् यज्ञार्थस्त्रिविधो भवति–विद्या–ज्ञान धर्मानुष्ठान–वृद्धानां देवानां विदुषामूऐतिहकपारलौकिक–सुख–सम्पादनाय सत्करणम्.............नित्यंदानकरणम्।। (यजुर्वेदभाष्य-१/२)

४६८. शतपथ ब्राह्मण–"यज्ञौ वै श्रेष्ठतमं कर्मः"।

४६९. मीमांसा शबर भाष्य पृ० ९७।

यज्ञों के भेद :-

यज्ञों के श्रौत स्मार्त दो भेद-संहिता ब्राह्मण और कल्पसूत्रों में जितने प्रकार के यज्ञों का विधान उपलब्ध होता है, वे यज्ञ श्रौत स्मार्त भेद से दो प्रकार के हैं। श्रौत-यज्ञ वे कहाते है, जिनका विधान साक्षात् श्रुति में पठित किसी वचन से होता हैं स्मार्त-यज्ञ उनको कहते है। जिनका विधान गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार और गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान किया है, और धर्मसूत्रों में मानवसमाज के विभाग एवं विभागशः विशिष्ट कर्त्तव्यों का निरूपण किया हैं यतः गृह्य और धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का श्रुति में साक्षात् विधान नहीं मिलता, अतः ऋषियों ने श्रुति के अन्यार्थपरक वचनों से इन कर्मों का संकेत उपलब्ध करके इनका विधान किया है। इसलिए ये गृह सूत्र और धर्मसूत्र 'स्मृति' कहाते हैं श्रुति और स्मृति का कदाचित् विरोध होने पर श्रुति का प्रमाण माना जाता है स्मृति प्रमाणार्ह नहीं मानी जाती है--"विरोधे त्वनपेक्षं सयादसति ह्यनुमानम्"।[४७०]

यज्ञों के पुनः तीन भेद :-(नित्य, नैमित्तिक और काम्य)

श्रौत और स्मार्त दो भागों में विभक्त यज्ञों के पुनः प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं- नित्य नैमित्तिक और काम्य।

नित्ययज्ञ वे कहाते है, जिनका यथाकाल नियमतः करने का विधान है याज्ञिकों के मतानुसार नित्ययज्ञों के करने से कोई फल नहीं होता, परन्तु इनको न करने से प्रत्यवाय होता है। हमारा विचार है कि नैत्यक कर्म निष्काम भाव-केवल कर्त्तव्य बुद्धि से क्रियमाण होने से इनका फल आत्मशुद्धि-पूर्वक मोक्ष प्राप्ति है।

अग्निहोत्र से लेकर सोमान्त (अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, और सोमयाग) नित्य यज्ञ माने गये है। महाभारत शन्तिपर्व (२६९/२०) में अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य इन तीनों को प्राचीन यज्ञ कहा गया है-

दर्श च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः।।[४७१]

नैमित्तिक कर्म :-

नैमित्तिक कर्म वे है-जो गृहादि-दाह होने, भीषण भूकम्प आने अतिवृष्टि आदि निमित्त होने पर किये जाते हैं।

४७०. (मीमांसा १/३/२)।
४७१. महाभारत शान्तिपर्व (२६९/२०)।

काम्य कर्म–

काम्य वे है जो ग्रामप्राप्ति, पशुप्राप्ति, धन प्राप्ति, यज्ञ प्राप्ति आदि की कामना से किये जाते हैं। अर्थात् जिसकी कामना का उदय हो उस समय उसकी पूर्ति के लिए किए जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न कामनाओं के लिए भिन्न-भिन्न पचासों यज्ञ शाखा के लिए ब्राह्मण और श्रौत गृह्म एवं धर्मसूत्रादि में कहे गये हैं। इन विविध कर्मों का त्रेता युग में विस्तार हुआ-'तानि त्रेतायाँ बहुधा संततानि'।[४७२]

काम्य के तीन भेदः–

काम्य कर्म तीन प्रकार के हैं। एक वे हैं जिनका कामना विशेष के लिए स्वतन्त्र विधान किया है। यथा-वैश्वदेवी सांग्रहणी निर्वपेद् ग्रामकामः'।[४७३] कतिपय काम्य कर्म ऐसे हैं, जो नित्यविहित है, परन्तु स्वल्प भेद से उनमें काम्पयत्व का विधान किया है। यथा-नित्य अग्निहोत्र जो दूध से सम्पादित होता है, उसमें इन्द्रिय की कामना से दही का विधान-"दध्नेन्द्रियकामस्य" (तै०ब्रा०-२/१/५/६)। कतिपय कर्म ऐसे भी है, जो नित्यविहित होते हुए उसी रूप में कामना विशेष से भी किये जाते हैं। यथा-वसन्तं-वसन्तं ज्योतिषा यजेत् (मी० भाण्य० कामों ३/३/१९ में उद्धृत। यहाँ वसन्ते-वसन्ते में द्विर्वचन नित्यार्थ है। स्वर्ग कामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्। एककामः सर्वकामो वा। युगपत् कामयेताहार पृथक्त्वे वा। (आप० श्रौत-१०/२/१)।

नित्य और काम्य के समान होने पर अनुष्ठान में भेदः–

नित्य और काम्य कर्म के समान होने पर भी दोनों के अनुष्ठान में एक प्रमुख भिन्नता है। वह है-काम्य कर्म का अनुष्ठान सर्वाङ्गपूर्ण अवश्य करना पड़ता है। क्योंकि सर्वाङ्गपूर्ण कर्म ही फल का साधक होता है। परन्तु नैत्यक कर्म का सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान का विधान होने पर भी किसी दैवी बाधा से सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान न कर सकें, तो जितने अंगों के साथ प्रधान कर्म सम्पन्न हो जाता है। उतने से ही कर्त्तव्यतापूर्ण हो जाती है। अतः प्रयोग विधि अशक्य अंगों के अनुष्ठान को संगृहीत नही करती। इस कारण कतिपय अंङ्गों के छोड़ देने पर भी दोष नहीं होता।

नित्यकर्म सम्बन्धी उक्त निर्णय पर ध्यान देने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नित्य कर्मों में विकलाङ्गों को भी अधिकार है। जैसे अन्ध पुरुष यजमान

---

४७२. "तानि त्रेतायाँ बहुथा संततानि" (मुण्डक उप० १/२/१)
४७३. वैश्वदेवी सांग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः।। तै० सं० (२/३/८/२)

द्वारा किया जाने वाला आज्या वेक्षण नहीं कर सकता शेष यजमान कर्म तो कर ही सकता है। पंगु विष्णु क्रम के अनुष्ठान के अतिरिक्त कर्म कर ही सकता है। इस हेतु से अङ्गहीन व्यक्ति के श्रौत कर्म में अनधिकार बोधक वचन का तात्पर्य काम्यकर्म विषयक ही जानना चाहिए।[४७४]

पुनः तीन भेद :-

उक्त तीनों प्रकार के श्रौतयज्ञों कं पुनः तीन भेद होते हैं। ये तीन भेद यज्ञीय पदार्थों के भेद के कारण होते हैं। इनमें प्रथम वे यज्ञ है, जिनका द्रव्य मानव के भोज्य पदार्थ है। यथा-यव व्रीहि तिल गोधूम दुग्ध दही घृत आदि। इन्हें पाकयज्ञ कहते है। क्योंकि इनके हव्य द्रव्य पुरोडाश चरु आदि को अग्नि पर पकाया जाता है। दूसरे के यज्ञ है जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका अर्थात् तृण विशेष होता है। इन्हें सोम याग कहते हैं। तीसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य अज आदि पशु होता है। इनको पशुयज्ञ न कहकर पशुबन्ध कहा जाता है इनके पशुबन्ध नामकरण में जो रहस्य है, वह आगे यथास्थान स्पष्ट होगा।

"अग्नियज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्" मन्त्रांश को उद्धृत करके लिखा है-

"अथाप्येष प्राक्रीडितः श्लोकः प्रत्यभिवदाति-सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञा इति।

अर्थात्-यज्ञ के त्रिवृत् साततन्तुओं (३×७) अर्थात् इक्कीस भेदों को यह 'प्रक्रीडित' आचार्य का श्लोक कहता है-" सप्त सुत्या..........।

गोपथ में यहाँ श्लोक के तीन चरणों का पाठ टूट गया है। प्रकृत में ७ सोमयागों और ७ पाकयज्ञों का ही उल्लेख है। सौभाग्य से ही श्लोक गोपथ-१/५/२५/ में पूरा उपलब्ध हो जाता है। सात सोमयज्ञ, सात पाकयज्ञ और सात हविर्यज्ञ ये इक्कीस मन्त्रोक्त यज्ञ है। ये सब यज्ञ अङ्गिरसों को भी प्राप्त होते हैं। नये ऋषि जिन यज्ञों का सर्जन करते है।, और जो पुराने ऋषियों से सृष्ट हैं।[४७५]

उक्त सात सोमयज्ञ, सात पाकयज्ञ और सात हविर्यज्ञों के नामों का निर्देश गोपथ-ब्राह्मण में इस प्रकार किया है-प्रातः होम, सायंहोम, स्थालीपाक,

४७४. (उ० कात्या० श्रोत १/१/५)

४७५. सुप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः हविर्यज्ञाः सप्त तथैकविंशतिः।
सर्वे ते यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतना यानृषयो सृजन्ति च सृष्टाः पुराणैः।। (गो० ब्रा०)

बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका और पशुयज्ञ ये सात पाकयज्ञ कहलाते हैं।[४७६] अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवस्येष्टि, चातुर्मास्य; और पशुबन्ध ये सप्त हविर्यज्ञ कहलाते हैं।[४७७] और अग्निष्टोम, अत्याग्निष्टोम, उक्थ्य, पोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्यान ये सात सोमयज्ञ होते है।[४७८]

इनमें प्रथम सातपाक यज्ञों का सम्बन्ध गृह्यसूत्रों के साथ है। अतः ये पाकयज्ञ स्मार्त यज्ञ है। इनका मन्त्रब्राह्मण के साथ साक्षात् सम्बंध नहीं है। शेष सात हर्विर्यज्ञ और सात सोमयज्ञों का सम्बन्ध मन्त्र-ब्राह्मण का श्रौतसूत्रों के साथ है। अतः ये श्रौत अर्थात्-श्रुतिप्रतिपादित यज्ञ कहाते हैं। ग्रन्थान्तरों मे उक्त तीनों संस्थाओं के (७×३) २१ नामों में कुछ भेद भी उपलब्ध होता है। इन २१ यज्ञों में पशु यज्ञों का भी निर्देश है।

वस्तुतः गोपथ-ब्राह्मणोक्त गणना पैप्पलाद-संहिता के पूर्व उद्धृत अग्निर्यज्ञं त्रिवृत्तं सप्त तन्तुम्' मन्त्रांश की दृष्टि से की गई है। उक्त सात पाकयज्ञों के अतिरिक्त भी अनके यज्ञों का गृह्यसूत्रों में उल्लेख मिलता है। हविर्यज्ञ और सोमयज्ञों के अनेक भेद शाखाओं और बाह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जहाँ भी यज्ञों के विषय में लिखा है, वहाँ सर्वत्र 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त शब्दों के प्रयोग किया है। इनमें अग्निहोत्र प्रति दिन सायं प्रातः क्रियामाण सब से लधुयज्ञ है। अश्वमेधान्त लिखने के दो तात्पर्य हो सकते हैं। एक-अश्वमेध एक वर्ष साध्य महान् यज्ञ है। दूसरा शतपथ-ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत में अश्वमेध का वर्णन सब से अन्त में उपलब्ध होता है। वस्तुतः यज्ञों का विस्तार अग्निहोत्र से लेकर सहस्र-संवत्सर साध्य क्रतुपर्यन्त है। वेद की शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों ओर श्रौतसूत्रों में इन्ही अग्निहोत्र से लेकर सहस्रसंवत्सर-साध्य पर्यन्त यज्ञों का उल्लेख मिलता है। उदाहरण के लिए कात्यायन श्रौतसूत्र में प्रमुख यज्ञों का निर्देश किया गया है:– १.अग्न्याधान, २. अग्निहोत्र, ३. दर्शपौर्णमास, ४. दाक्षायण यज्ञ, ५. आग्रयेणेष्टि, ६. दर्विहोम, क्रैडिनीयेष्टि, आदित्येष्टि, मित्रविन्दोष्टि,

---

४७६. सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः। बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टका सप्तमः पशुरित्येते पाक यज्ञाः।।

४७७. अग्न्याधेयमग्निहोत्रंपौर्णमास्यमावास्ये। नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हर्विर्यज्ञाः।।

४७८. अग्निष्टोमोऽयग्निष्टोम उक्थ्यषोशिमांस्ततः। वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः।। (गोपथ-ब्राह्मण १/५/२३)

७. चातुर्मास्य, ८. निरुढ, पशुबन्ध, ९. सोमयाग, १०. एकाह, ११. द्वादशाह, १२. सत्र [द्वादशाह], १३. गवामयन, १४. वाजपेय, १५. राजसूय, १६. अग्निचयन, १७. सौत्रामणि, १८. अश्वमेघ, १९. पुरुषमेध, २०. अभिचारयाग, २१. अहीन-अतिरात्र, २२. सत्र [द्वादशाह से सहस्रसंवत्सरान्त] और २३. प्रवर्ग्ये आदि यज्ञों का विधान किया गया है।

द्रव्य यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन :-

सृष्टि के आदि में योगज शक्ति से सम्पन्न ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से चराचर जगत् के एक तृण से लेकर परममहत्तत्व तक 'हस्तामलकमवत्व' प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिए कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था।[४७९] सृष्टि रचना के पश्चात् उत्तरोत्तर रजोगुण- और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए।[४८०] उनके वशीभूत होकर मानवीय प्रजा ने सुख विशेष की इच्छा से प्रकृति के शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवन यापन प्रारम्भ कर दिया।[४८१]

ज्यों-ज्यों आवश्यकता बढ़ती गई, त्यो-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा। उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना कैसी है, यह जानना सर्वसाधारण के लिए जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मों परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा आध्यात्मिक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने के लिए यज्ञरूपी रूपकों की कल्पना की। यज्ञ का मूल प्रयोजन दैवत ओर अध्यात्म का ज्ञान कराना ही है।, इस बात की ओर

---

४७९. साक्षात् कृत धर्माण ऋषयोबभूवुः। निरुक्त १/२०।। पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभावीर्य ....धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः।। (ज्योतिषसंहिता का वचन)

४८०. (१) तेषां क्रमादपचीयमान सत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां तेजोऽन्तर्दधे।। वृह० टीका पृ० १५

(२) भ्रश्यति तु कृतयुगे.....लोभ प्रादुरासीत्।।२८।। (चरक संहिता विमान० अ० ३)

४८१. ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात्। नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। (शत० २/४/२/५'७)

आचार्य यास्क ने निरुक्त में संकेत किया है-याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मेवा। अर्थवेद में कहा है कि तस्माद्वा ओदनात् त्रयस्त्रिशंत् लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः। तेषां प्रज्ञानाय यज्ञान् असृजत्। अर्थात् प्रजापति ने स्वसृष्ट लोकों के प्रज्ञान के लिए यज्ञों का सृजन किया।

यास्क के मतानुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है, अर्थात् जैसे-पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक-प्रक्रिया का ज्ञान दैवत के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह दैवतज्ञान याज्ञिक प्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान में दैवत ज्ञान कारण बनता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में 'इत्यधियज्ञम् कहकर अथाधिदैवतम्,' अथाध्यात्मम् के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शायी है। अनुश्रुति के अनुसार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग है।। प्रारम्भिक भाग कर्ममीमांसा कहाता है, मध्य भाग दैवतमीमांसा और अन्त्य भाग ब्रह्ममीमांसा। इससे भी यही ध्वनित होता है कि यज्ञ देवता और अध्यात्म का परस्पर धनिष्ठ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त निर्देशों से यह सुव्यक्त हो जाता है कि यज्ञ की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का बोध कराने के लिए ही की गई है। यज्ञ कर्म में थोड़ा-सा भी हेर-फेर होने पर, यहाँ तक कि पात्रों के यथास्थान न रखने पर भी कर्म के दुष्ट होने अर्थात् यथावत् फलदायक न होने की कल्पंना की गई है। इसे आप सुगमता से इस प्रकार समझ सकते हैं कि पृथिवी वा आकाशस्थ पदार्थों की स्थिति समझानें के लिए जो भूगोल और खगोल के मानचित्र बनाये जाते है, उनमें यदि प्रमादवश नामाङ्कन में थोड़ी-सी भूल हो जाए, तो वे मानचित्र बेकार हो जाते हैं। क्योंकि उन अशुद्ध नामाङ्कन वाले मानचित्रों से भूगोल और खगोल के तत्तत् नाम वाले स्थानों की यथावत् स्थिति का बोध नहीं हो सकता। अर्थात् वे जिस प्रयोजन के लिए बनाये गये, उस प्रयोजन के साधक होना तो दूर रहा, उल्या अज्ञान वर्धक होते हैं। इस दृष्टि से ही यज्ञीय प्रत्येक कर्म को यथाशास्त्र करने का याज्ञिको का आग्रह है। उत्तरकाल में कार्यकर्त्ताओं के विशेष प्रबुद्ध न होने पर अदृष्ट उत्पन्न न होने अथवा पाप लगने की विभीषिका प्रचलित कर दी गई, जिससे कार्य-कर्त्ता सावधान होकर कर्म करें।

द्रव्ययज्ञों की कल्पना का आधार :-

विराट् पुरुष (ब्रह्म) ने अपने सखा शरीर पुरुष (जीव) के शरीर की रचना

में अपने ही विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है।[४८२] अतः एव आयुर्वेद की चरकसंहिता के पुरुषविचय नामक अध्याय (शरीर ० अ० २५) पुरुषोऽयं लोकसम्मितः[४८३] ऐसा निर्देश करके पुरुष और लोक की विस्तार से तुलना दर्शाई हैं परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से ब्रह्माण्ड और पिण्ड के रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधिरूप यज्ञों की कल्पना की। अत एव ब्राह्मणग्रन्थों में बहुधा उक्त इत्यधि दैवतम्, अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम् कह कर एक दूसरे का 'तुलनात्मक व्याख्यान' करना उपपन्न होता है। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिए उनके मानचित्रों की तथा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिए यज्ञों की कल्पना की गई। अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर ही हुई है। अत एव जिस प्रकार नगर जिला प्रान्त देश ओर महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिए विभिन्न छोटे-बड़े प्रदेशों के मानचित्र तैयार किये जाते है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल वा सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिए अग्निहोत्र दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे-मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है-कल्पना कल्पः। अतएव यज्ञों के व्याख्यान करने वाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहाते हैं। यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिए हुई थी, इस बात को हृदयंगम कराने के लिए द्रव्यमय यज्ञ और सृष्टि यज्ञ की कुछ तुलना की गई है।[४८४]

वेदि निर्माण और पृथिवी सर्ग :-

सब से प्रथम हम श्रौत यज्ञों के आधार भूत वेदि-निर्माण और अग्न्याधान

---

४८२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।ऋ० १/१६४/२०.

४८३. पुरुषोऽयं लोकसम्मित :-।चरक संहिता-(शरीर अ० २५)

४८४. हिरण्यमुपर्येके (कात्या० श्रौत ४/८/१५)। सम्भाराणामुपरि हिरण्यनिधानमेके आचार्या इच्छन्ति इति तद्व्याख्यातारः।

की प्रक्रिया, जिसका शाखाओं ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौते सूत्रों में विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं–

वेदिनिर्माण-सब से पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिए भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिससे अशुद्ध मिट्टी वा घास-फूंस की जड़े निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियाएं क्रमशः की जाती है–

१. जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्
२. वराह-विहत (सूअर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्
३. दीमक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्
४. ऊसर भूमि की मिट्टी (=रेह-पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्
५. सिकता (=बालू) बिछाई जाती है, तत्पश्चात्
६. शर्करा (=रोड़ी) बिछाते है, तत्पश्चात्
७. ईंट बिछाई जाती है। तत्पश्चात्
८. सुवर्ण रखा जाता है।[१] तत्पश्चात्
९. समिधाएं रखी जाती हैं। तत्पश्चात्
१०. अश्वस्थ (पीपल) की अरणियों (दो काष्ठों) को मथकर (रगड़कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते है।

पृथिवी सृजन प्रक्रिया और वेदिनिर्माण-विधि की समानता :--

अग्न्याधान में वेदिनिर्माण की जो उक्त क्रियाएँ की जाती हैं, वे हिरण्यगर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के पश्चात् पृथिवी की जो सलिलमयी स्थिति थी, उस अवस्था से लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर जब अग्नि की प्रथम उत्पत्ति हुई तब तक की पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराती हैं। पृथिवी और वेदि का साम्य वेद स्वयं दर्शाता है :–'इयं वेदिः परां अन्तः पृथिव्याः' (यजु०-२३/६२) शतपथ-ब्राह्मण में इस काल को ९ विभागों में विभक्त करके नौ प्रकार के सर्ग (सृष्टि) का वर्णन किया गया है।

यहाँ जो नौ प्रकार की सृष्टि कहीं है, उनमें फेन के आपः प्रधान होने से वेदि-निर्माण की उपर्युक्त प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया है। अब हम वैदिक-ग्रन्थों के आधार पर वेदि-निर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायेगें।

१. आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी–'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' इस स्थिति को दर्शानें के लिए वेदि के स्थान में जलसिंचन किया जाता है।

२. अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ, जैसे–दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होता है। वही फेन वायु के संयोग से धनत्व को प्राप्त होकर मृद्भात्र को प्राप्त होता है। जैसे दूध पर मलाई जमती है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती) इसके लिए शतपथ (६/१/३/३) में कहा है 'स यदोपहन्यते मृदेव भवति'।[४८५]

मृद की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व होता है ये सूर्य की अङ्गिरस नामक किरणे वराह भी कहाती है। उस समय पृथिवी का रूप वराह के मुख के सदृश छोटा-सा होता है। अत एव वेदि-निर्माण में वराह (सूअर) द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है। इसलिए मैत्रायाणी-संहिता-१/६/३ में कहा है[४८६] -यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद् वराह विहतमुपास्याग्निमाधत्ते'। अर्थात्–आरम्भ में पृथवी उतनी ही थी, जितना वराह के मुख का अग्रभाग होता है। वराहरण चषालम्' पृथिवी-भाग की अल्पता का उपलक्षक है।

३. जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्का कहते हैं। उसके नीचे जल होता है। सूखी हुई पपड़ीरूपी मृत् मसलने पद भुरभुरी हो जाती है। इसी शुष्कारूपअवस्था का बोध कराने के लिए दीमक की बाम्बी की मिट्टी बिछाई जाती है। दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली लाती है और वह हवा तथा धूप से सूख जाने पर मसने में भुरभुरी होती है। इसीलिए मैत्रायणी संहिता में कहा है–

"यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते"।

४. वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष जलाने वाले क्षारत्व भाव को प्राप्त होते हैं। इसलिए वेदि में ऊसर भूमि की मिट्टी रेह विछाई जाती है। मैत्रायणी संहिता [१/६/३] में कहा है।[४८७]

५. वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य-किरणों से तथा पृथिवी गर्भस्थ अग्नि

---

४८५. "स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।" शतपथ ६/१/३२३.
४८६. 'यावद् वै बराहस्य चषालंतावतीयमग्र आसीत्। यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।
४८७. यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते'। (मैत्रा० संहिता १/६/३)

से तप्त होकर सिकता अर्थात् बालू का रूप धारण करती है। इसीलिए वेदि में भी सिकता बिछाई जाती है-यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते'। इस अवस्था तक पृथिवी शिथिल ढीली=पिली थी। शक्लयजु० में कहा है कि अविरासीत् पिलिप्पिला।[४८८]

६. वही अन्त:स्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी बन जाती है। पृथिवी के इस अन्त: परिवर्तन का बोध कराने के लिए वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है इसीलिए मैत्रायणी सं० में कहा है कि

'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'।[४८९]

पृथिवी-गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढ़त्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया है।[४९०] इसी अग्नि रूप क=प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद में किया है।-'येन धौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा'।

७. वही शर्करा अन्तस्ताप से संतप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है। इसीलिए अग्निचयनसंज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधि रूप ईंटें बिछाई जाती है तैतिरीय संहिता में कहा है-इष्टका उपदधाति।

८. वही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से संतप्त होकर लोह से सुवर्ण पर्यन्त धातु रूप में परिणत होता है। 'उसी धातूत्पत्ति-कालिक पृथिवी की स्थिति का वर्णन करने के लिए कहा है-हिरण्यमुपर्येके' कात्या० श्रौते-४/८/१५

९. पृथिवी-गर्भ में अय: (लोह) से हिरण्य-पर्यन्त धातु-निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म पृष्ठ (=कछुए की पीठ) के समान लोमरहित थी। उसके अनन्तर पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहा है-इयंवाऽलोमिकेवाग्र आसीत्'।(ऐ० ब्रा०)। औषधिवनस्पतितयो वा लोमानि।' (जै०-ब्रा०)।[४९१]

१०. वनस्पतिरूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सब से प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई। अत एव

---

४८८. (१) मैत्रायणी संहिता १/६२३"। (२) शुक्लयजुर्वेद २०/१२।
४८९. मैत्रायणी संहिता १/६/३।
४९०. शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कसभिरदृंहत' (मौ.त्राणी सं० १/६२३)
४९१. ऐतरेय ब्राह्मण २४/२२।। (२) जै० ब्राह्मण २/५४।।

वेदि में कहा है-तस्यास्ते पृथिवी देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे'।[४९२] पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिए वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित दो अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है।

यज्ञो का प्रादुर्भाव का काल :-

भारतीय इहिास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदों में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रवचन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हो गया था। तद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का प्रवचन भी आरम्भ में नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण-सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परम मेधावी थे। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय जगत् ब्रह्ममय था।[४९३] यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक में स्पष्ट लिखा है-

"तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रुः।"[४९४]

ब्राह्मणग्रन्थों में भी अनेकत्र 'य उ चैनं वेदं' कहकर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया है। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी विक्रम सम्व० १९३२ में प्रकाशित संस्कार विधि के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है 'उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने वाला ज्ञानी सब पदार्थो का जानने वाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।"[४९५]

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उक्त बात गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को ब्राह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान है, उसका भी मूल कारण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेता युग के सन्धि-काल में हुआ। इसीलिए कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में और कहीं पर त्रेता युग के आरम्भ में कही है।

यज्ञों का विकास :-

यज्ञों के विकास का जो क्रम उपलब्ध होता है, उसमें अग्नि के एकत्व

४९२. यर्जुवेद ३/५।

४९३. सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।। महा० शान्ति० १८८/१०।।

४९४. शंख्यायन आरण्यक (४/५, पृ० १५)

४९५. संस्कार-विधि (प्रथम संस्करण पृ० ११८)

त्रित्व और पञ्चत्व के साथ-साथ यज्ञों के लिए एक वेद दो वेद और तीन वेद के विनियोजन का क्रम भी देखा जाता है। तदनुसार प्रारम्भ में 'एक अग्नि'[४९६] होने से एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होने वाले अग्निहोत्र आदि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल द्वारा अग्नि के त्रेधा विभाजन होने पर त्रेताग्निसाध्य दो वेदों से किये जाने वाले दर्शपौर्णमासादि तथा तीन वेदो (ऋग्, यजु, साम) से किये जाने वाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञो की और तत्पश्चात् पञ्चाग्निसाध्य विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई।[४९७]

यज्ञों के दो भेद-प्राचीन और नवीन

गोपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "ते सर्वे यज्ञा अङ्गिरसोऽपि यन्ति नूतन यानृषयः सृजन्ति ये च सृष्टाः पुराणैः।" इस वचन में ऋषियों द्वारा पुराण सृष्टि यज्ञों का वर्णन मिलता है।[४९८]

प्रारम्भिक यज्ञ :-

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था। यथा-अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्शपौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ, तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ। अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११ वें काण्ड में मिलती है। चातुर्मास्य के लिए ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है-भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिसुप्रयुज्यन्ते ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते।[४९९]

इसी प्रकार गोपथ ब्रा० उत्तरार्ध-१/१९ में भी कहा है।

महाभारत शन्ति पर्व-२६९/२० में अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है।[५००]

प्रारम्भिक यज्ञों की वैदिकता :-

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा वैदिक

---

४९६. अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः। ऐ० ब्रप० ६/२४

४९७. यजुषा हर्वे देवा अग्रे याँ वितेनिरे..............अथर्चाऽथ साम्ना। शत० ४/६/७२१३

४९८. गोपथ ब्राह्मण १/५/२५ में उदधृत है।

४९९. कौषीतकि ब्रा० ५/१।।

५००. महाभारत शान्तिपर्व २६९/२० में उदधृत है।

थे। उनमें बाह्य आडम्बर, अवैदिक विचारों का मिश्रण, तथा मांस आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके निदर्शन के लिए हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते है :-

१. 'यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै भस्त्रायै हस्मर्षयो गृह्णन्ति। तद् वृषीन् प्रति भस्त्रार्थ यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि।।[५०१] अर्थात्-अन्न से भरे शकट (गाड़ी) से ही दर्शपौर्णमासादि की हवि का ग्रहण करे। शकट ही यज्ञ है। इसलिए हविग्रहण के याजुष मन्त्र शकट-सम्बन्धी हीहै। कोष्ठ (अर्थात्-अन्न रखने के लिए गाड़ी वर्तते हैं।) सम्बन्धी नहीं है। पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि का ग्रहण करते थे। उन ऋषियों के लिए ये ही हविग्रहण के याजुश मन्त्र भस्त्रा-सम्बन्धी थे। इसलिए ये याजुष मन्त्र सामान्य है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि अनुस्मृति (४/७) में ब्राह्मण को कुसूल धान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैकिक और अश्वस्तनिक वृत्ति से निर्वाह करने का विधान किया है। ऐसा ब्राह्मण गाड़ी भरकर अन्न वेदि के समीप कैसे ला सकता है। पुराने ऋषियों द्वारा भस्त्रा से हविग्रहण का विधान इसीलिए किया गया था।

इस उद्धरण से दो बाते स्पष्ट हैं। एक-याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है। निरुक्त में कहा है[५०२] "असावादित्य (वैश्वानरः) इतिपूर्वे याज्ञिकाः" और अगले खण्ड (२४) में पूर्व याज्ञिकों की क्रिया का उल्लेख किया है। यहाँ 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि निरुक्त में दर्शाई याज्ञिकक्रिया यास्क के समय उस रूप में नहीं होती थी। द्वितीय-पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर रजस्तम की वृद्धि से लोभ, परिग्रह, सम्पन्नता और उसके दिखावे की वृद्धि होने से यज्ञों में भीआडम्बर की बृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधानाहुतियों के लिए केवल १२ मुट्‌ठी जौ या ब्रीहि (धान) की आवश्यकता होती है। इतने थोड़े से अन्न के ग्रहण के लिए यज्ञस्थान में गाड़ी भरकर अन्न लाने का क्या प्रयोजन? इसे वाह्य आडम्बर ही तो कहा जायेगा, इसीलिए प्राचीन ऋषि अपनी अनाज रखने की कपड़े वा चमड़े की थैली अथवा घड़े से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकाल में शकट में हविग्रहण का

---

५०१. शतपथ ब्रा० १/१/२/७/११

५०२. "असावादित्य वैश्वानरः इति पूर्वे याजिकाः" (निरुक्त ७/२३)

विधान स्वीकृत होने पर भी साधाराण याज्ञिकों द्वारा शकट भर अन्न लाना असम्भव होने से शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति मानकर एक वितस्ति (=विलांत) भर प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे। इसी प्रकार सोमयाग के समय सम्पन्न किये जाने वाले हविर्धानमण्डप का निर्माण पहले ही कर लेते हैं। यागकाल में उसका स्पर्शमात्र करके कार्य चलाते हैं।

२. प्राचीन यज्ञ अवैदिक तत्त्वों से सर्वथा रहित थे। परन्तु उत्तरकाल में दर्शपौर्णमास सदृश विशुद्ध यागों में भी अवैदिक विचारों का सम्मिश्रण हो गया इसका हम एक उदाहरण उपस्थित करते हैं–

वैदिक मन्तव्य के अनुसार पुत्र और पुत्री में किसी प्रकार का भेदभाव (पुत्र के प्रति उत्कृष्ट भावना) वा पुत्री के प्रति हीन भावना नहीं है। यास्क मुनि ने निरुक्त ३/४ में 'अंगादङ्गात् संभवति' मन्त्र और अविशेषण पुत्राणांदाय:' मानव श्लोक को उद्धृत करके इस मत की पुष्टि की है। परन्तु श्रौत यज्ञों में पुत्री के प्रति हीन भावना के निदर्शक वचन पठित हैं; जिन्हें यज्ञमान प्रयाजसंज्ञक याग के पश्चात् आर्शी के रूप में पढ़ता है। यथाप्रथम प्रयाज के पश्चात्–"एको मम एका तस्य योस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्म:[५०३] अर्थात्–मेरे एक पुत्र होवे, और जो मुझ से द्वेष करता है वा मैं जिससे द्वेष करता हूँ, उस के एक पुत्री होवे।

इस प्रकार अपने लिए पुत्र की, और द्वेषी के यहाँ पुत्री होने की कामना उत्तरोत्तर द्वितीय-तृतीय, चतुर्थ प्रयासों के आशी: वचनों में क्रमश: दो-तीन-चार रूप में बढ़ जाती है। और पञ्चम प्रयाज के अन्त में अपने लिए ५ पुत्रों की कामना, और शत्रु के लिए तस्य किंचन की आशी: चाहता है। वस्तुत: इस प्रकार के पुत्र-पुत्री के भेद का प्रादुर्भाव बहुत उत्तरकाल में हुआ था। इस भेदभाव की परिणति उत्तरकाल में सद्य: उत्पन्न पुत्री की हत्या में हुई।

३. "आदिकाले खलु यज्ञेषु पशव: समालभनीया बभूवु:, नालाम्भायप्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञ प्रत्यवर काले मनो पुत्राणां नरिष्यन्ना भागेक्ष्वाकुन्तगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशुनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशव: प्रोक्षणमापु:।" अर्थात्–आदि काल में यज्ञों में पशु स्पर्शनीय होते थे। अर्थात् पर्यानि करणान्त कार्य करके उन को छोड़ दिया जाता था। उनका बध नहीं होता था। तत्पश्चात् मनु के नाभाग इक्ष्णाकु प्रभृति पुत्रों

५०३. "एकोमम एकातस्य योस्मान् द्वेष्टियं च वयं द्विष्य:। शत ब्रा० १/५/४२१२

के यज्ञों में यज्ञ में पशुओं का मारना अभिप्रेत है' यह मानकर यज्ञों में पशुओं का आलम्भन आरम्भ हुआ। इस प्रमाण से स्पष्ट है कि आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का वध नहीं होता था। यज्ञ में पशुओं के मारने की प्रथा उत्तर-काल में आरम्भ हुई। इसकी पुष्टि महाभारत शान्ति पर्व अ० ३३७ अनु०-६/३४/,११६/५६-५८, तथा वायुपुराण-५७/९१-१२५ में उल्लिखित उपरिचर वसु की कथा से भी होती है।[५०४]

यज्ञ में पशुवध कैसे आरम्भ हुआ, इसका निर्देश शान्तिपर्व-२६/३६' में इस प्रकार उपलब्ध होता है-

"लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सप्रवर्त्तितम्। वेदवादानविज्ञाय सत्याभास-मिवानृतम्"

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा वेदवाद (वेद के कथन) को न जानकर पशुहिंसा-प्रवर्तन का उल्लेख किया है।

वेदवाद को न जानकर यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई इनकी पुष्टि आयुर्वेदीय चरकसंहिता के पूर्वोक्त उद्धरण के उत्तरार्ध में 'निर्दिष्ट पशूनामेवाभ्यनुज्ञात् पशवः पोक्षामापुः' (यज्ञ में पशु वध का निर्देश है, यह स्वीकार करके पशुओं का वध प्रारम्भ हुआ) वचन से भी होती है।

इसके साथ ही बौद्ध त्रिपिटक के ब्राह्मण धम्मिय सुतक- १८. १९ के वचन से भी इसकी पुष्टि होती है। इसमें कहा है-भोगों से लुब्ध ब्राह्मणों ने झूठे मन्त्र बनाकर इक्ष्वाकु के पास उसे पशुयाग कराने के लिए उत्साहित किया।[५०५]

पशुवध क्या है? उनमें पशुओं का वध होता है वा नहीं, इसकी मीमांसा आगे पशुयज्ञों के विवेचन में की जायेगी। यहाँ इसके निर्देश का इतना ही प्रयोजन है कि यज्ञों में उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ उनमें साधारण से लेकर भयंकर परिवर्तन भी हुए।

स्वमी दयानन्द और याज्ञिक प्रक्रिया :-

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ कारण और भी हैं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शाखा ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोक्त श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया को प्रमाण मानते हुए भी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में लिखा

---

५०४. आदिकाले खलु......................................प्रोक्षणमापुः।। (चरक, चिकित्सा १९/४)
५०५. "लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः सप्रवर्तितम्। वेदवादानविज्ञाय सतयाभासमिवानृतम्।।" शान्ति पर्व २६३/६।।

है–"इसलिए युक्ति से सिद्ध वेदादिप्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ का अनुसरण करने वाला उनमें कहा गया विनियोग ग्रहण करने योग्य है।"[५०६]

इससे स्पष्ट है कि वे शाखा-ब्राह्मण-श्रौत सूत्र और पूर्व मीमांसा में कहे गए युक्ति-विरुद्ध, वेदादि प्रमाणों के प्रतिकूल और मन्त्रार्थ के विपरीत मन्त्रार्थ का अनुसरण न करने वाले विनियोग का स्वामी दयानन्द सरस्वती अप्रमाण मानते हैं। यथा

१. **युक्ति विरुद्ध** अश्वमेध में अश्व के साथ राजमहिषी का समागम यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि का स्त्रियों और कन्याओं से अश्लील सम्भाषण।[५०७]

२. **वेदादिप्रमाणों के प्रतिकूल, वेद में** गौ, अश्व, अवि पुरुष आदि की न केवल हिंसा का प्रतिषेध ही किया है, अपितु इनको मारने वालों को गोली से उड़ा देने का आदेश दिया है यथा–

- गां मा हिंसीरदितिं विराजम् "यजु० १३/४३"
- मा गामनागामदितिं वधिष्ट "ऋ०-८/१०१/१५"
- अश्वं जज्ञानं.....माहिंसी: परमे व्योमन। यजु० १३/४४/१
- इमं मा हिंसी: द्विपदं पशुम् (पुरुषम्) "यजु०-१३/४७"

इन प्रमाणों के विषय में यदि यह कहा जाये कि ये वचन यज्ञ से अन्यत्र गो आदि के वध के निषेधक है, यज्ञ में इनकी हिंसा-अहिंसा है, तो यह भी याज्ञिकों के मतानुसार ठीक नहीं हैं। क्योंकि उनके मत में तो सम्पूर्ण वेद यज्ञ के विधान के लिए ही है–"वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः तथाआम्नायस्य क्रियार्थ-त्वात्"।[५०८] अत: ये मन्त्र भी यज्ञों में प्रवृत्त हिंसा के प्रतिषेधक हैं, न कि यज्ञ से अन्यत्र। क्योंकि यज्ञ से भिन्न कर्म का विधान याज्ञिक लोग मानते ही नहीं । तब यज्ञ से अन्यत्र हिंसा-निषेध उपपन्न ही नहीं हो सकता है।

३. मन्त्रार्थ के विपरीत :–

यथा-स्वधिते मैनं हिंसी: कहकर पशु के अंगों को काटना (कात्या. श्रौत-६/६/८)[५०९]

---

५०६. ऋगवेदादिभाष्य भूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में उद्धृत।
५०७. 'शतपथ ब्रा० १३/५/२, कात्यामन श्रौत २०/६/१२-२०।।
५०८. "वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्"।।
५०९. स्वधिते मैनं हिंसी: यजु: ६/१५।

४. **मन्त्रार्थ से अननुसृत**-(जिस विनियोग का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध न होवे):-

यथा- **'दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य'।**[५१०]

मन्त्रगत दधिक्रावन शब्द अश्ववाचक है (द्र०-निरूक्त-२/२९)। इसके एकदेश दधिशब्द का दही वाचक दहधि के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नवग्रह पूजा में विनियुक्त मन्त्रों में नवग्रहों के साथ-शब्दतः भी निर्देश नहीं है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस मन्तव्य का आधार शाखा ब्राह्मण-श्रौतसूत्र और पूर्व-मीमांसा आदि समस्त वैदिक-वाङ्मय को परतः प्रमाण स्वीकार करना है। वे केवल मन्त्र-संहिताओं को ही स्वतः प्रमाण मानते हैं।

याज्ञिक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये यज्ञों की कल्पना :-

संसार का नियम है कि जिस विषय में जनसाधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहार कुशल समझे जाने-वाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं। उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जनसाधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उनका काम बनता रहे। इस नियम के अनुसार जब जनसाधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के लिए अनेक उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की, और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ-होम आदि की सृष्टि की। अधिकतर काम्य और नैमित्तिक यज्ञों के विकार का यही मूल आधार है। आज भी जनता की यज्ञ कर्म के प्रति श्रद्धा का अनुचित लाभ उठानें के लिए दुर्गासप्तशती एवं तुलसी रामायण आदि से यज्ञ कराने की परिपाटी विकसित हो रही है। इस दुष्प्रवृत्ति का प्रभाव (अन्धश्रद्धा को दूर करके वैदिक कर्मकाण्ड को प्रचलित करने का उद्घोष करने वाले) आर्य समाज में भी दिखाई देने लगा है। आर्य समाज में भी कुछ काल से स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा उद्घोषित 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेघपर्यन्त वैदिकयज्ञों के स्थान में वेद-पारायाण, गायत्री महायज्ञ, स्वस्ति याग, शान्तियाग जैसे अवैदिक यज्ञों का प्रचलन बढ़ता जा रहा है।'

---

५१०. दधिक्राव्णो अकारिषम् इत्याग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य। (आश्व० श्रौत ६/१३)

याज्ञिक-प्रक्रिया और वेदार्थ :-

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रदुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृत युग के प्रारम्भ में हुआ और द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। इस ऐतिहासिक तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों की प्रवृत्ति से पूर्व प्रादुर्भूत वेद-मन्त्रों में द्रव्यमय यज्ञों का साक्षात् विधान अथवा उनकी प्रक्रिया का साक्षात् निर्देश निहित नहीं है। वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों के कुछ नाम, उनके साधनभूत कतिपय पात्रों के नाम, और कतिपय क्रियाओं का निर्देश उपलब्ध होता है। उनसे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्यमय यज्ञों, उनके पात्रों एवं क्रियाओं के नाम निर्दिष्ट है। वेदमन्त्रस्थ समस्त यज्ञ, उनके पात्र, और क्रियाएं सृष्टियज्ञों उनके पात्रों एवं कर्मों के ही बोधक हैं। वेद में द्रव्यमय यज्ञों के वर्णन का भ्रम इस कारण होता है कि इन द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक और आध्यात्मिक जगत् की समता के आधार पर की गई है। द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना आधिदैविक जगत् और आध्यात्मिक जगत् की परोक्ष स्थिति को समझने के लिए की गई थी, यह हम पूर्व सोदाहरण विस्तार से दर्शा चुके हैं। इसलिए आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं एवं पदार्थों का वर्णन करने वाले मन्त्रों का गूढ़ अभिप्राय प्रत्यक्षरूप से समझाने के लिए उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञ की तदर्थभूत तत्-तत् क्रियाओं के साथ किया गया इसलिए किस यज्ञकर्म को करते हुए, किस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए, इस सम्बन्ध का बोध कराने वाले वाक्य को विनियोग कहते हैं। विनियोग का अभिप्राय होता है—विनियुज्यतेऽनेन अर्थात् जिससे सम्बद्ध किया जाये।

इस तात्पर्य को सरलता से समझने के लिए हम एक उदाहरण देते है। रामायण में जो चरित्र वर्णन हैं, उनका साक्षात् सम्बन्ध दशरथ राम-सीता, भरत और लक्ष्मण आदि के साथ हैं उनके आधार पर रखे गये नाटकों में दशरथ राम, सीता, भरत और लक्ष्मणादि का जो संवाद निबद्ध किया जाता है, उसका सम्बन्ध भी मूल व्यक्तियों से ही होता है। परन्तु रामचरित्र की परोक्ष घटना को प्रत्यक्षरूप से दर्शाने के लिए जब उस नाटक का अभिनय किया जाता है, तब उसमें राम, सीता भरत आदि के संवाद को जो व्यक्ति प्रस्तुत करते हैं, उन व्यक्तियों के साथ उस संवाद का सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। राम का अभिनय यह व्यक्ति करे और सीता का यह, इस प्रकार उस-उस संवाद के साथ उन-उन व्यक्तियों

को विनियुक्त किया जाता है। अतः जिस प्रकार नाटक करने वाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए, उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का मात्र अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नाटक के पात्रों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक उसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करने वाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिक प्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का 'निमित्तमात्र' है।

यज्ञों के वेदार्थ पर उत्तरकाल में प्रभाण :-

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की वही स्थिति थी, जिसका हमने ऊपर संकेत किया है। इसलिए उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनकी प्रतिनिधिरूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन में समर्थ थे। उत्तर-काल में जैसे-जैसे-यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण वनता गया, और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिक प्रक्रिया तक ही सीमित हो गया अर्थात् "यज्ञार्थं देवाः प्रवृत्ताः" का वाद प्रवृत्त हो गया, और इसकी अन्त्य परिणति मन्त्रानर्थक्य-वाद में हुई।

याज्ञिकवाद की मन्त्रानर्थक्य-वाद में परिणति :-

याज्ञिक-काल में जब वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये, तब कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे, इसलिए वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मणग्रन्थ ही मुख्य बन गये। ब्राह्मणग्रन्थों की मुख्यता यहाँ तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट, लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मणग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि-अर्थवाला माना गयाँ अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पदविशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के

सादृश्य में विनियोग की कल्पना की गई। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः 'तथा वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति कर्णम्' आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आँख मीचकर कर्णवेध में इनका विनियोग कर दिया गया उत्तरकाल में पदैकदेशमात्र के सादृश्य से विनियोग होने लगा। यथा-'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का दधिभक्षण में। तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा-'शन्नो देवी' का शनैश्चर की और 'उद्बुध्यस्व' का बुध की पूजा में।

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे महायाज्ञिक ने स्पष्ट कहा है कि "मन्त्र अनर्थक हैं।" अर्थात् मन्त्रों के यज्ञों में क्रियमाण कर्मों का साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट उत्पन्न होता है।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण हैं कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में विनियोग का ही उल्लेख प्रधानता से मिलता है। इतना ही नहीं ब्राह्मण शब्द का ब्रह्मणां मन्त्राणां व्याख्यानं ब्राह्मणम्' इस मूल अर्थ को तिरोहित करके ब्राह्मण का लक्षण-कर्मचोदका-ब्राह्मणानि, 'विनयोजकं ब्राह्मणम्' मात्र याज्ञिकों ने स्वीकार कर लिया शतपथ से अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक है। अर्थात्-मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिए ब्राह्मणग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन ब्राह्मणग्रन्थों को छोड़कर वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

इस विस्तृत विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुये उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा और जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेद के आधिदैविक वा आध्यात्मिक मुख्यार्थ का ज्ञान कराने के लिए कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित (निरर्थक) बना दिया यास्क, जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्वाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्र विनियोग हो चुका था। उसका परिमार्जन न हुआ,

अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया अतः याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तरकाल में भी करते रहे। हमारा विचार है कि-यदि याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिक प्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलतां और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते।

यज्ञों के नित्य नैमित्तिक और काम्य भेदों में से नित्यत्वेन विहित अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधान्त यज्ञों में यद्यपि उत्तरकाल में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है, तथापि इनमें अनावश्यक रूप से उत्तरकाल में परिवर्धित हुए बाह्य आडम्बरों, वैदिक भावना से प्रतिकूल अंशों, और मन्त्रार्थ के अननुसरित और मन्त्रार्थविपरीत विनियोगों का परिज्ञान हो जाने से इनका परित्याग सुकर है। उत्तरकाल में हुए परिवर्तनों तथा परिवर्धनों के त्याग के पश्चात् ये नित्य श्रौतयज्ञ अपने शुद्धरूप में उपस्थित हो जाते है। परन्तु इन्हीं श्रौतयज्ञों में विहित अजमेध, अश्वमेध, गोमेध और पुरुषमेध तथा इनके विकृतिरूप अन्य पशुयागों की समस्या बहुत ही विकट है। अतः अब यहाँ सामान्यरूप से श्रौत-पशुयागों की मीमांसा करते हैं :-

श्रौतपशुयागों की मीमांसा :-

वेद की उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में स्वतन्त्ररूप से, और अन्य यज्ञों के अवयवरूप पशुयज्ञों का बहुधा उल्लेख मिलता है। पशुयज्ञों पर विचार करने से पूर्व पशुयज्ञों में विहित पशुयज्ञों के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

ऐतरेय-ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में पुरुष अश्व, गो अवि और अज पशुओं का निर्देश मिलता है। इन्हें मेध्य माना जाता है। विचारणीय यह है कि क्या ये पशु लौकिक पशु हैं, अथवा यज्ञ में ये किन्हीं अन्य पशुओं के प्रतीक भूत है। श्रौत-द्रव्यमय यज्ञ स्वयं आधिदैविक सृष्टि यज्ञके प्रतीकात्मक अथवा रूपक वा नाटकरूप व्याख्यान हैं। और द्रव्यमय यज्ञों में प्रयुक्त सभी पात्र वा द्रव्य भी सृष्टियज्ञ गत विविध आधिदैविक तत्त्वों के प्रतीक है। इस दृष्टि से पुरुषमेध, अश्वमेध गोमेध, अविमेध और अजमेध नामक यज्ञ, और उनके द्रव्यरूप पुरुष, आदि पशु भी प्रतीकात्मक ही हैं

पशुयज्ञ ही सृष्टियज्ञ है :-

उदाहरण के लिए हम सब से पूर्व 'पुरुषमेध' को उपस्थित करते हैं।

पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वाँ अध्याय तथा ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का विनियुक्त है। इस सूक्त में श्लेषालंकार से प्राकृतिक विराट् पुरुष और त्रिगुणातीत परम विराट् पुरुष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। हम इस प्रकरण के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जायेगा कि श्रौत पुरुषमेध मे विनियुक्त मन्त्रों मे किस पुरुष का उल्लेख है और उसका मेध क्या है? यजुर्वेद के अ०-३१ का ५वाँ मन्त्र है–

ततो विराड् अजायत विराजो अधि पुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः॥

प्रथम चार मन्त्रों में विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में सर्ग की प्रक्रिया का अति संक्षिप्त वर्णन है। इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकारण के आधार पर करनी चाहिए।

मन्त्रार्थ–उस प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्था रूप प्रकृति से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट से पुरुष उत्पन्न हुआ। उससे उत्पन्न पुरुष अत्यरिच्यत अतिरिक्त खाली हुआ उसने भूमि तथा अन्य पुरो=लोकों को प्रकट किया।

यह मन्त्र का शब्दिक अर्थ है। इसमें प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात् उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया गया है। विराट् शब्द से यहाँ सांख्यकथित महान् अहंकार और उससे उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग या प्रथम देवयुग का निर्देश है। और 'पुरुष' शब्द से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत 'महादण्ड' का।

ऋग्वेद के अदिति सूक्त में कहा है-अदिति-देवों की माता प्रकृति के आठ पुत्र उत्पन्न हुए उनमें सात पूर्व युग में हुए, और आठवाँ मार्तण्ड-मृत-मरण-धर्मानाशवान् अण्ड-दूसरे युग में हुआ। मन्त्र इस प्रकार से है।[५११]

यह वैदिक मार्तण्ड ही महादण्डरूप पुरुष प्रजापति है। इसकी उत्पत्ति महत् अंहकार ओर पञ्चतन्मात्राओं से होती है। जैसे-अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते रहते है; वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसी को वेद में यज्ञ और विश्व कर्मा भौवन अर्थात्-भुवनों का उत्पन्न करने वाला, भी कहा है। जब मार्तण्ड के अन्तः ताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को होता है, तब यह मार्तण्ड सहस्रांशु समप्रभ=हिरणा के

५११. यजु० २४/४०–उव्वट–महीधर–भाष्य।

समान प्रदीप्त होने से 'हिरण्य गर्भ' कहाता है। इसी अवस्था युक्त महादण्ड का वर्णन ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्ता में इस प्रकार किया है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधडेम॥१॥[५१२]

मन्त्रार्थ– वह हिरण्य गर्भ उत्पन्न हुआ आरम्भ में वर्तमान था। वही उत्पन्न हुए लोकों का पति-स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। वह प्रजापति-स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। उस प्रजापति-हिरण्यगर्भदेव के लिए हम अपने हव्य अंश से निर्माण-कार्य करते हैं।

"स जातो अत्यरित्यत पश्चाद् भूमिमथोपुरः। यजु-३१/५।।

अर्थात्-जब विराट् पुरुष महत् अण्ड परिपक्व हो गया, हिरण्यवत् चमकने लगा, तब वह अतिरेचित हुआ। अर्थात् उसके ऊपर के आवरण के भेदन से भीतर निर्मित ग्रह उपग्रह बाहर आये। अतिरेक के समय पहले भूमि और पश्चात् अन्य ग्रह=ग्रहोपग्रह अपनी स्थिति को प्राप्त हुए।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशुंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥[५१३]

अर्थात्-उस यज्ञ संगति करण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ जो 'सर्वहुत' अर्थात् जिसके भीतर वर्तमान प्रकृत्यंश सब हुत हो गये थे, अर्थात् कार्यरूप में परिणत हो गये थे। उससे पृषदाज्य कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश संभृत (धारित) हुआ। और उसी सर्वहुत यज्ञ ने वायव्य=वायु में विचरण करने वाले जो ग्राम्य और आरण्य पशु अर्थात् स्वरूप से दिखाई पड़ने वाले जो लोक-लोकान्तर थे, उनको उत्पन्न किया।

ये वायु में विचरने वाले ग्राम्य पशु समूहरूप से एक स्थान पर स्थित सूर्यरूपी खूंटे में उसकी रश्मियों अथवा आकर्षण रूप रस्सी से बन्धे हुए नियमित

---

५१२. यर्जुर्वेद अ० ३०/२२ के याजिक व्याख्या–महीधर भाष्य।।
५१३. आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः ....प्रोक्षणमायुः। (चिकित्सा स्थान १९/४)

कक्षा में भ्रमण करने वाले कुछ शुक्र आदि ग्रह, और अरण्य पशु स्वतन्त्र विचरण करने वाले धूमकेतु आदि है, भूलोक वासी पशु-पक्षी यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अगले ८वें मन्त्र में कहे उभया=दोनो और दाँत वाले क्षण सामर्थ्य वाले अश्व और एकदंत=एक ओर दांतवाले गौ अज अवि आदि भी लौकिक पशु नहीं है। विस्तारभय से हम इस विषय पर नहीं लिख रहे हैं। (अवि पशु का वर्णन इस निबन्ध में आगे आयेगा) उससे आगे १४ वें मन्त्र में कहा है-जिस सर्वहुत् पुरुष से देवों ने यज्ञ का विस्तार किया है, उसका आज्य=व्यक्ति वा कान्ति का साधन वसन्त था, इध्म=प्रदीपक ग्रीष्म और हव्य शरद् ऋतु थी।[५१४]

आलभते, आलभेत पदों पर विचार :-

हम यहाँ कर्मकाण्ड में अत्यन्त विवादास्पद 'आलभते' पद को स्पष्ट करते हैं। प्रायः समस्त पशुयागों के प्रकरण में आलभते वा आलभेत पदों का ही प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है-प्राप्त करना अथवा स्पर्श करना। उपनयन वा विवाह आदि संस्कारों में जहाँ भी हृदयमालभते आदि प्रयोगों में आलभते का प्रयोग मिलता है, वहाँ सर्वत्र 'स्पर्श करता है' अर्थ ही सर्ववादी-अभिमत है। परन्तु याज्ञिक 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' प्रभृति पशुयाग-विधायक वाक्यों में आलभेत का अर्थ आलम्भनं कुर्यात् (पशु को मारे) ऐसा करते हैं। किन्तु जिन आरण्यक पशुओं-पक्षियों एवं पुरुषो के द्रव्यदेवता विधायक वचनों में आलभते का प्रयोग मिलता है, वहाँ समस्त याज्ञिक आलभते विधि होने पर भी इन्हें मारते नहीं है, अपितु इनका पर्यग्निकरण संस्कार करके उत्सर्जन कर देते हैं, इन्हे छोड़ देते हैं। यथा-

अश्वमेध में-'वसन्ताय कपिञ्जलानाभते, प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन् आलभते' आदि अण्यक पशु-पक्षियों के सम्बन्ध में लिखा है-कपिञ्जलादी नुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान् (कात्या०)। वेद के सभी याज्ञिक भाष्यकारों ने लिखा है।

'तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्या, न तु हिंस्याः' ॥ यजु० २४/४०॥[५१५]

पुरुषमेध में-यजुर्वेद अ० २९ कं० ५ से २२ तक 'ब्रह्मणे-ब्राह्मणम्' (आलभते) इत्यादि से निर्दिष्ट पुरुषों को भी पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया जाता है--कपिञ्जलादिवत् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्' (कात्या) श्रौत)। इसी प्रकरण

---

५१४. तस्माद् यज्ञात्.............ग्राम्पाश्च ये।। यजु० ३१/६/।।
५१५. वायव्यं श्वेतामालभेत भूतिकामः।। तै० सं० २/१/१।।

में ३०/२२ व्याख्यान में याज्ञिक भाष्यकार भी लिखते है--पर्यग्निकरणान्तरम् इदं ब्रह्मणे..................विमुच्योत्सृण्जीति।[५१६]

इन निर्देशों से यह स्पष्ट है कि आरण्य पशु-पक्षियों और पुरुषों को यज्ञ में मारा नहीं जाता है, अपितु देवतोद्देश से उनका त्याग किया जाता है इस कारण यहाँ आलभते का अर्थ हिंसा नहीं है, अपतु इनको स्पर्श करके तत्तद्देवतोद्देश से त्याग करना अर्थ ही इष्ट है।

उक्त विवरणों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आलभते वा आलभेत इत्यादि का याज्ञिकों को सर्वत्र आलभ्भन=मारना अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

आ-लभ और आ लम्भ दो धातुएँ:-

यहाँ पर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि-आ+लम्भ' दो स्वतन्त्र धातुएँ है। इनमें 'आलभ' का अर्थ प्राप्त करना और स्पर्श करना ही है, और आलम्भ का अर्थ मारना है। अर्थ भेद से धातुद्वय के निरूपण के लिए आयुर्वेदीय चरक-संहिता का एक वचन उद्घृत हैं-

"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्ष यज्ञप्रत्यवरकालं.........................प्रोक्षणमापुः।[५१७]

इस उद्धरण में समालभनीयाः और आलम्भाय दो पृथक् पदों का प्रयोग किया है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'श' भिन्न अजादि प्रत्ययों के परे लभेश्च से सम-आङ्पूर्वक लभ से धातु को अनीयर 'प्रत्यय के परे नुम् होकर समालम्भनीया प्रयोग उत्पन्न होता है। आलम्भाय में भी उक्त पाणिनीय नियम से आङ्गपूर्वक लम से घञ् (अ) में नुम् होता है। चरक संहिता के उक्त नुम्रहित 'समालम्भनीया' और नुम् रहित आलम्भाय प्रयोगों से जाना जाता है कि ये दोनों प्रयोग लभ और लभि=लम्भ दो स्वतन्त्र धांतुओं के हैं। उत्तरकाल में जब लम्भ के अधिकांश प्रयोग नष्ट हो गए तो पाणिनि प्रभृति वैयाकरणों ने लम्भ धातु से निष्पन्न भाषा में अल्पावशिष्ट प्रयोगों का लभ धातु में नुम् का आगम करके अन्वाख्यान कर दिया इसी धात्वैक्यकल्पना के कारण आलम्भ धातु का जो अर्थ था, वह, आलभ धातु का समझा जाने लगा। और इसी कारण उत्तरकाल में आलभते आलभेत पदों का अर्थ आलम्भनं कुर्यात्=किया जाने लगा।

---

५१६. अष्टौ पुत्रासो.............................पुनर्मार्तण्डमाभरत्।।८-९।। ऋ १०/७२
५१७. हिरण्यगर्भ...विधेम।ऋ० म० १०, सू० १२।।

लभ और लम्भ के पृथक् अर्थ :-

यतः 'लभ' और 'लम्भ' दोनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् धातुएँ है, अतः इनके अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिए। इस अन्तर की पुष्टि 'चरक' के पूर्वोद्धृत 'आदि काले यज्ञेषु पशवः समालभनीय बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।[५१८] वाक्य में भी होती है। यदि दोनों का एक ही अर्थ होता, तो दो क्रियाओं का पृथक्-पृथक्' निर्देश न होता। काशकृत्स्न धातुपाठ में लभ और लभि=लम्भ के पृथक्-पृथक् अर्थ है; यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

लभ के अर्थ :-

(१) प्राप्ति अर्थ-(क) लभ धातु का अर्थ पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय दोनों धातु पाठों में 'प्राप्ति' लिखा है-'डुलभष् प्राप्तौ'। (ख) काशिका में उद्धृत 'अग्निष्टोम आलम्भः' वाक्य में भी आलभ का अर्थ प्राप्त करना ही है।

(२) स्पर्श अर्थ-पारशकर गृह सूत्र में कहा है कि "दक्षिणां समधि हृदयमालभते ऐसा उपनयन और विवाह प्रकरण में कहा गया है। यहाँ पर आलभेत का अर्थ स्पर्श ही है। इसी प्रकार सुश्रुत कल्पस्थान में आलभेत का अर्थ स्पर्श ही किया है।[५१९]

महीधारादि विद्वानों ने आलभ का अर्थ नियोजन भी किया है।[५२०] लम्भ धातु का अर्थ हिंसा भी है जैसा कि चरक संहिता में कहा है कि-"नालम्भनाय प्रक्रियन्ते स्म"। इस प्रसंग में आलम्भ का अर्थ हिंसा है। कई स्थलों पर आलम्भ का अर्थ स्पर्श भी देखा जाता है। जैसे कि-आश्वलायन गृह सूत्र में आलम्भ का अर्थ स्पर्श अर्थ में आया है।[५२१] इसी प्रकार गौतम धर्मशास्त्र में आलम्भ का अर्थ स्पर्श अर्थ में प्राप्त होता है।[५२२]

लम्भ का अर्थ कठोपनिषद् में तथा निरुक्त में भी प्राप्ति अर्थ में प्राप्त होता है।[५२३]

---

५१८. आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालभम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।। चरक सहिता।।

५१९. आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्।। सुश्रुत कल्पस्थान अ० १ श्लो० १९.

५२०. आलभते नियुनक्ति। महीधर-यजु० भाष्य २४/२०

५२१. कुमारं जातं......पुरा अन्यैरालम्भात्।। आश्व० गृह्य०।।

५२२. स्त्रीप्रेणालम्भने मैथनुशङ्कायाम्।। गौतम धर्म २/२२।

५२३. नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्"।। निरुक्त १/१४
नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यै"।। कठोप० १/१/२५

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि आलभ और आलम्भ दोनों शब्द स्पर्श अर्थ में समान रूप में प्राप्त होते है। परन्तु आलभ का अर्थ कहीं-कहीं हिंसा भी हैं यह सम्भावना है कि अति प्राचीन काल में आलभ और आलम्भ का अर्थ स्पर्श अर्थ में ग्रहण किया जाता हो, मध्यकाल में जब यज्ञों में बलि की अवधारणा हुई होगी तो इस आलम्भ का अर्थ हिंसा के अर्थ में परिवर्तित हो गया होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ पर आङ्ग पूर्वक लभ धातु का प्रयोग प्राप्त होता है वहाँ पर वैदिक काल में प्राप्ति अथवा स्पर्श अर्थ ही ग्रहण किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है। भाषा विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि समय-समय पर धातुओं के अर्थ प्रयोग के आधार पर रूढ़ हो जाते है। जैसे-हन् धातु का अर्थ-हिंसा और गति होता है। परन्तु इस समय में प्रायः हन् धातु काअर्थ हिंसा ही ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञ में प्रयोग होने वाले शब्दों के अर्थों को भी समझना चाहिए। इस विषय में निम्नखिखित प्रयोगों को देखना अपेक्षित है। जितने भी गत्यर्थक धातुएं है उनके तीन अर्थ होते है-ज्ञान, गमन, और प्राप्ति।[५२४] 'घ्नन्ति यज्ञम्' का अर्थ है-यज्ञ की प्राप्ति। इसी प्रकार "सोमंयदभि श्रुवन्ति यज्ञम्"[५२५] का अर्थ सोम को कूटता है अर्थात् रस निकालता है, अथवा यज्ञ को प्राप्त होता है।

पुरुषमेध, अश्वमेध, गोमेध, अविमेध और अजमेध (यज्ञ) :-

इस प्रसंग में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन उपर्युक्त यज्ञों में मेधृ धातु का प्रयोग किया है, इसके दो अर्थ होते है-हिंसा और संगमन। वैदिक साहित्य में आततायियों को छोडकर सर्वत्र हिंसा न करने का आदेश दिया गया है। जैसा कि अथर्ववेद यजुर्वेद, ऋग्वेदादि समस्त वेदों में हिंसा न करने का विधान किया है। यह विधान पशुओं का नाम लेकर अथवा दो पाद, एक पाद, और चार पाद वाले पशु एवं पक्षियों का वध मत करों। इन पशुओं को मारने वाले के लिए प्राणदण्ड का विधान प्राप्त होता है। जैसाकि पुरुष, अश्व और गौ के सम्बन्ध में लिखा है कि-

यदि नो गां हिंसीः यद्यश्वं यदि वा पुरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो वीरहाः।। अथर्व० १/१६/४

५२४. घ्नन्ति वा एतत् सोमं यदभिषुण्वन्ति, यज्ञं वा एतद् घ्नन्ति।। मै० सं० ४/८/३
५२५. गति के तीन अर्थ है—ज्ञानं, गमनं प्राप्तिः।।

अर्थात्-यदि कोई हमारी गाय को मारता है, यदि अश्व को, यदि पुरुष को, तो हम उसे सीसे की गोली से बींध दें। जिससे वह वीरहा हमारे मध्य न रहे। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी पुरुष, अश्व और गौ आदि पशुओं की हिंसा न करने का साक्षात् उल्लेख है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यह अध्याय याज्ञिको के मत में अग्नियचन में विनियुक्त है।

पुरुषादि की हिंसा के प्रतिषेधक यजुर्वेद के मन्त्र इस प्रकार है–

मन्त्र इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्त्रक्षो मेधाय चीयमानः"।। यजु० १३/४७

अर्थात् इस सहस्राक्ष द्विपादपशु की हिंसा मत कर।

मन्त्र अश्वं जज्ञानं सरिरस्य मध्ये।...........अग्ने मा हिंसी परमेव्योमन्।।यजु० १३/४२

अर्थात् बलवानों में बलवान् हिनहिनाने वाले एक शफ (खुरवाले) इस पशु को मत मारो।

मन्त्र गो मा हिंसीरदितिं विराजम्।। यजु०-१३/४३

अर्थात्-अदिति=अखण्डनीया अथवा अंहिस्या, विराट्=पय आदि विविध पदार्थों के देने से प्रकाशमान गौ की हिंसा मत कर।

मन्त्र इमं सहस्त्रं शतधारमुत्सं........। घृतं.........मा हिंसीः परमे व्योमन्।। चजु० १३/४९

अर्थात्-इस सहस्त्र धनार्ह=अत्यन्त मूल्यवान् सैकड़ों धाराओं वाले कूप के समान, मानव के लिए दूध देनेवाली अदिति-अहिंसनीया गौ पशु को मत मारो।

मन्त्र अविं जज्ञानां...........अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।। यजु + १३/४४।।

अर्थात्-उत्पन्न हुई अवि भेड़ की हे अग्नि। हिंसाः मत कर।

मन्त्र इममूर्णायूं वरुणमस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथम जिनत्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।।
यजु० १३/५०।।

अर्थात्-इस अवि की जो वरुण की नाभि है, द्विपाद और चतुष्पाद् पशुओं की त्वचा के समान शीत से रक्षक है और उत्पन्न करने वाले की प्रजाओं में जो प्रथम उत्पन्न हुई है। उसकी हे अग्नि! हिंसा मत कर।

इन उपर्युक्त मन्त्रों के पाठ मात्र से ही यह व्यक्त या प्रतीत हो जाता है कि वेद में पुरुष, अश्व, गौ और अवि की हिंसा वर्जित की है।

पुरुषमेध का वैदिक स्वरूप :–

शुक्ल यजुर्वेद का ३०वाँ और ३१वाँ अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। ३० वे अध्याय के आरम्भ में चार सविता देवता वाले मन्त्र है। उनमें से प्रथम ३ मन्त्रों से आहुतियों का विधान है। इसके पश्चात् ५ वी कण्डिका से २२ वी कण्डिका तक विभिन्न प्रकार के कार्य करने वाले और विभिन्न आकार-प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। आलभेत क्रिया का २२ वी कण्डिका में निर्देश है उसका प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध होकर 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते', 'क्षत्राया राजन्यमालभते' आदि वाक्य बनता है जिसका अर्थ यह है कि ब्रह्म देवता के लिए ब्राह्मण आलभन करें, क्षत्र-देवता के लिए राजन्य का आलभन करें।[५२६] इसी प्रकार पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन अनेक पुरुष सूक्तों में प्राप्त होता है शतपथ ब्राह्मण में पुरुषमेध का निवर्चन इस प्रकार मिलता है कि ये लोक ही पूः अर्थात् शरीर है, यही पुरुष जो पवित्र करता है अर्थात् इस पूर में सोता है, इसालिए वह पुरुष है। जो इन लोकों में अन्न अर्थात् भक्षण करने योग्य रस है वह अन्न भक्षणीय है। जो इसका अन्नमेघ है वही पुरुषमेध हैं जो इस यज्ञ में मध्य पुरुष का आलभन किया जाता है उससे ही पुरुष मेध है।[५२७]

इस संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषमेध में पुरुषों की हिंसा नहीं होती है। कर्म-समाप्ति से पूर्व उन्हें छोड़ दिया जाता है। यतः पुरुषमेध सर्वोत्कर्ष की प्राप्ति के लिए किया जाता है, अतः इस यज्ञ में उन सभी पुरुषों को एकत्रित किया जाता है, जो जिस कार्य के लिए लोक में प्रसिद्ध हैं। पुरुषमेध का यजमान अपने आप को लौकिक पुरुषों से ऊँचा उठावे, इस भावना से वह तुलना अथवा विविध चरित्र विज्ञानं के लिए १८४ प्रकार के पुरुषों को इकट्ठा करता है, और पुरुष मेध के पश्चात् उनसे ऊपर उठाने के लिए वह अरण्य में जाकर तप करता है, अथवा संन्यास ले लेता है। यदि शारीरिक स्थिति के कारण वह अपने को अरण्यवास अथवा संन्यास के योग्य नहीं समझता, तो वह ग्राम

---

५२६. ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमालभते। क० ५-२१

५२७. इमे वै श्लोकाः पूः, अयमेव पुरुषो योऽयं पवते। सोऽस्याँ पुरि शेते तस्मात् पुरुषः। यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधः। तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात् पुरुषमेधः। अथो यदस्मिन् मेध्यान् पुरुषा नालभते तस्मादेव पुरुषमेधः। शतण्थ १३/६/२/१। "इति"

में रहता हुआ ही तपश्चर्या के द्वारा अपने को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है इसी संन्यास का एक प्रकार वेद-संन्यास है। जिसमें ब्राह्मण संन्यास लेकर अपने पुत्र के आश्रय में रहता हुआ तपश्चर्या और वेद का अभ्यास करता है।

पुरोडाश :-

प्राय: पशुयज्ञोंमें पशु आहुति के पश्चात् पुरोडाश पशु देवता के लिए विधान किया गया था। इसका अभिप्राय यह था कि याज्ञिक जन इस पशु-पुरोडाश को छिद्र अपिधान के लिए मानते हैं। उनका कहना है कि जब यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग में जीवित होता है, तब उस पशु के शरीर से जो निकाले गए अङ्गों के छिद्र है, उनकी पूर्ति इस पशु-पुरोडाश से होती है। वस्तुत: यह कल्पनामात्र है। क्योंकि यदि यज्ञ में हुत पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो क्या उसी के प्रभाव से वह सर्वाङ्ग पूर्ण न हो जायेगा? वस्तुत: यह विचारधारा मध्यकाल में, जब यज्ञों में मांस या हिंसा की विधि का प्रारम्भ किया गया तभी अवैदिक परम्परा प्रारम्भ हुई।

स्फोटवाद

सभी सम्बन्धों के दो आधार होते हैं, अत: सम्बन्ध के आधार स्वरूप दोनो सम्बन्धियों के निरूपण के बिना किसी भी सम्बन्ध का निरूपण सम्भव नहीं है। प्रकृत 'शब्दार्थसम्बन्ध' के भी तदनुसार दो आधार हैं।

इस प्रसंग में स्फोटवादी वैयाकरण लोग श्रुयमान् 'श' 'कार' 'औकार और 'विसर्जनीय' इन तीनों ही वर्णों से अतिरिक्त अथ च इन तीनों ही वर्णों से ही अभिव्यक्त होने वाले किसी पदार्थ को ही प्रकृत 'गोशब्द' कहते है। किन्तु सिद्धान्ती मीमांसागण 'ग' 'कार' औकार और विसर्जनीय इन तीनों वर्णों को ही 'गो शब्द' की संज्ञा देते हैं। इस प्रसंग में अपने पक्ष के समर्थन के लिए भाष्यकार ने बृद्धमीमांसक भगवान् उपवर्ष की सम्मति को 'गकारौकारविसर्जनीया: इति भगवानुपवर्ष:' इस वाक्य से उपस्थित किया है।

"गकारादि वर्ण ही 'शब्द' है, तदतिरिक्त कोई 'स्फोट' नाम की वस्तु नहीं है" अपने इस पक्ष का मीमासकों ने दो युक्तियों से समर्थन किया है- (१) प्रत्यक्ष के द्वारा एवं (२) अर्थप्रत्यायकत्व के द्वारा। इनमें प्रत्यक्ष के द्वारा शब्द स्वरूप का प्रतिपादन 'श्रोत्रग्रहणे द्वि' इत्यादि सन्दर्भ से किया है। एवं 'यद्येवमर्थप्रत्यों नोपपद्यते' इस सन्दर्भ से अर्थ प्रत्यायकत्व के द्वारा वर्णों में शब्दत्व का समर्थन किया गया है। (फलत: स्फोट का खण्डन किया गया है।)

श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होनेवाले अर्थ की ही 'शब्द' इस नाम से प्रसिद्धि है।

अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाले 'शब्द' को ही लोग 'वाचक' मानते हैं। कथित गकार, औकार और विसर्जनीय ही श्रोत्रग्राह्य है। तदतिरिक्त एवं इन तीनों वर्णों से अभिव्यक्त होने वाली कोई वस्तु प्रकृत में श्रोत्रग्राह्य नहीं है।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है वह नित्य है अथवा अनित्य है? जैसेकि-"गौरित्यत्र कः शब्द"? भाष्यकार ने यह सन्दर्भ देकर इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्दः शब्दप्रसिद्धा ते च श्रोत्र ग्रहणाः' अर्थात्-श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जो शब्द ग्रहण किया जाता है उसके साथ उसका अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। इस सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि सम्बन्ध किन्हीं दो वस्तुओं में ही होता है। अतः सम्बन्ध के अन्ततः दो आधार अवश्य होते हैं। अतः प्रस्तुत वाच्यवाचक सम्बन्ध के भी दो आधार अवश्य होते हैं। आधार को समझने के बाद आधेय को समझना सुलभ होता है। अतः आधार के निरूपण के बिना आधेय का निरूपण नहीं हो सकता। यदि वर्णों से अतिरिक्त शब्द नाम की कोई वस्तु ही न हो तो उसका सम्बन्ध और सम्बन्ध की नित्यता इनमें से किसी का भी निरूपण नहीं हो सकता। अतः प्रस्तुत शब्दार्थ सम्बन्ध के प्रसंग में शब्द स्वरूप का निरूपण न अप्रस्तुत ही है न ही अप्रयोजनीय है। इसलिए भाष्यकार ने अथ गौरित्यत्र कः शव्यः इत्यादि भाष्यसन्दर्भ लिखा है। 'अथ गौः इत्यादि से सिद्धान्ती कहते हैं कि पहले शब्द के स्वरूप का ही विचार करें कि वह क्या है? अभी शब्दार्थसम्बन्ध का विचार स्थगित रखा जाय।'[५२८]

वैयाकरणों का जो सम्प्रदाय अपने श्रोत्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष में भी 'विसंवाद' अर्थात् भ्रमत्व का आरोप करते है उन्हें स्वयं उत्तर देना व्यर्थ समझ कर ही भाष्यकार ने 'अथ गौ......भगवानुवर्षः' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा वृद्धतम आचार्य भगवान् उपवर्ष के मत का उल्लेख अपने मत के समर्थन के लिए किया है। अर्थात् भगवान् उपवर्ष के मत का उल्लेख परमतख्यापन के लिए नहीं है, किन्तु स्वमत स्थापन के लिए ही है।[५२९]

स्फोटवादी वैयाकरणों ने श्रूयमाण वणों द्वारा अर्थप्रत्यय का होना असम्भव जानकर ही वणों से अभिव्यक्त होने वाले स्फोट को अर्थ प्रत्ययजनक 'शब्द' माना है एंवं वर्णात्मक शब्द में अर्थप्रत्यायकत्व का खण्डन किया है। अतः

---

५२८. आधारात्मनि विज्ञाते सुखमाधेयबोधनम्। तस्यैव तावत् प्रस्तावदथ गौरित्यतोऽब्रवीत्।।१

५२९. प्रत्यक्षेऽपि विसंवादो येषां कः स्वयमुत्तरम्। तेभ्यो दद्यादिति ज्ञात्वा वृद्धानां मतमब्रवीत्।।२

भाष्यकार को चाहिए कि वर्णात्मक शब्द में अर्थ प्रत्यायकत्व की उत्पत्ति दिखलाकर बाद में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा स्फोट का खण्डन करें। किन्तु शब्द की आपत्ति दिखलाकर बाद में अर्थ प्रत्यायन के द्वारा वर्णों में शब्दत्व की उपपत्ति दिखलायी है। भाष्यकार का ऐसा करना क्रम विरुद्ध होने के कारण अनुचित है।

इस उक्त आक्षेप का भाष्यकार उत्तर देते हुए कहते है कि जो वैयाकरण अर्थप्रत्यय के द्वारा स्फोटात्मक शब्द का निरूपण करते हैं, उनकी बात अभी स्थगित रहे। पहले यही देख लिया जाय कि सर्वसम्मत प्रमाण के द्वारा वर्णों में शब्दत्व किस प्रकार उपपन्न होता है। अतः पहले प्रत्यक्ष के द्वारा भाष्यकार ने वर्णों में शब्दत्व की परीक्षा की है।[५३०]

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण वर्णों के शब्दत्व के समर्थन में अक्षम होता अथवा इससे कोई दूसरा हेतु इसके लिए अधिक उपयुक्त होता तो प्रत्यक्ष से भिन्न किसी अन्य हेतु का उपयोग करते। किन्तु सो जब नहीं है तब सर्वप्रमाण ज्येष्ठ प्रत्यक्ष का परित्याग उचित नहीं है।[५३१]

'तस्मात्' श्रोत्रपरिच्छिन्न अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियजनित प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत होने वाले वर्णों से अर्थ की प्रतीति हो या न हो किन्तु उनके शब्दत्व में कोई व्याघात नहीं होता, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत वस्तु को ही लोग 'शब्द' कहते हैं। अर्थ प्रत्ययजनकत्व शब्द का लक्षण नहीं है।

इसलिए श्रोत्रग्राह्य वस्तु में अर्थप्रत्यय की सामर्थ्य न रहने के कारण यदि किसी में स्फोटादि वस्तुओं की कल्पना की जाए, तथापि उसे 'शब्द' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अर्थ प्रत्यय जनकत्व 'शब्द' का लक्षण नहीं है। श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व ही शब्द का लक्षण है।[५३२]

श्रोत्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष के द्वारा परस्परानपेक्ष केवल गकारादिवर्ण ही गृही होते हैं, 'पूर्ववस्तु' अर्थात् गकारादि वर्णों के अवयव गृहीत नहीं होते। इसलिए गकारादि वर्णों के अवयव नहीं है। एवं अपरवस्तु 'अर्थात् गत्व, अत्व, अवयवी, गोशब्दत्व, समुदायत्व एवं स्फोट ये सभी भी श्रोत्र के द्वारा गृहीत नहीं होते। अतः

---

५३०. तत्रार्थप्रत्ययद्वारं कृतं शब्दनिरूपणम्। यैरासतां तु ते तावत् प्रत्यक्षेण परीक्ष्यते।।३।। (मी० श्लो० वार्तिक–'स्फोटवाद')

५३१. प्रत्यक्षं नासमर्थं चार्थेऽवधारिते। न हेतुर्बलवानन्यः परीक्ष्येत यतस्ततः।।४।।

५३२. यदि त्वर्थगतौ शक्तिर्न स्यादस्य ततः पुनः। वस्त्वन्तरं प्रकल्प्येत विना शब्दप्रसिद्धितः।।५।।

श्रोत्र से केवल वर्णों का ही ग्रहण होता है। यही बात भाष्यकार ने 'ते च श्रोत्र ग्रहणाः' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त की है।[५३३]

शब्द के अवयव स्वरूप पूर्ववस्तु की सत्ता नहीं है, क्योंकि थोड़े से प्रयत्न से भी उच्चारण करने पर सम्पूर्ण वर्ण की ही उपलब्धि होती है। ऐसा नहीं होता कि थोड़े से प्रयत्न से उच्चारण करने पर वर्ण के किसी अंश मात्र का ग्रहण होता है, एवं पूर्ण प्रयत्न से उच्चारण करने पर पूर्ण वर्ण का ग्रहण होता है। अतः शब्द के अवयव की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि किसी प्रतिबन्धकवश वर्ण का ग्रहण नहीं होता, तो फिर सम्पूर्ण वर्ण का ही ग्रहण नहीं हो पाता।[५३४]

अवयवों की प्रतीति अवयवियों से अलग भी होती है एवं अवयवी अवयवों से अनुस्यूत देखे जाते हैं। ये दोनों बातें पटस्वरूप अवयवों और तन्तु स्वरूप अवयवों में स्पष्ट देखी जाती है। पट से अलग भी तन्तुओं की प्रतीति होती है एवं पटतन्तुओं से अनुस्यूत भी देखा जाता है। वर्णों का न कोई अवयव ही अलग से सुना जाता है, न वर्ण किसी अवयव से अनुस्यूत ही देखा जाता है। अतः वर्ण का कोई अवयव नहीं है। चूँकि प्रत्यक्ष के द्वारा अवयवों का ग्रहण संभव नहीं है, अतः प्रत्यक्षागृहीत अवयवों की व्याप्ति भी किसी लिङ्ग (हेतु) में संभव नहीं है। अतः अनुमान प्रमाण से भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि हो सकती। वर्णों में सावयवत्व का साधक कोई आगम प्रमाण भी उपलब्ध नहीं है। अतः आगम प्रमाण से भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती। उपमान प्रमाण के द्वारा भी वर्ण के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अज्ञात वस्तु में किसी की उपमा नहीं दी जा सकती।[५३५]

अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि जिस प्रकार विना अवयवों के ही अन्त्यावयव स्वरूप परमाणुओं की सत्ता सिद्ध होती है, उसी प्रकार विना वर्णावयवों के ही वर्णों को सत्ता की उपपत्ति हो सकती है। अतः वर्णावयवों के विना वर्णों की सत्ता अनुपपन्न नहीं है। इसलिए अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी वर्णों के अवयवों की सिद्धि नहीं हो सकती।[५३६]

---

५३३. परस्परानपेक्षाश्च श्रोत्रबुद्ध्या स्वरूपतः। वर्णा एवावगम्यन्ते न पूर्वापरवस्तुनी।।६।।

५३४. अल्पीयसापियत्नेन शब्दमुच्चरितं मतिः। यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्।।७।। (मी० श्लो० वा० 'स्फोटवाद' ५-६)

५३५. तेषामनुपलब्धेश्च न ज्ञाता लिङ्गसङ्गतिः। नागमस्तत्परश्चास्ति नादृष्टे चोपमा कश्चित्।

५३६. न चाप्यनुपपत्तिः स्याद् वर्णस्यावयवैर्विना। यथान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः।।

पूर्वपक्षी शंका करते हुए कहता है कि प्रत्यक्ष के विषय घटादि सावयव ही होते हैं, वर्णों का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रत्यक्ष के विषय वर्णों में भी सावयवत्व की सिद्धि इस अनुमान से ही हो सकती है-'वर्णः सावयवः प्रत्यक्ष विषयत्वात् घटादिवत्'।

भाष्यकार ने समाधान किया है कि यह अनुमान शुद्ध नहीं है, क्योंकि रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु वे सावयव नहीं है, अतः कथित प्रत्यक्षविषयत्व हेतु गुण में व्यभिचरित है। अतः प्रत्यक्षविषयत्व हेतु से सावयवत्व का अनुमान नहीं हो सकता। प्रत्युत व्योम को दृष्टान्त बनाकर 'सावयवत्वेनाज्ञायमानत्व' हेतु के द्वारा वर्णों में निरवयत्व का प्रत्यनुमान भी हो सकता है। अर्थात् जिस प्रकार सावयवत्वेन अज्ञायमान् होने के कारण व्योम निरवयव है, उसी प्रकार वर्णों में भी चूंकि सावयवत्व की बुद्धि नहीं होती है, अतः वे भी निरवयव है। (वर्णाः निरवयवाः सावयवत्वेनाज्ञायमानत्वाद् व्योमवत्)।[५३७]

पूर्वपक्षी ने आपत्ति उठायी है कि यदि गकार एक ही हो तो द्रुत मध्य, विलम्बितत्वादि जो गकार के अनेक भेद हैं, उन भेदों का प्रतिभास नहीं हो सकेगा, यदि गकार को एक ही मानेंगे। अतः गकारादि प्रत्येक वर्ण अनेक है, एक नहीं।

इस पर सिद्धान्तियों का कहना है कि द्रुत-मध्यादि भेद से भिन्न प्रतीत होने पर भी यदि गकार वास्तव में एक नहीं हो तो फिर 'स एवायम्' इस आकार की प्रतीति के द्वारा जो सभी गकारों में एकत्व की 'धी' उत्पन्न होती है, उसकी उपपत्ति तुम्हारे मत से कैसे होगी?[५३८]

गकार द्रुत-मध्यादि भेद से वास्तव में अनेक ही हैं। अतः अभी गकारों में रहने वाले भत्व जाति गोत्व जाति के समान अवश्य है। इस एकजातीयता के कारण ही 'स एवायम् गकारः' इस एकत्वबुद्धि की उत्पत्ति हम लोग मानते हैं। जैसे कि शाबलेयादि गणों में परस्पर भेदों में रहने पर भी अयं गौः अयमपि गौः' इत्यादि गोत्वाजातिमूलक एकत्व की प्रतीति आप लोग भी मानते हैं।

द्रुतगकार व्यक्ति एवं मध्य गकार व्यक्ति इन दोनों भिन्न गकार व्यक्तियों

---

५३७. प्रत्येक्षणावबुद्धश्च वर्णोऽवयवर्जितः।
किं न स्याद् व्योमवच्चात्र लिङ्गं तद्रहिता मतिः।।१४।।

५३८. ननु भेदमतिर्न स्यात् तबाप्येकत्वधीः कुतः।।१५।। मी० श्लो० वा० 'स्फोट'।।

में 'अयं द्रुतगकारः अयञ्च मध्योगकारः' इस द्वाकार की भेदप्रतीति होती है। इस प्रकार गत्व को जाति मानने वाले एवं अनेक गकार व्यक्तियों की सत्ता मानने वाले हम लोगों के मत में एकत्वबुद्धि एवं भेदबुद्धि दोनों की उपपत्ति होती है। क्योंकि हमलोग गकार व्यक्तियों में केवल भेद ही नहीं मानते किन्तु सभी गकार व्यक्तियों में एक गत्व जाति की सत्ता के कारण सभी गकारों को अभिन्न भी मानते है। अतः हम लोगों के मत में 'सोऽयं गकारः' इस बुद्धि की अनुपपत्ति नहीं होती है।[५३९]

'स एवायं गकारः यह प्रतीति चूंकि प्रतयक्ष रूप है, अतः इस प्रतीति में भासित होने वाला एकत्व' 'अपोह' स्वरूप जाति भी नहीं, क्योंकि अपोह है अभाव रूप। अभाव प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हैं, किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण का विषय है। गकार की प्रतीति के समय कथित 'अपोह' का वाचक न कोई शब्द उपस्थित है, न कोई अनुमापक लिङ्ग ही उपस्थित है। अतः शब्द प्रमाण से अथवा अनुमान प्रमाण से उक्त प्रतीति में अपोह का भान नहीं हो सकता।[५४०]

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि गोत्वजाति अपने आश्रयीभूत व्यक्ति से भिन्न है। अथवा अभिन्न? इस विकल्प के द्वारा भावस्वरूप जाति की सत्ता को सर्वथा अस्वीकार करने वाले बौद्ध ही गत्वादि सामान्यों का खण्डन कर सकते हैं। मीमांसक लोग तो शाबलेय गो एवं बाहुलेय गो इन दोनों में पशुत्व से अतिरिक्त गोत्व नाम की जाति इसलिए स्वीकार करते हैं, कि दोनों में 'अयं गौ' इस एक आकार की बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार गकारों में भी शब्दत्वावान्तर गत्व जाति की कल्पना की जा सकती है, क्योंकि सभी गकारों में 'अयंगकारः अयमपि गकारः' इस एक आकार की प्रतीति होती है।[५४१]

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहा है कि जिस प्रकार बौद्धगण व्यक्तिभिन्नत्व एवं व्यक्ति के विकल्प से भाव स्वरूप सभी जातियों का खण्डन करते है, मीमांसाक लोग उस रीति से गत्व सामान्य का खण्डन नहीं करते। हम

---

५३९. सामान्येषु ममैका धीस्तद्व्यक्तिषु च भेदधीः। न हीष्टं भेदमात्रं हि न स्यादेकत्वधीर्यतः॥१६॥

५४०. प्रत्यक्ष विषयत्वाच्च नान्यापोहोऽपि युज्यते।
वाचकश्चात्र लिङ्गं वा न तदानीं प्रतीयते॥१९। मी० श्लो० वा०'स्फोटवाद॥

५४१. गकारादिषु सामान्यं शब्दत्वं कल्प्यते यथा।
गोत्वं च शाबलेयादौ तथैतत् किं न कल्प्यते॥२०॥ मी० श्लो० वा० 'स्फोट वाद'

लोगों का कहना है कि से है कि 'ग' वर्ण में शब्दत्व सामान्य से अतिरिक्त गत्व नाम के किसी सामान्य की उपलब्धि नहीं होती है, अतः शब्दत्वव्याप्य गत्व नाम की कोई जाति नहीं है।[५४२]

'अयं गकारः शब्दः अयमपि गकारः शब्द एवं' इन आकारों की प्रतीतियाँ होती हैं, अतः गकार में शब्दत्व जाति को स्वीकार करते है, जिस प्रकार शाबलेयो गौः, बाहुलेयो गौः 'इत्यादि एक आकार की प्रतीति सभी गोव्यक्तियों में होती है, अतः सभी गोव्यक्तियों में गोत्व नाम की जाति को स्वीकार करते है। अतः शब्दत्व सामान्य एवं गोत्व सामान्य को स्वीकार करना आवश्यक है।

द्रुत गकार; मध्यगकार एवं विलम्बित गकार ये तीनों ही भिन्न गकार व्यक्तियों नहीं है; किन्तु वे सभी गकार एक ही हैं। अतः यहाँ गत्व सामान्य की स्वीकृति आवश्यक नहीं है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार की प्रतीति का प्रयोजक ही सामान्य है।[५४३]

अपूर्व

कर्म के दर्शन का विधान भारतीय दर्शनों में अद्भुत रूप में प्रस्तुत किया गया है। मीमांसादर्शन में अपूर्व का अर्थ यह माना जाता है कि जीवात्मा के सुख-दुःख, भोग, जाति आदि का निर्धारण अपूर्व के द्वारा होता है। अपूर्व का निर्माण श्रेष्ठ कर्म अथवा पापयुक्तकर्म का प्रतिफल करता हैं। न्याय दर्शन में जो अदृष्ट का कार्य है, मीमांसादर्शन में वह कार्य लगभग अपूर्व का माना जाता है। ऋग्वेद में कहा है कि—यज्ञादि कर्मों से शुभ अपूर्व का अर्थात् सुखादि भोगों का निर्माण होता है। जैमिनि के अनुसार अपूर्व एक अदृष्ट शक्ति है, जो समस्त भोगों पर नियन्त्रण करती है। यह वस्तुतः हमारे कर्मों के द्वारा संचित निधि हैं जैसाकि शाबर भाष्य में कहा है कि बहुत कर्मों से एक अपूर्व होता है, इसलिए यह समुदाय उनसे अदृष्ट की कल्पना करने पर, अवयवों के समुदायों के प्रति अर्थवान् होने से, समुदाय से एक अपूर्व कल्पित होगा। समुदाय शब्द नहीं है,

---

५४२. शाबलेयगकारादीन् निष्पन्नान् व्यक्तिरूपतः।
सामान्यधीनर्गृह्णातीत्पतो जातिरपीष्यते।।२१।।

५४३. न तु द्रतादिभेदेऽपि..........स्फुटा।। तेनैकत्वेन.............उपजायते।।२२।। (मी० श्लो० वा० स्फोटवाद)

अवयव शब्दों से ही समुदाय से युक्त होने से, इसलिए समुदाय ही चिकीर्षत है।[५४४]

शाबर भाष्य में इस विषय में आगे कहा गया है कि प्रतिशब्द अपूर्वका भेद होता है। शब्दान्तर होने पर कर्म भेद होता है। उदाहरण देते हुए कहा है कि 'यज्ञेत्' इससे केवल यज्ञ की कर्त्तव्यता कही जाती है, 'जुहोति' शब्द से कही गयी (होम की) अथवा ददाति शब्द से कही गयी-दान अर्थात् त्याग की भावना मानी जाती है।[५४५]

इसी विषय को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए माना हैं कि शब्द का अन्तर अर्थात् भेद होने पर कर्म का भेद होता है। क्योंकि अनुबन्ध किये होने से अर्थात् भावना रूप प्रत्यार्थ के यज्ञति, जुहोति एवं ददाति का धात्वर्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही विशेष भावना का बोध होता है उसी प्रकार विभिन्न कर्म भेद होने पर भी एक अपूर्व का बोध होता है।[५४६]

भाष्यकार ने अपूर्व को पुनः स्पष्ट करते हुए कहा है कि यजति शब्द पांच बार अभ्यस्त हुआ, क्या एक अपूर्व को उत्पन्न करता है, अथवा क्या प्रति अभ्यास अपूर्व का भेद होता है? शब्दान्तर होने पर पूर्व सूत्र से कर्म भेद कहा है। यहाँ वही 'यजति' शब्द पुनः पुनः उच्चारित होता है। इस कारण यहाँ एक ही अपूर्व होता है। (प्रश्न) अपूर्वान्तर को उत्पन्न न करता हुआ तो अनर्थक होता है। (उत्तर) सत्य ही है कि प्रयोजनरहित होता है। बहुत बार भी उच्चार्यमाण शब्द अन्यार्थ नहीं होता है। जो अर्थ प्रथम उच्चारण में जाना जाता है, सौवीं बार में भी वहीं अर्थ जाना जाता है। और अभ्यास अनर्थक भी नहीं होता है, वह तनूनपात् आदि देवताओं का विधान करेगा। इस लिए एक अपूर्व होता है।[५४७]

आचार्य कुमारिलभट्ट के अनुसार प्रधान कर्म अथवा कर्ता में जो योग्यता होती है, जो कर्म करने से पूर्व नहीं थी अर्थात् जिसका अस्तित्व धर्म शास्त्र तथा

---

५४४. बहुभ्य एकमपूर्वमिति। तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः। ततो ह्यदृष्टे कल्प्यमाने, अवयवानां समुदायं प्रति अर्थवत्त्वात् एकमपूर्वं समुदायात् कल्पितं भविष्यति। मी० शा० भा० पृ० ४४३, अ० २/२

५४५. प्रतिशब्दमपूर्वभेद इति शब्दान्तरे कर्म्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्। यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्त्तव्य (उच्यते। मी. श्लो० वा० अ० २, पा० २ पृ० ४४४)

५४६. शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्।।१।। मी० शा० भा० आ० २, पाद-२, सू० १)

५४७. शब्दान्तरे कर्मभेद उक्तः। इह स एव शब्दः पुनः पुनरुचार्य्यते। तस्मादेकमेवात्राऽपूर्वम्। (मी० शा० अ० २, पाद-२ पृ० ४४४)

कर्म के दर्शन पर आधारित है उसको अपूर्व कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि कर्म के द्वारा उत्पन्न जो निश्चित शक्ति है तथा जो परिणाम तक पहुँचाती है, वह अपूर्व ही है। वस्तुतः अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। यदि इसका अस्तित्व न माना जाये तो सम्पूर्ण कर्म काण्ड तथा वेदमन्त्रों की व्याख्या न हो सकेगी। मनुष्य द्वारा किया गया यह यज्ञ उसके अन्दर एक ऐसी साक्षात् शक्ति का आविर्भाव होता है जो उसके अन्दर अनेक शक्तियों सुखविशेष का भोग उत्पन्न करता है। वास्तव में अपूर्व के कारण ही मनुष्य में शुभ प्रवृत्ति और अशुभ प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जैसा कि महाभारत के आख्यान से परिपुष्ट होता है जिस समय श्री कृष्ण दुर्योधन को यह समझा रहे थे कि "धर्म के अनुसार पाण्डवों को उनकी सम्पत्ति का भाग तुमको देना चाहिए।" उस समय दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को कहा था। कि 'जानामि धर्मं जानाम्याधर्मम्' "परञ्च अधर्मे मम प्रवृत्ति" यहाँ पर यह स्पष्ट है कि दुर्योधन की अधर्म में प्रवृत्ति उसके अपूर्व के कारण ही है।

आचार्य प्रभाकर मिश्र के मतानुसार अपूर्व आत्मा में नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक होने के कारण आत्मा निष्क्रिय है। वह यह स्वीकार नहीं करता है कि अपूर्व कर्म कर्ता के अन्दर एक शक्ति उत्पन्न करता है जो अन्तिम परिणाम का कारण है। यज्ञ से उत्पन्न शक्ति न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है और नहीं अनुमान और धर्मशास्त्र से सिद्ध है। जब कोई भी मनुष्य कर्म कर्ता है तो कारण रूप क्षमता उसके कर्म में ही रहनी चाहिए न कि कर्त्ता में। क्योंकि मीमांसादर्शन में आचार्य बादरि ने माना है कि द्रव्य, गुण और संस्कार में ही शेष शब्द व्यवहृत होता है।[५४८] ऐसा मानते है, याग फल और पुरुष में शेषत्व नहीं मानते। द्रव्य क्रिया के लिए होता है। यदि वह क्रिया प्रयोजनवाली है तो व्यक्त ही उसे द्रव्य से सम्पादित करना चाहिए। उस क्रिया की निष्पत्ति बिना द्रव्य के नहीं होती है। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए द्रव्य एषित्वय होता है। इसलिए द्रव्य क्रिया के लिए है। शुक्लादि गुण कहे गये विशिष्ट द्रव्य को लक्षित करने में समर्थ होते हैं और उस लक्षित से प्रयोजन होता है, विशिष्ट द्रव्य के क्रिया का साधन होने से। इस कारण वह गुण भी द्रव्य द्वारा क्रिया का उपकार करता है, इसलिए क्रिया के लिए है। संस्कार वह होता है जिसके उत्पन्न होने पर पदार्थ किसी प्रयोजन के लिए योग्य होता है। इस कारण वह परार्थ है। इस हेतु से

५४८. द्रव्यगुण संस्कारेषु बादरिः॥३॥ मी० शबर भाष्य, अ० ३, पाद-१)

द्रव्य गुण आदि संस्कार परार्थ होने से शेष भूत है, याग फल और पुरुष शेष नहीं है।[५४९]

आचार्य जैमिनि का इस विषय में मत है कि यज्ञादि कर्म भी शेष भूत् है। इसका अभिप्राय यह है कि आचार्य बादरि के मत को आचार्य जैमिनि नहीं मानते हैं।[५५०] आचार्य जैमिनि स्पष्ट करते हुए कहते है कि याग का कर्त्तव्य रूप से विधान नहीं किया जाता है, उसका विधान तो फल की कामना वाले पुरुष के प्रति फल के साधन अर्थात् उपाय रूप से किया गया है। इस मत को बतलाते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट किया है कि फल का उपदेश भी पुरुष के लिए किया है। मुझे स्वर्ग प्राप्त होवे, ऐसी जो कामना करता है उसके प्रति याग का विधान किया है। जो मुझ को प्राप्त होवे, ऐसा अभिप्राय नहीं है। किस हेतु से? आत्मनेपद का प्रयोग होने से। कर्त्रभिप्राय=कर्ता को प्राप्त होने वाले क्रिया के फल में यह होता है। पुरुष क्रिया के फल को कैसे अनुभव करे, इसके लिए याग किया जाता है। इसलिए फल पुरुष के लिए याग से प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा सुना जाता है। अपनी निर्वृत्ति के लिए नहीं सुना जाता है। इसलिए फल शेषभूत है।[५५१]

आचार्य प्रभाकर के अनुसार प्रयत्न कर्त्ता के अन्दर एक परिणाम उत्पन्न करता है। इसलिए प्रभाकर इसे भी नियोग का नाम देते हैं। क्योंकि वह कर्त्ता के लिए प्रेरक का कार्य करता है। शालिकनाथ ने माना है कि प्रभाकर के इस मत को समझना सरल नहीं हैं।

उद्योतकर ने अपूर्व के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान किया है, क्योंकि यदि अपूर्व को नित्य माना जाय तो मृत्यु सम्भव नहीं होगी, यदि अपूर्व एक ही है तो सभी मनुष्यों के सुख-दुःख एक समान होगें। आचार्य शंकर भी अपूर्व की यह कहकर आलोचना करते हैं कि यह अभौतिक नहीं है, और जब तक यह कार्य नहीं कर सकता, कोई इसे चालित करने वाला न हो।[५५२] यदि यह कहा

---

५४९. तेनापि क्रियायां कर्त्तव्यायां प्रयोजनमिति सोऽपि परार्थः। तस्माद् द्रव्यगुण संस्काराः परार्थत्वाच्छेषभूताः, न तु याग फल पुरुषाः।। मी० शा० भा० अ०३, पाद-१, पृ० ६३६)

५५०. कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्।।४।। मी० शा० अ० ३, पाद-१, सूत्र-४

५५१. फलं च पुरुषार्थत्वात्।।५।। सूत्र-५

५५२. कर्मापेक्षाद् अपूर्वपेक्षाद् वा यथास्तु तथास्तु ईश्वरात् फलम् (शंकर भाष्य ३:२, ४१)

जाये कि ईश्वर अपूर्व सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है तो वेदान्त की भी यही मान्यता है कि ईश्वर कर्म विधान के अनुसार कार्य करता है।

योग :–

योग दर्शन के अनुसार मनुष्य जो-जो कर्म करता है उसका संस्कार उसके चित्त पर पड़ता है। ये संस्कार दो प्रकार के होते हैं–(१)सबीज (२) निर्बीज। समाधि स्थित अथवा जीवन मुक्त व्यक्तियों का जिनका चित्त वृत्ति का विरोध हो चुका है। उनके कर्मों के संस्कार निर्बीज होते हैं। वे किसी प्रकार के फल को उत्पन्न नहीं करते, शेष सभी व्यक्तियों के संस्कार सबीज होते हैं वे किसी न किसी रूप में फल उत्पन्न करने वाले होते हैं। जब योगी प्रसंख्यान द्वारा दग्धबीज कर्माशय को प्राप्त कर लेता है, उस समय वह कर्माशय विपाक योग्य नहीं होता।

न्याय-वैशेषिक :–

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में अपूर्व के स्थान पर अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया गया है। परन्तु इन दर्शनों की मीमांसादर्शन से यह भिन्नता है कि अदृष्ट अचेतन होने के कारण स्वयं फल प्रदान नहीं कर सकता है। मीमांसा की मान्यता है कि अपूर्व ही समय आने पर फल प्रदान करता है। अदृष्ट के अनुसार फल प्रदान करने के लिए ईश्वर क्यों आवश्यक है। इसके लिए न्याय दर्शन में निम्नलिखित उक्तियाँ मिलती हैं–

१. अच्छे कर्म धर्म को जन्म देते हैं जो सुख उत्पन्न करता है। बुरे कर्म अधर्म को जन्म देते हैं जो दुःख उत्पन्न करता है। इस प्रकार सुख-दुःख रूपी फल की प्राप्ति के लिए बाह्य पदार्थों के विशिष्ट संयोजन की आवश्यकता होती है जिसके अपने कारण हैं। ये बाह्य पदार्थ, जो अचेतन है, स्वयं इस रूप में कैसे आ जाते हैं जिससे ये जीवों के उनके कर्मानुसार सुख-दुःख प्रदान कर सकें? आत्माएँ यह काम नहीं कर सकती क्योंकि वे अनेक हैं और भिन्न-भिन्न प्रयोजनों वाली हैं। साथ ही इस प्रकार की सृष्टि रचना में और संयोजन में उनकी सामर्थ्य भी नहीं है। अतः ईश्वर ही यह कार्य कर सकता है। उसी के निर्देशन में यह सम्भव है।

२. चेतन आत्माएँ फल प्रदान नहीं कर सकती क्योंकि उन्हें अदृष्ट का ज्ञान नहीं होता। उलटा अदृष्ट उन्हें प्रभावित करके नियंत्रित करता है। इसके अतिरिक्त आत्मा न्याय-वैशेषिक में स्वरूपतः अचेतन होने के कारण निर्देशक नहीं हो सकती।

३. अदृष्ट अपने आप में अचतेन है और बिना किसी चेतन-सत्ता के निर्देश के फल प्रदान करने में असमर्थ है।

अतः न्याय-वैशेषिक यह मानता हैं कि ईश्वार ही अदृष्ट के अनुसार जीवों को फल प्रदान करता है। इसीलिए वह 'कर्माध्यक्ष' कहा जाता है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या ईश्वर कभी अपनी इच्छा का प्रयोग अदृष्ट से भिन्न फल देने के लिए भी कर सकता है। न्याय-वैशेषिक का उत्तर यह है कि ईश्वर कभी अपनी इच्छा का प्रयोग अदृष्ट से भिन्न फल देने के लिए नहीं कर सकता।

अद्वैतवेदान्त :-

अद्वैतवेदान्त दर्शन में कर्म के नियम को स्वीकार किया जाता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके संस्कार जिन्हें वह "अनुशय" कहता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके संस्कार अन्तः करण पर पड़ते हैं। ये संस्कार इस जन्म के भी होते है और पूर्वजन्मों के भी होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं।

१. प्रारब्ध कर्म :-

ये वे कर्म हैं जिनके विषय में जन्म के आरम्भ में यह निश्चियत होता है कि ये इस जन्म में फलीभूत होंगे।

२. संचित कर्म-जो पिछले जन्मों में एकत्रित हुए हैं और इस जन्म में भी फली भूत नहीं होते।

३. संचीयमान/आगमिन् कर्म :-

जो इस जन्म के कर्मों द्वारा प्राप्त हुए है और कभी आगे फली भूत होंगे। ये कर्म-संस्कार वासनाओं के साथ मिलकर अपने भविष्य में फलीभूत होने का-भविष्य के भोग का और साथ-साथ भविष्य में होने वाले कर्मों और उनके अनुशयों का निर्धारण करते हैं। ये वासनाएं सम्भवतः फल प्राप्ति के लिए अन्तः करण के द्वारा किये गये निश्चय हैं, जो इच्छाओं में परिणत हो जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक कर्म में इन वासनाओं द्वारा निर्देशित होता है।

सुरेश्वर के अनुसार जीवन जब गर्भ-स्थित शरीर में प्रवेश करता है। तभी उसके दुःखों का आरम्भ हो जाता है। यद्यपि यह स्पष्ट कथित नहीं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गर्भ में स्थित स्थूल शरीर का विकास वासनाओं की सहकारिता के साथ कर्म-संस्कारो द्वारा निश्चित होता है। अतः जीव को अपने कर्मों का फल गर्भ में प्रवेश करते ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है।

इसी प्रकार उपनिषदों में भी कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में कर्म के सिद्धानत को स्वीकार करते हुए उसके फल की प्राप्ति जन्म-जन्मान्तर तक स्वीकार की जाती है। ये सभी मान्यताएँ चाहे अपूर्व के रूप ह्रो, अदृष्ट के रूप में और भाग्य के रूप में हो। इन सब का यही अभिप्राय है कि वर्तमान जन्म में जीवात्मा को जो भी योनि, आयु, ओर सुख-दुःख भोग रूप में प्राप्त हुए है। वे सभी इस जन्म अथवा पिछले जन्मों के कर्मों के फलों के रूप में प्राप्त होते हैं।

मोक्षवाद

मीमांसा दार्शन में कर्मकाण्ड का मुख्य रूप में वर्णन मिलता है। सम्भवतः इसलिए ही मीमांसादर्शन के सूत्रों में अथवा उसके शाबर भाष्य में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नहीं मिलता है। इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि मीमांसादर्शन मोक्ष की मान्यता के विपरीत मत रखता है। क्योंकि कर्मकाण्ड से स्वर्ग की प्राप्ति की सिद्धि सर्वत्र इस दर्शन में की गई है। कर्मकाण्ड जब तक निष्काम कर्म को प्राप्त नहीं होता हैं तब तक बार-बार संसार में आना पड़ता है। इसलिए ही मीमांसादर्शन के उत्तरवर्ती आचार्यों ने मोक्ष का वर्णन किया है–

मोक्ष की प्राप्ति, मीमांसा-मत में धर्म-अधर्म के पूर्व नाश द्वारा हो सकती है। धर्म-अधर्म के नाश के लिए मुमुक्षु काम्य और निषिद्ध कर्मों के प्रति तो विरक्त हो जाता है, जिससे उनसे धर्म-अधर्म की उत्पत्ति ही नहीं हो पाती, तथा पूर्वार्जित कर्मों में कुछ को (संचित को) शम, दम, ब्रह्मचर्य आदि सहित आत्मज्ञान द्वारा नष्ट कर देता है और कुछ को भोग द्वारा।[५५३] इस प्रक्रिया में केवल काम्य और निषिद्ध कर्मों का निषेध किया गया है, नित्य और नैमित्तिक कर्मों को किया जाना चाहिए,[५५४] क्योंकि इनके न करने से अधर्म की उत्पत्ति होगी, जिसके भोग के लिए पुनः जन्म लेना पड़ेगा। इस प्रकार मीमांसक-मत में मोक्ष के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक है।

मोक्ष की स्थितिं में आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, और उसके आकस्मिक गुण, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म अधर्म तथा

---

५५३. प्रकरणपंचिका, पृ० ३४१.

५५४. श्लोक वार्तिक, 'सम्बन्धाक्षेपरिहार' ११०.

संस्कार-नष्ट हो जाते हैं। उसका स्वरूप-ज्ञान के आधार होने की शक्ति, सत्ता द्रव्यत्व बने रहते है।[५५५]

कुमारिल भट्ट ने प्रसंग से मोक्ष का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अपूर्व के द्वारा ही याग में स्वर्ग को उत्पन्न करने की क्षमता है, उसी प्रकार 'मनोवृत्ति' के द्वारा ही कर्म बन्ध को उत्पन्न करने में समर्थ है। मोक्षावस्था में कर्म के रहने पर भी मनोवृत्ति के न रहने से पुनः बन्ध नहीं होता है। मोक्ष के समय मन की सत्ता (व्यक्तावस्था में स्थिति) नहीं रहती। अतः उस समय मनोवृत्ति का रहना सम्भव नहीं है।[५५६]

यदि मुक्तावस्था में कर्म को स्वीकार भी कर लें तथापि शरीर और कर्मों से रहित मुक्तात्माओं में से किस मुक्तात्मा का कौन सा मन है यह अलग करके विवेकपूर्वक नहीं जाना जा सकता, क्योंकि शरीरों की विभिन्नता से ही किस आत्मा का कौन सा मन है-यह समझा जाता है। अतः मुक्तात्माओं के मन में बृद्धात्माओं के मन का सांकर्य उपस्थित होगा, जिससे मनोगत कर्मों में भी सांकर्य होगा, अर्थात् किस कर्म से किस जीव को बन्ध होगा-इसका नियमन नहीं हो सकेगा। फलतः वे सभी पूर्व सृष्टियों में मुक्त और बद्ध सभी आत्माओं में समान रूप से बन्ध को उत्पन्न करेंगे।[५५७]

तस्मात् 'अधिकार' शब्द से अभिहित होने वाले कर्मों की अव्यक्तावस्था बन्ध का कारण नहीं है। पूर्वपक्षी ने आपत्ति करते हुए कहा है कि कुछ सांख्यानुयायियों का कहना है कि 'अधिकारो बन्धहेतुः' इस वाक्य मे प्रयुक्त 'अधिकार शब्द से अधिकार की योग्तता' विवक्षित है। विवेकज्ञानी पुरुष में कर्म की अव्यक्त सत्ता के रहने पर भी उनमें 'योग्यता' अर्थात् बन्ध की योग्यता नहीं है। अतः विवेकी पुरुष में मोक्ष की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती। किन्तु उक्त कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि-इस योग्यत्वपक्ष में भी मोक्ष की अनुपपत्ति यथावत् विद्यमान है, क्योंकि योग्यत्व के विवक्षापक्ष में भी अधिकार की सत्ता बनी रहेगी।[५५८]

---

५५५. येऽस्यागमापायिनो धर्मा बुद्धि सुख दुःखेच्छाद्वेष प्रयत्न धर्माधर्म संस्कारास्तान् अपहाय यदस्य स्वं निजं रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते इत्यर्थः।-शास्त्रदीपिका वृ० ५२२.

५५६. मनोवृत्तिरिदानीं तु हेतुर्नास्ति च सा तदा।।९८।। श्लो० वा०

५५७. मनसां सङ्कराच्चापि तदा स्याद् कर्मसङ्करः।।९८। (मी० श्लो० वा० 'सम्बन्धा क्षेप परिहारः)

५५८. तस्मान्नैषोऽधिकाराख्यो..................न युज्यते।।९९।। वही

कहने का तात्पर्य है कि 'चैतन्य' ही पुरुष के भोग की भोक्तृत्व योग्यता है। पुरुष इस योग्यता से कभी भी वियुक्त नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष के स्वरूप के अन्तर्गत है एवं प्रकृति का 'अचैतन्य' ही उसके भोग होने भोग्यत्व की योग्यता है। प्रकृति भी कभी उससे अलग नहीं होगी। चूंकि पुरुष अथवा प्रकृति कभी भी अपनी-अपनी उक्त योग्यता से रहित नहीं होती, अतः तत्त्वज्ञान प्रकृति पुरुष-विवेकज्ञान के बाद भी पुनः बन्ध की आपत्ति यथावत् है।[५५९]

सांख्यशास्त्रियों का कहना है कि कर्म से बन्ध होता है, कर्म अज्ञान से उत्पन्न होता है। विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर अज्ञान विनष्ट हो जाता है। इस प्रकार विवेकज्ञान से नष्ट कर्म के न रहने पर बन्ध स्वरूप संसार का होना संभव नहीं है। अतः विवेकज्ञान के बाद मोक्ष की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। किन्तु शास्त्रियो का यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि विवेकज्ञान के उत्पन्न होने पर कर्म की ही उत्पत्ति प्रतिरुद्ध होगी। किन्तु कर्म से बन्ध का अभाव क्यों होगा?

अर्थात् यदि कर्म से बन्ध होता तो कर्म की निवृत्ति से बन्ध की निवृत्ति होती। किन्तु बन्ध को योग्यतामूलक मानते है, यह योग्यता तो विवेकज्ञान के उत्पन्न होने के बाद भी है ही। अतः आत्मज्ञान के बाद भी बन्ध की आपत्ति का अवसर है ही। यदि यह कहे कि इस रीति से विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता की अनुपपत्ति से कर्म की योग्यता के रहने पर भी विवेकज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति को स्वीकार करते हैं, तो यह कहना सत्य होगा, किन्तु इससे कर्म की योग्यता में बन्ध की कारणता खण्डित होकर कर्म में ही बन्ध की कारणता को लें आवेगी। अतः कर्म ही बन्ध का कारण है, कर्म की योग्यता बन्ध का कारण नहीं है।[५६०]

सांख्याचार्यगण विवेकज्ञान में जो मोक्ष की कारणता की बात करते हैं, वह भी अप्रामाणाणिक है, क्योंकि इन्द्रियादि प्रमाणों के द्वारा विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता सिद्ध नहीं की जा सकती। एवं वेदों से भी सांख्योक्त विवेकज्ञान में मोक्ष की कारणता ज्ञात नहीं होती है।[५६१]

पूर्वपक्षी ने शंका करते हुए कहा है कि 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादि वेदवाक्यों द्वारा जिस आत्माज्ञान का उपदेश किया गया है, 'उसका फल अपुनरावृत्ति'

---

५५९. चैतन्यं योग्यता पुंसः.............................ताभ्यामपगच्छतः।।१००।। वही
५६०. उत्पत्तौ कर्मणां चेष्टमज्ञानं...............फलवर्जनम्।।१०१।। श्लो० वा०
५६१. ज्ञानं मोक्षनिमित्तं च..................चोद्यते।।१०२।। श्लो० वा०

स्वरूप मोक्ष को ही कहा गया है। प्रकृति के 'विवेक' से अर्थात् 'भेद' से युक्त आत्मा का आत्मा प्रकृतितत्संघात्मेभ्यो भिन्न: 'इस आकार का ज्ञान भी आत्मज्ञान' ही है। अत: वह 'आत्मा ज्ञातव्य:' इस वेदवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट हैं, इसलिए सांख्योक्त विवेकज्ञान भी वेद के द्वारा ही मोक्ष के लिए साधन है। सांख्याचार्यों का कथन भी यह ठीक नहीं है, क्योंकि–

'आत्म ज्ञातव्य:' इस वेदवाक्य से मोक्ष के लिए आत्मज्ञान का उपदेश नहीं किया गया है। किन्तु परलोकफलक ज्योतिष्टोमादि कर्मों में प्रवृत्ति के लिए ही आत्मा के उक्त ज्ञान का विधान किया गया है? क्योंकि परलोक फलक ज्योतिष्टोमादि में आत्मा शरीरादि से भिन्न है। इस आकार के आत्मज्ञान के बिना प्रवृत्ति संभव नहीं है। अत: जिस प्रकार अध्ययनविधि दृष्टार्थक है, उसी प्रकार आत्मज्ञान विधि भी दृष्टारर्थक ही है। इसलिए 'आत्मज्ञातव्य:' इस वाक्य को मोक्ष स्वरूप सर्वथा अदृष्ट प्रयोजन के सम्पादक विवेक ज्ञान का विधायक नहीं माना जा सकता है।[५६२]

इस प्रकार 'आत्मा ज्ञातव्य:' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से विहित आत्मज्ञान के द्वारा ज्योंतिष्टोमाादि स्वरूप कर्मों में प्रवृत्ति रास्ते ज्योतिष्टोमादि के स्वर्गादि फल ही (आत्मा ज्ञान से भी) उत्पन्न होते हैं। अपुनरावृत्ति स्वरूप श्रुत फल उससे उत्पन्न नहीं होता। वह वाक्य (न स पुनरावर्त्तते) तो आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिए लिखा गया है। अत: अर्थवाद मात्र है। इस अर्थवाद वाक्य से उत्पन्न आत्म ज्ञान से स्वर्गादि फलों से भिन्न मोक्ष फल की उपपत्ति मानी जा सकती।[५६३]

यदि विवेक ज्ञान से होने वाले 'मोक्ष' को सुख स्वरूप मानें तो सर्वांश में वह स्वर्ग' के समान ही होगा; किन्तु स्वर्ग तो क्षयशील है[५६४], क्योंकि जिन वस्तुओं के कारण होते हैं, अर्थात् जो कारण से उत्पन्न होते हैं, वे अवश्य ही विनष्ट होते है। उत्पत्तिशील सभी घटादि पदार्थ विनाशशील ही होते हैं। अत: सुख स्वरूप भावपदार्थात्मक मोक्ष की उत्पत्ति आत्मज्ञान से नहीं मानी जा सकती।

इसलिए मानना होगा कि चूँकि आत्मा में शरीर का सम्बन्ध ही उसका बन्ध है, अत: शरीरादिसम्बन्धों का अभाव मोक्ष है। फलत: निष्पन्न देहों का ध्वंस एवं भावों देहों की अनुत्पत्ति ही मोक्ष है। शरीरादि चूँकि कर्मजन्य हैं, अत: कर्मों के क्षय से ही मोक्ष की उत्पत्ति होती है, ज्ञान से नहीं।[५६५]

---

५६२. आत्मा ज्ञातव्य:......................लक्ष्यते।।१०३।। श्लो० वा०

५६३. विज्ञाते चासय पारार्थ्ये................फलान्तरम्।।१०४।। श्लो० वा०

५६४. सुखोपभोगरूपश्च यदि................च स:।।१०५।। श्लो० वा०

५६५. नहि कारणवत्.....गम्यते। तस्मात्.........मुच्यते।।१०६।। श्लो० वा०

मोक्ष कों (देहों के प्रागभाव और विनाशस्वरूप) अभावात्मक मानने से ही मोक्ष की नित्यता उत्पन्न होती है। उसको आनन्द स्वरूप भावात्मक मानें तो मोक्ष को नित्य नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि अभाव को किसी क्रिया धात्वर्थ का फल नहीं माना जा सकता। अतः ज्ञान क्रिया से मोक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[५६६]

यदि अभावात्मक मोक्ष ज्ञान स्वरूप क्रिया धात्वर्थ का फल नहीं है, तो उसकी उत्पत्ति किससे होती है? यदि कर्मक्षय से मुक्ति की उत्पत्ति स्वीकार करें तो यह प्रश्न होगा-वह कर्मक्षय ही किस प्रकार किससे उत्पन्न होता है?

इन प्रश्नों का यह उत्तर है कि जो पुरुष अजर, अमर, अनन्त अदुःख स्वरूप आत्मा को देहादि से भिन्न (विविक्त) रूप से देखता है, समझता है, उस पुरुष को देह के सम्बन्ध से विरक्ति हो जाती हैं उस पुरुष का वर्त्तमान शरीर पूर्वकृत कर्मों से होने वाले फलों के उपभोग से विनष्ट हो जाता है। उसकें बाद अनागत कर्मों के अनुष्ठित न होने के कारण दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार विवेकज्ञानी पुरुष को देह का सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है। इस रीति से विवेकज्ञान से युक्त पुरुष को देहसम्बन्ध का अत्यन्ताभाव स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।[५६७]

हम अज्ञानी लोगों के शरीर की उत्पत्ति कर्म धर्माधर्म से होने वाले सुख-दुःख के उपभोग के लिए ही होती है, अतः शरीर के प्रधान कारण हैं धर्माधर्म स्वरूप कर्म। इसलिए आत्मज्ञानी पुरुष के धर्माधर्म जब विनष्ट हो जाते हैं तो अन्य कारणों के रहने पर भी उन्हें पुनः शरीर का परिग्रह नहीं करना पड़ता।[५६८]

इसलिए मोक्ष चाहने वाले को केवल उक्त आत्मज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, किन्तु काम्य और निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से सर्वथा विरत रहकर, क्योंकि काम्य और निषिद्ध कर्म ही अपने फलों के उपभोग के लिए शरीर को उत्पन्न करते हैं। नित्य और नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहना चाहिए, क्योंकि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पूर्वकृत धर्मों का क्षय होता है। 'उपासनात्मक इस आत्मज्ञान से कर्मों का नाश होता है, इस वस्तुगति को

५६६. न ह्यभावात्मकं मुक्त्वा..................फलमिष्यते।।१०७।। श्लो० वा०
५६७. तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये। उत्तरप्रचयासत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः।।१०८।। श्लो० वा०
५६८. कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते। तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते।।१०९।। श्लो० वा०

समझाने के लिए भगवान् वासुदेव ने गीता में' ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा यह वाक्य कहा है। सांख्योक्त प्रकृति पुरुष के विवेक 'ज्ञान' के अभिप्राय से उक्त वाक्य में भगवान् ने ज्ञान शब्द का प्रयोग नहीं किया है। अतः सांख्योक्त विवेकज्ञान मोक्ष का कारण नहीं है।[५६९]

पूर्वपक्षी ने आपत्ति अठाते हुए कहा है कि अग्निहोत्रादि नित्य कर्म प्रत्यवाय परिहारजनक होने के साथ-साथ स्वर्गजनक भी तो हैं, फिर नित्यकर्मानुष्ठान से युक्त आत्मज्ञानी को मोक्ष कैसे प्राप्त होगा?

भाष्यकार ने पूर्वपक्षी की आपत्ति का समाधान करते हुए कहा है कि नित्यनैमित्तिक कर्म जब स्वर्गादि फलों की अभिसन्धि के साथ अनुष्ठित होते हैं, तभी वे स्वर्गादि फलों के उत्पादक होने के कारण पुरुषों को संसार में बांधते है। फलाभि सन्धि से रहित होकर अनुष्ठित होने पर वे स्वर्गादि फलों को उत्पन्न नहीं करते। फलाभिसन्धिरहित इन कर्मों के अनुष्ठान के अभिप्राय से ही भगवान् वासुदेव ने 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' गीता में यह वाक्य लिखा है। मोक्षार्थी व्यक्ति को फलाभिसन्धि नहीं रहती। अतः नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान उन्हें आत्मज्ञान में सहायक ही होता है।[५७०]

शरीरसम्बन्ध का यह अभाव आत्मज्ञानी पुरुष को ही होता है। इसलिए आत्मोपासनविधि के बाद 'न स पुनरावर्त्तते' यह वाक्य आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिए लिखा गया है। फलतः यह अपुनरावृत्तिबोध वाक्य चूँकि अर्थवाद रूप है, अतः इससे सीधे आत्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति की बात स्वीकार नहीं की जा सकती है।[५७१]

जिस प्रकार आत्मज्ञान को मोक्ष का कारण बतलाने वाले वाक्य अर्थवाद स्वरूप है, इसी प्रकार "समूचे विश्व का सर्ग-प्रलय एक ही समय होता है" यह बतलाने वाले वाक्य भी अर्थवाद स्वरूप ही हैं, क्योंकि मोक्षार्थी पुरुष यदि केवल इतना ही समझ ले कि शरीर उत्पत्तिविनाशशील है, अतः नित्य आत्मा उससे भिन्न है तो इतना समझने से स्वर्ग मोक्ष प्रभृति की सिद्धि हो जायेगी। इसके लिए समस्त विश्व की सृष्टि और प्रलय के ज्ञान का कोई बहुत बड़ा प्रयोजन नहीं है।[५७२]

---

५६९. मोक्षार्थी न प्रवर्तते.....................प्रत्यवायजिहासया।।११०।। श्लो० वा०

५७०. प्रार्थ्यमानं फलं ज्ञातं न चानिच्छोर्भविष्यति।। श्लो० वा०

५७१. आत्मज्ञे चैतदस्तीति तज्ज्ञज्ज्ञानमुपयुज्यते।।१११।। श्लो० वा०

५७२. सर्गप्रलयविज्ञानं समस्तजगदाश्रयम्। स्वशरीरविदां पुंसां नाधिक्येनोपयुज्यते।।११२।। श्लो० वा०

प्रभाकर के अनुसार मोक्ष के विषय में स्पष्ट किया गया है कि धर्म और अधर्म के विलोप होने का नाम मोक्ष है। क्योंकि इनका व्यापार अर्थात् इस धर्म और अधर्म के अनुसार निरन्तर कर्म करते रहना ही बार-बार जन्म का कारण हैं इसके विषय में कहा है कि समस्त धर्म और अधर्म के विलोप हो जाने के कारण, जो शरीर की समाप्ति है वही मोक्ष है।[५७३] जब किसी व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि संसार में रहते हुए सुख एवं दु:ख से रहित होना सम्भव नहीं है, सुख एवं दु:ख के भोगों के कारण सदैव जन्म होता रहेगा। तब वह मोक्ष की प्राप्ति की ओर अपनी सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करके विहित कर्म तथा निषिद्ध कर्म करना छोड़ देता है। इस प्रकार अनेक जन्मों में मोक्ष के लिए प्रयास करता रहता है। जब पूर्वरूपेण धर्म एवं अधर्म के संस्कार विलुप्त हो जाते हैं तब व शारीरिक जीवन से मुक्ति पा लेता है।[५७४] केवल ज्ञान हमें बन्धन से मुक्ति नहीं दिला सकता है। मोक्ष की प्राप्ति तो कर्मों की सर्वथा समाप्ति से ही सम्भव है। हाँ ज्ञान, पुण्य पाप के संचय को रोकता है। प्रभाकर के अनुयायी तो कर्म को ही मुक्ति प्राप्ति के लिए पर्याप्त नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि जीवात्मा अगले जन्म की आशा में, कि वह उत्तम होगा, निरन्तर विचारता रहता है।

वस्तुत: कुमारिल भट्ट मोक्ष को एक सार्थक रूप में आत्मा के साक्षात्कार को मानता है। यह भी कहता है कि मोक्ष केवल दु:ख से रहित एवं अपने स्वरूप में स्थिति का नाम है।[५७५] कुछ दार्शनिक आनन्दानुभव को मोक्ष कहते हैं। वह तो स्पष्ट रूप में कहता है कि मोक्ष नित्य नहीं हो सकता है।[५७६] पार्थसारथि की मान्यता है कि मोक्ष की अवस्था दु:क्षों से अत्यन्त रूप में वियुक्त हो जाना है। किसी प्रकार की आनन्दादि की प्राप्ति नहीं है। यह वस्तुत: आत्मा को तत्त्वबोध है। आत्मा को प्रत्येक पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। मोक्ष में यह सब नहीं रहते हैं, इसलिए सभी प्रकार की अभिव्यक्तता से रहित होना, चैतन्य की शुद्ध रूप में अभिव्यक्ति को मोक्ष कहा जा सकता है।

---

५७३. आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो नि: शेषधर्मोपरिक्षय निबन्धनो मोक्ष इति सिद्धम्। धर्माधर्मवशीकृतो जीवस्तासु तासु योनिषु संसरति (प्रकारण पं०, तत्व लोक, पृ० १५६)

५७४. 'शमदमब्रह्मचर्यादिकांगोपवृहितेनात्मज्ञानेन'। (पृ० १५७) पूर्व।

५७५. 'परमात्म प्राप्त्यवस्थामात्रम्'। प्रकरणपंचिका पृ० १५७

५७६. चित्तेन स्वात्मसौख्यानुभूति। प्रकरणपंचिका पृ०

आचार शास्त्र

मीमांसादर्शन धर्म प्राप्ति को ही आचार शास्त्र का उद्देश्य मानता है। इसके आचार निषेधात्मक एवं विधेयात्मक रूप में जो कर्म करने चाहिए अथवा नहीं करने चाहिए, वही कर्म आचार युक्त कर्म कहलाते हैं। इसकी विशेष मान्यता यह है कि वेदों के विधि वाक्य है, वे ही कर्त्तव्य कर्म हैं। जैसा कि जैमिनि ने अपने-सूत्र में कहा है कि-जिस प्रकार लौकिक कर्मों का फल परिमाण वाला होता है, इसी प्रकार वैदिक कर्मों का फल भी परिमाण वाला होता है केवल भेद इतना है कि लौकिक कर्मों का फल अल्पकालस्थायी और वैदिक कर्मों का फल चिरकालस्थायी है। और मृत्यु से अतिक्रमण रूप फल का कर्मफल की भांति परिमाण नहीं अर्थात् जैसे कर्मजन्य फलकी लौकिक परिमाण से सीमा है वैसे उसकी नहीं, वह लौकिक परिमाण की सीमा से बाहर होने के कारण असीम है, इसलिए वह कर्मों का फल नहीं हो सकता।

आचार्य शबर ने अपने भाष्य में कहा है कि आचार युक्त कर्म का आधार यज्ञ ही है। वस्तुतः यज्ञ का मुख्याधार "इदन्मम" अर्थात् यह मेरा नहीं है। क्योंकि मनुष्य जब निषिद्ध कर्म करता है तो उन कर्मों का प्रेरक लोभ, क्रोध और मोह माना जाता है। इसका अभिप्रायः यह है कि लोभ, क्रोध और मोह से प्रेरित होकर किया हुआ कर्म आचार युक्त नहीं हो सकता है। इसलिए मीमांसादर्शन में यज्ञमय कर्मों को करने का यह विधान किया गया है। जैसा कि कहा है कि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गः कामः" अर्थात् जो स्वर्ग की कामना करता हो वह यज्ञ करे। यहाँ स्वर्ग शब्द यह ध्वनित करता है कि मनुष्य का अन्तिम ध्येय निःश्रेयस् की प्राप्ति करना है। मीमांसा के अनुसार यद्यपि समस्त यज्ञादि को धर्म कहा है। इसलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो कर्म निःश्रेयस् के लिए, अथवा कल्याण के लिए प्रेरित करते हैं, वे ही धर्म के विभिन्न अङ्ग है। इस विषय में किसी आचार्य ने कहा है कि विहित और निषिद्ध कर्मों का इष्ट-अनिष्ट फल नहीं होता हैं परन्तु मीमांसादर्शन के अनुसार विहित और निषिद्ध फल को न केवल स्वीकार किया है, अपितु उनके दर्शन का मूलाधार विहित और निषद्ध कर्म ही है। जो विहित कर्म हैं वे वस्तुतः सदृगुण है और जो निषिद्ध कर्म है वे आचारहीन कर्म है। इसलिए कहा है कि मनुष्य विभिन्न प्रकार के यज्ञों को करता हुआ सदैव विहित कर्म ही करता रहे। जैसाकि मनुस्मृति में कहा है कि-जो अर्थ विधान किया गया है और जो सनातनी वैदिक पुरुषों के आचरण है वे सब वेदानुकूल

होने से सर्वथा माननीय है क्योंकि वह वैदिक सिद्धान्त होने क कारण सर्वथा बुद्धि पूर्वक हैं, इसलिए वह मनुष्यमात्र के लिए समान है, किसी जाति तथा देश विशेष के लिए नहीं।[५७७]

तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्य पुरुष जिस-जिस देश में रहें उन सब देशों में उनका खान-पान, पहनावा, ध्यान, स्नान, और बोल-चाल तथा कर्म काण्डादि सब व्यवहार समान प्रकार का होना चाहिए जिससे ज्ञात हो जाये कि यह वैदिक है और इनका आचरण मनुष्यमात्र को अनुकरणीय है।

मीमांसा इस बात पर जोर देता है। कि यज्ञ करने से संस्कार बनते हैं वे संस्कार जीवात्मा को आचार युक्त कर्म करने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। इसके लिए मीमांसा में विभिन्न देवताओं की स्तुति का विधान किया है। देवताओं की स्तुति का अभिप्रायः यह प्रतीत होता है कि उन देवताओं के गुण उस यजमान के अन्दर समाहित हो जाये। जैसे कि विष्णु की व्याख्या करते हुए अनेक आचार्यों ने विष्णु एवं प्रजापति को विविध रूपों में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विष्णु देवता को उपांशु धर्मवाला कहा है। परन्तु हमें उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में ऐसा कोई वचन उपलब्ध नहीं हुआ, जिससे विष्णु की उपांशुत्वधर्मता जानी जाये। भाष्यकार ने भी अगले 'तस्मात् यत्किञ्चित्०' वाक्य में प्रजापति देवता के ही उपांशुत्व धर्म का प्रतिपादन किया है। इतना ही नहीं, विष्णु की प्राप्ति के लिए आगे मन्त्रसमाम्नान का निर्देश किया है। भट्ट कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक में विष्णु के उपांशु धर्मत्व का उल्लेख नहीं किया है। मीमांसा (१०/८) के धर्मोद्वा प्रजापति सूत्र (५१) तथा विष्णुर्वा स्याद् धौत्राम्नानात् सूत्र (५३) में दोनों की पृथक् हेतुओं से उपस्थिति कही है। इन कारणों से विदित होता है कि प्रकृत भाष्यपाठ भ्रष्ट हुआ है। यहाँ केवल 'उपांशुधर्मो हि प्रजापतिः' इतना ही पाठ होना चाहिए। प्रजापति का उपुांशधर्मत्व 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' के रूप में अनेक स्थानो पर निर्ष्टिष्ट है।[५७८]

तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यम्०—इस वचन से भाष्यकार ने उपांशुत्व निर्देश से प्रजापति देवता की उपस्थापना की है। कुमारिल भट्ट को यह भी इष्ट नहीं है। वे लिखते हैं—'तस्माद् यत्किञ्चित् प्राजापत्यम्' यह भी अयुक्त है। वचन के द्वारा अभिव्यक्त अर्थ के विपर्यास होने से। यह वचन जो उपांशु है, वह प्रजापति

---

५७७. अपि वा सर्वधर्मः स्यत्तन्न्यायत्वा द्विधानस्य।।१६।। प्रथम अध्याय-, तृतीय पाद
५७८. ऐ० ब्रा० ६/३०, तै० ब्रा० १/३/८, शत० ब्रा० १/१/१३, तां० ब्रा० १८/६/८.

देवतावाला है' इस अर्थ को नहीं कहता। तो क्या कहता है-जो प्राजापत्य है, वह उपांशु होता है। इसलिए उपांशुधर्म से प्रजापति की प्राप्ति नहीं होती है" कुमारिल भट्ट का यह कथन युक्त है। ब्राह्मण वचनों को बिना प्रकरण के जाने उद्धृत कर देने से प्राय: अर्थ का अनर्थ हो जाता है। हम यहाँ एक वचन को उद्धृत करके इस विषय को स्पष्ट करते है-शतपथ का एक वचन है[५७९] यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म:। इस वचन को प्राय: बड़े-बड़े विद्वान् 'यज्ञ' शब्द के अर्थ-निर्देश के लिए प्रयोग करके कहते है कि-जो भी श्रेष्ठतम कर्म है वह सब यज्ञ है। परन्तु शतपथ में यह वचन यजु (१/१) मन्त्र में प्रयुक्त-'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' की व्याख्या के लिए लिखा गया है। यजुर्वेद के उक्त 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' से तो मानव को श्रेष्ठ ही नहीं, श्रेष्ठों में से भी चुनकर श्रेष्ठतम कर्म करने का आदेश दिया गया है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य ने द्रव्य-यज्ञविषयक मन्त्र व्याख्या के सन्दर्भ में श्रेष्ठतम कर्म का अभिप्राय यज्ञ कहा है। एक प्रकार से-शतपथकार ने मन्त्रस्थ विस्तृत अर्थ के वाचक श्रेष्टतम कर्म को द्रव्यमय यज्ञ तक संकुचित कर दिया है। अत: अर्थबोधक ब्राह्मणवचनों का निर्देश करने से पूर्व प्रकरण को देखना और विचार करना अत्यावश्यक है। अन्यथा अर्थ के विपर्यय अथवा अर्थ के अनर्थ हो जाने की सम्भावना रहती है।

मीमांसादर्शन में विधि और निषेध के द्वारा शुभ कर्म करता हुआ एवं अनेक प्रकार के यज्ञों को करता हुआ अपनी आत्मा को शुद्ध करता है, इसका विधान किया गया है। जैसा कि कहा गया है कि 'सत्यंवद' वाक्य में सत्य भाषण का विधा न पुरुष याग के उद्देश्य से और नानृतं वदेत् में मिथ्या भाषण निषेध का विधान प्रकृत भाग के उद्देश्य से किया गया है और जिसका विधान जिसके उद्देश्य से किया जाता है, वह उसी का अङ्ग होता है, दूसरे का नहीं, यह नियम है। अङ्ग, धर्म, यह दोनों पर्याय शब्द हैं। सत्यभाषण का विधान पुरुषमात्र के उद्देश्य से होने के कारण सत्यभाषण पुरुष मात्र का और याग के उद्देश्य से विधेय होने के कारण अनृतभाषण निषेध प्रकृत याग का ही धर्म हो सकता है। यागमात्र किंवा पुरुष मात्र का नहीं, इसी प्रकार जिन धर्मों के आश्रय धर्मियों का परस्पर भेद है या यों कहो कि जो धर्म भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से विधान किये गये हैं, उनमें कोई किसी का अनुवाद नहीं हो सकता।[५८०]

---

५७९. यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म:। (शतपथ ब्रा० १/७/१/५)
५८०. विधिर्वा संयोगान्तरात्।।१३।। मी० अध्या० ३, पाद-४

तात्पर्य यह है कि पूर्व वाक्य द्वारा पुरुष के अङ्ग रूप से सत्य भाषण प्रथम प्राप्त होने पर भी याग के अङ्ग रूप से प्रथम प्राप्त नहीं है और जो जिस रूप में प्रथम प्राप्त नही है, उसका वाक्यान्तर से विधान हो सकता है। अनुवाद नहीं, क्योंकि प्रथम प्राप्त स्थल में ही वाक्यों के परस्पर अनुवाद्यानुवादकभाव का नियम है, इसलिए "नानृतं वदेत्" वाक्य प्रकृत याग के अङ्ग अनृतभाषण निषेध का विधायक है, प्रथम प्राप्त सत्यभाषण का अनुवादक नहीं।

सार यह निकलता है कि "सत्यंवद" वाक्य सत्य भाषण को पुरुष का धर्म कथन करता है कि पुरुष को सर्वदा सत्य भाषण करना चाहिए और "नानृतं वदेत्" वाक्य अनृतभाषण के निषेध को प्रकृत याग का धर्म विधान करता है कि उक्त याग के अनुष्ठान काल में अनृतभाषण न करना चाहिए, प्रथम विधि वाक्य के उल्लङ्घन करने से पुरुष प्रत्यवायी और द्वितीय के उल्लङ्घन से याग विगुण हो जाता है, प्रत्यवायी होने का फल भावी अनिष्ट की प्राप्ति और विगुण होने का यागफल की अप्राप्ति फल है, इस प्रकार दोनों वाक्यों का बहुत भेद होने से प्रथम वाक्य को द्वितीय वाक्य का अनुवाद मानना ठीक नहीं किन्तु प्रकृत याग की विगुणता के निरासार्थ विधि मानना ठीक है, इस लिए सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य अनुवाद नहीं विधि है।

इसी प्रकार अतिथि-यज्ञ में मांसादि को अकर्म कहा है। पञ्चमहायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथि यज्ञ और बलिवैश्वदेव यज्ञ आते हैं। मध्यकाल में तान्त्रिकों के प्रभाव से यज्ञों में बलि देने अथवा पुरोडाश आदि में मांस आदि का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। वैदिक परम्परा के अनुसार हिंसा करने बलि एवं मांस खाने का विधान नहीं है। किन्हीं प्रसंगों में जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि इसका विधान किया गया हो, वहाँ अर्थवाद के द्वारा वैदिक अर्थ करना चाहिए। जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे कहा गया है कि-एतद् वा उ-स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्"[५८१]

यह जो प्राकृत पुरुषों को अत्यन्त स्वादु अधिगव-शुद्धि से पूर्व सूतक अवस्था में होने वाला गौ का क्षीर-दूध तथा सब प्रकार का मांस है, वह कदापि न खाये, यह उदाहरण वाक्य है। इससे 'नाश्नीयात्' पद से पूर्व विहित अशननिषेध का अनुवाद किया है किं वा मनुष्य मात्र को अधिगव क्षीर तथा मांस मात्र के अशन का निषेध विधान किया है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है।

५८१. एतद् वा.................................नाश्नीयात्।। अथर्व०-९/३/६/९.

पूर्वपक्षी का यह कथन है कि अतिथि यज्ञ के प्रकरण में जो अधिगव क्षीर तथा मांस मात्र के अशन का निषेध किया है वह नित्य प्राप्त का अनुवाद है; क्योंकि उक्त निषेध का पूर्व वाक्य से विधान पाया जाता है अर्थात् तृतीय अनुवाक के द्वितीय तथा तृतीय सूक्त में "यो विद्याद् ब्रह्म" इत्यादि मन्त्रों के अतिथि तथा अतिथि को अन्न आदि देने की प्रशंसा करके चतुर्थ सूक्त में अतिथि से प्रथम भोजन करने के दोषों के वर्णन कर "एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तात्पूर्वो नाश्नीयात्" अथर्व०[५८२]। अशितावत्यतिथावश्नीयात् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्ब्रतं"।।८।।[५८३]

जो साङ्गोपाङ्ग वेदों को जानता तथा वेदोक्त धर्म का प्रचार करता है उसको अतिथि कहते हैं, उससे पहले न खाये, उसके खा लेने पर आप सकुटुम्ब खाये, क्योंकि ऐसा करने से अतिथि यज्ञ सप्राण तथा पूर्ण हो जाता है; यह गृहस्थ का धर्म है, इत्यादि मन्त्रों से प्रथम भोजन का निषेध किया है। भोजन, अशन, खाना, यह सब पर्याय शब्द हैं। इसी पूर्वोक्त निषेध का अश्नीय पदार्थों के मध्य अधिगव क्षीर तथा मांस का उपन्यास करके "नाश्नीयात्" पद से अनुवाद किया है। जिससे उनके प्रथम अशन का निषेध पाया जाता है सर्वदा अशन का नहीं।

तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य पदार्थ अशन के लिए प्रथम प्राप्त है वैसे ही अधिगव क्षीर तथा मांस भी प्राप्त है, अतिथि से पूर्ण अन्य पदार्थों के अशन का निषेध करने पर भी उक्त दोनों के प्रथम अशन के निषेध का परिज्ञान नहीं हो सकता और अतिथि से पूर्व सर्व पदार्थो के अशन का निषेध अभिप्रेत है, इसी अभिप्राय के स्पष्टार्थ "नाश्नीयात्" पद से पूर्वविहित निषेध का अनुवाद करके अधिगव क्षीर तथा मांस का उपन्यास किया गया है। इस लिए उक्त वाक्य पूर्वविहित निषेध का अनुवाद है अपूर्वविधि नहीं है।

पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि उक्त वाक्य अनुवाद नही किन्तु विधि है, क्योंकि पूर्व प्रकरण का विच्छेद करके उक्त वाक्य पढ़ा गया है। अर्थात् अतिथि से पूर्व भोजन के निषेध का प्रकरण 'तद्ब्रतं' पर्यन्त ही समाप्त हो जाता है और समाप्त हो जाने के कारण उसका उक्त वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध के न रहने से उसको प्रकृत निषेध का

---

५८२. एष वा..............................नाश्नीयात्।। अथर्व० ९/३/६/७.
५८३. अशिताव.....................तद्ब्रतं"।।" "--/८.

अनुवाद भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक प्रकरण में पठित वाक्यों का ही परस्पर अनुवाद्यानुवादकभाव नियत है, भिन्न प्रकरण पठित का नहीं।

तात्पर्य यह है कि यदि पूर्वविहित निषेध का अनुवाद उक्त वाक्य में अभिप्रेत होता तो 'तद्ब्रतं' से प्रकरण का विच्छेद करके उक्त वाक्य का पाठ न किया जाता और 'तद्ब्रतं' से प्रकरण का विच्छेद स्पष्ट है, क्योंकि एक विषय की समाप्ति होने पर ही उसके नियम पूर्वक अनुष्ठानार्थ उपसंहार में प्रायः "तद्ब्रतं" इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है, जैसाकि छान्दोग्योपनिषत् द्वितीयाध्याय के एकादश, द्वादश आदि खण्डों में कहा है कि-"महामना स्यात् तद्ब्रत्म्"- मनुष्य को सर्वदा महामन अर्थात्-गम्भीर होना चाहिए यह उसका नियम कर्त्तव्य है। जैसे इस प्रकरण के अन्त में "तद्ब्रतं" का उच्चारण करके प्रकरण का विच्छेद किया है और इसके अनन्तर पुनः प्रकरणान्तर का उपक्रम किया गया है; वैसे ही अतिथियज्ञ के प्रकरण का भी "तद्रब्रतं" से विच्छेद समझना चाहिए, और उसके अनन्तर प्रसङ्ग संगति से सब मनुष्यों को सर्वदा पालनीय अधिगव क्षीर तथा मांस के अशन का निषेध विधान किया है। यदि अधिगव क्षीर तथा मांस के अशन का निषेध अतिथि से प्रथम ही विवक्षित होता तो अवश्यमेव "तदेवनाश्नीयात्" के अनन्तर "तद्ब्रतं" का प्रयोग किया जाता परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि अतिथि से प्रथम प्राप्त अन्य भक्ष्य पदार्थों के निषेध की भांति अधिगव क्षीर तथा मांस का निषेध नहीं किन्तु उससे विलक्षण है अर्थात् अन्य पदार्थों के अशन का निषेध केवल अतिथि अशन से पूर्वकाल में ही नियम से पालनीय है और अधिगव क्षीर तथा मांस का निषेध सर्वदा पालनीय है।

सार यह निकलता है कि जैसे अन्य भक्ष्य पदार्थो के अशन का विधान वेद में पाया जाता है वैसे अधिगव क्षीर तथा मांस का नहीं, यदि वह भी अतिथि से प्रथम अभक्ष्य तथा अन्न आदि की भांति सर्वदा भक्ष्य होते तो उनके अशन का विधान भी अवश्य पाया जाता, उसके न पाये जाने से सिद्ध होता है कि वह सर्वदा अभक्ष्य हैं। अतएव ऋग्वेद में कहा है[५८४] कि हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! जो मूढ़मति प्राकृत पुरुष मनुष्य, घोड़े, गौ, बैल, बकरा, बकरी, भेड़-भेड़ी, मृग-मृगी, शश-शल्की, आदि जीवों का मांस खाता है तथा भूल से भी हनन

५८४. यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्यायाः भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापिवृश्च॥ ऋग्वेद ८/४/८२१६.

के अयोग्य अर्थात् सर्वदा रक्षणीय गौ के अधिगव क्षीर को खाता है उसका और उसके अनुमन्ता आदि का सिर शस्त्र से काट दे।

उक्त मन्त्र में जो एक वचन "र्शीर्ष" पद का छोड़कर बहु वचन शीर्षाणि पद का प्रयोग किया है वह अनुमन्ता आदि के अभिप्राय से जानना चाहिए क्योंकि वह भी खादक के सामन ही माने जाते हैं जैसाकि मुनस्मृति में[५८५] कहा है कि "हां मार" इस प्रकार की अनमति देने वाला, अङ्गों के काटने वाला हवन करने वाला, मूल्य लेने तथा देने वाला, पकाने वाला, लाकर देने वाला, और खाने वाला, यह आठो समान हिंसक हैं केवल इतना ही नहीं अपितु अथर्व०-में कहा[५८६] है कि जैसे मदिरा, जुआ तथा परस्त्रीगमन महापाप कर्म है और उनमें प्राकृत पुरुषों के मन आसक्त हो जाते हैं, वैसे ही मांस में भी प्राकृत पुरुषों के मन आसक्त होते हैं, और मदिरा आदि की भांति उसका भक्षण भी महान् पाप कर्म है, इस प्रकार लोक वेद उभय निषिद्ध सुरा आदि के साथ मांस का कथन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मांस किसी अवस्था में भी मनुष्य का भक्ष्य नहीं। और सुरा पान करने, जुआ खेलने तथा परस्त्रीगमन करने से जो पाप होता है, मांस भक्षण से भी वही पाप होता है। आर्ष ग्रन्थों में सुरापान आदि के पाप का निरूपण इस प्रकार किया है। कि-

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महाचैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चरँस्तैः।। छा०-५/१०/९

अर्थात्-सुवर्ण की चोरी करने वाला, सुरापान तथा परस्त्री गमन करने वाला, वैदिकोपदेशको की हिंसा करने वाला, और इन चारों का सङ्ग करने वाला, यह पाँचो पतित अर्थात् महापापी होते हैं। मनुमहाराज ने भी कहा है कि-

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वाङ्गनागमः।
महान्ति पातकन्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह।।११/५४

अर्थात्-वैदिकोपदेशकों का हनन, सुरा का पान, चोरी, परस्त्रीगमन तथा ऐसे कुकर्मियो का सङ्ग यह पाञ्च महापाप है, ऐसा निरूपण करने में निःसन्देह

---

५८५. अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रमी। संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्वेतिघातकः।। मनु० ५/५१

५८६. यथामांसं यथा सुरा यथाक्षा परिदेवने, यथापुंसां वृषण्यते स्त्रिया निहनन्यतमेनः। अथर्व ६/७/१

सिद्ध होता है कि सुरापान आदि की भाँति मांस का खाना भी निषिद्ध कर्म होता है उसके करने से पुरुष प्रायश्चित के योग्य हो जाता है। जैसा कि मनु ने कहा है कि-वेद विहित कर्मों के न करने, निषिद्ध कर्मों के करने तथा विषयों में अत्यन्त आसक्त होने से मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य हो जाता है, और जिसके करने से मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य हो जाता है, उसको कदापि भक्ष्य नहीं माना जा सकता और भक्ष्य न होने के कारण उसका निषेध अन्नादि निषेध की भाँति अतिथि से पूर्व मात्र के लिए भी नहीं हो सकता और उसके न होने से वह प्रथम विहित निषेध का अनुवाद भी नहीं हो सकता।[५८७]

तत्त्व यह है कि मांस, यक्ष, राक्षस तथा पिशाच आदि म्लेच्छ जातियों का अन्न है; आर्यों का नहीं, उसके भक्षण का उनके प्रति सर्वदा के लिए निषेध होना आवश्यक है, अतएव मनु ने अ० ११/१५ में कहा है कि–

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।
तद्ब्रह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नताहविः॥ मनु०-११/१५

अर्थात्-मद्य, मांस, सुरा तथा आसव यह चारों यक्ष, राक्षस तथा पिशाचों का अन्न है, वेद विहित हविः-दुग्धपाक, लापसी आदि के खाने वाले वैदिकों को उसका भक्षण कदापि न करना चाहिए। इसलिए अथर्ववेद में भी कहा है कि–

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये कविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ अथर्व०८/३/५/२३

अर्थात्-हे परमात्मन् जो लोग पशु, पक्षी, सरिसृप तथा मनुष्यों का कच्चामांस खाते और भ्रूणहत्या करते है उनको तू नष्ट कर। इस मन्त्र में जो मांस का "आम" विशेषण दिया गया है उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उक्त मन्त्र में केवल कच्चा मांस खाने वालों के नाश की प्रार्थना की गई है, पका हुआ मांस खाने वालों के नाश की नहीं, इसलिए पका हुआ मांस सर्वदा अभक्ष्य नहीं किन्तु अतिथि के अशन से पूर्व-पूर्व ही अभक्ष्य है, क्योंकि कच्चेमांस के निषेध से पके का निषेध स्वयमेव अर्थ से पाया जाता है, उसकी उक्त विशेषण से व्यावृत्ति मानना ठीक नहीं, अतएव उक्त मन्त्र में आममांस में मांस विवक्षित है,

---

५८७. अकुर्वन्विहितं कर्म निषिद्धन्तु समाचरन्। प्रसजँश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ मनु० ४/५।

कच्चा किं वा पका नहीं, और मांस मात्र का होना उचित है, परन्तु वह "तदेवनाश्नीयात्" को विधि माने बिना नहीं हो सकता और प्रकरण का विच्छेद हो जाने से इसका अनुवादक होना असम्भव है, इसलिए सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य पूर्वनिषेध का अनुवाद नहीं किन्तु अपूर्व निषेध की विधि है।

यहाँ इतना विशेष स्मरण रहे कि उदाहरण दिये गये उक्त मन्त्र के आगे के सूक्त में स्थित "स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्चोपहरित यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनावरुनद्धे"।

अर्थात्-जो सद्गृहस्थी पूर्वोक्त नियम "अतिथि से प्रथम कोई पदार्थ न खाना चाहिए" को भले प्रकार जानता हुआ, मांस को देखभालकर अतिथि को भेंट करे उसके भेंट करने से वह पुण्य होता है। जो "द्वादशाह" नामक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान से होता है। इस मन्त्र का प्रमाण देकर जो लोग यह कथन करते हैं कि पूर्व सूक्त में अतिथि से पूर्व भक्ष्य पदार्थों के अशन का निषेध करके इस सूक्त में उसको उक्त पदार्थों को देख भालकर देने का विधान किया है और देयपदार्थों के मध्य प्रथम दुग्ध पश्चात् घृत तदनन्तर शहद का यथाक्रम देना विधान करके उसके पीछे "मांस" का देना विधान किया है, यदि 'मांस' सर्वदा अभक्ष्य होता तो उसका संस्कार पूर्वक देना विधान न किया जाता, परन्तु विधान किया है, इसलिए सिद्ध है कि मांस सर्वदा अभक्ष्य नहीं किन्तु अतिथि से पूर्व काल में ही अभक्ष्य है, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र में 'मांस' शब्द का अर्थ मांस नहीं किन्तु 'मांस' है, जिसको आर्य भााषा में 'माष' अथवा 'उड़द' कहते है, और मांस तथा मांसल दोनों में गुणाों की समता होने से मांस शब्द का प्रयोग हो सकता है, और यहाँ मांस अपने सहचारी ओदनादि कभी उपलक्षण है, इनसे सम्पूर्ण सूक्त का यह अर्थ होता है कि जब कोई वैदिक धर्म का उपदेशक अथवा अन्य कोई योग्य पुरुष गृह में आ जाये तो गृहस्थ को उचित है कि वह मङ्गल शब्दों का उच्चारण करता हुआ सत्कार पूर्वक उसको आसन आदि दे, और भोजन कराकर पश्चात् आप भोजन करे, उससे पूर्व कोई पदार्थ न खाये ओर भोजन के समय दूध घृत, मधु, उड़द, की दाल, भात तथा पानी आदि यह सब भक्ष्य पदार्थ उसके आगे रखकर प्रार्थना करे आप भोजन करें यह आप की भेट है, इस अर्थ का अनुसन्धान करने से यह बुद्धि कदापि उत्पन्न नहीं हो सकती कि उक्त मन्त्र में मांस शब्द मांस का वाचक है, क्योंकि उससे पूर्व दूध, घृत तथा मधु जिन देय पदार्थों के देने का कथन किया है उनका मांस के साथ कोई मेल नहीं और

न हो सकता है। मांसाशी जातियों में यह प्रसिद्ध तथा प्रत्यहं अनुष्ठेय बात है कि मांस के साथ दूध खाया नहीं जाता और वैद्यक ग्रन्थों में भी दूध मांस का इकट्ठा खाना बर्जन तथा नाना प्रकार के रोगों का उत्पादक कथन किया है, अब ध्यान देने की बात है कि जिनका मेल लोक तथा बैद्यक शास्त्र उभय विरुद्ध है उनका अतिथि को देना वेद किस प्रकार विधान कर सकता है, वेद कोई अनाप-शनाप पुस्तक नहीं, वह जगत्पालक परमपिता परमात्मा की पुस्तक है, उसमें ऐसे बेजोड़-तोड़ उपदेश नहीं हो सकते और न सम्भव हैं, फिर न जाने ऐसे अण्ड-वण्ड अर्थ क्यों किये जाते हैं और सरल, शब्दशक्तिलभ्य परस्पर सङ्गत तथा सर्वसम्मत अर्थ का परित्याग क्यों किया जाता है, और उसके ग्रहण में क्यों सिर धुना जाता है। दूध घृत,मधु, दाल, चावल आदि यह सब ऐसे मेल जोल के पदार्थ है कि जिनके अङ्गीकार करने में कोई बुद्धिमान् पीछे नहीं हट सकता और न उसको ऐसे सङ्गत अर्थ के प्राप्त हो जाने पर पुन: लोक, शास्त्र विरुद्ध अर्थ में रुचि हो सकती है, हाँ जो पुरुष मांस का खाना उचित समझते है वह यदि उस प्रकार अर्थ करें तो आश्चर्य तो नहीं ? वस्तुत: मांस शब्द का अर्थ आयुर्वेद ग्रन्थों में फल के गुद्दे के रूप में आता है। क्योंकि यह स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा में हिंसा चाहे किसी रूप में क्यों न हो, वह त्याज्य ही मानी जाती है। यज्ञादि के निमित्त किसी भी प्रकार की विधि में मांसादि का भोजन अथवा चाहे वह पुरोडाशादि क्यों न हो, आचार युक्त कर्म नहीं कहा जा सकता है।

मीमांसा में यह स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है कि वेद का आदेश अथवा वैदिक ऋचाओं द्वारा प्रतिपादित आज्ञाएं प्रत्येक अवस्था में परिपालनीय है। वेद में समस्त प्रकार के आचार शास्त्र की शिक्षा सर्वत्र सूत्र रूप में उपलब्ध हैं वेद के ज्ञान को निर्भ्रान्त माना जाता है, इसलिए कहा है कि सत्कर्म वह है जो वेद विहित है। इसलिए कहा है कि जो स्मृतियाँ वेद-विहित नहीं है वे अमान्य है, उन कर्मों को करना अनिवार्य माना गया है, जिन कर्मों के करने का विधान वेद में किया गया हैं इसलिए कहा है कि धर्म की परीक्षा वेद से सम्भव हैं धर्म वहीं होता है जो जन्म, अथवा अगले जन्म में सुख का साधन हो, वेद की विधि द्वारा प्रतिपादित कर्म ही धर्म है।[५८८]

जैमिनि ने यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि जिस अर्थ को वेद प्रतिपादित करते हैं उसके विपरीत यदि ब्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं तो ब्राह्मण ग्रन्थों के वचन

---

१८८. तस्यनिमित्तपरीष्टिः।।३।। मी० द० सू० १/१/३।।

मान्य नहीं है।[५८९] इसलिए वेदों को स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है। ब्राह्मणादि वेदों के ही व्याख्यान हैं इसलिए वह प्रमाण तो हैं परन्तु वेदानुकूल होने से परतः प्रमाण है।[५९०]

मीमांसादर्शन में नित्य और नैमित्तिक कर्मों का पालन करना इसलिए आवश्यक है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ये आचरणीय कर्म है। क्योंकि उन नित्य-नैमित्तिक कर्मों को मनुष्य यदि नहीं करता है तो पाप का भागी बनता है। जैसे-पञ्चमहायज्ञों का करना इसलिए आवश्यक है; यदि उनकों नहीं करेंगे तो जो हमारे समाज के प्रति, सृष्टि यज्ञ के प्रति कर्त्तव्य है वे पूर्ण नहीं होंगे। जिससे मनुष्य जाति, पाप की भागी होगी। इसलिए कर्त्तव्य कर्मों का करना विशेष पुण्य नहीं हैं, अपितु उनका करना अनिवार्य है।

प्रभाकर के उत्तरवर्ती आचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि कोई कार्य करना, उस कार्य का अभिज्ञान उसके प्रति कर्त्तव्य का भाव, चिकीर्षा-अर्थात् उसको करने की इच्छा, कृतिसाध्यता ज्ञान, चेष्टा और क्रिया ये सभी साधन स्वर्ग एवं मुक्ति ही की ओर ले जाने वाले हैं। मीमांसा के अनुसार ये ही कर्म आचार की सरणीय (सीढ़ी) है। मीमांसा यह भी कहता है कि जो महापुरुष आचरण करते आये हैं उनके अनुसार कर्म करना भी धर्म का पालन करना है। इसलिए मीमांसा का यही भाव रहा है कि ईश्वर अर्पण बुद्धि से यज्ञादि कर्मों को करते हुए निःश्रेयस् का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।[५९१]

"ईश्वर"

भारतीय आस्तिक षड्दर्शन की परम्परा में प्रत्येक दर्शन का एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना जाता है। यह अवधारणा उन आचार्यों की है जो यह स्वीकार करते हैं कि षड्दर्शन परस्पर विरोधी नहीं हैं। ये दर्शन परस्पर अपने-अपने मुख्य विषय का प्रतिपादन करते है। जैसे-सांख्य दर्शन सृष्टि-रचना अर्थात् प्रकृति का वर्णन करता है। न्याय दर्शन प्रमाण एवं आत्मा की सिद्धि का वर्णन करता है। वैशेषिक दर्शन पदार्थ एवं परमाणुवाद का निरूपण करता है। योग दर्शन मुख्य रूप से आत्मासाक्षात्कार विद्या का गहन विवेचन प्रस्तुत करता है। वेदान्तदर्शन ब्रह्म का

५८९. विरोधेत्वनपेक्षयंस्यात्, असति ह्यनुमानम्।।३।। मी० द० सू० १/३/३।।
५९०. हेतु दर्शनाच्च।।४।। मी० दू० सू० १/३/४।।
५९१. ईश्वराप्रणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः।। अर्थसंग्रह।।

विस्तार पूर्वक निरूपण करता है। मीमांसादर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ दर्शन का सूक्ष्म वर्णन करना है। इस प्रकार इन षड् आस्तिक दर्शनों का परस्पर समन्वय किया जा सकता है। कोई भी आचार्य अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करता है तो इसका यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि वह अन्य विषयों का खण्डन कर रहा होता है। इसलिए भारतीय षड्दर्शन को अन्तर्रंग और बहिर्रंग रूप में तीन खण्डों में विभक्त किया गया है :-न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, और वेदान्त-मीमांसा को एक सम्प्रदाय के रूप में माना जाता हैं जबकि वेदान्त और मीमांसा को एक सम्प्रदाय के रूप में माना जाता है। जब वेदान्त और मीमांसा को एक सम्प्रदाय दर्शन के रूप में समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है, तो सम्प्रदाय दर्शन के रूप में समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है तो वेदान्तसूत्र में "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" कहकर ब्रह्मवाद को अपना मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाया है। इसी प्रकार मीमांसादर्शन ने "अथातो धर्म जिज्ञासा" कहकर धर्म अपना मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना है।

मीमांसादर्शन वेद एवं वैदिक-साहित्य को सबसे अधिक प्रखर रूप में स्वतः प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है। वेद में एक ईश्वर का वर्णन बहुत अधिक स्थानों पर प्राप्त होता है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी ईश्वर का वर्णन मिलता है। यहाँ पर एक ईश्वर के विषय में, जो वेदों में वर्णन मिलता है वह प्रस्तुत किया जा रहा है-

१. जो समस्त विश्व का अनुपम स्वामी और अखिल भुवनो का एक पति परमेश्वर हैं इसी परमसत्ता का वर्णन परमपुरुष, सृष्टि का अध्यक्ष देवों का देव तथा ब्रह्म आदि नामों से अनेक मन्त्रों में पाया जाता है।[५९२]

२. जहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है। क्योंकि ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[५९३]

३. विद्वान् ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।[५९४]

---

५९२. पतिर्वबभूयासमो वनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।। ऋग्वेद ६/३६/४.
५९३. सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मण महत्।। अथर्व० १०/८/३७.
५९४. यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्मजनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त सकम्मंतं बृहि कतमः स्विदेवस। (अथर्व० १०. ७. १०)

४. हम लोग अपनी रक्षा के लिए उस ईश्वर की, जो जंगम स्थावर सबका स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उसकी प्रार्थना करते है।[५९५]

५. उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा जताता है।[५९६]

६. हे अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर! आप से भिन्न तथा आप के तुल्य द्यौ लोक और पृथ्वी पर न हुआ है और न होगा हम लोग लौकिक पदार्थ अश्व, हाथी, आदि सवारियों की इच्छा करते हुए तथा दुग्धादि के लिए गायों की इच्छा करते हुए ज्ञान और अन्न बल आदि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना उवं उपासना करते है।[५९७]

७. उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयम्भू आदि विशेषणो से युक्त है।[५९८]

उपनिषदों के नाम वेदानुसार है और प्रायः उसी प्रकार हैं जैसे वेदों में। वेदों में देखा जाता है कि बहुदेवतावाद का खण्डन कर एक ईश्वर की स्थापना की गई है। वेदों की भांति उपनिषदों में यही कहा है कि वह परम ब्रह्म बहुत नामों से कहा जाता है। जैसे-श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, वायु, चन्द्र, अग्नि आदि भी विभिन्न ईश्वर के ही नाम हैं। यह 'ओ३म्' ही अविनाशी ब्रह्म है। यही सबका आलम्बन है।[५९९] इस ओंकार का तप करने से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।[६००] यह 'ओ३म्' अक्षर ही सब कुछ

---

५९५. ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसंगीर्भि सखप्यमृग्मियम्। गां दोहसे हुवे (ऋ० ६-४५-७)
रुचं ब्राह्म जनयन्त्रो...........अमन्वशे।। (यजु० ३१.२१)
ओ३म् ब्रह्म खं ब्रह्म। (यजु० ४०.१७) तमीशानं जगस्तस्थुयस्पतिम्।ऋ० १. ६. १५. ५

५९६. तदेवाग्निस्तदादित्य..............। यजु० ३१. १.

५९७. न त्वां वा अन्यो.............जनिष्यते। अश्वायन्ताम..........हवामहे।। सामवेद ऊ० १. ४. ११.

५९८. स पर्यगाच्छुक्रमकायम्..............................समाभ्यः।। यजु० ४०.

५९९. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम्।। कठोपनिषद् ११२, १६, १७.

६००. स भूयं एन्ध नयौ निगृह्यतद्वदोभयं वे प्रणवेन देहे।। श्वेता० १/१३।।

है। यह सम्पूर्ण जगत् का उपाख्यान है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान में ओंकार ही है।[६०१]

प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि हे सत्यकाम! निश्चित है कि यह ओंकार ही ब्रह्म है इसी को अपर भी कहते हैं।[६०२] फिर तैत्तिरीय० में कहा कि यह सब कुछ 'ओ३म्' ही है।[६०३] जिसे तप ओर ब्रह्मचर्य से जाना जाता है वह ओ३म् ही है।[६०४] वह बिना पैर के चलता है बिना आँखों के देखता है।[६०५] ब्रह्म संसार की सभी वस्तुओं से अति सूक्ष्म है तथा सर्वत्र आकाश के समान व्यापक है। उपनिषदों में ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा है और जीवात्मा को भोक्ता माना गया।

मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट उद्घोषणा है कि दो सुन्दर पैरों वाले पक्षी एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर विराजमान है। एक उस वृक्ष के फलों का आस्वादन लेता है; दूसरा साक्षी के रूप में अवलोकन कर रहा है।[६०६] इस पर दयानन्द जी का अर्थ द्रष्टव्य है-इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है वह वृक्ष रूप संसार में पाप और पुण्य रूप फलों को अच्छी प्रकार भोगता है और दूसरा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।[६०७] इससे अगले मुण्डकोंपनिषद् के ही वचन में स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है। प्रकृति की नाना प्रकार की मोहात्मक शक्ति से मोह अर्थात् राग को प्राप्त हो रहा है जो वीतराग योगी अपने आत्मा को निर्मल कर परमात्मा को अपने से भिन्न साक्षात्कार करता है अतः वह जीवात्मा उसकी अनन्त महिमा और सृष्टि का दर्शन करता है जो शोक से रहित हो जाता है।[६०८] इससे स्पष्ट हो गया कि उपनिषदों में भोक्ता जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इस पर शासन करने वाला ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। ब्रह्म, सर्वत्र, विभु, सर्वशक्तिमान् सृष्टि, रचयिता, पालन कर्त्ता व

६०१. य ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं..............सर्वमोङ्कारएव।।माण्डूक्य० ।।
६०२. एतद्वैसत्याम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः ।। प्रश्नो० ५/२।।
६०३. ओमिति ब्रह्म................।। तैत्तिरीय १/८.११
६०४. तत्ै पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। कठो० १/२/२५।
६०५. अपाणिपादौ जवनो गृहीत परत्य तमाहुरग्रयं पुरुषं महन्तम्।। श्वेता० ३/१९।
६०६. द्वा सुपर्णा सयुजा...........अभिचाकशीति।।मु० उ० ३४।१।१)
६०७. समानो वृक्षे पुरुषौनिमग्नौ.............वीतशोकः।।मु० उ० ३/१/३)
६०८. आचार्य द्विजेन्दनाथ शास्त्री ब्रह्ममुनि, आर्य मुनि का भाष्य है।

संहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला अणु तथा परिछिन्न है। कर्म में स्वतन्त्र, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। प्रकृति अचेतन परिणामी एवं जगत् का उपादान कारण है।[६०९] तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है कि ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा गया है कि जिससे समस्त महाभूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर उसी में रहते है। प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में चले जाते हैं।[६१०]

मीमांसादर्शन में यह तो स्वीकार ही किया जाता है कि देवताओं की स्तुति यज्ञों के माध्यम से ही गई है। वस्तुतः देव एवं देवता का अभिप्राय एक ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों का नाम है। जो बहुदेवतावाद की कल्पना पौराणिक युग से प्रारम्भ होती है वह मान्यता मीमांसादर्शन में प्रकट नहीं होती है। शिव-वरुण, इन्द्र मित्र, प्रजापति और अग्नि आदि सभी नाम उस ब्रह्म की ही विभिन्न शक्तियों के नाम हैं। इसलिए यहाँ पर प्रस्तुत प्रसंग में देव एवं देवता का विवेचन करना अपेक्षित है।। क्योंकि बहुदेवतावाद के विषय में जो विभिन्न मत हैं उनको स्पष्ट किया जा सके। सायणाचार्य के अनुसार यह देवता केवल बाह्य जगत् के विभिन्न तत्त्वों एवं शक्तियों के प्रतीक है।

देवता शब्द पर वैदिक साहित्य के विद्वानों में अत्यधिक मत भेद उपलब्ध है। इसलिए ए० ए० मैकडानल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक माइथालोजी में देव और देवता विषय को लेकर उक्त नामक विस्तृत ग्रन्थ लिखा है। सायणाचार्य के मतानुसार यह देवता केवल बाह्य जगत् के विभिन्न तत्त्वों एवम् शक्तियों के प्रतीक हैं। इस मान्यता के आधार पर चारों वेदों में सैकड़ों प्रकार के देवों की तथा उनकी कथाओं की विस्तृत व्याख्या, अनेक विद्वानों ने की है। भारोपीय देवताओं में द्येवुष् पृथ्वी माता, वर्षा के देवता, सूर्य-चन्द्रमा उषस् अश्विनौ, अग्नि, वायु, जल आदि देवताओं का नाम आता है। इसी प्रकार यह देवमण्डल की कल्पना समस्त विश्व में अनेक प्रकार से प्रख्यात है। अवेस्ता के देवता, ईरानी देवता, पौराणिक देवता और उनकी कथाएँ-इन सबका विश्व की सभी सभ्यताओं व भाषाओं में विपुल साहित्य प्राप्त होता है।

कुछ यूरोपीय विद्वानों ने वैदिक देवताओं को लेकर प्रकृत्ति के पदार्थों की साहित्यिक व्याखाएं प्रस्तुत की है।

---

६०९. यतो वा इमानि भूतानि...........विशन्ति.......।तै० उ० भृगु० अनु० १.
६१०. असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै..............कुरुत।। ते. अ० ब्रह्म० अनु०। मं० १.

देव शब्द का अर्थ इस मान्यता के अनुसार यह माना जाता है कि जैसे अग्नि देवता है। इस भौतिक अग्नि के अतिरिक्त इस अग्नि का एक अधिष्ठातृ देव है जो कि चेतन और अनेक अद्‌भुत शक्तियों का पुंज है, और यह आकाश में स्थित है।

महर्षि दयानन्द इस उपर्युक्त मान्यता का खण्डन स्पष्ट रूप में करते हैं। उन्होंने सायण भाष्य और पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा स्थापित देव मण्डल की मान्यता का स्पष्ट खण्डन किया है। उनकी मान्यता है कि वेदों में इन्द्र, वरुण, मित्र, विष्णु आदि अनेक नामों से केवल एक ईश्वर की स्तुत्ति की गई है। यह सभी नाम केवल एक ईश्वर की विभिन्न शक्तियों और गुणों के द्योतक है। अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए उन्होंने व्याकरण और आर्ष साहित्य का आलम्बन लिया है। इसलिए उन्होनें कहा–"अनेकार्था हि धातवः" शब्दों की मूल धातु के अनेक अर्थ होते हैं। वेदों के वास्तविक अभिप्राय को न समझते हुए पुराण आदि साहित्य में जो अनेक देवताओं की कल्पनाएं की गई हैं वे सब वेदों के वास्तविक अर्थों के विपरीत हैं इसलिए स्वामी दयानन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में ईश्वर के सौ से अधिक नामों की व्याख्या प्रस्तुत की है, जिन्हें कि हम देव मण्डल के अन्तर्गत व्याख्यान करते हैं। यहाँ पर उनकी मान्यता के सन्दर्भ में यह स्पष्ट कहना उचित होगा कि वैदिक शब्दों के अर्थ रूढ़ न होकर यौगिक है। उनके द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के उन नामों की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि "इद्धि"–परमेश्वर्य धातु औणादिक रज् प्रत्यय करने पर इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। ऐश्वर्यशाली होने से परमात्मा इन्द्र है।" यः इन्दति परमेश्वर्यवान् भवति सः परमेश्वरः"। 'वृ' वरणे अथवा वर ईप्सायाम् धातुओं से "उनत्" प्रत्यय करने पर वरुण शब्द की सिद्धि होती है। परमात्मा विद्वान् मुमुक्षुओं को स्वीकार करता है अथवा उनके द्वारा स्वीकार किया जाता है वह वरुण है "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षुन् धर्मात्मनो वृणोति" अथवा यः शिष्टै मुमुक्षुभिर्महात्माभिः व्रियते वर्यते वा सः वरुणः परमेश्वरः।"

परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्यापक होने से ही विष्णु है। "वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः"। परमात्मा सबसे स्नेह करता है इसलिए वह मित्र है। "मिमिस्नेहने से क्त्र' प्रत्यय होने पर मित्र शब्द बनात है।" मिद्यति स्निह्यति वा सः मित्र परमेश्वरः।[६११]

६११. सत्यार्थ प्रकाश, प्रथम समुल्लास, ३१ वां सस्करण अजमेर, १९६६, पृ० :

यद्यापि संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में न्यून से न्यून ३३ या इससे भी अधिक देवों का वर्णन मिलता है।, किन्तु यह केवल व्यवहार मात्र सिद्ध करने के लिए है।"सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देच एक ब्रह्म ही है जो सम्पूर्ण जगत् का कर्त्ता, सर्वोपास्य सर्वाधार सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा है उसी को अनेक विशेषणों से युक्त वेदों में प्रतिपादित किया गया है।[६१२]

देव शब्द की निरुक्ति :-

देव शब्द दा, द्युत्, दीप ओर दिवु इन धातुओं से यास्काचार्यकृत निरुक्त में बताया गया है-

"देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा"

'यो देवः स देवता।' (निरुक्त-७.१५)

ज्ञान, प्रकाश, शान्ति, आनन्द तथा सुख देने वाली सब वस्तुओं को देव के नाम से कहा जा सकता है। यजुर्वेद के १४.२० में कहा है कि-"अग्निदेवता वायो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता वृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।"। (यजु० १४.२०)

यहाँ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, वसु, रुद्र, आदित्य, इन्द्र, इत्यादि को देव के नाम से पुकारा गया है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन सबकी पूजा करनी चाहिए। पूजा के योग्य तो एक सर्वव्यापक, सर्वज्ञ भगवान् ही, जैसे कि-

"य एक इत् तमुष्टहि कुष्टीनां क्विर्षणिः। पतिर्जज्ञे वृष्क्रतः।।"

ब्राह्मण ग्रन्थों में देव शब्द का अर्थ :-

१. विद्वांसो हि देवाः ।। शत०-३. ७. ३. १०. ११

२. द्वयो वै देवाः । अहैव देवाः अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसो अनूचानास्ते मनुष्य देवाः।। शत०-२. २. २. ६।।

३. अथ हैते मनुष्यदेवायं ब्राह्मणा शुश्रुवांसों अनूचानास्ते मनुष्यदेवाः।।

---

६१२. विशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति स एवैको देवश्चस्त्रिशो वेदोक्त सिद्धान्त प्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरूपास्योऽस्तीति।
ये वेदोक्त मार्ग परायणा................करष्यिन्ति च।। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका-तृ० सं० १९४९, पृ० ५९.

४. एते वै देवा अहुतादो यद् ब्राह्मण:।। गोपथ० उ०-१/६।। (पड़विशब्राह्मणे-१. १)

५. अपहतपाप्मानो देवा:।। शत०-२. १. ३. ४।।

६. सत्य संहिता वै देवा:।। ऐतरेय० १/६।।

७. सत्यमया उ देवा:।। कौषतकी ब्रा० २/८।।

८. युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चित:।। यजु० ११/४

इन मन्त्रों की व्याख्या करते हुए शतपथ-६. ३. १. १६ में लिखा हैं-प्रजा पतिर्ह वैविप्रो देवा: विप्रा:। अर्थात् परमात्मा विप्र सबसे बड़ा ज्ञानी है और ज्ञानी ब्राह्मण देव कहलाते है। देव शब्द के ब्राह्मणोक्त अन्य अर्थ-

९. प्राणा देवा:।। शत० ६. ३. १. १५।।

१०. तस्मात् प्राण देवा:।। शत०'७. ५. १. २१।।

११. चक्षु देवा:।। गो० पू० २/१०, मनो देवा:।। गो० पू०-२/१०।।

१२. ऋतवो वै देवा:।। शत० ७. २. ४. २६।।

१३. वायुर्वै देवा:।। जैमिनीयोप०-३. ४. ७।।

इत्यादि वचनो से ज्ञात होता है कि सत्यनिष्ठ विद्वानों को प्रधानतया देव नाम से कहा गया है तथा सूर्य, चन्द्र, वायु, ऋतु आदि भी प्रकाशक और लाभदायक होने से देव कहलाते है।

वैदिक देवताओं के सम्बनध में बी०जी० रेले के एक नवीन एवं विचित्रमत का भी यहाँ उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। सन् १९३१ में बम्बई से प्रकाशित अपनी मौलिक पुस्तक "वैदिक गाड्स-एज दि फिगर्स आफ बॉयलोजी" में उन्होंनें प्रतिपादित किया है कि सभी वैदिक देवता मनुष्य के स्नायु संस्थान के विभिन्न चेतना केन्द्रों तथा क्रियाओं के प्रतीक हैं। देवता के रूप में जिस चेतनसत्ता को वैदिक ऋषियों ने कल्पना की वह मानवीय ० चेतना का ही प्रतिरूप है और इस चेतना का अधिष्ठान स्नायु तंत्र मस्तिष्क, सुषुम्णा एव तंत्रिकाए ही देवों का निवास स्थान है। उन्हीं के शब्दों में "मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि वेद स्नायु संस्थान एवं उनकी कार्य प्रणाली पर ऋषियों द्वारा लिखी गई पुस्तकें हैं। इन सब को वैदिक ऋषियों ने एक ऐसी भाषा में व्यक्त किया है जो

उनके स्थान से सम्बन्धित है। प्राकृतिक दृश्यों से लिए गए रूप को अथवा प्रतिकों से युक्त है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'-इस प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार वैदिक ऋषियों ने मस्तिक को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एक लधु प्रतिकृति समझा। अत: उन्होंने मस्तिष्क के विभिन्न विभागों से सम्बन्धित इन देवताओं को बाह्य प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों से भी सम्बद्ध किया है। वैदिक देवताओं के इस स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए ही सम्भवत: प्रसिद्ध प्राचीन भारतीय शल्य चिकित्सक सुश्रुत ने कहा है-कि वेदों में वर्णित सभी देवताओं का मानव शरीर में स्थायी अस्तित्व है। श्री रेले का विश्वास है कि केवल इसी दृष्टि से व्याख्या करने पर ही वेदों में वर्णित देवताओं की प्रत्येक विशेषता की सन्तोषजनक व्याख्या की जा सकती है। आत्मा जैसी किसी अमूर्त एवं अव्यक्त सत्ता की स्वीकृति के पूर्व मानव चेतना का मूल रहस्य खोजते हुए उन्होंने मानव मस्तिष्क एवं स्नायु मण्डल का सूक्ष्म अध्ययन किया था।

वैदिक देवताओं का उद्भव और विकास :-

श्री अरविन्द के अनुसार राये, रयि, राधस्, रत्न, वाजस् आयि शब्द भौतिक विभूतियों के अतिरिक्त अध्यात्मिक तत्त्वों के भी सूचक हैं। उपनिषदों में राये शब्द आध्यात्मिक शक्ति का सूचक है और एक उपविषय में ऋग्वेद से उद्धृत एक मन्त्र में भी इसका यह अर्थ है। अत: वेदों में भी इसका यही मनोवैज्ञानिक अर्थ होना चाहिए। ठीक उसी प्रकार यज्ञ एवं उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया भी अधिकांशत: प्रतीकात्मक हैं और मनुष्यों के आन्तरिक एवं बाह्य सभी कर्मों को सूचित करती है। स्वयं गीता में भी यज्ञ शब्द मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियाशीलता का वाची है। यज्ञ को संचालित करने का श्रेय पुरोहित को है। जिसका अर्थ है

"सामने स्थित"। यह पुरोहित और कुछ नहीं केवल मनुष्य की इच्छाशक्ति है जो सभी कार्यों के लिए उत्तरदायी है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, अग्नि इस इच्छा शक्ति का सूचक है और इसलिए उसे स्थान-स्थान पर पुरोहित कहा गया है। गो का अर्थ गाय के अतिरिक्त किरण भी होता है। किरण अथवा प्रकाश ज्ञान का वाची है। ऊषा को गोमती तथा अश्वमती कहा गया है। अर्थात् वह यज्ञमान को गो तथा अश्व प्रदान करती है। गो और अश्व और कुछ नहीं केवल ज्ञान एवं शक्ति, चेतना एवं ऊर्जा के वाची है। इन दोनों की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। पणि आर्यों की गायें (गाव:) चुरा ले जाते हैं और

अन्धकारमय गुफा में बन्द कर देते हैं। स्वर्ग की कुक्कुरी सरमा इनको पुनः प्राप्त करने में सहायता करती है। वस्तुतः सरमा प्रतिभा की प्रतीक है। जो मनुष्य के अन्धकारमय अवचेतन मन में स्थित आत्मज्ञान की किरणों को बाहर लाती है।[६१३]

महर्षि दयानन्द की मान्यता के अनुसार अग्नि, सूर्यादि नामों से वेदों में ईश्वर की ही स्तुति है। अरविन्द का इस विषय में मत है कि वैदिक मन्त्र मनोवैज्ञानिक रहस्यों का ही वर्णन करते हैं। केवल सामान्य लोगों से इस रहस्य को अस्पष्ट रखने के लिए ही बाह्य प्रकृत के दृश्यों का उन पर आवरण पहना दिया गया है। रेले कहते हैं कि प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के आधार वेदों के मन्त्र शरीर के स्नायु मण्डल के रहस्यों पर प्रकाश डालते हैं। अय्यर महोदय भी अग्नि, सूर्यादि नाम से उल्लिखित देवताओं के प्राकृतिक आधार को स्वीकार करते हुए-विष्णु, इन्द्र, गो आदि अस्पष्ट देवताओं के स्वरूप के आधार पर कुछ भूगर्भ शस्त्रीय एवं भौगोलिक तथ्यों की व्याख्या करते हैं। अग्रवाल महोदय मानते हैं कि अग्नि, सूर्य आपस् इत्यादि प्रतीकों द्वारा सृष्टि के रहस्यों की कहानी वेदों में कही गयी है।

निरुक्तकार यास्कमुनि वैदिक देवता विषयक प्राकृतिक सिद्धान्तों के पक्षपाती थे।

महर्षि दयानन्द का मत इन सब मतों में अधिक सशक्त और युक्ति युक्त प्रतीत होता है। उनका यह मत प्राचीन आर्ष साहित्य के अनुसार भी है जैसा कि हम इसी अध्ययन में देख आये है। मन्त्रों एवं सूक्तों के ऊपर आये ऋषि व देवता आदि शब्दों के विषयों में भी स्वामी दयानन्द की स्पष्ट मान्यता है कि देवता का अर्थ उस मन्त्र या अध्याय में प्रतिपादित विषय से है। जैसा कि किसी मन्त्र या सूक्त का देवता अग्नि है इसका अभिप्राय यह है कि उस मन्त्र या सूक्त में अग्नि का वर्णन है या अग्नि उसका प्रतिपाद्य विषय है। यह बात अलग है कि भौतिक अग्नि का वर्णन है अथवा ईश्वर रूपी अग्नि का वर्णन है।

इसी प्रकार ऋषि शब्द भी विशेष महत्त्व रखता है। प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुसार ऋषि मन्त्र द्रष्टा थे मन्त्र रचयिता नहीं। जैसा कि निरुक्त ने स्पष्ट कहा कि ऋषि मन्त्रों का साक्षात्कार करके उनमें प्रतिपादित यथार्थ तत्त्व को प्रत्यक्षवत् जानने वाले थे। जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों का साक्षात्कार करके उनका प्रचार और

६१३. देखिये-"श्री अरविन्दः ऑन दि वेद", अध्याय-४-पृ० ४३.

प्रसार किया, उन ऋषियों का नाम वेद मन्त्रों एवं सूक्तों के साथ जुड़ गया क्योंकि एक-एक मन्त्र के सौ और हजार तक भी ऋषि माने गये हैं। "ऋषि मन्त्रों के रचयिता है" यह बात इससे खण्डित हो जाती है कि एक हजार ऋषियों ने मिलकर उस मन्त्र का निर्माण किया हो ऐसी धारणा निरुक्तकार को मान्य नहीं है। साक्षात्कार करने वाले एक मन्त्र के अनेक ऋषि हो सकते हैं।[६१४]

शबर भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है कि देवताओं के शरीरधारी स्वरूप का अभिप्राय यह है कि जैसे-हमने तुम्हारा हाथ पकड़लिया इसका यह अर्थ है कि हम तुम्हारी शरण में आ गये। जैसे कहा है कि इन्द्र देवता वाले सोम का ग्रहण होता है या मापा जाता है। जो ऐसा कहा है सोम इन्द देवता वाले ग्रह्य चम्मसों में ही है, इन्द्र देवता रहितों में सोम हैं ही नहीं।[६१५] यहाँ यह भाव प्रतीत होता है कि यज्ञों में इस प्रकार की देवताओं की स्तुति प्रतीकात्मक है।

प्रभाकर और कुमारिल भट्ट यह स्पष्ट रूप में मानते है कि देवता देह-धारी नहीं हैं क्योंकि देवताओं की कृपा से कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता है। इसलिए देवताओं का भौतिक शरीर होने की आवश्यकता ही है। इसलिए यह क्यों न माना जाये कि जितने प्रकार के यज्ञों में विभिन्न देवताओं को आहुत किया जाता है। वे सब एक ईश्वर की ही विभिन्न शक्तियों के नाम है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मीमांसा के उत्तरवर्ती विद्वानों ने देवताओं को आलौकिक शक्तियों से युक्त माना, और उनको शरीरधारी-सा मानकर उन्हे आहुत करने की प्रार्थना की गई।

कुमारिल भट्ट ने न्यायदर्शन के तर्क द्वारा ईश्वर को सिद्ध करने की चेष्टा का प्रत्याख्यान्, यह कहकर किया है कि ईश्वर को यदि वेदों का निर्माता माना जाये, तो यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है न ही ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता माना जा सकता है।

मीमांसा श्लोक वार्तिक में यह स्पष्ट कहा है कि ईश्वर न सर्वज्ञ है और न वह सृष्टि का कर्त्ता है। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय स्वतः होते हैं इसके लिए ईश्वर के अस्तित्व को किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता है।[६१६]

---

६१४. साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः।। निरुक्त।।

६१५. तस्मादैन्द्रः सोमः। तेन ऐन्द्रेषु सोमधर्माः।। मी० द० शबर भाष्य पृ० ७६२ (भाग-३)

६१६. सर्वज्ञतन्निषेध्या च स्रष्टुः सद्भाव कल्पना।।११४।। मी० श्लो० वा०।।

कुमारिल ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "प्रजापति सृष्टि कर्त्ता पुरुषत्वदस्मदादिवत्" अर्थात् प्रजापति सृष्टि कर्त्ता नहीं है। प्रजापति में साधारण जनों से विशिष्टता धर्म के द्वारा ही आ सकती है। अनुष्ठित होने पर यागादि ही धर्म कहलाते हैं। यागादि धर्मों का अनुष्ठान यागादि के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। यागादि का ज्ञान बिना वेदों के नहीं हो सकता। वेद पदादि के बिना नहीं हो सकते। अतः यह स्वीकार करना होगा कि सृष्टि करने वाले प्रजापति से पहले से ही पदादि विद्यमान थे![६१७]

इस प्रकार अनेक युक्तियों के द्वारा सृष्टि करने वाले प्रजापति से पूर्व वेदों की सत्ता का जो प्रतिपादन करते हैं, उनके विरुद्ध उत्तर देना कठिन है। इसलिए 'वेदवादियों' को अर्थात् सृष्टि से पहले भी वेदों की सत्ता मानने वालों को वेदव्यवहार को अनादि ही मानना होगा। जिस प्रकार सोकर उठा हुआ पुरुष पूर्व से विद्यमान घटादि का ही पुनः व्यवहार करता है, उसी प्रकर पूर्व से विद्यमान वेदों का ही व्यवहार सृष्टि के बाद प्रजापति के द्वारा किया जाता है-(सुप्तप्रबुद्ध-न्याय से) यह स्वीकार करना होगा।[६१८]

मीमांसा के आचार्यों ने ईश्वर के सृष्टि कर्त्ता न होने में कई तर्क प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं कि यदि स्रष्टा ने जगत् को बनाया तो इसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। डॉ० राधाकृष्णन् ने इस मत को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि उसका कोई भौतिक शरीर नहीं है, तो उसे सृष्टिरचना की कोई इच्छा भी नहीं हो सकती। यदि उसका कोई भौतिक शरीर है तो वह स्वयं उसके कारण नहीं हो सकता, और इस प्रकार हमे उसके लिए एक अन्य स्त्रष्टा मानना होगा। यदि उसका शरीर नित्य माना जाये तो वह किन घटकों से बना है, क्योंकि पृथिवी आदि तत्त्व तो तब तक उत्पन्न नहीं हुए थे? यदि उसकी रचनात्मक क्रिया से पूर्व प्रकृति का अस्तित्व है, तो अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करने का कोई कारण नहीं है। दुःखों से भरे इस संसार को उत्पन्न करने में ईश्वर का क्या प्रयोजन है? भूतकाल के कर्म की व्याख्या लागू नहीं होती, क्योंकि इससे पूर्व सृष्टि न थी। दया के कारण वह सृष्टि की रचना नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे

---

६१७. न च धर्मादृते तस्या................पदादिभिः। तस्मात्..........दादिवत्॥११५-११६॥ श्लो० वा०

६१८. एवं ये युक्तिभिः प्राहुस्तेषां दुर्लभमुत्तरम्।
अन्वेप्यो व्यवहारोऽयमनादिर्वेदवादिभिः॥११७॥ मी० श्लो० वा०॥

प्राणी नहीं थे, जिन पर दया दिखाई जा सके। इसके अतिरिक्त इस मत के अनुसार केवल सुखी प्राणियों की ही रचना की जानी चाहिए थी। हम यह नहीं कह सकते के ऐसी सृष्टि की रचना सम्भव नहीं है, जिससे दुःख का अंश विद्यमान न हो, क्योंकि ईश्वर के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। किन्तु यदि किन्हीं कारणों से उस पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है, तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं है। यदि सृष्टि की रचना ईश्वर के मनोरंजन के लिए है, तो उस प्रकल्पना से विरोध होता है जो कहती है कि ईश्वर सर्वथा सुखी है। इससे ईश्वर बहुत अधिक कष्टदायक परिश्रम में पड़ जाएगा, और न ही संसार के विनाश की उसकी इच्छा समझ में आएगी। हम उसकी वाणी पर क्यों विश्वास करे? क्योंकि यदि उसने जगत् का निर्माण न भी किया हो तो भी अपनी शक्ति की महत्ता दिखाने को वह ऐसा कह सकता है।[६१९]

---

६१९. असृष्ट्वापि ह्यसौ ब्रयादात्मैश्वर्य प्रकाशनात्।।६०।।

द्वितीय अध्याय

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन)

वेदान्तदर्शन या ब्रह्मसूत्र एक ऐसा दर्शन है, जो भाष्यकारों के भाष्यों के कारण, वेदान्तदर्शन का अपना स्वरूप क्या है? यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। मध्य कालीन व्याख्याकारों ने अपने साम्प्रदायिक दार्शनिक सिद्धान्तों को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए, इस वेदान्तदर्शन की व्याख्या परस्पर विरोधी रूप में करके एक दार्शनिक संघर्ष को जन्म दिया। यह दार्शनिक संघर्ष ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों ने, इतना अधिक किया है कि ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदान्तदर्शन अद्वैतवादी है, विशिष्टाद्वैतवादी है, द्वैतवादी है अथवा त्रैतवादी है, यह निर्णय करना बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है।

भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रसंग में मेरी मान्यता यह है कि महाभारत काल में मीमांसा दर्शन तथा वेदान्त (ब्रह्मसूत्र) दर्शन की रचना हुई है। मध्य-कालीन आचार्य भाष्यकार बौद्ध और जैनदर्शन के पश्चात् हुए हैं। इसलिए यहाँ पर वेदान्तदर्शन का प्रतिपादन भाष्यकारों की अट्वी से निकलकर वेदान्तदर्शन के सूत्रों के अनुसार वेदान्तदर्शन का प्रतिपादन किया जा रहा है।

ब्रह्म निरूपण

इसके अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा की जाती है। इस दर्शन के प्रथम सूत्र में अथ–अतः ब्रह्म और जिज्ञासा शब्द हैं।[1] इन शब्दों के क्या-क्या अर्थ किये जा सकते हैं, अन्य आचार्यों के मतों का प्रतिपादन करना आवश्यक है–अथ शब्द अधिकारादि अनेक अर्थों का वाचक होने पर भी प्रकृत में आनन्तर्य अर्थ के अभिप्राय से आया है, क्योंकि ब्रह्म जिज्ञासा नियमानुसार पूर्व होने वाले साधनों की अपेक्षा करती है, यदि ऐसा न होता तो वैराग्यादि साधनों के बिना भी ब्रह्म

---

१. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा। वेदान्त द० १/१/१

जिज्ञासा होती पर ऐसा नहीं, इसलिए अथ शब्द को अनन्तर अर्थक मानना ही ठीक है, अतः शब्द हेत्वर्थक है, "ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा" अर्थात् जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा और "ब्राह्मणोजिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा" अर्थात् ब्रह्म की जिज्ञासा को ब्रह्म जिज्ञासा कहते हैं, ब्रह्मजिज्ञासा, ब्रह्ममीमांसा और ब्रह्म विचार यह सब पर्याय शब्द हैं, स्वाभाविक ज्ञानक्रिया शक्ति वाला निरतिशय असंख्येय कल्याण गुणा कर परमात्मा ब्रह्म पद का मुख्यार्थ है, क्योंकि महत् गुणों के साथ योग ही ब्रह्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है जो ईश्वर के बिना अन्य किसी चिदचिद्वस्तु में मुख्य रूप से नहीं पाया जाता, इस प्रकार कर्त्तव्या पद के अध्याहार करने से सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ कि यथेष्ट ब्रह्मानन्दोपभोगरूप ब्रह्म प्राप्ति की अपेक्षा ऐह्यिए तथा पारलौकिक कर्मफल तुच्छ तथा अल्पकाल स्थायी होने के कारण कर्मकाण्ड के अनुष्ठानपूर्वक वैराग्यादि साधनों के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा कर्त्तव्य है, यद्यपि जिज्ञासा पद सन्प्रत्ययान्त होने से ज्ञानेच्छा का वाची है तथापि कर्त्तव्या पद के अध्याहार द्वारा लक्षणावृत्ति अर्थात् उपचार से विचार का बोधक जानना चाहिये और जो विज्ञानभिक्षु ने अर्थ शब्द को आरम्भिक अर्थ मानकर यह अर्थ किया है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र से लेकर प्रधानतया जिसमें ब्रह्म का विचार हो उस शास्त्र का आरम्भ किया जाता है, यहाँ विचारणीय यह है कि जिज्ञासा पद शक्तिवृत्ति द्वारा ज्ञानेच्छा का वाची है अथवा ब्रह्मविचार रूप अर्थ का लक्षणावृत्ति से बोधक है? यदि प्रथम पक्ष में अथ शब्द को आरम्भिक अर्थ माना जाये तो सूत्रार्थ यह होगा कि ब्रह्मज्ञान की इच्छा का आरम्भ किया जाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक अधिकरण में ब्रह्मज्ञान की इच्छा नहीं पाई जाती प्रत्युत इच्छापूर्वक ब्रह्म का विचार पाया जाता है यदि उक्त पद को ज्ञानेच्छा का वाची न मानकर विचार का बोधक मानें अर्थात् ब्रह्म मीमांसा का आरम्भ किया जाता है यह अर्थ करें तो कर्त्तव्या पद के अध्याहार से आरम्भार्थ की सिद्धि होने पर उक्त अर्थ के बोधनार्थ अथ शब्द का निवेश ही व्यर्थ हो जायेगा, इसलिये यथोचित साधनसम्पत्ति के अनन्तर अधिकारी को ब्रह्मविचार कर्त्तव्य है यही मानना ठीक है स्वामी रामानुज ने अथ शब्द के अर्थ वेदाध्ययनानन्तर और स्वामी शंकराचार्य ने साधन चतुष्टय के अनन्तर किये हैं, इन दोनों अर्थों में कोई विशेष भेद नहीं, क्योंकि प्रायः अधीत शास्त्र पुरुष ही साधनचतुष्टय सम्पन्न होता है परन्तु श्रीभाष्याचार्य का यह कथन कि उत्तरमीमांसा पूर्वमीमांसा का एक भाग है अर्थात् १२ अध्याय पूर्वमीमांसा और चार अध्याय उत्तरमीमांसा यह दोनों मिलकर एक शास्त्र है सो ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार षटशास्त्र की प्रसिद्धि नहीं रहती हाँ

इतने अंश में श्री भाष्याचार्य का कथन ठीक प्रतीत होता है कि भिन्न-२ विषय पाये जाने से दोनों मीमांसाओं का परस्पर विरोध नहीं, क्योंकि कर्मकाण्ड का अनुष्ठान ही पुरुष को ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी बनाता है।

इस प्रकार कहा गया है कि "प्रयोजनमनभिसन्धायमन्दोपि न प्रवर्त्तते" अर्थात् प्रयोजन के बिना मन्द पुरुष भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, इस न्याय के अनुसार ब्रह्म ज्ञान का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये जिससे ब्रह्ममीमांसा के श्रवणार्थ पुरुष की प्रवृत्ति हो, यदि मुक्ति ही प्रयोजन माना जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि वह केवल कर्मों के अनुष्ठान से भी हो सकती है, जैसाकि "अपाम सोमममृता अभूम" ऋ० ८/४८/३ अर्थात् सोमपान करने से पुरुष अमृत हो जाता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है, फिर उसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान प्रधान उत्तरमीमांसा का आरम्भ करना निष्फल है? उत्तर देते हुए लिखा है अपहतपाप्मादि गुणों के धारणपूर्वक ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मुक्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है और वह एकमात्र ब्रह्म ज्ञान से ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं, जैसाकि "य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानुशुः" ऋ० २/३/१८/२३ अर्थात् ब्रह्म के साक्षात्कार से ही पुरुष अमृतपद को प्राप्त होता है, "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" यजु० ३१/१८ अर्थात् परमात्मा को जानकर ही पुरुष अमृत को प्राप्त होता है अन्य कोई मार्ग नहीं "तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योः" अथर्व० १/५/४४ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष मृत्यु के भय से रहित हो जाता है, इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है, और इसी भाव को मुण्ड २/२/१५ में इस प्रकार वर्णन किया है कि यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।।

अर्थात् भाव यह है कि जिस सर्वान्तर्यामी परमात्मा में द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्षादि सब लोक ओतप्रोत हैं और सब इन्द्रियों के साथ मन भी जिसमें ओतप्रोत है उसी एक आत्मा को जान उससे भिन्न अन्य सब अनात्मपरायण वाणियों को छोड़ दे, क्योंकि मृत्युरहित अमृत पद की प्राप्ति का वहीं एकमात्र उपाय है, "ब्रह्मविदान्पोतिपरम्" तै० २/१ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष ही परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है, इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से सिद्ध है कि एकमात्र ब्रह्म ज्ञान ही मुक्ति का साधन है और जो पूर्वपक्षी का कथन है कि "अपामसोमममृता" इत्यादि मंत्रों में केवल कर्मों द्वारा मोक्ष की सिद्धि कथन की है वह इसलिए ठीक नहीं कि उक्त मन्त्र में "अमृता" पद मोक्ष के अभिप्राय

से नहीं आया किन्तु उपचार से केवल कर्मानुष्ठानियों की प्रशंसा बोधन करता है, यदि केवल कर्मानुष्ठान ही मोक्ष का हेतु होता तो "तमेवविदित्वा" इत्यादि मन्त्रों में ब्रह्म ज्ञान को मोक्ष का हेतु कथन न किया जाता और ना ही "नान्य: पन्था:" इस वाक्य में यह प्रतिपादन किया जाता कि ब्रह्म ज्ञान से भिन्न अन्य कोई मुक्ति का साधन नहीं और इसी भाव को महर्षि कपिल ने इस प्रकार स्फुट किया है कि "ज्ञानान्मुक्तिः" ३/२३ अर्थात् परमात्म ज्ञान से ही मुक्ति और "बन्धोविपर्य्ययात्" सां० ३/२४ अर्थात् मिथ्या ज्ञान से बन्धन होता है, अत एव केवल कर्म ही मोक्ष का साधन नहीं किन्तु ज्ञान और कर्मों का समुच्चय मुक्ति का साधन अभिप्रेत हे, अंतरङ्ग होने से ज्ञान मुख्य और कर्म गौण हैं।

इस सूत्र के विषय वाक्यों की सङ्गति इस प्रकार है कि याज्ञवल्क्य के परिव्राजक होते समय मैत्रेयी ने पूछा कि हे भगवन्! आप किस लिये इस संसार वर्ग को छोड़कर जाते हैं तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—नवारे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेयात्मानि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्" बृहदा० ४/६ अर्थात् हे मैत्रेयी! यह संसार आत्मा के लिए ही प्यारा है अन्य के लिए नहीं, इसलिये वही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है अर्थात् द्रष्टव्य तत्त्वज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य, श्रोतव्य—श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य—वेदाविरोधी तर्कों से मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य निदिध्यासन—चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा बारम्बार अभ्यास करने योग्य है और वही आत्मशब्द वाच्य ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी के श्रवण, मननादिकों से सब कुछ जाना जाता है, इसलिये उसी के जानने की जिज्ञासा करनी चाहिए।

स्वामी शङ्कराचार्य जी अध्यास की भूमिका बांधकर इस सूत्र की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि त्रैकालाबाध्य अर्थात् तीनों कालों में एक रस सर्वगत अहं प्रतीतिसिद्ध आत्मा पदार्थमात्र का प्रकाशक होने से विषयी तथा आत्मा से अतिरिक्त अहंकारादि अनात्म पदार्थ विषय कहलाते हैं, यद्यपि तम तथा प्रकाश की भाँति परस्परविरुद्ध स्वभाव वाले आत्मा और अनात्मा का इतरेतरभाव अर्थात् एक-दूसरे का रूप हो जाना नहीं बन सकता तथापि अनादि अनिर्वचनीय ब्रह्माश्रित अविद्या द्वारा अनात्मा में आत्मा तथा आत्मा में अनात्मा और उनके चेतनता जड़तादि धर्मों का अन्योऽन्याध्यास पाया जाता है जिससे सम्पूर्ण अविद्यानिमित्तक अनादि अनन्त प्रमाण प्रमेय रूप व्यवहार शुक्तिरजतादिकों की

भ्रममात्र प्रतीति हो रही है और इसी का नाम ब्रह्मत्मैकत्वरूप विद्या की प्राप्ति के लिये वेदान्तशास्त्र का आरम्भ किया गया है, यहाँ विचारणीय यह है कि अविद्या किसका आश्रय लेकर संसार रूप भ्रान्ति को उत्पन्न करती है? यदि जीवाश्रित होकर उत्पन्न करती है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जब अविद्या बने तो जीव की सिद्धि हो और जब जीव सिद्ध हो तब अविद्या बने, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष पाये जाने से अविद्या को जीवाश्रित मानना सर्वथा भ्रान्ति मूलक है, यदि अविद्या को ब्रह्म के आश्रिता मानकर संसार रूप अनर्थ का हेतु माना जाये तो उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का विरोधी होने से उसका आश्रय नहीं इसी प्रकार स्वयं प्रकाश ब्रह्म अविद्या का विरोधी होने के कारण उसका आश्रय नहीं हो सकता, और जो इन्होंने इस सूत्र में अध्यास की भूमिका बाँधकर वेदशास्त्र को भी अविद्या की कोटि में रखा है अर्थात् वेद शास्त्र को भी स्वप्न ज्ञान के समान आविद्यक मानकर कहा है कि उस अविद्या की निवृत्ति इस आविद्यक शास्त्र से कैसे? इत्यादि तर्क से तुलना भी न करें तब भी यह बात सूत्रकार के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, सूत्र के अक्षरों से यह बात नहीं पायी जाती कि यह प्रमाण प्रमेय सब अध्यास हैं, अस्तु इस विषय पर जो मायावादी भाष्यकार ने लिखा है उसका खण्डन करना हमारा प्रयोजन नहीं, हमारा मुख्य प्रयोजन यह है कि सूत्रों का अभिप्राय क्या है और आपस में सूत्रों की संगति कैसे लगती है।

ब्रह्म की सिद्धि में सूत्रकार ने प्रथम युक्ति देते हुए कहा है कि जिसके आदि में जन्म हो अर्थात् जिस ब्रह्म से उत्पत्ति आदि होती है, वह ब्रह्म है।[२] यहाँ पर उत्पत्ति आदि का अभिप्राय यह है कि जिस ब्रह्म से अनेक प्रकार के विचित्र रचना वाले इस चराचर संसार के जिस सर्वशक्तिमान् से उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है वह ब्रह्म है।[३] तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रसंग की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थिर रहते हैं, जिसकी सत्ता से जीते और अन्त में जिसमें लय होते हैं वह ब्रह्म है उसी की जिज्ञासा कर,[४] यहाँ ब्रह्म का लक्षण किया गया है जिसका आशय यह है कि जो जगत् का निमित्तकारण है वहीं ब्रह्म है, क्योंकि इच्छापूर्वक कर्ता होना निमित्तकारण में ही पाया जाता है उपादान में नहीं।

---

२. जन्माद्यस्य यतः। वे०द० १/१/२

३. यस्मात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरात्सृष्टिस्थितिप्रलयाः प्रवर्त्तन्तेतद्ब्रह्म।

४. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानिजीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म।। तै० ३/१

उक्त मत शंकर मत में इस हेतु से नहीं घटता कि उनके मत में ईश्वर और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं, जो शुद्ध है वह ब्रह्म और जो मायोपहित अर्थात् माया उपाधि वाला है वह ईश्वर है, यदि महर्षि व्यास का भी यही अभिप्राय होता कि ब्रह्म और ईश्वर दोनों भिन्न-भिन्न हैं तो वह ब्रह्मलक्षण विषयक प्रश्न उठाकर ईश्वर का लक्षण न करते, क्योंकि उक्त मत में जग जन्मादिकों का हेतु तो ईश्वर है न कि ब्रह्म, हमारे विचार में सूत्रकार के मत में ब्रह्म और ईश्वर एक ही है, इसीलिए ब्रह्म को जगत्कर्ता माना है।

वह ब्रह्म ऋग्वेदादि शास्त्र का रचयिता होने से जगत् का निमित्तकारण है।[५] पूर्व में जो ब्रह्म का यह लक्षण किया गया है कि वह जगत् का कारण है, ऐसा कथन करने पर पंचमी विभक्ति से यह संदेह बना रहता है कि वह जगत् का उपादान कारण है वा निमित्तकारण? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इस अधिकरण का आरम्भ किया गया है, जिस प्रकार चेतन होने से ब्रह्म ऋग्वेदादि शास्त्र का कर्ता ही इसी जगत् का निमित्त कारण है उपादान नहीं, यदि यह कहा जाये कि उपादान कारण में ही पंचमी होती है, यह नियम नहीं, जैसाकि–पुत्र से प्रमोद होता है,[६] इत्यादि स्थलों में पंचमी निमित्त कारण में देखी जाती है, क्योंकि पुत्र प्रमोद का उपादान कारण नहीं, इस सूत्र के विषय वाक्य यह है–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और इनके व्याख्यानभूत इतिहास पुराण तथा श्लोकादि यह सब उस ब्रह्म के श्वास रूप हैं, उस यज्ञ रूप परमात्मा से ऋग्वेदादि शास्त्र उत्पन्न होते हैं,[७] इस प्रकार सर्वविद्या के भण्डार वेदों का कर्त्ता होने से ब्रह्म चेतन जगत् का निमित्त कारण है और इच्छापूर्वक कर्त्ता होना निमित्त कारण में ही पाया जाता है उपादान में नहीं।

जो इच्छापूर्वक कर्त्ता होता है अर्थात् स्वामी होता है, तथा कार्य के समान रूप वाला न होना यह तीनों गुण निमित्त कारण में ही होते हैं, उपादान कारण में नहीं।[८] इस सूत्र का दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि योनि का अर्थ प्रमाण

---

५. शास्त्रयोनित्वात्। वे०द० १/१/३

६. पुत्रात्प्रमोदो जायते।

७. (i) एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोको व्याख्यानान्यनुमानानि प्रमाणभूतानि। बृहदा० २/४/१०

(ii) तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। यजु० ३१/७

८. इच्छापूर्वक कर्तृत्वं प्रभुत्वमस्वरूपता। निमित्तकारणेष्वेव नोपादानेष कर्हिचित्।।

और शास्त्र जिसमें प्रमाण हो, अर्थात् जिसको शास्त्र निमित्त कारण के रूप में कथन करता हो, उसको शास्त्र योनि कहते हैं।

जैसा कि निमित्त कारण के रूप में वैदिक प्रमाण प्राप्त होते हैं कि वह परमात्मा पराक्रमयुक्त, शरीर रहित, ब्रणरहित, नाड़ियों से रहित और पाप के स्पर्श से रहित होकर सर्वत्र व्याप्त है और वह अपनी सत्ता से स्थिर होकर सब पदार्थों को रचता है, इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से परमात्मा की निमित्तकारणता विधान की है, क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व निमित्तकारण में ही पाया जाता है अन्यत्र नहीं।[९] इसी भाव को वेद में भी इस प्रकार बताया गया है कि–अनादि प्रकृति रूप वृक्ष का आश्रय किये हुए दो चेतन हैं जिनमें जीव कर्मफल का भोक्ता और दूसरा ईश्वर उपभोक्ता होकर साक्षीरूप से वर्त्तमान है अर्थात् जीव, ईश्वर और प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं, जिनमें प्रकृत्ति जगत् का उपादान कारण और ईश्वर निमित्त कारण है।[१०]

जो अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म को अभिन्ननिमिन्तोपादानकारण मानकर उसकी सिद्धि में यह प्रमाण देते हैं कि–जिस प्रकार मकड़ी अपने आपसे तन्तुओं को उत्पन्न करके अपने में ही लय कर लेती है अथवा जैसे पृथिवी से औषधियाँ जीवित पुरुष से केश, लोम उत्पन्न होते हैं वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है, यहाँ मकड़ी आदि तन्तु आदि के स्वयं उपादान तथा निमित्तकारण तथा शरीर द्वारा उपादान कारण है, यदि मकड़ी तन्तु के प्रति अभिनिमित्तोपादानकारण होती तो उसके मृत शरीर से भी तन्तुओं का निकलना पाया जाता पर ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में भिन्न-भिन्न कारणता इष्ट है।[११] और इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार वर्णित किया गया है–जो ब्रह्म रूपादि रहित होने से ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों का विषय नहीं और जो किसी वंश में उत्पन्न न होने के कारण अगोत्र है वही सर्वव्यापक, अतिसूक्ष्म, उपादानादि विकार रहित भूत योनि अर्थात् जगत् का निमित्त कारण हैं, जिसको विवेकी पुरुष ही सर्वत्र ज्ञानदृष्टि

---

९. स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमब्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धं कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य:। यजु० ४०।८

१०. द्वासुपर्णासयुजासखायासमानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलंस्वाद्वत्यनश्नन्नयोऽभिचाकशीति।। ऋग्वेद० २/३/१७

११. यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति।
यथा सत: पुरुष: केशलोमानि जायन्ते तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् मुण्ड० ९/७

से देखते हैं अन्य नहीं,[१२] यदि ब्रह्म उपादानकारण होता तो उसको कल्याण गुणों का आकार कदापि कथन न किया जाता और ना ही उपनिषद्कार उसको अव्ययादि शब्दों से वर्णन करते परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म को जग जन्मादिकों का निमित्तकारण मानना ही ठीक है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार के लगने वाले विशेषणों से ब्रह्म का प्रतिपादन मिलता है। उसका समन्वय करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि इन सबका समन्वय करने से ही ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट होता है।[१३] वह समन्वय क्या है उसको बतलाते हुए कहा है कि उपक्रम तथा उपसंहार की रीति से प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव सम्बन्ध का नाम समन्वय है;[१४] वेद तथा सम्पूर्ण आर्षग्रन्थों में एक निराकार ब्रह्म का ही समन्वय पाये जाने से वही शास्त्र का विषय है अर्थात् वेद और उपनिषद् मुख्यतया निराकार ब्रह्म का ही प्रतिपाद करते हैं नाना देवताओं का नहीं। यजुर्वेद में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—वह जगदीश्वर जगदुत्पत्ति प्रलय का कारण सर्वतः देखने की सामर्थ्य रखता है, सर्वतः बोलने का सामर्थ्य रखता है, इसी प्रकार सर्व ओर बाहु और पाद का सामर्थ्य रखता है वह अपने वीर्य से संसार को उत्पन्न करता हुआ एक देव है।[१५] इत्यादि अनेक मन्त्र वेद में पाये जाते हैं, जिनमें स्पष्ट लिखा है कि जगदुत्पत्ति प्रलय का कारण एक परमात्मा ही है, और जो पूर्वपक्षी का यह कथन है कि अग्नि आदि जड़ देवताओं में नहीं इसीलिये सूत्रकार ने कहा है कि समन्वयात् अर्थात् वेदान्तशास्त्र में ब्रह्म का ही समन्वय पाया जाता है और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं, "सहस्त्रशीर्षापुरुषः" यजु० ३१/१ इत्यादि मन्त्र ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व और सर्वाधारत्व के अभिप्राय से हैं और द्वेवाव ब्रह्मणोरूपेमूर्त्तञ्चैवाऽमूर्त्तञ्च" बृहदा० २/३/१ इत्यादि वाक्य ब्रह्म को मूर्त्तामूर्त परस्पर विरुद्ध स्वरूप वाला वर्णन नहीं करते किन्तु यह वर्णन करते हैं कि ब्रह्म स्थूल और सूक्ष्म भूतों का स्वामी है और वह इन स्थूल तथा सूक्ष्म भूतों के रूपों से निरूपण किया जाता है, इसलिये उक्त मूर्त्तामूर्त भूतों को ब्रह्म का रूप कहा गया है, और वह सच्चिदानन्दस्वरूप स्वसत्ता से केवल निराकार है, इस विषय में उपनिषदों के सहस्त्रों प्रमाण हैं, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—वह

१२. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रंतदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्ड० १/६

१३. तत्तु समन्वयात्। वे०द० १/१/४

१४. सम्यगन्वयः समन्वयः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः।

१५. विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतोमुखोविश्वोवाहुरुतविश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यांधमतिसंपतत्रैर्द्यावाभूमिं जनयन्देव एकः।। यजु० १७/१७

परमात्मा शब्द रहित होने के कारण श्रोतग्राह्य नहीं।[१६] त्वचा आदि इन्द्रियों का विषय नहीं और वह परम सूक्ष्म अनन्तादि विशेषण युक्त है। उसको जानकर की पुरुष मुक्ति को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि वह परमात्मा दीप्ति वाला, मूर्त्तधर्म से रहित, सर्वत्र व्यापक और प्रत्येक पदार्थ के बाहर-भीतर है, उत्पत्ति तथा प्राण रहित है, मन से रहित है, अत एव प्रकाशस्वरूप और प्रकृति से भी परम सूक्ष्म है।[१७] इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की निराकारता सिद्ध है, इस प्रकार वेदान्त शास्त्र में निराकार ब्रह्म का समन्वय पाये जाने से स्पष्ट है कि वह जगत् का निमित्तकारण है उपादान नहीं।

ब्रह्म के विशेषण बतलाते हुए कहा है कि सच्चिदानन्दादि दिव्यगुण युक्त होने से देव परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक सब भूतों का अन्तर्यामी, पुण्य पाप रूप फल देने का स्वामी, सब भूतों का अधिष्ठान, साक्षी चेतन और केवल निर्गुण है,[१८] इस प्रकार इस सूत्र का उक्त विषय वाक्य से प्रतिपादित ब्रह्म की जगत् कारणता बोधन की गई है, इसलिये वह शास्त्र का विषय है, और जो कर्मोपासन का खण्डन करके इस सूत्र को मुक्तिपरक लगाया है यह उनकी खेंच है, इसलिये निराकार ब्रह्म ही शास्त्र का विषय हो सकता है अन्य नहीं।

इच्छा पाये जाने से, ब्रह्म शब्द प्रमाण रहित नहीं।[१९] जिसमें शब्द प्रमाण न हो उसको अशब्द कहते हैं,[२०] शब्दप्रमाण से सृष्टि रचने की इच्छा चेतन में पाये जाने के कारण ब्रह्म शब्द प्रमाण नहीं, जैसाकि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि उसने इच्छा की कि मैं बहुत संसार रचना वाला होकर जगत् में व्याप्त होऊँ[२१] इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि उक्त ब्रह्म में ही शास्त्र का समन्वय है, इच्छा वाला कथन करने से अभिप्राय यह है कि नाना प्रयोजन वाला वह जगत् किसी जड़ पदार्थ से स्वाभाविक ही नहीं बना किन्तु चेतन कर्ता की इच्छा से इस जगत् के

१६. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।। कठ० ३/१५

१७. दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणोह्यमनः शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः।। मुण्ड० २/१/२

१८. एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।। श्वेता० ६/११

१९. ईक्षतेनीशब्दम्। वे०द० १/१/५

२०. न शब्दः प्रमाणं यस्मिस्तदशब्दम्

२१. तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय। छा० ६/२/३

सूर्यादि लोकों में आकर्षण, प्रकाशन और औष्ठय प्रदानादि प्रयोजन रखे गये हैं जिससे चेतन ही कर्त्ता सिद्ध होता है जड़ नहीं।

यदि जड़ पदार्थों में गौण इच्छा मानकर अपना पक्ष सिद्ध करो तो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रकरण में आत्मा शब्द पाया जाता है।[२२] छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि तेज ने इच्छा की, जल ने इच्छा की,[२३] इत्यादि वाक्यों में तेजोगत तथा जलगत गौण इच्छा की भाँति प्रकृति में गौण इच्छा मानकर उसको स्वतन्त्रकारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकरण में आत्मा शब्द पाया जाता है, जैसा कि इस जीवात्मा द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को करूँ,[२४] यह कथन तभी संगत हो सकता है जब इक्षण कर्ता चेतन हो, क्योंकि जड़ पदार्थ के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता, अतएव सिद्ध है कि परमात्मा ही इस जगत् का निमित्त कारण है प्रकृति नहीं।

उंस आत्मा में निष्ठावाले पुरुष के लिए मोक्ष का उपदेश पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[२५] छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि उस पुरुष के लिये तभी तक चिर है जब तक वह मुक्त नहीं होता अर्थात् जब तक उसके प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होते तब तक ही उसकी मुक्ति में विलम्ब है,[२६] इस वाक्य में पूर्वप्रकृत आत्मा के ज्ञान से मुक्ति का उपदेश किया गया है और वह महान् परमात्मा जो आदित्य वर्ण अर्थात् स्वतः प्रकाश है उसको जानकर ही पुरुष अतिमृत्यु अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मज्ञान से ही मोक्ष होता है जड़ परायण होने से नहीं, इससे सिद्ध है कि यह चेतन कर्ता का ही प्रकरण है जड़ का नहीं और हेयत्व वचन के न पाये जाने से भी सिद्ध है कि यहाँ जड़ का प्रकरण नहीं।[२७] यदि जड़ प्रकृति द्वारा मोक्ष होने का प्रकरण होता तो अरुन्धति न्याय से उसको हेय कथन किया जाता पर ऐसा कथन न करके 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को

---

२२. गौणश्चेन्नात्म शब्दात्। वे०दे० १/१/६

२३. तत्तेज ऐक्षन्त, ता आप ऐक्षन्त। छान्दो० ६/२/३

२४. अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छान्दो० ६/३/३

२५. तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। वे०द० १/१/७

२६. तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति। छान्दो० ६/१४/२

२७. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय।। यजु० ३१/१८

उपादेय कथन किया है, अत एव उसी का प्रकरण है जड़ का नहीं। परमात्मा में लय सुने जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[२८] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है "सतासोम्य तदा सम्पन्नो भवति" इत्यादि वाक्यों द्वारा उसी चेतन रूप सत् कारण में लय कथन किया गया है, क्योंकि जीवात्मा का जड़ प्रकृति में लय होना नहीं बन सकता, इससे भी चेतन ही जगत् का कारण पाया जाता है जड़ नहीं।

उपनिषदों में सर्वत्र चेतन कर्ता की ही गति पाये जाने से प्रकृति निमित्त कारण नहीं,[२७] उपनिषदों में सर्वत्र चेतन ही निमित्त कारण कथन किया गया है, जैसा कि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ "आत्मन एवेदं सर्वम्" आत्मा से ही यह सब उत्पन्न हुआ "आत्मन एष प्राणो जायते" आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुए, इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि प्रकृति स्वतन्त्रकारण नहीं, इसी भाव को मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है कि जिस सर्वज्ञ का ज्ञानरूप तप है उसी परब्रह्म परमात्मा से यह ब्रह्म नाम विराट्रूप जगत् उत्पन्न हुआ है, इत्यादि प्रमाणों से सर्वत्र चेतन कर्ता की ही गति पाई जाती है,[३०] इसी अभिप्राय से श्वेता० में भी वर्णन किया गया है कि उसका जगत् में कोई स्वामी नहीं, न कोई प्रेरक और न उसका साकार पदार्थों की भाँति कोई चिह्न है, वह सबका कारण तथा करणाधिपाधिपः अर्थात् जीवों का भी स्वामी है उसका कोई उत्पन्न करने वाला नहीं, अतएव सिद्ध है कि ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता है प्रकृति नहीं।[३१]

आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि वेद ब्रह्म को ही जगत् का कर्त्ता प्रतिपादन करता है,[३२] जैसा कि यजुर्वेद के ३१ अध्याय के ५वें मन्त्र "ततो विराडजायत" में कहा है कि उसी परमात्मा से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ, इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध है कि परमपिता परमात्मा ही जगत् का निमित्त कारण है, स्वभाववादी चार्वाक की मानी हुई जड़ प्रकृति स्वतन्त्र कारण नहीं।

---

२८. हेयत्वावचनाच्च। वे०द० १/१/८
२९. स्वाप्ययात्। वे०द० १/१/९
३०. गतिसामान्यात्। वे०द० १/१/१०
३१. नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
सकारणं करणाधिपाधिपो नतस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।। श्वेता० ६/९
३२. श्रुतत्वाच्च। वे०द० १/१/११

ब्रह्म को जीव से भिन्न बताते हुए बताया है कि अभ्यास पाये जाने से परमात्मा आनन्दमय है।[३३] आनन्दमय केवल ईश्वर है जीव नहीं, क्योंकि उपनिषदों में पुनः-पुनः ईश्वर को ही आनन्दमय कथन किया है, जैसाकि तैति०ब्रह्म० में कहा गया है–उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न परमात्मा आनन्दमय है,[३४] इस अधिकरण के विषय वाक्यों में यह सन्देह होता है कि आनन्दमय पद जीव का वाचक है कि ब्रह्म का? यहाँ प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन है कि "तस्यैष एव शरीर आत्मा" इस वाक्य शेष से आनन्दमय के साथ शरीर सम्बन्ध पाये जाने के कारण प्रकृत में उक्त पद शरीर जीवात्मा का वाचक है? इसका सिद्धान्ती यह समाधान करता है कि उक्त वाक्य से लेकर "यतोवाचो निवर्त्तन्ते" अर्थात् जहाँ मन वाणी की गति नहीं, इस वाक्य पर्यन्त उत्तरोत्तर मनुष्य, देव तथा गन्धर्वादिकों के आनन्द की अपेक्षा सौगुना अधिक कल्याण गुणाकर ब्रह्म का आनन्द वर्णन किया गया है, इसीलिए वह ही आनन्दमय हो सकता है जीव नहीं। और तर्क यह है कि "तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय" उसने संकल्प किया कि मैं बहुत रूप हो जाऊँ इसी संकल्प से "तत्तेजोऽसृजत" अर्थात् उसने तेज को उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्यों में जो संकल्पपूर्वक सृष्टिरचना पाई जाती है वह अल्पज्ञ जीव से नहीं हो सकती और मुक्त जीव का ऐश्वर्य सातिशय होने के कारण वह भी जगजन्मादिकों का हेतु नहीं हो सकता जैसाकि जगद्व्यापार वर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च" इत्यादि सूत्रों में वर्णन किया गया है, जब सृष्टि निर्माणादि का मुक्तों में अभाव कथन किया है तो फिर साधारण पुरुषों की तो कथा ही क्या, इससे सिद्ध है कि आनन्दमय केवल परमात्मा ही है जीव नहीं।

आगे कहा गया कि विकारवाची आनन्दमय शब्द के पाये जाने से ब्रह्म निर्विकार न रहेगा यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्यों 'मयट्' प्रचुर अर्थ में आया है।[३५] ब्रह्म का विकारी होना इसलिए ठीक नहीं कि प्रकृत में आनन्दमय पद विकारार्थक मयट् प्रत्ययान्त नहीं किन्तु "तत्प्रकृत वचने मयट्" अष्टाध्यायी ५/४/२१ इस सूत्र से प्रचुर अर्थ में मयट् प्रत्यय किया है जिसके अर्थ निरतिशय आनन्द के हैं, इससे सिद्ध है कि निरतिशय आनन्द वाले परमात्मा को ही

---

३३. आनन्दमयोऽभ्यासात्। वे०द० १/१/१२

३४. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तैत्तिरीय ब्रह्म० ५/११

३५. विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्। वे०द० १/१/१३

आनन्दमय मानना सङ्गत है जीव को नहीं, प्रचुर, प्रभूत, निरतिशय, अधिक यह सब पर्याय शब्द है। परमात्मा को आनन्द का हेतु कथन किये जाने से भी जीव आनन्दमय नहीं।[३६] ब्रह्म को प्राप्त होकर ही जीव आनन्द को प्राप्त होता है;[३७] इत्यादि वाक्यों में जीव को ब्रह्म प्राप्ति द्वारा आनन्द लाभ कथन किया गया है, जीव स्वयं आनन्दमय होता तो ब्रह्म प्राप्ति द्वारा उसको आनन्दित कथन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि ब्रह्म ही आनन्दमय है जीव नहीं।

वेद द्वारा ब्रह्म को आनन्दमय कथन करते हुए कहते हैं मन्त्र प्रतिपाद्य ब्रह्म ही गाया जाता है।[३८] जिस ब्रह्म को वेद में आनन्द स्वरूप कथन किया गया है उसी को उपनिषदों में आनन्दमय वर्णन किया है, जैसाकि "कस्मैदेवाय हविषा विधेम" यजु० १३/४ अर्थात् उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करें। "नमः शम्भवाय च मयोभवाय च" यजु० १६/४० अर्थात् उस सुख के देने वाले आनन्दस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है, इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा को आनन्दस्वरूप वर्णन किया है और उसी को 'तस्माद्वा एतस्मा०' तैत्ति० ५/११ इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में उपनिषत्कार आनन्दमय शब्द से प्रतिपादन करते हैं, वही अपने आनन्द से सबको आनन्दित करता है। इसलिए जीव को आनन्दमय मानना ठीक नहीं।

कोई युक्ति न पाये जाने से जीव आनन्द स्वरूप नहीं हो सकता।[३९] जीव के आनन्दस्वरूप होने में कोई युक्ति नहीं पाई जाती, यदि वह आनन्दस्वरूप होता तो संसार में दुःख का अभाव पाया जाता पर संसार में नाना दुःखों की उपलब्धि पाये जाने से स्पष्ट है कि ईश्वर के आनन्द से ही जीव आनन्दित होता है स्वतन्त्र सत्ता से आनन्दस्वरूप नहीं जैसाकि स्वा० शंकराचार्य जी ने भी लिखा है कि "इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा नेतरः इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः" शं०भा० १/१/१६ अर्थात् ब्रह्म ही आनन्दमय है उससे भिन्न जो जीव है वह आनन्दमय नहीं, इस सूत्र के भाष्य में उक्त स्वामी जी ने जीव ब्रह्म के भेद को बिना किसी ननु नच के स्पष्ट माना है, स्वामी रामानुज इस सूत्र का यह अर्थ करते हैं कि मुक्त जीव भी ब्रह्म के समान आनन्द वाला नहीं होता, यद्यपि मुक्त जीव और संसारी जीव विषयक यहाँ दोनों भाष्यकारों के मत में कुछ अर्थ भेद हैं

---

३६. तद्धेतु व्यपदेशाच्च। वे०द० १/१/१४
३७. रसंह्येवायं लबध्वानन्दी भवति। तैत्ति० २/७
३८. मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते। वे०द० १/१/१५
३९. नेतरोऽनुपपत्तेः। वे०द० २/१/१६

तथापि जीव ईश्वर के भेद में दोनों आचार्यों के मत में यह सूत्र भेदवाद को सिद्ध करता है।

अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हुए कहा है कि जीव ब्रह्म का भेद पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[४०]

स्वा० शंकराचार्य जी ने इस सूत्र के भाष्य में जीव ब्रह्म के भेद को इस प्रकार अविद्याकृत माना है कि जैसे घटोपाधिवाले घटाकाश से महाकाश भिन्न होता है इसी प्रकार जीव ईश्वर का अविद्या उपाधिकृत भेद है वास्तव भेद नहीं, परन्तु ईश्वर का अविद्या उपाधि से भूलकर जीव बन जाना ब्रह्मसूत्रों में कहीं भी नहीं पाया जाता।

आगे जीव में आनन्द के अनुमन का निषेध करते हुए बताया है कि जीव में आनन्द की कामना पाये जाने से अनुमान द्वारा कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।[४१] जो चेतन स्वरूप होता है वह आनन्दस्वरूप होता है, इस नियमानुसार जिस प्रकार चेतन होने से ब्रह्म आनन्दमय है इसी प्रकार चैतन्यधर्म के पाये जाने से जीव भी आनन्दस्वरूप है, इस अनुमान से जीव का आनन्दस्वरूप होना इसलिए ठीक नहीं कि जीव में आनन्द लाभ करने की कामना पाई जाती है, यदि वह आनन्द स्वरूप होता तो सुखोपलब्धि के लिये कदापि यत्न न करता पर करता है, इससे उक्त अनुमान बाधित होने के कारण स्पष्ट है कि जीव आनन्दमय नहीं।

इसको ही अन्य अर्थ में स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्म में जीव का आनन्द के साथ योग शास्त्र कथन करता है।४२ जब यह जीव अदृश्य अर्थात् इन्द्रियगोचर अनात्म्य-इन्द्रियादि अवयव रहित ब्रह्म में अभय रूप प्रतिष्ठा पाता है तब अभय को प्राप्त होता है और जब उससे थोड़ा भी भिन्न रहता है अर्थात् अपनी चित्तवृत्ति का भेद करता है तब उसको भय होता है, इत्यादि वाक्यों में परमात्म योग से जीव के संसार रूप भय की निवृत्ति तथा भिन्नता से भय निरूपण किया है, जिससे सिद्ध है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं।[४३]

---

४०. भेदव्यपदेशाच्च। वे०द० १/१/१७

४१. कामाच्चनानुमानापेक्षा।। वे०द० १/१/१८

४२. अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति।। वे०द० १/१/१९

४३. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति, यदाह्येवैष एतस्मिनुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति। तै०ब्र० ७/१५

ब्रह्म को आनन्दमय सिद्ध करके उसके परमात्म सम्बन्धी धर्मों को बताते हुए लिखते हैं कि परमात्म सम्बन्धी धर्म उससे बिना अन्य किसी में नहीं हो सकते, इसलिये हिरण्मयादि पद परमेश्वर की स्वयं प्रकाशता को बोधन करते हैं।[४४] जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि जो आदित्य में हिरण्मय पुरुष है वह सुवर्ण की दाढ़ी वाला सुनहरी केशों वाला और नख से लेकर सम्पूर्ण सुवर्णमय है,[४५] इत्यादि वाक्य इस अधिकरण के विषय वाक्य हैं।

आगे अन्तर्यामी ब्राह्मण में आदित्यमण्डल तथा उसके नियन्ता का भेद वर्णन करते हुए लिखा है४६ कि जो आदित्य में रहता है जिसको आदित्य नहीं जानता जिसका आदित्य शरीर है और जो आदित्य के अन्तर व्यापक होकर इसको नियम में रखता है वही तुम्हारा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है, इसी प्रकार जो सूर्य में रहता है और जिनको सूर्य जड़ होने के कारण नहीं जानता इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि आदित्यपुरुष से सूर्य की उपासना नहीं पाई जाती किन्तु ज्योतिर्मय ब्रह्म की ही पाई जाती है।[४७]

आगे आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करते हुए कहा है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय आदि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से यहाँ आकाश ब्रह्म का नाम है।[४८] जो सूर्यादि लोकों का प्रकाशक हो उसको आकाश कहते हैं, इसलिए सूर्यादि लोकों का प्रकाशक ब्रह्म आकाश शब्द वाच्य है,[४९] इसी भाव को छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही लय होते, आकाश ही इन सब से बड़ा और सबका यही अधिकरण है।[५०] इत्यादि वाक्यों में जगजन्मादि ब्रह्म के लिङ्ग पाये जाने से

---

४४. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्। वे०द० १/१/२०

४५. "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते
हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः।" छा० १/६/६

४६. भेदव्यपदेशाच्चान्यः। वे०द० १/१/२१

४७. य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं। य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।। बृहदा० ३/७/९

४८. आकाशस्तल्लिङ्गात्।। वे०द० १/१/२२

४९. आसमन्तात्काशते प्रकाशते सूर्यादीन्यः स आकाशः।

५०. आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशदेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।। छान्दो० १/९/१

आकाश शब्द ब्रह्म का वाची है, क्योंकि सब लोकों का प्रकाशक अर्थात् उत्पत्तिकर्त्ता परमात्मा ही है अन्य नहीं, इसलिये आकाश से ब्रह्म का ग्रहण करना ही उचित है।

आकाश शब्द के ही समान प्राण शब्द भी ब्रह्म का वाचक है,[५१] क्योंकि इसमें भी पूर्वोक्त हेतु पाये जाते हैं। जैसा कि छान्दोग्य में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण प्राणी प्राण से ही प्रकट होते और उसी में लय होते हैं।[५२] इत्यादि शब्दों में प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है क्योंकि उत्पत्ति आदि लिङ्ग ब्रह्म से भिन्न प्राण, अपानादिकों में नहीं हो सकते। अतएव सिद्ध है कि प्राण नाम ब्रह्म का है।

परमात्मा को ज्योति शब्द से कथन करते हुए कहा है कि चार पाद कथन किये जाने से ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक है।[५०] "अथ यदतः परोदिवा ज्योति दीप्यते०" अर्थात् गायत्री वर्णन के अनन्तर स्वर्गलोक से ऊपर जो प्रकाशमान ज्योति; शब्द सूर्यादि ज्योति का वाचक है कि परमात्मा का वाचक है? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए इस अधिकरण का प्रारम्भ किया गया है कि चारपाद कथन किये जाने से प्रकृत में ज्योतिः नाम ब्रह्म का है, जैसाकि यजुर्वेद में कहा गया है–यह सब संसार उस पुरुष का महत्व है, वह इससे बड़ा है, विश्व के सब भूत इसके एक पाद स्थानीय और तीन पाद अमृत रूप हैं,[५४] इस प्रकार चार पाद कथन किये जाने से ज्योति शब्द यहाँ ब्रह्म का बोधक है।

इस पर शंका करते हुए कहा है कि गायत्री छन्द के भी चार पाद कथन किये गये हैं फिर ज्योतिः शब्द से गायत्री का ग्रहण क्यों नहीं? इस शंका का उत्तर देते हुए कहा है कि छन्द के कथन किये जाने से प्रकृत में ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित्त का अर्पण करना कथन किया है और निश्चय करके ऐसा ही शास्त्र विधान करते हैं।[५५] "गायत्री वा इदं सर्वमिति" छान्दोग्य में कहा गया यह सब कुछ

---

५१. अतएव प्राणः। वे०द० १/१/२३

५२. प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि
भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।। छान्दो० १/११/५

५३. ज्योतिश्चरणाभिधानात्।। वे०द० १/१/२४

५४. एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।। यजु० ३१/३

५५. छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम्।। वे०द० १/१/२५

गायत्री है, इस पूर्व वाक्य से गायत्री छन्द का उपक्रम करके उपसंहार में "ज्ञैषा चतुष्पदा गायत्री" अर्थात् यह चतुष्पात् गायत्री है, इस प्रकार गायत्री के चार पाद कथन किये हैं, अतएव यहाँ ब्रह्म का प्रकरण न होने से ज्योति शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं हो सकता। यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि इस प्रकरण में गायत्री द्वारा ब्रह्म में चित का स्थिर करना पाया जाता है और ब्रह्म ही व्यापक होने से सर्वात्मक हो सकता है अक्षरस्थ गायत्री नहीं, इसलिये यह ब्रह्म का प्रकरण होने के कारण प्रकृत में ज्योतिः शब्द ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य पदार्थ का वाचक नहीं।

उक्त अर्थ में और युक्ति कथन करते हुए कहा है कि भूत आदि चार पादों का व्यपदेश पाये जाने से भी उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।[५६] पृथ्वी आदि भूत ईश्वर के एकपाद स्थानीय और तीन पाद अमृत रूप हैं,[५७] इस मन्त्र में जो पृथ्वी आदि भूतों को ईश्वर का एकपाद स्थानीय कथन किया है वह ब्रह्म पक्ष में ही घट सकता है अन्यत्र नहीं, क्योंकि अक्षररूप गायत्री जगत् का आधार नहीं हो सकती, इसलिये ज्योतिः शब्द को छन्द अर्थ में ग्रहण करना सर्वथा असंगत है।

अब सूत्र २४ के भाष्य में वर्णित "यदतः परोदिवो० और त्रिपादस्यामृतं दिवि" इन दोनों विषय वाक्यों के परस्पर विरोध को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि उपदेश भेद से ब्रह्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त दोनों वाक्यों में ही विरोध नहीं।[५८]

द्यौलोक से परे दिव्य स्वरूप ज्योति विराजमान है,[५९] इस वाक्य में 'दिव' शब्द का पञ्चमी विभक्ति द्वारा ज्योति का द्युलोक से परे होना कथन किया है और द्युलोक में तीन पाद अमृत हैं,[६०] इस वाक्य द्वारा द्युलोक को ज्योति का आधार कथन किया है, इस प्रकार दोनों वाक्यों में विरोध होने के कारण, प्रकृत में ज्योति शब्द से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता। यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि उक्त विरोध अभासमात्र है अर्थात् जिस प्रकार लोक में वृक्ष के अग्रभाग

---

५६. भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्।। वे०द० १/१/२६
५७. पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि।
५८. उपदेशभेदान्नेति चेन्नेभयस्मिन्नप्य विरोधात्। वे०द० १/१/२७
५९. यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।
६०. त्रिपादस्यामृतं दिवि।

सम्बन्धी पक्षी का पंचमी तथा सप्तमी दोनों विभक्तियों द्वारा कथन पाया जाता है, जैसा कि "वृक्षाग्रे पक्षी" अर्थात् वृक्ष के अग्रभाग में पक्षी है अथवा "वृक्षागात् परतः पक्षी" वृक्ष के अग्रभाग से परे पक्षी है जिस प्रकार यह विरोध विरोधाभास है इसी प्रकार एक ही ज्योति शब्द का उक्त दोनों प्रकार से कथन पाये जाने पर भी ब्रह्म के परामर्शक होने में कोई बाधा नहीं।

आगे प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करते हुए कहते हैं कि प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है,[६१] क्योंकि पूर्वापर प्रकरण से ऐसा ही पाया जाता है। कौषीतकि ब्राह्मण में जो इन्द्र प्रतर्द्दन का संवाद आया है वहाँ प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है भौतिक प्राण वाय्वादि पदार्थों का नहीं, क्योंकि विचारपूर्वक देखने से पूर्वोत्तर प्रकरण ब्रह्म-विषयक अर्थ में ही संगत होता है अर्थात् इन्द्र ने राजा प्रतर्द्दन को कहा कि मैं प्राणरूप प्रज्ञात्मा हूँ, तुम मेरी उपासना करो,[६२] इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय है यहाँ यह सन्देह होता है कि प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है कि प्राण वायु का? इसका उत्तर यह है कि "तुम मेरी उपासना करो" इस वाक्य शेष से ईश्वर की ही उपासना का विधान किया है प्राणवायु का नहीं, यदि यहाँ प्राणवायु का ग्रहण होता तो पूर्वोत्तर प्रकरण से ब्रह्म की उपासना न पाई जाती इससे सिद्ध है कि यहाँ प्राण शब्द ब्रह्म के अभिप्राय से आया है प्राणवायु के अभिप्राय से नहीं।

इस पर शंका उठी है कि 'इन्द्र शब्द से पौराणिक देवता विशेष की उपासना क्यों न मानी जाये। इसका उत्तर देते हुए कहा है कि वक्ता इन्द्र का अपने आत्मा को लक्ष्य रखकर उपदेश किये जाने से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं क्योंकि निश्चय करके इस प्रकरण में परमात्मा के साथ विशेष सम्बन्ध मानकर उपासना का विधान किया गया है।[६३] वक्ता इन्द्र ने अपने आत्मा का उपदेश नहीं किया किन्तु परमात्मा के साथ विशेष सम्बन्ध प्राप्त करके उसी की उपासना कथन किया है अर्थात् परमपिता परमात्मा की ओर से उपासना करने की आज्ञा दी है, इसलिये इन्द्र शब्द से पौराणिक देवता विशेष की उपासना मानना ठीक नहीं।

उक्त अर्थ को दृष्टान्त से उपादान करते हुए कहते हैं कि वामदेव की भाँति

---

६१. प्राणस्तथानुगमात्।। वे०द० १/१/२८

६२. "प्राणेस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व"–कौषी० ३/२

६३. न वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्ध भूमाह्यस्मिन्।। वे०द० १/१/२९

शास्त्र दृष्टि द्वारा परमात्मा की ओर से उपदेश है।[६४] सूत्र में तू शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए आया है, शास्त्र द्वारा होने वाले निर्भ्रान्त ब्रह्म साक्षात्कार का नाम शास्त्रदृष्टि है, जिस प्रकार शास्त्र दृष्टि से वामदेव ने परमात्मा के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके यह कथन किया है कि मैं मनु हूँ, मैं ही सूर्य हूँ,[६५] इत्यादि, इसी प्रकार अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके इन्द्र ने उपचार से अपने आपको ब्रह्म समझकर परमात्मा की ओर से उपदेश किया है कि मैं ही प्राण हूँ, मैं ही प्रज्ञात्मा हूँ, तू मेरी उपासना कर इसलिये प्रकरणस्थ प्राण शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण करना समीचीन है किसी देवता विशेष का नहीं।

आगे शंका करते हुए स्पष्ट किया है कि यदि यह कहा जाये कि जीव और प्राण वायु का लिङ्ग पाये जाने से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता; ऐसा कहना उचित नहीं है। जीव तथा प्राण का लिङ्ग पाये जाने पर भी यहाँ ब्रह्म का ही ग्रहण करना ठीक है, क्योंकि इस प्रकरण में एकमात्र ब्रह्म की ही उपासना का विधान किया गया है, यदि ऐसा न माना जाये तो जीव, प्राण तथा ब्रह्म तीनों की पृथक्-पृथक् उपासना माननी पड़ेगी, और ऐसा मानने से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होंगे इसलिये "प्राणस्य प्राणः" जीवन दाता होने से परमात्मा प्राण का भी प्राण और वही उपासनीय है अन्य नहीं।[६६]

जीवात्मा और ब्रह्म में भेद

वेदान्तदर्शन के नाम से आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त ही प्रसिद्ध है। रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को भी पर्याप्त रूप में जाना जाता है। वेदान्त सूत्र जिसको वेदान्तदर्शन अथवा ब्रह्मसूत्र कहा जाता है उसके मूल सूत्रों में जीवात्मा और ब्रह्म के भेद के विषय में निम्नलिखित रूप में मत प्राप्त होता है।

वेदादि शास्त्रों में जड़ जगत् और ब्रह्म का स्पष्टतया भेद पाये जाने से दोनों एक नहीं हो सकते।[६७] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया कि यह सब जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता और ब्रह्म में ही स्थिर होकर उसी में लय होता है, इसलिये यह सब प्रपञ्च ब्रह्म रूप ही है,[६८] इस प्रकार शमविधि पूर्वक सबको ब्रह्म

---

६४. शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वभदेववत्। वे०द० १/१/३०
६५. अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। बृहदा० १/९/१०
६६. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्।। वे०द० १/१/३१
६७. सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्। वे०द० १/२/१
६८. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत्। छान्दो० ३/१४/१

समझकर उपासना करे? इस पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिए इस अधिकरण का आरम्भ किया गया है कि वेद और उपनिषदों में जगत् ब्रह्म का भेद पाया जाता है। जैसाकि यजुर्वेद में कहा गया है–जो कुछ चराचर जगत् है सो यह सब परमात्मा से व्याप्त है, इसको वैराग्यभाव से भोग, किसी के भी धन की इच्छा मत कर।[६९] इस मंत्र में स्पष्ट प्रकार से व्याप्य व्यापक का भाव भेद वर्णन किया गया है अर्थात् व्याप्य व्यापक का भाव भेद होने पर ही हो सकता अन्यथा नहीं। और बृहदारण्यक में यह भेद इस प्रकार वर्णन किया गया है–हे गार्गी। इस अक्षर अर्थात् अविनाशी परमात्मा के नियम में यह सब सूर्य चन्द्रमा आदि स्थिर हैं।[७०] इन सभी वाक्यों में सर्वत्र जड़चेतन का भेद पाया जाता है।

जो कुछ भाष्यकारों ने जीवोपासना का पूर्वपक्ष करके इस सूत्र का ब्रह्मोपासना परक व्याख्यान किया है वह सर्वथा असङ्गत है क्योंकि जीवोपासना की गन्ध किसी विषय वाक्य में नहीं पायी जाती और जो समानाधिकरण वाक्यों में सर्वात्मवाद अर्थात् यह सब संसार ब्रह्म रूप है, यह सन्देह था जिसका उत्तर इस सूत्र में दिया गया, और जो यह शंका थी कि–"सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इस विषय वाक्य में चराचर जगत् को ब्रह्म कथन किया गया है? इसका उत्तर यह है कि यह विषय वाक्य जड़-चेतन सबको ब्रह्म नहीं कथन करता किन्तु यह कथन करता है कि शमविधि अर्थात् शान्ति के लिए सब पदार्थों को ब्रह्माश्रित समझकर ब्रह्मेपासना करे, उक्त औपनिषद् वाक्य का वाक्यार्थ यह है कि–उसी ब्रह्म से सब पदार्थ उत्पन्न होते, उसी में लय होते, और उसी में सब प्राणी प्राणादि चेष्टा करते है,[७१] इस अंश में ब्रह्माश्रित होने से सब पदार्थ ब्रह्म कहे जाते हैं, यदि जड़-चेतन सब ब्रह्म ही इस वाक्य का आशय होता तो "उपासीत्" कथन करने से यह उपासना किसको विधान की जाती? हमारे मत में यह दोष नहीं आता क्योंकि हम तो इस उपदेश को साम्यभाव का उपदेश मानते हैं और समता प्रकट करने के लिये यह रीति अन्य ग्रन्थकारों ने भी लिखी है।

---

६९. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्।। यजु० ४०/१

७०. एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि
सूर्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।। बृहदा० ३/८/९

७१. तस्माज्जायतेति तज्जं तस्मिन्लीयते इति तल्लं तस्मिन् अनितिचेष्टत इति तदनम् एतेषां समाहार इति तज्जलान्।

जड़ जगत् में कर्तृत्वादि गुणों का अभाव बताते हुए आगे बताते हैं—यदि जगत् और ब्रह्म एक होते तो ब्रह्म की भाँति जगत् में भी कर्तृत्वादि तथा आनन्द आदि गुण पाये जाते परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि जगत् ब्रह्म एक नहीं।[७२] आगे इस पर प्रश्न उठता है कि जगत् ब्रह्म का भेद रहे पर आनन्दादि गुणों वाले जीव का ब्रह्म से अभेद क्यों न माना जाये? इसका उत्तर सूत्र के अनुसार देते हैं कि 'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, जीव के आनन्दादि गुणों वाला होने में कोई उपपत्ति अर्थात् युक्ति नहीं पाई जाती प्रत्युत मैं दुःखी हूँ, इत्यादि प्रतीतियों से जीव में दुःख अनुभव स्पष्ट पाया जाता है, इसलिये आनन्दादि गुणों से रहित होने के कारण जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।[७३]

अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हुए कहते हैं कि—कर्म तथा कर्ता रूप से जीव ब्रह्म का भेद कथन किये जाने से दोनों एक नहीं।[७४] उपासना प्रकरण में जीव को उपासना क्रिया का कर्ता और ब्रह्म को कर्म रूप से वर्णन किया गया है। जैसाकि श्वेताश्वतर में कहा गया—सबका नियन्ता परमात्मा जो एक प्रकृतिरूप बीज को अपनी रचना से अनेक प्रकार का कर देता है, जो पुरुष उसको अन्तरात्मा समझकर ध्यान करते हैं उन्हीं को निरन्तर सुख होता है अन्यों को नहीं,[७५] यदि जीव ब्रह्म एक होते तो उक्त वाक्य में एक को कर्म और दूसरे को ध्यान क्रिया का कर्त्ता कदापि वर्णन न किया जाता पर कर्ता कर्म का स्पष्टतया भिन्न व्यपदेश होने से सिद्ध है कि उक्त दोनों एक नहीं और न वह किसी अवस्था में एक हो सकते हैं।

शब्द विशेष के पाये जाने से भी जीव ब्रह्म का भेद है।[७६] शब्द प्रमाण भी विशेषरूप से जीव ब्रह्म के भेद ही को प्रतिपादित करता है। जैसाकि छान्दोग्य में कहा गया है कि इस जीव रूप आत्मा द्वारा प्रवेश करके नाम रूप को करूँ, यहाँ "जीवेनात्मना" इस पद से जीव ईश्वर का भेद प्रतिपादन किया है।[७७] कुछ

---

७२. विवक्षितगुणोपपत्तेश्च। वे०द० १/२/२
७३. अनुपत्तेस्तु न शारीरः। वे०द० १/२/३
७४. कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च। वे०द० १/२/४
७५. एकोवशी निष्क्रियाणां बहुनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थंयेऽनुपश्यन्तिधीरास्तेषांसुखंशाश्वतंनेतरेषाम्।। श्वेता०श्व० ६/१२
७६. शब्दविशेषात्। वे०द० १/२/५
७७. "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरबाणि" छान्दो० ६/३/२

लोग यहाँ पर यह आशंका करते हैं कि क्या ब्रह्म जीवरूप होकर अपने आप शरीर में प्रविष्ट हुआ? इसका उत्तर यह है कि जीव को आत्मा यहाँ इस अभिप्राय से कहा गया है कि जीव ब्रह्म का स्वत्व अपना है, इसलिये आत्मा शब्द से कथन किया गया है।

अब जीव ईश्वर के भेद में स्मृति प्रमाण कथन करते हैं–स्मृति से भी जीव ईश्वर का भेद पाया जाता है।[७८] स्मृति में जीव ईश्वर का भेद स्पष्ट वर्णन किया गया है। जैसाकि मनुस्मृति में कहा गया है कि प्रकृत्यादि सूक्ष्म पदार्थों की अपेक्षा से अतिसूक्ष्म सब के नियन्ता निर्विकार ब्रह्म को शुद्ध मन से चिन्तन करे यहाँ ध्यान करने वाले जीव तथा ध्येय परमेश्वर का स्पष्ट भेद कथन किया है, यदि मनोमय वाक्य के निर्णयार्थ यह अधिकरण होता तो स्मृति से भेद बोधन न किया जाता।

वह ब्रह्म प्राणियों के हृदय में व्यापक होने से विराजमान है, इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि "एष म आत्मान्तर्हृदये" यह मेरा आत्मा हृदय के भीतर है और 'अणोरणीयान्' अर्थात् वह अणु से भी अणु है, इत्यादि वाक्यों में जो परमात्मा को जीवरूप मानकर दोनों का अभेद कथन किया है वह इसलिये ठीक नहीं कि हृदयरूप अल्पदेश में ध्यान करने के लिए ब्रह्म को "अर्भकौक" अर्थात् अल्पस्थान वाला कहा गया है, वही जीव भाव को प्राप्त होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ[७९] इस अभिप्राय से उसको अर्भकौक नहीं कहा किन्तु उसी परमात्मा को जीवात्मा के अन्तःकरण रूपी गुहा में अल्पस्थान वाला कथन किया गया है, वस्तुतः "अर्भकौक" इसलिये नहीं कथन किया गया कि वह सर्वव्यापक है, इसी प्रकार परमसूक्ष्म होने के अभिप्राय से ब्रह्म के लिये 'अणीयः' शब्द का प्रयोग किया है, परमात्मा जीवरूप होकर अल्पदेशी व अणुपरिमाण वाला हो गया, यह भाव उपनिषद् का कदापि नहीं; क्योंकि "अनश्नन्नन्योऽभिचाक शीति" अर्थात् ईश्वर कर्मफल के भोग से रहित होकर साक्षीमात्र है, इत्यादि मंत्रों में उसको अभोक्ता प्रतिपादन किया गया है, इसलिये कर्मफल भोक्ता जीव तथा अभोक्ता ईश्वर का भेद मानना ही समीचीन है।

यहाँ पर शंका उठाई जाती है कि यदि परमात्मा हृदयदेश में है तो उसको

---

७८. स्मृतेश्च। वे०द० १/२/६

७९. अर्भकौकस्त्वात्तदव्यपदेशाच्च नेति चेन्न
निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। वे०द० १/२/७

सुख दु:ख की प्राप्ति भी होनी चाहिये? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जीव के हृदयदेश में व्याप्त होने पर भी परमात्मा को जीव के सुख-दु:ख की आपत्ति इसलिये नहीं हो सकती कि उन दोनों का परस्पर अत्यन्त भेद है, अर्थात् जीव सुख-दु:ख का भोक्ता और ब्रह्म साक्षी रूप से स्थिर है।[८०]

पुन: प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म भोक्ता नहीं तो उसको कठ में अत्ता क्यों कथन किया गया है? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि चराचर का ग्रहण करने वाला होने से परमात्मा को अन्ता कथन किया है।[८१]

जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—जिस ब्रह्म के ब्राह्मण क्षत्रियादि मनुष्यमात्र ओदन स्थानीय हैं और सबको भक्षण करने वाली मृत्यु जिसका शाकादि रूप है उस ब्रह्म को दुराचारी पुरुष नहीं जान सकता, वह दुर्विजेय है।[८२] इस वाक्य में जो ब्रह्म को अत्ता कथन किया है वह भोक्ता होने के अभिप्राय से नहीं कहा गया किन्तु परमात्मा सबका संहार करने वाले हैं, इस भाव से कथन किया है, क्योंकि कठोपनिषद् में इस वाक्य से पूर्व इसी बात का प्रकरण है कि उसको दुराचारी पुरुष नहीं जान सकता अर्थात् आचार भ्रष्ट होने से दुराचारी का मन और दृष्टि ऐसी नहीं होती जिससे वह सदाचारियों की भाँति उसको जान सके, इसी अभिप्राय से यजुर्वेद में कहा गया कि—"तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके" अर्थात् वह ईश्वर रूप आत्म तत्त्व चलता है और नहीं चलता वह दुराचारियों से दूर और सदाचारियों के समीप है, इस प्रकार यह निराकार ब्रह्म का प्रकरण है जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि यहाँ भक्षण से तात्पर्य चराचर के ग्रहण का है, जीव की भाँति भोक्ता होने के अभिप्राय से नहीं।

उपरोक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं कि प्रकरण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[८३] विवेकी पुरुष ब्रह्म को सर्वान्तरात्मा जानकर शोक मोह से रहित हो जाता है।[८४] इत्यादि वाक्यों में परमात्म सम्बन्धी प्रकरण पाये जाने के कारण अत्ता शब्द का अर्थ चराचर का ग्रहण कर्त्ता है भोक्ता नहीं।

---

८०. संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्। वे०द० १/२/८
८१. अत्ता चराचर ग्रहणात्। वे०द० १/२/९
८२. यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनं।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्रस:।। कठो० १/२/२५
८३. प्रकरणाच्च।। वे०द० १/२/१०
८४. महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

जीवात्मा और ब्रह्म में भेद स्थापित करते हुए यह युक्ति प्रस्तुत की है कि अन्तःकरण रूपी गुहा में जीव और ईश्वर दोनों को विराजमान कथन करके भिन्न वर्णन किया है,[८५] जैसाकि कठोपनिषद् में कहा गया है–हृदयरूपी आकाश तथा बुद्धि में प्रविष्ट शरीर रूप लोक में अपने किये हुए शुभ कर्मों के फल को भोगते हुए छाया और आतप के समान जीव, ईश्वर दोनों भिन्न-भिन्न रहते हैं, ब्रह्मवेत्ता और जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन किया है वह पंचयज्ञों के करने वाले कर्मकाण्डी लोग भी ऐसा ही कथन करते हैं।[८६] इत्यादि वाक्यों में छाया और आतप के दृष्टान्त से दोनों के अभेद का स्पष्टतया अभाव कथन किया है।

इसको अन्य प्रकार से कथन करते हुए आगे कहते हैं कि जीव ईश्वर दोनों के विशेषण भिन्न-भिन्न पाये जाने से दोनों का भेद स्पष्ट है।[८७] जैसाकि कठोपनिषद् में कहा गया–"आत्मानं रथिनं बिद्धि शरीरं रथमेव तु" इत्यादि वाक्यों में जीव को शरीर रूप रथ वाला कथन किये जाने से जीवात्मा का शरीरी विशेषण है और "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कठ० ३/१५ इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को अशरीरी अव्यय कथन किया गया है, इसी प्रकार उक्त वाक्यों में परमात्मा का गन्तव्य और जीव का गन्तृ अर्थात् प्राप्त होने वाला विशेषण होने से दोनों का भेद है। जो बुद्धिमान् विज्ञानी पुरुष शुद्ध बुद्धि रूपी सारथि रखता हुआ शुद्ध मन रूपी रासों को अपने अधीन रखता है अर्थात् जो विवेक को अपना सारथि बनाकर मनरूपी रासों को दृढ़ता से पकड़े हुए है वह पुरुष इस संसार मार्ग से पार होकर परमात्मा के परमपद को प्राप्त होता है,[८८] इस वाक्य में स्वाधीन मन वाला जीवात्मा का विशेषण और परमात्मा को परमपद रूप संसार मार्ग का पार कथन किया गया है, इस प्रकार विशेषणों के भेद से जीव ईश्वर का भेद है, इसी भाव को कठोपनिषद् में इस प्रकार से वर्णन किया है कि–जो परमात्मा अनादि, अनन्त, प्रकाशस्वरूप तथा अति सूक्ष्म होने के कारण दुर्विज्ञेय और हृदयाकाश में

---

८५. गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्।। वे०द० १/२/११

८६. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।। कठ० ३/१

८७. विशेषणाच्च।। वे०द० १/२/१२

८८. विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रह्वान्नरःसोऽध्वनः।
पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। कठ० ३/९

गह्वरेष्ठ अर्थात् गुप्त रूप से विराजमान है उसको धीर, विवेकी पुरुष अध्यात्मयोग द्वारा जानकर हर्ष शोक से रहित हो जाते हैं।[८९] यदि जीव ईश्वर का अभेद होता तो इस वाक्य में एक को ज्ञाता और दूसरे को ज्ञेय वर्णन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि उपनिषत्कार को जीव ईश्वर दोनों भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं एक नहीं, अधिक क्या इसी भाव को ऋग्वेद में इस प्रकार स्पष्ट किया है कि-जिस प्रकार फलार्थी पक्षी वृक्ष का आश्रय करता है इसी प्रकार जीव, ईश्वर रूपी पक्षियों ने प्रकृति रूप वृक्ष का आश्रय किया हुआ है, यहाँ यह शंका होती है कि क्या जीव की भाँति ईश्वर भी फल भोक्ता है? इसका उत्तर मंत्र के उत्तरार्द्ध में यह दिया गया है कि दोनों में से जीव कर्मफल का भोक्ता और ईश्वर साक्षीरूप से स्थिर रहता है।[९०] यहाँ पर जीव का भोक्ता होना विशेषण और ईश्वर का साक्षी रूपेण नियन्ता होना विशेषण है, इस कथन से "ऋतंपिवन्तौ" इस वाक्य का भी उत्तर आ गया कि यहाँ द्विवचन से यह भाव नहीं कि दोनों फल के भोक्ता हैं किन्तु "छत्रिणोयान्ति" अर्थात् छाते वाले जाते हैं, इस प्रकार जीव फलभोक्ता होने के कारण ईश्वर में भी उपचार से भोक्तृत्व कथन किया गया है वास्तव में नहीं।

कुछ लोग ऋग्वेद में आये हुए इस मंत्र में बुद्धि और जीव के अर्थ करते हैं कि बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण भोक्ता और जीव चेतन साक्षी है, पर ऐसा अर्थ करने से "सयुजौ, सखायौ" यह दोनों विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि "सयुजौ" के अर्थ दोनों अनादि और "सखायौ" के अर्थ उपास्य उपासक रूप से दोनों मित्र हैं, बुद्धि सादि होने के कारण सदा नहीं रहती तथा जड़ होने से उपास्य उपासक रूप मित्रता वाली भी नहीं हो सकती, कैसा ही कोई अर्थाभास क्यों न करे इस वेद मंत्र का अर्थ यही होता है कि एक प्रकृति रूप वृक्ष में जीव ईश्वर रूप दो पक्षी अनादि काल से निवास करते हैं जिनमें जीव भोक्ता और ईश्वर साक्षी रूप है, यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मुण्डकोपनिषद् के क्रम से उत्तर श्लोक में यह वर्णन किया गया है कि अविद्या के कारण जीव जीव में भोक्तृत्व है वास्तव में नहीं? जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया कि प्रकृतिरूप वृक्ष में

---

८९. तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेनदेवंमत्वाधीरोहर्ष शोकौजहाति।। कठ० २/१२

९०. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलांस्वाद्वत्यनश्नन्योभिचाकशीति।। ऋ० २/३/१७

स्थिर जीवात्मा अज्ञान से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है, जब अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमा को जान लेता है तब शोक से रहित हो जाता है।[९१]

अब आगे परमात्मा के सर्वगत होने की शंका को स्पष्ट करते है कि परमात्मा सब पदार्थों के अन्तर्गत है, इसमें युक्ति यह है कि दो मूर्त पदार्थ एक स्थान में नहीं समा सकते, परन्तु परमात्मा अमूर्त होने के कारण उसमें उक्त दोष नहीं आता, अर्थात् परमात्मा के सर्वगत होने पर भी उसका जीव के साथ अभेद नहीं होता।[९२]

उपरोक्त अर्थ में ही आगे हेतु देते हुए कहते हैं कि स्थानादि का व्यपदेश पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[९३] बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्रह्मण में पृथ्वी आदि स्थानों में परमात्मा का व्यपदेश अर्थात् सर्वव्यापक होना वर्णन किया है। जैसाकि बृहदारण्यक में कहा गया कि जो पृथ्वी में रहता है तथा जो पृथ्वी के अन्तर्गत होकर नियमन करता है जिसको पृथ्वी नहीं जानती और जिसके वशीभूत होने से पृथ्वी आदि उसके शरीर हैं वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत है,[९४] इत्यादि अनेक वाक्यों द्वारा व्याप्य व्यापक भाव पूर्वक ईश्वर का पृथिव्यादि पदार्थों से भेद पाये जाने के कारण जीव ईश्वर का परस्पर भेद मानना ही युक्ति युक्त है।

इन युक्तियों के अर्थ को सम्पुष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि ईश्वर का जड़ पदार्थों के साथ तादात्म्य माना जाए तो परमात्मा आनन्दादि गुणविशिष्ट न रहेगा और यह बात वादी को भी इष्ट न होने से सिद्ध है कि सर्वव्यापक होने पर भी परमात्मा असङ्ग है।[९५] परमात्मा उपनिषद् सुनने वाले पुरुषों की गति होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है[९६] उपनिषद् श्रोता का नाम "श्रुतोपनिषत्क" है श्रुतोपनिषत्क पुरुष की गति परमात्मा में विधान की गई है, इससे भी अन्तर्यामी सर्वान्तर्गत पुरुष का तादात्म्य सब पदार्थों के साथ नहीं पाया जातां, इससे यह बात

---

९१. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।। मुण्ड० ३/१/२

९२. अन्तर उपपत्तेः।। वे०द० १/२/१३

९३. स्थानादिव्यपदेशाच्च।। वे०द० १/२/१४

९४. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यामन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्। वृह० ३/७/३

९५. सुखविशिष्टाभिधानादेव च।। वे०द० १/२/१५

९६. श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च।। वे०द० १/२/१६

भी स्पष्ट हो गई कि 'स्थानादिव्यगदेशाच्च' सूत्र में शालिग्रामादि प्रतीकों में ईश्वर पूजा करने का अभिप्राय नहीं यदि मूर्ति पूजा का अभिप्राय होता तो इस सूत्र में यह कथन न किया जाता कि श्रुतोपनिषद् पुरुषों की गति परमात्मा है।

भाव यह है कि यदि मूर्त्तिपूजा से तात्पर्य ईश्वर पूजा होता तो मूर्ख से मूर्ख की भी गति परमात्मा में पाई जाती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि उपनिषद् श्रोताओं की गति का विधान करना इस बात को सिद्ध करता है कि परमात्मा की विभुता ख्यापन करने के लिये ही इस अधिकरण का प्रारम्भ किया गया है किसी प्रतीक विशेष में ईश्वर पूजा करने के अभिप्राय से नहीं।

इस पर अगली शंका कि निराकार चेतन होने से जीव भी सर्वगत क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अणु होने के कारण जीवात्मा की सर्वत्र स्थिति नहीं पाई जाती और ना ही उसके व्यापक होने में कोई युक्ति उपलब्ध होती है इसलिये वह चेतन होने पर भी व्यापक नहीं हो सकता अर्थात् जो चेतन है वह व्यापक होता है, यह व्याप्ति सोपाधिक होने के कारण जीवात्मा में नहीं घट सकती, क्योंकि जो चेतन होकर व्यापक हो वह सर्वज्ञ होता है, जैसाकि विभु चेतन सर्वज्ञ ईश्वर है परन्तु जीवात्मा चेतन होने पर भी सर्वज्ञ नहीं, अत एव जीववृत्ति चेतनता उसके सर्वगत होने का प्रयोजक नहीं हो सकती।[९७]

वह ईश्वर अन्तर्यामी है इसको बताते हुए कहते हैं कि आधिदैवादिकों में परमात्मा सम्बन्धी धर्मों का व्यपदेश पाये जाने से परमात्मा अन्तर्यामी है।[९८] जो पृथ्वी में स्थिर होकर पृथ्वी का अन्तरात्मा है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, इत्यादि आधिदैव वाक्य इस अधिकरण का विषय है,[९९] यहाँ यह सन्देह होता है कि अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथ्व्यादिकों का अभिमानी देवता विशेष अन्तर्यामी है कि उपरोक्त में प्रतिपाद्य परमात्मा अन्तर्यामी है? इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन है कि "पृथ्व्येव यस्यायतनम्" अर्थात् पृथ्वी जिसका स्थान है, इस वाक्यशेष से नियमनकर्त्ता पृथ्व्याभिमानी देवता है परमात्मा नहीं; क्योंकि जो बढ़ई आदि कुठारादि के नियमन कर्त्ता देखे जाते हैं वह शरीरधारी होते हैं और परमात्मा

९७. अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः।। वे०द० १/२/१७

९८. अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्।। वे०द० १/१२/१८

९९. "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं
पृथिवी न वेद यस्य पृथिवीशरीरम्।।"

शरीरधारी नहीं, इसलिए शरीरधारी अभिमानी देवता ही अन्तर्यामी मानना ठीक है? इसका उत्तर यह है कि उक्त ब्राह्मण में जो सर्वज्ञत्व, नियमनकर्तृत्व आदि धर्म वर्णन किये गये हैं वह परमात्म भिन्न किसी देव विशेष के नहीं हो सकते, क्योंकि शरीरी देवताओं के होने में कोई प्रमाण नहीं और जो वाक्य "मृदब्रवीत्" अर्थात् मिट्टी बोली इत्यादि वाक्य अभिमानी देवताओं के बोधक माने गये हैं उनका आशय तदभिमानी परमात्मा से है पौराणिक देवताओं के प्रति पादनार्थ उपरोक्त वाक्यों की संगति नहीं, इस प्रकार प्रकरणगत तात्पर्य से परमात्मा ही अन्तर्यामी सिद्ध होता है शरीरधारी पृथिव्यादि अभिमानी देवता नहीं।

मनुस्मृति में कहा गया "अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वत:" इत्यादि स्मृति निरूपित अव्यक्त अन्तर्यामी ब्राह्मण का विषय नहीं क्योंकि अव्यक्त के परिणामित्वादि धर्म अन्तर्यामी ब्राह्मण में कथन नहीं किये गए किन्तु आत्मा शब्द से इस अन्तर्यामी पुरुष का वर्णन किया गया है जो अपनी अपार शक्ति से चिद् चिद् वस्तुओं का नियमन करने वाला है इसलिए यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा का बोधक है जड़ प्रधान प्रकृति का नहीं।[१००]

जड़ प्रधाननियन्ता न हो, पर योगी पुरुष के जीवात्मा को अन्तर्यामी में क्या हानि? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि दोनों शाखाओं वाले इसको अन्तर्यामी से भिन्न पढ़ते हैं।[१०१] दोनों शाखाओं में जीव और परमात्मा का भेद वर्णन किये जाने से योगी पुरुष का आत्मा भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता। जैसाकि बृहदारण्यक में कहा गया है कि जो आत्मा में रहता है, जिसको जीवात्मा नहीं जानता, जिसका जीवात्मा शरीर है और जो जीवात्मा को अन्त: अर्थात् आभ्यन्तर से प्रेरणा करके नियमन कराता है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी मृत्यु से रहित है।[१०२] यह माध्यन्दिनी शाखा वाले मानते हैं और काण्व शाखा वाले "यो विज्ञाने तिष्ठन्" यह पढ़कर जीव ईश्वर का भेद कथन करते हैं, इस प्रकार उभय शाखाओं में जीव तथा ब्रह्म का भेद प्रतिपादन किया गया है अभेद नहीं, इसलिये योगी पुरुष परमात्मा नहीं हो सकता किन्तु जो अन्तर्यामी ब्राह्मण में निरूपण किया गया है वही परमात्मा है।

---

१००. न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात्।। वे०द० १/२/१९

१०१. शारीरश्चोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते।। वे०द० १/२/२०

१०२. "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो ययात्मान वेद यस्यात्माया शरीरम्।" बृहदा० ३/७/२२

निराकार ब्रह्म की प्रतिज्ञा समर्थन करने के लिए अदृश्यत्वाधिकरण का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि निराकारादि धर्मों के कथन किये जाने से परमात्मा को अदृश्य, अगोत्रादि गुणों वाला कहा गया है।[१०३] जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया–वह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय न होने के कारण हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता, वह अवर्ण अर्थात् रूपादिकों से रहित है, चक्षुः श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से रहित है एवं हस्त पादादि कर्मेन्द्रियों से रहित है, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वगत और अतिसूक्ष्म है, वह अव्यय अर्थात् विकार से रहित सब भूतों की योनि कारण है, जिसको ज्ञानी पुरुष दिव्य दृष्टि से देखते हैं।[१०४] इत्यादि इस अधिकरण के विषयवाक्य हैं, यहाँ यह शंका होती है कि इससे पूर्व अन्तर्यामी अधिकरण में पृथिव्यादिकों को परमात्मा का शरीर कथन किया गया है और "तन्तुसमन्वयात्" इस अधिकरण द्वारा सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का निराकार ब्रह्म में समन्वय सिद्ध किया है, फिर पूर्वोत्तर विरोधी उक्त विषय वाक्य में परमात्मा अदृश्यत्वादि धर्मों वाला नहीं हो सकता, इसलिये अदृश्यत्वादि धर्म प्रकृति के मानने चाहिए ब्रह्म के नहीं। इसका समाधान यह है कि परमात्मा अदृश्यत्वादि धर्मों वाला होने के कारण साकार नहीं और ना ही उक्त धर्म प्रकृति के हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृति विकारी होने से कार्यावस्था में दृष्टिगत भी होती है और जो अन्तर्यामी अधिकरण में पृथिव्यादिकों को ईश्वर का शरीर निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि पृथ्वी आदि उस पुरुष के साधन हैं, जैसे कर्म करने के लिए जीव का शरीर साधन है, वास्तव में ब्रह्म अशरीरी है, जैसा कि कठोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि–अनन्त देहधारी जीवों के शरीर में अशरीरी अस्थिर पदार्थों में स्थिर है, जो इस प्रकार विभु आत्मा को जानता है वह शोक नहीं करता।[१०५] इत्यादि वाक्य ईश्वर के निराकार होने में प्रमाण हैं, आचार्य रामानुज ने भी अपने शारीरिक भाष्य में यह अर्थ किया है कि पृथ्वी आदि परमात्मा के अधीन चेष्टा करने से शरीर कहे जाते हैं। वास्तव में ब्रह्म

---

१०३. अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः।। वे०द० १/२/२१

१०४. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सूसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्डकोपनिषद् १/१/६

१०५. अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वाधीरो न शोचति।। कठो० ३/१२

अशरीरी है, इस प्रकार पूर्वोत्तर अधिकरणों का विरोध न पाये जाने के कारण समन्वयाधिकरणस्थ निराकार ब्रह्म की प्रतिज्ञा जैसी की तैसी बनी रहती है और परमात्मा के साकार होने का दोष भी मिट जाता है, इसलिए अदृश्यत्वादि धर्मों को ब्रह्मवृत्ति मानने में कोई बाधा नहीं।

इसी अर्थ को और सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विशेषण तथा भेद का व्यपदेश पाये जाने से जीव और प्रकृति परमात्मा नहीं हो सकते,[१०६] जैसाकि मुण्डक में कहा गया–वह दीप्ति वाला मूर्त्तधर्म से रहित और सर्वत्र व्यापक है। वह प्रत्येक पदार्थ के बाहर और भीतर है, उत्पत्ति रहित होने के कारण प्राण तथा मन से रहित है, प्रकाशस्वरूप और अव्याकृतरूप प्रकृति से भी परम सूक्ष्म है,[१०७] इत्यादि वाक्यों में अमूर्त्त आदि परमात्मा के विशेषण होने और अक्षर शब्द वाच्य प्रकृति का ब्रह्म से निरालापन कथन किये जाने से वास्तव में परमात्मा ही यहाँ अशरीरी कथन किया गया है जीव तथा प्रकृति नहीं।

पृथ्वी आदि ब्रह्म के शरीर नहीं फिर उनको शरीर रूप में क्यों वर्णन किया गया है? इस शंका का उत्तर देते हैं कि रूपक अलंकार से पृथ्वी आदि परमात्मा के शरीर कथन किये गये हैं वास्तव में नहीं हैं,[१०८] जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया–अग्नि जिस परमात्मा का मुख रूप है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं पूर्वोत्तरादि दिशायें श्रोत्र हैं, वेदरूप वाणी खुला हुआ मुख है, वायु प्राण स्थानी है, यह सम्पूर्ण विश्व उसका हृदय स्थान है और पादरूप पृथ्वी है, वह परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा है,[१०९] इत्यादि विषय वाक्यों में रूपक अलंकार अर्थात् उपचार से अग्नि आदि परमात्मा के मुखादि अवयव वर्णन किये गये हैं वास्तव में वह निराकार हैं।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि परमात्मा निराकार है तो फिर उसको वैश्वानर रूप में क्यों वर्णन किया गया है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वैश्वानर परमात्मा का नाम है, क्योंकि जठराग्नि में साधारण जो वैश्वानर शब्द उससे विषय

---

१०६. विशेषणभेदव्यपदेशभ्यां च नेतरौ।। वे०द० १/२/२२

१०७. दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्यभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणोह्यमना शुभ्रोह्यक्षरात्परतः परः।। मुण्ड० २/२

१०८. रूपोन्यासाच्च।। वे०द० १/२/२३

१०९. अग्निर्मूर्द्धाचक्षुषीचन्द्रसूर्य्यौदिशः श्रोत्रेवाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येषसर्वभूतान्तरात्मा।। मु० २/४

वाक्य में उसकी विशेषता पाई जाती है,[११०] यहाँ प्रसङ्ग यह है कि–वैश्वानरोपासना का मर्म समझने के लिए पाँच ऋषि मिलकर उद्दालक के पास गये, तब उद्दालक ने कहा कि हम सब मिलकर कैकय नाम राजा के पास चलें वह वैश्वानरोपासना का तत्व समझता है, राजा ने वायु आदि जड़ देवताओं की उपासना का खण्डन करके वैश्वानरोपासना का इस प्रकार वर्णन किया–जो उपासक प्रादेशमात्र सूक्ष्म स्थूल सब भूतों में व्यापक परमात्मा की उपासना करता है वह ही अन्नादिकों का भोक्ता होता है अर्थात् उसी का जीना सफल है उससे भिन्न और सब निष्फल ही अन्नादिकों का भक्षण करते हैं, इससे आगे स्वर्ग को वैश्वानर का सिर और सूर्य को चक्षुः रूप से वर्णन किया गया है,[१११] इस प्रकार उक्त विशेषता पाये जाने के कारण वैश्वानर शब्द से यहाँ परमात्मा का ग्रहण है जड़ जठराग्नि का नहीं।

उपरोक्त को स्पष्ट करने के लिए और हेतु देते हुए कहते हैं कि स्मृति में कथन किया है कि द्यु आदि लोक जिसके मूर्द्धास्थानीय हैं वही परमात्मा है,[११२] जैसाकि–ब्राह्मण लोग द्युलोक को परमात्मा का मुख, आकाश को नाभि, चन्द्र सूर्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और पृथ्वी को पाद वर्णन करते हैं, वह परमात्मा सब भूतों का नियमन करने वाला है।[११३] इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध है कि जिसके प्रकाशमय द्युलोकादि मूर्द्धा है वह परमात्मा है, इसलिये प्रकाश अग्नि को उन पुरुष का अवयव वर्णन किये जाने से वह उपास्य नहीं हो सकती।

अग्नि आदि शब्दों से और अन्दर स्थित कथन करने से वैश्वानर शब्द जठराग्नि का बोधक है। यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा की सर्वान्तर दृष्टि का उपदेश किया गया है और जाठराग्नि में उक्त अर्थ सम्भव नहीं हो सकता, दूसरी बात यह है कि इसी वैश्वानर को कई एक शाखा वाले पुरुष रूप से पढ़ते हैं।[११४]

---

११०. वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्।। वे०द० १/२/२४

१११. यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते।
स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।। छा० ५/१८/१

११२. स्मर्य्यमाणमनुमानं स्यात्।। वे०द० १/२/२५

११३. द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्राबदन्ति खं वै नाभिं चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रे,
दिशः श्रौत्रे विद्धि पादौ क्षितिञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता।।

११४. शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्चनेति चेन्न तथा
दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमपि चैनमधीयते।। वे०द० १/२/२६

एषोऽग्निर्वैश्वानरः अर्थात् यह वैश्वानर अग्नि है, इस प्रकार अग्नि का वैश्वानर शब्द से सामानाधिकरण्य कथन करके "पुरुषे अन्तः प्रतिष्ठितं वेद" अर्थात् पुरुष के भीतर स्थिर है वह वैश्वानर को जानता है, यह कथन किया है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि शब्दों तथा अन्तः प्रतिष्ठित कथन करने से वैश्वानर शब्द जाठराग्नि का बोधक है? इसका उत्तर यह है कि "दिव्योह्य मूर्त्तः पुरुष से वाह्यभ्यन्तरो ह्वजः" इत्यादि वाक्यों में परमात्मा की सर्वान्तर दृष्टि का प्रतिपादन किया है, इसलिए वह ही वैश्वानर हो सकता है अन्य जाठराग्नि नहीं, क्योंकि वह जठर में रहने के कारण परिच्छिन्न है सर्वान्तर नहीं, और बात यह है कि रूपक अलंकार से सूर्यादिकों को चक्षुरादि स्थानीय कथन करना जाठराग्नि पक्ष में नहीं घट सकता और आचार्य लोग भी वैश्वानर को पुरुष शब्द से ही कथन करते हैं इससे परमात्मा को ही वैश्वानर मानना उचित है।

वैश्वानर किसी देवता तथा भूत विशेष का वाचक नहीं।[११५] जैमिनि ऋषि यह मानते हैं कि साक्षात् अर्थात् प्रकरण और इतर हेतुओं पर यदि ध्यान न भी दिया जाए तो भी वैश्वानर शब्द ईश्वर का बोधक है, विश्व शब्द के अर्थ ब्रह्माण्ड के हैं, ब्रह्माण्ड का जो नर या स्वामी हो उसको वैश्वानर कहते हैं, विश्वानर एवं वैश्वानरः अर्थात् विश्वानर ही "वैश्वानर" कहलाता है, इस प्रकार साक्षात् भी यह शब्द ईश्वर का वाचक है।[११६]

अशमर्थ्य आचार्य के मत को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि वैश्वानरोपासना परमात्मा की अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकाश के लिए है। जैसे अग्नि प्रकाशमयत्वेन अभिव्यक्त है,[११७] इसी अभिप्राय से छान्दोग्य में वैश्वानरोपासना का प्रकरण आया है।

वादरि आचार्य का मत है कि अपरिच्छिन्न वैश्वानर परमात्मा को प्रादेश मात्र हृदय के अभिप्राय से कथन किया गया है और वह निदिध्यासन रूप भक्ति के लिए है।[११८] जैमिनि आचार्य का कथन है कि वैश्वानर शब्द वाच्य अपरिच्छिन्न कथन करना सम्पत्तिनिमित्तक है।[११९]

---

११५. अतएव न देवता भूतञ्च।। वे०द० १/२/२७

११६. साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः।। वे०द० १/२/२८

११७. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः।। वे०द० १/२/२९

११८. अनुस्मृतेवादिरः।। वे०द० १/२/३०

११९. सम्पत्तेरितिजैमिनिस्तथाहिदर्शयति।। वे०द० १/२/३१

उक्त अर्थ में सर्वसम्मत सिद्धान्त अन्य आचार्यों के मत में यह है कि इस वैश्वानर पुरुष का दोनों भ्रुवों के मध्यभाग में ध्यान क़िया जाता है। इसीलिए सर्वव्यापक वैश्वानर को प्रादेशमात्र कथन किया गया है।[१२०]

कुछ आचार्य इन सूत्रों से मूर्त्ति पूजा का भाव निकालते हैं कि जिस प्रकार भ्रू प्रदेश में वैश्वानर का ध्यान किया जाता है, इसी अभिप्राय से प्रादेश मात्र की उक्ति है, सो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वव्यापकत्वेन परमात्मा के सभी प्रदेश कहे जा सकते हैं, इससे मूर्ति पूजा सिद्ध नहीं हो सकती और भ्रू प्रदेश तो केवल चित्तवृत्ति निरोध करके ईश्वरोपासना सिद्ध करता है ना कि इतर वस्तुओं को ईश्वर समझकर ईश्वरोपासना का विधायक है, और जो सूर्य चन्द्रमा उसके नेत्र वर्णन किये हैं इससे कभी परमेश्वर एकदेशी सिद्ध नहीं होता किन्तु रूपकालंकार से सूर्यादिकों को जिसके नेत्र स्थानी वर्णन किया गया है वह सर्वगत है, यदि यह तर्क मान भी लिया जाये कि एक देशी मूर्ति आदिकों में भी उसकी उपासना हो सकती है तब भी उपसंहार में सूत्र ने यह स्पष्ट कर दिया कि औपनिषद् लोग इस पुरुष को सर्वव्यापक मानते हैं, इसीलिए पाषाणादि किसी मूर्ति में उसकी उपासना उपनिषदों में विधान नहीं की गई।

द्यौ आदि भी ब्रह्म के विशेषण हैं

स्व शब्द पाये जाने से द्यौ पृथ्वी आदि लोकों का ब्रह्म ही आधार अथवा अधिकरण है।[१२१] प्रकृत में स्व शब्द श्रुतिस्थ परमात्मवाची आत्मा शब्द के अभिप्राय से आया है आत्मा शब्द के पाये जाने से निराकार ब्रह्म ही द्युलोक पृथ्वी लोक आदि सब लोक लोकान्तरों का अधिकरण है। जैसाकि मुण्डक में कहा गया है कि जिसमें द्यु अर्थात् सुख प्रधान लोक, पृथ्वी लोक, अन्तरिक्ष लोक और सब प्राणों के साथ जिसमें मन ओत-प्रोत है उसी एकमात्र ब्रह्म को जानों और उससे भिन्न अन्य देवताओं के उपासना विधायक वाक्यों को छोड़ दो।[१२२] इस विषय वाक्य में आत्मानं पद से ब्रह्म ही सबका आश्रय बोधन किया गया है, इसलिए उसी की उपासना कर्त्तव्य है अन्य किसी देवता विशेष की नहीं। इस प्रकार के वाक्य इस विषय के अधिकरण हैं।

---

१२०. आमनन्तिचैनमस्मिन्।। वे०द० १/२/३२

१२१. द्युभ्वाद्यायतनंस्वशब्दात्। वे०द० १/३/१

१२२. यस्मिन् द्यौः पुथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्चसर्वैः तमेवैकंजानथ। आत्मानमन्यावाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।। मुण्डको २/२/५

मुक्त पुरुषों का प्राप्य स्थान कथन किये जाने से ब्रह्म ही सबका आयतन है।[१२३] वह सभी मुक्त पुरुषों का प्राप्य स्थान है, जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया कि इस परमात्मा के ज्ञान से दुर्वासना रूप ग्रन्थि भेद को प्राप्त होकर सब संशय दूर हो जाते हैं और उस पुरुष के कुसंस्कार रूपी अशुभकर्म क्षय हो जाते हैं, इस प्रकार ब्रह्म मुक्त पुरुषों के ज्ञान का विषय कथन किया गया है।[१२४]

शंका उपस्थित होती है कि परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा सूर्यादि पदार्थों को ही द्यु आदि लोकों का आधार क्यों न माना जाये? समाधान करते हुए वेदान्तदर्शन के सूत्रकार कहते हैं कि यदि अनुमान सिद्ध परस्पर आकर्षण शक्ति द्वारा सूर्यादि लोक ही एक-दूसरे का आधार होते तो अवश्य इस प्रकरण में उक्त अर्थ का बोधक कोई शब्द प्रमाण पाया जाता और जीव को भी सबका आधार वर्णन किया जाता पर सूर्यादि के आधार होने में कोई शब्द प्रमाण उपलब्ध न होने से सिद्ध है कि ब्रह्म ही द्युभ्वादि लोकों का आयतन है सूर्यादि जड़ पदार्थ नहीं।[१२५]

मुक्ति अवस्था में जीव ब्रह्म नहीं हो सकता, वहाँ पर भी भेद रहता है, जैसाकि उपनिषद् वाक्यों में कहा गया है-(१) प्रकृतिरूप वृक्ष में पुरुष निमग्न है जो अविद्या से मोह को प्राप्त हुआ शोक करता है।

(२) एक ज्ञानी और एक अज्ञानी ईश्वर और जीव दो हैं।

(३) यह जीवात्मा परमात्मा के आश्रित है।

(४) प्रकृत्यादि नित्य पदार्थों में नित्य और जीव रूप चेतन पदार्थों में चेतन है[१२६] इत्यादि वाक्यों में वाक्यों से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट पाया जाता है; इसलिये मुक्ति अवस्था में भी जीव ब्रह्म नहीं हो सकता और ब्रह्म न होने से द्युभ्वादिकों का आधार भी नहीं हो सकता।

इसी अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए सूत्र देते हैं कि प्रकरण भी ब्रह्म का होने से वही द्युभ्वाद्यायतन हो सकता है जीव नहीं।[१२७] और साक्षीरूप होकर

---

१२३. मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च।। वे०द० १/३/२

१२४. भिद्यतेहृदयग्रन्थिश्छियन्तेसर्वसंशयाः।
क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे।। मुण्ड०२/२/८

१२५. नानुमानमतच्छब्दात्प्राणभृच्च।। वे०द० १/३/३

१२६. समानेवृक्षेपुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः मुण्ड० ३/१/२

१२७. प्रकरणाच्च।। वे०द० १/३/५

असङ्ग रहने का नाम स्थिति और कर्मफल के भोग का नाम अदन है स्थिति तथा अदन क्रिया का पृथक्-पृथक् वर्णन पाये जाने से जीव ईश्वर दोनों भिन्न-भिन्न हैं।[१२८]

ब्रह्म को भूमा भी कहते हैं, इसको स्पष्ट करने के लिए भूमाधिकरण का आरम्भ करते हैं—प्राण से अधिक होने के कारण भूमा पद से ब्रह्म का ग्रहण है।[१२९] छान्दोग्य के सप्तम प्रपाठक में यह कथा है कि नारद ने सनत्कुमार को कहा कि हे भगवन्! अध्ययन कराओ, सनत्कुमार ने कहा कि जो तुम जानते हो सो कहो उससे आगे हम कहेंगे, नारद ने कहा कि भगवन्! मैं केवल ऋग्वेदादि विद्या जानता हूँ, इसलिए मन्त्रवेत्ता हूँ और मैंने सुना है कि 'तरतिशोकमात्मवित्" अर्थात् आत्मवेत्ता पुरुष शोक को तरता है, मैं शोक को प्राप्त हूँ सो मुझको आप शोक से पार करें, सनत्कुमार ने कहा, यह जो ऋग्वेदादि विद्या तुमने अध्ययन की है यह नाम है और नाम ही ब्रह्म है, तुम इसी की उपासना करो, नारद ने कहा नाम से भी कोई उत्तम है? सनत्कुमार बोले कि नाम से बाणी बड़ी है, इस प्रकार वाणी से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से जल, जल से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मृति, उससे आशा या कामना, आशा से आगे प्राण को ब्रह्मरूप से उपास्य विधान किया।

धर्मों के पाये जाने से भूमा नाम परमात्मा का है।[१३०] परमात्मा में कथन किये गये जो धर्म, उनकी सिद्धि पाये जाने से यहाँ, सर्वशक्तिमत्व, सर्वान्तर्यामित्व और सर्वाधारत्वादि धर्म जो अल्प पदार्थ में नहीं हो सकते वह उसमें पाये जाने के कारण भूमा नाम परमात्मा का है; परमात्मा की अपेक्षा अत्यन्त अल्प प्रकृति के विकारभूत प्राण का वाची नहीं।

एक समय गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि स्वर्ग, पृथ्वी आदि सब पदार्थ किसमें ओत-प्रोत हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आकाश में, गार्गी ने कहा आकाश किसमें ओत-प्रोत है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि—हे गार्गी! जो तुमने पूछा कि आकाश किसमें ओत-प्रोत है सो वह अक्षर है जिसको ब्रह्मवेत्ता लोग

---

१२८. स्थित्यदनाभ्यां च।। वे०द० १/३/६

१२९. भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्।। वे०द० १/३/७

१३०. धर्मोपपत्तेश्च।। वे०द० १/३/८

इस प्रकार वर्णन करते हैं कि वह न स्थूल न अणु न ह्रस्व न दीर्घ है अर्थात् जो उक्त परिमाण वाला जड़ द्रव्य है उससे वह भिन्न है, और वह लोहित-लाल, स्नेह-चिकना छाया, तम वायु और आकाश रूप भी नहीं वह असङ्ग है, रस, गन्ध, नेत्र, श्रोत्र, वाक् मन, तेज, प्राण, मुख और इन्द्रियों वाला नहीं अर्थात् किसी माप से मापा नहीं जा सकता, वह केवल अन्दर व बाहर ही नहीं किन्तु सर्वत्र एक रस व्यापक है, वह किसी को खाता नहीं और न उसको कोई खा सकता है, उस अक्षर की आज्ञा में सूर्य चन्द्रमादि तथा स्वर्ग पृथ्व्यादि स्थित हैं, वह अक्षर देखा नहीं जा सकता पर वह सबको देखता है, और वह स्वयं अश्रुत है पर आप सब सुनता है, वह अमन्ता अर्थात् मन का विषय नहीं, बुद्धि का विषय नहीं आप सबका ज्ञाता है, उस अक्षर में आकाशादि सब ओत-प्रोत हैं, यहाँ जो यह कहा गया है कि वह मन आदि का विषय नहीं, इसका यह अभिप्राय है कि वह असंस्कारी मन, बुद्धि आदि का विषय नहीं।

आकाशादिकों की धारणा पाये जाने से अक्षर नाम परमात्मा का है।[१३१] "नक्षरतीत्यक्षरं" अर्थात् जिसका नाश न हो उसको अक्षर कहते हैं, इस अर्थ से अक्षर नाम प्रकृति का भी है, क्योंकि वह भी नाश नहीं होती, केवल रूपान्तरों में बदल जाती है फिर यहाँ अक्षर से प्रकृति का ग्रहण क्यों न किया जाए? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि आकाशादिकों की धृति प्रशासन करने वाले चेतन परमेश्वर में ही पाई जाती है।[१३२] हे गार्गी इस अक्षर अविनाशी परमात्मा के प्रशासन में सूर्य, चन्द्रमा अपनी मर्यादा में स्थिर है, इस वाक्य से सूर्यादि लोकों का प्रशासनपूर्वक धारण करना चेतन में पाया जाता है,

इसलिए जड़ प्रकृति आकाशादिकों का धारण करने वाली न हो सकने के कारण अक्षर पद का वाच्य नहीं हो सकती।[१३३]

तात्पर्य यह है कि यद्यपि स्वरूप से सर्वथा प्रच्युत न होने और आकाशादि कार्यमात्र का उपादान कारण होने से प्रकृति भी स्वकार्यभूत आकाशादिकों का धारण करने वाली हो सकती है परन्तु नियन्ता होकर धारण करना प्रकृति का धर्म नहीं, क्योंकि नियन्तृत्व धर्म जड़ में नहीं हो सकता, इसलिये उक्त विषय में वाक्य में अक्षर पद परमेश्वर का ही वाचक जानना चाहिये प्रकृति का नहीं।

---

१३१. अक्षरमम्बरान्तधृतेः।। वे०द० १/३/९

१३२. सा च प्रशासनात्।। वे०द० १/३/१०

१३३. एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।। वृहद० ३/८/९

दूसरे पदार्थों से व्यावृत्ति पाये जाने के कारण अक्षर पद से यहाँ ब्रह्म का ही ग्रहण है।[१३४] अन्यभाव अर्थात् ओंकारादि वर्णों का जो भाव उनकी व्यावृत्ति अर्थात् निषेध पाये जाने से अक्षर यहाँ ब्रह्म का ही नाम है किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, वह व्यावृत्ति "नतस्यप्रतिमाऽस्ति" उसकी कोई प्रतिमा नहीं, इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है।

भाव यह है कि "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्तमालोकात्प्रैति स कृपणः" वृहादारण्यक ३/८/१० अर्थात् हे गार्गी! जो इस अक्षर को न जानकर प्राणों का त्याग करता है वह कृपण है। "अथ एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" बृहदा० ३/८/१० और जो अक्षर ब्रह्म को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है वह ब्रह्म वेत्ता होने के कारण ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में अक्षर शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण है प्रकृति तथा ओंकारादि वर्णों का नहीं।

जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ईक्षति का कर्म कथन किये जाने से वह जीव ब्रह्म नहीं हो सकता।[१३५] प्रश्नोपनिषद् के पञ्चम प्रश्न में पिप्पलाद गुरु से सत्यकाम ने पूछा कि मरणोपर्यन्त जो ओंकार का ध्यान करता है, उसको किस लोक की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर में पिप्पलाद ने कहा कि–जो पुरुष त्रिमात्रिक ओंकार अक्षर द्वारा उस परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करता है वह तेजोमय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, जैसे सर्प, अपनी केंचुली को छोड़कर पृथक् हो जाता है इसी प्रकार ओंकार का ध्यान करने वाला संसार के बन्धनों से छूटकर ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है अर्थात् जीव से परे जो प्रकृति उससे परे जो सूक्ष्म पुरुष परमात्मा है उसका साक्षात्कार करता है, इस विषय वाक्य में यह सन्देह होता है कि वह जीवात्मा उस ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर ब्रह्म बन जाता है या उससे भिन्न रहता है? इसका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि ब्रह्म ईक्षति अर्थात् दर्शन क्रिया का कर्म कथन किये जाने से जीव ब्रह्म नहीं बन सकता, यदि ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर जीव ब्रह्म बन जाता तो "परात्परं षुरिशयं पुरुषं ईक्षते" अर्थात् जीव समुदाय से परे जो प्रकृति उससे परे पुरुष को देखता है, ऐसा न कहा जाता परन्तु श्रुति वाक्य में ईक्षति क्रिया तथा उसके कर्मभूत ईश्वर का पृथक् निर्देश पाये जाने से जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

---

१३४. अन्यभावव्यावृत्तेश्च।। वे०द० १/३/११

१३५. ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः।। वे०द० १/३/१२

वाक्य शेषगत उत्तर हेतुओं से दहर नाम ब्रह्म का है[१३६] यह जो ब्रह्मपुर नाम शरीर इसमें दहर नामक कमल स्थान है उसके भीतर जो सूक्ष्म आकाश है, वह जानने योग्य है, यदि गुरु को शिष्य यह कहे कि यह जो ब्रह्मपुर है उसमें दहर नाम कमल स्थान और उसके भीतर दहर नाम अन्तराकाश है तो यहाँ क्या जिज्ञासा करने योग्य है? इसके उत्तर में गुरु यह करे कि जैसा यह आकाश है वैसा ही हृदय के भीतर आकाश है और उसके भीतर स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों स्थित हैं, इस वाक्य में हृदय के अन्दर जो सूक्ष्म आकाश कथन किया है वह भूताकाश है कि ब्रह्म है? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए दहराधिकरण का आरम्भ किया गया है।

दहराकाश को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हेतु देते हुए कहते हैं कि गति तथा शब्द द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि होती है और वैसा ही उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग भी पाया जाता है।[१३७] ब्रह्म में जीवों की प्रतिदिन गति पाये जाने और इसी प्रकार ब्रह्म में लय होने का लिङ्ग पाये जाने से यहाँ दहराकाश पद ब्रह्म का बोधक है, जैसाकि ब्रह्म में गति विधायक विषय वाक्य में वर्णन किया है कि–जिस प्रकार खेत में गड़े हुए सुवर्णरूप धन को न जानकर खेत के स्वामी ऊपर-ऊपर घूमते हैं और उस धन को नहीं पा सकते इसी प्रकार यह सब प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मलोक को प्राप्त होती हुई उसको नहीं पा सकती, क्योंकि यह अनृत/अज्ञान से ढकी हुई है,[१३८] इस वाक्य द्वारा ब्रह्म में जीवों की गति प्रतिपादन करने और ब्रह्मलोक शब्द के पाये जाने से सिद्ध है कि यहाँ दहराकाश का प्रकरण ब्रह्म के अभिप्राय से आया है भूताकाश के अभिप्राय से नहीं।

संसार का धारण पाये जाने और संसार की महिमा ब्रह्म में उपलब्ध होने से दहराकाश ब्रह्म का नाम है।[१३९] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया कि ब्रह्म ही सब लोकों की मर्यादा तथा उनकी यथाधिकार स्थिति के लिए धारण करने वाला है,[१४०] इस प्रकार आत्मा का प्रकरण चलाकर उसको संसार मात्र का धारण

---

१३६. दहर उतरेभ्यः।। वे०द० १/३/१३

१३७. गतिशब्दाभ्यांतथाहि दृष्टंलिङ्ग च।। वे०द० १/३/१४

१३८. तथापि हिरण्यरूपनिर्धिनिहितं अक्षेत्रज्ञा। उपरि संचरन्तो न विन्देयु एवमेव इमाः सर्वाः प्रजाः अहर अहर गच्छन्त्यहताः एत ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः इतिः।। छा० ८/३/२

१३९. धृतेश्चमहिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः।। वे०द० १/३/१५

१४०. अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय।। छा० ८/४/१

करने वाला कथन करना दहराकाश के ब्रह्मार्थक होने में प्रमाण है यदि प्रकृत में भूताकाश ही दहर पद का वाच्यार्थ होता तो उसको विधृतिरूप कथन न किया जाता, क्योंकि भूताकाश में लोकमात्र के धारण करने का सामर्थ्य प्रमाण बाधित तथा युक्ति रहित है और संसार रूप महिमा की उपलब्धि भी ब्रह्म में पाई जाती है, जैसा "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पूरुषः" अर्थात् यह संसार रूप महिमा उसके एकदेश में है और पुरुष उससे अधिक है, इत्यादि मंत्रों में स्पष्ट है, इसलिए सम्पूर्ण महिमा का आधारभूत ब्रह्म ही दहराकाश पद का वाच्यार्थ जानना चाहिए।

दहराकाश इसलिए भी ब्रह्म का नाम है कि आकाश शब्द परमेश्वर में प्रसिद्ध है,[१४१] जैसाकि छान्दोग्य में कहा गया कि–आकाश ही नाम रूप को धारण करने वाला है।[१४२] सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं,[१४३] इत्यादि प्रयोग देखे जाने से आकाश नाम की ब्रह्म में प्रसिद्धि पाई जाती है।

जीव विषयक शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि जीव का परामर्श पाये जाने से वही दहर पद का वाच्यार्थ है यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि उसमें उक्त अर्थ सम्भव नहीं।[१४४] यदि वाक्य शेष के बल से दहर पद द्वारा परमेश्वर का ग्रहण किया जाये तो जीव विषयक वाक्यशेष द्वारा सम्बन्ध पाये जाने के कारण उपयुक्त पद का अर्थ जीव ही क्यों न माना जाये। जैसे कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि यह जीव इस शरीर को छोड़कर परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने आत्म रूप में स्थिर हो जाता है। यह आत्मा अमृत है। इस वाक्य में जीव का परामर्श पाये जाने से उसी का नाम दहराकाश है, ब्रह्म का नहीं। यह कथन इसलिये ठीक नहीं है कि उपनिषद् में आये हुए अपहत पाप्मादि गुणों का जीव में आना असम्भव है, क्योंकि जीव अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाला पाप-पुण्य के अनुसार सुख-दुःख का भोक्ता है इसलिए दहराकाश पद ब्रह्म का ही वाचक है। परम ज्योति ब्रह्म को ही कहते हैं।[१४५]

इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार अन्य हेतु देते हुए कहते हैं कि यदि उत्तर वाक्य से जीव का ग्रहण मानकर उसको दहराकाश पद वाचक मानें तो यह

१४१. प्रसिद्धेश्च।। वे०द० १/३/१६
१४२. आकाशो वैनाम नामरूपयोर्निरवहिता।। छा० ८/१४/१
१४३. सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेवसमुत्पद्यन्ते।। छा० १/९/२
१४४. इतरपरामर्शात्सइतिचेन्नासम्भवात्।। वे०द० १/३/१७
१४५. अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योति .....।। छा० ८/३/४

मानना उचित नहीं हैं, क्योंकि यह स्पष्ट कहा है कि वह अविर्भूत स्वरूप जो वाक्य में आया है वह जीव का ग्रहण है। इसका अभिप्राय यह है कि जीव परमज्योति अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, तो वह अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा की तरह वह पाप्मादि दोषों से रहित होना अभिप्राय नहीं है। इस विषय को छान्दोग्योपनिषद् में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है।[१४६]

इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि यदि जीव ब्रह्म नहीं हो सकता है तो इस वर्णन की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार ने कहा है कि मुक्त जीवात्मा का वर्णन करने के लिए यह परामर्श है कि जीवात्मा इस दहर विद्या जो ब्रह्म विद्या है, उसको जानकर जीव निष्पाप हो जाता है। जैसे कहा है कि "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इस ब्रह्मपुर में जो आकाश है, वह दहर आकाश है। अतः अल्पदेशी परिछिन्न पदार्थ ब्रह्म कैसे हो सकता है?[१४७] सूत्रकार ने पुनः स्पष्ट किया है कि अल्पदेशी का श्रवण होने से ब्रह्म का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि उसको व्योम के सदृश होने से अल्प कथन किया गया है अर्थात् सब पदार्थों के अन्दर व्यापक होने से आकाश के समान अल्प है।[१४८] मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (मु० ३/३) यहाँ स्पष्ट है कि मुक्त जीव ब्रह्म के समान हो जाता है, इसलिए जीव ब्रह्म क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि–उस ब्रह्म की अनुकृति अर्थात् अनुकरण करने से वह मुक्त पुरुष अपहतपाप्मा अर्थात् निष्पाप हो जाता है। निष्पाप का अभिप्राय यह है कि जब जीवात्मा निर्मल हो जाता है तो, वह ब्रह्म के गुणों को धारण करने के कारण ब्रह्म के साम्य अर्थात् जैसे ब्रह्म निर्मल और पवित्र है उसी प्रकार जीवात्मा भी उसकी साम्यता को प्राप्त हो जाता है न कि ब्रह्म हो जाता है। जैसेकि जब जल, अग्नि की उष्णता को प्राप्त करता है तो अग्नि जैसी उष्णता उसमें आ जाती है, परन्तु वह जल अग्नि नहीं होता है।[१४९] इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि उसी ब्रह्म के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। अर्थात् उस स्वप्रकाश के प्रकाश का अनुकरण किया जाता है। जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट किया है कि

---

१४६. उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु।। वे०द० १/३/१८

१४७. अन्यार्थश्चपरामर्शः।। वे०द० १/३/१९

१४८. अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम्।। वे०द० १/३/२०

१४९. अनुकृतंस्तस्यच।। वे०द० १/३/२१

"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्ड० २/२/१०) अर्थात् उसी को सब स्मरण करते हैं।[१५०]

पुरुष सूक्त और अन्य कठोपनिषद् आदि में अंगुष्ठ मात्र पद से परमित अर्थात् मापने की बात कही गई है परन्तु इस प्रसंग में अगुष्ठ मात्र का अर्थ परमात्मा ही है, जीवात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है। ऐसा शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है।[१५१]

पुरुष परमात्मा के अंगुष्ठ मात्र का विश्लेषण अन्य उपनिषद् आदि में भी मिलता है, जैसाकि कठोपनिषद् में भी आया है कि अंगुष्ठ मात्र पुरुष प्रत्येक जीवात्मा के भीतर व्यापक है, वह ही सब भूत भविष्यत् पदार्थों का ईश्वर है, जो जिज्ञासु उस पुरुष को स्वयं जान लेता है, उससे फिर वह अपने आपको नहीं छिपाता, अंगुष्ठ मात्र पुरुष जो बिना धूम वाली ज्योति के समान है वह कालकृत परिच्छेद से रहित है, वह ही आज है, वह ही कल होगा उसी को सदा एकरस कूटस्थ नित्य जानना चाहिए, इस प्रकार भूत, भविष्यत् में सब पदार्थों पर ईशन करने वाला ब्रह्म ही अंगुष्ठ मात्र पद से ग्रहण करने योग्य है, ईशन योग्यता न पाये जाने के कारण जीव नहीं,[१५२] इसी अभिप्राय से विशिष्टाद्वैत भाष्यकार स्वामी रामानुज का मत है कि अपने कर्मों के अधीन जीव भूत भविष्यत् पदार्थों का ईश्वर कदापि नहीं हो सकता, और जो यह शंका रह जाती है कि व्यापक ब्रह्म को अंगुष्ठमात्र क्यों कहा है? इसका उत्तर यह है कि अंगुष्ठ परिमाण वाला जो मनुष्य का हृदय उसमें जीवात्मा का निवास होने और परमात्मा को भी उसमें व्यापक होने से अंगुष्ठमात्र कहा गया है, यह बात सर्व सर्वसम्मत है कि यहाँ परमात्मा का प्रकरण है, इसलिये परमात्मा को ही यहाँ अंगुष्ठमात्र मानना चाहिये,[१५३] स्वामी शंकराचार्य जी भी यही मानते हैं कि ब्रह्म विषयक प्रश्न होने से यहाँ ब्रह्म का ही ग्रहण है जैसाकि कठोपनिषद् में कहा गया कि–हे यम! जो

---

१५०. अपिचस्मर्यते।। वे०द० १/३/२२

१५१. तत्रैव।।

१५२. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।।
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उश्वः।।
कठ० ४/१२-१३

१५३. न च भूतभव्यस्य सर्वस्येशितृत्वं कर्मपरवशस्य जीवस्योपपद्यते।
श्री०भा०ब्र०सू० १/३/२४

आप धर्माधर्म के फल से अतिरिक्त जानते हैं उसका कथन करो,[१५४] इस प्रकार यहाँ नचिकेता ने ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया, इसलिये अंगुष्ठ मात्र पद द्वारा ब्रह्म का ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं।

ब्रह्म को जानने का मनुष्यों का अधिकार होने के कारण जहाँ आत्मा हृदय में स्थित है, वहीं परमात्मा भी स्थित है। इस दृष्टि से ब्रह्म को अंगुष्ठ मात्र कहा है। इसलिए ऐसा कहना पशु पक्षी आदि के हृदय की अपेक्षा से नहीं मानना चाहिए[१५५] वादरायण आचार्य यह कहते हैं कि मनुष्य की पदवी से ऊपर देव ऋषि मुनि पदवियों में भी कर्म का अधिकार रहता है।[१५६] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि देवता ऋषि तथा मनुष्य कोई भिन्न जाति नहीं किन्तु एक ही मनुश्य जाति के भेद है अर्थात् विद्यादि गुणों की अधिकता से मनुष्य जाति की अवस्था विशेष है, इसको बृहदारण्यक में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–"ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहमनुरभवं सूर्यश्चेति" अर्थात् ब्रह्म भाव की उपलब्धि होने पर वामदेव ने कहा कि मैं ही मनु तथा मैं ही सूर्य हूँ, जब यहाँ मनुष्य जाति में से ही तत्वज्ञान के आधिक्य होने से वामदेव को ऋषि कथन किया गया है तो फिर ब्रह्मविद्यादि दिव्य गुणों की अधिकता के कारण देवता भी मनुश्य जाति में से ही क्यों न माने जायें हमारे विचार में तो यह पौराणिक भाव की झलक है जो देवताओं को अलौकिक माना जाता है और गीता भी देवताओं को मनुष्यवर्ग से अलग बतलाती है, उसमें कहा गया है कि मनुष्यों में दो श्रेणी हैं एक देव और दूसरे असुर[१५७] और जो स्वामी शङ्कराचार्य तथा स्वामी रामानुज ने देवताओं को यहाँ पौराणिकभाव से अलौकिक माना है, इसका उत्तर यह है कि उक्त आचार्यों के हृदय में पौराणिक भाव की झलक पड़ चुकी थी, यह उनका आत्मिक बल है जो पौराणिक भाव के पड़ने पर भी सहस्त्रों स्थानों पर इस भाव को दबाते हुए आगे बढ़ जाता है, यह उनका न केवल आत्मिक बल है प्रत्युत औपनिषद् ज्ञान का भी यह बल है जो उक्त आचार्य पौराणिक सीमा को तोड़कर निराकार "एकमेवाद्वितीयं" मानने में शंकराचार्य और "निरवधिकातिशय" कल्याणगुणाकर

---

१५४ अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तप्तश्यासि तद्वद।। कठ० २/१४

१५५. द्व्यपेक्षयातुमनुष्याधिकारत्वात्।। वे०द० १/३/२४

१५६. तदुपर्यपिबादरायणः सम्भवात्।। वे०द० १/३/२५

१५७. द्वौभूतसर्गौलोकेस्मिन् दैव आसुर एव च।। गीता० १६/६

मानने में स्वामी रामानुज आगे बढ़ते हैं। जो कहीं-कहीं पौराणिक भावों के भक्त बनने के भाव उक्त आचार्यों में हैं, इन सभी आचार्यों ने देवताओं को अलौकिक माना है। सूत्रकार का प्रयोजन यह है कि देहधारी मनुष्य देव, ऋषि आदि किसी पदवी में क्यों न हों उनको सब अवस्थाओं में कर्म का अधिकार रहता है।

कर्मों के अनुष्ठान तथा निषेध का परस्पर विरोध होने से देवताओं को कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि कहीं-कहीं शास्त्र में कर्मफल को अनित्य कथन करते हुए कर्मानुष्ठानियों की निन्दा की है और तत्त्वज्ञान से सब कर्मों का क्षय भी प्रतिपादन किया है,[१५८] जैसाकि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया कि उस परावर ब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा जब अविद्यारूपी हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है तब सब संशय नष्ट होकर उसके सब कर्म क्षय हो जाते हैं, यह यज्ञ रूप नौकायें अदृढ़ हैं जिनमें अठारह प्रकार के कर्म कहे गये हैं, जो मूढ़ उक्त यज्ञादि कर्मों की श्रेष्ठता वर्णन करते हैं वह पुनः-पुनः जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।[१५९] इन वाक्यों में कर्म का खण्डन और "स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" (छान्दो० ८/१५/१) अर्थात् इन्द्रिय संयमादि कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में कर्मों का मण्डन पाया जाता है, इस प्रकार परस्पर विधि निषेध का विरोध होने के कारण देवताओं के लिए कर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तत्त्व ज्ञान के बल द्वारा मनुष्यभाव को छोड़कर देवभाव को प्राप्त हो चुके हैं? इसका उत्तर यह है कि अनेक प्रकार की व्यवस्था पाये जाने से उक्त विरोध नहीं हो सकता अर्थात् "भिद्यतेहृदयग्रन्थिः" इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय ब्रह्मदर्शी पुरुष सम्बन्धी पापादि कर्मों की निवृत्ति में और "प्लवाह्येते अदृढा" का आशय केवल यज्ञादि कर्मों को प्रधान मानने वालों की मूढ़ता बोधन में है, क्योंकि वेद कर्म ज्ञान का समुच्चय विधान करता है, जैसा कि उक्त छान्दोग्य वाक्य से स्पष्ट है कि ज्ञान दृष्टि से इन्द्रिय संयमादि कर्म करता हुआ चित्तवृत्तियों को परमात्मा में लय करके मोक्ष को प्राप्त होता है।

---

१५८. विरोधः कर्मणीतिचेन्नानेक प्रतिपत्तेर्दर्शनात्।। वे०द० १/३/२६

१५९. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मुण्ड० २/२/८

१६०. प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरंयेषुकर्म।
एतच्छ्रेयायेऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवा पियन्ति।। मुण्ड० १/२/७

उपरोक्त रीति से कर्म सम्बन्धी विधि निषेध वाक्यों में विरोध न हो पर अग्न्यादि अनित्य पदार्थों का वर्णन करने वाले वाक्यों का वेद में तो अवश्य विरोध है क्योंकि वह अनित्य पदार्थों के वर्णन करने से स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि वेद में विरोध आता है यदि ऐसा कहा जाए तो उचित नहीं क्योंकि "अतः प्रभवात्" वेद में अग्नि की उत्पत्ति मानी गई है और "प्रत्यक्षानुमानाभ्यां" श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।[१६१] वेद का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध होने से इतर प्रमाणों की अपेक्षा बिना ही यागादि कर्मों का प्रतिपादक वेद स्वतः प्रमाण सिद्ध किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि यागादि कर्म अनित्य तथा उनके साधन भूत अग्न्यादि लौकिक पदार्थ अनित्य हैं और अनित्य पदार्थ को प्रतिपादन करने वाला वेद भी महाभारत आदि की भाँति पौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता और ना ही भ्रम, प्रमादादि दोषों का अभाव हो सकता है जिससे वह प्रमाण माना जाये, इस प्रकार श्रौत अर्थ को निरूपण करने के लिए दोनों मीमांसाओं के स्वतः प्रामाण्य रूप सिद्धान्त में विरोध से कर्मविधि में मनुष्य देवताओं का विश्वास न रहने के कारण वैदिकमार्ग का लोप हो जायेगा? यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि जिन सूर्य, चन्द्रमादि पदार्थों तथा यागादि कर्मों का वेद में वर्णन पाया जाता है, उनकी उत्पत्ति वेद से होती है अर्थात् वेद में सूर्यादि का नाम आने से महाभारतादि की भाँति अनित्यता तथा परतः प्रामाण्यातिरूप दोष नहीं आता, क्योंकि अपर्युक्त पदार्थों की उत्पत्ति प्रथम अनेक बार हो चुकी है जिसका प्रवाह अनादि है।

भाव यह है कि वेद में जिन पदार्थों का वर्णन आया है उनकी अभिव्यक्ति अभिप्रेत नहीं, किन्तु सत्ता मात्र अभिप्रेत है, इस प्रकार सूर्य आदि पदार्थ और यागादि कर्म उस-उस आकृति के बोधक हैं, यदि शब्दों से किसी एक व्यक्ति का अभिप्राय होता तो उस व्यक्ति की उत्पत्ति के अनन्तर ही वेद उस पदार्थ के स्वरूप को बोधन करता, परन्तु वेद में ऐसा न होने से अनित्यता द्वारा परतः प्रामाण्यरूप आपत्ति का दोष नहीं आ सकता, इससे सिद्ध है कि वैदिक पद पदार्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है, क्योंकि सिद्धान्त में वैदिक शब्दों को आकृति अर्थात् पदार्थ की सत्ताविशेष के साथ सम्बन्ध माना है व्यक्ति विशेष के साथ नहीं।

सारांश यह निकला कि जिस प्रकार कोई शिल्पी अपने इष्ट पदार्थ के बनाने से प्रथम उसके वाचक शब्द का स्मरण करके पीछे उसको वैसा ही बनाता है

---

१६१. शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।। वे०द० १/३/२७

जैसा कि प्रथम चिन्तन कर लेता है इसी प्रकार जगत् स्रष्टा परमात्मा भी जगदुत्पत्ति से पूर्व प्रथम सृष्टि की भाँति उन-उन पदार्थों को अपने ज्ञानरूप वेद से चिन्तन करके सूर्यादि पदार्थों को बनाता तथा यागादि कर्मविधि का उपदेश करता है, इसी अभिप्राय से तैत्तिरीय ब्राह्मण (२/२/४/२) में वर्णन किया है कि "स भूरिति व्याहरद्भूमिमसृजत्" अर्थात् उसने "भू" इस प्रकार उच्चारण करके पृथ्वी को उत्पन्न किया, इत्यादि, यहाँ शब्द का उच्चारण करना औपचारिक है मुख्य नहीं, एवं वैदिक शब्दों द्वारा सूर्यादि पदार्थों के उत्पन्न होने से उक्त दोष नहीं पाया जाता, यह बात प्रत्यक्ष अर्थात् श्रुति तथा अनुमान अर्थात् स्मृति प्रमाण से इस प्रकार सिद्ध है कि "समनसा वाचं मिथुनं समभवत्" (बृहदा० १/२/४) अर्थात् प्रजापति ने मन वाणी के जोड़े को बनाया अर्थात् वेदों से प्रकाशित सृष्टि का आलोचन किया।

मनुस्मृति में कहा गया कि सृष्टि के आदि में प्रजापति (परमेश्वर) ने वेद शब्दों द्वारा सब के नाम, कर्म तथा लोकमर्यादा को नियमपूर्वक रचा।[१६२]

इसी अर्थ को ऋग्वेद में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि परमात्मा ने पूर्व की भाँति सूर्यादि लोकों का निर्माण किया,[१६३] इससे सिद्ध है कि इस अपूर्व उपदेश का कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा होने से वेद पौरुषेय नहीं, अतएव उनका स्वतः प्रमाणत्व बना रहने के कारण यागादि विधियों में कोई विरोध नहीं हो सकता।

वेद की नित्यता को स्पष्टतया कथन करते हुए सूत्रकार आगे कहता है कि प्राकृत पुरुष कर्ता न होने के कारण वेद नित्य हैं।[१६४] जिस प्रकार महाभारत के कर्ता व्यास अपने ग्रन्थों की रचना में स्वतन्त्र हैं, इस प्रकार वेद का कर्ता कोई पुरुष नहीं, उसका उपदेष्टा परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हैं और वह पूर्वकल्प के अनुसार ही वेद का उपदेश करता है अन्यथा नहीं।

अभिप्राय यह है कि वैदिक शब्दार्थ सम्बन्ध का क्रम जैसा पूर्व कल्प में था वैसा ही अब है, भविष्य कल्प में ज्यों का त्यों बना रहेगा, उसमें किसी प्रकार की विषमता नहीं हो सकती पर महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना में यह नियम

---

१६२. सर्वेषान्तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।। मनु० १/१३

१६३. "सूर्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत्।। ऋ० ८/८/४९/४८

१६४. अतएवचनित्यत्वम्।। वे०द० १/३/२८

नहीं पाया जाता, यही वेद का अपौरुषेयत्व है, और अपौरूषेय होने से ही वह नित्य है, जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया कि पूर्वजन्मोपार्जित पुण्य से वेद की योग्यता को प्राप्त होने वाले याज्ञिक लोगों ने ऋषियों को प्राप्त हुई वाणी अर्थात् वेद को उपलब्ध किया अर्थात् याज्ञिक लोग ऋषियों द्वारा वेद उपलब्ध करके यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करते थे।[१६५]

इसी अर्थ को अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि नाम, रूप के समान होने से आवृत्ति में भी विरोध नहीं क्योंकि श्रुति स्मृति से ऐसा ही पाया जाता है।[१६६] प्रत्येक कल्प में वेदों का नाम, रूप समान होने और उसी प्रकार की रचना पाये जाने से उनके नित्यत्व में कोई विरोध नहीं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य और चन्द्रमा को परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के समान ही बनाया, यह प्रमाण वेदों का उपलक्षण है अर्थात् वेदों का भी पूर्व कल्प के समान ही प्रकाश किया,[१६७] इत्यादि नाम रूप की समान आवृत्ति देखे जाने से वेदों के नित्यत्व में कोई दोष नहीं और "अनादिनिधनानित्यावागुत्सृष्टास्वयंभुवा" (मनु १/२१) इत्यादि स्मृतियों से भी पाया जाता है कि वेद अनादि अनन्त होने से नित्य हैं, इसीलिए अपौरुषेय (किसी पुरुष प्रणीत न होने) के कारण परमात्मा का ज्ञान ही उचित है।

देवताओं के अधिकार में शंका करते हैं, सूत्रकार आगे कहता है कि छान्दोग्य में जहाँ यह निरूपण किया है कि यह आदित्य देवताओं का मधु है, इसकी मधुरूप से उपासना करें, इस स्थल में जब आदित्य स्वयं देवता है तो फिर वह अपने आपकी स्वयं उपासना कैसे करेगा? इसीलिए देवताओं का उपासना में अधिकार मानना ठीक नहीं।[१६८]

पूर्वपक्ष की ओर से शंका उठती है कि "सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रकाशक पदार्थों में देवता शब्द के पाये जाने से सिद्ध है कि सूर्यादि देवों का उपासना में अधिकार नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो मधु विद्या में वह स्वयं उपासक नहीं हो सकते और दूसरे जड़ होने से उपासना नहीं कर सकते, इसलिए उनका अधिकार मानना ठीक नहीं। इस शंका समाधान करते हुए

---

१६५. यज्ञेन वाचः पदवीमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।। ऋग्वेद १०/७१/३

१६६. समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च।। वे०द० १/३/२९

१६७. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।। ऋ० ८/४८/२

१६८. मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः।। वे०द० १/३/३०

सूत्रकार कहता है कि वादरायण आचार्य देवों का उपासना में अधिकार मानते हैं क्योंकि देव शब्द का प्रयोग मनुष्यों में होता है।[१६९] सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है, "तद्योयोदेवानां प्रत्यबुध्यत्, स एव तदभवत् तत्ऋथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" अर्थात् जो-जो देव मनुष्य तथा ऋषियों में जागा वह-वह ब्रह्म के भावों को प्राप्त हुआ, इससे सिद्ध है कि देव केवल सूर्यादिकों का ही नाम नहीं किन्तु दिव्य शक्ति वाले मनुष्यों का नाम देव है, और ऐसे मनुष्यों का उपासना तथा ब्रह्मविद्या में अधिकार हो सकता है। इसमें कोई दोष नहीं।

ब्रह्मविषयक शूद्र के अधिकार अनधिकार पर विचार करने के लिए अपशूद्राधिकरण का आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहता है कि उसका अनादर युक्त वाक्य सुनकर जानश्रुति को शोक हुआ तब वह ब्रह्म विद्या के लिये रैक्व के पास गया निश्चय करके प्रकरण से ऐसा ही पाये जाने के कारण शूद्र को अधिकार है।[१७०] इस बात को सूत्रकार ने इस सूत्र में स्पष्ट किया है कि उस जानश्रुति को, जो रैक्व ने अनादर सूचक शब्द कहा उसको श्रवण कर पुनः आ जाने से यह पाया जाता है कि शूद्र से यहाँ अध्ययन सामर्थ्य से रहित असंस्कारी पुरुष का ग्रहण है, इसलिए शूद्र के अधिकार में कोई बाधा नहीं।

जानश्रुति को शूद्र कथन करने के अनन्तर रैक्व ने उसका व्यवहार चैत्ररथ के साथ समझकर यह निश्चय किया कि यह क्षत्रिय के गुण कर्म स्वभाव वाला है, क्योंकि परस्पर स्वभाव मिलने वालों की ही मैत्री होती है, इससे सिद्ध है कि यह शूद्र नहीं।[१७१]

संस्कारों द्वारा शूद्रत्वादि धर्मों का कथन करते हुए वेदान्त सूत्रकार आगे कहता है कि संस्कारों के परामर्श द्वारा सामर्थ्य का अभाव पाये जाने से अधिकार का निषेध है।[१७२] गुरु उपनयन काल में यह निश्चय कर लेता है कि इसको पठन-पाठन का अधिकार है या नहीं, यदि उसमें योग्यता नहीं देखता तो उसका उपनयन नहीं कराता, इससे भी स्पष्ट पाया जाता है कि शूद्रत्वादि औपाधिक धर्म हैं जाति नहीं।

छान्दोग्य के चतुर्थ प्रपाठक में यह आख्यायिका है कि सत्यकाम नामक

---

१६९. भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।। वे०द० १/३/३२
१७०. शुगस्यतदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि।। वे०द० १/३/३३
१७१. क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्रचैत्ररथेनलिङ्गात्।। वे०द० १/३/३४
१७२. संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।। वे०द० १/३/३५

एक बालक ने अपने पिता की मृत्यु के अनन्तर अपनी माता से पूछा कि मैं ब्रह्मचर्य रहना चाहता हूँ मेरा गोत्र क्या है? उसकी माता ने कहा मुझको पता नहीं, मेरा नाम जावाला है और तेरा नाम सत्यकाम है, सत्यकाम ने गौतम ऋषि के पास जाकर कहा कि हे भगवन्! मैं आपके समीप आया हूँ मुझको ब्रह्मचारी बनाओ, गौतम ने कहा तुम्हारा क्या गोत्र है? सत्यकाम ने उत्तर दिया मैंने अपनी माता से पूछा था उसने कहा कि युवावस्था में, मैं बहुत भ्रमण करती रही, इसीलिए तुम्हारे पिता का गोत्र मुझे याद नहीं, सत्यकाम तुम्हारा नाम है, सो मैं सत्यकाम जावाला हूँ।[१७३] गौतम ने यह विचारा कि इस बात को अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न अन्य नहीं कह सकता, हे सोम्य! तू समिधा ला मैं तुम्हारा उपनयन कराऊँ, क्योंकि तुमने सत्य नहीं छोड़ा,[१७४] सार यह निकला कि जब गौतम ने उसको सत्यभाषण से ब्राह्मण निश्चय किया और गोत्र की कुछ अपेक्षा नहीं की इससे पाया जाता है कि स्वभाव से ही शूद्रत्व और ब्राह्मणत्व का निश्चय किया जाता है अर्थात् उसके गोत्र के निश्चय न होने पर भी जब ऋषि ने ब्राहाण मानकर उसका उपनयन कर दिया तो इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ब्राह्मणत्वादि धर्म हैं जाति नहीं।

स्मृति से भी श्रवण तथा अध्ययन का प्रतिषेध पाया जाता है।[१७५] स्मृतियों में जो शूद्र के श्रवण तथा अध्ययन का निषेध कथन किया गया है वह "शोचतीति शूद्रः" अर्थात् जो शोक करे, उसका नाम शूद्र है, इस निरुक्ति के अनुसार जो तमोगुणवृतान्तःकरण पुरुष है वही शूद्र है, शूद्र कोई जाति विशेष नहीं, इस भाव से शूद्र का शास्त्र में अनधिकार कथन किया गया है, यदि पौराणिक भाव के अनुसार शूद्र कोई जाति विशेष अभिप्रेत होता तो गौतम तथा रैक्व आदि ऋषि जावालादिकों को ब्राह्मण पदवी कदापि न देते, इससे स्पष्ट है कि गुण कर्म स्वभाव सिद्ध शूद्र को शास्त्र का अधिकार नहीं।

भाव यह है कि स्वभाव प्राप्त शूद्रत्व धर्म वाले को श्रवण तथा अध्ययन का निषेध है और स्मृति से भी यही पाया जाता है कि गुण, कर्म, स्वभाव से ही ब्राह्मण क्षत्रियादि भेद हैं। जैसा कि गीता में कहा गया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण मैंने गुणकर्मानुसार बनाये हैं।[१७६]

---

१७३. तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः।। वे०द०१/३/३६

१७४. नैतदब्राह्मणोविवक्तुमर्हतिसमिधंसोम्याऽहरोपत्वानेष्ये न सत्यादगाः।। छा० ४/४/५

१७५. श्रवणाध्यनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च।। वे०द० १/३/३७

१७६. चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्मविभागशः।। गीता० ४/१६

प्राण शब्द में कम्पन पाये जाने के कारण प्राण भी ब्रह्मवाची है,[१७७] जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होकर प्राण में चेष्टा करता है, और वह प्राण उठाये हुए वज्र के समान महद् भय रूप है अर्थात् बड़े से बड़े पदार्थों को भी भयप्रद है,[१७८] उक्त विषय वाक्य में यह संदेह है कि यहाँ प्राण शब्द से प्राणवायु का ग्रहण है अथवा "प्रकर्षेण अनति चेष्ठते स प्राणः" अर्थात् जिसकी सत्ता से यह सब जगत् चेष्टा करता है वह प्राण है? इस संदेह की निवृत्ति के लिए सूत्रकार यहाँ यह निर्णय करते हैं कि कम्पनार्थक एजृ धातु का अर्थ परमात्मा में पाये जाने से यहाँ प्राण नाम परमात्मा का है, क्योंकि सबको कम्पाने वाला परमात्मा ही हो सकता है अन्य नहीं, वही परमात्मा दुराचारी पुरुषों के लिये हाथ में उठाये हुए शस्त्र के समान अत्यन्त भयरूप और सदाचारी पुरुषों के लिये शान्तिदायक है, जो पुरुष इस ब्रह्म को जानते हैं वह मृत्यु से रहित हो जाते हैं।

ज्योति शब्द का ब्रह्म में समन्वय बताते हुए आगे सूत्रकार कहता है कि ब्रह्म में पाये जाने से ज्योति शब्द भी ब्रह्म का वाचक है।[१७९] जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया–यह जीव इस शरीर से उठकर परं ज्योति को प्राप्त होकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त हो जाता है,[१८०] इस विषय वाक्य में परंज्योति ब्रह्म का नाम है और इसी वाक्य में आगे "स उत्तमः पुरुषः" उस परमज्योति का उत्तम पुरुष का विशेषण दिया गया है, यदि यहाँ ज्योति शब्द भौतिक ज्योति वाचक होता तो उसको उत्तम विशेषण कदापि न दिया जाता, इससे सिद्ध है कि ज्योति नाम परमात्मा का है।

नाम रूप से भिन्न का व्यपदेश पाये जाने के कारण ब्रह्म का नाम आकाश भी है।[१८१] छान्दोग्य में कहा गया कि आकाश ही नाम और रूप को धारण करने वाला है वे दोनों नाम और रूप जिसके आश्रित हैं वह ब्रह्म है, वह ही अमृत और वह ही आत्मा है,[१८२] यह वाक्य इस अधिकरण का विषय है।

---

१७७. कम्पनात्।। वे०द० १/३/३८
१७८. यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निः सृतम्।
१७९. ज्योतिर्दर्शनात्।। वे०द० १/३/३९
१८०. एषः संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायपरं ज्योतिरूपसम्पद्यस्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते।। छा० ८/१२/३
१८१. आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्।। वे०द० १/३/४०
१८२. आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा।। छा० ८/१४/१

अब जीव और ब्रह्म की एकता की शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार आगे कहता है कि सुषुप्ति अवस्था और उत्क्रान्ति अर्थात् मरणावस्था इनमें जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन किया गया है, इसलिए एक नहीं हो सकते,[१८३] जैसा कि बृहदारण्यक में कहा गया कि सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा के साथ सम्बन्ध पाकर बाहर और भीतर की किसी वस्तु को जीव नहीं जानता,[१८४] और परमात्मा के आश्रित होकर जीव इस शरीर को छोड़ता है,[१८५] इस प्रकार उक्त दोनों अवस्थाओं में जीव ब्रह्म का भेद कथन किया गया है, इसलिए जीव ब्रह्म से भिन्न होने के कारण नाम रूप का कर्ता जो आकाश शब्द से कहा गया है वह ब्रह्म है जीव नहीं।

इस अर्थ में और हेतु देते हुए सूत्रकार कहता है कि पति आदि शब्दों के पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[१८६] पति आदि शब्द भी परमात्मा में बताया गया है कि "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" अर्थात् वह परमात्मा सबका अधिपति, सबका नियन्ता और सबका ईश्वर है, न वह अच्छे कर्मों से बड़ा और न छोटे कर्मों से छोटा होता है, वह सबका ईश्वर तथा सब लोक मर्यादा का सेतु है, उसी को वेद द्वारा ब्राह्मण लोग जानने की इच्छा करते हैं और उसी को जानकर मुनि होता है, इस प्रकार जीवात्मा से भिन्न इत्यादि नामों वाला परमात्मा है, इस प्रकार भेद पाये जाने से नाम रूप का कर्ता ब्रह्म है जीव नहीं।

प्रकृति स्वभावतः सृष्टि रचना अथवा जीवात्मा का भी सृजन करती है, इस मान्यता का प्रत्याख्यान कुछ आचार्य मानते हैं कि अनुमान सिद्ध जो प्रकृति का स्वभाव है उसी से यह जगत् बन जाता है और जीवात्मा भी प्रकृति का परिणाम है? यह इसीलिए ठीक नहीं कि शरीर को रथरूप अलंकार से वर्णन किया गया है अर्थात् जिस प्रकार रथ सारथि के बिना नहीं चल सकता उसी प्रकार जड़ प्रकृति का नियमन करने वाले सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन की आवश्यकता पाई जाती है अर्थात् नियन्ता के बिना स्वाभाविक सृष्टि नहीं हो सकती और ना ही

---

१८३. सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन।। वे०द० १/३/४१
१८४. प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन् वेद नान्तरम्।। बृहदा० ४/३/२१
१८५. प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जनयातीति।। बृहदा० ४/३/३५
१८६. पत्यादिशब्देभ्यः।। वे०द० १/३/४२

शरीर रूप रथ के नियन्ता बिना शरीर चेष्टा कर सकता है,[१८७] जैसा कि कठोपनिषद् में वर्णन आया है कि आत्मा को रथ वाला और शरीर को रथ रूप जानो, बुद्धि को सारथि और मन को घोड़ों के नियमन रूप रज्जु जानना चाहिए,[१८८] इस विषय वाक्य में जीवात्मा को शरीरादि इन्द्रिय संघात का नियन्ता प्रतिपादन करके आगे इस प्रकार कहा गया है कि इन्द्रियों से उनके अर्थ, शब्द, स्पर्श, रूपादिक सूक्ष्म हैं उनसे मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्व और महत्व से अव्यक्त परे है, अव्यक्त को इसलिए सूक्ष्म कहा गया है कि वह प्रकृति अवस्था में सर्वथा अलक्षण रहता है,[१८९] जैसा कि मनुस्मृति में वर्णन किया गया है कि सृष्टि से पूर्व यह कार्यकारण रूप संघात प्रत्यक्ष न था और ना ही यह अनुमान का विषय था,[१९०] और इससे आगे यह वर्णन किया है कि वह परमात्मा सब भूतों में छिपा हुआ है, इसलिए अज्ञानियों को उपलब्ध नहीं होता, और सूक्ष्म बुद्धि से सूक्ष्म दर्शियों को दिखता है,[१९१] इस प्रकार रूपक अलंकार द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता शास्त्र ने कथन की है, अतएव यह जगत् आनुमानिक अर्थात् स्वभावसिद्ध नहीं, और ना ही जीवात्मा आनुमानिक है, क्योंक उक्त विषय वाक्यों में शरीर रूपी रथ का स्वामी जीवात्मा कथन किया गया है।

शंका उपस्थित होती है कि जब शरीर रूपी रथ का जीवात्मा रथी है तो सबको शरीर से भिन्न आत्मज्ञान क्यों नहीं? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार सूत्र देता है कि योग्यता पाये जाने से जीवात्मा सूक्ष्म है।[१९२]

परमात्मा के अधीन होने से जीव अर्थ वाला है।[१९३] उस परमात्मा के अधीन होने से वह अविनाशी जीव अर्थ वाला है, अतएव उसमें फल-चातुष्टय

---

१८७. आनुमानिकमप्येकेषामितिचेन्नशरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च।। वे०द० १/४/१

१८८. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। कठो० ३/३

१८९. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।। कठो० ३/१०

१९०. आसीदिदंतमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।। मनु० १/५

१९१. एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यतेत्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। कठो० ३/१२

१९२. सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्।। वे०द० १/४/२

१९३. तदधीनत्वादर्थवत्।। वे०द० १/४/३

की कामना होने पर कोई बाधा नहीं और परमात्मा के समान ज्ञेय कथन न किये जाने के कारण जीव ईश्वर का भेद है।[१९४] जीव को परमात्मा के समान ज्ञेय कथन नहीं किया गया अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा के विषय में वर्णन किया गया है कि उस विभु परमात्मा के स्वरूप को ज्ञानी लोग सदा देखते हैं,[१९५] इस प्रकार जीव को ज्ञानियों का विषय कहीं नहीं कथन किया गया, इसलिए नित्य, शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव होने पर भी जीव ईश्वर नहीं हो सकता।

पुनः पूर्वपक्ष से शंका होती है कि आत्मा को ज्ञेय कहा गया परन्तु जीवात्मा को ज्ञेय नहीं कहा जाता? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहा जाये कि "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा को ज्ञेय कथन किया गया है तो ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ प्रकरण से परमात्मा पाया जाता है जीवात्मा नहीं,[१९६] जैसा कि बृहदारण्यक में इसी प्रकरण के उपसंहार में कहा है कि जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञाता कौन हो सकता है,[१९७] इससे परमात्मा को दुर्विजेय कथन किया गया है जीवात्मा को नहीं।

सृष्टि स्वाभाविक नहीं है इसमें सूत्रकार हेतु प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जीव, ईश्वर, प्रकृति इन तीनों का लेख वेदान्त में पाया जाता है,[१९८] इससे सि्दद्ध है कि सृष्टि की रचना स्वभावसिद्ध नहीं और इसी को मुण्डक में इस प्रकार बताया गया कि प्रकृतिरूप वृक्ष में भोक्ता जीवात्मा निवास करता है जो अज्ञान से निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हुआ ईश्वर को साक्षात् कर उसके महत्व को जान लेता है तब शोक रहित हो जाता है,[१९९] यहाँ प्रकरण यह है कि "अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मात्" कठोपनिषद् के इस श्लोक में नचिकेता यम से यह प्रश्न करता है कि जो धर्माधर्म से भिन्न पदार्थ मेरे उपदेश योग्य समझते हो सो कहो अर्थात् धर्माधर्म तो गुण हैं इनका आधारभूत जो आप

---

१९४. ज्ञेयत्वावचनाच्च।। वे०द० १/४/४
१९५. तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः।। अथर्व० ७/३/७
१९६. व्रदतीतिचेन्नप्राज्ञो हि प्रकरणात्।। वे०द० १/४/५
१९७. येनेदं सर्वं विज्ञानाति तं केन विजानीयात्।। बृहदा० ६/४/३
१९८. त्रयाणामेवचैवमुपन्यासः प्रश्नश्च।। वे०द० १/४/६
१९९. समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।। मु० ३/१/२

पदार्थ जानते हो सो कहो? इस प्रश्न के उत्तर में यम ने जीव ईश्वर के स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट किया है कि–एक ही परमात्मा सब भूतों का नियन्ता है और वह ही कारण रूप प्रकृति को बहुत प्रकार से कार्य रूप बनाता है जो धीर पुरुष उसको अपने में व्यापक देखते हैं उनको निरन्तर सुख की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं।[२००] कठोपनिषद् में भी उल्लेख आया है कि जब जीव के सब प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाते हैं, फिर वह अमृत होकर उस अवस्था में ब्रह्म के आनन्दादि धर्मों को भोगता है,[२०१] इस प्रकार ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों को प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

जिस प्रकार प्रकरण द्वारा निश्चय किया जाता है कि अमुक अर्थ में यहाँ 'महत्' शब्द आया है, इसी प्रकार उपनिषदों में अजादि शब्दों द्वारा निश्चय किया जाता है कि यहाँ प्रकृति का ग्रहण है,[२०२] जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया "बुद्धेरात्मामहान्परः" बुद्धि से परे महत्तत्व है, यहाँ प्रकृति की प्रथम कार्यावस्था को जिसका नाम सांख्यशास्त्र की परिभाषा में महत्तत्व है उसके विषय में महत् शब्द आया है और "महान्तं विभुमात्मानं" अर्थात् महान् विभु आत्मा को जानकर शोक से रहित हो जाता है। "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" इत्यादि स्थलों में परमात्मा के लिये महत् शब्द का प्रयोग किया गया है और एक अजा अर्थात् प्रकृति है जो रक्त, शुक्ल, कृष्ण इन तीन वर्ण वाली है और नाना प्रकार की प्रजा को अपने समान रूप वाली बनाती है, उस प्रकृति रूप अजा को अज्ञानी पुरुष प्रीति वाला होकर सेवन करता तथा विवेकी पुरुष छोड़ देता है,[२०३] अतएव यहाँ अजा शब्द से उपनिषद् मूलक ही प्रकृति की कल्पना की गई है अन्यार्थ की नहीं क्योंकि लोहित से रजोगुण, शुक्ल से सत्वगुण और कृष्ण से तमोगुण का ग्रहण होता है अर्थात् उक्त तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली जो सांख्य शास्त्र ने प्रकृति मानी है उसका वर्णन यहाँ अजा शब्द से किया गया है।

---

२००. एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।। कठो० ५/१२

२०१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठो० ६/१४

२०२. महद्वच्च।। वे०द० १/४/७

२०३. अजामेकांलोहितशुक्लकृष्णांबह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येकोजुषमाणोऽनुशेते जहात्येनांभुक्तभोगामजोऽन्यः।। श्वे० ४/५

पूर्वपक्ष की ओर से आत्ति करते हुए कहा है कि चमस की भाँति कोई विशेषता न पाये जाने से अजां शब्द को प्रकृति के अर्थ में मानना उचित नहीं है,[२०४] क्योंकि जैसे कहा है कि जिस प्रकार "यथा अर्वाग्विलश्चमसऊर्ध्वबुध्नः" अर्थात् नीचे जिसका मुख हो, ऊपर से मोटा हो वह चमस पात्र है, यहाँ उक्त लक्षण करने पर चमस पद से पात्र ही का ग्रहण नहीं किन्तु प्रकरण से तत्सदृश मूर्द्धा का ग्रहण है, इसी प्रकार "नजायते इत्यजा" अर्थात् जो उत्पन्न न हो उसको अजा कहते हैं इस अर्थ से केवल प्रकृति का ही ग्रहण नहीं किन्तु जो-जो उत्पत्ति शून्य हो उसको अजा कह सकते हैं, इसलिए "अजामेकां" इत्यादि वाक्य प्रधानार्थ के ही प्रतिपादक हैं इसमें कोई नियामक नहीं।

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अजा शब्द से तेजादि जगत् के उपादान कारण का ग्रहण है निश्चय करके ऐसा ही कई एक शाखा वाले पढ़ते हैं।[२०५] तेज का प्रकरण चलाकर छान्दोग्य शाखा वाले प्रकृति का वर्णन इस प्रकार करते हैं कि जो लाल रूप है वह अन्न अर्थात् पृथ्वी का रूप है, इस प्रकार यहाँ प्रकरण से लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप वाली प्रकृति का वर्णन है,[२०६] इसलिए जो उत्पन्न न हो उसको अजा कहते हैं, इस यौगिक अर्थ से केवल उत्पत्ति शून्य पदार्थ का ही अजा शब्द से ग्रहण नहीं किन्तु जगत् के उपादान कारण प्रकृति का ग्रहण है।

प्रकृतिभूत अजा लोहित, शुक्ल, कृष्ण रूप वाली क्यों वर्णन की गई है? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि प्रकृति को रूपकालङ्कार द्वारा यहाँ अजा कल्पना किया गया है,[२०७] जिस प्रकार मधुविद्या में "असौ वा आदित्यो देवमधु" अर्थात् निश्चय करके यह आदित्य देवताओं के लिए मधु है, और वाचं धेनुमुपासीत् अर्थात् वाणी को गौ रूप से चिंतन करे, यहाँ आदित्य की मधु रूप से और वाणी की गौ रूप से कल्पना की है, इसी प्रकार प्रकृत में प्रकृति को अजा के अलङ्कार से वर्णन किया गया है, इसलिए कोई दोष नहीं।

संख्योपसंग्रहाधिकरण का आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहता है कि संख्या का ग्रहण होने पर भी सांख्यशास्त्र का श्रुति से विरोध नहीं, क्योंकि अनेक पदार्थों

---

२०४. चमसवदविशेषात्।। वे०द० १/४/८

२०५. ज्योतिरूपक्रमातु तथाह्यधीयत एके।। वे०द० १/४/९

२०६. यदग्ने रोहितं रूपं तेजस्तद्रूपं, यच्छुक्लं, तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य।।

२०७. कल्पनोपदेशाच्चमध्वादिवदविरोधः।। वे०द० १/४/१०

का वर्णन तथा आकाश का पृथक् ग्रहण पाया जाता है।[२०८] बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है "यस्मिन्पञ्ज पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" अर्थात् जिसमें पाँच पंचजन तथा आकाश भी प्रतिष्ठित है, इस वाक्य में पाँच बार गुणन रूप अर्थ वाले पञ्चजन शब्द द्वारा सांख्यशास्त्र के माने हुए पच्चीस तत्वों का वर्णन पाया जाता है फिर उनसे भिन्न आकाश का पृथक् निर्देश करने से सांख्यशास्त्र तथा उपनिषद् का परस्पर विरोध आता है, यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि प्रकृत में पञ्चजन शब्द नाना पदार्थों के अभिप्राय से आया है पाँच के साथ पाँच गुणन के अभिप्राय से नहीं, इसलिये उक्त विरोध का प्रकट करना भ्रममात्र है अर्थात् पञ्चजन पद से पृथक् आकाश तथा आत्मा का कथन करना ही सांख्यशास्त्र द्वारा कहे गये पच्चीस तत्त्वों के विरोधाभाव को बोधन करता है।

पंचजन शब्द के वाक्य शेष से प्राणादि पाँच पदार्थों का ग्रहण है।[२०९] बृहदारण्यक में कहा गया कि जो प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न, मन का मन है, उसको जानने वाले ब्रह्म को जानते हैं।[२१०] इस वाक्यशेष से पाया जाता है कि ब्रह्म के आश्रय जो प्राणादिक हैं उन्हीं को पंच-पंच जना शब्द से कहा गया है अर्थात् प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, अन्न और मन यह पाँच पदार्थ ही पंचजन शब्द से अभिप्रेत हैं, सांख्योक्त पच्चीस तत्व नहीं।

कुछ अन्य शाखा वाले अन्न का पाठ न होने पर तेज से पच्चीसवीं संख्या पूर्ण करते हैं।[२११] काण्व शाखा वालों के मत में अन्न का पाठ न होने से ज्योति अर्थात् अग्नि से वहाँ पंच संख्या पूर्ण करते हैं और वह विषयों के प्रकाशक इन्द्रिय लिये गये हैं, प्राण शब्द से स्पर्शेन्द्रिय का ग्रहण है, क्योंकि वह वायु सम्बन्धित है, और ज्योति शब्द से चक्षु, श्रोत्र से श्रोत्र इन्दिय तथा अन्न शब्द से घ्राणेन्द्रिय और मन, यह उक्त पाँच इन्द्रिय तथा आकाश जिसमें है उसको आत्मा जानो।

सब वेदान्त वाक्य ब्रह्म को ही जगत् का कारण निरूपण करते हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि "सदेवसोम्येदमग्र आसीत्" छा० ६/७/१ अर्थात् हे सौम्य!

---

२०८. न संख्योपसंग्रहादपिनाना भावादतिरेकाच्च।। वे०द० १/४/११
२०९. प्राणादयोवाक्यशेषात्।। वे०द० १/४/१२
२१०. प्राणस्यप्राणमुतचक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नमनसोमनो ये विदुः।। बृहदा० ४/४/१८
२११. ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने।। वे०द० १/४/१३

सृष्टि के पूर्व यह असत् ही था, इसमें असत् पूर्वक सृष्टि कथन की गई है,[२१२] इस प्रकार कहीं सत् और कहीं असत् कथन करने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता? यह आक्षेप इसलिए ठीक नहीं कि कारणत्वेन अर्थात् सर्वज्ञत्वादि धर्मों वाला ब्रह्म ही जगत् का कारण है, और इसी प्रकार वेदान्त में सर्वज्ञ ब्रह्म आकाशादिकों का कारण कथन किया गया है जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में[२१३] कहा गया कि उस ब्रह्म से जो सबका अन्तरात्मा है आकाश उत्पन्न हुआ, तत्तेजोऽसृजत् अर्थात् उसी ने तेज को उत्पन्न किया इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को ही कारण वर्णन किया गया है और सद्-असद् का विरोध इसलिए नहीं कि सत् का कथन सत् कारणवाद के अभिप्राय से है और कार्यावस्था के अभिप्राय से है और कार्यावस्था के अभिप्राय से असत् कथन किया गया है अर्थात् कारणरूप से यह जगत् सत् था और कार्यरूप से असत् था इसलिए कोई विरोध नहीं।

इसका परिहार करते हुए सूत्रकार आगे कहता है कि समाकर्ष अर्थात् सम्बन्ध होने के कारण कोई विरोध नहीं।[२१४] तैत्तिरीय में एक वाक्य आया है असद्वा इदमग्र आसीत्" अर्थात् सद्रूप ब्रह्म का सम्बन्ध कर लिया जाता है जिसका वर्णन तैत्तिरीय में ही इस प्रकार किया गया है कि उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न दूसरा अन्तरात्मा आनन्दमय है, उसने संकल्प किया कि मैं अनेक प्रकार का हो जाऊँ,[२१५] इत्यादि वाक्यों से आनन्दमय पदवाच्य ब्रह्म की अनुवृत्ति ससद्वा० इत्यादि वाक्यों में किये जाने से विरोध की सम्भावना न होने के कारण औपनिषद् ब्रह्मकारणवाद निर्भ्रान्त जानना चाहिए।

कर्म शब्द जगत् वाची होने से ब्रह्म के कर्ता होने का ज्ञान कराता है।[२१६] कौशीतकी ब्राह्मण में अजातशत्रु ने कहा है कि हे बालाके जो इन पुरुषों का कर्ता है और जिसका यह कर्म है उसको जानना चाहिए। यहाँ पर ब्रह्म को प्राण अथवा जीवात्मा किसको कर्त्ता माना जाये यह चिन्तनीय है।[२१७] इस प्रसंग में पूर्वपक्षी का

---

२१२. कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः।। वे०द० १/४/१४

२१३. तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।। तैतरीय २/१

२१४. समाकर्षात्।। वे०द० १/४/१५

२१५. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मा आनन्दमयः।।
सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय।। तैत्तिरीय २/५

२१६. जगद्वाचित्वात्।। वे०द० १/४/१६

२१७. सहोवाच यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वै तत् कर्म स वेदितव्यः।। कौ० ब्रा० ४/१९

अभिप्राय यह है कि "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति" अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में एक प्राण ही शेष रह जाता है, इस वाक्य शेष द्वारा प्राण का प्रकरण पाये जाने तथा क्रियामात्र प्राण के अधीन होने से आदित्यादिकों में पंच पुरुषों का कर्ता प्राण बन सकता है अथवा अपूर्व अर्थात् अदृष्ट रूप कर्मफल का भोक्ता होने के कारण भोगसम्पादक आदित्यादि पाँचों का कर्ता जीव है? यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि कर्म शब्द जगद्वाची होने से ईश्वर को कर्ता बोधन करता है अर्थात् "क्रियत इति कर्म" अर्थात् जो किया जाए उसको कर्म कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से कर्म का अर्थ जगत् है और उसका कर्ता ईश्वर के बिना और कोई नहीं हो सकता, इसलिए ब्रह्म ही जिज्ञासतव्य है जीव तथा प्राण नहीं, इस प्रकार बालकि ब्राह्मण का समन्वय ब्रह्म में जानना चाहिए।

इस पर पूर्व पक्ष की ओर से शंका उठती है कि इस वाक्य में जीव तथा मुख्य प्राण का लिंग पाये जाने से उन्हीं का वर्णन पाया जाता है, ब्रह्म का नहीं? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि जीव तथा मुख्य प्राण का लिङ्ग होने से वही जिज्ञासतव्य हैं यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, इसका उत्तर "उपासात्रैविध्यादाश्रिततत्वादिहतद्योगात्" ब्र०सू० १/१/३१ में कथन किया गया है, और यहाँ भी अजातशत्रु के उपक्रम में यह वर्णन किया है,[२१८] कि "ब्रह्म ते ब्रवाणि" अर्थात् अब तुझको मैं ब्रह्म का उपदेश करता हूँ, इस प्रकार ब्रह्म का प्रकरणचलाकर फिर यह कहा है कि "यस्य च एतत् कर्मेति" अर्थात् जिसका यह कर्म है, इससे पाया गया कि यहाँ जीव का वर्णन नहीं, किन्तु निखिल जगत् के कर्ता ब्रह्म का वर्णन है।

इसी अर्थ में सूत्रकार जैमिनि ऋषि का मत प्रस्तुत करते हुए कहता है कि जैमिनि आचार्य के मतानुसार इस वाक्य में जीव तथा प्राण का वर्णन ब्रह्म बोधन के लिये है, यह बात प्रश्न और व्याख्यान से स्पष्ट पाई जाती है,[२१९] जैसा कि बालाकि के प्रति अजातशत्रु का यह प्रश्न कि हे बालाकि यह पुरुष कहाँ सोया हुआ था अथवा कहाँ था और कहाँ से आया?[२२०]

२१८. जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेत्तद्व्याख्यातम्।। वे०द० १/४/१७
२१९. अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके।। वे०द० १/४/१८
२२०. क एष एतत् बालाके पुरुषोवाऽशयिष्ट, क्व वा एतदभूत् कुत एतदागात्।। कौ०ब्रा० ४/१९

जब अजातशत्रु के इन प्रश्नों का उत्तर बालाकि ने कुछ न दिया तो अजातशत्रु ने स्वयं कहा कि–इस प्राण रूप परमात्मा में जब सब लय होकर एक हो जाते हैं तब सब नामों के साथ वागेन्द्रिय, सब रूपों के साथ चक्षु, सब शब्दों के साथ श्रोत्र और सब ध्यानों के साथ मन का भी लय हो जाता है, जब यह पुरुष जागता है तो जैसे जलती हुई अग्नि से चिन्गारियां निकलकर सब दिशाओं में फैलते हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण, प्राणों से इन्द्रिय तथा इन्द्रियों से लोक निकलकर अपने स्थानों में स्थिर होते हैं,[२२१] इस प्रकार जैमिनि के मत में सोये हुए पुरुष को जगाकर जो बालाकि के प्रति कहा कि यह कहाँ सोया हुआ था? यह कथन जीव को ब्रह्म से भिन्न बोधन करने के लिए है।

मैत्रेयी ब्राह्मण में भी ब्रह्म का वर्णन है जीव का नहीं,[२२२] बृहदारण्यक उपनिषद् में आया है कि हे मैत्रियी! पति की कामना के लिये पति प्रिय नहीं किन्तु अपने लिये ही पति प्यारा है, यह कथन करके फिर कहा कि वस्तुमात्र किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं अपितु आत्मा के लिये ही प्यारे हैं, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य तथा निदिध्यासितव्य है, उसी एक जानने से सब कुछ जाना जाता है, इत्यादि वाक्यों में तो स्पष्टतया जीवात्मा का वर्णन पाया जाता है और उसी के जानने से सब का जानना कथन किया गया है, फिर कैसे कहा जाता है कि वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म का ही समन्वय है जीव का नहीं? इसका उत्तर यह है कि "वाक्यान्वय" अर्थात् पूर्वोत्तर सम्बन्ध से यहाँ ब्रह्म का ही वर्णन है जीव का नहीं अर्थात् याज्ञवल्क्य के परिव्राजक होने के समय मैत्रेयी ने पूछा कि हे भगवन्! आप कहाँ जाते हैं? इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने यह दिया कि मैं संन्यास लेकर वन में जाता हूँ, और तेरा कात्यायिनी से विभाग कर देता हूँ तब मैत्रेयी ने कहा कि क्या इससे अमृत लाभ होगा? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" बृहदा० अर्थात् अमृत या मुक्ति की आशा धन से नहीं हो सकती, तब मैत्रेयी ने कहा कि जिससे में अमृत नहीं होती उसको मैं क्या करूँ, अमृत का कारण जो आप जानते हैं वहीं भगवन् वर्णन करें।[२२३] तब

२२१. अस्मिन्प्राण एव एकधा भवति तदेनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्रेर्ज्वलतः सर्वादिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेव एतस्मादात्मनः प्राणा यथा आयतनं विप्रष्ठिन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः।। कौ० ब्राह० ४/२०

२२२. वाक्यान्वयात्।। वे०द० १/४/१९

२२३. येनाहंनामृतास्यां किमहन्तेन कुर्याम् यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।। वृह० ४/५/६

याज्ञवल्क्य ने कहा कि "आत्मवारे द्रष्टव्यः" अर्थात् हे मैत्रेयी आत्मा दर्शन करने योग्य है, इत्यादि इससे पाया गया है कि मुक्ति का कारण परमात्मदर्शन ही है जीवात्मा नहीं, और युक्ति यह है कि इस प्रकरण में उस एक के ज्ञान से ही सबकुछ जाना जाता है, इस कथन से एकमात्र परमात्म ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु वर्णन किया है इससे भी यहाँ परमात्मा का ही वर्णन पाया जाता है जीव का नहीं।

आश्मथर्य आचार्य की इस सम्बन्ध में मान्यता है कि "कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" मुण्ड० १/१/७ अर्थात् किसके जानने से यह सब जाना जाता है, इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए दुन्दुभि का दृष्टान्त दिया गया है अर्थात् एक परमात्मा के जानने से ही सबकुछ जाना जाता है यह भाव उक्त दृष्टान्त का है।[२२४]

औडुलोमि आचार्य यह मानते हैं कि परमात्मभावों के धारण करने से यह जीवात्मा अपनी पूर्व अवस्था को त्यागकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।[२२५] काशकृत्स्नाचार्य यह मानते हैं कि "अततीत्यात्मा" जो सब स्थानों में व्यापक हो उसको आत्मा कहते हैं,[२२६] ब्रह्मरूप आत्मा सबका अन्तरात्मा माना गया है इसलिए "आत्मावारेः द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों में आत्मा को द्रष्टव्य कहा है एवं तीनों आचार्यों के मत में इस प्रकरण में ब्रह्म का वर्णन है अर्थात् ब्रह्म का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन लिखा है जीव का नहीं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी उक्त भाव का अद्वैतवाद के भाव से भाष्य करते हैं जिसमें नाना प्रकार के अर्थाभासों से जीव को ब्रह्म बनाने का यत्न किया है वह इस प्रकार कि परमात्मा जीवरूप बनकर सबमें स्थित है, जैसा कि इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "अभेदाभिधानमितिका शकृस्नाचार्यो मन्यते" अर्थात् यह सूत्र जीव ब्रह्म के अभेद को कथन करता है, यह काशकृत्स्नाचार्य मानते हैं, क्योंकि जहाँ द्वैत होता है वहाँ अन्य अन्य को देखता है और जिस अवस्था में इसका सब अपना आप है वहाँ कौन किसको देखें,[२२७] इत्यादि वाक्यों में उसी एक ब्रह्म का वर्णन करके यह कथन किया है कि काशकृत्स्नाचार्य का मत ही

---

२२४. प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः।। वे०द० १/४/२०
२२५. उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः।। वे०द० १/४/२१
२२६. अवस्थितेरितिकाशकृत्स्न।। वे०द० १/४/२२
२२७. यत्र हि द्वैतापिवभवति तदितर इतरं पश्यति यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूतत्केन कं पश्येत्।। बृहदा० ४/५/१५

श्रुतिसम्मत है, अविद्याकृत जो देहादि उपाधि उसी से जीव ब्रह्म का भेद है वास्तव में नहीं, यह अर्थ सब वेदान्तियों को स्वीकार करने योग्य है, और छान्दोग्य उपनिषद् में आया है, "सदेवसोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" अर्थात् हे सोम्य! सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था "आत्मैवेदंसर्वं" छा० ७/१५/२ अर्थात् यह सब आत्मा है, "ब्रह्मैवेदंसर्वं" मुण्ड २/२/११ अर्थात् यह सब ब्रह्म है, "इदंसर्वंयदयमात्मा" बृहदा० २/४/६ अर्थात् यह सबकुछ आत्मा है, "नान्योऽतोस्ति दृष्टा" बृहदा० ३/७/२३ अर्थात् उससे भिन्न कोई दृष्टा नहीं, "वासुदेव: सर्वमिति" गी० ७/१९ अर्थात् यह सबकुछ वासुदेव है, "क्षेत्रज्ञचापिमांविद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" गी० १३/२ अर्थात् सब शरीरों में मुझको क्षेत्रज्ञ जानो, "समं सर्वेषु भूतेषुतिष्ठन्तं परमेश्वरम्" गी० १३/२७ अर्थात् सब भूतों में परमेश्वर एक है, "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानां" वृ० १/४/१० अर्थात् वह और है, मैं और हूँ, जो ऐसा जानता है वह देवताओं का पशु है, "मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" वृ० ४/४/१९ अर्थात् वह मरण से मरण को प्राप्त होता है जो नानापन देखता है, "तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:" यजु० ४०/७ अर्थात् उस अवस्था में एकत्व जानने वाले का शोक मोह नहीं रहता इत्यादि श्रुति स्मृतियों से जीव ब्रह्म की एकतापूर्वक भेद का स्पष्ट निषेध किया गया है, इस प्रकार अनेक प्रतीकों से स्वा०शंकराचार्य जी ने एक ब्रह्म ही सिद्ध किया है।

ब्रह्म से भिन्न जगत् का कोई उपादान कारण मानने पर ही प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त ठीक रह सकते हैं, इसलिए प्रकृति भी जगत् का कारण है,[२२८] प्रतिज्ञा यह है कि "अस्थूलमनष्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायं" बृहदा० ३/७/८ इसी प्रकार मुण्डक में आया है कि वह न स्थूल, न अणु न दीर्घ, न ह्रस्व, न लाल, न चिकना और न उसकी कोई छाया है, वह दिव्य अर्थात् प्रकाशस्वरूप तथा अमूर्त है, वह सब के बाहर भीतर और अज है,[२२९] इस प्रकार ब्रह्म में स्थूलादि गुणों का अभाव कथन करके उसको निराकार सिद्ध किया है यही निराकार की प्रतिज्ञा है, कठोपनिषद् में दृष्टान्त यह आया है कि जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक होने से सब लोकों का चक्षु है पर बाह्य दोषों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं इसी प्रकार सब भूतों का अन्तरात्मा दु:खों से दुखी नहीं होता, क्योंकि वह निर्लेहप

२२८. प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।। वे०द० १/४/२३
२२९. दिव्योह्यमूर्त: पुरुष: स वाह्याभ्यन्तरो ह्यज:।। मुण्ड० १/३/२

है,[२३०] इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से परमात्मा को निरवयव सिद्ध किया गया है, यह प्रतिज्ञा और दृष्टान्त तभी ठीक रह सकते हैं, जब ब्रह्म से भिन्न उपादान कारण कोई अन्य माना जाये जिसका परिणाम यह जगत् हो, और "जन्माद्यस्ययतः" ब्र०सू० १/१/२ में ब्रह्म को निमित्तकारण तथा प्रकृति को उपादान कारण कथन किया है, और जो स्वा० शंकराचार्य जी ने यह लिखा है कि पंचमी विभक्ति उपादान में ही होती है, यह ठीक नहीं, क्योंकि "आदित्याज्जायतेवृष्टि" मनु० ३/७६ यहाँ निमित्तकारण में पंचमी है और "तस्मात् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" यजु० ३१/७ अर्थात् उसी यज्ञरूप परमात्मा से सब ऋगादि वेद उत्पन्न होते हैं, यहाँ भी निमित्तकारण में ही पंचमी है, इसलिए उनका यह कथन कि जनि धातु के प्रयोग में उपादान में ही पंचमी होती है, ठीक नहीं।

इस पर पूर्वपक्ष से शंका उठती है कि यह कैसे समझा जाये कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण ही है उपादान नहीं? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि उस ब्रह्म से ईक्षणपूर्वक सृष्टि की रचना पाई जाती है।[२३१] अर्थात् उसने ध्यानपूर्वक सोच समझकर इस संसार को बनाया है, इससे सिद्ध है कि परमात्मा निमित्त कारण है उपादान नहीं। इसी को तीन और सूत्र देकर स्पष्ट करते हुए कहा है कि वेद तथा उपनिषदों में साक्षात् दोनों का वर्णन पाया जाता है अर्थात् ब्रह्म निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण मानी गई है,[२३२] जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, इसलिए दोनों को पृथक्-पृथक् कारण मानना ही ठीक है।

परमात्मा के यत्न और प्रकृति के परिणाम से यह जगत् उत्पन्न होता है, इस प्रकार प्रकृति को परिणामी उपादानकारण और ब्रह्म को कूटस्थ नित्य होने से केवल निमित्तकारण वर्णन किया गया है।[२३३] और युक्ति यह है कि उस ब्रह्म को भूतयोनि कहा गया है अर्थात् सब भूतों का उसी को कारण कथन किया गया है, इससे भी वह केवल निमित्तकारण ही पाया जाता है, योनि शब्द के अर्थ यहाँ निमित्तकारण के हैं,[२३४] जैसा कि निम्न विषय वाक्य से स्पष्ट है कि जो यह

---

२३०. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। कठ० ४/११

२३१. अभिध्योपदेशाच्च।। वे०द० १/४/२४

२३२. साक्षाच्चोभयाम्नानात्।। वे०द० १/४/२५

२३३. आत्मकृतेः परिणामात्।। वे०द० १/४/२६

२३४. योनिश्च हि गीयते।। वे०द० १/४/२७

अदृश्य अर्थात् रूपादि रहित, अग्राह्य या निरवयव होने से पकड़ा नहीं जाता, उत्पत्ति शून्य होने से अगोत्र है, रूप रहित होने से अवर्ण है, अत्यन्त सूक्ष्म होने से रूप और शब्द के सम चक्षु श्रोत्र का विषय नहीं, वह हस्त पादादि अवयवों से रहित नित्य एकरस है, और वहीं सर्वव्यापक अतिसूक्ष्म विकार रहित है, जिसको भूतयोनि कथन किया है,[२३५] इस प्रकार का ब्रह्म उपादान कारण नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ भूतयोनि के अर्थ निमित्त कारण के हैं उपादान कारण के नहीं।

इससे सब सिद्धान्त व्याख्यान किये गये हैं,[२३६] "तन्तुसमन्वयात्" सूत्र से लेकर इस सूत्र तक सब औपनिषद् सिद्धान्त कथन किये गये। अर्थात् "भेदव्यपदेशाच्चान्य:" ब्र०सू० १/१/२१ इत्यादि सूत्रों में जीव ब्रह्म का भेद और "आकाशस्तल्लिङ्गात्" ब्र०सू० १/१/१२ इत्यादि में आकाश आदि सब ब्रह्म के नाम हैं और जड़ आकाशादि औपनिषद् लोगों के उपास्य नहीं, इत्यादि सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक व्याख्यान जानना चाहिए।

ब्रह्मसूत्र की व्याख्या मुख्य रूप में तीन प्रकार के भाष्यों द्वारा तीन रूपों में प्राप्त होती है। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहा है। आचार्य रामानुज ने कहा है कि यह प्रकृति ब्रह्म का शरीर है, इसलिए उन्होंने प्रकृति को विशेषण और ब्रह्म को विशेष्य माना है। माध्वाचार्य ने ब्रह्म को निमित्त कारण और प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार किया है। इन तीनों प्रकार के आचार्यों के दर्शन का विस्तृत वर्णन मध्यकालीन आचार्यों के दर्शन खण्ड में किया जायेगा।

स्मृति समन्वय—सूत्रकार ने वर्णन करते हुए विभिन्न स्मृति वाक्यों का जो परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है उनका परस्पर समन्वय करते हुए कहा है कि एक स्मृति के मानने पर उसी प्रकरण में दूसरी स्मृति के अर्थ की असङ्गति का नाम "स्मृत्यनवकाशदोष" तथा उसकी आपत्ति को "स्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्ग" कहते हैं, जगत्कारणवाद में "स्मृत्यनवकाशदोष की आपत्ति इसलिये ठीक नहीं कि जो वादी एक स्मृति को मानकर दोष देता है उसके मत में भी वह दोष वैसा

२३५. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।। मुण्ड० १/१/६

२३६. एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याताः।। वे०द० १/४/२८

ही बना रहता है[२३७] अर्थात् एक स्मृति में ब्रह्म को उपादानकारण और दूसरी में निमित्तकारण वर्णन किया है, जैसा कि मनुष्मृति में आया है कि परमात्मा ने विचार शक्ति द्वारा अपने शरीर से जलादिकों को उत्पन्न किया,[२३८] यहाँ ब्रह्म को उपादानकारण माना है और गीता ८/१८ में वर्णन मिलता है, "अव्यक्ताद्व्यक्त्यः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे" अर्थात् ब्रह्म दिन के आरम्भ में अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से सब उत्पन्न होते हैं, यहाँ प्रकृति को कार्य वर्ग का उपादान कारण से पृथक् परमपुरुष परमात्मा को निमित्तकारण माना है, जैसा कि–"परस्तस्मातु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः" उस अव्यक्तरूप प्रकृति से सूक्ष्म परमात्मा परे है इस प्रकार एक ही विषय में स्मृतियों का परस्पर विरोध पाया जाता है, या यों कहो कि जो स्मृति ब्रह्म को उपादान कारण कहती है उसमें निमित्त कारण कथन करने वाली स्मृति को अवकाश नहीं, और जो निमित्त कारण को कहती है उसमें उपादान कारण कथन करने वाली स्मृति को अवकाश नहीं, इसका उत्तर यह है कि स्मृतिका अनवकाशरूप दोष उभय पक्ष में समान है अर्थात् स्मृतियों में विरोध होने पर वेदानुकूल स्मृति माननीय और वेद विरुद्ध त्याज्य है, इसी अभिप्राय से सूत्रकार ने अन्यस्मृत्यनवकाशरूप दोष का प्रसंग कहा है, इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी ने भी इस अंश में यही आशय लिया है कि वेदानुकूल स्मृति माननीय है, वेदविरुद्ध नहीं।

तर्कों के न पाये जाने से ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं, अर्थात् ब्रह्म के अभिन्न निमित्तोपादानकारण मानने में और कोई तर्क न पाये जाने से सिद्ध है कि ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, क्योंकि बिना चेतन नियन्ता से जगत् रचना कदापि नहीं हो सकती।[२३९] ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण का खण्डन किये जाने से परस्पर तत्वों की मिलावट द्वारा स्मृति की उत्पत्ति मानी है, इससे उसका भी खण्डन जान लेना चाहिए।[२४०]

विलक्षण होने से जगत् और ब्रह्म का कार्यकारण भाव नहीं अर्थात् जगत् और ब्रह्म में विलक्षणता पाये जाने से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं हो

---

२३७. स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्।। वे०द० २/१/१

२३८. सोऽभिध्यायशरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव स सर्जादौ तासु बीजमवासृजात्।। मनु० ८/१८

२३९. इतरेषांचानुपलब्धेः।। वे०द० २/१/२

२४०. एतेनयोगः प्रत्युक्तः।। वे०द० २/१/३

२४१. न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्।। वे०द० २/१/४

सकता, क्योंकि कार्य कारण भाव, सालक्षण्य में ही होता है, वैलक्षण्य में नहीं, जैसा कि मिट्टी से घट, तन्तुओं से कपड़ा इत्यादि कार्य समानधर्म वाले द्रव्य से ही उत्पन्न होते हैं, और जड़ चेतन की विलक्षणता शब्द प्रमाण से भी पाई जाती है,[२४१] जो श्वेताश्व० १/१० में वर्णन की गई है कि "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर:" अर्थात् प्रकृति विकारिणी और ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है, इससे सिद्ध है कि जड़चेतन का वैलक्षण्य होने से ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं।

इस पर पूर्वपक्ष शंका करता है कि "ता आप ऐक्षन्त" छा० ६/२/४ अर्थात् जलों ने इच्छा की, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि कार्यकारण का वैलक्षण्य नहीं? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि विशेष तथा अनुगति से चेतन कारण का व्यपदेश पाया जाता है।[२४२] छान्दोग्य में आया है कि ब्रह्म ने सङ्कल्प किया कि मैं अपने जीव रूप आत्मा द्वारा तेजादि तीन देवताओं में प्रवेश करके नाम रूप का विस्तार करूँ,[२४३] इस वाक्य में जो ब्रह्म का ईक्षण कथन किया है उसका नाम विशेष और जीवरूप आत्मा द्वारा प्रवेश का नाम अनुगति है, इस विशेष और अनुगति से स्पष्ट है कि चेतन ब्रह्म में ही ईक्षण है, जलादिकों में नहीं, क्योंकि अहङ्कार पूर्वक ईक्षण चेतन में ही हो सकता है, जड़ में नहीं।

इसको प्रमाण देकर और सुस्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म तथा प्रकृति का भिन्न-भिन्न कारण होना श्रुति से पाया जाता है।[२४४] "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वराम्" श्वेता० ४/१० अर्थात् माया प्रकृति उपादान कारण और उसका नियन्ता परमात्मा निमित्तकारण है, "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश:" श्वेत० ६/१६ अर्थात् प्रधान तथा जीवात्मा का स्वामी है, इत्यादि वाक्यों में प्रकृति तथा परमात्मा का पृथक्-पृथक् वर्णन पाये जाने से स्पष्ट है कि प्रकृति ही जगत् की उपादान कारण है परमात्मा नहीं। इसी अभिप्राय से बृहदा० में वर्णन किया गया है कि जो पृथ्वी में स्थिर होकर पृथ्वी का नियन्ता है, जिसको पृथ्वी नहीं जानती और जिसका पृथ्वी शरीर है वह ब्रह्म है।[२४५] यहाँ

---

२४२. अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्।। वे०द० २/१/५
२४३. सेयंदेवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन।
जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।। छा० ६/३/२
२४४. दृश्यते तु।। वे०द० २/१/६
२४५. य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्।। बृहदा० ३/४/१

पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों का ब्रह्म को नियन्ता कथन किया है और जो नियन्ता होता है वह उपादानकारण से भिन्न होता है, इसलिए ब्रह्म को उपादानकारण मानना समीचीन नहीं है।

सृष्टि से पूर्व असत् ही था यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि असत् शब्द से केवल कार्यावस्था का प्रतिषेध किया गया है।[२४६] छान्दोग्य उपनिषद् में आया है "असदेवसोम्येदमग्र आसीत्" छा० ६/२/७ अर्थात् सृष्टि के पूर्व असत् ही था, इत्यादि वाक्यों में असत् कथन से यदि प्रकृति का निषेध किया जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि असत् कथन से केवल कार्यावस्था का प्रतिषेध किया है कारणावस्था का नहीं, यहाँ केवल संसार कार्य रूप में नहीं था अपितु उसका कारण अर्थात् प्रकृति या परमाणु का निषेध नहीं है। जो दार्शनिक यह मानते हैं कि सृष्टि रचना केवल जड़ तत्त्व से हुई है,[२४७] उसका प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि केवल प्रकृति कारणवादी का यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि लयावस्था में कार्य के अशुद्धादि धर्मों से ब्रह्म कदापि मलिन नहीं होता, इसमें दृष्टान्त है कि जब किसी अशुद्ध आदि कर्म वाले पदार्थ के अवयव छिन्न-भिन्न हो जाते है फिर उसमें उक्त दोष नहीं रहता, जैसा कि जला देने से कूड़ा कचरा आदि पदार्थों में देखा नहीं जाता है, इसीलिए द्वैतवादियों के मत में यह दोष नहीं आता कि जब जगत् प्रलय काल में अपने कारण में लय होगा तब उस समय स्वकारण को दूषित करेगा, हाँ यह दोष तो मायावादियों के मत में आता है जो प्रलयकाल में जगत् को ब्रह्म रूप मानते हैं और माया को सर्वदा अग्नि की उष्णता के समान ब्रह्म की शक्ति मानते हैं, इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त को न समझकर जड़कारण वादी का उक्त आक्षेप केवल दृष्टान्त मात्र है।[२४८]

वेदान्त सूत्र में मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म का निरूपण करना ही है, जो आचार्य इसके मतानुसार ब्रह्म को ही सृष्टि उत्पत्ति का कारण मानते हैं, अन्य कारणों को स्वीकार नहीं करते, उन अद्वैतवादियों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि उनके पक्ष में दोष पाये जाने से केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से ब्रह्म में अशुद्ध आदि दोषों की आपत्ति होगी। अर्थात्

---

२४६. असदितिचेन्नप्रतिषेधमात्रत्वात्।। वे०द० २/१/७
२४७. अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्।। वे०द० २/१/८
२४८. न तु दृष्टान्तभावात्।। वे०द० २/१/९

केवल ब्रह्म को ही कारण माना जाए तो अनेक दुःखों का आकर यह जगत् ब्रह्म में लय होता हुआ उसको भी दूषित करेगा, इसलिए केवल ब्रह्म को ही कारण मानना ठीक नहीं, और जो अद्वैतवादी जगत् को ब्रह्म का विवर्त मानते हैं, उससे तो जगत् का अस्तित्व प्रातिभाषिक रूप में ही अवस्थित होगा। जबकि प्रतीति मात्र अस्तित्व वाला नहीं हो सकता है।[२४९]

अद्वैत का खण्डन करते हुए पुनः सूत्रकार कहते हैं कि तर्क की अप्रतिष्ठा होने से यदि यह अनुमान किया जाए कि मकड़ी आदि की भाँति ब्रह्म अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार से भी अद्वैतवादी के मत में दोष ज्यों के त्यों बने रहते हैं।[२५०] तर्क की अप्रतिष्ठा मानकर दोष दूर न होने का प्रकार यह है कि ऐसा कोई नहीं कह सकता कि कोई तर्क प्रतिष्ठित नहीं, क्योंकि तर्क को जो अप्रतिष्ठित कहा जाता है यह भी तर्क ही से कहा जाता है अर्थात् भूत तथा वर्तमान काल में जो कुछ देखा जाता है उसी के अनुभव से लोग व्यवहार करते हैं, इससे सिद्ध है कि यदि सब तर्क अप्रतिष्ठित हों तो लौकिक व्यवहार ही न चलें, और जब श्रुति के अर्थ में विवाद होता है तब भी अर्थाभास का खण्डन तर्क ही से किया जाता है, इससे सिद्ध है कि वेद विरोधी तर्क त्याज्य हैं वेदानुकूल नहीं।

जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का आप्त पुरुषों ने मण्डन नहीं किया वे दार्शनिक मत प्रत्याख्यान करने योग्य हैं, जैसे एक अतिमतवादी मानते हैं कि प्रकृति से ही जीव और उसकी शक्ति से संसार की रचना होती है, इसी प्रकार विरोचन मतानुयायी मानते हैं कि प्रकृति और जीव ही हैं ईश्वर नहीं है, ऐसे अतिवादी मतों को विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है।[२५१] लोक में यह नियम देखा जाता है कि भोग्य जड़ पदार्थ होते हैं भोक्ता चेतन। चेतन के बिना जड़ भोक्ता नहीं हो सकता है, यह शरीर आदि तो भोक्ता जीवात्मा के साधन हैं।[२५२] वेदान्त सूत्र में यह भी स्पष्ट किया गया है कि तात्विक दृष्टि से कार्य और कारण में नितान्त भेद नहीं है, अर्थात् अभेद ही है। जैसे मिट्टी के विकार से बनने वाली सभी वस्तुयें मृत्तिका में ही अर्थात् मृत्तिका का विकार ही माना जाता है, इसका अभिप्राय यह

२४९. स्वपक्ष दोषाच्च।। वे०द० २/१/१०
२५०. तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः।। वे०द० २/१/११
२५१. एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः।। वे०द० २/१/१२
२५२. भोक्त्रा पत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्।। वे०द० २/१/१३

है कि कोई भी कार्य नष्ट होने पर अपने मूल कारण में ही अस्त हो जाता है। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है कि कारण के विद्यमान होने पर कार्य की उपलब्धि पाये जाने से सिद्ध है कि उपादानकारण के बिना यह जगत् रूप कार्य उत्पन्न नहीं हुआ, और वह कार्य पहले कारण रूप से विद्यमान था, यदि भावरूप कारण की अवस्था में कार्य विद्यमान न होता तो असद् रूप में भेद न पाये जाने पर सिकता से भी तेल की उत्पत्ति होती पर ऐसा न होने से स्पष्ट है कि कार्य कारण का कोई भेद नहीं।[२५३] भाव रूप कारण में कार्य की सत्ता पाई जाती है इसलिए कार्य भी अपने कारण की भाँति कारण रूप से सत् है अर्थात् सद् रूप कार्य का अपने कारण से कोई भेद नहीं।[२५४]

यदि उत्पत्ति से प्रथम असद् व्यपदेश अर्थात् कार्य के न होने का कथन किया जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि अन्य प्रकार से कार्य की सत्ता उक्त वाक्यों में पाई जाती है, यह बात वाक्यशेष से स्पष्ट है,[२५५] जैसा कि "असदेवेदमग्र आसीत्" इस वाक्य को लिखकर आगे लिखा है कि "तत्सदासीत्" इसी प्रकार तैत्तिरीय में भी "असद्वा इदमग्र आसीत्" अर्थात् सृष्टि से पूर्व असत् ही था, यह कथन करके आगे यह कहा है कि "तादात्मानंस्वमकुरूत" अर्थात् उसने अपने आत्मा को बनाया, इससे पाया गया कि जो नामरूप वाली वस्तु लोक में प्रसिद्ध है उसी कार्य रूप जगत् का नाम रूप न था, इस अभिप्राय से असद्व्यपदेश किया है और कारणरूप से कार्य सत् था, इस अभिप्राय से "तत्सदासीत्" इत्यादि वाक्यों में सत् का कथन किया गया है, और जिस वाक्य में यह लिखा है कि उसने आत्मा को बनाया, वहाँ आत्मा शब्द के अर्थ ब्रह्म की विभूति होने से प्रकृति के हैं, इस प्रकार सत् असत् का कोई विरोध नहीं, शब्द प्रमाण तथा युक्ति से कार्य का भाव होता है उसी से उस कार्य का प्रादुर्भाव होता है, अन्य से नहीं, जैसे मिट्टी से घट, दूध से दधि घृतादि कार्य, दुग्ध में प्रथम ही सूक्ष्मरूप से रहते हैं इसी प्रकार कार्यद्रव्य कारणावस्था में भी सूक्ष्मरूप से रहते हैं केवल उनका कार्यरूप से अभिव्यक्ति या प्रकाश होता है।[२५६] जैसे लपेटा हुआ कपड़ा स्पष्ट प्रतीत नहीं हो सकता कि यह कपड़ा है या कोई अन्य द्रव्य, फिर फैलाया

---

२५३. भावेचोपलब्धेः।। वे०द० २/१/१५
२५४. स्वाच्चावरस्य।। वे०द० २/१/१६
२५५. असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तरेण वाक्यशेषात्।। वे०द० २/१/१७
२५६. युक्तेः शब्दान्तराच्च।। वे०द० २/१/१८

हुआ वही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, इसी प्रकार यह कार्य जगत् कारणावस्था में समवेष्टित पट के समान था और इस कार्यावस्था में फैलाये हुए पट के समान रूपान्तर को प्राप्त हो गया है, इसलिए कार्य कारण का भेद नहीं।[२५७]

प्राणादिकों की भाँति कार्य को सद् रूप मानना ही ठीक है, जैसे प्राण रोकने पर उनका काम बन्द हुआ प्रतीत होता है और फिर छोड़ देने से प्राणों का आना जाना स्पष्ट प्रतीत होता है इसी प्रकार यह कार्य जगत् भी कारणावस्था में रुके हुए प्राणों के समान था।[२५८]

जीव और ब्रह्म के भेद के विषय में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ब्रह्म का ही जीव रूप से प्रवेश कथन किये जाने के कारण हिताकरणादि दोषों का प्रसङ्ग होगा।[२५९] अर्थात् यदि ब्रह्म ही अपने आप जीव बन गया तो उसने अपने लिए हित न किया, क्योंकि वह अपने आप ही अतिदीन दुःखी जीवों के भावों को प्राप्त होकर कहीं कीट, पतङ्गादि शरीरों में कहीं घृणित रोगविशिष्ट शरीरों में प्रविष्ट हुआ इत्यादि, इस प्रकार उसने अपने आत्मा का हित न करते हुए अपने लिये आप जेलखाना बनाकर बंधन में पड़ा परन्तु कोई बुद्धिमान् स्वयं कारागार बनाकर आप ही उसमें प्रविष्ट नहीं होता, फिर सर्वज्ञ ब्रह्म ने ऐसा क्यों किया? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहता है कि ब्रह्म जीव से बड़ा है और वह शरीर में प्रविष्ट नहीं हुआ,[२६०] यह जीव ब्रह्म के भेद कथन करने वाले वाक्यों से स्पष्ट पाया जाता है, जैसा कि बृहदा० में आया है कि परमात्मा द्रष्टव्य अर्थात् ज्ञानचक्षु से देखने योग्य, श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, श्रोतव्य श्रुत्यानुसारी तर्कों के मनन से मन्तव्य और बारम्बार ब्रह्माकार वृत्ति से जानने योग्य अर्थात् निदिध्यासितव्य है,[२६१] "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" वह परमात्मा खोजने और जानने योग्य है। "सतासोम्यतदासम्पन्नो भवति" अर्थात् हे सौम्य! तब यह जीव उस सत्पुरुष के साथ मिलता है। इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट होता है कि जीव ब्रह्म की आत्मभूत वस्तु होने से उसको ब्रह्म का आत्मा कथन किया है अभेद

---

२५७. पटवच्च।। वे०द० २/१/१९
२५८. यथाचप्राणादि।। वे०द० २/१/२१
२५९. इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः।
२६०. अधिकं तु भेदनिर्देशात्।। वे०द० २/१/२२
२६१. आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।। बृहदा० २/४/६

के अभिप्राय से नहीं, इस प्रकार प्रवेश विधायक उक्त वाक्यों का वैदिक द्वैतवाद के साथ कोई विरोध नहीं।

इसको और स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि पत्थर आदि के समान जीव ब्रह्म नहीं बन सकता[२६२] अर्थात् जिस प्रकार पत्थर आदि अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म से अत्यन्त विजातीय पदार्थ है वह कदापि ब्रह्म नहीं बन सकता और न कभी ब्रह्म जीव बन सकता है, इस सूत्र के अर्थ शंकर मत में यह किये गये हैं कि जिस प्रकार एक खान से बहुमूल्य मणि आदि पाषाण हो जाते हैं इसी प्रकार एक ही ब्रह्म से नाना प्रकार का यह जगत् उत्पन्न हो जाता है, इसलिए पूर्वोक्त दोष की असिद्धि है, यह अर्थ इस अधिकरण के साथ संङ्गति नहीं रखता, क्योंकि ब्रह्म के स्वयं जीव बनने में पूर्वपक्ष सूत्र में दोष दिया गया है तथा "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" इस सूत्र में ब्रह्म को अधिक कथन किया है और इस सूत्र में भी यही कथन किया गया है कि जैसे पत्थर आदि ब्रह्म नहीं हो सकते इसी प्रकार जीव भी ब्रह्म नहीं बन सकता।

इस पर पूर्व पक्ष शंका करता है कि कर्ता होने की सामाग्री न पाये जाने से ब्रह्म सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता? इसका समाधान करते हुए उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि कर्तामात्र के पास बाह्य सामग्री देखे जाने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास कोई सामग्री नहीं? यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि जैसे दूध बिना किसी सामग्री के स्वभाव विशेष से ही दधि बन जाता है इस प्रकार ब्रह्म भी स्वभाव विशेष से जगत् का कारण हो सकता है।[२६३] इस सूत्र में दूध का दृष्टान्त किसी दूसरे की सहायता न लेने के अभिप्राय से दिया गया है कि दूध के समान स्वयं जगत् रूप परिणाम होने में, यदि दूध से दधि के समान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम माना जाता तो ब्र०सू० १/४/२६ में यह न वर्णन किया जाता कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण तथा प्रकृति उपादान कारण है। और "नतस्यकार्यकरणञ्चविद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च-दृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रियाच" श्वे० ६/८ अर्थात् न उसका कोई कार्य और कारण, न उसके कोई सदृश और न उससे कोई अधिक है, उसकी स्वाभाविक ज्ञान, बल क्रिया रूप शक्ति बहुत प्रकार से सुनी जाती है, इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म को निराकार वर्णन किया गया है, इससे भी पाया

२६२. अश्मादिवच्चतदनुपपत्तिः।। वे०द० २/१/२३
२६३. उपसंहारदर्शनान्नेतिचेन्नक्षीरवद्धि।। वे०द० २/१/२४

जाता है कि उसमें स्वाभाविक बल ज्ञान और क्रिया पाये जाने से यहाँ दूध का दृष्टान्त दिया गया है सर्वथा दधि की भाँति परिणामी होने के अभिप्राय से नहीं।

उक्त अर्थ को दृष्टान्त देकर और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार देव अर्थात् दिव्य गुणों वाले पुरुष अपनी विचित्र शक्ति से साधन सामग्री के बिना ही जगत् में विचित्र कार्य उत्पन्न कर देते हैं, जैसा कि भूमि पर बिना घोड़े आदि जोते यान चला सकते हैं और बिना दूत भेजे देश-देशान्तरों के समाचार भेज सकते हैं या ज्ञातकर सकते हैं, इसी प्रकार निराकार ब्रह्म बिना हस्तपादादि सामग्री के इस सम्पूर्ण संसार को निर्माण कर सकता है इसमें कोई दोष नहीं[२६४] इस सूत्र में देवादिकों का दृष्टान्त देना इस बात को सिद्ध करता है कि ब्रह्म जगत् का परिणामी उपादान कारण नहीं।

ब्रह्मकारणवादियों से प्रष्टव्य यह है कि ब्रह्म किसी एक देश से जगदाकार होता है अथवा सर्वदेश से? प्रथम पक्ष इसलिए ठीक नहीं कि निरवयव ब्रह्म में देश विशेष का असम्भव होने से जगत् रूप परिणाम नहीं हो सकता,[२६५] दूसरे पक्ष में अविकारी ब्रह्म न रहने के कारण मुक्त पुरुषों की गति का अभाव हो जायेगा अर्थात् अद्वैतवेदान्तियों के मत में ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से सम्पूर्ण देश में ब्रह्म का परिणाम हो जाना रूप दोष और एक देश में परिणाम मानने से "नतस्य प्रतिमास्ति" इत्यादि निराकार प्रतिपादक मन्त्रों का विरोध आता है, इसलिए ब्रह्म को परिणामी उपादान कारण मानना ठीक नहीं, क्योंकि वेद तथा उपनिषद् उसको निराकार वर्णन करते हैं, जैसा कि "दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" मुण्डक २/१/२ "इदमहद्भूत मनन्तमपारं विज्ञानघन एव" बृहदा० २/४/१२ इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है कि वह पुरुष दिव्य है, अमूर्त है, सबके बाहर भीतर और अजन्मा है, वह सब से बड़ा तत्व है, अपार है, ज्ञानस्वरूप है, यह जितना दृश्य जगत् है यह परमात्मा नहीं, वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, दीर्घ नहीं अर्थात् साकार द्रव्य के स्थूलादि भावों से सर्वथा रहित है, इसलिए ब्रह्म को जगत् का परिणाम मानना ठीक नहीं।

इसमें और प्रमाण देते हुए कहा है कि श्रुति द्वारा ब्रह्म निराकार पाये जाने से जगत् ब्रह्म का विवर्त नहीं हो सकता।[२६६] जैसा कि यजुर्वेद में आया है–यह

---

२६४. देवादिवदपिलोके।। वे०द० २/१/२५

२६५. कृत्स्नप्रसक्तिर्निखयवत्वशब्दकोपो वा।। वे०द० २/१/२६

२६६. श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्।। वे०द० २/१/२७

सब जगत् रूपी महिमा उसके एक पादस्थानी और वह तीन पाद रूप अमृत स्वरूप है, यहाँ पाद विभाग केवल इस जड़ जगत् को अल्प दर्शाने के अभिप्राय से है न कि साकार के अभिप्राय से यदि साकार के अभिप्राय से होता तो उसको अमृत न कहा जाता,[२६७] इस प्रकार श्रुति से ब्रह्म निराकार पाया जाता है, यदि कोई यह प्रश्न करे कि श्रुति से निराकार पाये जाने के कारण वास्तव में ब्रह्म निराकार कैसे समझा गया? इसका उत्तर सूत्र के "शब्दमूलत्वात्" इस भाग से दिया गया है कि वह ब्रह्म शब्दमूल अर्थात् शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है।

इस पर पूर्वपक्ष शंका करता है कि निमित्तकारणवादियों के मत में निराकार ब्रह्म हस्त पादादि अवयवों के बिना सम्पूर्ण जगत् का कर्ता कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि परमात्मा में इस प्रकार की विचित्र शक्तियाँ पायी जाती हैं कि बिना हस्तपादादि अवयवों के सृष्टि को बना सकता है,[२६८] सृष्टि के अकर्ता होने का दोष तो अद्वैतवेदान्ती के मत में आता है।

अद्वैतवेदान्तियों के मत में यह दोष आता है कि निराकार ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कैसे बन गया, क्योंकि उक्त कारण में कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता इसलिए मायावादियों का उक्त कथन सम्माननीय नहीं।[२६९]

परमात्मा सर्वगुण सम्पन्न है, इसलिए उस अक्षर से सब जगत् उत्पन्न हो सकता है।[२७०] जैसा कि बृहदा० में कहा गया है कि परमात्मा की आज्ञा में सूर्य चन्द्रमा स्थिर हैं और वह निराकार अक्षर ही सब जगत् का निमित्तकारण है।[२७१] हस्तपादादि साधनों से रहित होने के कारण ब्रह्म जगत् का कर्ता नहीं हो सकता, यदि यह कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि इसका समाधान कर दिया गया है।[२७२]

परमात्मा जगत्कर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि प्रवृत्ति मात्र में प्रयोजन पाया जाता है[२७३] इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए कहा है कि जैसे संसार में

---

२६७. एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्चपूरुषः।
पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतंदिवि।। यजु० ३१/३

२६८. आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि।। वे०द० २/१/२८

२६९. स्वपक्षदोषाच्च।। वे०द० २/१/२९

२७०. सर्वोपेताचतदर्शनात्।। वे०द० २/१/३०

२७१. एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।। बृहदा० ३/८/९

२७२. विकरणत्वान्नेतिचेत्तदुक्तम्।। वे०द० २/१/३१

२७३. न प्रयोजनवत्वात्।। वे०द० २/१/३२

बड़े-बड़े काम राजा महाराजा लीला मात्र से कर लेते हैं उनको कोई बड़ा आयाम नहीं करना पड़ता इसी प्रकार परब्रह्म भी इस जगत् बिम्ब को लीलामात्र से रच लेता है,[२७४] अर्थात् संसार के रचने में उसको कोई यत्न नहीं करना पड़ता किन्तु जैसे स्वभाव से श्वास प्रश्वासादिक बिना यत्न से चलते हैं, उसमें मनुष्य को कुछ प्रयत्न नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्म को भी जगत् रचने में कोई यत्न नहीं करना पड़ता।

इस पर पूर्वपक्ष पुनः आपत्ति करते हुए शंका करता है कि ईश्वर को संसार रचने में यत्न हो पर तो भी ऊँच नीचादि विषम सृष्टि बनाने से वैषम्य नैर्घृण्यरूप दोष की आपत्ति होगी? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि किसी को ऊँच किसी को नीच और किसी को राजा किसी को रङ्क बनाने का नाम "वैषम्य" तथा अति दीन दुःखी बनाने का नाम "नैर्घृण्य" दोष है, उक्त दोनों दोष परमात्मा में इसलिए नहीं कि वह जीवकृत शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि बनाता है कर्म निरपेक्ष नहीं और यह बात श्रुति प्रमाण से सिद्ध है,[२७५] जैसा कि "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" बृहदा० ३/२/१३ अर्थात् पुण्य कर्म से सुखी तथा पापकर्म से दुखी होता है, इससे कर्मफल देना भी ईश्वर का सृष्टि रचने में प्रयोजन जानना चाहिए।

सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म होने से उक्त व्यवस्था ठीक नहीं? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व एक ही अद्वितीय ब्रह्म होने से कर्म नहीं थे यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि कर्म अनादि हैं।[२७६] इसी अर्थ में और प्रमाण देते हुए आगे कहते हैं कि जीव और कर्मों का अनादि होना उपपादन किया जा सकता है और श्रुति में भी ऐसा ही पायाजाता है।[२७७] जब सृष्टि अनादिरन्त है तो ईश्वर में ईश्वरत्व ही क्या, क्योंकि न वह जीव को उत्पन्न कर सकता है, न प्रकृति को, इससे ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य में दोष आता है? इस पूर्वपक्ष की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म में उन सब धर्मों की सिद्धि है जो उस मे होने चाहिए,[२७८] अज्ञानी पुरुषों के कल्पना किये हुए सब

२७४. लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्।। वे०द० २/१/३३
२७५. वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वातथाहिदर्शयति।। वे०द० २/१/३४
२७६. न कर्माविभागादितिचेन्नाऽनादित्वात्।। वे०द० २/१/३५
२७७. उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च।। वे०द० २/१/३६
२७८. सर्वधर्मोपपत्तेश्च।। वे०द० २/१/३७

धर्म उसमें नहीं हो सकते, यदि सब धर्म के अर्थ यहाँ इयता रहित धर्मों के लिये जाएं तो ईश्वर का उत्पत्ति विनाशशाली होना, अपने जैसा और ईश्वर उत्पन्न कर लेना, अपने आपको मार डालना, इत्यादि अनन्तअनिष्ट धर्म मानने पड़ेंगे, इसलिए सर्वधर्म के अर्थ यहाँ ईश्वर योग्य धर्मों के ही हैं और वह योग्यता यह है कि "ईष्टे–इति ईश्वरः" अर्थात् जो ऐश्वर्य रखता हो उसका नाम ईश्वर है। सो उसका ऐश्वर्य यह है कि वह चराचर जगत् की रचना करने वाला, चराचर का अधिष्ठाता, ज्ञाता, त्राता और निर्माता है, इसलिए उसके ईश्वरत्व में दोष नहीं आता।

प्रकृति जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकती–

जड़ प्रकृति से ही सब संसार उत्पन्न होता और उसी में नाना प्रकार के स्वभाव हैं जिससे सब प्रकार की रचनायें हो सकती हैं फिर प्रकृति से भिन्न ईश्वर के निमित्त कारण मानने की आवश्यकता नहीं? यह अनीश्वरवादी का पूर्वपक्ष इसलिए ठीक नहीं कि यह जो नाना प्रकार की रचना संसार में पाई जाती है इसका कर्ता प्रकृति नहीं हो सकती, क्योंकि वह जड़ है उसमें रचना करने का ज्ञान नहीं, इस प्रकार इस सूत्र में चार्वाक मत का खण्डन किया है जो चार भूतों से भिन्न अन्य किसी पदार्थ को जगत् का कर्ता नहीं मानते।[२७९]

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ करते हुए कहते हैं कि रचना के न बन सकने से सांख्यशास्त्र का माना हुआ प्रधान जगत् का कर्ता नहीं, स्वामी रामानुज तथा मध्वादि सब आचार्य इस पाद में सांख्य वैशेषिक शास्त्रों का खण्डन बड़े बलपूर्वक करते हैं, परन्तु यह भाव इस पाद का कदापि नहीं, क्योंकि जिस समय इन आचार्यों के भाष्य बने थे उस समय शास्त्रों के परस्पर खण्डन का आविद्यिक समय आ गया था उसी समय के प्रभाव से इन लोगों ने वेदान्त से भिन्न पाँचों शास्त्रों का खण्डन किया है जो वेदान्त शास्त्र के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, इस विषय में निम्न लिखित युक्तियाँ हैं–

(१) वेदान्त सूत्रों में कहीं भी सांख्य वैशेषिकादि शास्त्रों का नाम लेकर खण्डन नहीं किया गया।

(२) इन सूत्रों का आशय भी परस्पर शास्त्रों के खण्डन का नहीं पाया जाता।

(३) जब वैदिक समय से लेकर उपनिषदों के समय तक कहीं भी

---

२७९. रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्।। वे०द० २/२/१

वैदिक शास्त्रों का खण्डन नहीं तो फिर दर्शनों में यह बात कैसे हो सकती है कि एक-दूसरे का खण्डन करें।

(४) दर्शन शास्त्र उस समय के बने हुए हैं जिस समय आपस के द्वेष का लेशमात्र प्रवेश भी भारत में नहीं हुआ था, उक्त तर्कों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शंकराचार्य आदि एक दूसरे के पीछे चलते हुए शास्त्रों का खण्डन करते हैं और स्यात् उन्होंने अपने मन में यही बात का गौरव समझा कि अन्य शास्त्रों का खण्डन करके वेदान्त को सब से उच्च रखें, जैसा कि वर्तमान के वेदविरोधी कई एक ग्रन्थकारों ने लिखा है कि शास्त्ररूपी गीदड़ जंगल में तभी तक गर्जते हैं जब तक वेदान्त रूपी सिंह नहीं गर्जता।[२८०]

इस आशय को लेकर इन्होंने अन्य शास्त्रों की प्रतिष्ठा की अपेक्षा नहीं की, इसलिये वैदिक सिद्धान्त में शास्त्रों का परस्पर विरोध कदापि मान्य नहीं हो सकता, हम इस पाद के यथार्थ अर्थ जैसे कि व्यास सूत्रों से प्रतीत होते हैं करते हैं, जिससे प्रकट हो जायेगा कि व्यास का आशय कदापि अन्य शास्त्रों के खण्डन का न था, यद्यपि इस अंश में लकीर के फकीर यह कहेंगे कि तुम्हारे पूर्व आचार्यों से विरुद्ध अर्थ प्रमाण नहीं तथापि हम उन लोगों के कथन की अपेक्षा न करके महर्षि व्यास के आशय को छिपा नहीं सकते और ना ही इस वैदिक भाव को दबा सकते हैं जो वैदिक समय से लेकर शास्त्रों के समय तक एकरस चला आया है कि शास्त्रों का परस्पर विरोध नहीं।

इसी को और हेतु देकर स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि कार्यानुकूल चेष्टा का नाम प्रवृत्ति है और वह प्रवृत्ति केवल जड़ द्रव्य में नहीं हो सकती, इसलिए पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकते।[२८१] यदि दूध और पानी के दृष्टान्त द्वारा जड़ की स्वतः प्रवृत्ति मानो कि जैसे बच्चे के निमित्त स्तनों से दूध स्वयं बाहर आ जाता है, एवं बिना किसी चेतन प्रवर्तक के नीचे स्थानों की ओर जड़ जल स्वयं चला जाता है इसी प्रकार पृथ्वी आदि जड़ द्रव्य से स्वतः ही जगत् रचना की प्रवृत्ति सिद्ध हो जायेगी, फिर जड़ द्रव्य से भिन्न ईश्वर मानने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि यदि ऐसा मानो तो वहाँ भी चेतन के अधीन ही प्रवृत्ति है, क्योंकि दूध स्रवण पक्ष में गौ

२८०. तावत्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाबाहुर्यावद्वेदान्तकेसरी।।

२८१. प्रवृत्तेश्च।। वे०द० २/२/२

और बछड़ा दोनों चेतन हैं इसलिए उनके व्यापार से प्रवृत्ति होती है और नीचे के स्थानों की ओर पानी के जाने का नियम है जो कि नियन्ता के बिना नहीं बन सकता, इसीलिए बिना चेतन से जड़ द्रव्य में प्रवृत्ति न हो सकने से चार्वाकादिकों का कथन केवल साहस मात्र है।[२८२]

व्यतिरेक अर्थात् अभाव की स्थिति न हो सकने से यह अनीश्वरवाद ठीक नहीं, क्योंकि जब जड़ द्रव्य के स्वभाव से ही सृष्टि उत्पन्न होगी तो फिर कभी भी इसका अभाव न होगा, क्योंकि किसी और पदार्थ की अपेक्षा वाला इस जड़ द्रव्य को चार्वाक लोग नहीं मानते और हम ईश्वरवादियों के पक्ष में जो न्यायकारी ईश्वर है वह पूर्व कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि बनाता है और इसी कारण कर्मों का भोग समाप्त हो चुकने पर सृष्टि का लय हो जाता है या यों कहो कि स्वाभाविक सृष्टिवादियों के मत में जड़ द्रव्य किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए सदैव सृष्टि बनी रहनी चाहिए पर ऐसा नहीं, इससे भी चार्वाक मत ठीक नहीं।[२८३] जैसे–गौ को जो घासादि खिलाई जाती है, वह उसमें जाकर उसके स्वभाव की विचित्रता से ही वहाँ दूध बन जाती है, इसी प्रकार इन जड़ पदार्थों के स्वभाव की विचित्रता ही जीवों के ऊँच-नीचादि भावों का भेद बन सकेगा और इसी स्वभाव की विचित्रता से ही सृष्टि का प्रलय भी बन जायेगा, फिर चेतन कर्ता की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि गौ आदिकों में तृणादि द्वारा दूध का नियम पाये जाने से और बैल आदि में इस नियम के न हो सकने से यह नियम किसी नियन्ता के अधीन है, इसलिए तृणादिकों का दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि तृणादि ईश्वर के नियम से दुग्धादि परिणाम को प्राप्त होते हैं इस प्रकार स्वभाववाद की सिद्धि के लिए तृणादि का दृष्टान्त संगत नहीं हो सकता।[२८४] यदि मान भी लिया जाये कि जड़ द्रव्य ही संसार को रच लेता है तो भी प्रयोजन के न बन सकने से चार्वाक मत ठीक नहीं अर्थात् यह जगत् में नाना प्रकार के प्रयोजन पाये जाते हैं जैसा कि संसार में शब्द साक्षात्कार के लिए श्रोत्र, स्पर्श की ग्राहक त्वचा, रूपज्ञान के लिये चक्षु, रसार्थ, रसना और गन्ध गुण के लिए घ्राण इन्द्रिय बनाया गया, इत्यादि प्रयोजन चेतनकर्ता के बिना कदापि नहीं हो सकते।[२८५]

---

२८२. पयोऽम्बुवच्चेतत्रापि।। वे०द० २/२/३
२८३. व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्।। वे०द० २/२/४
२८४. अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्।। वे०द० २/२/५
२८५. अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्।। वे०द०. २/२/६

यदि यह कहा जाये कि जैसे रूपादि ज्ञानशक्ति विहीन अन्ध पुरुष दूसरे पुरुष को पाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर देता है इसी प्रकार यह पृथिव्यादि भूतचतुष्टय भी देशकालिक निमित्तों को पाकर सृष्टि रचना कर लेंगे और जैसे चुम्बक पत्थर अपनी स्वाभाविक शक्ति से लोहे को खींच लेता है इसी प्रकार जड़ द्रव्य सृष्टि को बना लेंगे? इसका उत्तर सूत्रकार यह देते हैं कि पुरुष और चुम्बक पत्थर के समान भी तुम जड़ द्रव्य में जगत् रचने की क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि अन्ध पुरुष को भी जब तक कोई मार्ग बतलाने वाला ज्ञानी नहीं मिलता तब तक वह अपने प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता, एवं चुम्बक का भी जब तक लोहे के साथ सम्बन्ध नहीं होता तब तक वह भी अपना काम नहीं करता, इसी प्रकार जब तक तुम्हारे जड़ द्रव्य का किसी चेतन पुरुष के साथ सम्बन्ध न हो तब तक उससे स्वयं सृष्टि बनना असम्भव है।[२८६] और किसी चेतन पदार्थ का सम्बन्धी न होने से जड़ में स्वतः प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[२८७]

अन्य प्रकार से अनुमान करने पर भी नास्तिकों का निर्वाह नहीं हो सकता अर्थात् यदि नास्तिक यह मानें कि इस जड़ द्रव्य में हम एक शक्ति मान लेंगे जिसमें सृष्टि रचना आदि सब प्रयोजन सिद्ध हो सकेंगे? इसका अन्तर यह है कि उस शक्ति के चेतन न होने से तुम्हारा मत ठीक नहीं।[२८८] तथा परस्पर विरोध होने से भी यह मत ठीक नहीं अर्थात नास्तिक लोगो के मत में परस्पर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं, और कहते है कि समय के प्रभाव से सृष्टि रचना होती है इसलिए काल ही कारण है, कोई कहते हैं कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चार भूत ही सृष्टि के कारण हैं, कोई कहते हैं कि अनिर्वचनीय हैं जिसको हम कथन नहीं कर सकते उससे सृष्टि होती है इत्यादि परस्पर विरुद्ध नाना कल्पनाओं से भी नास्तिकों का मत ठीक नहीं।[२८९]

निरवयव परमाणुओं से कारण गुण विपरीत सावयव कार्य जगत् की उत्पत्ति कैसे? इस शंका का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि लघु परिमाण वाले द्वयणुक तथा परिमण्डल परिमाण वाले परमाणुओं से महत् तथा दीर्घ परिमाण वाले कार्य की भाँति सावयव जगत् की उत्पत्ति हो सकती है।[२९०]

---

२८६. पुरुषाश्मवदिति चेतथापि।। वे०द० २/२/७

२८७. अङ्गित्वानुपपत्तेश्च।। वे०द० २/२/८

२८८. अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्।। वे०द० २/२/९

२८९. विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्।। वे०द० २/२/१०

२९०. महद्दीर्घवद्वह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्।। वे०द० २/२/११

मायावादियों के मत में ब्रह्म निष्क्रिय है इसलिए उसमें कर्म नहीं और ना ही जड़ माया में कर्म हो सकता है, दोनों प्रकार से भी उसमें क्रिया नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं।[२९१] इनके मत में निष्क्रिय ब्रह्म तथा जड़ माया में कर्म की स्वतन्त्रता नहीं, इस प्रकार आदि सृष्टि में कर्म न बन सकने से मायावादियों के मत में सृष्टि की उत्पत्ति कल्पना मात्र है। माया तथा ब्रह्म का सम्बन्ध मानने और दोनों के सम्बन्ध में समान तर्क पाये जाने से कार्य कारण भाव की स्थिति न होने के कारण ब्रह्मकारणवाद ठीक नहीं।[२९२] बात यह है कि माया और ब्रह्म के सम्बन्ध से सृष्टि का होना माना जाये तो सृष्टि सदा ही बनी रहनी चाहिए पर ऐसा नहीं, और जो अद्वैतवादी ब्रह्म और माया का सम्बन्ध मान के ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बनाते हैं। तो ब्रह्म और माया का सम्बन्ध सदा ही बना रहेगा, क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है और माया उसके आश्रित रहती है, इस प्रकार माया और ब्रह्म का नित्य सम्बन्ध होने से ब्रह्म कभी माया से विनिर्मुक्त न हो सकेगा, इस प्रकार सृष्टि का कभी-कभी प्रलय होने से भी ब्रह्म जगत् का उपादानकारण नहीं बन सकता।[२९३]

कार्य जगत् से ब्रह्म विलक्षण होने के कारण जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् रूपादि गुणों वाला है।[२९४] दोनों प्रकार से दोष पाये जाने के कारण ब्रह्म कारणवाद ठीक नहीं।[२९५] किसी में मायावाद का आदर न पाये जाने से माया उपाधि वाला ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं अर्थात् वेद तथा उपनिषद् ग्रन्थों में मायोपहित ब्रह्म को जगत् का कारण नहीं माना प्रत्युत कल्याण गुणाकार, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को ही जगत् कर्ता प्रतिपादन किया है, इसलिए सर्व प्रकार से मायावाद समीचीन नहीं।[२९६]

मायावाद का खण्डन करने के पश्चात् बौद्धों की प्रक्रिया का खण्डन करते हैं, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक यह बुद्ध के चार शिष्य हैं, इन चारों की बुद्धि भेद से बौद्धमत के चार भेद हैं, इनके मत में संसार की उत्पत्ति के हेतु दो प्रकार का समुदाय माना गया है, एक वाह्य समुदाय और दूसरा

---

२९१. उभयथाऽपि न कर्माऽतस्तदभावः।। वे०द० २/२/१२
२९२. समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः।। वे०द० २/२/१३
२९३. नित्यमेव च भावात्।। वे०द० २/२/१४
२९४. रूपादिमत्वाच्चविपर्ययोदर्शनात्।। वे०द० २/२/१५
२९५. उभयथा च दोषात्।। वे०द० २/२/१६
२९६. अपरिग्रह्यच्चात्यन्तमनपेक्षा।। वे०द० २/२/१७

आन्तर समुदाय, पृथ्वी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के परमाणुरूप समुदाय का नाम "बाह्य समुदाय" और रूप, विज्ञान, बेदना, संज्ञा तथा संस्कार इन पाँचों स्कन्धों का नाम "रूप स्कन्ध" अहं-अहं इस प्रकार की प्रतीति वाले आलय विज्ञान का नाम विज्ञान स्कन्ध, सुख-दुःख के ज्ञान हेतु का नाम वेदनास्कन्ध, गौ, अश्व, पुरुष, हस्ति इत्यादि नामों को संज्ञास्कन्ध और रागादि तथा धर्माधर्म को संस्कार स्कन्ध कहते हैं, इस प्रकार पाँच स्कन्ध रूप आन्तर समुदाय तथा पृथिव्यादिभूत रूप वाह्य समुदाय यह दोनों मिलकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं? बौद्धों का उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं कि दोनों प्रकार के समुदाय जड़ होने से उनमें स्वतः क्रिया नहीं हो सकती और ना ही उनके मत में उभयविध समुदाय से भिन्न कोई चेतन प्रवर्तक माना गया है जिससे उक्त समुदाय क्रियावाले होकर इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के जनक हो सकें, इत्यादि अनेक दोष पाये जाने के कारण उक्त मत भी मायावाद की भाँति निस्सार प्रतीत होता है।[२९७]

यदि यह कहा जाये कि यद्यपि हमारे मत में कोई स्थिर चेतन कर्ता और भोक्ता नहीं तथापि अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, जन्म, जाति, जरा, मृत्यु, शोक, परिवेदना इत्यादि अविद्यासमुदाय एक दूसरे का हेतु इस प्रकार बन सकेगा कि अविद्यादिकों से जन्म और जन्म से अविद्यादि, घड़ी यन्त्र के समान इनमें एक दूसरे का हेतु बन सकने से जगत् की उत्पत्ति में चेतन प्रवर्तक की आवश्यकता नहीं? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मत में अविद्यादि क्षणिक होने से एक दूसरे का हेतु नहीं बन सकते अर्थात् तुम्हारे सिद्धान्त में जब तक पदार्थ क्षणिक है तो अविद्या कैसे निमित्त बन सकती है, क्योंकि विपरीत बुद्धि का नाम अविद्या है जिससे राग द्वेषादिक उत्पन्न होते हैं, और उनसे विज्ञान, विज्ञान से संज्ञा, संज्ञा से पृथिव्यादिरूप वाला द्रव्य और उससे इन्द्रिय, उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार उत्पत्ति भी तभी हो सकती है जब अविद्या को स्थिर माना जाये और क्षणिकवादियों के मत में कोई पदार्थ स्थिर नहीं इसलिए इतरेतरप्रत्यय वाली अविद्या संघात का कारण नहीं हो सकती, इसलिए चेतन प्रवर्तक का मानना ही युक्ति युक्त है।[२९८]

उत्तर क्षण के उत्पत्ति समय तक पूर्वक्षण नष्ट हो जाने से उक्त कथन ठीक नहीं।[२९९] यदि कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति मानें तो आलोक, नेत्र, पूर्वज्ञान

---

२९७. समुदाय उभयहेतुकेऽपितदप्राप्तिः।। वे०द० २/२/१८

२९८. इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्।। वे०द० २/२/१९

२९९. उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्।। वे०द० २/२/२०

और विषय इन चारों से जो सुखादि आन्तरविषयों की उत्पत्ति विषयक प्रतिज्ञा की गई है उससे विरोध आयेगा तथा कार्य पर्यन्त कारण की स्थिति मानें तो कार्यकारण की एक काल में स्थिति माननी पड़ेगी और ऐसा मानने से क्षणिकवादियों की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायेगी इसलिए क्षणिकवाद की उत्पत्ति प्रक्रिया सर्वथा असङ्गत है।[३००] बौद्धों की विनाश प्रक्रिया भी अविच्छेद के पाये जाने से प्रतिसंख्यानिरोध तथा अप्रति संख्यानिरोध के असम्भव होने से उचित नहीं है।[३०१] यदि शून्य से ही शब्द पदार्थों की उत्पत्ति मानकर निरन्वय विनाश माना जाये तो भी ठीक नहीं, क्योंकि तुच्छ से उत्पन्न होने वाला तुच्छरूप ही होना चाहिए, एवं दोनों प्रकार से दोष आता है अर्थात् तुच्छरूप कारण मानें तो कार्य तुच्छ हो जायेगा और यदि सत् पदार्थ से उत्पत्ति मानें तो निरन्वय विनाश नहीं हो सकता, इसलिए उक्त कल्पना भी युक्ति संगत नहीं।[३०२]

पूर्वपक्षी यहाँ पर शंका करता है कि आकाश तो शून्य है फिर कैसे कहा जाता है कि शून्य कोई पदार्थ ही नहीं? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि शब्द आकाश का गुण होने से सिद्ध है कि आकाश भाव पदार्थ है शून्य नहीं, अतएव उसका निरन्वय विनाश नहीं हो सकता।[३०३]

बौद्ध लोगों का यह कथन कि वस्तुमात्र क्षणिक है इसलिए ठीक नहीं कि अनुभव तथा स्मरण का नियम से समानाधिकरण पाया जाता है, इसलिए अनुभव किये हुए पदार्थ की अनुभव के अनन्तर स्मृति पाये जाने के कारण अनुभव कर्ता क्षणिक नहीं हो सकता अन्यथा जिसने अनुभव किया था वह तो नष्ट हो चुका फिर स्मृति किसको होगी, इस प्रकार स्मृति की अनुपपत्ति से ही क्षणिकवाद असङ्गत जानना चाहिए।[३०४] इसी प्रकार असत् पदार्थ से कार्य की उत्पत्ति न देखे जाने से शून्यवाद ठीक नहीं,[३०५] और अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर कार्य न करने वाले लोगों की भी कार्य सिद्धि स्वतः ही होनी चाहिए।[३०६]

---

३००. असतिप्रतिज्ञोपरोधोयौगपद्यमन्यथा।। वे०द० २/२/२१

३०१. प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्।। वे०द० २/२/२२

३०२. उभयथा च दोषात्।। वे०द० २/२/२३

३०३. आकाशे चा विशेषात्।। वे०द० २/२/२४

३०४. अनुस्मृतेश्च।। वे०द० २/२/२५

३०५. नासतोऽदृष्टत्वात्।। वे०द० २/२/२६

३०६. उदासीनानामपि चैवं सिद्धि।। वे०द० २/२/२७

विज्ञानवादी के मत में एक विज्ञानमात्र ही पदार्थ है, बाह्य पदार्थ कोई नहीं किन्तु सब पदार्थ बुद्धि के भीतर हैं, यह इसलिए ठीक नहीं कि यदि बाहर कोई पदार्थ न होता तो उसकी आन्तर उपलब्धि भी न होती, परन्तु वाह्य उपलब्धि पाये जाने से सिद्ध है कि बाहर के पदार्थ मिथ्या नहीं।[३०७] स्वप्न आदि पदार्थों से जाग्रत पदार्थों में विरुद्ध धर्म पाये जाने के कारण जाग्रत पदार्थ स्वप्न पदार्थों के समान मनोरथ मात्र नहीं, या यह कहो कि स्वप्नादिकों के समान जाग्रत पदार्थ मिथ्या नहीं।[३०८]

विज्ञानवादी के मत में जब तक कोई पदार्थ बाहर न माना जाये तब तक विज्ञान का भी कोई स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् कर्ता कर्म बिना कहीं ज्ञान की उपलब्धि नहीं देखी गई स्वप्न ज्ञानादिकों में भी वाह्यार्थ से बिना ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती किन्तु वहाँ भी अन्यथाख्याति के आश्रयण करने से वाह्य पदार्थ के होने पर ही अन्यथा ज्ञान होता है अन्य रीति से नहीं, इसलिए वाह्य पदार्थों का मानना उचित है।[३०९] सब प्रकार से अनुपपत्ति पाये जाने के कारण शून्यवाद ठीक नहीं।[३१०]

जैनों का कथन है कि जीव तथा अजीव भेद से जगत् दो प्रकार का है और उसका कर्ता ईश्वर कोई नहीं, जीव, धर्म , अधर्म, पुद्गल, आकाश और काल यह जो छह पदार्थ है, इन्ही का संघात रूप संसार स्वतः सिद्ध अनादि है और यह एकान्त स्वरूप नही किन्तु इनसे सप्तभङ्गी न्याय द्वारा जगत् की अनेकान्त रूपता ही सिद्ध होती है।[३११]

जैन मत के स्याद्वाद अर्थात् सप्तभङ्गीनय में जिस प्रकार एक पदार्थ में युगपत् परस्पर विरुद्ध धर्म न बन सकने से असम्भव दोष पाया जाता है, इसी प्रकार इनके मत में आत्मा की सिद्धि का न होना दोष भी ज्यों का त्यों बना रहता है, अर्थात् जैनों का यह कथन कि जीव मध्यम शरीर के समान परिमाण वाला है और वही हस्ती चींटी आदि अनेक योनियों को प्राप्त होता है इसलिए वह ठीक नहीं कि मध्यम परिमाण वाला पदार्थ घटादि पदार्थों की भाँति अनित्य होता है और ऐसा होने से जीव भी अनित्य हो जायेगा, दूसरी बात यह है कि यदि जीव

---

३०७. नाभाव उपलब्धेः।। वे०द० २/२/२८

३०८. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।। वे०द० २/२/२९

३०९. नभावोऽनुपलब्धेः।। वे०द० २/२/३०

३१०. सर्वथानुपपतेश्च।। वे०द० २/२/३१

३११. नैकस्मिन्नसम्भवात्।। वे०द० २/२/३२

को शरीर के समान परिमाण वाला माना जाए तो हस्ती के शरीर का जीव चींटी के शरीर में आना असम्भव है इत्यादि तर्कों से आत्मा की सिद्धि न होने के कारण उक्त मत समीचीन नहीं।[३१२]

शंका का समाधान करते हुए कहा है कि दीपशिखा की भाँति जीव को संकोच विकासशाली मानकर उक्त व्यवस्था का मानना इसलिए ठीक नहीं कि ऐसा मानने से जीव घटादि पदार्थों की भाँति विकारी होने के कारण अनित्य हो जायेगा और अनित्य होने से बन्ध मोक्ष की व्यवस्था न रहेगी, इसलिए उसका शरीर के बराबर परिमाण मानना ठीक नहीं।[३१३]

जैनों का कथन है कि मुक्ति से पूर्व संकोच विकासशाली होने के कारण जीव का परिमाण एकरस नहीं रहता परन्तु मुक्त होने पर पुनर्जन्म न हो सकने से उसका परिमाण एकरस अर्थात् नित्य बना रहता है फिर उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जो प्रथम न होकर पश्चात् होवे वह घटपटादि पदार्थों की भाँति अनित्य होता है और ऐसे ही अनित्य को अभूत्वाभावि कहते हैं, सो यदि मुक्तिकाल में जीव का परिमाण अभूत्वाभावि हो तो उसका कालान्तर में अवश्य परिवर्तन होगा क्योंकि अभूत्वाभावि पदार्थ कदापि एकरस नहीं रह सकता जैसा कि घटादि पदार्थों में देखा जाता है, यदि जीव परिमाण को मुक्तावस्था में नित्य मानो तो घटादि पदार्थों से विपरीत होने के कारण मुक्ति से पूर्व भी ज्यों का त्यों मानना पड़ेगा और ऐसा मानने से बन्ध तथा मोक्ष दोनों अवस्थाओं में जीव परिमाण की विशेषता न पाये जाने से स्पष्ट है कि जीव और जीव परिमाण दोनों की नित्यता स्वाभाविक है, अतएव उसके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने के कारण जीव को शरीर परिमाण वाला मानना ठीक नहीं।[३१४]

ईश्वर साकार है इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि युक्तिशून्य होने से साकार ईश्वर वादी का मत ठीक नहीं।[३१५] जो शरीरधारी है वह एकदेशी होता है, इस नियम के अनुसार यदि ईश्वर साकार होता तो उसका जगत् के

---

३१२. एवंचाऽत्माऽकार्त्स्न्यम्।। वे०द० २/२/३३

३१३. नचपर्य्यायादप्यविरोधोविकारादिभ्यः।। वे०द० २/२/३४

३१४. अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।। वे०द० २/२/३५

३१५. परत्युरसामञ्जस्यात्।। वे०द० २/२/३६

उपादानकारण प्रकृति के साथ सम्बन्ध न बन सकने से कदापि जगत् की उत्पत्ति न होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि ईश्वर साकार नहीं।[३१६]

आश्रय न बन सकने से भी उक्त अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि जो साकार होगा उसके ठहरने के लिये भी कोई साकार पदार्थ आश्रय चाहिए, और यदि उसके ठहरने के लिये प्रथम ही कोई पदार्थ था तो वह सर्वकर्ता नहीं हो सकता।[३१७]

ईश्वर को इन्द्रियों वाला मानकर जगत् का कर्ता मानने में क्या हानि है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि परमात्मा इन्द्रियों वाला नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों वाला मानने पर उसको भोक्ता भी मानना पड़ेगा, इसलिए साकार ईश्वर की कल्पना असंगत है।[३१८] साकारवादियों से प्रष्टव्य है कि ईश्वर अपने आकार की सीमा को जानता है वे नहीं? यदि जानता है तो अन्त वाला हुआ नहीं जानता तो सर्वज्ञ न रहेगा, इसलिए उसको साकार मानना ठीक नहीं, यदि यह कहा जाये कि निराकार वादियों का सर्वमत विभु परमात्मा अपनी सीमा को जानता है या नहीं? यदि जानता है तो सीमा वाला हुआ, यदि नहीं जानता तो अज्ञानी हुआ? यह दोष निराकारवादियों के मत में नहीं आता क्योंकि जो पदार्थ जैसा होता है उसको वैसा ही ज्ञान होता है वह सीमा रहित है, इसलिए उसको अपने सीमा रहित होने का ज्ञान है एवं निराकार ईश्वरवाद में कोई दोष नहीं।[३१९]

इस पर पूर्व पक्ष शंका करते हुए कहता है कि जैसे अन्य पदार्थों का ईश्वर कर्त्ता है इसी प्रकार पदार्थ होने से ईश्वर का भी कोई कर्त्ता होना चाहिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार लिखता है कि जो पदार्थ उत्पत्ति विनाशशाली होता है उसका कर्ता अवश्य होता है परन्तु ईश्वर उत्पत्ति विनाश से रहित होने के कारण उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता।[३२०] और ना ही उस कर्ता का कोई कारण अर्थात् इन्द्रियादि साधन हो सकते हैं,[३२१] जैसा कि श्वेताश्वतर में वर्णन किया गया है कि उसका न कोई कर्त्ता और न करण है, ज्ञान बल क्रिया यह सब उसके

३१६. सम्बन्धानुपपतेश्च।। वे०द० २/२/३७
३१७. अधिष्ठानानुपपतेश्च।। वे०द० २/२/३८
३१८. करणवच्चेन्नभोगादिभ्य:।। वे०द० २/२/३९
३१९. अन्तवत्वमसर्वज्ञता वा।। वे०द० २/२/४०
३२०. उत्पत्यसम्भवात्।। वे०द० २/२/४१
३२१. नचकर्तुः करणम्।। वे०द० २/२/४२

स्वाभाविक हैं।[322] अनादि काल से परमात्मा में सर्वज्ञत्वादि धर्म पाये जाते हैं और सदा बने रहेंगे, इसलिए उन धर्मों का आश्रय अनादि अनन्त परमेश्वर सर्वदा एकरस रहने से उत्पत्ति वाला नहीं हो सकता।[323]

ईश्वर को साकार मानने से परस्पर विरोध आता है, क्योंकि साकार और निराकार यह दोनें परस्पर धर्म एक ही काल में एक पदार्थ में नहीं रह सकते, इसलिए वह परस्पर विरुद्ध धर्माश्रय न होने से सर्वदा एकरस कूटस्थ नित्य है।[324]

आकाशादि की उत्पत्ति–उत्पत्ति प्रकरण में श्रवण न पाये जाने से आकाश उत्पन्न नहीं होता है।[325] इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है श्रुति से आकाश की उत्पत्ति पाई जाती है।[326] जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया कि उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है।[327] असम्भव होने से आकाश की उत्पत्ति गौण है मुख्य नहीं।[328] शब्द से भी आकाश की उत्पत्ति का निषेध पाया जाता है।[329] जैसा कि "वायुश्चान्तरिक्षञ्चैदमृतम्" अर्थात् वायु और अन्तरिक्ष यह दोनों अमृत हैं। इससे ज्ञात होता है कि आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। ब्रह्म शब्द की भाँति एक ही सम्भूत शब्द का गौण तथा मुख्य अर्थ हो सकता है।[330] उत्पत्ति अंश में वायु आदि से आकाश का भेद न पाये जाने के कारण पदार्थमात्र विषयक उत्पत्ति की प्रतिज्ञा बनी रहती है और शब्द से भी ऐसा ही पाया जाता है।[331]

कार्य मात्र का भेद पाये जाने से लौकिक घटादि पदार्थों की भाँति आकाश उत्पत्ति वाला है।[332] आकाश की उत्पत्ति कथन करने से वायु की भी उत्पत्ति

---

३२२. नतस्य कार्यं करणञ्चविद्यते, न तत्समश्चाभ्य ..... ।। श्वेता० ६/८
३२३. विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः।। वे०द० २/२/४३
३२४. विप्रतिषेधाच्च।। वे०द० २/२/४४
३२५. न वियदश्रुतेः।। वे०द० २/३/१
३२६. अस्तितु।। वे०द० २/३/२
३२७. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।। त० २/१/१
३२८. गौण्यसम्भवात्।। वे०द० २/३/३
३२९. शब्दाच्च।। वे०द० २/३/४
३३०. स्याच्चैकस्यब्रह्मशब्दवत्।। वे०द० २/३/५
३३१. प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः।। वे०द० २/३/६
३३२. यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्।। वे०द० २/३/१७

जाननी चाहिए।[३३३] निश्चय करके ब्रह्म की उत्पत्ति में कोई युक्ति नहीं पाई जाती और न कोई प्रमाण मिलता है, फिर भी श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा विषयक वर्णन पाया जाता है कि न उसका कोई पति, न उसका कोई नियन्ता, ना ही उसका कोई लिङ्ग है, न उसका कोई रचयिता और ना ही उसका कोई अधिपति है, वही सबका उत्पन्न करने वाला और चिदचिद् का नियन्ता है,[३३४] इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म की उत्पत्ति का स्पष्टतया निषेध पाया जाता है।[३३५]

"वायोरग्नि:" अर्थात् वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, इत्यादि श्रौतवचनों से अग्नि की उत्पत्ति पाये जाने के कारण उसको कार्यरूप मानना ही उचित है।[३३६] जल भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न होता है,[३३७] अन्न शब्द के अर्थ यहाँ पृथ्वी के है क्योंकि अधिकाररूप तथा शब्द से ऐसा ही पाया जाता है।[३३८] ब्रह्म के ईक्षण रूप संकल्प से ही तेजादि में सृष्टि कर्तृत्व है, क्योंकि शब्द प्रमाण से ब्रह्म ही कर्ता पाया जाता है।[३३९] युक्ति से पाया जाता है कि उत्पत्तिक्रम से भूतों का लयक्रम विपरीत है।[३४०]

सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों से आत्मा और भूतों के मध्य विज्ञान तथा मन की उत्पत्ति का क्रम पाया जाता है, इसलिए इन्द्रिय विषयक उत्पत्तिक्रम का भूतोत्पत्ति क्रम से विरोध है, यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियोत्पत्ति वाक्य में उत्पत्तिक्रम का भेद विवक्षित नहीं।[३४१]

शरीर की वासनाओं से युक्त होने के कारण चराचर भूतों में होने वाला जन्म-मरण व्यवहार जीव में औपचारिक है।[३४२] इस पर शंका उठती है कि यदि जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता तो अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से उसकी उत्पत्ति

---

३३३. एतेन मातरिश्वा व्याख्यात:।। वे०द० २/३/८
३३४. नतस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न ..... । श्वेता ६/९
३३५. असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्ते:।। वे०द० २/३/९
३३६. तेजोऽतस्तथाह्याह।। वे०द० २/३/१०
३३७. आप:।। वे०द० २/३/११
३३८. पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्य:।। वे०द० २/३/१२
३३९. तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्स:।। वे०द० २/३/१३
३४०. विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च।। वे०द० २/३/१४
३४१. अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादि तिचेन्नाविशेषात्।। वे०द० २/३/१५
३४२. चराचरख्यपाश्रयस्तुस्यातद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात्।। वे०द० २/३/१६

निरूपण करके उसको ब्रह्म का अंश कैसे कथन किया गया है? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि उत्पत्तिविधायक श्रुति के न पाये जाने और श्रुतियों द्वारा नित्य कथन करने से जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता।[३४३] निश्चय करके शब्द प्रमाण पाये जाने से जीवात्मा ज्ञाता है,[३४४] तथा उत्क्रान्ति गति तथा आगति पाये जाने से जीवात्मा अणु है।[३४५] गति तथा आगति का आत्मा के साथ निरन्तर सम्बन्ध है अर्थात् प्रथम शरीर से स्वत्व त्यागने पर विभु आत्मा में उत्क्रान्ति हो सकती है परन्तु गति आगति यह दोनों धर्म विभु आत्मा में नहीं हो सकते किन्तु अणु व मध्यम परिमाण वाले में होते हैं परन्तु आत्मा के मध्यम परिमाण का तर्कपाद में खण्डन किये जाने के कारण परिशेष से जीव को अणुपरिमाण वाला मानना ही ठीक है।[३४६] स्वशब्द तथा परिमाणबोधक वाक्यों से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[३४७]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीव का माप इस प्रकार वर्णन किया है–जिस प्रकार बाल के अग्रभाग का सौवाँ हिस्सा करके फिर उसका सौवाँ भाग करने से सूक्ष्मता होती है इसी प्रकार जीव का सूक्ष्म रूप जानना चाहिए।[३४८]

इस पर पूर्व पक्षी शंका करता हुआ कहता है कि यदि जीवात्मा अणु है तो शरीर के एकदेश में रहकर सारे शरीर को चेतनता कैसे दे सकता है। इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि जिस प्रकार शरीर के किसी एक देश में चन्दन लगाने से सर्वत्र शीतलता का अनुभव होता है इसी प्रकार जीवात्मा शरीर के किसी एक देश में रहकर सुखदुःखादि का अनुभव कर सकता है, क्योंकि उसकी चेतनता सब शरीर में व्याप्त है, इसलिए कोई दोष नहीं।[३४९] चन्दनव्याप्ति की विशेषता पाये जाने से उक्त दृष्टान्त असङ्गगत है, यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि निश्चय करके आत्मा की हृदय देश में स्थिति पाई जाती है।[३५०] मणि

---

३४३. नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्चताभ्यः।। वे०द० २/३/१७
३४४. ज्ञोऽतएव।। वे०द० २/३/१८
३४५. उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्।। वे०द० १९
३४६. स्वात्मनाचोतरयोः।। वे०द० २/३/२०
३४७. स्वशब्दोन्मानाभ्यां च।। वे०द० २/३/२२
३४८. बालाग्र शतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कल्प्यते।। श्वे० ५/८
३४९. अविरोधश्चन्दनवत्।। वे०द० २/३/२३
३५०. अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमात्हृदिहि।। वे०द० २/३/२४

आदि प्रकाश वाले पदार्थों के सदृश शरीर में सर्वत्र चेतनता व्याप्त होने से अणुवादं में गन्धादि ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं।[३५१]

शास्त्रों में आत्मा को "जानात्येवायं पुरुष:" अर्थात् यह पुरुष ज्ञान गुण वाला है कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान गुण के विस्तृत होने से सर्व शरीर में चेतनता है अन्यथा नहीं।[३५२] गुण गुणी का पृथक् उपदेश पाये जाने से भी दोनों भिन्न हैं एक नहीं।[३५३]

ज्ञानादि उसके गुण है? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि "आनन्दो ब्रह्मेति विज्ञानात्" तैत्तिरीय में कहा गया है कि ब्रह्म को आनन्द स्वरूप जानो, इत्यादि वाक्यों में जिस प्रकार आनन्द गुण प्रधान होने से ब्रह्म को आनन्दमय कथन किया है, क्योंकि ब्रह्म का आनन्द गुण सारभूत है इसी प्रकार ज्ञान गुण के मुख्य होने से जीवात्मा को ज्ञान स्वरूप माना है वस्तुतः ज्ञान तथा आत्मा दोनों का गुण-गुणी भाव मानना ही समीचीन है।[३५४]

शब्द प्रमाण पाये जाने से जीवात्मा कर्ता है।[३५५] "यजते स्वर्गकाम:" अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे। "मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्" अर्थात् मुमुक्षु ब्रह्म की उपासना करे, इत्यादि विधिवाक्य पाये जाने से जीव कर्ता है। सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में इच्छा पूर्वक विहरण का नाम विहार है, उपनिषदों में जीव का यथेच्छ विहार पाये जाने से वही कर्ता हो सकता है बुद्धि नहीं[३५६] तथा साथ ही इन्द्रियों का ग्रहण करने वाला होने से जीव ही कर्ता है।[३५७] लौकिक तथा वैदिक कर्मों में जीव का कर्ता होना पाया जाता है यदि ऐसा न माना जाए तो श्रुति वाक्य में विपरीत कथन की आपत्ति होगी।[३५८]

यहाँ पर पूर्व पक्ष शंका करता है कि यदि जीव कर्ता है तो स्वतन्त्र होने से इष्ट ही सम्पादन क्यों नहीं करता? इसका समाधान देते हुए सूत्रकार कहता है

---

३५१. गुणाद्वालोकवत्।। वे०द० २/३/२५
३५२. तथा च दर्शयति।। वे०द० २/३/२७
३५३. पृथगुपदेशात्।। वे०द० २/३/२८
३५४. तद्‌गुणसारत्वातुतद्‌व्यपदेश: प्राज्ञवत्।। वे०द० २/३/२९
३५५. कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्।। वे०द० २/३/३३
३५६. विहारोपदेशात्।। वे०द० २/३/३४
३५७. उपादानात्।। वे०द० २/३/३५
३५८. व्यपदेशाच्च क्रियायां न चिन्निर्देशविपर्यय:।। वे०द० २/३/३६

कि जिस प्रकार ज्ञान रूप क्रिया के प्रति स्वतन्त्र होने पर भी जीव कभी दुःख को उपलब्ध करता है इसी प्रकार स्वतन्त्र जीव कभी उत्तम कर्म करता है और कभी किसी दोष वश से निषिद्ध कर्म करता है यह जीव का स्वाभाविक धर्म है, इसलिए उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं।[३५९] आत्मा की भोक्तृशक्ति का विपर्यय होने से भी बुद्धि को कर्ता मानना ठीक नहीं,[३६०] और समाधि का अभाव होने से जीव को ही कर्ता मानना ठीक है।[३६१]

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि जीव स्वतन्त्र होने पर भी पूर्वकृत कर्मानुसार प्रेरणा से शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है,[३६२] गीता में वर्णन आया है–हे अर्जुन! ईश्वरीय नियम रूप यन्त्र में स्थित सब प्राणियों को माया से भ्रमण कराता हुआ परमात्मा प्राणिमात्र के हृदय देश में विराजमान है।[३६३]

पुनः शंका उपस्थित होती है कि यदि ईश्वर से जीव शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोषों की आपत्ति होगी? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि विधिनिषेध शास्त्र व्यर्थ न हो सकने से जीवकृत पूर्व कर्मों के अनुसार ईश्वर प्रेरणा करता है स्वतः नहीं।[३६४]

जीवों में नानात्व पाये जाने से वह ब्रह्म के अंश है अर्थात् जीवों में जो नानापन पाया जाता है और उन सब में परमात्मा व्यापक है, इसलिये वह अंश के समान है, और जो कोई एक शाखा वाले धीवर, वञ्चक आदि पुरुषों को भी ब्रह्म कथन करते हैं, क्योंकि वह भी ब्रह्म के एकदेश में होने से ब्रह्मांश है, ब्रह्मरूप होने के अभिप्राय से नहीं।[३६५] वेद में भी पाया जाता है कि जीव ब्रह्म के एकदेश में होने से अंश कहा गया है वास्तव में नहीं।[३६६] जैसा कि यजुर्वेद

---

३५९. उपलब्धिवदनियमः।। वे०द० २/३/३७

३६०. शक्तिविपर्ययात्।। वे०द० २/३/३८

३६१. समाध्यभावाच्च।। वे०द० २/३/३९

३६२. परात्तुतच्छ्रुतेः।। वे०द० २/३/४१

३६३. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। गीता० १८/६१

३६४. कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः।। वे०द० २/३/४२

३६५. अशोनानाव्यपदेशादन्यथाचापिदाश कितवादित्वमधीयत एके।। वे०द० २/३/४३

३६६. मंत्रवर्णाच्च।। वे०द० २/३/४४

में आया है कि यह एक पाद रूप उस परमात्मा की महिमा सम्पूर्ण जगत् है और तीन पाद रूप अमृत है, यहाँ अंश शब्द के अर्थ एक भाग के हैं, इसलिये जीवों को ब्रह्म का अंश कथन किया गया है, अंश, पाद, भाग यह सब एकार्थवाची शब्द हैं और स्मृति में भी जीव को ब्रह्म का अंश कथन किया गया है।[३६७]

जिस प्रकार अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थ अंश वाले हैं वैसा ब्रह्म नहीं।[३६८] स्मृति भी परमात्मा को निर्गुण निरवयव कथन करती है,[३६९] जैसा कि नित्य निर्गुण, निरवयव होने से परमात्मा को पुण्य पाप का लेश नहीं, क्योंकि वह जल में कमलवत् सर्वथा निर्लेप रहता है, इत्यादि स्मृति वाक्यों द्वारा परमात्मा को निरवयव कथन करने से स्पष्ट है कि जीव ब्रह्म का वास्तव अंश नहीं और ना ही अग्नि विस्फुलिंङ्गादि दृष्टान्तों का अभिप्राय वास्तव अंश बोधन करने का है।[३७०]

परमात्मा की भाँति जीव निराकार तथा स्वरूप से शुद्ध है फिर उसके लिये विधि निषेध रूप शास्त्र की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थों के समान देह सम्बन्ध से जीव के लिये विधि निषेध रूप शास्त्र का उपदेश है।[३७१]

जीवात्मा के विभु न होने से कर्मों का सांकर्य नहीं हो सकता।[३७२] जो विभु होकर चेतन हो वह ईश्वर की भाँति सर्वज्ञ होता है, इस नियम के अनुसार यदि जीवात्मा विभु होता है तो अवश्य सर्वज्ञ होता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि परिच्छिन्न है और परिच्छिन्न होने से ही एक-दूसरे के कर्मों का संकर नहीं होता, यहाँ परिच्छिन्न शब्द खद्योत की भाँति लघुता के अभिप्राय से आया है।[३७३] अदृष्ट का नियम न बन सकने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[३७४]

संकल्प का नाम अभिसन्धि है और आदि पद से उद्योग तथा कर्मानुष्ठानादिकों

---

३६७. अपि च स्मर्यते।। वे०द० २/३/४५
३६८. प्रकाशादिवन्नेवं परः।। व०द० २/३/४६
३६९. स्मरन्ति च।। वे०द० २/३/४७
३७०. तत्र यः परमात्मा हि नित्यो निर्गुणः स्मृतः।
निलिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भषा।।
३७१. अनुज्ञापरिहारौदेहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।। वे०द० २/३/४८
३७२. असन्ततेश्चाव्यतिकरः।। वे०द० २/३/४९
३७३. आभास एव च।। वे०द० २/३/५०
३७४. अदृष्टानियमात्।। वे०द० २/३/५१

का ग्रहण है, यदि यह कहा जाए कि जीव ने जिस शरीर के सम्बन्ध द्वारा संकल्प करके जिस कर्म का अनुष्ठान किया है उसी को उस कर्म का फल होगा अन्य को नहीं, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि सब शरीरों में जीवों की व्यापकता समान होने से यह निर्णय नहीं हो सकता की अमुक संकल्प उसी जीव का है दूसरे का नहीं, इसलिये अभिसन्ध्यादिकों में भी उक्त दोष ज्यों का त्यों बना रहने के कारण जीव को विभु मानना केवल साहस मात्र है।[३७५]

देश भेद द्वारा कर्मफल की व्यवस्था होने से संकर दोष नहीं हो सकता? इस शंका का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि देश भेद द्वारा संकल्प भेद होने के कारण अन्यकृत कर्मों का फल अन्य को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति समान है।[३७६]

जिस प्रकार "तस्मादात्मनः तैः" २/१/१ इत्यादि श्रुतियों में आकाशादि भूतों की उत्पत्ति कथन की गई है वैसे ही इन्द्रिय उत्पत्ति वाले हैं, क्योंकि आकाशादि की भाँति उनकी उत्पत्ति भी श्रुति से पाई जाती है।[३७७] जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में वर्णन आया है कि प्राण, मन, इन्द्रिय और उनके विषय आकाश, वायु, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी यह सब उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं।[३७८]

जीवोत्पत्ति के समान इन्द्रियोत्पत्ति की गौण कल्पना करना इसलिये ठीक नहीं कि उक्त कल्पना में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता, प्रत्युत अन्ध वधिरादिकों में रूपादि विषयों की अनुपलब्धि द्वारा इन्द्रिय नाश सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिये उनकी उत्पत्ति विनाशशाली मानना ही उचित है।[३७९] आकाशादिकों से पूर्व इन्द्रियोत्पत्ति कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[३८०]

"तेजोमयी वाक्" छान्दोग्य में आया है वागिन्द्रिय को तेज का कार्य कथन किया है यदि इन्द्रियों की उत्पत्ति गौण होती तो उक्त श्रुति में वाणी को तेजोमयी

३७५. अभिसन्ध्यादिष्वपिचैवम्।। वे०द० २/३/५२
३७६. प्रदेशादितिचेन्नान्तर्भावात्।। वे०द० २/३/५३
३७७. तथा प्राणः।। वे०द० २/४/१
३७८. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी।। मुण्डक० २/१/३
३७९. गौण्यसम्भवात्।। वे०द० २/४/२
३८०. तत्प्राक्श्रुतेश्च।। वे०द० २/४/३

न कहा जाता और ना ही किसी एक इन्द्रिय की उत्पत्ति को मुख्य मानकर दूसरी इन्द्रियों की उत्पत्ति के गौण होने से कोई तर्क हो सकता है, इसलिये श्रुत्यर्थ अनुसारी इन्द्रियोत्पत्ति के मानने में कोई बाधा नहीं।[३८१]

पूर्वपक्ष "सप्त प्राणा: प्रभवन्ति तस्मात्" अर्थात् गति और विशेषण के पाये जाने से इन्द्रिय सात है।[३८२] दो चक्षु, दो श्रोत्र, दो घ्राण और एक वाक् यह सात प्राण अर्थात् इन्द्रिय उसी परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, इस श्रुति में सात इन्द्रियों की गति अर्थात् उत्पत्ति पाई जाती है और "सप्तवै शीर्षण्या: प्राण:" मूर्द्धास्थान में सात इन्द्रियाँ हैं, इस वाक्य में सप्त संख्या को इन्द्रियों का विशेषण कथन किया है, इस प्रकार गति और विशेषण दोनों के पाये जाने से सिद्ध है कि इन्द्रिय सात हैं अधिक नहीं।

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहता है कि चक्षु: आदि सात इन्द्रियों का मानना इसलिये ठीक नहीं कि पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन यह सब मिलकर एकादश इन्द्रिय हैं और जो तैत्तिरीय वाक्य से इन्द्रियों की सप्त संख्या कथन की है उसका यह अभिप्राय नहीं की सप्त संख्या से अधिक कोई इन्द्रिय नहीं किन्तु मूर्द्धास्थान में होने वाले इन्द्रिय सात हैं इस अभिप्राय से उक्त वाक्य कथन किया है यही रीति शेष वाक्यों में भी समझी जानी चाहिये।[३८३]

चक्षुरादि इन्द्रिय सूक्ष्म हैं,[३८४] और प्राण सब इन्द्रियों में श्रेष्ठ हैं।[३८५] पृथक् उपदेश पाये जाने से वायु और वायु क्रिया का नाम प्राण नहीं।[३८६] चक्षुरादि इन्द्रियों की भाँति समान शासन पाये जाने से प्राण स्वतन्त्र नहीं,[३८७] और वह प्राण सूक्ष्म है।[३८८]

परमात्मा अग्नि आदि पदार्थों का अधिष्ठान है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही

---

३८१. तत्पूर्वकत्वाद्वाच:।। वे०द० २/४/४
३८२. सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च।। वे०द० २/४/५
३८३. हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्।। वे०द० २/४/६
३८४. अणवश्च।। वे०द० २/४/७
३८५. श्रेष्ठश्च।। वे०द० २/४/८
३८६. न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्।। वे०द० २/४/९
३८७. चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्य:।। वे०द० २/४/१०
३८८. अणुश्च।। वे०द० २/४/१३

पाया जाता है।[३८९] सामर्थ्य वाले परमात्मा के सम्बन्ध से ही अग्नि आदि संसार यात्रा के निर्वाहक हैं स्वतः नहीं, क्योंकि शब्द प्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है।[३९०] परमात्मा नित्य होने से अधिष्ठाता है।[३९१] मुख्य प्राण को छोड़कर शेष प्राण इन्द्रिय कहाते हैं, क्योंकि उन्हीं में इन्द्रिय शब्द का व्यवहार पाया जाता है।[३९२] "अथ हेममासन्यं प्राणमुचुः" वृह्दा १/३/७ अर्थात् सब इन्द्रियों ने मुख्य प्राण को कहा कि आप उद्गाता बनें, इत्यादि वाक्यों में असुरों की पराजय करने वाले मुख्य प्राण से इन्द्रियों का भेद पाया जाता है, इसलिये वागादिक इन्द्रिय प्राण से भिन्न हैं,[३९३] और विलक्षणता पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[३९४] श्रुति से यह भी स्पष्ट होता है कि परमेश्वर से नाम, रूप की रचना होती है।[३९५]

मांसादिक पृथ्वी के विकार और दूसरे शरीरस्थ धातु शब्द प्रमाणानुसार जल, तेज का विकार जानने चाहिये।[३९६] शंका उठती है कि यदि शरीर पाँच भौतिक है तो इसमें पार्थिव, तेजस तथा जलीय का व्यवहार क्यों होता है? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि–पृथ्वी आदि तत्त्वों की अधिकता से शरीर में पार्थिवादि व्यवहार होता है।[३९७]

तात्पर्य यह है कि सब भूत अपने कार्यों में कहीं न्यून और कहीं अधिकांश से मिलते हैं, इसलिये एक की प्रधानता और अन्यों की अप्रधानता पाये जाने के कारण पञ्च भूतात्मक में पार्थिव्यादि व्यवहार होता है, सर्वथा एक भूत का कार्य होने के अभिप्राय से नहीं।

छान्दोग्य उपनिषद् में आता है कि जैबलि ने श्वेतकेतु के प्रति यह प्रश्न किया कि क्या तुम जानते हो, जिस प्रकार पाँचवीं आहुति में जल पुरुष रूप हो जाते हैं?[३९८] इसका उत्तर न दें सकने पर जैबलि ने स्वयं कहा कि द्यु, पर्जन्य,

---

३८९. ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्।। वे०द० २/४/१४
३९०. प्राणवता शब्दात्।। वे०द० २/४/१५
३९१. तस्य च नित्यत्वात्।। वे०द० २/४/१६
३९२. त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्।। वे०द० २/४/१७
३९३. भेदश्रुतेः।। वे०द० २/४/१८
३९४. वैलक्षण्याच्च।। वे०द० २/४/१९
३९५. संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तुत्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्।। वे०द० २/४/२०
३९६. मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च।। वे०द० २/४/२१
३९७. वैशेष्यातु तद्वादस्तद्वादः।। वे०द० २/४/२२
३९८. वेत्थ यथापञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति।। छा० ५/३/३

पृथ्वी, पुरुष, योषित् यह पाँच प्रकार की अग्नियाँ हैं और पाँचवीं अग्नि की आहुति में जल पुरुष रूप हो जाते हैं, इस प्रकार प्रश्न तथा निरूपण से सिद्ध है कि जलों में मिलकर जीव परलोक यात्रा करता है अन्यथा नहीं।[३९९]

इस पर पूर्व शंका करता है कि वाक्य में केवल जल के साथ ही परलोक यात्रा प्रतिपादन की है शेष भूतों से नहीं? इसका समाधान उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहता है कि सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित जीव का परलोक में गमन होने के कारण केवल जल से उत्क्रमण अभिप्रेत नहीं, यहाँ जल का ग्रहण अधिकता के अभिप्राय से है,[४००] और जीव के साथ प्राणों की गति पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[४०१]

बृहदारण्यक में आता है कि मृतक पुरुष का वागिन्द्रिय अग्नि में और प्राण वायु में लीन हो जाते हैं, इस वाक्य से इन्द्रियों का अग्न्यादि पदार्थों में लय पाये जाने के कारण जीव के साथ इन्द्रियों का गमन मानना ठीक नहीं? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों का अग्न्यादिकों में लय होना औपचारिकता है मुख्य नहीं, क्योंकि मुख्यता में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता।[४०२]

प्रथम आहुति में जल का ग्रहण न होने से पाँचवीं आहुति में उसको पुरुष रूप कथन करना असङ्गत है यदि ऐसा कहा तो ठीक नहीं, क्योंकि युक्ति द्वारा निश्चय करके श्रद्धा पद से जल का ही ग्रहण पाया जाता है।[४०३] पञ्चाग्नि विद्या में जीव का श्रवण होने से उसकी सूक्ष्म भूतों के साथ उत्क्रान्ति नहीं हो सकती यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि इष्टादि कर्म करने वाले जीवों की प्रतीति पाई जाती है।[४०४]

"उपभुक्तशिष्टं कर्मानुशयः" अर्थात् भुक्त कर्म के शेष का नाम 'अनुशय' और कर्म वाले जीव को अनुशयी कहते हैं, जिस प्रकार जीव मुक्ति को प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मनाश होने पर शेष कर्म द्वारा मुक्ति से लौटकर जन्म धारण करता है तथा अन्य प्रकार से भी कई एक जन्मों को प्राप्त होता है अर्थात् कई

---

३९९. तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्।। वे०द० ३/१/१
४००. त्र्यात्मकत्वस्तु भूयस्त्वात्।। वे०द० ३/१/२
४०१. प्राणगतेश्च।। वे०द० ३/१/३
४०२. अग्न्यादिगतिश्रुतेरितिचेन्न भाक्तत्वात्।। वे०द० ३/१/४
४०३. प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः।। वे०द० ३/१/५
४०४. अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणांप्रतीतेः।। वे०द० ३/१/६

एक अनुशयी जीव नियत काल पर्यन्त मुक्ति का आनन्द भोगकर योगी, ऋषि तथा मुनियों के पद को प्राप्त होते हैं और कई एक जीव शेष कर्मों के मन्द होने से नीच योनियों को पाते हैं, ऐसा श्रुति में वर्णन मिलता है।[४०५] यथा शुभ कर्मों वाले अनुशयी जीव ब्राह्मणादि उत्तम योनियों को और निन्दित कर्मों वाले नीच योनियों को प्राप्त होते हैं।[४०६] और गौतम स्मृति में इसी अर्थ को इस प्रकार कहा है कि ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को पूर्ण करने वाले लोग मरणानन्तर कर्मानुसार सुख-दु:ख का भोग करके भुक्त शेष कर्म द्वारा उत्तम देश, जाति तथा कुल में रूपवान, दीर्घायु, विद्यावान्, श्रीमान्, सदाचारी, बुद्धिमान् और सुख सम्पत्ति से युक्त यथाधिकार जन्म धारण करते हैं।

पूर्वपक्ष आक्षेप कहता है कि श्रुतिस्थ चरण पद से अनुशय का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वभाव तथा आचार का वाचक है। उत्तर देते हुए कहा है कि चरण पद से अनुशय का ग्रहण नहीं हो सकता यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि चरण शब्द अनुशय का उपलक्षण है ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं।[४०७]

चरण पद को अनुशयार्थ में लाक्षणिक मानने से श्रौत आचार निरर्थक हो जायेगा, यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त पद से श्रुति विहित आचार भी अपेक्षित है।[४०८] वादरि आचार्य का कथन है कि चरण पद से पाप-पुण्य रूप कर्मों का ही ग्रहण है।[४०९] पापकर्म करने वाले जीवों की गति भी श्रुति ने चन्द्रलोक में प्रतिपादन की है।[४१०] ऐसा पूर्वपक्ष का कथन है। इसका समाधान देते हुए सूत्रकार कहता है कि मृत्यु की शासना में पाप का फल भोगकर पापी जीवों का चन्द्रलोक के बिना ही आरोह तथा अवरोह होता है।[४११]

नचिकेता आदि की आख्यायिका में ऋषि लोगों का स्मरण पाया जाता है

---

४०५. कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च।। वे०द० ३/१/८

४०६. तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते यथेतम्।।
तद्य इह रमणीयचरणाः।। छा० ५/१०/५-७

४०७. चरणादितिचेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः।। वे०द० ३/१/९

४०८. आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात्।। वे०द० ३/१/१०

४०९. सुकृतदुष्कृत एवेति बादरिः।। वे०द०३/१/११

४१०. अनिष्टादिकरिणामपिश्रुतम्।। वे०द० ३/१/१२

४११. संयमनेत्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्।। वे०द० ३/१/१३

कि निन्दित कर्म करने वाले नरक में यम की यातना पाते है, यहाँ यम पद से नियमन करने वाले धर्मराज सर्वोपरि शासन कर्ता परमात्मा का ग्रहण है पौराणिक देव विशेष का नहीं। रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र यह शरीरस्थ सात धातु नरक कहलाते हैं अर्थात् इनके विषम हो जाने से शरीर नरक धाम हो जाता है।[४१२]

इस पर पूर्वपक्ष शंका करता है कि रस रक्तादि विकार वाले शरीर में रहकर ही जीव दुख निवृत्ति का उपाय करता है फिर उसको नरकधाम क्यों माना जाए? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि शरीरस्थ धातु रूप नरक में रहने पर भी शुभकर्मानुष्ठान रूप व्यापार से उच्चगति की प्राप्ति में कोई विरोध नहीं[४१३] और विद्या तथा कर्म का प्रकरण होने से पापी जीवों का चन्द्रलोक में आरोह ठीक नहीं।[४१४] तृतीय स्थान में पाँचवीं आहुति की संख्या का नियम नहीं, क्योंकि शब्द प्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है।[४१५] यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि अमैथुनी सृष्टि में पाँचवीं आहुति का नियम नहीं, जैसा कि बतख वीर्य सेचन के बिना ही गर्भ को धारण करती है, इत्यादि जीवों में पाँचवीं आहुति के नियम का अभाव पाये जाने से सिद्ध है कि तृतीय स्थान में पाँचवीं आहुति का नियम नहीं।[४१६]

दर्शन से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[४१७] जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज इन चार प्रकार के भूतवर्ग में स्वेदज तथा उद्भिज की अमैथुनी सृष्टि पाये जाने से सिद्ध है कि सब जीवों में पाँचवीं आहुति का नियम नहीं।

इस पर शंका उठती है उसका समाधान देते हुए कहते हैं कि छान्दोग्य के ६/३/१ "अण्डजं जीवजमुद्भिजम्" इस वाक्य में कथन किये हुए उद्भिज पद से स्वेदज जीवों का ग्रहण होने के कारण उक्त जरायुजादि भेद से चार प्रकार की सृष्टि मानने में कोई दोष नहीं।[४१८]

---

४१२. अपि च सप्त।। वे०द० ३/१/१५
४१३. तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः।। वे०द० ३/१/१६
४१४. विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्।। वे०द० ३/१/१७
४१५. न तृतीय तथोपलब्धेः।। वे०द० ३/१/१८
४१६. स्मर्यतेऽपि च लोके।। वे०द० ३/१/१९
४१७. दर्शनाच्च।। वे०द० ३/१/२०
४१८. तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य।। वे०द० ३/१/२१

कल्पर्यन्त मुक्ति के सुख को भोगकर पुनः संसार में आने वाले जीवों का आकाशादि भूतों के साथ सम्बन्ध मात्र होता है तद् रूपता नहीं, क्योंकि युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है।[४१९] "अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्" छा० ५/१०/६ अर्थात् ब्रीहि आदि भावों को प्राप्त होकर वहाँ से जीव का निकलना अत्यन्त कठिन है, इस वाक्य द्वारा आकाशादि पदार्थों से सम्बन्ध की परम्परा विलक्षणता पाई जाती है अर्थात् उक्त विषय वाक्य में ब्रीहादिकों से जीव का अल्पकाल पर्यन्त स्थिर रहकर शीघ्र ही ब्रीह्यादि भावों को प्राप्त होता है।[४२०] मुक्ति से लौटकर आने वाला ब्रीहि आदि औषधियों में जन्म नहीं लेता, क्योंकि उनमें उनका भोक्ता जीव प्रथम ही विद्यमान होता है, इसलिये अनुशयी जीव का आकाशादिकों के समान ब्रीहि आदिकों से सम्बन्ध विशेष मानना ही ठीक है।[४२१]

पाँचवीं आहुति का कथन अश्लील है यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि पञ्चाग्नि में वीर्य रूप आहुति का किसी अपवित्र भाव से वर्णन नहीं किया गया अपितु वैराग्य की दृढ़तार्थ जीव की जन्म दशा का कथन किया है, इसलिये उक्त अर्थ शब्द प्रमाण द्वारा दोष रहित होने के कारण अश्लील नहीं।[४२२] ब्रीह्यादि भावों के अनन्तर अनुशयी जीव का वीर्य सेक्ता पुरुष के साथ सम्बन्ध होता है।[४२३]

पितृकृत गर्भाधान संस्कार के अनन्तर अनुशयी जीव का मातृ शरीर से सम्बन्ध होता है और माता के गर्भाशय में ही उसका शरीर बनता है, इस प्रकार मुक्ति से पुनः लौटकर आने वाले जीवों के जन्म की गति कथन की गई है।[४२४]

जाग्रत तथा सुषुप्ति के मध्य में होने के कारण स्वप्न का नाम 'सन्ध्य' है सन्ध्य स्थान में जीव नवीन सृष्टि की कल्पना करता है।[४२५] जैसा कि बृहदा० में वर्णन आता है कि वहाँ न रथ है, न घोड़े हैं और ना ही उनके चलने योग्य

---

४१९. तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः।। वे०द० ३/१/२२

४२०. नातिचिरेण विशेषात्।। वे०द० ३/१/२३

४२१. अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात्।। वे०द० ३/१/२४

४२२. अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्।। वे०द० ३/१/२५

४२३. रेतः सिग्योगोऽथ।। वे०द० ३/१/२६

४२४. योने शरीरम्।। वे०द० ३/१/२७

४२५. सन्ध्येसृष्टिराह हि।। वे०द० ३/२/१

मार्ग हैं तो भी जीव रथ आदिकों को बना लेता है,[४२६] इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में जीवकृत नवीन सृष्टि रचना पाये जाने से स्पष्ट है कि स्वप्न सृष्टि जाग्रत की भाँति सत्य है मिथ्या नहीं।

कठ शाखा वालों का कथन है कि जीव के स्वप्न पदार्थों का रचयिता ईश्वर है, क्योंकि श्रुतिस्थ काम पद से पुत्रादि पदार्थों का ग्रहण पाया जाता है[४२७]

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि जिस प्रकार जाग्रत के पदार्थ यथायोग्य देश कालादि कारणों से उत्पन्न होते हैं वैसे स्वप्न पदार्थों की उत्पत्ति नहीं पाई जाती प्रत्युत् जाग्रत पदार्थों के अनुभव से उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा रज्जु सर्प के समान स्वप्न पदार्थों की अन्यथा प्रतीति होती है अर्थात् जिस प्रकार सर्प विषयक संस्कार वाले पुरुष को तिमिरादि दोषों के उपस्थित होने से पुरोवर्ति रज्जु आदि पदार्थों में "अयं सर्पः" अर्थात् यह सर्प है, इस प्रकार का विपरीत ज्ञान होता है वैसे ही जाग्रत संस्कार विशिष्ट पुरुष को निद्रादि दोषों से स्वप्न पदार्थों की अन्यथा प्रतीति होती है इसी को वैदिक सिद्धान्त में अन्यथाख्याति कहते हैं, और जो पदार्थ अन्यथाख्याति रूप ज्ञान का विषय होता है वह अन्य में अन्य बुद्धि होने के कारण जाग्रत पदार्थों की भाँति सत्य नहीं हो सकता किन्तु रज्जु सर्पादिकों के सदृश कल्पना मात्र होता है, इसलिये स्वप्न सृष्टि को सत्य मानना उचित नहीं,[४२८] और जो श्रुति वाक्य से ईश्वर को स्वप्न पदार्थों का निर्माता कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह जाग्रत काल में उपलब्ध होने वाले सूर्यादि पदार्थों का निर्माता है, जीव कल्पित मिथ्या पदार्थों का नहीं, निश्चय करके स्वप्न भावी शुभाशुभ का सूचक है क्योंकि श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है और स्वप्न विद्या के जानने वाले भी ऐसा ही कथन करते हैं।[४२९] परमात्मा के संकल्प से जीव का ज्ञान आवृत रहता है इसलिये इसको बन्ध तथा मोक्ष दोनों बने रहते है।[४३०] स्वकृत कर्मों के अनुसार ईश्वर संकल्प द्वारा जीवों का शरीर से

---

४२६. न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते इति।। बृहदा० ४/३/१०

४२७. निर्मातारञ्चैके पुत्रादयश्च।। वे०द० ३/२/२

४२८. मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।। वे०द० ३/२/३

४२९. सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः।। वे०द० ३/२/४

४३०. पराभिध्यानातु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।। वे०द० ३/२/५

अनादि सम्बन्ध भी बन्ध का हेतु है।[४३१] पुरीतत् तथा आत्मा में सुषुप्ति होती है और श्रुति से भी ऐसा ही पाया जाता है।[४३२]

सुषुप्ति में जीव परमात्मा के सन्निहित सो जाने के कारण उसकी जाग्रत भी उसी परमात्मा से होती है। जैसा कि–"सत् आगम्य न विदुःसत् आगच्छामहइति" छा० ६/१०/२ में वर्णन किया है कि सत् परमात्मा से आकर जीव नहीं जान सकते कि हम सत् से आये हैं, इससे यह भी पाया गया कि परमात्मा ही जीव का मुख्य सुषुप्ति स्थान है शेष स्थान गौण हैं परन्तु उनका समुच्चय है विकल्प नहीं।[४३३]

कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि इन चारों से पाया जाता है कि वह जीव जाग्रत का भोक्ता है, अन्य नहीं।[४३४] मुग्ध पुरुष की मरण की समान अवस्था होती है।[४३५] पृथ्वी आदि उपाधियों और स्वरूप से भी ब्रह्म दोनों प्रकार के लिङ्गों वाला नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र श्रुति वाक्यों में उसको निराकार प्रतिपादन किया गया है।[४३६] श्रुतियों में उभयलिङ्ग ब्रह्म का वर्णन पाये जाने से वह केवल निराकार नहीं हो सकता यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि सब वाक्यों में उसको निराकार ही प्रतिपादन किया है।[४३७] कई एक शाखा वाले ब्रह्म में भेद दर्शन की निन्दा कथन करते हैं।[४३८]

निराकार बोधक वाक्य प्रधान होने से ब्रह्म निराकार है साकार नहीं,[४३९] और सर्वज्ञत्वादि विशेष धर्म प्रतिपादक वाक्य व्यर्थ न होने से प्रकाश स्वरूप ब्रह्म सविशेष है निर्विशेष नहीं।[४४०] श्रुति में ब्रह्म को केवल प्रज्ञानधन कथन किया है,

---

४३१. देहयोगद्वासोऽपि।। वे०द० ३/२/६
४३२. तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च।। वे०द० ३/२/७
४३३. अतः प्रबोधोऽस्मात्।। वे०द० ३/२/८
४३४. स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः।। वे०द० ३/२/९
४३५. मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः।। वे०दे० ३/२/१०
४३६. न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।। वे०द० ३/२/११
४३७. न भेदादितिचेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।। वे०द० ३/२/१२
४३८. अपि चैवमेके।। वे०द० ३/२/१३
४३९. अरुपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।। वे०द० ३/२/१४
४४०. प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्।। वे०द० ३/२/१५

इसलिये उसमें उपाधिकल्पना ठीक नहीं।[४४१] श्रुति में ब्रह्म को निराकार प्रतिपादन किया है और स्मृति से भी उसकी निराकारता ही पाई जाती है।[४४२]

जो शास्त्र में ब्रह्म को सूर्यादि प्रतिबिम्बों की भाँति असङ्ग होने की उपमा दी गई है वह निराकार होने पर ही घट सकती है अन्यथा नहीं।[४४३] जिस प्रकार जलगत सूर्यादि प्रतिबिम्ब साकार प्रतीत होते हैं वैसे परमात्मा की प्रतीति नहीं होती अर्थात् यदि ब्रह्म साकार होता तो उसकी अवश्य किसी न किसी पदार्थ में प्रतिबिम्ब रूप से उपलब्धि होती पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि वह साकार नहीं।[४४४]

परमात्मा के सर्वव्यापक होने और व्याप्यव्यापक दोनों का एकत्र अविरोध पाये जाने से उसके वृद्धिह्रास रूप बहुत्व कथन में कई दोष नहीं।[४४५] श्रुति भी परमात्मा के वृद्धिह्रास को औपचारिक वर्णन करती है।[४४६] जैसा कि बृहदा० में आया है कि द्विपात्, चतुष्पात् आदि अनेक शरीरों को उत्पन्न करके उनके नियमनार्थ परमात्मा ने प्रवेश किया,[४४७] इससे सिद्ध है कि परमात्मा का बहुत होना औपचारिक होने से उसकी निराकारता में कोई बाधा नहीं। निश्चय करके शास्त्र ब्रह्म की इयत्ता का निषेध करता हुआ उससे भी अधिक प्रतिपादन करता है।[४४८]

"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" मु० ३/१/८ इत्यादि वाक्यों में कथन किया है कि ब्रह्म चक्षुः का विषय नहीं और ना ही वाणी, तथा अन्य इन्द्रियों का विषय है और न तप तथा कर्म से जाना जाता है, इत्यादि ब्रह्म की दुर्विज्ञेयतता बोधन करने वाले अनेक वाक्यों से पाया जाता है कि ब्रह्म निराकार होने से सूक्ष्म है।[४४९]

---

४४१. आह च तन्मात्रम्।। वे०द० ३/२/१६
४४२. दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते।। वे०द० ३/२/१७
४४३. अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्।। वे०द० ३/२/१८
४४४. अम्बुवदग्रणात्तु न तथात्वम्।। वे०द० ३/२/१९
४४५. वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्।। वे०द० ३/२/२०
४४६. दर्शनाच्च।। वे०द० ३/२/२१
४४७. पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः सपक्षीभूत्वापुरः पुरुष आविशत्। बृहदा० २/५/१८
४४८. प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषधति ततो ब्रवीति च भूयः।। वे०द० ३/२/२२
४४९. तदव्यक्तमाह हि।। वे०द० ३/२/२३

उपासना काल में योगी लोग परमात्मा को निराकार रूप से अनुभव करते है,[४५०] जैसा कि मुण्डक में वर्णन किया है कि ज्ञान प्रसाद से शुद्ध अन्तःकरण वाले योगीजन समाधि में निराकार परमात्मा का ध्यान्न करते हैं[४५१] इसी अभिप्राय से योगदर्शन १/४७ में कहा गया है "निर्विचारवैशारधेऽध्यात्मप्रसादः" अर्थात् निर्विकार समाधि की निर्मलता से योगी को सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। और प्रकाशादिकों की भांति ब्रह्मसाक्षात्कार में कोई विशेषता नही पायी जाती और परमात्मा का साक्षात्कार कर्म में अभ्यास करने से होता है।[४५२]

छान्दोग्योपनिषद् में आया है "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थात् जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होकर अपने निजरूप से वर्तमान होता है अर्थात् परमात्म सम्बन्धी अपहत पाप्मादि गुणों को धारण करके स्वच्छन्द विचरता है, इत्यादि वाक्यों द्वारा जीव का अपूर्व सामर्थ्य पाये जाने से स्पष्ट है कि निदिध्यासनरूप कर्म ही मुक्ति का मुख्य साधन है अन्य नहीं।[४५३]

कई एक वाक्यों में ब्रह्म को जगज्जन्मादिकों का हेतु वर्णन किया है, जैसा कि यजु० के १७/१७ में आया है "द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" अर्थात् द्यु तथा पृथ्वी आदि लोकों को उत्पन्न करने वाला परमात्मा एक है, और "नतस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" श्वेता० ६/९ अर्थात् न उसको कोई कार्य है न करण है और ना ही कोई उसके सदृश शक्ति वाला है। इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म विषयक कारणता का निषेध पाये जाने से यह सन्देह उत्पन्न होता है कि ब्रह्म जगत् का कारण है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार एक ही सर्प कुण्डलावस्था में संकुचित होने पर अपने सर्पत्वभाव का परित्याग नहीं करता इसी प्रकार ब्रह्म जगत्कर्तृत्वादि धर्मों का परित्याग नहीं करता। दोनों प्रकार का व्यपदेश पाये जाने से उभयविध वाक्यों में कोई विरोध नहीं।[४५४]

तेजस्वरूप होने से सूर्य का प्रकाश सूर्य से अत्यन्त भिन्न नहीं और सूर्यरूप भी नहीं इसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी जगज्जन्मादि हेतु रूप गुण ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं और गुण होने से स्वरूप भी नहीं, इसलिये ब्रह्मगत कर्तृत्वादि गुण ब्रह्म से

---

४५०. अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।। वे०द० ३/२/२४
४५१. ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्फलं ध्यायमानः।। मु० ३/१/८
४५२. प्रकाशादिवच्यावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।। वे०द० ३/२/२५
४५३. अतोऽनन्तेन तथाहिलिङ्गम्।। वे०द० ३/२/२६
४५४. उभयव्यपदेशात्वहिकुण्डलवत्।। वे०द० ३/२/२७

भिन्न-भिन्न होने के कारण उक्त वाक्यों में विरोध नहीं,[४५५] अथवा पूर्ण की भाँति कर्तृत्वादि धर्मों को ब्रह्म का स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं।[४५६] ब्रह्म में प्राकृत धर्मों का प्रतिषेध होने से भी इस अर्थ की सिद्धि होती है।[४५७]

पूर्व जो यह निर्धारण किया गया है कि जगत् से परे एक मात्र चैतन्यस्वरूप ब्रह्म तत्त्व है, उसमें संदेह होता है कि ब्रह्म से परे कोई अन्य तत्त्व है या नहीं? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि सेतु माप सम्बन्ध और भेद के पाये जाने से स्पष्ट है कि ब्रह्म से परे भी कोई और तत्व है।[४५८] इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि छा० ८/४/२ में जो ब्रह्म को जगत् का सेतु अर्थात् मर्यादा रूप कथन किया है इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सेतु बाँधने से नदी का जल, मर्यादा के भीतर रहने से छिन्न-भिन्न न होकर पूर्वोत्तर तट प्रदेशों का प्रध्वंसन नहीं कर सकता इसी प्रकार जगत् के विधारक परमात्मा की मर्यादा में रहने वाले सर्प चन्द्रादि लोक संसार यात्रा के निर्वाहक बने रहते हैं, इसलिये सब लोक लोकान्तरों का विधारक सेतु सर्वोपरि ब्रह्म ही है उससे ऊपर अन्य कोई तत्व नहीं।[४५९]

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि" यजु० ३१/३ अर्थात् सब भूत परमात्मा के एक पाद स्थानी हैं, आदि मन्त्रों में जो पाद कल्पना की गई है वह वस्तुतः ब्रह्म को चतुष्पाद कथन करने के अभिप्राय से नहीं किन्तु ब्रह्म के स्वरूप बोधनार्थ है,[४६०] और दूसरी बात यह है कि स्थानविशेष के कारण प्रकाशदिकों की भाँति पाद कल्पना हो सकती है।[४६१] जिस प्रकार एक रुपये के चार भाग कल्पना किये जाते हैं पर वास्तव में वह चार भाग उसमें नहीं होते केवल उसके बोधन के लिये भाग कल्पना है इसी प्रकार सब प्राकृत को उसका पाद स्थानी बोधन करने के लिये पादकल्पना की गई है वास्तव में नहीं।[४६२]

---

४५५. प्रकाशश्रयवद्वा तेजस्त्वात्।। वे०द० ३/२/२८
४५६. पूर्ववद्वा।। वे०द० ३/२/२९
४५७. प्रतिषेधाच्च।। वे०द० ३/२/३०
४५८. परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः।। वे०द० ३/२/३१
४५९. सामान्यस्तु।। वे०द० ३/२/३२
४६०. बुद्ध्यर्थः पादवत्।। वे०द० ३/२/३३
४६१. स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्।। वे०द० ३/२/३४
४६२. उपपतेश्च।। वे०द० ३/२/३५

शुभाशुभ कर्मों का फलदाता ईश्वर है, क्योंकि युक्ति से ऐसा पाया जाता है।[४६३] बृहदारण्यक में कहा है कि सर्वोपरि विराजमान परमात्मा ही सबको अन्न तथा धन देने वाला है,[४६४] इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को ही कर्मफल दाता प्रतिपादन किया है, यहाँ अन्न तथा धन शब्द से कर्मों का फल अभिप्रेत है अन्नादि मात्र नहीं।[४६५] आचार्य जैमिनि परमात्मा से ही कर्मफल मानते हैं,[४६६] तथा वादरायण आचार्य का कथन है कि धर्माधर्म के फल का निमित्त होने से परमात्मा ही कर्म फलदाता है।[४६७]

"यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद" छा० ५/१/१ अर्थात् जो ब्रह्म को ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ जानता है वह अपने सम्बन्धी वर्ग में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है, इत्यादि वाक्यों में वेद उपासीत् तथा विद्यात् आदि एकार्थवाची क्रियाओं के पाये जाने से स्पष्ट है कि वेदान्त शास्त्र में सर्वत्र एक ही परमात्मा की उपासना का विधान है अनेक देवताओं की उपासना का नहीं।[४६८] रूप का भेद पाये जाने के कारण उपासना का अभेद नहीं हो सकता यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि निश्चय करके एक विद्या में रूप का भेद नहीं हो सकता।[४६९]

स्वाध्याय शिरोब्रत कर्म का अङ्गी होने और समाचार नामक व्रतबोधक वाक्य में उक्त व्रत वालों का अधिकार पाये जाने से शिरोव्रत नामक कर्म विद्या अर्थात् औपनिषद् विज्ञान का अंग नहीं और उक्त नियम को सब की भाँति मानने में कोई दोष नहीं।[४७०] और शास्त्र में ब्रह्मविद्या के एक होने का ही प्रतिपादन किया है।[४७१] जिस प्रकार अग्निहोत्र कर्म सब शाखाओं में एक होने पर भी उसके शेष अङ्गों का शाखान्तरों में उपसंहार किया जाता है इसी प्रकार एक ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिये भिन्न-भिन्न शाखा प्रतिपादित उपासनाओं में गुणों का उपसंहार हो

---

४६३. फलमत उपत्तेः।। वे०द० ३/२/३८

४६४. स वा एष महानजआत्माऽन्नादोवसुदानः।। बृहदा० ४/४/२४

४६५. श्रुतत्वाच्च।। वे०द० ३/२/३९

४६६. धर्मं जैमिनिरत एव।। वे०द० ३/२/४०

४६७. पूर्वन्तु वादरायणो हेतुत्वव्यपदेशात्।। वे०द० ३/२/४१

४६८. सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्।। वे०द० ३/३/१

४६९. भेदोन्नेति चेन्नेकस्यामपि।। वे०द० ३/३/२

४७०. स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः।। वे०द० ३/३/३

४७१. दर्शयति च।। वे०द० ३/३/४

सकता है।[४७२] क्योंकि सबका परमात्म ज्ञान रूप प्रयोजन समान है। शब्द भेद होने से विद्या का भेद पाया जाता है यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः विद्या के स्वरूप में कोई विशेषता नहीं।[४७३] प्रकरण भेद होने पर भी परोवरीयस्त्वादि गुणों की भाँति विद्या भेद नहीं हो सकता।[४७४]

जो कठ आदि संज्ञाभेद से विद्या का भेद कथन करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि उपास्य ब्रह्म सर्वत्र एक है, और दूसरी बात यह है कि आदित्य पुरुष औद उद्गीथ उपासना में ज्ञेय ब्रह्म की संज्ञा भी एक ही कथन की गई है, जैसा कि "ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" छा० १/१/१ अर्थात् ओंकार पद वाच्य अक्षर ब्रह्म की उद्रगीथ रूप से उपासना करें और "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमय पुरुषः" छा० १/६/३ अर्थात् आदित्य मण्डल में जो हिरण्यमय पुरुष है वही स्वयं प्रकाश ब्रह्म है, इस प्रकार उभयत्र उपासना में ब्रह्म का रूप एक ही संज्ञा पाये जाने से सिद्ध है कि विद्या का अभेद है भेद नहीं।[४७५]

इस पर पूर्व पक्ष शंका करता है कि दोनों उपासनाओं में उद्गीथ तथा आदित्य प्रतीकरूप होने से प्रतीकोपासना की सिद्धि होती है। ब्रह्मोपासना की नहीं? इसका समाधान करते हुए कहा है कि व्याप्ति के पाये जाने से ब्रह्मोपासना ही ठीक है, प्रतीकोपासना नहीं।[४७६]

उपनिषदों में प्राण विद्या की एकता इस प्रकार पायी जाती है कि इन्द्रियों का प्रजापति के पास जाना, अपनी-अपनी श्रेष्ठता का अभिमान करना, एक-एक इन्द्रिय के निकलने पर भी शरीर स्थिर रहना और मुख्य प्राण के निकलते ही शरीर का शव रूप हो जाना, इत्यादि गुण सर्वत्र समान पाये जाने के कारण बृहदारण्यक तथा छान्दोग्यगत प्राण विद्या प्रकरण में पढ़े हुए वसिष्ठत्वादि गुणों का कौषीतकी० २/१४ के प्रकरण में भी उपसंहार होता है, क्योंकि सर्वत्र प्राण श्रेष्ठता रूप प्रयोजन को बोधन करने के लिये एक ही प्राण विद्या का विधान है।[४७७]

---

४७२. उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च।। वे०द० ३/३/५

४७३. अन्यथात्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात्।। वे०द० ३/३/६

४७४. न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्।। वे०द० ३/३/७

४७५. संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि।। वे०द० ३/३/८

४७६. व्याप्तेश्च समञ्जसम्।। वे०द० ३/३/९

४७७. सर्वाभेदादन्यत्रेमे।। वे०द० ३/३/१०

"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कुतश्चन" तै० २/८ अर्थात् ब्रह्मानन्द का अनुभव करके ही योगी जन्म-मरण के भय से रहित हो जाते हैं, इत्यादि वाक्यों में वर्णन किये हुए आनन्दादि गुण ब्रह्म के धर्म है जीव वा प्रकृति के नही यदि उक्त धर्म ब्रह्म से भिन्न जीवादिकों के होते तो ब्रह्मानन्द को अनुभव करके अभय पद को प्राप्त होता है, ऐसा कदापि वर्णन न किया जाता पर किया है, इससे सिद्ध है कि आनन्दादि गुणों को ब्रह्म का धर्म मानना ही उचित है।[४७८]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि भौतिक इन्द्रियों की अपेक्षा उनके शब्दादि विषय उनसे मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से महत्तत्व सूक्ष्म है।[४७९] इत्यादि वाक्यों में जो इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मता कथन करते हुए परमात्मा को सबकी पराकाष्ठा वर्णन किया है उसका अभिप्राय इन्द्रियों की सूक्ष्मता में नहीं किन्तु परमात्मा के यथार्थ ज्ञान के लिये उनकी सूक्ष्मता बोधन की गई है।[४८०] अर्थात् "सा काष्ठा सा परागतिः" इस वाक्य शेष से परम् सूक्ष्म परमात्मा ही सबका आधार अभिप्रेत है अन्य नहीं। आत्म शब्द से भी इस अर्थ की सिद्धि होती है।[४८१]

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" ऐ० १/१/१ अर्थात् सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म ही था इस वाक्य से अद्वैतवाद की सिद्धि कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि "स इमांलोकानसृजत्" अर्थात् उसी परमात्मा ने भूरादि लोकों को उत्पन्न किया, इत्यादि उत्तर वाक्यों से रचना और रचयिता का भेद पाया जाता है, यदि यहाँ उपनिषत्कार को मायावाद इष्ट होता तो भूरादि लोकों की सृष्टि का वर्णन करते हुए स्रष्टा को उनसे पृथक् प्रतिपादन न करते पर किया है, इससे सिद्ध है कि उक्त वाक्य में परमात्मा को एक कथन करना उसके सजातीय भेद का बाधक है विजातीय प्रकृति आदि पदार्थ सम्बन्धी भेद का नहीं।[४८२] अग्नि आदि कार्यों में ब्रह्म का अन्वय पाये जाने से वही जगत् का उपादान कारण है यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं क्योंकि उपसंहार में उपास्यउपासक भाव से भेद वर्णन किया गया है।[४८३]

---

४७८. आनन्दादयः प्रधानस्य।। वे०द० ३/३/११

४७९. इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परंमनः मनससस्तु पराबुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।। कठ० ३/१०

४८०. आध्यानायप्रयोजनाभावात्।। वे०द० ३/३/१४

४८१. आत्मशब्दाच्च।। वे०द० ३/३/१५

४८२. वेद्याद्यर्थभेदात्।। वे०द० ३/३/२५

४८३. हानौतूपायनशब्दशेषत्वाच्छन्दस्तुत्यु पगानवत्तदुक्तम्।। वे०द० ३/३/२६

प्राकृत लोगों के समान हस्तपादादि प्रक्षालन न करके भोजन करना इसलिये ठीक नहीं कि भोजन काल में आचमनादि की मर्यादा शिष्ट लोगों की परम्परा से चली आई है।[४८४] भोजन काल में आचमन करना शिष्ट मर्यादा है जिसका पालन करना आर्य मात्र का कर्तव्य है। एक शाखा में भी विद्या का अभेद पाये जाने से इस प्रकार गुणों का उसंहार हो सकता है।[४८५] बृहदारण्यक के सत्यविद्या प्रकरण में आदित्य पुरुष का नाम 'अंह' तथा आध्यात्मिक अक्षि पुरुष का नाम 'अहं' कथन किया है। जिसमें यह संदेह होता है कि आदित्य पुरुष की उपासना में अक्षिपुरुष के नाम का तथा अक्षि पुरुष की उपासना में आदित्य पुरुष के नाम का उपसंहार हो सकता है या नहीं? इसमें पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस प्रकार शाण्डिल्य विद्या में उपास्य ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र से प्राणशरीरत्वादि धर्मों का उपसंहार किया गया है वैसे ही प्रकृत में ब्रह्म विद्या की एकता पाये जाने के कारण दोनों का परस्पर उपसंहार हो सकता है।[४८६]

इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि आदित्य पुरुष में अक्षि पुरुष तथा अक्षि पुरुष में आदित्य पुरुष के अहं आदि नामरूप गुण के उपसंहार का कथन करना इसलिये ठीक नहीं कि यदि एक ही स्थान में एक नाम होता तो विद्यापूर्ति के लिये इनका अन्यत्र उपसंहार किया जाता पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एक शाखा वाले प्रकरण तथा एक उपास्य का सम्बन्ध होने पर भी प्रकृत में गुणोपसंहार मानना ठीक नहीं।[४८७]

इस पर शंका उठती है कि गुणों का उपसंहार न करने से नाना उपास्य देवों की आपत्ति होगी? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि अक्षि पुरुष तथा आदित्य पुरुष यह दोनों पद अक्षि तथा आदित्य मण्डल में व्यापक एक ही परमात्मा के वाचक हैं, इसलिये नाना उपास्य देवों की आपत्ति का कथन करना वादी का साहस मात्र है।[४८८] और एक उपास्यदेव के मानने से ही ईश्वर में जगत् का पालन करना तथा अन्तरिक्षादि लोकों में व्यापक होना बन सकता

४८४. सम्पराये कर्त्तव्याभावात्तथाह्यन्ये।। वे०द० ३/३/२९
४८५. छन्दत उभयाविरोधात्।। वे०द० ३/३/२८
४८६. गतेरर्थवत्त्वमुभपशाऽन्यथा हि विरोधः।। वे०द० ३/३/२९
४८७. उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।। वे०द० ३/३/३०
४८८. अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्।। वे०द० ३/३/३१

है अन्यथा नहीं।[४८९] पुरुष विद्या की भाँति जिन गुणों का वर्णन नहीं किया उनका अन्यत्र भी उपसंहार हो सकता है।[४९०]

"सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्तः" अर्थात् मेरे शत्रु का नाश कर तथा उसके हृदय, नाड़ी, शिर आदि अंगों का विदारण कर इत्यादि जो क्रूरतापूर्ण वाक्य उपनिषदों में पाये जाते हैं, वह क्षात्रधर्म के अभिप्राय से है, इसलिये वेधादि वाक्यों में तात्पर्य का भेद होने से कोई दोष नहीं।[४९१] हानिवाचक शब्दों के पाये जाने से भी उपायन अर्थ का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि उपायन शब्द हानि पद का शेष है और यह बात छन्द, स्तुति तथा उपायन की भाँति बन सकती है।[४९२]

"स एतं देवयानं पन्थानमासाद्यग्निलोकमागच्छति" कौ० १/३ अर्थात् देवयान मार्ग को प्राप्त होकर अग्नि लोक को प्राप्त होता है, इस प्रकार उपक्रम करके फिर यह कथन किया है कि "स आगच्छति विरजांनदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनते" कौ० १/४ अर्थात् मुक्त पुरुष विरजा नदी को प्राप्त होकर संकल्प द्वारा उसका उल्लंघन करता हुआ वहीं अपने पाप-पुण्य से पृथक् हो जाता है। तरने योग्य पदार्थ के न पाये जाने से देहत्याग काल में तत्ववेत्ता पुरुष का सुकृत तथा दुष्कृत नष्ट हो जाता है, और निश्चय करके दूसरी शाखा वाले भी ऐसा ही कथन करते हैं।[४९३]

मुक्त पुरुष की स्वाभाविक वृत्तियों में पाया जाता है कि कर्म सर्वथा नष्ट नहीं होते अपितु मुक्ति मे मानस कर्म बने रहते हैं। जैसा कि छा० ८/१२/५ में कहा गया–"मसैतान्कामान् पश्यन् रमते" अर्थात् मुक्त पुरुष मन से सब कामनाओं का अनुभव करता हुआ आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है इसलिये ज्ञानकर्म के समुच्चय में कोई बाधा नहीं।[४९४] ज्ञानकर्म का समुच्चय मानने से ही मुक्त पुरुष की गति सार्थक हो सकती है यदि ऐसा न माना जाए तो निश्चय करके श्रुति का विरोध होता है।[४९५] यजुर्वेद के ४० अध्याय के दूसरे मन्त्र–"कुर्वन्नेवेह

४८९. यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्।। वे०द० ३/३/३२
४९०. आत्मगृहीतिरितखदुत्तरात्।। वे०द० ३/३/१६
४९१. अन्यवयादितिवेत्स्यादवधारणात्।। वे०द० ३/३/१७
४९२. कार्याख्यानादपूर्वम्।। वे०द० ३/३/१८
४९३. समानएवञ्चाभेदात्।। वे०द० ३/३/१९
४९४. सम्बन्धादेवमन्यत्रापि।। वे०द० ३/३/२०
४९५. नवाविशेषात्।। वे०द० ३/३/२१

कर्माणि" से यह स्पष्ट होता है कि लोक की भाँति दोनों से मुक्ति रूप अर्थ की प्राप्ति होने के कारण ज्ञान कर्म का समुच्चय युक्ति सिद्ध है।[४९६]

मुक्ति में किसी आश्रम विशेष का नियम नहीं है किन्तु प्रत्येक आश्रम में ज्ञानकर्म द्वारा मुक्ति की प्राप्ति समान है, जैसा कि ब्र०सू० ३/३/२९ के भाष्य में शब्द प्रमाण में स्पष्ट आया है, और उक्त अर्थ का साधक अनुमान इस प्रकार है कि "मुक्ति ज्ञान कर्म हेतु का साध्यत्वात् पाकवत्" अर्थात् जो साध्य होता है वह ज्ञान तथा कर्म से जन्य होता है, इस नियम के अनुसार जिस प्रकार साध्य होने से पाक पाचक पुरुष के ज्ञानकर्म से जन्य है इसी प्रकार मुक्ति मुमुक्षु पुरुषानुष्ठित ज्ञान कर्म से जन्य है, इत्यादि अनुमान तथा शब्द प्रमाण से सिद्ध है कि मुक्ति में किसी आश्रम विशेष का नियम नहीं।[४९७] मुक्त पुरुषों की मोक्ष में स्थिति नियत काल पर्यन्त रहती है।[४९८]

उपास्य ब्रह्म को ब्रह्मवेत्ता लोग बताते हैं कि वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है न छोटा है, और न बड़ा है। ब्रह्म की समता तथा अस्थूलादि विशेषणों की योग्यता पाये जाने से अक्षर विषयक धर्मों का सर्वत्र उपसंहार होता है और यही रीति औपसद की भाँति कथन की गई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में आया है "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" श्वेता० ४/६ अर्थात् जीव तथा ईश्वर दोनों में से एक स्वादु फल का उपभोग करता है। इस वाक्य में जीव को कर्मफल का भोक्ता कथन किया है परन्तु "ऋतं पिबन्तौ" क० ३/१ इस वाक्य से दोनों को कर्म फल का भोग करने वाला माना है जिससे स्पष्ट है कि दोनों शाखाओं में भिन्न-भिन्न विद्या हैं एक नहीं? इसका उत्तर यह है कि उभयत्र जीव ब्रह्म का प्रकरण एक होने तथा दोनों की द्वित्व संख्या समान पाये जाने से एक ही विषय प्रतिपादन किया है, भिन्न-भिन्न नहीं, इसलिये विद्या का अभेद मानना ही ठीक है।[४९९]

"एको देवः सर्वभूतेषुगूढः" श्वेता० ६/२ अर्थात् एक परमात्मा सब भूतों में व्यापक है, इत्यादि वाक्यों में जिस प्रकार परमात्मा को सब भूतों का अन्तरात्मा प्रतिपादन किया है इसी प्रकार उषस्त तथा कहोल ब्राह्मण का प्रतिपाद्य अर्थात् विषयभूत सर्वान्तरात्मा परमात्मा एक है, क्योंकि "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" बृ०

४९६. दर्शयति च।। वे०द० ३/३/२२

४९७. सम्भृतिद्युव्याप्तिश्चातः।। वे०द० ३/३/२३

४९८. पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्।। वे०द० ३/३/२४

४९९. इयदामननात्।। वे०द० ३/३/३४

२/४/१ अर्थात् ब्रह्म स्वयं प्रकाश है, इत्यादि ब्राह्मणगत वाक्यों में ऐसा ही पाया जाता है, इस प्रकार विषयभेद न होने के कारण उक्त दोनों ब्राह्मणों में विद्या की समानता है। अतः सबका अन्तरात्मा परमात्मा है।[५००] विद्याभेद के न मानने पर उपदेश भेद की सिद्धि नहीं हो सकती यदि ऐसा कहा जाये तो उचित नहीं, क्योंकि यह बात अन्य उपदेश की भाँति हो सकती है।[५०१]

"अहं वा त्वमसिभगवो देवते त्वं वा अहमस्मि" अर्थात् मैं आप और आप मैं हूँ, इत्यादि वाक्यों में जो जीव ब्रह्म का परस्पर अभेदोपचार कथन किया गया है वह विशेष्य विशेषण भाव अभिप्राय से है वस्तुतः जीव ब्रह्म की एकता में नहीं अर्थात् जिस प्रकार में लोक में स्वामी सेवक का परस्पर अत्यन्त प्रेम होने से उनमें अभेद का औपचारिक व्यवहार होता है वैसे ही जहाँ-जहाँ उपनिषदों में जीव ब्रह्म के एकता बोधक वाक्य पाये जाते हैं वह सब औपचारिक अभेद परक हैं, वस्तुतः एकत्व भाव के नहीं।[५०२]

निश्चय करके यक्ष वाक्य में उसी ब्रह्म विद्या का विधान है, क्योंकि उक्त अर्थ के निश्चायक सत्यादि गुण समान पाये जाते हैं।[५०३] छान्दोग्य में पठित सत्यकामादि गुणों का दूसरी शाखा में उपसंहार हो सकता है, क्योंकि दोनों शाखाओं में स्थानादि समान पाये जाते हैं।[५०४]

परमात्मा का ध्यान पाये जाने से उद्गीथोपासना में मनोव्यापार का नियम नहीं, क्योंकि केवल कर्मानुष्ठान से ब्रह्मोपासना के फल में विशेषता पाई जाती है।[५०५] हवि प्रक्षेपण की भाँति ध्यान पुनः-पुनः कर्तव्य है,[५०६] इसी प्रकार ब्रह्मध्यान में पुनः-पुनः मनोवृत्ति का संचार कर्तव्य है।

पूर्वपक्ष शंका करता है कि उपनिषदों में कहीं उद्गीथोपासना, कहीं प्राणोपासना तथा कहीं वायु की उपासना पाई जाती है फिर परमात्मा की उपासना कैसे? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि निश्चय करके ब्रह्म

---

५००. अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः।। वे०द० ३/३/३५
५०१. अन्यथा भेदानुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत्।। वे०द० ३/३/३६
५०२. व्यतिहारो विशिषंन्ति हीतरवत्।। वे०द० ३/३/३७
५०३. सैव हि सत्यादयः।। वे०द० ३/३/३८
५०४. कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।। वे०द० ३/३/३९
५०५. तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्।। वे०द० ३/३/४२
५०६. प्रदानवेदव तदुक्तम्।। वे०द० ३/३/४३

सम्बन्धी अधिक लिङ्ग पाये जाते हैं। परमात्मा विषयक लिङ्ग पाये जाने से वायु आदि जड़ पदार्थों की उपासना के अर्थ नहीं, किन्तु उद्गीथादि परमात्मा के नाम हैं, इसलिये सभी उपासनाओं को ब्रह्मपरक मानना ही ठीक है।[५०७]

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" यजु० ३१/१८ अर्थात् पुरुष परमात्मा ज्ञान से मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है। इस प्रकार के वाक्यों में केवल ज्ञान ही मुक्ति का साधन माना है। ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय से ही मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, यह वादरायण आचार्य का मत है।[५०८]

जैमिनि आचार्य का कथन है कि कर्म का शेष होने से ज्ञान मोक्ष का साधन है, जैसा कि अन्य लौकिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है।[५०९] राजा जनक ने बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ से परमात्मा का यजन किया,[५१०] इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि ज्ञान होने पर भी शिष्ट लोग कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, यदि ज्ञान स्वतः ही मुक्ति का साधन होता तो उक्त वाक्य में शिष्टों का कर्मानुष्ठान वर्णन न किया जाता, इससे सिद्ध है कि शास्त्र का तात्पर्य कर्मानुष्ठान की मुख्यता में है समुच्चयवाद में नहीं।[५११] श्रुति में भी ऐसा ही पाया जाता है। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदातदेव वीर्यवत्तरं भवति" छान्दो० १/१/१० अर्थात् जो विद्या पूर्वक श्रद्धा से कर्मानुष्ठान करता है वही फलीभूत होता है, इत्यादि प्रमाण भी कर्मों की मुख्यता को ही बतलाते हैं, इसलिये कर्म ही मुक्ति का साधन है।[५१२]

परलोक में विद्या तथा कर्मों का सहायक होना उक्त अर्थ का साधक है[५१३] विद्या तथा कर्म दोनों ही परलोक में जीवात्मा के सहायक होते हैं ऐसा बृहदारण्यक में आता है। विद्वान् के लिये कर्मों का विधान पाये जाने से ज्ञान स्वतन्त्रतया मुक्ति का साधन नहीं।[५१४] और यावदायुष कर्मानुष्ठान का नियम पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।[५१५]

---

५०७. लिङ्गभयस्त्वातद्धिधवलीयस्तदपि।। वे०द० ३/३/४४
५०८. पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः।। वे०द० ३/४/१
५०९. शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्योष्विति जैमिनिः।। वे०द० ३/४/२
५१०. जनको हवै वैदेहो बहुदक्षिणेन यशेनेजे०।। बृहदा० ३/१/१
५११. आचार दर्शनात्।। वे०द० ३/४/३
५१२. तच्छ्रुतेः।। वे०द० ३/४/४
५१३. समन्तारम्भणात्।। वे०द० ३/४/५
५१४. तद्वतो विधानात्।। वे०द० ३/४/६
५१५. नियमाच्च।। वे०द० ३/४/७

उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए आचार्य वादरायण का मत देते हैं कि अधिक उपदेश पाये जाने से ज्ञान कर्मों का अङ्ग नहीं, क्योंकि श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है।[५१६] तथा महर्षि व्यास का भी मत है कि यज्ञादि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान परमात्म साक्षात्कार में साक्षात् साधन है, कर्म नहीं, इसलिये उसको यज्ञादि कर्मों का अङ्ग कथन करना ठीक नहीं, इसी अभिप्राय से यजु० ३१/१८ में वर्णन किया है कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" अर्थात् पुरुष परमात्मसाक्षात्कार से ही जन्ममरणात्मक बन्धन से रहित हो जाता है। मुक्ति के लिये ज्ञान तथा कर्म दोनों का सहकारी होना पाया जाता है, इसलिये उक्त दोनों का समुच्चय मानना ही ठीक है, क्रमसमुच्चय नहीं।[५१७]

यह अव्यभिचारी नियम नहीं कि ज्ञान मिथ्या का निवर्तक होकर ही पुरुषार्थ होता है अन्यथा नहीं अर्थात् भ्रमस्थल में उक्त नियम के होने पर भी सत्य पदार्थों में यह नियम व्यभिचारी हो जाता है, और जगत् सत्य रूप है, इसलिये केवल ज्ञान से मुक्ति न मानकर ज्ञान कर्म दोनों को मुक्ति का साधन मानना उचित है।[५१८]

विधिपूर्वक वेदाध्ययन करने वाले पुरुष ही मुक्त होते हैं अन्य नहीं।[५१९] दोनों मिलकर मुक्तिरूप फल का साधक होने से ज्ञान तथा कर्म का विशेष भेद नहीं।[५२०]

ज्ञान की मुख्यता को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने कहा है कि ज्ञान के सदृश कोई पवित्र पदार्थ नहीं है। यहाँ पर केवल ज्ञान के अर्थवाद के द्वारा प्रशंसा की गई है।[५२१] अन्य आचार्यों के अनुसार ज्ञान की प्रशंसा करते हुए कहा है कि सकाम कर्मों की अपेक्षा ज्ञान सर्वोपरि है,[५२२] अर्थात् सकाम कर्म मुक्ति के साधन नहीं किन्तु निष्काम कर्म तथा ज्ञान योग यह दोनों ही मुक्ति के साधन हैं, जैसा कि गीता में आया है कि "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"

---

५१६. अधिकोपदेशात्तु वादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्।। वे०द० ३/४/८

५१७. तुल्यन्तु दर्शनम्।। वे०द० ३/४/९

५१८. असार्वत्रिकी।। वे०द० ३/४/१०

५१९. अध्ययनमात्रवतः।। वे०द० ३/४/१२

५२०. नाविशेषात्।। वे०द० ३/४/१३

५२१. स्तुतयेऽनुमतिर्वा।।वे०द० ३/४/१४

५२२. नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।। गीता ४/३

अर्थात् जिस स्थान को ज्ञानी प्राप्त होते हैं कर्मीजन भी उसी पद के अधिकारी हैं, यदि ज्ञान की अपेक्षा कर्मों को सर्वथा निकृष्ट कथन करने का अभिप्राय होता तो उक्त वाक्य में ज्ञानकर्म की समता कदापि वर्णन नहीं की जाती। जैसे कि यजुर्वेद में कहा है कि श्रेष्ठ एवं वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करता हुआ सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे।[५२३] इत्यादि वाक्यों में कर्मों को करने का विधान पाया जाता है। विधि से यह सिद्ध होता है कि जहाँ कर्म करने का निषेध किया गया है उसका अभिप्राय है कि सकाम कर्मों की बजाय निष्काम कर्म करने चाहिये। इसलिए ही कहा है कि तत्व ज्ञान से सकाम कर्मों का बाध हो जाता है।[५२४]

भारतीय दार्शनिक साहित्य में मुक्ति को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि फल देने वाले कर्मों के पश्चात् ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये यह कहा है कि फल की इच्छा से रहित होकर ईश्वर अर्पण बुद्धि से कर्म करने वाला पुरुष जल में कमल की भाँति पाप कर्मों से लिप्त नहीं होता,[५२५] इत्यादि प्रमाणों द्वारा निष्काम कर्मों की उपादेयता पाये जाने से सिद्ध है कि ज्ञानोत्तर काल में सकाम कर्मों का बाध हो जाता है निष्काम कर्मों का नहीं।

"तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये" मु० १/२/११ अर्थात् जो ब्रह्मचारी निरन्तर वन में रहकर तप श्रद्धा का अनुष्ठान करते हैं वह उत्तरायण मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के लिये निरन्तर ब्रह्मचर्य रूप तप का विधान है गृहस्थ सम्बन्धी कर्मों का नहीं। आचार्य जैमिनि ऊर्ध्वरेतस् आश्रमों को कथन मात्र मानते हैं क्योंकि उक्त आश्रमों की विधि उपलब्ध नहीं होती और शास्त्र में कर्मों के त्याग का अपवाद पाया जाता है।[५२६] श्रुति की समानता पाये जाने से यथाधिकार सब आश्रमों के कर्म अनुष्ठान करने योग्य है, यह वादरायण आचार्य का मत है।[५२७]

"अधस्तात्समिधं धारयन्" अर्थात् प्रेताग्निहोत्र में नीचे की ओर समिधा धारण करता हुआ हविः प्रदान करे, इस वाक्य द्वारा जिस प्रकार अन्त्येष्टि संस्कार में सबके लिये समिधाओं का धारण करना समान है इसी प्रकार "कुर्वन्नेवेह"

---

५२३. कामकारेण चैके।। वे०द० ३/४/१५

५२४. उपमर्दञ्च।। वे०द० ३/४/१६

५२५. आश्रितः कर्मफलं कार्यकर्मकरोति यः।। गी० ५/१०

५२६. उर्ध्वरेतः सु च शब्दे हि।। वे०द० ३/४/१७

५२७. अनुष्ठेयं वादरायणः साम्यश्रुतेः।। वे०द० ३/४/१९

इत्यादि वाक्यों में विधान किया हुआ कर्तव्य भी सबके लिये समान रूप से कर्तव्य है किसी एक ही आश्रम के लिये नहीं।[५२८] विद्या की स्तुति करते हुए कहा है कि औपनिषद्, आख्यान्, पारिपल्लव कर्म के अंग हैं यदि ऐसा कहा जाये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें विशेषता पाई जाती है,[५२९] सिद्ध करने के लिये कहा है कि अश्वमेघ यज्ञ में सपरिवार राजा के श्रवण करने योग्य कथाओं का नाम परिपल्लव है जैसा कि शतपथ में आया है कि अश्वमेध यज्ञ में पुत्रादि सम्बन्धियों से परिवृत राजा को गाथायें सुनावें, यह कथन करके फिर कहा है कि परिपल्लव संज्ञक कर्म में सब आख्यानों को सुनावें, उक्त वाक्यगत निरर्वाधिक सर्व शब्द के प्रयोग से यह सन्देह होता है कि जनक, याज्ञवल्क्य तथा इन्द्र प्रतदर्दन आदि सभी आख्यायिकाओं का प्रयोग करना आवश्यक है अथवा किसी एक आख्यायिका के प्रयोग की विधि है? यदि संदेह की निवृत्ति इस प्रकार की गई है कि परिपल्लव प्रकरण में जिन मनु आदि महर्षियों की गाथाओं का सम्बन्ध आया है उन्हीं के सुनने का विधान है आख्यान मात्र का नहीं इसलिये "याज्ञवल्क्यद्वेभार्य्यवभूवतु:" अर्थात् याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थी, इत्यादि गाथायें ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये हैं उक्त कर्म का अङ्ग नहीं, यही मानना उचित है।

समस्त वैदिक साहित्य में कर्म और ज्ञान को मुक्ति आदि के लिये कई स्थलों पर कर्म की प्रशंसा की गई है और कई स्थानों पर ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है। इसका अर्थ यही प्रतीत होता है कि कर्म और ज्ञान का समुच्चय होना चाहिए। सामान्य स्थिति में कर्म काण्ड का वर्णन मिलता है, परन्तु केवल कर्म काण्ड से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है इसलिये अग्निहोत्रादि करने से आत्मा सामान्य स्थिति से ऊपर उठकर सुख विशेषादि की प्राप्ति कर लेता है इसलिये ही जैसे कि मुण्डकोपनिषद् में यज्ञों की प्रशंसा की है, परन्तु अगले ही उपनिषदों के वचन में कहा है कि यह यज्ञ मुक्ति का साक्षात् न होने के कारण अदृढ़ है और ऐसे हैं जैसे कि ऐसी नाव जिसमें छेद है, वह नदी पार न कराके बीच में ही डूबने का साधन बन सकती है। इस प्रसंग में यहाँ यही अर्थ है कि जब आत्मा का बौद्धिक स्तर बढ़ जाता है तो सकाम यज्ञ मुक्ति में साधक नहीं हो सकते हैं इसलिये निष्काम कर्म तत्व ज्ञान की सरणी है, इसलिये वेदान्त सूत्र में कहा

५२८. विधिर्वाधारणवत्।। वे०द० ३/४/२०
५२९. पारिपल्वार्था इति चेन्न विशेपितत्वात्।। वे०द० ३/४/२३

है कि मुक्ति के चाहने वाला साधक सम् दम् आदि मुक्ति के साधनों का परिपालन करता है, यही मुक्ति के साधन हैं और मुक्ति के लिये अनुष्ठान हैं।[५३०]

साधक को खानपान किस प्रकार का करना चाहिए इसका वर्णन करते हुए कहा है कि योगी के लिये प्राण नाश काल में सभी अन्नों को भक्षण करने की आज्ञा है।[५३१] छान्दोग्य उपनिषद् में कहा कि प्राण विद्या वित्त योगी के लिये कोई पदार्थ अभक्ष्य नहीं अर्थात् वह उत्तम अधम सबके अन्न का अधिकारी है, इत्यादि वाक्यों में अन्नमात्र की अनुमति पाये जाने से सिद्ध है कि आपात्काल में ऊँच-नीच के अन्न का भक्षण करने से योगी दोष का भागी नहीं होता, जैसा कि क्षुधानिमित्तक प्राणनाश काल उपस्थित होने पर चाक्रायण ऋषि महावत के उच्छिष्ट कुत्माष खाने पर किसी दोष के भागी नहीं बने।

यह उपर्युक्त कथन उन योगियों के लिए कहा गया है जो आप्तकाम हो चुके हैं उनके लिये भोजन आदि के सामान्य नियम आवश्यक नहीं है, परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं है कि वह अधर्म युक्त भोजन सामग्री का भी ग्रहण करें। क्योंकि छान्दोग्य में स्पष्ट कहा है कि ज्ञानवान् को अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।[५३२] जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि ब्रह्मविद् पुरुष सुरापान न करे, मांस आदि का भी ग्रहण न करे।[५३३] भक्ष्य अभक्ष्य प्रकरण में यही अभिप्राय है कि साधक को यदि आपत्ति काल में भी कभी ऐसे जगह अथवा ऐसे व्यक्ति का आपत्ति काल में अन्न खाना भी पड़े तो कोई हानि नहीं है, जैसा गीता में कहा है कि आषात काल में अपवित्र आहार, विहार करने पर भी ज्ञान बल से मन्द वासना उत्पन्न नहीं हो सकती अर्थात् ऐसी दशा में ज्ञानवान् अधार्मिक पुरुष का अन्न खाने पर भी दूषित नहीं होता।[५३४] यहाँ पर साधक के आहार विहार को स्पष्ट करने के पश्चात् आश्रम कर्मों की विधि को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यज्ञ आदि कर्म जो ब्रह्म विद्या की सरणीं के साधन हैं सब आश्रमी पुरुषों के लिये अनुष्ठेय है।[५३५]

---

५३०. शमदमाद्युपेतः स्यातथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।। वे०द० ३/४/२७
५३१. सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्।। वे०द० ३/४/२८
५३२. शब्दश्चास्याकामकारे।। वे०द० ३/४/३१
५३३. ब्राह्मणः सुरां न पिवेत्।। छा० ५/२/१ (ii) न मांसमश्नीयात्।।
५३४. अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृतमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यति।। गीता ४/३६
५३५. सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्।। वे०द० ३/४/३४

वेदान्तदर्शन में यह स्पष्ट किया है कि ज्ञान तथा कर्म मुक्ति के साधन हैं यह श्रुति में भी कहा है।[५३६] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण लोग अथवा साधक व्यक्ति वेदाध्यन के द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, इन वाक्यों में भी ज्ञान और कर्म दोनों का विधान किया गया है, इसलिये कहा गया है कि मुक्ति प्राप्त करने के साधन ज्ञान और कर्म का समुच्चय है।[५३७]

"एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति" छा० ८/५/३ अर्थात् विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से ब्रह्मचारी जिस आत्मिक बल का लाभ करता है वह कदापि नष्ट नहीं होता, इत्यादि प्रमाणों से भले प्रकार कर्मों की उपादेयता बताई गई है, हेयता नहीं, जिससे स्पष्ट है कि मुमुक्षु पुरुष विधिवत् कर्मानुष्ठान पूर्वक ज्ञान द्वारा मुक्ति लाभ कर सकता है, और भवसागर से पार होने का एकमात्र यही उपाय है, इस प्रकार मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों में ज्ञान कर्म का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त समुच्चयवाद निर्भ्रान्त जानना चाहिए।[५३७]

इस पर पूर्वपक्ष शंका करता हुआ कहता है कि विधिवत् आश्रम कर्मों का पालन न करने वाले पुरुषों ने किसी कारणवशात् विधिवत् आश्रम कर्मों का पालन नहीं किया पर सांसारिक भोग वासना से सर्वथा अलग हैं वह भी ब्रह्म विद्या के अधिकारी हैं, जैसा कि रैक तथा गार्गी आदिकों में देखा गया है कि आश्रम कर्म न करने पर भी ब्रह्मवेत्ता हुए हैं जिनकी कथा का विस्तार पूर्वक वर्णन छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक में किया गया है, इससे स्पष्ट है कि आश्रम कर्मों का पालन न करने वाला भी ब्रह्म विद्या का अधिकारी हो सकता है।[५३८] और स्मृति से भी इसकी सिद्धि होती है।[५३९]

"तपसा ब्रह्मचर्येणश्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येत्" अर्थात् तप, ब्रह्मचर्य तथा विद्या से परमात्मा का अन्वेषण करे, इत्यादि विशेष वाक्यों से पाया जाता है कि पुरुष विधिपूर्वक आश्रम कर्मों का पालन न करता हुआ भी तप आदि करने से ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो सकता है।[५४०] श्रुति से भी ऐसा पाया जाता है कि ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, इत्यादि वाक्यों द्वारा उत्तरोत्तर

---

५३६. तमेतं ब्राह्मण वेदानुवचनेन विविदिषन्ति।। बृहदा० ४/४/२२

५३७. अनभिभवञ्च दर्शयति।। वे०द० ३/४/३५

५३८. अन्तराचापि तु तद्दृष्टेः।। वे०द० ३/४/३६

५३९. अपि च स्मर्यते।। वे०द० ३/४/३७

५४०. विशेषानुग्रहश्च।। वे०द० ३/४/३८

आश्रमों की श्रेष्ठता वर्णन किये जाने से स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या का समान अधिकार होने पर भी नियमानुसार आश्रम कर्मों का अनुष्ठान न करने वाले पुरुष से करने वाला श्रेष्ठ है।[५४१]

यज्ञ का फल–आचार्य आत्रेय मानते है कि यजमान को यज्ञ फल की प्राप्ति होती है।[५४२] छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि जो उपासक वृष्टि विषयक पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है वह अपने तथा अन्यों के लिये आनन्द को बरसाता है,[५४३] इत्यादि वाक्य प्रतिपादित उपासनाओं का अधिकारी होने से यज्ञफल की प्राप्ति यजमान को होती है अन्य ऋत्विजों को नहीं, यदि यज्ञफल के भागी ऋत्विज् होते तो उक्त वाक्य में यजमान द्वारा उपासना का वर्णन न किया जाता पर किया है इससे सिद्ध है कि यज्ञ फल का भागी केवल यजमान है ऋत्विज नहीं। औडुलोमि आचार्य के मत में यजमान वरण द्रव्यों से ऋत्विक् लोगों को नियत समय पर्यन्त यज्ञादि कर्मों का सम्पादन करने के लिये अपना सहकारी बना लेता है, इसलिये दोनों मिलकर कर्म सम्पादन करने से फल के भागी होते हैं, यद्यपि कर्म न करने वाला यजमान ही केवल फल का भागी होना चाहिए तथापि जिस प्रकार लोक में समुदाय साध्य कर्म के सभी फल भागी होते हैं इसी प्रकार यज्ञ कर्म का सहचारी होने से ऋत्विक् को भी फल का भागी जानना चाहिए।[५४४]

ऋग्वेद में आया है “ ”संगच्छध्वं संवदध्वं” अर्थात् परस्पर मिलकर चलो, मिलकर बोलो इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रतिपादित प्रीति पूर्वक व्यवहार का फल सर्वसाधारण होने से सिद्ध है कि यज्ञादि कर्मों का फल केवल यजमान को ही प्राप्त नहीं होता किन्तु ऋत्विक् तथा यजमान दोनों को प्राप्त होता है।

साधन सम्पन्न होने के अनन्तर इसी जन्म में मुक्ति होती है या जन्मान्तर में? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि प्रतिबन्धक कर्म के न होने से इसी जन्म में पुरुष मुक्त हो सकता है,[५४५] क्योंकि श्रुति से ऐसा ही पाया जाता है। कठोपनिषद् में आया है कि जिस परमात्मा का श्रवण करना कठिन है और

५४१. अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च।। वे०द० ३/४/३९
५४२. स्वामिनः फलश्रुतोरित्यात्रेयः।। वे०द० ३/४/४४
५४३. वर्षति हास्मै वर्षयति य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते।। छा० २/३/२
५४४. आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते।। वे०द० ३/४/४५
५४५. ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्।। वे०द० ३/४/५१

जिसको सुनकर भी सब प्राप्त नहीं हो सकते, उसका वक्ता तथा श्रोता विरला पुरुष ही होता है,[५४६] इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्ति को प्राप्त होना किसी एक जन्म पर निर्भर नहीं करता किन्तु जिन पुरुषों का कोई बलवत् प्रतिबन्धक कर्म नहीं वह श्रवणादि साधन द्वारा इसी जन्म में मुक्त हो जाते हैं और जिनका कोई शेष कर्म प्रतिबन्धक है उनको जन्मान्तर में मुक्ति का लाभ होता है। इसी अभिप्राय से गीता में वर्णन किया है कि योग भ्रष्ट पुरुष जिसकी समाधि इस जन्म में परिपक्व नहीं हुई वह पुनः योगी तथा पवित्र, श्रीमान् लोगों के कुल में जन्म धारण करता और इसी पूर्व जन्म के अभ्यास द्वारा योगानुष्ठान करता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है[५४७] इससे सिद्ध है कि प्रतिबन्धक निवृत्ति के उत्तरकाल में मोक्ष प्राप्ति का नियम है उसकी प्राप्ति के लिये वर्तमान अथवा भावी जन्म की एकान्तता अपेक्षित नहीं। अपहत पाप्मादि गुणों के धारण करने से मुक्ति रूप फल में जन्म का अनियम है।[५४८]

मुक्ति के साधन—अनेक बार उपदेश देने से ब्रह्म का ध्यान मुक्ति का साधन है।[५४९] बृहदारण्यक में आता है—हे मैत्रेयि! आत्मा ही दृष्टव्य अर्थात् तत्व ज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य, श्रोतव्य अर्थात् श्रुति वाक्यों से श्रवण करने योग्य, मन्तव्य अर्थात् वेदाविरोधी तर्कों द्वारा मनन करने योग्य और निदिध्यासितव्य अर्थात् चित्त वृत्ति निरोध द्वारा बारम्बार अभ्यास करने योग्य है,[५५०] तथा छान्दोग्य में आया है कि आत्मा ही अन्वेषण करने तथा जानने योग्य है,[५५१] इत्यादि वाक्यों में यह संदेह होता है कि वाक्य जन्य ब्रह्म ज्ञान मुक्ति का साधन है अथवा बारम्बार प्रत्ययावृत्ति रूप ध्यान से मुक्ति होती है? यहाँ पूर्व पक्षी का कथन है कि संसार रूप बन्ध अविद्यिक होने के कारण तत्वमस्यादि महावाक्य जन्य ज्ञान ही मुक्ति का साधन है अर्थात् जिस प्रकार रज्जु सर्प की निवृत्ति रज्जुरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार से होती है इसी प्रकार महावाक्य जन्य ज्ञान द्वारा अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार से संसार निवृत्ति रूप मोक्ष होती है ध्यान से नहीं? इसका

---

५४६. श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यो: शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।। कठ० २/७
५४७. शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। गीता० ६/४
५४८. मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः।। वे०द० ३/४/५२
५४९. आवृत्तिरसकृदुपदेशात्।। वे०द० ४/१/१
५५०. आत्मावचारे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।। बृहदा० ४/५/६
५५१. सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।। छा० ८/७/१

उत्तर यह है कि उक्त वाक्यों में पुनः-पुनः आवृत्ति रूप ध्यान का उपदेश किया गया है वाक्य जन्य ज्ञान को मोक्ष का साधन वर्णन नहीं किया यदि वाक्य जन्य ज्ञान ही मुक्ति का साधन होता तो पुनः-पुनः श्रवादिकों की आवृत्ति न पाई जाती और ना ही शास्त्र में चित्त वृत्ति निरोध रूप योग का उपदेश किया जाता, जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में वर्णन आया है कि ज्ञान के महत्व से अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ध्यान करने वाला पुरुष निराकार परमात्मा का दर्शन करता है,[५५२] इससे सिद्ध है कि "आत्मावारे द्रष्टव्यः" इत्यादि वाक्यों से प्रख्यावृत्ति रूप ध्यान ही मुक्ति का साधन अभिप्रेत है वाक्यजन्य ज्ञान नहीं। और जो यह कहा गया है कि रज्जु सर्प की भाँति मिथ्या संसार की निवृत्ति वाक्यजन्य ज्ञान से ही होती है, यह इसलिए ठीक नहीं कि संसार के मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता।

तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की भाँति मुक्ति एक प्रकार से जीव की अवस्थाविशेष है जो भाव पदार्थ है, संसार निवृत्ति रूप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं यदि मुक्ति अभाव पदार्थ होती तो "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति" मु० ३/२/८ अर्थात् मुक्त पुरुष ब्रह्म सम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के धारण करने से ब्रह्म के समान हो जाता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म धर्मों की प्राप्ति रूप मुक्ति का वर्णन न किया जाता, इससे स्पष्ट है कि संसार निवृत्ति रूप अभाव पदार्थ का नाम मुक्ति नहीं। बृहदारण्यक में आया है "तमेतं वेदानुवचनेन ब्रह्मणा विविदिषन्ति" अर्थात् ब्राह्मण लोग वेद के निरन्तर अभ्यास से उसी परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं, इत्यादि लिङ्गों से पुनः-पुनः प्रत्ययावृत्तिरूप अभ्यास ही मुक्ति का साधन सिद्ध होता है।[५५३]

समान रूप से ध्येयाकार चित्तवृत्ति के प्रवाह का नाम उपासना है, वह उपासना चित्त की एकाग्रता तथा शरीर की स्थिरता से हो सकती है अन्यथा नहीं, इसलिये उचित है कि उपासक स्थिरता पूर्वक बैठकर उपासना करे।[५५४] जब तक पुरुष किसी एक स्थान पर दृढ़ता से आसन नहीं लगाता तब तक ध्यान वृत्ति का निरन्तर ध्येयाकार होना संभव नहीं, इससे सिद्ध है कि किसी एकदेश में स्थिर होकर ही उपासना कर्तव्य है।[५५५] छान्दोग्य उपनिषद् में आया है "ध्यायतीव

---

५५२. ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं
　　पश्यते निष्फलं ध्यायमानः।। मुण्डक० ३/१/८

५५३. लिङ्गाच्च।। वे०द० ४/१/२

५५४. आसीनः सम्भवात्।। वे०द० ४/१/७

पृथिवी" अर्थात् पृथ्वी ध्यान करती है, इत्यादि वाक्यों में जिस प्रकार पृथिव्यादिकों का औपचारिक ध्यान करना निश्चलता के अभिप्राय से आया है इसी प्रकार योगी के लिये उचित है कि वह निश्चलता रूप समाधि के लाभार्थ किसी एक देश में आसन लगाकर उपासना करे।[५५६] समाधि का सम्बन्ध चित्तवृत्तिनिरोध से है किसी देशविशेष से नहीं, यत्नशील पुरुष अभ्यास की प्रकर्षिता से जहाँ चाहे वहाँ ही चित्तवृत्ति का निरोध कर सकता है देश विशेष केवल चित्तवृत्ति निरोध में इतना ही उपयोगी है कि वह बैठने के योग्य सुहावना हो, चाहे घर हो या चाहे वन, इसलिए जिन लोगों का यह मत है कि समाधि लगाने के लिये पर्वत की कन्दरा आदि ही उपयुक्त हैं यह ठीक नहीं, क्योंकि कन्दरा आदि के लिये पर्वत की कन्दरा आदि से केवल विक्षेप निवृत्ति ही अभिप्रेत है और वह यत्न करने से घर में भी हो सकती है, अतएव समाधि के लिये स्थान की स्वच्छता आदि का नियम होने पर भी किसी पर्वत की कन्दरा आदि देशविशेष का नियम मानना ठीक नहीं।[५५७]

छान्दोग्य में आया है कि सम्पूर्ण आयु वेदाध्ययन तथा उपासना करता हुआ ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है,[५५८] इस वाक्य से स्पष्ट है कि मुक्ति के साधन ब्रह्मोपासना का यावदायुष ही अनुष्ठान करना उचित है, इससे मायावादियों का यह कथन भी निस्सार हो जाता है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर फिर उपासना आदि कर्मों की आवश्यकता नहीं।[५५९] उस परमात्मा का ज्ञान होने पर क्रियमाण तथा संचित पापकर्मों का जीव के साथ असम्बन्ध तथा विनाश हो जाता है।[५६०] उपासक को ज्ञान होने पर क्रियमाण कर्मों का स्पर्श नहीं होता इसी प्रकार संचित पुण्य कर्मों का भी स्पर्श नहीं होता अर्थात् उसके संचित पुण्यकर्म क्रियमाण कर्मों की भाँति स्पर्श न करते हुए ज्यों के त्यों बने रहने से मुक्ति में प्रतिबन्धक नहीं होते, और जब इसका शरीर छूट जाता है तब यह मुक्त हो जाता है।

इस पर पूर्व पक्ष शंका करता है कि जब ज्ञान से पुण्य कर्मों का अश्लेष

---

५५५. ध्यानाच्च।। वे०द० ४/१/८

५५६. अचलत्वं चापेक्ष्य।। वे०द० ४/१/९

५५७. यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।। वे०द० ४/१/११

५५८. स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमधिसम्पद्यते।। छा० ८/१५/१

५५९. आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।। वे०द० ४/१/१२

५६०. तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।। वे०द० ४/१/१३

और पाप कर्मों का नाश हो जाता है तो फिर उसका यह शरीर ही नष्ट क्यों नहीं हो जाता क्योंकि यह तो पुण्य-पाप का फल है? इसका समाधान प्रस्तुत करता हुआ सूत्रकार कहता है कि मुक्ति में प्रतिबन्धक केवल प्रारब्ध कर्म ही हैं संचित कर्मो का ज्ञान से अश्लेष तथा विनाश होने पर भी इसका शरीर नष्ट नहीं होता और ना ही प्रारब्ध कर्मों के भोगे बिना इसकी मुक्ति हो सकती है अर्थात् ज्ञान होने से संचित पुण्य-पाप कर्मों के अश्लेष विनाश होने पर भी यह मुक्त नहीं होता, क्योंकि मुक्ति में प्रतिबन्धन जो प्रारब्ध होता है उनका भोग अभी तक शेष है, इसलिये संचित कर्मों का अश्लेष विनाश होने पर भी प्रतिबन्धक के बने रहने से जैसे मुक्ति नहीं होती वैसे ही शरीर भी नष्ट नहीं हो सकता।[५६१]

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" बृहदा० ४/४/२२ अर्थात् ब्राह्मण लोग उस परमात्मा को यज्ञ, दान तथा वेदाभ्यास से जानने की इच्छा करते हैं, इस प्रकार के वाक्यों में स्पष्टतया कथन किया है कि अग्निहोत्रादि कर्म ज्ञान की उत्पत्ति का साधन हैं, और इसी भाव को गीता के कई स्थलों में स्पष्टतया वर्णन किया है कि "यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेवतत्" अर्थात् यज्ञ दानादि कर्मों का कदापि त्याग न करें यह करना ही उचित है, इसी प्रकार यजुर्वेद में "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि मन्त्रों में यावदायुष कर्मों की कर्तव्यता पायी जाती है, इससे सिद्ध है कि ज्ञानोत्पत्ति के लिये अग्निहोत्रादि कर्म अवश्य कर्तव्य हैं त्याज्य नहीं।[५६२]

कई आचार्यों का कथन है कि जैसे अग्निहोत्रादि कर्म ज्ञान से पूर्व किये हुए ज्ञानोत्पत्ति के साधन हैं वैसे ही ज्ञान के पश्चात् किये हुए भी मुक्ति के साधन होते हैं क्योंकि जो ज्ञान को सिद्ध कर सकते हैं वह ज्ञान से सिद्ध होने वाली मुक्ति को भी सिद्ध कर सकते हैं, और यह बात वादरायण तथा उनके शिष्य जैमिनि दोनों को इष्ट है।[५६३] तथा जो कर्म विद्या से किये जाते हैं निश्चय करके वहीं फल वाले होते हैं, वह फल ही मुक्ति है।[५६४]

ब्रह्मज्ञान के अनन्तर वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान करते रहने पर जब इसके प्रारब्धकर्म शेष नहीं रहते तब वह इस भौतिक शरीर को छोड़कर ब्रह्म को प्राप्त

---

५६१. अनारब्धकार्ये एवतु पूर्वे तदवधेः।। वे०द० ४/१/१५
४६२. अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैवतद्दर्शनात्।। वे०द० ४/१/१६
५६३. अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः।। वे०द० ४/१/१७
५६४. यदेवविद्ययेति हि।। वे०द० ४/१/१८

हो जाता है और ब्रह्म प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है।[५६५]

जब पुरुष आसन्नमृत्यु होता है तो सबसे प्रथम उसका वागिन्द्रिय भाषणरूप व्यापार से निवृत्त हो जाता है जिसको देखकर उसके सम्बन्धिवर्ग कहते हैं कि अब यह बोलने में असमर्थ है, इससे सिद्ध है कि आसन्नमृत्यु पुरुष के वागिन्द्रिय की वृत्ति मन में लय हो जाती है, क्योंकि मन ही सब इन्द्रियों में प्रधान तथा उनकी विषयों में होने वाली प्रवृत्तियों का सहकारी है, और श्रुति से भी उसका मन में लय होना पाया ज़ाता है।[५६६] छान्दोग्य में आता है कि हे सौम्य! जब पुरुष मृत्यु को प्राप्त होने लगता है तब वागिन्द्रिय का मन में, मन का प्राण में, प्राण का तेज में और तेज का ब्रह्म में लय हो जाता है,[५६७] इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मन ही वागिन्द्रिय के लय का स्थान है। इनसे सब इन्द्रिय वृत्तियों का वाणी के पीछे निश्चय करके मन ही में लय होता है।[५६८]

छान्दोग्य में आया है "मनः प्राणे" अर्थात् मन ही प्राण में लय होता है, इस वाक्य से स्पष्ट है कि जिस मन में वागादि सब इन्द्रियवृत्तियों का लय कथन किया गया है उसका लय मुख्य प्राण में होता है, क्योंकि प्राण के बिना मन की स्थिति नहीं हो सकती, जैसा कि बृहदारण्यक के शाकल ब्राह्मण में स्पष्ट है।[५६९]

निश्चय करके नाड़ी प्रवेश से पूर्व विद्वान् तथा अविद्वान् की उत्क्रान्ति समान है और सूक्ष्म शरीर का त्याग न करके विद्वान् को अमृतभाव की प्राप्ति होती है।[५७०] ब्रह्म में लय पर्यन्त ही अमृत पद की स्थिति है, क्योंकि मुक्त पुरुष का पुनः संसार में आना पाया जाता है।[५७१]

पूर्वपक्ष प्रश्न करता है कि देहत्याग के समय जीव के निकलने का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि नाड़ी छिद्रों द्वारा निर्गमन करते हुए जीव का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं होता कि प्रथम तो जीवात्मा का

---

५६५. भोगेनत्विरेक्षपयित्वा सम्पद्यते।। वे०द० ४/१/१९

५६६. वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च।। वे०द० ४/२/१

५६७. अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।। छा० ६/८/६

५६८. अत एव सर्वाण्यनु।। वे०द० ४/२/२

५६९. तन्मनः प्राण उत्तरात्।। वे०द० ४/२/३

५७०. समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य।। वे०द० ४/२/७

५७१. तदापीतेः संसारव्यपदेशात्।। वे०द० ४/२/८

अणु परिमाण है और दूसरा जिन भूतों से वेष्टित हुआ जीव प्रयाण करता है वह सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने के कारण द्व्यणुकादि पदार्थों की भाँति समीपवर्ती पुरुषों को उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती, परन्तु अनुमान द्वारा उसकी उपलब्धि में कोई बाधा नहीं।[५७२] सूक्ष्म होने के कारण स्थूल शरीर के नाश में लिङ्ग शरीर का नाश नहीं होता।[५७३] और निश्चय करके प्रत्यक्ष उपलभ्यमान स्थूल शरीरगत उष्णता इसी लिङ्ग शरीर की है, क्योंकि प्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है।[५७४]

प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध पाये जाने से विद्वान् पुरुष के सूक्ष्म शरीर का उत्क्रमण नहीं होता, यदि ऐसा कहा जाये तो ठीक नहीं, क्योंकि निषेधक वाक्य जीव से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध करते हैं।[५७५] बृहदारण्यक में आता है कि चक्षु, मूर्धा अथवा शरीर के अन्य अवयवों द्वारा निकलते हुए जीव के पीछे प्राण निकल जाते हैं और प्राणों के निकलने पर सब इन्द्रिय उनके साथ ही उत्क्रमण कर जाते हैं, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्राणों का स्थूल शरीर से उत्क्रमण होता है लिङ्ग शरीर से नहीं।[५७६]

प्राणों का ब्रह्म में लय होता है।[५७७] प्रश्नोपनिषद् में इसको बताया गया है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र को प्राप्त होकर उसमें लय हो जाती हैं, इसी प्रकार विद्वान् पुरुष के पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और अन्तःकरण यह सब मिलकर षोडशकला ब्रह्म में लय हो जाती है, अर्थात् जब तक मुक्त पुरुष मुक्ति के सुख को भोगता है तब तक उसका उक्त कलाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता तब वह अपने स्वरूपभूत सामर्थ्य से ही शब्दादि विषयों का अनुभव करता हुआ स्वछन्द विचरता है।[५७८]

इन्द्रियादि जड़ पदार्थ ब्रह्म में लय होने से ब्रह्मरूप हो जाते हैं अथवा भिन्न

---

५७२. सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।। वे०द० ४/२/९
५७३. नोपमर्देनातः।। वे०द० ४/२/१०
५७४. अस्यैव चोपपत्तेरेष उष्मा।। वे०द० ४/२/११
५७५. प्रतिषेधादितिचेन्न शारीरात्।। वे०द० ४/२/१२
५७६. चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यस्तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति।। बृहदा० ४/४/२
५७७. तानिपरे तथाह्याह।। वे०द० ४/२/१५
५७८. एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः सयथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तंगच्छन्ति।। प्रश्नो० ६/५

रहते हैं? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहता है कि इन्द्रियादि जड़ पदार्थों का ब्रह्म के साथ अविभाग होता है।[५७९] प्रलयकाल में इन्द्रियादि सब पदार्थ सूक्ष्म रूप से अविभक्त होकर ब्रह्म के आश्रित रहते हैं उनका सर्वथा ब्रह्म रूप हो जाना अभिप्रेत नहीं, क्योंकि चेतन ब्रह्म किसी पदार्थ का उपादान कारण नहीं, इसलिए उनको सूक्ष्म रूप से ब्रह्माश्रित मानना ही उचित है। ब्रह्म विद्या के सामर्थ्य और ब्रह्म प्राप्ति के स्मृति योग से जिसके लिये मोक्षमार्ग का द्वार प्रकाशित हो गया है और जिस पर परमात्मा की पूर्णतया कृपा है वह शुद्ध हृदयरूप आयतन वाला उपासक पुरुष सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उत्क्रमण करता है।[५८०] देहत्याग काल में जीव सूर्य की किरणों द्वारा उत्क्रमण करता है।[५८१]

इस पर पूर्वपक्ष शंका करता है कि रात्रिकाल में मृत उपासक पुरुष का सूर्य की किरणों के साथ सम्बन्ध न होने से उसको मुक्ति की प्राप्ति न होगी? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि रात्रिकाल में उत्क्रमण करने वाले उपासक पुरुषों को मुक्ति रूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकती यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि सूक्ष्मरूप से सूर्य का सम्बन्ध सब शरीरों के साथ बना रहता है।[५८२] जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि वह किरणें उस आदित्य से चारों ओर विस्तीर्ण होकर इन नाड़ियों में प्रविष्ट होती हैं और नाड़ियों से निकलकर बाहर शरीर में फैल जाती हैं और फिर उसी आदित्य में प्रविष्ट होती हैं,[५८३] इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि रात्रिकाल में प्राण त्यागने वालों के साथ भी सूर्य की किरणों का सूक्ष्म सम्बन्ध बना रहता है, इसलिये उपासक की मुक्ति में कोई बाधा नहीं। और स्मृति के विषयभूत देवयान तथा पितृयान रूप दो योगी के लिये कथन किये गए हैं।[५८४]

देवयान तथा पितृयान—अग्न्यादि लोकों द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[५८५] कौषीतकी में वर्णन आया है कि उपासक पुरुष देवयान मार्ग का अवलम्बन

---

५७९. अविभागो वचनात्।। वे०द० ४/२/१६

५८०. योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया।। वे०द० ४/२/१७

५८१. रश्म्यनुसारी।। वे०द० ४/२/१८

५८२. निशिनेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति। वे०द० ४/२/१९

५८३. अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः।
आभ्योनाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नदित्ये सृप्ताः।। छा० ८/६/२

५८४. योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्त्ते चैते।। वे०द० ४/२/२१

करके अग्नि से वायु लोक को, वायु से वरुण लोक को, वरुण से इन्द्र लोक को, इन्द्र से प्रजापति लोक को और प्रजापति लोक से ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है,[५८६] इस प्रकार अग्न्यादि लोकों की उत्तरोत्तर प्राप्ति द्वारा विद्वान् को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है और इसी का नाम देवयान मार्ग है, परन्तु यहाँ अग्न्यादि शब्दों से लोक विशेष अभिप्रेत नहीं जैसा कि पौराणिक लोग मानते हैं किन्तु "लोक्यत इति लोकः" अर्थात् जो अनुभव से प्राप्त हो उसका नाम लोक है, इस व्युत्पत्ति से लोक शब्द अवस्था विशेष का वाचक है अर्थात् मुक्त पुरुष को ब्रह्मवत् अपहतपाप्मा होने के लिये प्रथम अग्नि के समान प्रकाशमान होना आवश्यक है, या यों कहो कि जब तक पापवासनाओं को भस्म करने वाली ज्ञानग्नि प्रदीप्त न हो तब तक उपासक कदापि मुक्त नहीं हो सकता, इसी अभिप्राय से देवयान मार्ग में प्रथम उसको अग्निलोक की प्राप्ति कथन की गई है, अतएव सदसद् के विवेचन में वायु के समान शीघ्रगामी होने से वायुलोक सर्वश्रेष्ठ होने से वरुण लोक अणिमादि अष्टसिद्धिरूप ऐश्वर्यवाला होने से इन्द्रलोक और सबका स्वामी होने से प्रजापति लोक की प्राप्ति का वर्णन किया गया है और इसके अनन्तर निष्पाप होने से उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति अवश्यंभावी है, इस रीति से अग्न्यादि लोकों को उपासक की अवस्थायें वर्णन की गई हैं जिसके मर्म को न समझकर आधुनिक लोगों ने लोकलोकान्तरों की कल्पना कर ली है जो युक्ति युक्त न होने से उचित नहीं।

साधारण और विशेष तर्क पाये जाने से अग्नि के अनन्तर वायु का कथन है[५८७] वायु के अनन्तर वरुण लोक का कथन है,[५८८] अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म लोक को प्राप्त होने वाले जीवों की अग्नि लोकादि अवस्थायें शास्त्र सिद्ध होने के कारण आतिवाहिक कहलाती हैं, क्योंकि इन्हीं अवस्थाओं के उत्तरोत्तर लाभ से जीव मोक्षपद को प्राप्त होता है और यही अवस्थायें लिङ्ग शरीर की भाँति मुक्त पुरुष के दिव्य शरीर कहाते हैं।[५८९] कर्मी तथा ज्ञानी दोनों के लिये अग्न्यादि लोक विशेषों की उपासना अज्ञानकारी होने से अतिवाहित शरीर की सिद्धि होती

---

५८५. अर्चिरादिना तत्प्रथितेः।। वे०द० ४/३/१

५८६. स एतं देवयानं पन्थानमासाद्यग्निलोकमागच्छति स वायु लोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्।। कौ० १/३

५८७. वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्।। वे०द० ४/३/२

५८८. तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात्।। वे०द० ४/३/३

५८९. आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्।। वे०द० ४/३/४

है।[५९०]

"ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया जीव ब्रह्म की एकता कथन करने से मुक्ति अनित्य नहीं हो सकती इस शंका का उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि जिस प्रकार राजा के अत्यन्त समीपवर्ती होने से मन्त्री को भी राजा कथन किया जाता है, इसी प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी अपहतपाप्मादि गुणों के धारण करने से मुक्त जीव ब्रह्म के अत्यन्त समीप हो जाता है और समीप होने से ही उसको ब्रह्म कहा जाता है,[५९१] वस्तुतः ब्रह्मरूप होने से श्रुति वाक्य का तात्पर्य नहीं, यदि ऐसा होता तो "ब्रह्मविदाप्नोति परं" ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों में भेद पूर्वक ब्रह्म प्राप्ति का निर्देश न किया जाता और ना ही श्वेताश्वतर में "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" स्पष्टतया यह प्रतिपादन किया जाता है कि जीव तथा ब्रह्म दो चेतन हैं जिनमें से एक अज्ञानी और दूसरा सर्वज्ञ सबको वश में रखने वाला है, इससे सिद्ध है कि जिन वाक्यों में ब्रह्मवित् पुरुष से अभेद प्रतिपादन किया गया है उनका औपचारिक अभेद से तात्पर्य है, इसलिए पृथक्-पृथक् हैं।

ब्रह्मादि लोक विशेषों के अधिष्ठाता देवों की उपासना द्वारा उन लोकों की प्राप्ति का नाम मुक्ति मानना इसलिये ठीक नहीं कि यदि वह लोक प्रकृति का कार्य होने से अपने-अपने अधिष्ठातृ देवों के साथ नष्ट हो जाते हैं और इनकी उपासना का निषेध भी पाया जाता है, और दूसरी बात यह है कि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्यों में स्पष्टतया ब्रह्म की प्राप्ति को ही मुक्ति रूप से वर्णन किया गया है इसलिये लोक विशेष की कल्पना करके तदधिष्ठात् देवों की उपासना द्वारा तत्तत् लोक की प्राप्ति रूप मुक्ति मानना निर्युक्तिक होने से उचित नहीं।[५९२]

आचार्य जैमिनि का कथन है कि मुमुक्षु पुरुष उपासना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होता है, इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की प्राप्ति का कथन पाये जाने के कारण लोक विशेष की प्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं।[५९३]

---

५९०. उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः।। वे०द० ४/३/५

५९१. सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः।। वे०द० ४/३/९

५९२. कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्।। वे०द० ४/३/१०

५९३. परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्।। वे०द० ४/३/१२

प्रकृति के कार्य भूत जड़ पदार्थों की उपासना का विधान किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता प्रत्युत उसका स्पष्ट निषेध पाया जाता है, जैसा कि यजुर्वेद में स्पष्ट आता है "न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यश:" अर्थात् जिसका नाम महद्यश है उस परमात्मा की कोई मूर्ति नहीं इस वाक्य से स्पष्ट है कि यदि किसी प्राकृत पदार्थ की उपासना अभिप्रेत होती अथवा ईश्वर को साकार मानकर उसकी उपासना में शास्त्र का तात्पर्य होता तो जड़ पदार्थों की उपासना करने वाले पुरुषों को अन्धकार की प्राप्ति कथन न की जाती और ना ही मंत्र से परमात्मा की प्रतिमा का निषेध किया जाता, इससे सिद्ध है कि प्राकृत पदार्थ उपासना के विषय नहीं, किन्तु एकमात्र ब्रह्म ही सर्वोपरि उपास्य देव है।[५९४]

वादरायण आचार्य इस विषय में कहते हैं कि ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म को और जड़ पदार्थों की उपासना करने वाले जड़ बुद्धि को प्राप्त होते हैं, इसलिए जो पुरुष प्रतीकोपासना नहीं करते वही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं अन्य नहीं। और शास्त्र में ब्रह्म प्राप्ति के दो ही दोष रहित मार्ग पाये जाते हैं एक कर्मयोग दूसरा ज्ञानयोग इन दोनों में प्रतीकोपासना किसी के अन्तर्गत नहीं,[५९५] इसी अभिप्राय को गीता में इस प्रकार से बताया गया है–हे अर्जुन्! शास्त्र में दो प्रकार की ब्रह्म प्राप्ति की मर्यादा पाई जाती है अर्थात् योगी लोग कर्मयोग से और ज्ञानी लोग ज्ञानयोग से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, ब्रह्म प्राप्ति का अन्य कोई मार्ग नहीं,[५९६] इससे सिद्ध है कि मूर्ति पूजा को ब्रह्म प्राप्ति का साधन मानना कल्पना मात्र है तथा शास्त्र में ब्रह्मोपासना की विशेषता पाये जाने से भी इस अर्थ की सिद्धि होती है।[५९७] जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में आता है कि ब्रह्म ही सुख रूप है उससे भिन्न जड़ प्रतीकादिकों में सुख नहीं, इसलिये वही जानने योग्य तथा उपासना योग्य है।[५९८]

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन मिलता है कि देहत्याग के अनन्तर मुक्त जीव

---

५९४. न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः।। वे०द० ४/३/१४

५९५. अप्रतीकालम्बनान्नयतीति वादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च।। वे०द० ४/३/१५

५९६. लोकेस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। गीता० ३/३

५९७. विशेषं च दर्शयति

५९८. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव।
सुखं भूमा एव तु विजिज्ञासितव्यः।। छा० ७/३/१

ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से सम्पन्न होता है[५९९] अर्थात् अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हुआ उसके समान अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके परमानन्द को प्राप्त होता है और इसी का नाम "तद्धर्मतापत्ति" है इससे यह भी पाया गया कि ऐश्वर्यादि का लाभ ही मुक्ति में अपूर्वता है, और जो मायावादियों का कथन है कि मुक्ति में कोई अपूर्वता नहीं किन्तु नित्यप्राप्ति की प्राप्ति ही मुक्ति है सो ठीक नहीं, क्योंकि कर्म साध्य पदार्थ नित्य प्राप्त नहीं हो सकता प्रत्युत कर्मानुष्ठान काल के उत्तर ही उसकी प्राप्ति होती है, जैसा कि पाचक व्यापार से पाकादि क्रियाओं में देखा जाता है, और मुक्ति का कर्म साध्य होना विस्तार पूर्वक वर्णन पीछे हो चुका है, इसलिये उसको नित्य प्राप्त मानना ठीक नहीं, यदि शास्त्र का तात्पर्य मायावादियों की मुक्ति में होता तो उक्त विषय वाक्य में स्वरूपाविर्भाव को मोक्षरूप वर्णन न किया जाता और ना ही उसके लिए शमदमादि साधनों का उपदेश पाया जाता, पर ऐसा न होने से सिद्ध है कि एक अपूर्व अवस्था का नाम मुक्ति है प्राप्ति साधकों द्वारा होती है।[६००]

पूर्व पक्ष शंका करता है कि जब मुक्ति अवस्था में जीव अपने स्वरूप से स्थिर होता है और स्वरूप उसका नित्य प्राप्त है तो फिर मुक्ति में अपूर्वता ही क्या? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि प्रतिज्ञा पाये जाने से मुक्त पुरुष अपूर्व सामर्थ्यवाला होता है।[६०१] जिज्ञासु पुरुष जिसके जानने की इच्छा करता है जो उसको प्रथम प्राप्त नहीं और उनके प्राप्त कर लेने से मुक्त पुरुष को अपूर्व सामर्थ्य का लाभ होता है, इसी भाव से श्रुति वाक्य में "स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते" कहा गया है कि केवल स्वरूप भूत सामर्थ्य की उपलब्धि के अभिप्राय से नहीं। तात्पर्य यह है कि मन्द कर्मों के क्षय पूर्वक ब्रह्म साक्षात्कार से अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करके ऐश्वर्य लाभ करना ही मुक्ति है, इसलिये अपूर्वता न होने के कारण नित्य प्राप्त की प्राप्ति को मुक्ति मानना ठीक नहीं।

अत्यन्त समीपता के अभिप्राय से मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन किया गया है।[६०२] मुण्डक में बताया गया है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र को

---

५९९. एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय पदं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।। छा० ८/३/४

६००. सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।। वे०द० ४/४/१

६०१. मुक्तः प्रतिज्ञानात्।। वे०द० ४/४/२

६०२. अविभागेन दृष्टत्वात्।। वे०द० ४/४/४

प्राप्त होकर अपने नाम रूप से रहित हो जाती हैं, इसी प्रकार विद्वान् पुरुष नामरूपात्मक प्रपञ्च से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है अर्थात् मुक्ति अवस्था में उसका ब्रह्म से कोई भेद नहीं रहता।[६०३] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति उपासीत्" अर्थात् यह सबकुछ ब्रह्म है, इस प्रकार से उपासना करे "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह-नानेव पश्यति" वृह० ४/४/१९ अर्थात् जो ब्रह्म में नानापन देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् बारम्बार जन्म धारण करता है, इत्यादि वाक्यों में जो मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद कथन करके भेददर्शी की निन्दा की है वह शमविधि के अभिप्राय से है जीव ब्रह्म के भेद निषेध में तात्पर्य नहीं, क्योंकि अल्पज्ञ तथा अल्प शक्ति वाले जीव का सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा के साथ अभेद नहीं हो सकता।

आचार्य जैमिनि का मत है कि "निरंजनः परमं साम्यमुपैति" अर्थात् पुरुष अविद्यादि लेशों से रहित होकर ब्रह्म के समान भावों को प्राप्त होता है, इत्यादि तद्धर्मतापत्ति प्रतिपादक वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष ब्रह्म की समता को प्राप्त होता है, ब्रह्म नहीं होता।[६०४] आचार्य औडुलोमि का कथन है कि चेतनता अंश में जीव ब्रह्म दोनों समान हैं और स्वरूपभूत चैतन्य से ही जीव मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करता है, इसलिए उसको ब्रह्म का स्वरूप कहा जाता है वस्तुतः एकता के अभिप्राय से नहीं[६०५] तथा वादरायण आचार्य का यह मत है कि चाहे चेतनतामात्र से जीव ब्रह्म की समता कथन करें अथवा ऐश्वर्य लाभ से दोनों को सदृश मानें परन्तु अपहतपाप्मादि धर्मों को धारण करने से ही मुक्त जीव ब्रह्मवत् ऐश्वर्य वाला कहा जाता है, अन्यथा नहीं, इसलिये उक्त दोनों आचार्यों के मत का तात्पर्य में कोई विरोध नहीं, केवल मुक्त पुरुष ही समता के व्यापन करने में भेद है।[६०६]

श्रवण मनन तथा निदिध्यासनादि साधनों के सम्यक् अनुष्ठान द्वारा जब पुरुष मुक्ति अवस्था को प्राप्त होता है तब ब्रह्म के अपहतपाप्मादि गुणों को धारण करके ब्रह्मवत् हो जाता है और इस अवस्था में संकल्पमात्र से ही उसको सब

---

६०३. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। मुण्डक ३/३/८

६०४. ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः।। वे०द० ४/४/५

६०५. चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः।। वे०द० ४/४/६

६०६. एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं वादरायणः।। वे०द० ४/४/७

प्रकार का ऐश्वर्य उपस्थित होता है,[६०७] जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि जब वह पितृलोक की कामना वाला होता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित हो जाते हैं, उन पितरों से सम्पन्न होकर ऐश्वर्य को प्राप्त होता है,[६०८] इस प्रकार कथन करके फिर उपसंहार करते हुए कहा है कि उक्त कामनाओं के अतिरिक्त जिस-जिस पदार्थ की कामना करता है वह उसको संकल्प से ही प्राप्त हो जाते हैं और उनसे सम्पन्न होकर ऐश्वर्यवान् होता है[६०९] इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुष महान् ऐश्वर्य वाला होता है और यह ऐश्वर्य लाभ करने से ही स्वतन्त्र हो जाता है।[६१०]

आचार्य वादरि मुक्ति में शरीर का अभाव मानते हैं।[६११] उनका कथन है कि "अशरीर वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" अर्थात् शरीर से रहित हुआ मुक्त पुरुष विषय सम्बन्धी सुख-दुःखों से संयुक्त नहीं होता "मनसैतान्कामान्पश्यनरमते" अर्थात् मन से सब कामनाओं को प्राप्त होकर रमण करता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्ति पुरुष का शरीर नहीं होता वह अपने दिव्य सामर्थ्य से मुक्ति का ऐश्वर्य भोगता है। आचार्य जैमिनि मुक्तिम में सूक्ष्म शरीर का भाव मानते हैं।[६१२] उनके मत में "स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति" अर्थात् मुक्त पुरुष स्वस्वरूप से एक प्रकार का, संकल्प से दो प्रकार का और इसी प्रकार स्व सामर्थ्य से तीन प्रकार का हो जाता है, इत्यादि मुक्त पुरुष के सामर्थ्य विषयक विकल्पों से स्पष्ट है कि उसके साथ सूक्ष्म शरीर तथा इन्द्रियों का सद्भाव बना रहता है, इसी अभिप्राय से ब्रह्मसूत्र ४/२/१३ में जीव की उत्क्रान्ति का वर्णन करते हुए देवयान मार्ग द्वारा मुक्ति को प्राप्त होने वाले जीव के साथ लिङ्ग शरीर की उत्क्रान्ति कथन की गई है कि "न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति" अर्थात् उस मुक्त पुरुष से प्राण पृथक् नहीं होते अर्थात् उसके साथ ही लिङ्ग शरीर गमन करता है।

---

६०७. सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः।। वे०द० ४/४/८

६०८. स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्यपितरः
समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नोमहीयते।। छान्दो० ८/२/१

६०९. यं यमन्तमभिकामोभवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते।

६१०. अत एव चानन्याधिपतिः।। वे०द० ४/४/९

६११. अभावं बादरिराहह्येवम्।। वे०द० ४/४/१०

४१२. भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।। वे०द० ४/४/११

इस अर्थ में आचार्य वादरायण स्वसिद्धान्त कथन करते हैं कि जिस प्रकार एक ही द्वादशाह याग की अहीन तथा सत्र संज्ञा होती है इसी प्रकार शरीर तथा अशरीर बोधक वाक्यों से मुक्ति में शरीर का भाव तथा अभाव दोनों होते हैं अर्थात् शुद्ध सामर्थ्ययुक्त स्वरूप के होने से शरीर का भाव और भौतिक शरीर के न होने से शरीराभाव होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं।[६१३]

इस पर पूर्व पक्ष आक्षेप करता है कि शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव काल में मुक्त पुरुष ऐश्वर्य का उपभोग कैसे करता है? इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहता है कि जिस प्रकार स्थूल शरीर के साथ विषयों का सम्बन्ध न होने पर भी स्वप्न काल में अनेक प्रकार का उपभोग पाया जाता है इसी प्रकार शरीर के बिना मुक्त पुरुष ऐश्वर्य का उपभोग करता है।[६१४]

शरीर के होने वाले काल में जाग्रत अवस्था की भाँति मुक्त पुरुष का उपभोग होता है।[६१५] जिस प्रकार एक परिच्छिन्न देश में वर्तमान प्रदीप का प्रकाश विस्तृत हो जाता है, उसी प्रकार अणुपरिमाण होने पर भी परमात्म सम्बन्धी अपहतपाप्मादि धर्मों के कारण करने से मुक्त पुरुष का अपूर्व सामर्थ्य हो जाता है जिससे वह ऐश्वर्य में अध्याहतगति होता है।[६१६]

बृहदारण्यक में कहा गया कि "प्रज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" अर्थात् परमात्मा के साथ मिला हुआ जीव बाह्य तथा आन्तर किसी विषय का अनुभव नहीं करता, इत्यादि वाक्यों में जो ईश्वर विषयक ज्ञान का भाव कथन किया है वह सुषुप्ति तथा मूर्च्छा की अपेक्षा से है, इसलिये उसके ऐश्वर्य का अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में निमग्न हो जाने के कारण यहाँ बाह्य ज्ञान के अभाव का कथन है मुक्ति अवस्था में जीव के ऐश्वर्याभाव के अभिप्राय से नहीं।[६१७]

मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य ऐसा विशाल हो जाता है कि वह सब लोकलोकान्तरों में स्वच्छन्द विचरता हुआ अपने सत्य संकल्प से ही शब्दादि दिव्य विषयों का

---

६१३. द्वादशाहवदुभयविधं वादरायणोऽतः।। वे०द० ४/४/१२
६१४. तश्रान्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः।। वे०द० ४/४/१३
६१५. भावे जाग्रद्वत्।। वे०द० ४/४/१४
६१६. प्रदीपावेशस्तथा हि दर्शयति।। वे०द० ४/४/१५
६१७. स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतंहि।। वे०द० ४/४/१६

उपभोग कर सकता है,[६१८] जैसा कि "श्रृण्वन् श्रोत्रं भवति" अर्थात् जब श्रवण करना चाहता है तब वह संकल्प से ही श्रोत्र रच लेता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है कि परन्तु इतना ऐश्वर्य लाभ करने पर भी जगत् की उत्पत्ति आदि का सामर्थ्य उसको नहीं होता, क्योंकि वह कर्म एकमात्र परमात्मा के स्वाभाविक ज्ञान बल से साध्य है और यही बात मुक्त पुरुष के प्रकरण से ऐसे ही पाई जाती है कि सृष्टि आदि की रचना के व्यापार को छोड़कर शेष ऐश्वर्य में मुक्त पुरुष यथा कामाचार होता है, दूसरी बात यह है कि जहाँ-जहाँ सृष्टि का प्रकरण आया है वहाँ परमात्मा ही सृष्टि कर्ता हर्ता कथन किया गया है ऐश्वर्य प्राप्त मुक्त पुरुष नहीं, यदि मुक्त पुरुष के ऐश्वर्य में सृष्टि आदि का उत्पन्न करना शास्त्र को अभिप्रेत होता तो एकमात्र परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता हर्ता प्रतिपादन न किया जाता पर किया है, इससे सिद्ध है कि सृष्टि आदि व्यापार से अतिरिक्त ऐश्वर्य में मुक्त पुरुष स्वतन्त्र होता है।

तैतिरीय उपनिषद् में आया है "आप्नोति स्वराज्यम्" अर्थात् मुक्त पुरुष स्वराज्य को प्राप्त होता है, "सः स्वराड् भवति" छा० ७/२५/२ अर्थात् वह स्वयं राजा होता है, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य भी ईश्वर की भाँति निःसीम है? यह कथन इसलिये ठीक नहीं कि मुक्त पुरुष को स्वाधिकार में स्वराट् माना गया है सर्वथा ईश्वर के समान शक्तिवाला होने के अभिप्राय से नहीं अर्थात् जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा के अधिकार में रहने वाले माण्डलिक राजा भी स्वाधिकार में स्वतन्त्र होने से राजवत् सिंहासनादि उपकरणों से युक्त होने और अपनी माण्डलिक प्रजा पर वैसे ही शासन करते हैं परन्तु चक्रवर्ती के समान अधिकार वाले नहीं होते, इसी प्रकार मुक्त पुरुष ब्रह्म के समान सत्य संकल्प अपहतपाप्मत्व तथा सर्वगन्धत्व आदि धर्मों में स्वतन्त्रता लाभ करने पर भी सृष्टिकर्तृत्वादि धर्मों में स्वतन्त्र नहीं किन्तु वह स्वाधिकार में मुक्ति विषयक ऐश्वर्य के भोग से स्वराट् कहाता है।[६१९]

तैतिरीय में वर्णन आता है कि वह जीवात्मा इन्द्रियगोचर शरीर रहित सर्वाधार तथा अभयरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित होकर ही अभय पद को प्राप्त होता है।[६२०] तथा आगे आगे आता है कि रसरूप परमात्मा के आनन्द को प्राप्त होकर

---

६१८. जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।। वे०द० ४/४/१७

६१९. प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकरिमण्डलस्थोक्ते।। वे०द० ४/४/१८

६२०. यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयंगतो भवति।। तैत्ति० २/७/१५

ही जीव आनन्दित होता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य कर्मजन्य और परमात्मा होता है, इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य कर्मजन्य और परमात्मा का स्वाभाविक है जिसको प्राप्त होकर ही जीव आनन्दी हो सकता है, अन्यथा नहीं यदि ऐसा न होता तो परमात्मा के आनन्द से जीवात्मा को आनन्दी न कहा जाता और ना ही जीवात्मा की मुक्ति से पुनरावृत्ति पाई जाती, इससे सिद्ध है कि मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य कर्मजन्य होने से विकारी तथा ईश्वर का स्वाभाविक होने से नित्य है।[६२१]

कठोपनिषद् में ईश्वर के ऐश्वर्य को बताते हुए कहा है कि उस परमात्मा में सूर्य, चाँद तथा तारागण प्रकाश नहीं कर सकते और ना ही बिजली उसमें प्रकाश कर सकती है, किन्तु उस स्वयंप्रकाश परमात्मा की दीप्ति से ही यह सब चराचर जगत् प्रकाशित होता है।[६२२] जैसा कि "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" अर्थात् परमात्मा के भय से वायु बहता और इसी के भय से सूर्य उदय होता है। इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि परमात्मा का ऐसा सर्वोपरि ऐश्वर्य है जिसके शासन में सब चराचर जगत् अपनी मर्यादा से अणुमात्र भी प्रच्युत नहीं हो सकता।

भोगमात्र में समता पाये जाने से मुक्त पुरुष का ऐश्वर्य सातिशय है।[६२३] "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणाविपश्चिता" अर्थात् मुक्त पुरुष मुक्ति अवस्था में बह्म के आनन्द को भोगता है, इत्यादि वाक्यों में भोग मात्र के अभिप्राय से युक्त पुरुष के ऐश्वर्य की आंशिक समता प्रतिपादन की गई है अर्थात् जिस प्रकार परमात्भा स्वरूप से आनन्दी है इसी प्रकार मुक्त पुरुष परमात्मा से ऐश्वर्य प्राप्त कर आनन्दी होता है, इतने अंश में मुक्त की ईश्वर के साथ समता है सृष्टिकर्तृत्वादि धर्मों में नहीं, इसलिये मुक्त जीव का ऐश्वर्य सातिशय और ईश्वर का निरातिशय होता है।

वेदान्त सूत्र के अन्तिम सूत्र में स्पष्ट किया है कि मुक्ति में ब्रह्म ध्यान की आवृत्ति नहीं होती है,[६२४] ऐसा प्रमाण श्रुति में मिलता है। अनावृत्ति शब्द का दोबारा आना यह संकेत करता है कि ग्रन्थ की समाप्ति सम्पन्न होती है। छान्दोग्योपनिषद्

६२१. विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह।। वे०द० ४/४/१९
६२२. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।। कठ० ५/१५
६२३. भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च।। वे०द० ४/४/२१
६२४. अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।। वे०द० ४/४/२२

में भी आया है कि मोक्ष के साधन स्वाध्याय आदि के करने से मुमुक्षु पुरुष को ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है। मुक्ति के काल की ओर संकेत करते हुए कहा है कि "यावद् आयुषं ब्रह्मलोकं न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते" अर्थात् मुक्ति के नियत काल तक पुनर्जन्म नहीं होता है।[६२५]

गीता में इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सब सब जन्मों से जीवों की पुनरावृत्ति होती है, परन्तु ईश्वर को प्राप्त होकर प्राकृत पुरुषों की भाँति पुनः जन्म नहीं होता।[६२६] यहाँ पर भी यह अभिप्राय है कि सामान्य पुरुषों की तरह मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है अर्थात् जन्म-मरण का अनादि चक्र नहीं रहता है। जन्म-मृत्यु, मृत्यु और जन्म का जो निरन्तर प्रवाह चलता है, वह समाप्त होकर मुक्ति में निरन्तर मुक्ति की आयु पर्यन्त ब्रह्म स्थिति बनी रहती है।

वेदान्तदर्शन अथवा ब्रह्मसूत्र का वास्तविक अभिप्राय क्या है, यह जानना अत्यधिक कठिन है। इसी ब्रह्मसूत्र में से आचार्य शंकर ने अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया है। आचार्य रामानुज ने ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) का भाष्य विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन के रूप में भाष्य किया है। यह कहना अतिश्योक्ति पूर्ण नहीं होगा की भाष्यकारों ने वास्तविक वेदान्तदर्शन के स्वरूप का विलोप सा कर दिया है इन तीनों आचार्यों के अर्थात् अद्वैतवेदान्त, विशिष्टाद्वैत और द्वैतवाद दर्शनों का विस्तार पूर्वक वर्णन मध्यकालीन आचार्यों का दर्शन अगले खण्ड में विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है, इसलिये ब्रह्मसूत्र के दर्शन का प्रतिपादन किसी भाष्य के अनुसार न करके सूत्रों को आधार मानकर किया गया है।

---

६२५. एवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।। छा० ८/१५/१

६२६. आब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। गीता० ८/१६

चतुर्थ अध्याय
भगवद्गीता दर्शन

निष्कामकर्म

भगवद्गीता का आविर्भाव महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से माना जाता है। वस्तुतः यह महाभारत के भीष्मपर्व का एक अंश है। गीता के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह सबसे अद्भुत, सुन्दर यथार्थता पर आधारित एक दार्शनिक काव्य है। जो शायद ही अन्य किसी भाषा में इस प्रकार का काव्य लिखा गया हो।

गीता का उपदेश वस्तुतः कर्म करने का पथ है। गीता द्वारा आदेश दिया गया है कि कर्म ही के द्वारा समस्त विश्व के साथ हमारा सम्बन्ध स्थिर रहता है। नैतिकता की समस्या केवल मानवीय जगत् से ही सम्बन्ध रखती है। जगत् के समस्त पदार्थों में केवल मनुष्य की ही आत्मा ऐसी है, जो अपनी जिम्मेदारी का विचार रखती है।[१] मनुष्य की महत्वाकांक्षा आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए होती है, किन्तु वह जगत् के भौतिक तत्त्वों से इसे प्राप्त नहीं कर सकता।[२] जिन सुखों की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न करता है वे विभिन्न प्रकार के हैं। भ्रान्त मन एवं मिथ्या प्रकार की इच्छाओं से जिस सुख की प्राप्ति होती है उसमें तो अधिकतर तमाशा ही रहता है, और इन्द्रियों से जो सुख प्राप्त होता है उसमें रजोगुण अधिक रहता है और आत्मज्ञान का जो सुख है उसमें सत्त्वगुण का भाव अधिकांश में रहता है। सबसे उन्नत कोटि का सन्तोष तभी हो सकता है कि जब

---

१. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमद्य-गच्छति।। गीता २/७१।।

२. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणामपि विचाल्यते।। गीता० ६/२२।।

मनुष्य अपने को एक स्वतन्त्र कर्त्ता समझना छोड़कर यह अनुभव करने लगता है कि ईश्वर अपनी अनन्त कृपा से जगत् का मार्ग प्रदर्शन करता है। मनुष्य के अन्तरात्मा को यह देखकर परम् सन्तोष होता है कि इस जगत् में भी आत्मा का निवास है। सत्कर्म वह है जो मनुष्य को मोक्ष प्राप्त कराने और आत्मा को पूर्णता प्राप्त कराने में सहायक होता है।

गीता में कहा गया है कि कर्म को अनादि माना गया है और जगत् का कार्य ठीक किस प्रकार से होता है, समझना कठिन होता है। सृष्टि के अन्त में समस्त जगत् एक सूक्ष्म कर्मरूपी बीज की अवस्था में विद्यमान रहता है और अगली सृष्टि में अंकुर के रूप में प्रस्फुटित होने के लिए उद्यत रहता है। चूँकि संसार की प्रक्रिया भगवान् के ऊपर निर्भर है, हम उसे कर्म का अधिपति भी कह सकते हैं। हमें कोई ना कोई कर्म करना ही पड़ता है। बिना कर्म किये कोई प्राणी नहीं रह सकता है। किन्तु हमें यह देख लेना आवश्यक है कि हमारा आचरण धर्म का हित-संपादन करने वाला हो, जिसका परिणाम आध्यात्मिक शान्ति और सन्तोष की प्राप्ति है। कर्ममार्ग आचरण का वह मार्ग है जिसके द्वारा सेवा के लिए उत्सुक व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

राधा कृष्णन् ने इसको स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिससे हमारा ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति के साथ यथार्थ ऐक्य भाव अभिव्यक्त हो सके वही शुद्ध आचरण है, और अशुद्ध आचरण वह है जो यथार्थता के इस अनिवार्य संगठन के सम्पादन में असमर्थ हो। विश्व का एकत्व आधारभूत सिद्धान्त है कि जिससे पूर्णता की ओर प्रगति हो सके वही पुण्य है और जिसकी संगति इसके साथ ना बैठे वह पाप है। बौद्ध धर्म और गीता में हमें निश्चय दिलाया गया है कि यद्यपि हम अपने प्रयत्न में असफल रह जाये, परन्तु प्रधान दैवीय प्रयोजन का कभी नाश नहीं होता। इससे यह लक्षित होता है कि प्रकट रूप में भले ही विरुद्ध भाव प्रतीत होता हो, जगत् की आत्मा न्यायकारी है। मनुष्य अपनी नियति को पूर्णता तक पहुँचा देता है, जब वह ईश्वर के बढ़ते हुए प्रयोजन का साधन बन जाता है।

गीता कहती है कि लोक संग्रह अथवा जगत् की एकता रूपी संघटन पूर्वपुरुष की आत्मा जगत् में कार्य करती है। पुण्यात्मा व्यक्ति को इसके साथ सहयोग करना चाहिए और संसार मात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। गीता वैयक्तिक दावों का खण्डन करती है। समाज में जो- जो सर्वश्रेष्ठ

मनुष्य हैं उनके ऊपर सबसे अधिक कर्तव्य का भार है। भ्रान्त जीवों के उद्योग यह उपलक्षित करते हैं कि पाप पर विजय पाना है। पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने से हम नहीं बच सकते। दुविधा में पड़े अर्जुन को कृष्ण ने युद्ध करने की प्रेरणा दी–न तो यश प्राप्ति की आकांक्षा से और न राज्य की लालसा से, बल्कि धर्म के विधान को स्थिर करने के लिए। किन्तु जब हम अन्याय के प्रति युद्ध करते हैं तो हमें न तो वासनावश और न अज्ञानवश ऐसा करना चाहिए। जिससे शोक एवं अशांति उत्पन्न होती है, अपितु ज्ञानपूर्वक और सबके प्रति प्रेम रखते हुए अन्याय के साथ युद्ध करना चाहिए।

इन्द्रियनिग्रह धर्मात्मा पुरुष का विशेष लक्षण बन जाता है कि वासना हमारे धार्मिक स्वरूप की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लेती है। इसके कारण विवेकशक्ति चेतनाशून्य हो जाती है और तर्क शक्ति पर भी प्रतिबन्ध लग जाता है। मन की अनियन्त्रित प्रेरणाओं को उद्‌गम रूप में खुला छोड़ देने से शरीर के अन्दर निवास करने वाली आत्मा दास बन जाती है।

गीता हमें अनासक्ति के भाव को विकसित करने तथा कर्मफल के प्रति उपेक्षा का भाव रखने एवं योग की भावना अथवा निष्पक्षता को भी विकसित करने का आदेश करती है।[३] सच्चा त्याग इसी में है कि जो अज्ञान के कारण कर्म को छोड़ना है, वह तमोगुण युक्त त्याग है। परिणामों के भय से, जैसे–शारीरिक कष्ट के भय से कर्मों को छोड़ना भी त्याग है, किन्तु यह त्याग रजोगुण युक्त त्याग है, किन्तु अनासक्ति की भावना से परिणामों के भय से सर्वथा रहित सबसे उत्तम रूप कर्म का होता है, क्योंकि इसमें सात्विक गुण का अधिक प्राचुर्य होता है।[४]

कर्म के विषय में गीता का क्या उपदेश है, इसको अच्छी प्रकार से समझ लेना आवश्यक है। यह तपस्यापरक नीतिशास्त्र की समर्थक नहीं है। बौद्धधर्म के त्याग के सिद्धान्त की व्याख्या इसमें अधिकांश विध्यात्मक रूप में की गई है। निष्काम कर्म की आशा से जो कर्म किया जाता है वही सच्चा त्याग है। कर्म के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए गीता इसको दो विभागों में विभक्त करती

---

३. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिकोयोगी तस्माद्योगीभवार्जुन।।६/४६।।

४. अफलाकाङ्क्षिभियज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।१७. ११।।

है–एक तो मानसिक पूर्ववृत्त। अर्थात्–पूर्व के कर्मों के संस्कार जो मन में पहले से रहते हैं, और दूसरा बाह्य-कर्म। इसलिए गीता का आदेश है कि मानसिक पूर्ववृत्त को हम वश में करें जो स्वार्थपरता के भाव के दमन से ही सम्भव है।[५] नैष्कर्म्य अथवा कर्म का त्याग सदाचार का यथार्थ विधान नहीं अपितु निष्कामता अर्थात् उदासीनता कर्म फल की ओर से उदासीनता है।[६] काम, क्रोध और लोभ इन तीनों पर, जो नरक के मार्ग हैं विजय पानी चाहिए। सभी प्रकार की कामनायें बुरी नहीं हैं। धार्मिकता की कामना दैवीय है।[७]

गीता का यह कहना नहीं है कि वासनाओं का मूलोच्छेदन कर दो किन्तु उन्हें पवित्र करने का आदेश देती है। भौतिक प्राणधारक प्रकृति को स्वच्छ रखने की आवश्यकता है और इसी प्रकार से मानसिक बौद्धिक प्रकृति को भी पवित्र करना आवश्यक है और इसके अनन्तर ही धार्मिक प्रकृति को सन्तोष प्राप्त हो सकता है। गीता निश्चय करती है कि निष्क्रिय रहना स्वतन्त्रता नहीं है, अर्थात् निष्क्रिय रहकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और न ही शरीरधारी जीव नितान्त रूप से कभी कर्म का त्याग कर सकते हैं।[८]

गीता में कहा है कि मर्त्यलोक में विश्राम करने की स्थिति नहीं है, यहाँ तो जीवन भर कर्म करते रहना चाहिए। कर्म ही संसारचक्र की गति को जोड़े रखता है, और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि यह गति रुके नहीं, लगातार चलती रहे।[९] जो मनुष्य इस लोक में इस प्रकार से प्रचलित सृष्टि चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला अघायु (पापमय जीवन बिताने वाला) मनुष्य संसार में व्यर्थ ही जीता है।[१०]

---

५. ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।। गीता–१८; १८।।

६. असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।अ०–१८; ४९।।

७. गीता–अ०–२, श्लोक–६२.६३

८. गीता–अ० १८, श्लोक ११

९. देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ।।११।। अ०–३

१०. एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियरामो मोघं पार्थ स जीवति।।अ०–३, श्लो० १६।।

गीता की समस्त योजना यही संकेत करती हैं कि यह कर्म करने का ही उपदेश है। जब तक हमें मोक्ष प्राप्त न हो, कर्म करते रहना अनिवार्य है। पहले तो हमें मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म करना है और मोक्ष प्राप्तकर लेने पर दैवीय शक्ति के साधन के रूप में हमें कर्म करना है। अवश्य ही उस समय मन को तैयार करने अथवा हृदय को पवित्र करने का यह शेषकार्य नहीं रह जाता है। मुक्तात्माओं के लिए किन्हीं विशेष नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं है। वे यथेष्ट कार्य करते हैं किन्तु यह आवश्यक है कि वे कुछ न कुछ कर्म करते अवश्य रहें।[११]

सिद्धान्त यह है कि जब तक मनुष्य अपने लिए कर्म करता है, तब तक उसके कर्म की समाप्ति नहीं होती वह कर्मों से बँधता ही जाता है। कृतकृत्य वही होता है जो अपने लिए कभी कुछ नहीं करता। अपने लिए कुछ भी नहीं करने से पाप का आचरण भी नहीं होता, क्योंकि पाप का आचरण कामना के कारण ही होता है। जैसा कि गीता के ३/३७) में कहा है। अतः अपना कल्याण चाहने वाले साधकों को चाहिए कि वह शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार फल की इच्छा और आसक्ति का त्याग करके कर्तव्य कर्म करने में तत्पर हो जाये, फिर कल्याण तो स्वतः ही सिद्ध हो जायेगा। अपनी कामना का त्याग करने से संसार मात्र का हित होता है। जो अपनी कामना-पूर्ति के लिए आसक्ति पूर्वक भोग भोगता है, वह स्वयं तो अपनी हिंसा (पतन) करता ही है, साथ ही जिनके पास भोग-सामग्री का अभाव है, उनकी भी हिंसा करता है। अर्थात् दु:ख देता है। कारण है कि भोग सामग्री वाले मनुष्यों को देखकर अभावग्रस्त मनुष्य को उस भोग-सामग्री के अभाव का दु:ख होना स्वाभाविक है। इस प्रकार स्वयं सुख भोगने वाला व्यक्ति हिंसा से कभी बच नहीं सकता।[१२]

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है कि प्रायः जिसको संन्यास कहा जाता है उसी को योग समझना चाहिए। जब तक संकल्पों का त्याग नहीं किया जाता, तब तक कोई योगी नहीं हो सकता है। इसका यही अभिप्राय है कि जब तक जीवात्मा का असत् पदार्थों के साथ किञ्चित् मात्र भी सम्बन्ध रहता है, इसका यह अभिप्राय होगा कि वह कर्मों को लोभ पूर्वक और मोह पूर्वक तथा सम्वेगात्मक रूप में करता है।

---

११. बृहदा०उप०–६; ४, २२; वेदान्तसूत्रों पर शांकरभाष्य–३ : ३२।।
१२. भगवद्गीता की संजीवनी टीका पर–स्वामी रामसुखदास।।

कर्मों के करने में बुद्धि का महत्त्व बतलाते हुए तथा कर्मयोगी की परिभाषा करते हुए कहा है कि समतायुक्त मनुष्य जीवित अवस्था में ही पाप-पुण्य का त्याग कर देता है। अर्थात् उसे पाप-पुण्य प्रभावित नहीं करते हैं। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति कर्मों में कुशलता प्राप्त करके अर्थात् कर्मों की सिद्धि असिद्धि में और उन कर्मों के फल की प्राप्ति एवं अप्राप्ति में एक रस रहना यही कर्मों की कुशलता है। इसलिए कहा जय-पराजय, लाभ-हानि अर्थात् प्रत्येक अवस्था में समत्व रूप को प्राप्त होना तथा कर्मजन्य फल की इच्छा कामना ममता वासना का त्याग करना, यही कर्मयोग है।[१३]

ज्ञानयोग और कर्मयोग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ये दोनों साधकों की अपनी निष्ठायें हैं। परन्तु भगवन्निष्ठा साधकों की अपनी निष्ठा नहीं है। कारण कि सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा में साधक को 'मैं हूँ' और संसार है-इसका अनुभव होता है, अतः ज्ञानयोगी संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करके अपने स्वरूप में स्थित होता है और कर्मयोगी संसार की वस्तु को संसार की ही सेवा में लगाकर संसार से सम्बन्ध विच्छेद करता है। परन्तु भगवन्निष्ठा में साधकों को पहले भगवान् हैं-इसका अनुभव नहीं होता पर उसका विश्वास होता है कि स्वरूप और संसार-इन दोनों से भी विलक्षण कोई तत्त्व है। अतः वह श्रद्धा-विश्वास पूर्वक भगवान् को मानकर अपने आपको भगवान् को समर्पित कर देता है। इसलिए सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा में तो 'जानना' (विवेक) मुख्य है और भगवन्निष्ठा में 'मानना' (श्रद्धा-विश्वास) मुख्य है। इसीलिए गीता में भक्तियोग के प्रकरण में जहाँ जानने की बात आयी है, उसको मानने के अर्थ में ही लेना चाहिए। इसी तरह ज्ञानयोग और कर्मयोग के प्रकरण में जहाँ मानने की बात आयी है, उसी को जानने के अर्थ में ही लेना चाहिए।[१४]

सांख्यनिष्ठा और योगनिष्ठा तो साधन-साध्य हैं और साधक पर निर्भर हैं, पर भगवन्निष्ठा साधन-साध्य नहीं हैं। भगवन्निष्ठा में साधक भगवान् और उनकी कृपा पर निर्भर रहता है।

'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्'-प्रकृति से उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे

१३. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।२/५०।। गीता

१४. लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।गीता०-३/३/१

हैं, सम्पूर्ण क्रियायें गुणों में इन्द्रियों में ही हो रही हैं। और मेरा इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है–ऐसा समझकर समस्त क्रियाओं में कर्त्तापन अभिमान का सर्वथा त्याग कर देना 'ज्ञानयोग' है।

गीतोपदेश के आरम्भ में ही भगवान् ने सांख्ययोग (ज्ञानयोग) का वर्णन करते हुए नाशवान् शरीर और अविनाशी शरीर का विवेचन किया है, जिसे (गीता के २/१६ में) असत् और सत् के नाम से भी कहा गया है। 'कर्मयोगेन योगिनाम्'–वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थति के अनुसार जो शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म सामने आ जाये, उसको उस कर्म तथा उसके फल में कामना, ममता और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके करना तथा कर्म की सिद्धि और असिद्धि में सम रहना 'कर्मयोग' है।[१५]

इस कर्म दर्शन को स्पष्ट करते हुए गीताकार ने कहा है कि कर्मयोग में कर्म करना अत्यन्तावश्यक है। क्योंकि निष्काम भाव से कर्म करने पर ही कर्मयोग की सिद्धि होती है। यह सिद्धि विना कर्म किये नहीं हो सकती है। मनुष्य के अन्तःकरण में कर्म करने का जो वेग विद्यमान रहता है, उसे शान्त करने के लिए कामना का त्याग करके कर्तव्य-कर्म करना आवश्यक है। कामना रखकर कर्म करने पर यह वेग मिटता नहीं, प्रत्युत बढ़ता है।

'नैष्कर्म्यम् अश्नुते' पदों का आशय है कि कर्मयोग का आचरण करने वाला मनुष्य कर्मों को करते हुए ही निष्कर्मता को प्राप्त होता है। जिस स्थिति में मनुष्य के कर्म-अकर्म हो जाते है अर्थात् बन्धनकारक नहीं होते, उस स्थिति को 'निष्कर्मता' कहते हैं। कामना से रहित होकर, किये गऐ कर्मों में फल देने की शक्ति का उसी प्रकार सर्वथा अभाव हो जाता है, जिस प्रकार बीज को भूनने या उबालने पर उसमें पुनः अंकुर देने की शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है। अतः निष्काम मनुष्य के कर्मों में पुनः जन्म-मरण के चक्र में घुमाने की शक्ति नहीं रहती है।

कामना का त्याग तभी हो सकता है, जब सभी कर्म दूसरों की सेवा के लिए किए जाए, अपने लिए नहीं। क्योंकि कर्म मात्र का सम्बन्ध संसार से है, और अपना (स्वरूप का) सम्बन्ध परमात्मा से है। अपने साथ कर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। इसलिए जब तक अपने लिए कर्म करेंगे, तब तक कामना का त्याग

---

१५. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।।३/४।। गीता० श्लोक

नहीं होगा, और जब तक कामना का त्याग नहीं होगा, तब तक निष्कर्मता की प्राप्ति नही होगी।

इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में भगवान् ने कर्मयोग की दृष्टि से कहा कर्मों का आरम्भ किये बिना कर्मयोगी को निष्कर्मता की प्राप्ति नहीं होती। अब श्लोक के उत्तरार्ध में सांख्ययोग की दृष्टि से कहते हैं कि केवल कर्मों का स्वरूप से त्याग कर देने से सांख्य योगी को सिद्धि अर्थात् निष्कर्मता की प्राप्ति नहीं होती। सिद्धि की प्राप्ति के लिए उसे कर्त्तापन का त्याग करना आवश्यक है। अतः सांख्ययोगी के लिए कर्मों का स्वरूप से त्याग करना मुख्य नहीं है, प्रत्युत अहंता का त्याग ही मुख्य है। सांख्य योग में कर्म भी जा सकते हैं और किसी सीमा तक कर्मों का त्याग भी किया जा सकता है, परन्तु कर्मयोग में सिद्धि प्राप्ति के लिए कर्म करना आवश्यक होता है।[१६]

गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति एवं अप्राप्ति को लेकर चित्त में समता रहनी चाहिए। इस समता से मनुष्य का कल्याण होता है। अर्जुन पापों से डरते थे, तो उनके लिए भगवान् ने कहा कि 'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर तुम युद्ध करो, फिर तुम को पाप नहीं लगेगा। जैसे दुनिया में बहुत से पाप होते रहते हैं, पर वे पाप हमें नहीं लगते, क्योंकि उन पापों में हमारी विषम-बुद्धि नहीं होती, प्रत्युत समबुद्धि रहती है। ऐसे ही समबुद्धिपूर्वक सांसारिक काम करने से कर्मों से बन्धन नहीं होता। इसी भाव से भगवान् ने इस अध्याय में कहा है कि जो कर्म फल का आश्रय न लेकर कर्त्तव्य-कर्म करता है, वही संन्यासी और योगी है। इसी कर्म फल त्याग की सिद्धि भगवान् ने 'समता' बतायी। इस समता की प्राप्ति के लिए भगवान् ने दसवें श्लोक से बत्तीसवें श्लोक तक योग का वर्णन किया।

यहाँ अर्जुन ने जो अपनी मान्यता बतायी है, वह पूर्वश्लोक को लेकर नहीं है, प्रत्युत ध्यान के साधन को लेकर है। कारण यह है कि बत्तीसवाँ श्लोक ध्यानयोग द्वारा सिद्ध पुरुष का है और सिद्ध पुरुष की समता स्वतः होती है। इसलिए यहाँ 'यः' पद से इस प्रकरण से पहले कहे हुए योग (समता) का संकेत है।

'एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्' इस पद से अर्जुन का यह

१६. न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।३/४।। गीता

आशय मालूम होता है कि कर्म योग से तो समता की प्राप्ति बतायी है, मन की चञ्चलता के कारण उस ध्यान में स्थिर स्थिति रहना मुझे बड़ा कठिन दिखाई देता है।[१७]

योग का महत्व बतलाते हुए गीता में कहा है कि तप, ज्ञान और सकाम तपस्वी आदि से योग श्रेष्ठ है। 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'—शास्त्रों को जानने वाले पढ़े-लिखे विद्वानों को यहाँ समझना चाहिए। परन्तु जिनका उद्देश्य सांसारिक भोग और ऐश्वर्य है ऐसे सकाम शब्दज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है।

'कर्मिभ्यञ्चाधिको योगी'—इस लोक में राज्य मिल जाये, धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, भोग आदि मिल जाये और मरने के बाद परलोक में ऊँचे-ऊँचे लोकों की प्राप्ति हो जाये और उन लोकों का सुख मिल जाये ऐसा उद्देश्य रखकर जो कर्म करते हैं, अर्थात् सकामभाव से यज्ञ, दान, तीर्थ आदि शास्त्रीय कर्मों को करते हैं, उन कर्मियों से योगी श्रेष्ठ है।

जो संसार से विमुख होकर परमात्मा के सम्मुख हो गया है, वही वास्तव में योगी है। ऐसा योगी बड़े-बड़े तपस्वियों, शास्त्रज्ञ, पण्डितों और कर्म काण्डियों से भी ऊँचा है, श्रेष्ठ है। कारण कि तपस्वियों आदि का उद्देश्य संसार है तथा सकामभाव है और योगी का उद्देश्य परमात्मा है तथा निष्कामभाव है।

'तस्माद्योगी भवार्जुन'—अभी तक भगवान् ने जिसकी महिमा गायी है, उसके लिए अर्जुन को आज्ञा देते हैं कि हे अर्जुन! तू योगी हो जा, राग-द्वेष से रहित हो जा अर्थात् सब काम करते हुए भी जल में कमल की पत्ते की तरह निर्लिप्त रहता है।[१८]

गीता आदेश करती है कि हमें साधारण जीवन के व्यवहार से घृणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु सब स्वार्थमय इच्छाओं का दमन करना आवश्यक है। गीता का आदेश प्रवृत्ति अर्थात् कर्म करना और निवृत्ति अर्थात् उससे उपराभता दोनों एकत्री करण रहना सच्चा त्याग नहीं है। हाथ निश्चल रह सकते हैं, किन्तु इच्छायें

---

१७. योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।६/३३

१८. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।६/४६।। गीता

अपने कार्य में व्यस्त रहती हैं। यह कर्म नहीं जो हमें बन्धन में डालता है किन्तु भाव ही है जिसको लेकर हम कर्म करते हैं जो बन्धन का कारण है, अज्ञानियों द्वारा किया गया कर्मों का त्याग वस्तुतः एक विध्यात्मक कर्म है, ज्ञानियों का कर्म वस्तुतः अकर्म है।[१९] जिस कर्म का संकेत गीता में किया है, वह कौशल पूर्ण कर्म है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्मों में कुशलता का नाम ही योग है।[२०]

इस कौशल को प्राप्त करने के लिए सामान्य चेष्टा एवं व्यवहार किस प्रकार के हो, इसका वर्णन करते हुए कहा है कि 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति'–अधिक खाने वाले का योग सिद्ध नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि अन्न अधिक खाने से अर्थात् भूख के बिना खाने से अथवा भूख से अधिक खाने से प्यास ज्यादा लगती है, जिसे पानी ज्यादा पीना पड़ता है। ज्यादा अन्न खाने और पानी पीने से पेट भारी हो जाता है। पेट भारी होने से शरीर भी बोझिल मालूम देता है। शरीर में आलस्य छा जाता है। बार-बार पेट याद आता है। कुछ भी काम करने का अथवा साधन, भजन, जप, ध्यान आदि करने का मन नहीं करता। न तो सूखपूर्वक बैठा जाता है और न सुखपूर्वक लेटा ही जाता है तथा न चलने-फिरने का ही मन करता है। अजीर्ण आदि होने से शरीर में रोग पैदा हो जाते हैं। इसलिए अधिक खाने वाले पुरुष को योग कैसे सिद्ध हो सकता है? या नहीं हो सकता।

'न चैकान्तमनश्नतः'–ऐसे ही बिल्कुल न खाने से भी योग सिद्ध नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि भोजन न करने से मन में बार-बार भोजन का चिन्तन होता है। शरीर में शक्ति कम हो जाती है। मांस मज्जा आदि भी सूखते जाते हैं। शरीर शिथिल हो जाता है। चलना-फिरना कठिन हो जाता है। लेटे रहने का मन करता है। जीना भारी हो जाता है। बैठ करके अभ्यास करना कठिन हो जाता है। चित्त परमात्मा में लगता ही नहीं।

'न चाति स्वप्नशीलस्य'–जिसका ज्यादा सोने का स्वभाव होता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। कारण कि ज्यादा सोने से स्वभाव बिगड़ जाता है अर्थात् बार-बार नींद सताती है। पड़े रहने में सुख और बैठे रहने में परिश्रम मालूम देता है। ज्यादा लेटे रहने से गाढ़ नींद भी नहीं आती। गाढ़ नींद न आने से स्वप्न आते रहते हैं, संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। शरीर में आलस्य भरा रहता है। आलस्य के कारण बैठने में कठिनाई होती है। अतः वह योग का अभ्यास भी नहीं कर सकता, फिर योग की सिद्धि कैसे होगी?

१९. अष्टावक्रगीता १८/६४।।
२०. योगः कर्मसु कौशलम्।। गीता

'जाग्रतो नैव चार्जुन'–हे अर्जुन! जब सोने से भी योग की सिद्धि नहीं होती, तो फिर बिल्कुल न सोने से योग की सिद्धि हो ही कैसे सकती है? क्योंकि आवश्यक नींद न लेकर अधिक जगने से बैठने पर नींद सतायेगी, जिससे वह योग का अभ्यास नहीं कर सकता।[२१]

योग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार और विहार करने वाले का, कर्मों में यथा योग्य चेष्टा करने वालों का तथा यथायोग्य सोने और जागने वाले का ही सिद्ध होता है।[२२]

गीता में स्पष्ट किया है कि किन कर्मों को श्रेष्ठ माना जाये? यह बतलाया है कि श्रेष्ठ मनुष्य जो-जो आचरण करता है, दूसरे मनुष्य वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, दूसरे मनुष्य भी उसी के अनुसार आचरण करते हैं।[२३]

श्रेष्ठ पुरुष जिन भावों को अपने आचरणों में लाता है, उन भावों का दूसरे मनुष्यों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अपने वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि के आचरणों का अच्छी तरह से पालन करने के कारण उसके द्वारा कहे हुए वचनों का दूसरे वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय आदि के लोगों पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रायः देखा जाता है कि जिस समाज, सम्प्रदाय जाति वर्ण, आश्रम आदि में जो श्रेष्ठ मनुष्य कहलाते हैं और जिनको लोग श्रेष्ठ मानकर आदर की दृष्टि से देखते हैं, वे जैसा आचरण करते हैं, उस समाज, सम्प्रदाय, जाति आदि के लोग भी वैसा ही आचरण करने में लग जाते हैं।

यहाँ पर श्रेष्ठ आचरण को यज्ञ कहकर बताया गया है कि जिस यज्ञ में अर्पण भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है, ऐसे यज्ञ को करने वाले जिस मनुष्य की ब्रह्म में ही कर्म-समाधि हो गयी है, उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य फल भी ब्रह्म ही है।[२४]

---

२१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता ६/१६

२२. युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।६/१७।। गीता

२३. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकास्तदनुवर्तते।।३/२१।। गी० श्लोक

२४. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म ..... ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।। गी०श्लो० ४/२४

यज्ञ में आहुति मुख्य होती है। वह आहुति तब पूर्ण होती है, जब वह अग्नि रूप ही हो जाए, अर्थात् द्रव्य पदार्थ की अग्नि से अलग सत्ता ही न रहे। इसी प्रकार जितने भी साधन हैं, सब साध्यरूप हो जाएं, तभी वे यज्ञ होते हैं। जितने भी यज्ञ हैं, उनमें परमात्म तत्त्व का अनुभव करना भावना नहीं है, प्रत्युत वास्तविकता है भावना तो पदार्थों की है।

इसी को आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि योगी लोग भगवदर्पण रूप यज्ञ का ही अनुष्ठान करते हैं और दूसरे योगीलोग ब्रह्म रूप अग्नि में विचार रूप यज्ञ के द्वारा ही जीवात्मा रूप यज्ञ का हवन करते हैं।[२५]

यहाँ संयमरूप अग्नियों में इन्द्रियों की आहुति देने को यज्ञ कहा गया है। इस श्लोक में कहे गये दोनों प्रकार के यज्ञों में राग-आसक्ति का सर्वथा अभाव होने पर ही सिद्धि परमात्म प्राप्ति होती है। राग-आसक्ति को मिटाने के लिए ही दो प्रकार की प्रक्रिया का यज्ञ रूप में वर्णन किया गया है।[२६]

पहली प्रक्रिया में साधक एकान्तकाल में इन्द्रियों का संयम करता है। विवेक-विचार, जप-ध्यान आदि से इन्द्रियों का संयम होने लगता है। पूरा संयम होने पर जब राग का अभाव हो जाता है, तब एकान्तकाल और व्यवहारकाल दोनों में उसकी समान स्थिति रहती है। दूसरी प्रक्रिया में साधक व्यवहार काल में राग द्वेषरहित इन्द्रियों से व्यवहार करते हुए मन, बुद्धि और अहम् से भी राग-द्वेष का अभाव कर देता है। राग का अभाव होने पर व्यवहार काल और एकान्तकाल दोनों में उसकी समान स्थिति रहती है।

गीता में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का वर्णन करते हुए उसे केवल कर्मकाण्ड तक ही सीमित नहीं किया, अपितु आत्म समर्पण, आत्म नियन्त्रण और मोक्ष धाम को प्राप्त करने की सीढ़ी बतायी है, इसलिए कहा है कि द्रव्य यज्ञ, तपयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ और ज्ञान यज्ञ द्वारा ब्रह्मत्व की प्राप्ति की जा सकती है।[२७] इसलिए कहा है कि यज्ञ करने अर्थात् निष्काम भाव पूर्वक दूसरों को सुख पहुँचाने से समता की प्राप्ति होती है। यही यज्ञशिष्ट अमृत का अनुभव माना जाता

---

२५. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।४/२५।। गी०श्लो०

२६. श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये ..... जुह्वति।।४/२६।। गीता श्लो०

२७. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।४/२८।। गी०श्लो०

है। यज्ञ न करने से यह लोक भी कल्याणकारी नहीं होता है। परलोक तो अर्थात् मोक्ष तो प्राप्त होना बिल्कुल ही सम्भव नहीं है।[२८] इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। इस परम कर्तव्य के बिना निष्काम कर्म की अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती है।

गीता में यह भी स्पष्ट किया है कि जो जीवात्मा सत्व, रजस और तमस गुणों में से सत्व गुण को प्राप्त न कर लेता, तब तक वह निष्काम की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए कहा है कि सत्व गुण का स्वरूप निर्मल, स्वच्छ और निर्विकार है। सब गुण वाला कर्त्ता जो कर्म करेगा वह कर्म सात्त्विक ही होगा। रजोगुण का स्वरूप परागात्मक है, राग वाले कर्ता के द्वारा जो कर्म होगा, वह कर्म भी राजस होगा। उस कर्म का फल दुःख माना है। इसी प्रकार तमोगुण युक्त कर्म का फल भी अज्ञान एवं मोह को माना जाता है।[२९]

गीता में इन तीनों गुणों की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि सत्त्व से ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् सुकृत और दुस्कृत कर्मों का विवेक उत्पन्न होता है। इसका यह अर्थ है कि सत्व युक्त जीवात्मा सुकृत कर्म ही करता है। इसी प्रकार रजस से लोभ, प्रमाद आदि उत्पन्न होते हैं और तमस से प्रमाद और मोह अर्थात् अज्ञान उत्पन्न होता है।[३०]

गीता में इन गुणों को लोक अर्थात् गति के रूप में विभाजित किया है कि सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं, रजोगुण में स्थित मनुष्य मृत्युलोक में जन्म लेते हैं, और निन्दनीय तमोगुण की वृत्ति में स्थित मनुष्य अधोगति में जाते हैं।[३१] इसका अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वगति में सत्त्वगुण की प्रधानता, रजोगुण की गौणता और तमोगुण की अत्यन्त गौणता रहती है। मध्यगति में रजोगुण की प्रधानता, सत्त्वगुण की गौणता और तमोगुण की अत्यन्त गौणता रहती है। अधोगति में तमोगुण की प्रधानता, रजोगुण की गौणता और सत्त्वगुण की

---

२८. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।४/३१।। गी०

२९. कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्। रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१४/१६।। गी०

३०. प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। गीता श्लो० १४/१७

३१. उर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुण वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१४/१८।। गी०श्लो०

अत्यन्त गौणता रहती है। तात्पर्य यह है कि सत्त्व, रजस और तमस तीनों गुणों की प्रधानता वालों में भी अधिक, मध्यम और कनिष्ठ मात्रा में प्रत्येक गुण रहता है। इस तरह गुणों के सैकड़ो-हजारों सूक्ष्म भेद हो जाते हैं। अतः गुणों के तारतम्य से प्रत्येक प्राणी का अलग-अलग स्वभाव होता है।

इन उपर्युक्त गुणों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब विवेकी विचारकुशल मनुष्य तीनों गुणों के सिवाय अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता और अपने को गुणों पर से पर अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[३२] इसका अभिप्राय यह है कि गुणों के सिवाय अन्य कोई कर्ता है ही नहीं अर्थात् सम्पूर्ण क्रियायें गुणों से ही हो रही हैं, सम्पूर्ण परिवर्तन गुणों में ही हो रहा है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण क्रियाओं और परिवर्तनों में गुण ही कारण है, और कोई कारण नहीं है। वे गुण जिससे प्रकाशित होते हैं, वह तत्त्व गुणों से पर है। गुणों से पर होने से वह कभी गुणों से लिप्त नहीं होता है अर्थात् गुणों और क्रियाओं का उस पर कोई असर नहीं पड़ता। ऐसे उस तत्त्व को जो विचार-कुशल साधक जान लेता है अर्थात् विवेक के द्वारा अपने आप को गुणों से पर असम्बद्ध निर्लिप्त अनुभव कर लेता है कि गुणों के साथ अपना सम्बन्ध न कभी हुआ है, न है, न होगा और न हो ही सकता है। कारण यह है कि गुण परिवर्तनशील है और स्वयं में कभी परिवर्तन होता ही नहीं। वह फिर मेरे भाव को, मेरे स्वरूप को प्राप्त हो सकता है। तात्पर्य है कि वह जो भूल से गुणों के साथ अपना सम्बन्ध मानता था, वह मान्यता मिट जाती है और मेरे साथ उसका जो स्वतः सिद्ध सम्बन्ध है, वह ज्यों का त्यों रह जाता है।

इन सत्त्व, रजस और तमस गुणयुक्त कर्मों का विस्तारपूर्वक करते हुए गीता में स्पष्ट किया है कि जिस ज्ञान के द्वारा जीवात्मा सम्पूर्ण विभक्त प्राणियों में विभाग रहित एक अविनाशी भाव अर्थात् सत्ता को देखता है उस ज्ञान को सात्त्विक गुण समझना चाहिए।[३३]

इस प्रकार राजस ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है कि जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों में अलग-अलग अनेक भावों को अलग-अलग रूप से जानता है, उस ज्ञान को राजस गुण समझना चाहिए।[३४]

---

३२. नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१४/१९।। गीता श्लोक

३३. सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ..... सात्त्विकम्।।१८/२०।। गीता श्लो०

३४. पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं .....राजसम्।।१८/२१।। गी०श्लो०

अब तामस नामक ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है कि जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सम्पूर्ण की तरह आसक्त है तथा जो युक्तिरहित, वास्तविक ज्ञान से रहित और तुच्छ हो वह ज्ञान 'तामस' नामक ज्ञान कहा गया है।[३४]

इसी प्रकार सात्त्विक कर्म को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है कि जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ और कर्तृत्वाभिमान से रहित हो तथा फल की इच्छा रहित मनुष्य के द्वारा बिना राग-द्वेष के द्वारा किया हुआ हो, वह कर्म 'सात्त्विक' कहा जाता है।[३६] तात्पर्य यह है कि भविष्य में मिलने वाले फल की इच्छा से रहित मनुष्य द्वारा कर्म किया जाये अर्थात् क्रिया और पदार्थों से निर्लिप्त रहते हुए असङ्गता पूर्वक कर्म किया जाये तो वह सात्त्विक कहा जाता है। इस सात्त्विक कर्म में सात्त्विकता तभी तक है जब तक अत्यन्त सूक्ष्मरूप से प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। जब प्रकृति में सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है तब यह कर्म 'अकर्म' हो जाता है।

गीता में यह भी स्पष्ट किया गया है कि जिस भाव से जो कर्म किया जाता है उसकी पूर्ति ज्ञान से होती है। अहंकार को नष्ट करने के लिए दैवीय भाव को जागृत करना चाहिए यदि जीवात्मा ऐसा कर सके तो गीता का सिद्धान्त समझ में आ जायेगा कि दैवीय और आसुरी वृत्तियों का संघर्ष मानवमन में सदा होता रहता है। उसका तत्त्व ज्ञान तभी उत्पन्न हो सकता जब जीवात्मा कर्म के दर्शन को अच्छी प्रकार समझ लेता है। गीता ने यह विस्तृत वर्णन किया है कि कर्म और अकर्म के तत्त्व को जानना चाहिए। कर्मों की गति को जानना अतिगहन विषय है।[३७]

परम तत्त्व (जीव एवं ब्रह्म)

भारतीय दर्शन में उपनिषदों को गऊवें कहा है। श्री कृष्ण को उन गऊवों के दूध को निकालने वाला माना है। गीता को उस दूध का नवनीत कहा है। इसलिए गीता की परमतत्त्व की अवधारणा उपनिषदों की तरह ही पूर्णरूपेण स्पष्ट है। अनादि तत्त्व को प्राप्त करने के लिए कहा है कि जो मनुष्य सुख-दुःख में

---

३५. यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् ..... उदाहृतम्।।१८/२२।। गी०श्लो०

३६. नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः ..... उच्यते।।१८/२३।। गी०श्लो०

३७. कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं चविकर्मणः ..... गतिः।।४/१७।। गी०श्लो०

समत्व को प्राप्त कर लेता है वही धीर पुरुष कहलाता है।[३८] वह प्रकृति के संयोग एवं वियोग के रहस्य को जान लेता है। क्योंकि वह इस तत्त्व ज्ञान को प्राप्त कर लेता है कि अमरता क्या है, नश्वर क्या है? अर्थात् क्षर क्या है? और अक्षर क्या है? वह क्षर अर्थात् नाश्वान् प्रकृति के भोगों की ओर अभिमुख नहीं होता है।

गीता में यह स्पष्ट किया गया है कि 'नासतो विद्यतेभाव:'–शरीर के उत्पत्ति के पूर्व नहीं था, मृत्यु के पश्चात् भी नहीं रहेगा। वर्तमान में भी वह धीरे-धीरे नाश की ओर जा रहा है। असत् से भावात्मक तत्त्व उत्पन्न नहीं होता है, अर्थात् कारण में बिना कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार अभाव से सत्तात्मक वस्तुयें उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु सत् है उसका अभाव नहीं होता है। एक तत्त्व ऐसा है जो शरीर के उत्पन्न होने से पूर्व भी था। शरीर के नष्ट होने पर भी वह ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार सृष्टि रचना से पूर्व भी परमात्मतत्त्व था, संसार का अभाव होने पर वह रहेगा वर्तमान में भी इस परिवर्तनशील संसार में ज्यों का त्यों रहता है।[३९]

गीता में सत् को परा प्रकृति (गीता–७/५),' 'क्षेत्रज्ञ' (गी०–१३/१-२), 'पुरुष' (गी०–१३/१९), और 'अक्षर' (गी०–१५/१६) कहा गया है। इसी प्रकार असत् को अपरा प्रकृति, क्षेत्र प्रकृति और क्षर कहा गया है। सत् और असत् की व्याख्या करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! तू उस अविनाशी तत्त्व को जान, जिससे समस्त संसार व्याप्त है, उस अविनाशी परम तत्त्व का विनाश कोई नहीं कर सकता है। उस तत्त्व को परोक्ष रूप में माना है, यह सब का सब संसार उस नित्य तत्त्व से व्याप्त है। जैसे स्वर्ण से बने आभूषण में सोना, मिट्टी से बने हुए वर्तनों में मिट्टी, लोहे से अस्त्र-शस्त्रों में लोहा व्याप्त है। उसी प्रकार संसार में वह परम तत्त्व व्याप्त है।[४०]

उस अविनाशी में किञ्चित् मात्र भी किसी भी काल में अति नहीं होती है। वह प्रमा का विषय नहीं, अर्थात् जो अन्तःकरण और इन्द्रियों का विषय नहीं

---

३८. यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते।।२/१५।। गी०श्लो०

३९. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।२/१६।। गी०श्लो०

४०. अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।२/१७।। गी०श्लो०

होता इसलिए उसे अप्रमेय कहा है। जिसमें अन्तःकरण और इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हो सकती है जो, आत्मतत्व तथा आप्त पुरुषों के द्वारा अनुभूति का विषय रहा है। वह इन्द्रियों द्वारा जाना नहीं जा सकता है।[४१]

यह शरीर ही पुनः पुनः जन्म लेता है। इसमें रहने वाला शरीरी न जन्म लेता है और न ही मृत्यु को प्राप्त होता है। वह उत्पन्न होकर भी होने वाला नहीं है यह जन्मरहित है, नित्य-निरन्तर रहने वाला शाश्वत और पुराण अर्थात् अनादि है। शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मारा जाता है।[४२] भारतीय दर्शनों में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि शरीर में छः प्रकार के विकार होते हैं–उत्पन्न होना, सत्ता वाला दीखना, बदलना, बढ़ना, घटना और नष्ट होना। यह शरीरी इन छहों विकारों से रहित है– यहीं बात श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में बताई है।

'न जायते म्रियते वा कदाचिन्न'–जैसे शरीर उत्पन्न होता है, ऐसे यह शरीरी कभी भी, किसी भी समय में उत्पन्न नहीं होता। यह तो सदा से ही है। श्री कृष्ण ने इस शरीरी को अपना अंश बताते हुए इसको सनातन कहा है–ममैवांशो जीवलोक जीव भूतः सनातनः' (गीता–१५/७)।

यह शरीरी कभी मरता नहीं। मरता वहीं है जो पैदा होता है, और म्रियते का प्रयोग भी वहीं होता है, जहाँ पिण्ड प्राण का वियोग होता है। पिण्ड-प्राण का वियोग शरीर में होता है, परन्तु शरीर में संयोग-वियोग दोनों ही नहीं होते। यह ज्यों का त्यों ही रहता है। इसका मरना होता ही नहीं। सभी विकारों में जन्मना और मरना, ये दो विकार ही मुख्य हैं, अतः कृष्ण ने इनका दो बार निषेध किया है, जिसको पहले 'न जायते' कहा, उसी को दुबारा 'अज' कहा है, और जिसको पहले 'न म्रियते' कहा, उसी को दुबारा 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहा है।

'अयं भूत्वा भविता वा न भूयः'–यह अविनाशी नित्य तत्व पैदा होकर फिर होने वाला नहीं है अर्थात् यह स्वतः सिद्ध निर्विकार है। जैसे बच्चा पैदा होता है, तो पैदा होने के बाद उसकी सत्ता होती है। जब तक वह गर्भ में नहीं आता, तब तक 'बच्चा' है, ऐसे उसकी सत्ता (होनापन) कोई भी नहीं कहता। तात्पर्य यह है कि बच्चे की सत्ता पैदा होने के बाद होती है, क्योंकि उस विकारी सत्ता का आदि और अन्त होता है। परन्तु इस नित्य तत्त्व की सत्ता स्वतः सिद्ध और

---

४१. अन्तवन्त इमे देहानित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।२/१८।। गी०श्लो०

४२. न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयंपुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२/२०।। गी०श्लो०

निर्विकार है, क्योंकि इस अविकारी सत्ता का आरम्भ और अन्त नहीं होता। 'अजः'–इस शरीरी का कभी जन्म नहीं होता। इसलिए यह 'अजः' अर्थात् जन्मरहित कहा गया है।

'नित्य':–यह शरीरी नित्य-निरन्तर रहने वाला है, अतः इसका कभी अपक्षय नहीं होता। अपक्षय तो अनित्य वस्तु में होता है, जो कि निरन्तर रहने वाली नहीं है। जैसे–आधी उम्र बीतने पर शरीर घटने लगता है, बल क्षीण होने लगता है, इन्द्रियों की शक्ति कम होने लगती है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ अन्तःकरण आदि का तो अपक्षय होता है, पर शरीरी का अपक्षय नहीं होता। इस नित्य तत्त्व में कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं आती।

'शाश्वतः'–यह नित्य-तत्त्व निरन्तर एकरूप, एकरस रहने वाला है। इसमें अवस्था का परिवर्तन नहीं होता, अर्थात् यह कभी बदलता नहीं। इसमें बदलने की योग्यता है ही नहीं।

'पुराणः'–यह अविनाशी तत्त्व पुराण (पुराना) अर्थात् अनादि है। यह इतना पुराना है कि यह कभी पैदा हुआ ही नहीं। उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में भी देखा जाता है कि जो वस्तु पुरानी हो जाती है, वह फिर बढ़ती नहीं, प्रत्युत नष्ट हो जाती है, फिर यह तो अनुत्पन्न तत्त्व है, इसमें बढ़ना रूप विकार कैसे हो सकता है? फिर यह तो अनुत्पन्न तत्त्व है, इसमें बढ़ना रूप विकार होने वाली वस्तुओं में ही होता है, इस नित्य-तत्त्व में नहीं। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'–शरीर का नाश होने पर भी अविनाशी शरीरी का नाश नहीं होता। यहाँ शरीर पद देने का तात्पर्य यह है कि यह शरीर नष्ट होने वाला है। इस नष्ट होने वाले शरीर में ही छः विकार होते हैं, शरीरी में नहीं।

इन पदों में श्री कृष्ण ने शरीर और शरीरी का जैसा स्पष्ट वर्णन किया है, ऐसा स्पष्ट वर्णन गीता में दूसरी जगह नहीं आया है। अर्जुन युद्ध में कुटुम्बियों के मरने की आशंका से विशेष शोक कर रहे थे। उस शोक को दूर करने के लिए कृष्ण कहते हैं कि शरीर के मरने पर भी इस शरीरी का मरना नहीं होता अर्थात् इसका अभाव नहीं होता। इसलिए शोक करना अनुचित है।

गीता ने देही की निर्विकारता का वर्णन करते हुए कहा है कि देहान्तर की प्राप्ति के विषय में धीरपुरुष शोक नहीं करते। उदाहरण के द्वारा बताया है कि जैसे–पुराने कपड़ों के परिवर्तन पर मनुष्य को शोक नहीं होता, ऐसे ही शरीर के परिवर्तन पर भी शोक नहीं करते हैं।

जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़ों को धारण करता है, ऐसे ही यह देही पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है। पुराने शरीर छोड़ने को 'मरना' कह देते हैं, और नया शरीर धारण करने को 'जन्मना' कह देते हैं। जब तक प्रकृति के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक यह देही पुराने शरीरों को छोड़कर कर्मों के अनुसार या अन्तकालीन चिन्तन के अनुसार नये नये शरीरों को प्राप्त होता रहता है।[४३]

इसी प्रसंग को आगे स्पष्ट करते हुए कहा है कि शस्त्र इस शरीरी को काट नहीं सकता, अग्नि इसको जला नहीं सकती, जल इसको गीला नहीं कर सकता और वायु इसको (शरीरी) अर्थात् आत्मा को सुखा नहीं सकती।

इस उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'नैनं छिन्दति शस्त्राणिं' अर्थात् इस शरीरी को शस्त्र नहीं काट सकते, क्योंकि ये प्राकृत शस्त्र वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकते। जितने भी शस्त्र हैं, वे सभी पृथ्वी तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। यह पृथिवी-तत्त्व इस शरीरी में किसी तरह का कोई विकार नहीं पैदा कर सकता। इतना ही नहीं, पृथ्वी-तत्त्व इस शरीरी तक पहुँच ही नहीं सकता, फिर विकृति करने की बात तो दूर ही रही।

'नैनं दहति पावकः'–अग्नि इस शरीरी को जला नहीं सकती क्योंकि अग्नि वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकती। जब वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकती, तब उसके द्वारा जलाना कैसे सम्भव हो सकता है? तात्पर्य है कि अग्नि-तत्त्व इस शरीरी में कभी किसी तरह का विकार उत्पन्न कर ही नहीं सकती।

'न चैनं क्लेदयन्त्यापः'–जल इसको (शरीरी) गीला नहीं कर सकता, क्योंकि जल वहाँ तक पहुँच ही नहीं सकता। तात्पर्य है कि जल तत्त्व इस शरीरी में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं कर सकता।

'न शोषयति मारुतः'–वायु इसको (शरीर) सुखा नहीं सकती अर्थात् वायु में इस शरीर को सुखाने की सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि वायु वहाँ तक पहुँचती ही नहीं। तात्पर्य है कि वायु-तत्त्व इस शरीरी में किसी तरह की विकृति पैदा नहीं कर सकता।[४४]

---

४३. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२/२२।। गी०श्लो०

४४. नैनंछिन्दन्ति शस्त्राणि नैनंदहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२/२३।।

आत्मतत्त्व को सिद्ध करते हुए कहा है कि यह शरीरी (आत्मा) काटा नहीं जा सकता है, जलाया नहीं जा सकता है, गीला नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह नित्य रहने वाला है। सबमें परिपूर्ण, अचल, स्थिर स्वभाव वाला और अनादि है।[४५]

जो व्यक्ति परमात्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में अर्थात् स्थावर, जंगम, सात्त्विक, राजस, तामस हैं, आकृति से छोटे-बड़े, लम्बे-चौड़े और नाना वर्ण वाले हैं, उनमें समान रूप से देखता है वहीं वास्तव में देखता है।[४६]

डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के आत्म तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह वह तत्त्व है जो सबको एकत्र रखता है और बराबर यहाँ तक कि सुषुप्ति या प्रगाढ़ निद्रा में भी उपस्थित रहता है। परस्पर सबको जोड़े रखने का यह कार्य इन्द्रियों का नहीं हो सकता, न बुद्धि का ही हो सकता है, और अपने-आप ही यह सम्भव हो सकता है। ज्ञाता या विषयी रूपी तत्त्व एक अनिवार्य तथा आवश्यक आधार हैं। जिसके ऊपर ज्ञेय या प्रमेय जगत् जिसमें आनुभविक आत्मा भी सम्मिलित है।[४७] यदि हम ज्ञाता को छोड़ दें तो ज्ञेय का भी लोप हो जाता है। किन्तु स्वयं ज्ञाता का लोप नहीं होता, भले ही ज्ञेय का लोप हो जाए। इस अमर रहने वाले तत्त्व का विवरण बहुत परिष्कृत रूप में गीता में दिया गया है। यह शरीर का अंग स्वामी ही वह कभी नहीं जन्मा और न वह मृत्यु को प्राप्त होता है और चूँकि उसका आदि नहीं है, इसलिए अन्त भी नहीं है। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुराणपुरुष आत्मा शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरता है।

गीता का सर्वोपरि आत्मा का वर्णन कुछ भ्रांतिजनक अवश्य है। यह अक्षय सर्वोपरि आत्मा, अनादि होने के कारण और निर्गुण होने के कारण, कार्य नहीं करता, न इसमें कोई दोष लगता है, यद्यपि यह शरीर में अवस्थित है। यह केवल द्रष्टा या साक्षी मात्र है। आत्मा अकर्तृ या अकर्ता है। विकास का समस्त नाटक पदार्थ-जगत् से ही सम्बन्ध रखता है। बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ जड़ प्रकृति के ही विकार है किन्तु यह सब विकृति भी आत्मा की उपस्थिति से ही सम्भव होती

४५. अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२/२४।।

४६. समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।१३/२७।।

४७. भारतीय दर्शन का इतिहास-(डॉ० राधाकृष्णन्) पृ०सं० ४९३

है। प्रमाता या ज्ञाता आत्मा, जो हमारे अन्दर है, शान्त, एक समान, वाह्य जगत् में अनासक्त है, यद्यपि यह उसका आधार है और अन्तर्व्यापक साक्षी है।

सांसारिक व्यक्तियों में हमें विषयी और विषय का परस्पर संयोग मिलता है। अनुभव करने वाले व्यक्ति विषयी के दैवीय तत्त्व हैं, जो ज्ञेय पदार्थों में मर्यादित हैं। इस संसार के अन्दर विषयी और विषय सदा साथ-साथ मिलते हैं।[४८] केवल विषय या पदार्थ का ही परम इन्द्रियातीत अस्तित्त्व नहीं है। विषयी जो विषय से उत्कृष्ट है, विषय का आधार है। "जब मनुष्य को इस बात का अनुभव हो जाता है कि नानाविध सत्ताओं का एक ही मूल है और सब उसी से निकली हैं तब वह सर्वोपरि सत्ता के साथ ऐक्यभाव का अनुभव करता है।"[४९] जब पदार्थ (विषय वस्तु) के साथ मिश्रण-सम्बन्धी भ्रांति का अन्त हो जाता है तो विषयी सबमें एक समान दिखाई देने लगता है। कृष्ण ने जो अर्जुन को बल पूर्वक यह कहा कि मरे हुओं के लिए शोक मत करो, तो उसका आशय यह था कि मृत्यु एकदम विलोप का नाम नहीं है। व्यक्तित्व रूप बदल सकता है, किन्तु सारभूत तत्व का नाश नहीं होता। जब तक पूर्णता प्राप्त नहीं हो जाती, व्यक्तित्व का भाव विद्यमान रहता है।[५०]

यह मरणधर्मा शरीर का ढाँचा भले ही बार-बार नष्ट हो जाये, आभ्यन्तर व्यक्तित्त्व अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता है और एक नया रूप धारण कर लेता है। इस विश्वास से जीवन की प्रेरणा प्राप्त करके मनुष्य को आत्मज्ञान के लिए कार्य करना चाहिए। हमारी अविनश्वरता निश्चित है—या तो अनन्तता द्वारा अथवा पूर्णता की प्राप्ति द्वारा। हमारी उपलक्षित असीमता का यह केवल प्रकट रूप में आ जाना ही है। आत्मा के अस्तित्व के इस प्रतिपादन के आधार पर और उपनिषदों की अन्तर्दृष्टि के इस समर्थन के द्वारा कि आत्मा अथवा निर्मल ज्ञाता हमारे शरीर के मिट्टी में मिल जाने पर भी अछूता अथवा अप्रभावित बचा रहता है, इस प्रकार श्री कृष्ण ने अर्जुन के मन को बेचैनी से दूर किया था।

"आत्मा का जन्म कभी नहीं हुआ, न यह आत्मा कभी नष्ट होगी, ऐसा

---

४८. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।१३/२०।। पुरुषः प्रकृतिस्थो हि ..... जन्मसु।।१३/२१।।

४९. अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।१३/३१।।

५०. भारतीय दर्शन का इतिहास—डॉ० राधाकृष्णन; पृ० ४९४

कोई समय नहीं था, जबकि यह न रही हो, अन्त और आदि केवल स्वप्न रूप है।

उत्पत्ति रहित और मृत्युरहित यह आत्मा परिवर्तनरहित सदा एक समान रहती है। मृत्यु इसका बाल भी बाँका नहीं कर सकती, यद्यपि इसका आवास स्थान मृत दिखाई देता है।"[५१]

गीता का आत्मा विषयक यह मत उपनिषदों के अनुसार ही प्रतिपादित किया गया है। आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न हैं, यह आत्म तत्त्व दो रूपों में वर्णित किया गया है—जीवात्मा और ब्रह्म। गीता में यद्यपि षड्दशनों में जो तर्क वाक्यों का प्रयोग किया गया है, वह नहीं है। परन्तु उपनिषदों की अनुभूतिपरक व्याख्या सर्वत्र प्राप्त है। जब एक साधक साधन के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करने का समाधि द्वारा प्रयास करता है तो उसको कैसे ब्रह्म की अनुभूति होती है, उसका वर्णन करते हुए कहा है कि जो ब्रह्म सर्वज्ञ, पुराण, शासन करने वाला सूक्ष्म से सूक्ष्म सबका धारण-पोषण करने वाला, अज्ञान से अत्यन्त परे, सूर्य की तरह प्रकाशस्वरूप वाले ब्रह्म का जो कि एक प्रकार से इन्द्रिय आदि अचिन्त्य है, उसका साक्षात्कार समाधि द्वारा करता है।[५२]

उस अक्षर ब्रह्म का 'ओउम्' एवं प्रणव नाम है। इसी का बार-बार जप करते हुए ध्यान द्वारा जो प्राण त्याग करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।[५३]

अर्जुन को ब्रह्म के विराट् स्वरूप को समझाते हुए कृष्ण ने कहा है कि तू बारह आदित्यों को, आठ वसुओं को, ग्यारह रूद्रों को और दो अश्विनी कुमारों को तथा उन्चास मरुद्गणों को देख। जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं, ऐसे बहुत से आश्चर्यजनक रूपों को भी तू देख।[५४]

इस उक्त प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सब जगह अपने स्वरूप को देखने वाला और ध्यानयोग से युक्त अन्तःकरण वाला योगी अपने स्वरूप को

---

५१. गीता के एक श्लोक का सर एड्विन आर्नल्ड कृत अनुवाद।
५२. कविं पुराणम् ..... पुरस्तात्।।८/९।। गी० श्लो०
५३. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्यामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३।। गी०श्लोक
५४. पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।११/६।। गी०श्लो०

सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों को अपने स्वरूप में देखता है।[५५]

ब्रह्म के (पुरुष) विराट् स्वरूप को पतंगों के दृष्टान्त से समझाते हुए कहा है कि जैसे पतंगे मोहवश अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रज्वलित अग्नि में प्रविष्ट होते हैं, ऐसे ही ये सब लोग मोहवश अपना नाश करने के लिए ही बड़े वेग से दौड़ते हुए आपके मुखों में प्रविष्ट हो रहे हैं।[५६]

ब्रह्म के स्वरूप को विभिन्न रूपों में समझाते हुये, हीन उपमा द्वारा प्राकृतिक वस्तुओं से तुलना करते हुए कहा है कि जलों में रस मैं हूँ, चन्द्रमा और सूर्य में प्रभा (प्रकाश) मैं हूँ, सम्पूर्ण वेदों में प्रणव (ओंकार) मैं हूँ, आकाश में शब्द और मनुष्य में पुरुषार्थ मैं हूँ।[५७]

इसी को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि पृथिवी में पवित्र गन्ध मैं हूँ, अग्नि में तेज मैं हूँ, सम्पूर्ण प्राणियों में जीवनी-शक्ति मैं हूँ और तपस्वियों में तपस्या मैं हूँ।[५८]

श्री कृष्ण अर्जुन को संकेत करते हुए कहते हैं कि पृथुनन्दन! सम्पूर्ण प्राणियों का अनादि बीज मुझे जान। बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों में तेज मैं हूँ। इसलिए तू मुझे जानने की कोशिश कर।[५९]

हे पृथानन्दन अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जिसके अन्तर्गत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, वह परम पुरुष परमात्मा अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। इस प्रकार ब्रह्मा के लोक से मेरा लोक विलक्षण है ब्रह्मा के स्वरूप से मेरा स्वरूप विलक्षण है, और ब्रह्मलोक की गति से मेरे लोक (धाम) की गति

---

५५. सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।६/२९।। गीता

५६. यथा प्रदीप्तं ज्वलनं ..... वेगाः। तथैव ..... समृद्धवेगाः।।११/२९।। गीता

५७. रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः पौरुषं नृषु।।७/८।। गीता

५८. पुण्यो गन्धःपृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ। जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।७/९।। गीता

५९. बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।७/१०।। गीता

विलक्षण है। तात्पर्य है कि सब प्राणियों का अन्तिम ध्येय मैं ही हूँ, और सब मेरे ही अन्तर्गत हैं।[६०]

यहाँ पर ब्रह्मलोक के मार्ग का वर्णन करते हुए कहा है कि हे अर्जुन! जिस काल अर्थात् मार्ग में शरीर छोड़कर गये हुए योगी अनावृत्ति को प्राप्त होते हैं, अर्थात् पीछे लौटकर नहीं आते हैं और जिस मार्ग में गये हुए अन्तवृत्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् पीछे लौटकर आते हैं, उस काल को अर्थात् दोनों मार्गों को मैं कहूँगा या बताऊँगा।[६१]

गीता में ब्रह्म का वर्णन विविध प्रकार से कहा गया है। अहं अर्थात् में कैसा-कैसा अथवा किस-किस रूप में ब्रह्म हूँ। इसका वर्णन करते हुए कहा है कि वेदों की जो ऋचाएँ स्वर सहित गाई जाती हैं। उस सामवेद की गीतिका रूप में ही हूँ, अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूँ। देवताओं में मैं इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मैं मन हूँ तथा प्राणियों की चेतना हूँ।[६२] रुद्रों में शंकर, यक्ष राक्षसों में कुबेर हूँ तथा वसुओं में पावक, (अग्नि) शिखरवाले पर्वतों में सुमेरु हूँ।[६३] पुरोहितों में मैं मुख्य बृहस्पति हूँ, सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र हूँ।[६४] महर्षियों में भृगु और वाणियों में एक अक्षर अर्थात् प्रणव मैं हूँ। सम्पूर्ण यज्ञों में जप, यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ मैं हूँ।[६५]

इस प्रकार गीता में जड़ और चेतन पदार्थों में अर्थात् नामों में जो उत्तम पदार्थ अथवा व्यक्ति है उनकी उपमा देते हुए, ईश्वर के विराट् स्वरूप का वर्णन

---

६०. पुरुष स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।८/२२।। गीता

६१. यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।८/२३।। गीता

६२. वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः। इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।१०/२२।।

६३. रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।१०/२३।।

६४. पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्। सेनानीमामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।१०/२४।।

६५. महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्। यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।१०/२५।।

विस्तार रूप में किया गया है। अनेक आचार्यों ने इस वर्णन की व्याख्या पृथक्-पृथक् रूप में की है। इसी से पर और अपर ब्रह्म की अवधारणा सम्पुष्ट की गई है। इस प्रकार का वर्णन वेद और उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। वेद और उपनिषद् के वर्णन को गीता में नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः उपनिषदों में जो समन्वय का सिद्धान्त प्रस्तुत हुआ है। वह वर्णन गीता में भी मिलता है। जैसे कि–ईशोपनिषद् में ईश्वर को चल और अचल कहा गया है। परन्तु गीता की इस अवधारणा के कारण जो आर्ष साहित्य में अवतारवाद की कल्पना नहीं की गई थी। गीता के इस वर्णन से अवतारवाद की कल्पना को बल मिला है। जैसा कि श्री कृष्ण ने कहा है कि जब-जब धर्म के प्रति ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब मैं उत्पन्न होता हूँ। मेरा वह उत्पन्न होना धर्म की स्थापना के लिए होता है।[६६] मैं जिस युग में अपने को उत्पन्न करता हूँ उस समय सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों का नाश तथा धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रकट होता हूँ।[६७]

गीता का यह वर्णन साहित्यिक शैली की उत्कृष्ट शैली कहा जा सकता है। यदि ईश्वर मनुष्य का रक्षक है तो उसे पाप रूपात्मक शक्तियों को नष्ट करने के लिए उत्पन्न होना चाहिये। इसलिए ही धीरे-धीरे २४ अवतारों की कल्पना हिन्दू समाज में की गई है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने गीता के ब्रह्म के स्वरूप के विषय में 'अवतारवाद की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि मनुष्य भी अवतारवाद के ही समान है, यदि वह संसार की माया का उल्लंघन करके अपने को अपूर्णता से ऊपर उठा सके। संसार का कर्ता पुरुषोत्तम अपने प्राणियों से भिन्न नहीं है। दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह अपने को सम्पूर्ण में बराबर प्रविष्ट रखता है। मनुष्य अपने पौरुष को यथार्थरूप देकर पूर्णचेतना को प्राप्त कर सकता है। ऐसी अवस्था में यह एक ही बात है, चाहे तो हम यों कहें कि मनुष्य ऊपर उठकर अपनी प्रकृति के द्वारा कर्म करता हुआ ईश्वर तक पहुँच जाता है, तो भी अवतार का अर्थ साधारणतया यह समझा जाता है कि ईश्वर एक विशेष प्रयोजन को लेकर

---

६६. यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।४/७।।

६७. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।।४/८।। गीता श्लोक

इस पृथ्वी पर अपने को सीमा के अन्दर बाँधकर अवतरित होता है और उस सीमित रूप में भी ज्ञान की पूर्णता रखता है।[६८]

दार्शनिक बुद्धि अवतारों अथवा पूर्णता के आदर्शों को नाना संसार की महान् उन्नति के साथ जोड़ती है। उच्चश्रेणी की आत्माएँ, जिन्होंनें प्रतिनिधिरूप युगों का अपने अन्दर केन्द्रीकरण किया, एक विशेष अर्थ में ईश्वर के मूर्तरूप का अवतार बन गई। इन अवतारी व्यक्तियों के उदाहरण जिन्होंनें अपनी प्रकृति से ऊपर उठकर श्रेष्ठता प्राप्त की और अपने बाह्य तत्त्व से अन्तर्यामी ईश्वर की अभिव्यक्ति जनसाधारण की मोक्षप्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए मनुष्यों के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुए। उनसे मनुष्य उत्साह प्राप्त कर सकता है और उनके स्तर तक बढ़ने का प्रयत्न कर सकता है ये एक प्रकार के आदर्श ढाँचे हैं जिनके अन्दर का एक जिज्ञासु आत्मा अपने को ढालने का प्रयत्न करती है, जिससे कि वह ईश्वर की ओर बढ़ सके। जो कुछ एक विशेष व्यक्ति ने, यथा ईसा अथवा बुद्ध ने, सिद्धि प्राप्त की उसकी पुनरावृत्ति अन्य मनुष्यों के जीवन में भी हो सकती है। इस भूलोक को पवित्र करने अथवा ईश्वर के आदर्श को प्रकाश में लाने की चेष्टा को, इस भौतिक जगत् के विकास की प्रक्रिया में, कई श्रेणियों के अन्दर से गुजरना पड़ा है। विष्णु के दस अवतार मुख्य-मुख्य मार्गों का निर्देश करते हैं। मनुष्य योनि से नीचे अर्थात् जन्तुयोनि के स्तर पर मत्स्य, कच्छप और वराह के अवतार पर जोर दिया गया है, इससे ऊपर उठकर हमें जन्तु जगत् एवं मनुष्य जगत् में संक्रमण मिलता है, अर्थात् नृसिंहावतार, जो मनुष्य और सिंह का संयुक्त रूप है।

यह विकास अभी पूर्णता को नहीं पहुँचता जबकि हम वामनावतार की ओर आते हैं। मनुष्यों में अवतार की पहली श्रेणी अत्यन्त उग्र, असंस्कृत और हिंसक प्रवृत्ति वाले परशुराम की है। जिसने मनुष्य जाति का संहार किया। इसके आगे चलकर हमें मिलते हैं दैवीय तथा आध्यात्मवृत्ति वाले मर्यादापुरुषोत्तम राम का अवतार, जो गृहस्थ-जीवन की पवित्रता का तथा प्रेममय जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है, और कृष्णवतार, जो हमें संसार के युद्ध क्षेत्र में साहस के साथ प्रवेश करने का उपदेश देता है, उसके बाद बुद्ध का अवतार हमें मिलता है, जो जीवमात्र के लिए करुणा के भाव से ओतप्रोत होकर मनुष्य जाति के मोक्ष के

६८. भारतीय दर्शन का इतिहास—डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ५०२

लिए कर्म करता है। इसके बाद भी एक अवतार जो अन्तिम अवतार होगा, अभी आने वाला है। यह रणवीर ईश्वर का रूप कल्कि होगा, जो हाथ में शस्त्र लेकर पाप और अन्याय के विरुद्ध युद्ध करेगा। मनुष्य जाति के महान् संकटकालों में ये अवतार हुए हैं।

वैदिक साहित्य तथा षड्दर्शनों में अवतारवाद की अवधारणा नहीं है। वस्तुतः सभी जीवात्मायें अवतरित हुई हैं। ईश्वर सर्वव्यापक है, वह एक देशीय नहीं हो सकता है। यह तर्क एवं प्रमाणों के विरुद्ध है कि किसी एक जीवात्मा के संहार के लिए भगवान् को अवतरित होना पड़े। उस ईश्वर को एक व्यक्ति को मारने के लिए अवतार लेना पड़े, इसकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। क्योंकि ईश्वर का शाश्वत नियम है कि जन्म और मृत्यु जीवात्मा के अपने कर्मों का फल है। यदि ईश्वर भी अपने शाश्वत एवं सार्वभौमिक नियम का उल्लंघन करना चाहे तो नहीं कर सकता है। वेद में स्पष्ट कहा है कि वह ईश्वर नस नाड़ियों से रहित, और शरीर रहित, वह सब तेजों का तेज है। वह पूर्ण रूपेण शुद्ध एवं पवित्र है। पाप उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता है। वह स्वयं भू है। वह कण-कण के विज्ञान एवं रहस्य को जानता है।[६९] इस प्रकार का ईश्वर जिसके गर्भ में अखिल ब्रह्माण्ड है, वह एक के गर्भ में कैसे आ सकता है। यदि वह जन्म लेगा तो उससे पाप होने की सम्भावना होगी। इसलिए अवतार का अर्थ ईश्वर द्वारा जन्म न लेना होना चाहिए। अपितु इसका यह अर्थ है कि जब विश्व में घोर अन्धकार एवं अज्ञान, पापाचार हो रहा हो, अर्थात् अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा हो, उस समय जो भी जीवात्मा उसका विरोध करता है उस पापाचार को समाप्त करता है, उस समय के सम्पूर्ण समाज को संगठित करके एक अद्‌भुत रूप में कार्य करके समाज में सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करता है, वही अवतार कहलाता है।

सृष्टि संरचना

गीता में सृष्टि संरचना के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर (ब्रह्म) को लेकर ही सृष्टि रचना करता है। इसलिए कहा है कि प्रकृति के वश में होने से परतन्त्र हुए इस प्राणी समुदाय को मैं (कल्पों के आदि में) प्रकृति को अपने

---

६९. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषिपरिभूः स्वयंभू र्याथातथ्योऽर्थान् व्यवधात् शाश्वतिभ्यःसमाभ्यः।। यजु०अ० ४०

द्वारा वश में करके सृष्टि रचना बार-बार करता हूँ।[७०] इस सृष्टि संरचना की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि–"भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्" यहाँ– 'प्रकृति' शब्द व्यष्टि प्रकृति का वाचक है। महाप्रलय के समय सभी प्राणी अपनी व्यष्टि प्रकृति (कारण शरीर) में लीन हो जाते हैं। व्यष्टि प्रकृति समष्टि प्रकृति में लीन होती हैं और समष्टि प्रकृति परमात्मा में लीन हो जाती हैं, परन्तु जब महासर्ग का समय आता है, तब जीवों के कर्मफल देने के लिए उन्मुख हो जाते हैं। उस उन्मुखता के कारण श्रीकृष्ण में–'बहुस्यां प्रजायेय' (छा०–६/२/३) यह संकल्प होता है, जिससे समष्टि प्रकृति में क्षोभ (हलचल) पैदा हो जाता है। जैसे–दही को विलोया जाए तो उसमें मक्खन और छाछ–ये दो चीजें पैदा हो जाती हैं। मक्खन तो ऊपर आ जाता है और छाछ नीचे रह जाती है। यहाँ मक्खन सात्त्विक है, छाछ राजस है और विलोना रूप क्रिया तामस है। ऐसे ही श्री कृष्ण के संकल्प से प्रकृति में क्षोभ हुआ तो प्रकृति से सात्त्विक, राजस और तामस–ये तीनों गुण पैदा हो गये। उन तीनों गुणों से स्वर्ग, मृत्यु और पाताल–ये तीनों लोक पैदा हुए। उन तीनों लोकों में भी अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभाव से सात्त्विक, राजस और तामस जीव पैदा हुए अर्थात् कोई सत्त्व प्रधान है, कोई रज प्रधान है और कोई तम प्रधान है।

इसी महासर्ग का वर्णन करते हुए इस श्लोक में कहा है कि मेरी मूल प्रकृति तो उत्पत्ति स्थान है और मैं उसमें जीवरूप गर्भ का स्थापन करता हूँ। उससे सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति होती है।[७१]

यहाँ पर परमात्मा की प्रकृति को महद् ब्रह्म कहा गया है और परमात्मा के अंश जीवों का अपने-अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्रकृति के साथ विशेष सम्बन्ध करा देने को बीज-स्थापन करना कहा गया है। ये जीव महाप्रलय के समय प्रकृति में लीन हुए थे, तो तत्त्वतः प्रकृति का कार्य प्रकृति में लीन हुआ था और परमात्मा का अंश चेतन समुदाय परमात्मा में लीन हुआ था। परन्तु वह चेतन समुदाय अपने गुणों और कर्मों के संस्कारों को साथ लेकर ही परमात्मा में लीन हुआ था, इसलिए परमात्मा में लीन होने पर भी वह मुक्त नहीं हुआ। अगर वह लीन होने से पहले गुणों का त्याग कर देता, तो परमात्मा में लीन होने

७०. प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।९/८।। गीता।।

७१. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।१४/३।। गीता श्लोक

पर सदा के लिए मुक्त हो जाता, जन्म-मरणरूप बन्धन से छूट जाता। उन गुणों का त्याग न करने से ही उसका महासर्ग के आदि में अलग-अलग योनियों के शरीरों के साथ सम्बन्ध हो जाता है अर्थात् अलग-अलग योनियों में जन्म हो जाता है।

अलग-अलग योनियों में जन्म होने में इस चेतन समुदाय की व्यष्टि प्रकृति अर्थात् गुण, कर्म आदि से माने हुए स्वभाव की परवशता ही कारण है। आठवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भी कहा है कि वही यह प्राणिसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति के परवश हुआ, ब्रह्मा के दिन के समय उत्पन्न होता है और ब्रह्मा के रात्रि के समय लीन होता है।[७२]

'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य'-प्रकृति परमात्मा की एक अनिर्वचनीय अलौकिक विलक्षण शक्ति है। इसको परमात्मा से भिन्न भी नहीं कह सकते और अभिन्न भी नहीं कह सकते। ऐसी अपनी प्रकृति को स्वीकार करके परमात्मा महासर्ग के आदि में प्रकृति के परवश हुए जीवों की रचना करते हैं।

परमात्मा प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं, प्रकृति के बिना नहीं। कारण कि सृष्टि में जो परिवर्तन होता है, उत्पत्ति विनाश होता है, वह सब प्रकृति में ही होता है, भगवान् में नहीं। अतः भगवान् क्रियाशील प्रकृति को लेकर ही सृष्टि की रचना करते हैं। इसमें भगवान् की कोई असमर्थता, पराधीनता, अभाव, कमजोरी आदि नहीं है।

जैसे मनुष्य के द्वारा विभिन्न कार्य होते हैं, तो वे विभिन्न कारण, उपकरण, इन्द्रियों और वृत्तियों से होते हैं। पर यह मनुष्य की कमजोरी नहीं है, प्रत्युत यह उसका इन करण, उपकरण आदि पर आधिपत्य है, जिससे वह इनके द्वारा कर्म करा लेता है। (हाँ मनुष्यों में यह कमी है कि वह उन कर्मों को अपना और अपने लिए मान लेता है, जिससे वह लिप्त हो जाता है अर्थात् अधिपति होता हुआ भी गुलाम हो जाता है। ऐसे ही सृष्टि की रचना करते हैं तो उनका प्रकृति पर आधिपत्य ही सिद्ध होता है, पर आधिपत्य होने पर भी परमात्मा में लिप्तता आदि नहीं होती।

'विसृजामि पुनः पुनः'-यहाँ 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'सृजामि' क्रिया देने का

---

७२. भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।८/१९।। गीता श्लोक

तात्पर्य है कि परमात्मा जिन जीवों की रचना करते हैं, वे विविध कर्मों वाले ही होते हैं। इसलिए परमात्मा उनकी विविध प्रकार से रचना करते हैं। यहाँ यह बात समझने की है कि परमात्मा उन्हीं जीवों की रचना करते हैं, जो व्यक्ति प्रकृति के साथ 'मैं' और 'मेरा' करके प्रकृति के वश में हो गए हैं।

गीता में स्पष्ट किया है कि इस जगत् रचना का निमित्त कारण के रूप में ब्रह्म है। ब्रह्म प्रकृति से इस जगत् की रचना करता है। इस हेतु से ही विविध प्रकार के जगत् की रचना ईश्वर ऐसे ही करता है जैसे कि कुम्भकार मिट्टी से घट को उत्पन्न करता है। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि जैसे वर्फ का जमना हीटर का जलना, ट्राम ओर रेल का आना-जाना लिफ्ट का चढ़ना-उतरना, हजारों मील दूरी पर बोले जाने वाले शब्दों को सुनना, हजारों मील दूरी पर होने वाले नाटक आदि को देखना, शरीर के भीतर का चित्र लेना, अल्पसमय में ही बड़े से बड़ा हिसाब कर लेना आदि-आदि कार्य विभिन्न-विभिन्न यन्त्रों के द्वारा होते हैं। परन्तु उन सभी यन्त्रों में शक्ति बिजली की ही होती है। बिजली की शक्ति के बिना वे यन्त्र स्वयं काम कर ही नहीं सकते क्योंकि उन यन्त्रों में बिजली को छोड़कर कोई सामर्थ्य नहीं है। ऐसे ही संसार में जो कुछ परिवर्तन हो रहा है अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डों का सर्जन, पालन और संहार, स्वर्गादि लोकों में और नरकों में पुण्य-पाप के फल का भोग, तरह-तरह की विचित्र परिस्थितियाँ और घटनायें, तरह-तरह की आकृतियाँ, वेशभूषा, स्वभाव आदि जो कुछ हो रहा है, वह सब का सब प्रकृति के द्वारा ही हो रहा है, पर वास्तव में हो रहा है, परमात्मा की अध्यक्षता अर्थात् सत्ता-स्फूर्ति से ही। परमेश्वर की सत्ता स्फूर्ति के बिना प्रकृति ऐसे विचित्र काम कर ही नहीं सकती, क्योंकि परमात्मा को छोड़कर प्रकृति में ऐसी स्वतन्त्र सामर्थ्य ही नहीं है कि जिससे वह ऐसे-ऐसे काम कर सके तात्पर्य यह हुआ कि जैसे-बिजली में सब शक्तियाँ है, पर वे मशीनों के द्वारा ही प्रकट होती हैं, ऐसे ही भगवान् में अनन्त शक्तियाँ हैं, पर वे प्रकृति के द्वारा ही प्रकट होती है।

परमात्मा संसार की रचना प्रकृति को लेकर करते हैं और प्रकृति संसार की रचना भगवान् की अध्यक्षता में करती है। परमात्मा अध्यक्ष है—इसी हेतु से जगत् का विविध परिवर्तन होता है हेतुमानेन जगद्विपरिवर्तते। वह विविध परिवर्तन क्या है? जब तक प्राणियों का प्रकृति और प्रकृति के कार्य शरीरों के साथ 'मैं' और 'मेरापन' बना हुआ है, तब तक उनका विविध परिवर्तन होता ही रहता है अर्थात् कभी किसी लोक में तो कभी किसी लोक में, कभी किसी शरीर में तो कभी किसी शरीर में परिवर्तन होता ही रहता है। तात्पर्य हुआ कि भगवत्प्राप्ति के बिना

उन प्राणियों की कहीं भी स्थायी स्थिति नहीं होती। वे जन्म-मरण के चक्कर में घूमते ही रहते हैं।

सभी प्राणी परमात्मा में स्थित होने से परमात्मा को प्राप्त हैं, पर जब वे अपने को परमात्मा में न मानकर प्रकृति में मान लेते हैं, अर्थात् प्रकृति के कार्य के साथ मैं और मेरापन का सम्बन्ध मान लेते हैं, तब वे प्रकृति को प्राप्त हो जाते हैं, फिर परमात्मा की अध्यक्षता में प्रकृति उनके शरीरों को उत्पन्न और लीन करती रहती है वास्तक में उन प्राणियों को उत्पन और लीन करने की शक्ति प्रकृति में नहीं है, क्योंकि वह जड़ है। यह स्वयं भी जन्मता-मरता नहीं, क्योंकि परमात्मा के अंश होने से स्वयं अविनाशी है, चेतन है, निर्विकार है। परन्तु प्रकृतिजन्य पदार्थों के साथ में मेरापन का सम्बन्ध जोड़कर, उनके परवश होकर इसको जन्मना-मरना पड़ता है, अर्थात् नये-नये शरीर धारण करने और छोड़ने पड़ते हैं।

जगत् मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की जो क्रिया होती है, वह सब प्रकृति से ही होती है, प्रकृति में ही होती है और प्रकृति की ही होती है, परन्तु उस प्रकृति को परमात्मा से ही सत्ता-स्फूर्ति मिलती है।[७३]

इसी को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में रहता है और अपनी माया से शरीर रूपी यन्त्र पर आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियों को उनके स्वभाव के अनुसार भ्रमण कराता रहता है। ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय देश में रहता है-यह कहने का तात्पर्य है कि जैसे-पृथिवी में सब जगह जल रहने पर भी जहाँ कुआँ होता है, वहीं से जल प्राप्त होता है, ऐसे ही परमात्मा सब जगह समान रीति से परिपूर्ण होते हुए भी हृदय में प्राप्त होते हैं, अर्थात् हृदय सर्वव्यापी परमात्मा की प्राप्ति विशेष स्थान है।[७४]

गीता में कहा है कि मैं अजन्मा और अविनाशी-स्वरूप होते हुए भी तथा सम्पूर्ण प्राणियों को ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ।[७५]

इसी प्रकार कहा है कि समस्त जगत् तीन प्रकार के गुणों के द्वारा अर्थात् सत्त्व, रजस और तमस के द्वारा आच्छादित है। जब तक इस माया एवं मोह से

---

७३. मायाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।९/१०।।

७४. ईश्वरः सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१।।

७५. अजोऽपि सन्नव्ययात्या भूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म-मायया।।४/६।।

छुटकारा पाकर मेरे अर्थात् ईश्वर, जो अविनाशी है उसकी शरण में नहीं आता है। तब तक वह माया में ही फँसा रहता है।[७६]

विभिन्न प्रकार की उपमाओं के द्वारा सृष्टि रचना का विस्तार करते हुए स्पष्ट किया है कि ऊपर की ओर मूल वाले तथा नीचे की ओर शाखा वाले जिस संसार रूप अश्वत्थ वृक्ष को अव्यय कहते हैं और वेद जिसके पत्ते हैं उस संसार वृक्ष को जो जानता है वह सम्पूर्ण वेदों को जानता है।[७७]

सृष्टि रचना का इस प्रकार का वर्णन वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी किया गया है। सृष्टि रचना के लिए ब्रह्मा जी प्रकृति को स्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तव में वे प्रकृति से सम्बन्ध रहित होने के कारण मुक्त हैं। ब्रह्मा के सिवाय दूसरे सम्पूर्ण जीव प्रकृति और उसके कार्य शरीरादि के साथ अहंता-ममता पूर्वक जितना-जितना अपना सम्बन्ध मानते हैं, उतने-उतने ही वे बन्धन में पड़े हुए हैं और उनका बार-बार पतन (जन्म-मरण) होता रहता है अर्थात् उतनी ही शाखाएं नीचे की ओर फैलती रहती हैं। सात्विक, राजस और तामस-ये तीनों गतियाँ 'अधः शाखम्' के ही अन्तर्गत हैं। परमात्मा का ही अंश होने के कारण जीव का एक मात्र वास्तविक सम्बन्ध परमात्मा से है। संसार से तो इसने भूल से अपना सम्बन्ध माना है, वास्तव में है नहीं। विवेक के द्वारा इस भूल को मिटाकर अर्थात् संसार से माने हुए सम्बन्ध का त्याग करके एकमात्र अपने अंशी परमात्मा से अपनी स्वतः सिद्ध अभिन्नता का अनुभव करने वाला ही संसार वृक्ष के यथार्थ तत्त्व को जानने वाला है, और उसी को परमात्मा यहाँ 'वेदविद्' कहते हैं।

यहाँ पर संसार वृक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस संसार वृक्ष की गुणों (सत्त्व, रज, और तम) के द्वारा बढ़ी हुई तथा विषय रूप कोपलों वाली शाखायें नीचे, मध्य में और ऊपर सब जगह फैली हुई हैं। मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधने वाले भी नीचे और ऊपर (सभी) लोकों में व्याप्त हो रहे हैं।[७८]

संसार वृक्ष की मुख्य शाखा ब्रह्मा को माना गया है। कहा जाता है कि ब्रह्मा से सम्पूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यक आदि योनियों की उत्पत्ति और विस्तार हुआ है।

---

७६. त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।७/१३।।

७७. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१५/१।। गीता श्लोक

७८. अधश्चोर्ध्व प्रसृतास्तस्य शाखा गुण प्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्य लोके।।१५/२।। गीता श्लोक

इसलिए ब्रह्मलोक से पाताल तक जितने भी लोक तथा उनमें रहने वाले देव, मनुष्य, कीट आदि प्राणी हैं, वे सभी संसार वृक्ष की शाखायें हैं। जिस प्रकार जल सींचने से वृक्ष की शाखायें बढ़ती हैं, उसी प्रकार गुणरूप जल के सङ्ग से इस संसार वृक्ष की शाखायें बढ़ती हैं। इसीलिए ईश्वर ने जीवात्मा के ऊँच, मध्य और नीच योनियों में जन्म लेने का कारण गुणों का सङ्ग ही बताया है। सम्पूर्ण सृष्टि में ऐसा कोई देश, वस्तु व्यक्ति नहीं जो प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों से रहित हो। (गी०–१८/४०) इसलिए गुणों के सम्बन्ध से ही संसार की स्थिति है। गुणों की अनुभूति गुणों से उत्पन्न वृत्तियों तथा पदार्थों के द्वारा होती है।[७९]

सृष्टि एवं उसके कर्मों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रकृति और प्रकृति का कार्य यह सबका सब ही त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है। इनसे सम्बन्ध जोड़ने से ही बन्धन होता है और इनसे सम्बन्ध-विच्छेद करने से ही मुक्ति होती है, क्योंकि स्वरूप असङ्ग है। स्वरूप 'स्व' है और प्रकृति 'पर' है। प्रकृति से सम्बन्ध जुड़ते ही संसार पैदा हो जाता है, जो कि पराधीनता को पैदा करने वाला है। यह एक विचित्र बात है कि अहंकार में स्वाधीनता मालूम देती है, पर है वास्तव में पराधीनता। कारण कि अहंकार से प्रकृति जन्य पदार्थों में आसक्ति, कामना आदि पैदा हो जाती है, जिससे पराधीनता में भी स्वाधीनता दीखने लग जाती है। इसलिए प्रकृति जन्य गुणों से रहित होना आवश्यक है।

प्रकृति जन्य गुणों में रजोगुण और तमोगुण का त्याग करके सत्त्वगुण बढ़ाने की आवश्यकता है। सत्त्वगुण में भी प्रसन्नता और विवेक तो आवश्यक है, परन्तु सात्त्विक सुख और ज्ञान की आसक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि सुख और ज्ञान की आसक्ति बांधने वाली है।इसलिए इनकी आसक्ति का त्याग करके सत्त्वगुण से ऊँचा उठे। इससे ऊँचा उठाने के लिए ही यहाँ गुणों का प्रकरण आया है। साधकों को तो सात्त्विक ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख इन पर ध्यान देकर इनके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिए। इनका त्याग करने मे सावधानी ही साधन है। सावधानी से सब साधन स्वतः प्रकट होते हैं। प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद करने में सात्त्विकता बहुत आवश्यक है। कारण यह है कि इसमें प्रकाश अर्थात् विवेक जाग्रत रहता है, जिससे प्रकृति से मुक्त होने से बड़ी सहायता मिलती है।

---

७९. न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।१८/४०।। गीता श्लोक

गीता में कहा गया है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—यह आठ प्रकार के भेदों वाली मेरी 'अपरा' प्रकृति है। इस अपरा प्रकृति से भिन्न मेरी जीवात्मा 'परा' प्रकृति को जान, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है।[८०]

परमात्मा सबके कारण हैं, वे प्रकृति को लेकर सृष्टि की रचना करते हैं, जिस प्रकृति को लेकर रचना करते हैं, उसका नाम 'अपरा' प्रकृति है और अपना अंश जो जीव है, उसको परमात्मा 'परा' प्रकृति कहते हैं। अपरा प्रकृति निकृष्ट जड़ और परिवर्तनशील है तथा पर प्रकृति श्रेष्ठ, चेतन और परिवर्तनरहित है।

यहाँ अपरा प्रकृति में पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—ये आठ शब्द लिये गए हैं। इनमें से अगर पाँच स्थूल भूतों से स्थूल सृष्टि मानी जाये तथा मन, बुद्धि और अहंकार—इन तीनों से सूक्ष्म सृष्टि मानी जाये तो इस वर्णन में स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि तो आ जाती है, पर कारण रूप प्रकृति इसमें नहीं आती। कारण रूप प्रकृति के बिना प्रकृति का वर्णन अधूरा रह जाता है। अतः टीकाकार ने पाँच स्थूल भूतों से सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) को लिया है, जो कि पाँच भूतों की कारण हैं। 'मन' शब्द से अहंकार लिया है जो कि मन का कारण है। 'बुद्धि' शब्द से महत्तत्त्व और अहंकार शब्द से प्रकृति ली गयी है। इस प्रकार इन आठ शब्दों का ऐसा अर्थ लेने से ही समष्टि 'अपरा' प्रकृति का पूरा वर्णन होता है, क्योंकि इसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों समष्टि शरीर आ जाते हैं। शास्त्रों में इसी समष्टि प्रकृति का 'प्रकृति-विकृति' के नाम से वर्णन किया गया है। परन्तु यहाँ पर एक बात ध्यान देने की है कि परमात्मा ने यहाँ अपरा और परा प्रकृति का वर्णन 'प्रकृति-विकृति' की दृष्टि से नहीं किया है। यदि परमात्मा 'प्रकृति-विकृति' की दृष्टि से वर्णन करते तो चेतन को प्रकृति के नाम से कहते ही नहीं, क्योंकि चेतन न तो प्रकृति है और न विकृति है। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् ने यहाँ जड़ और चेतन का विभाग बताने के लिए ही अपरा प्रकृति के नाम से जड़ का और परा प्रकृति के नाम से चेतन का वर्णन किया है। इस प्रकार अपरा प्रकृति

---

८०. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।७/४।। गीता श्लोक.

को प्रकाशित करने वाला और आश्रय देने वाला चेतन जब अपरा प्रकृति को अपनी मान लेता है, तब वह जीव रूप परा प्रकृति होती है।[८१]

सांख्यकारिका में मूल प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा है कि मूल प्रकृति तो किसी से पैदा नहीं होती, अतः यह किसी भी विकृति (कार्य) नहीं है। मूल प्रकृति से पैदा होने के कारण महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें–ये सात पदार्थ 'विकृति' भी है और शब्दादि पञ्च विषयों तथा दस इन्द्रियों के कारण होने से प्रकृति भी है अर्थात् ये सातों पदार्थ 'प्रकृति-विकृति' है। शब्दादि पाँच विषय, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलह पदार्थ केवल 'विकृति' है, क्योंकि ये किसी की भी प्रकृति (कारण) नहीं है, अर्थात् इनसे कोई भी पदार्थ पैदा नहीं होता।[८२]

यहाँ पर अपरा और परा प्रकृति के सम्बन्ध में कहा है कि इन दोनों प्रकृतियों के संयोग से ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, ऐसा तुम समझो। मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव तथा प्रलय हूँ।[८३]

'एतद्योनीनि भूतानि'–जितने भी देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम और वृक्ष लता, घास आदि स्थावर प्राणी हैं, वे सब के सब मेरी अपरा और परा प्रकृति के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते हैं।

'सर्वाणीत्युपधारय'–स्वर्गलोक, मृत्युलोक, पाताललोक आदि सम्पूर्ण लोकों के जितने भी स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, वे सब के सब अपरा और परा प्रकृति के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य है कि परा प्रकृति ने अपरा को अपना मान लिया है। उसका सङ्ग कर लिया है, इसी से सब प्राणी पैदा होते हैं–इसको तुम धारण करो अर्थात् ठीक तरह से समझ लो अथवा मान लो।

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'–मात्र वस्तुओं को सत्ता-स्फूर्ति परमात्मा से ही मिलती है, इसलिए भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण जगत् का प्रभव उत्पन्न करने वाला और प्रलय-लीन करने वाला हूँ।

---

८१. अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।७/५।। गीता श्लोक

८२. मूलप्रकृति विकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः।। सां० कारिका

८३. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।७/६।। गीता० श्लो०

प्रभवः का तात्पर्य है कि मैं ही इस जगत् का निमित्तकारण हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि मेरे संकल्प से पैदा हुई है–'सदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति। जैसे घड़ा बनाने में कुम्हार और सोने के आभूषण बनाने में सुनार ही निमित्त कारण है, ऐसे ही संसार मात्र की उत्पत्ति में परमात्मा ही निमित्तकारण है।

प्रलयः कहने का तात्पर्य है कि इस जगत् का उपादान कारण भी मैं ही हूँ, क्योंकि कार्यमात्र उपादान कारण से उत्पन्न होता है, उपादान-कारण-रूप से ही रहता है और अन्त में उपादान-कारण में ही लीन हो जाता है।

जैसे–घड़ा बनाने में मिट्टी उपादान-कारण है, ऐसे ही सृष्टि की रचना करने में भगवान् ही उपादान कारण है। जैसे–घड़ा मिट्टी से ही पैदा होता है, मिट्टी रूप ही रहता है और अन्त में टूट करके घिसते-घिसते मिट्टी ही बन जाता है, और जैसे सोने के यावन्मात्र आभूषण सोने से ही उत्पन्न होते हैं, सोना रूप ही रहते हैं और अन्त में सोना ही रह जाते हैं, ऐसे ही यह संसार परमात्मा से उत्पन्न होता है, और इसी में लीन हो जाता है।

अपरा प्रकृति और भगवान् में तो कार्य-कारण का सम्बन्ध है, क्योंकि अपरा प्रकृति भगवान् का कार्य है, परन्तु परा प्रकृति और भगवान् में कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि परा प्रकृति (जीव) परमात्मा का अंश है, कार्य नहीं। इसलिए अंश-अंशी की दृष्टि से ही भगवान् जीव के कारण कहे गये हैं, कार्य-कारण की दृष्टि से नहीं।

सृष्टि रचना के विषय में गीता में जो वर्णन प्राप्त होता है, वह न तो पूर्णरूपेण शांकर अद्वैत वेदान्त के अनुसार ही है और न ही पूर्णरूपेण रामानुज का शुद्ध विशिष्ट अद्वैतवाद है। अनेक स्थलों पर गीता ने सांख्य और योग को प्रमाण रूप में माना है, ऐसा प्रतीत होता है। माया शब्द का प्रयोग होने से आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य में 'पूर्णरूपेण' अद्वैतवाद की स्थापना करने का प्रयास किया है। रामानुज ने अपने भाष्य में विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की है।

आचार मीमांसा

महाभारत का युद्ध एक प्रकार से विश्व युद्ध माना जा सकता है। गीता का उपदेश करने वाला व्यक्ति महाभारत का महानायक के रूप में विख्यात था। महाभारत युद्ध को रोकने के लिए श्रीकृष्ण ने सभी प्रकार के प्रयास किये थे। यहाँ तक भी प्रस्ताव रखा था कि पाँचों पाण्डवों को एक-एक ग्राम ही दे दिया

जाए, ताकि वे अपना जीवन निर्वाह कर सके। श्रीकृष्ण का युद्ध रोकने का यह प्रयास सफल हो नहीं पाया था। इसलिए कृष्ण ने अर्जुन को जहाँ पर युद्ध करने का उपदेश दिया वहीं पर मनुष्य के अन्दर रहने वाले देवासुर संग्राम का उपदेश भी गीता में विस्तार रूप से प्राप्त होता है। जैसा कि गीता में कहा है कि शुभ और अशुभ कर्मों से जीवात्मा मुक्त हो सकता है। जब वह ईश्वर को सबकुछ समर्पित कर देता है। शुभ और अशुभ किसी भी कर्म को किया जाए, उस कर्म का आरम्भ और अन्त होता है। ऐसे ही उन कर्मों के फलरूप में जो परिस्थिति आती है, उसका भी संयोग और वियोग होता है। तात्पर्य यह है कि जब कर्म और उनके फल निरन्तर नहीं रहते, तो फिर उनके साथ सम्बन्ध निरन्तर कैसे रह सकता है? परन्तु जब कर्ता (कर्म करने वाला) कर्मों के साथ अपनापन कर लेता है, तब उसका फल के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। यद्यपि कर्म और फल के साथ सम्बन्ध कभी रह नहीं सकता, तथापि कर्त्ता उस सम्बन्ध को अपने में मान लेता है। कर्ता स्वयं स्वरूप से नित्य है, इसलिए उस सम्बन्ध को अपने में स्वीकार करने से वह सम्बन्ध भी नित्य प्रतीत होने लगता है।

कर्त्ता शुभ कर्मों का फल चाहता है, जो कि अनुकूल परिस्थिति के रूप में सामने आता है। उस परिस्थिति में यह सुख मानता है। जब तक इस सुख की चाहना रहती है, तब तक वह दुःख से बच नहीं सकता। कारण कि सुख के आदि में अन्त में दुःख ही रहता है तथा सुख से भी प्रतिक्षण स्वाभाविक वियोग होता रहता है। जिसके वियोग को यह प्राणी नहीं चाहता, उसका वियोग तो हो ही जाता है, यह नियम है, तात्पर्य यह हुआ कि सुख की इच्छा से यह नहीं छोड़ता और दुःख इसको नहीं छोड़ता।

जब यह जीव अपने-आप को परमात्मा के समर्पित कर देता है तो फिर उसके सामने जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब दया और कृपा के रूप में परिणत हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जब उसके सामने अनुकूल परिस्थिति आती है तब वह उसमें परमात्मा की दया को मानता है और जब प्रतिकूल परिस्थिति आती है, तब वह उसमें प्रभु की कृपा को मानता है।[८४]

गीता में कहा है कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों में समान हूँ, उन प्राणियों में न तो कोई मेरा द्वेषी है और न कोई प्रिय है, परन्तु जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते

८४. शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥९/२८॥ गीता श्लोक

हैं, वे मेरे में हैं और मैं उनमें हूँ। इसी को स्पष्ट करते कहा है कि मैं स्थावर जङ्गम आदि सम्पूर्ण प्राणियों में व्यापक रूप से और कृपा दृष्टि से सम हूँ। तात्पर्य यह है कि मैं सबमें समान रूप से व्यापक, परिपूर्ण हूँ। 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' (गी०–९/४) और मेरी सब पर समान रूप से कृपा दृष्टि है–'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गी०–५/२९)।

मैं कहीं कम हूँ और कहीं अधिक हूँ, अर्थात् कहीं छोटा तथा कहीं बड़ा दिखाई देता हूँ। जो प्रतिकूल चलते हैं उनमें मैं कम हूँ तथा जो मेरे अनुकूल चलते हैं उनमें मैं अधिक हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि–प्राणियों में जन्म से कर्म से परिस्थति से घटना से, संयोग, वियोग आदि से अनेक तरह से विषमता होने पर भी मैं सर्वथा-सर्वदा सबमें समान रीति से व्यापक हूँ, कहीं कम और कहीं ज्यादा नहीं हूँ।

प्रेम पूर्वक मेरा भजन करने वाले मेरे में हैं और में उनमें हूँ, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो सामान्य जीव है मेरी आज्ञा के विरुद्ध चलने वाले हैं, वे मेरे में और मैं उनमें नहीं हूँ, प्रत्युत वे अपने को मेरे में मानते ही नहीं। वे ऐसा कह देते हैं कि हम तो संसारी जीव हैं, संसार में रहने वाले हैं, वे यह नहीं समझते कि संसार शरीर तो कभी एकरूप, एकरस रहता ही नहीं, तो ऐसे संसार शरीर में हम कैसे स्थित रह सकते हैं? इसको न जानने के कारण ही वे अपने को संसार, शरीर में स्थित मानते हैं। उनकी अपेक्षा जो रात-दिन मेरे भजन-स्मरण में लगे हुए हैं, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब देश में, सब काल में, सब वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति, क्रिया आदि में और अपने-आप में भी मेरे को ही मानते हैं, वे मेरे में विशेष रूप से हैं और मैं उनमें विशेष रूप से हूँ।[८५]

गीता में यह भी कहा गया है कि यदि बूरे कर्म करने वाला व्यक्ति पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पित करके शुभ संकल्प धारण कर लेता है, तो ईश्वर को समर्पण करके पाप वृत्तियों को छोड़ देता है, किये गए पापों से अपने शुद्ध मन से प्रायश्चित्त करता है। उस स्थिति में उसे दुराचारी न मानकर अच्छा व्यक्ति हो जाता है।[८६]

---

८५. समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।९/२९।।

८६. अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।९/३०।। गीता श्लोक

गीता का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि भगवान् की भक्ति करता हुआ व्यक्ति अशुभ कर्म करता रहें, तो भी अच्छा व्यक्ति माना जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि अहंकारादि के कारण जो पाप कर्म करता था वह पाप कर्म करना छोड़कर ईश्वर की भक्ति में समर्पित हो जाना, किये गए पाप कर्मों का अपने अन्दर तत्त्व ज्ञान एवं विवेक को उत्पन्न करके कर्म योग के द्वारा पापवृत्ति का समूल नाश करने का दृढ़ संकल्प करना तथा भविष्य में किसी प्रकार का अशुभ कर्म न करना, और प्रभु की भक्ति में मन, वचन और कर्म से लग जाना तभी बुरा व्यक्ति अच्छा व्यक्ति कहलायेगा। जैसे कि–बाल्मीकि के बारे में उपाख्यान है कि बाल्मीकि ने जब वन के अन्दर ऋषियों को पेड़ से बाँधा और वह अपने परिवारजनों से यह पूछने लगा कि जो मैं पाप कर्म करके आप सब अर्थात् पत्नी, पुत्र, माता आदि का पेट भरता हूँ, इसके लिए मुझे अनेक व्यक्तियों की हत्या करनी पड़ती हैं, और किसी हत्या करने से पाप लगता है, ये हत्यायें मैं केवल अपने लिए नहीं करता हूँ, अपितु आप सबके लिए करता हूँ, जब इन पाप कर्मों का दुःख रूप में भोगने का अवसर आयेगा उस समय आप भी उस दुःख को भोगगें। क्या आप इसके लिए तैयार हैं? सभी ने उस दुःखरूप भोग को भोगने के लिए एक स्वर से मना कर दिया। पत्नी ने कहा–आप मेरे पति हैं, मेरे लिए भोजन आदि का प्रबन्ध करना आपका धर्म है। मेरा भोजन आप कहाँ से क्या करके लाते हो, यह आपको विचार करना है। जो जैसा कर्म करता है वहीं उसका फल भी भोगता है, अन्य उसका फल नहीं भोगता है। इसी प्रकार उत्तर परिवार के सभी सदस्यों ने दिया। बाल्मीकि ने वापस वन में आकर सभी ऋषियों को मुक्त कर दिया। अपने सभी पाप कर्मों को छोड़ने का संकल्प किया। कठोर तप करके सभी पाप कर्मों का प्रायश्चित करते हुए अपने आपको ईश्वर की भक्ति में पूर्णरूपेण समर्पित कर दिया। इस प्रकार डाकू बाल्मीकि ऋषि बाल्मीकि बन गये।

यहाँ पर गीता का सन्देश है कि जब किसी व्यक्ति में विवेक उत्पन्न होता है तो कर्म के दर्शन के रहस्य को समझकर अशुभ कर्मों को छोड़ देता है। जैसा कि गीता ने स्पष्ट किया है कि अशुभ कर्मों को तभी छोड़ा जा सकता है, जब पाप कर्म कौन-कौन से हैं, शुभ और अशुभ प्रवृत्ति क्या है? उसको अच्छी प्रकार से जान लिया जाय, जो व्यक्ति आसुरी प्रवृत्ति वाले हैं उनका चित्त सदैव बुरे कर्मों की ओर ही आकर्षित होता है, वे सदा अपनी अनेक कामनाओं के कारण

तरह-तरह से भ्रमित चित्त वाले मोह जाल में फँसे हुए, भोगों में अत्यन्त आसक्त रहते, ऐसे व्यक्ति भयंकर नरक अथवा दुःखों को प्राप्त करते हैं।[८७]

'अनेक चित्तविभ्रान्ताः'-उन आसुर मनुष्यों का एक निश्चय न होने से उनके मन में अनेक तरह की चाहना होती है, और उस एक-एक चाहना की पूर्ति के लिए अनेक तरह के उपाय होते हैं तथा उन उपायों के विषय में उनका अनेक तरह का चिन्तन होता है, उनका चित्त किसी एक बात पर स्थिर नहीं रहता, अनेक तरह से भटकता ही रहता है।

'मोहजालसमावृत्ताः'-जड़ का उद्देश्य होने से वे मोह जाल से ढके रहते हैं। मोह जाल का तात्पर्य है कि तेरहवें से पन्द्रहवें श्लोक में काम, क्रोध और अभिमानों को लेकर जितने मनोरथ बताये गये हैं, उन सबसे वे अच्छी तरह से आवृत्त रहते हैं अतः उनसे वे कभी छूटते नहीं। जैसे मछली जाल में फँस जाती है, ऐसे वे प्राणी मनोरथ रूप मोह जाल में फँसे रहते हैं। उनके मनोरथों में केवल एक तरफ ही वृत्ति नहीं होती, प्रत्युत दूसरी तरफ भी वृत्ति रहती है। जैसे-इतना धन तो मिल जायेगा, परन्तु उसमें अमुक-अमुक बाँधा लग जायेगी तो? हमारे पास तो नम्बर की इतनी पूँजी है, इसका पता राजकीय अधिकारियों को लग जायेगा तो? इस प्रकार प्रश्नों के लिए मोह जाल में फँसे हुए आसुरी सम्पदा वालों में काम, क्रोध और अभिमान के साथ-साथ भय भी बना रहता है। इसलिए वे निश्चय नहीं कर पाते। कहीं पर जाते हैं ठीक करने के लिए, पर हो जाता है, बे ठीक! मनोरथ सिद्ध न होने से उनको जो दुःख होता है, उसको तो वे ही जानते हैं।

'प्रसक्ताः कामभोगेषु'-वस्तु आदि का संग्रह करने और उसका उपभोग करने में तथा मान-बड़ाई, सुख-आराम आदि में वे अत्यन्त आसक्त रहते हैं।

'पतन्ति नरकेऽशुचौ'-मोह जाल उनके लिए जीते-जी ही नरक है और मरने के बाद उन्हें कुम्भीपाक महारौरव आदि स्थान-विशेष नरकों की प्राप्ति होती है। उन नरकों में भी वे घोर यातना वाले नरकों में गिरते हैं। नरके अशुचौ' कहने का तात्पर्य यह है कि जिन नरकों में महान् असह्य यातना और भयंकर दुःख दिया जाता है, ऐसे घोर नरकों में वे गिरते हैं। क्योंकि जिनकी जैसी स्थिति होती है, मरने के बाद भी उनकी वैसी ही गति होती है। नरकों में जाने वाले

८७. अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृत्ताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६/१६।।

प्राणी को यातनाशरीर की प्राप्ति होती है। उस यातना शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाएँ, तेल में डालकर उबाला जाये, आग में फेंक कर जलाया जाये, तो भी वह मरता नहीं। प्राणी जब तक अपने पाप कर्मों का फल (दण्ड) न भोग लें, तब तक भयंकर यातना देने पर भी वह शरीर मरता नहीं।

अशुभ कर्म किन-किन दुर्गुणों के कारण होते हैं, उसको गीता में स्पष्ट करते हुए कहा है कि वे अहंकार, हठ, घमण्ड, कामना और क्रोध का आश्रय लेने वाले मनुष्य और दूसरों के शरीर में रहने वाले मुझ अन्तर्यामी के साथ द्वेष करते हैं तथा मेरे और दूसरों के गुणों में दोष दृष्टि रखते हैं।[८८]

इसी प्रसंग को गीता में कहा है कि उन द्वेष करने वाले, क्रूर स्वभाव वाले, और संसार में महान् नीच, अपवित्र मनुष्यों को मैं बार-बार आसुरी योनियों में गिराता ही रहता हूँ।[८९]

श्री कृष्ण ने आसुरी योनियों में गिराने का तात्पर्य यह बतलाया है कि उन क्रूर, निर्दयी मनुष्यों पर भी अपनापन है। परमात्मा उनको पराया नहीं समझता, अपना द्वेषी-बैरी नहीं समझता, प्रत्युत अपना ही समझता है। जैसे-जो भक्त जिस प्रकार भगवान् की शरण लेता है, भगवान् भी उनको उसी प्रकार आश्रय देते हैं। ऐसे ही जो परमात्मा के साथ द्वेष करता है, उसके साथ भगवान् द्वेष नहीं करते, प्रत्युत उनको अपना ही समझते हैं। दूसरे साधारण मनुष्य जिस मनुष्य से अपनापन करते हैं, उस मनुष्य को ज्यादा सुख आराम देकर उसको लौकिक सुख में फँसा देते हैं, परन्तु भगवान् जिससे अपनापन करते हैं उनको शुद्ध बनाने के लिए वे प्रतिकूल परिस्थिति भेजते हैं, जिससे वे सदा के लिए सुखी हो जायें उनका उद्धार हो जाय।

जैसे हितैषी अध्यापक विद्यार्थियों पर शासन करके, उनकी ताड़ना करके पढ़ाते हैं, जिससे वे विद्वान् बन जायें, उन्नत बन जाय, सुन्दर बन जायें, ऐसे ही जो प्राणी परमात्मा को जानते नहीं, मानते नहीं और उनका खण्डन करते हैं, उनको भी परम कृपालु भगवान् जानते हैं, अपना मानते हैं, और उनको आसुरी

---

८८. अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१६/१८।। गीता०

८९. तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१६/१९।। गीता०

योनियों में गिराते हैं, जिससे उनके किये हुए पाप दूर हो जायें और वे शुद्ध निर्मल बनकर अपना कल्याण कर लें।

इस आसुरी योनियों का वर्णन करते हुए गीता में कहा है कि मूढ़ मनुष्य मेरे को प्राप्त न करके ही जन्म-जन्मान्तर में आसुरी योनियों को प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अधिक अधम गति में अर्थात् अहंकार नरकों में चले जाते हैं।

'ततो यान्त्यधमां गतिम्'-आसुरी योनियों में जाने पर भी उनके सभी पाप पूरे नष्ट नहीं होते। अतः उन बचे हुए पापों को भोगने के लिए वे उन आसुरी योनियों से भी भयंकर अधम गति को अर्थात् नरकों को प्राप्त होते हैं।[९०]

यहाँ यह शंका हो सकती है कि आसुरी योनियों को प्राप्त हुए मनुष्यों को तो उन योनियों में भगवान् को प्राप्त करने का अवसर ही नहीं है और उनमें वह योग्यता भी नहीं है, फिर भगवान् ने ऐसा क्यों कहा है कि वे मेरे को प्राप्त न करके उससे भी अधम गति में चले जाते हैं?

इस उक्त शंका का समाधान करते हुए कहा है कि भगवान् का ऐसा कहना आसुरी होने से प्राप्त होने से पूर्व मनुष्य शरीर को लेकर ही है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर को पाकर, मेरी प्राप्ति का अधिकार पाकर भी वे मनुष्य मेरी प्राप्ति न करके जन्म-जन्मान्तर में आसुरी योनियों को प्राप्त होते हैं। इतना ही नहीं, वे उन आसुरी योनियों से भी नीचे कुम्भीपाक आदि घोर नरकों में चले जाते हैं।

चाणक्यनीति में कहा गया है कि नरक से आये हुए लोगों में ये लक्षण हुआ करते हैं-अत्यन्त क्रोध, कटु वचन बोलना, दरिद्रता, स्वजनों से बैर, नीचों का सङ्ग और कुलहीन अर्थात् नीच लोगों की सेवा करना।[९१]

इसी बात को विपरीत अर्थों में स्वर्ग से लौटकर मनुष्य लोक में आये हुए लोगों की देह में चार लक्षण उपस्थित रहा करते हैं-दान करने में प्रवृत्ति,

---

९०. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।१६/२०।। गीता०

९१. अत्यन्तकोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसङ्गः कुलहीन सेवा चिह्नानि देह नरकस्थितानाम्।। (चाणक्यनीति ७/१७)

मधुरवाणी बोलना, देवताओं का पूजन करना और ब्राह्मणों को सन्तुष्ट रखना, यह लक्षण चाणक्यनीति में बताये गये हैं।[९२]

गीता में यह काम, क्रोध और लोभ को अधम गति के रूप में माना है। ये तीन प्रकार के नरक के दरवाजे जीवात्मा का पतन करने वाले हैं, इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये।[९३]

श्री कृष्ण ने गीता में काम, क्रोध, और लोभ से रहित होने का महात्म्य बताते हुए कहा है इन नरक के तीनों दरवाजों से रहित हुआ जो मनुष्य अपने कल्याण का आचरण करता है वह परमगति को प्राप्त हो जाता है।[९४]

यहाँ पर कहा गया है कि जो मनुष्य अपने कल्याण के लिए शास्त्र विधि के अनुसार चलते हैं उनको तो परमगति की प्राप्ति होती है, पर जो मनुष्य ऐसा न करके मनमाने ढंग से आचरण करते हैं उनकी क्या गति होती है। उसको गीता में कहा है कि जो मनुष्य शास्त्र विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धि को, न सुख को और न परमगति को ही प्राप्त करता है।[९५]

गीता में मनुष्य को सिद्धि आदि की प्राप्ति को बताते हुए कहा है कि तेरे लिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू इस लोक में शास्त्रविधि से नियत कर्तव्य कर्म करने योग्य है।

इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जिन मनुष्यों को अपने प्राणों से मोह होता है, वे प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को न जानने से विशेष रूप से आसुरी सम्पत्ति में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए तू कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करने के लिए शास्त्र को सामने रख। जिनकी महिमा शास्त्रों ने गायी है और जिनका बर्ताव शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार होता है, ऐसे संत महापुरुषों के आचरणों और वचनों के अनुसार चलना भी शास्त्रों के अनुसार ही चलना है। कारण कि उन महापुरुषों ने शास्त्रों को आदर दिया है, और शास्त्रों के अनुसार

---

९२. स्वर्गस्थितानामिह जीवलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे।
दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी देवार्चनं ब्राह्मणतर्पणं च।। (चाणक्यनीति ७/१६)

९३. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।१६/२१।।

९४. एतैविर्मुक्त कौन्तेय ..... परां गतिम्।।१६/२२।।

९५. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य ..... न परां गतिम्।।१६/२३।।

चलने से ही वे श्रेष्ठ पुरुष बने हुए हैं। वास्तव में देखा जाये तो जो महापुरुष परमात्मतत्त्व को प्राप्त हुए हैं, उनके आचरणों, आदर्शों, भावों आदि से ही शास्त्र बनते हैं।

'शास्त्रं प्रमाणम्' का तात्पर्य यह है कि लोक-परलोक का आश्रय लेकर चलने वाले मनुष्यों के लिए कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है।

'ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि'–प्राण पोषण परायण मनुष्य शास्त्र विधि को नहीं जानते हैं, इसीलिए उनको सिद्धि आदि की प्राप्ति नहीं होती। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि तू तो दैवी सम्पत्ति को प्राप्त है। अतः तू शास्त्रविधि को जानकर कर्तव्य का पालन करने योग्य है।[९६]

गीता में दैवी और आसुरी सम्पदा का विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान के लिए योग में दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, कर्तव्य पालन के लिए कष्ट सहना, शरीर-मन-वाणी की सरलता।

'अभयम्'–अनिष्ट की आशंका से मनुष्य के भीतर जो घबराहट होती है, उसका नाम भय है और उस भय के सर्वथा अभाव का नाम 'अभय' है। भय दो रीति से होता है–(१) बाहर से (२) भीतर से भय।

बाहर से आने वाला भय :–(क) चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि प्राणियों से जो भय होता है, वह बाहर भय है। यह भय शरीर नाश की आशंका से ही होता है। परन्तु जब यह अनुभव हो जाता है कि यह शरीर नाशवान् है और जाने वाला ही है, तो भय नहीं रहता।

बीड़ी-सिगरेट, अफीम, भाँग, शराब आदि के व्यसनों को छोड़ने का एवं व्यसनी मित्रों से अपनी मित्रता टूटने का जो भय होता है, वह मनुष्य की अपनी कायरता से होता है। कायरता छोड़ने से यह भय नहीं रहता।

(ख) अपने वर्ण, आश्रम आदि के अनुसार कर्तव्य पालन करते हुए उसमें परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध काम न हो जाए, हमें विद्या पढ़ाने वाले, अच्छी शिक्षा देने वाले आचार्य, गुरु, सन्त-महात्मा, माता-पिता आदि के वचनों की

---

९६. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।। गीता० श्लो० १६/२४

आज्ञा की अवहेलना न हो जाए, हमारे द्वारा शास्त्र और कुलमर्यादा के विरुद्ध कोई आचरण न बन जाए इस प्रकार का भय भी बाहरी भय कहलाता है। परन्तु यह भय वास्तव में भय नहीं है, प्रत्युत यह तो अभय बनाने वाला भय है। ऐसा भय तो साधक के जीवन में होना ही चाहिए। ऐसा भय होने से ही वह अपने मार्ग पर ठीक तरह से चल सकता है। कहा भी है कि–

हरि-डर, गुरु-डर, जगत्-डर, डर करनी में सार।
रज्जब डर्‌या सो ऊबर्‌या गाफिल खायी मार।।

भीतर से पैदा होने वाला भय :–(क) मनुष्य जब पाप, अन्याय, अत्याचार आदि निषिद्ध आचरण करना चाहता है, तब भीतर से भय पैदा होता है। मनुष्य निषिद्ध आचरण तभी तक करता है, जब तक उसके मन में 'मेरा शरीर बना रहे, मेरा मान-सम्मान होता रहे, मेरे को सांसारिक भोग-पदार्थ मिलते रहें', इस प्रकार सांसारिक जड़ वस्तुओं की प्राप्ति का उनकी रक्षा का उद्देश्य रहता है। परन्तु जब मनुष्य एकमात्र उद्देश्य चिन्मय तत्त्व को प्राप्त करने का हो जाता है। तब उसके द्वारा अन्याय, दुराचार छूट जाते हैं और वह सर्वथा अभय हो जाता है। कारण यह है कि उसके लक्ष्य परमात्मतत्त्व में कभी-कमी नहीं आती और वह कभी नष्ट नहीं होता।

(ख) जब मनुष्य के आचरण ठीक नहीं होते और वह अन्याय, अत्याचार आदि में लगा रहता है, तब उसको भय लगता है। जैसे–रावण से मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस आदि सभी डरते थे, पर वही रावण जब सीता का हरण करने के लिए जाता है, तब वह डरता है।

(ग) मनुष्य शरीर प्राप्त करके यह जीव जब तक करने योग्य को नहीं करता, जानने योग्य को नहीं जानता, और पाने योग्य को नहीं पाता, तब तक वह सर्वथा अभय नहीं हो सकता, उसके जीवन में भय रहता ही है। भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ने पर परमात्मा को ही अपना मानने पर शरीर कुटुम्ब आदि में ममता नहीं रहती। ममता न रहने से मरने का भय नहीं रहता और साधक अभय हो जाता है।

'सत्त्वसंशुद्धिः'–अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि को सत्त्व संशुद्धि कहते हैं। सम्यक् शुद्धि क्या है? संसार से रागरहित होकर भगवान् में अनुराग हो जाना ही अन्तःकरण की सम्यक् शुद्धि है। जब अपना विचार, भाव, उद्देश्य लक्ष्य केवल एक परमात्मा की प्राप्ति का हो जाता है, तब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'–ज्ञान के लिए योग में स्थित होना परमात्मतत्त्व का जो ज्ञान (बोध) है, वह चाहे सगुण का हो या निर्गुण का, उस ज्ञान के लिए योग में स्थित होना आवश्यक है। योग का अर्थ है–सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति में मान-अपमान में निन्दा-स्तुति में, रोग-नीरोगता में सम रहना अर्थात् अन्तःकरण में हर्ष-शोकादि न होकर निर्विकार रहना।

'दानम्'–लोक दृष्टि में जिन वस्तुओं को अपना माना जाता है, उन वस्तुओं को सत्पात्र का तथा देश, काल, परिस्थिति आदि का विचार रखते हुए आवश्यकतानुसार दूसरों को वितीर्ण कर देना 'दान' है। दान कई तरह के होते हैं, जैसे भूमिदान, गोदान, स्वर्णदान, अन्नदान, वस्त्रदान, आदि। इन सबमें अन्नदान प्रधान है। परन्तु अभय दान इससे भी प्रधान (श्रेष्ठ) है।[९७]

'दमः'–इन्द्रियों को पूरी तरह वश में करने का नाम 'दम' है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों, अन्तःकरण और शरीर से कोई भी प्रवृत्ति शास्त्रनिषिद्ध नहीं होनी चाहिए। शास्त्रविहित प्रवृत्ति भी अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके केवल दूसरों के हित के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार की प्रवृत्ति से इन्द्रिय लोलुपता, आसक्ति और पराधीनता नहीं रहती एवं शरीर और इन्द्रियों के बर्ताव शुद्ध निर्मल होते हैं।

'यज्ञः'–'यज्ञ' शब्द का अर्थ आहुति देना होता है। अतः अपने वर्णाश्रम के अनुसार होम, बलिवैश्वदेव आदि करना 'यज्ञ' है। इसके सिवाय गीता की दृष्टि से अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति आदि के अनुसार जिस किसी समय जो कर्तव्य प्राप्त हो जाये, उसको स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके दूसरों के हित की भावना से या भगवत्प्रीत्यर्थ करना 'यज्ञ' है। इसके अतिरिक्त जीविका सम्बन्धी व्यापार, खेती आदि तथा शरीर निर्वाह सम्बन्धी खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, देना-लेना आदि सभी क्रियायें भगवत्प्रीत्यर्थ करना यज्ञ है। ऐसे माता-पिता, आचार्य, गुरुजन आदि की आज्ञा का पालन करना, उनकी सेवा करना, उनको मन, वाणी, तन और धन से सुख पहुँचाकर उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और गौ, ब्राह्मण, देवता, परमात्मा आदि का पूजन करना, सत्कार करना ये सभी 'यज्ञ' हैं।

'स्वाध्याय' :–अपने ध्येय की सिद्धि के लिए भगवान् नाम का जप और

९७. न गोप्रदानं न महीप्रदानं च चान्नदानं हि तथा प्रधानम्।
यथा वदन्तीह बुधाः प्रधानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम्।।पञ्चतन्त्र (मित्रभेद) ३१३

गीता, भागवत्, रामायण, महाभारत आदि के पठन-पाठन का नाम 'स्वाध्याय' है। वास्तव में तो 'स्वस्य अध्यायः' (अध्ययनम्) स्वाध्यायं: के अनुसार अपनी वृत्तियों का अपनी स्थिति का ठीक तरह से अध्ययन करना ही 'स्वाध्याय' है। इसमें भी साधक को न तो अपनी वृत्तियों से अपनी स्थिति की कसौटी लगानी है और न वृत्तियों के अधीन अपनी स्थिति ही माननी है।

'तपः'–भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि सहना भी तप है, पर इस तप में भूख-प्यास आदि को जानकर सहते हैं। वास्तव में साधन करते हुए अथवा जीवन-निर्वाह करते हुए देश, काल, परिस्थिति आदि को लेकर जो कष्ट, आफत, विघ्न आदि आते हैं, उनको प्रसन्नतापूर्वक सहना ही 'तप' है। क्योंकि इस तप में पहले किये गये पापों का नाश होता है, और सहने वाले में सहने की एक नयी शक्ति, एक नया बल आता है। साधक को सावधान रहना चाहिए कि वह उस तपोबल का प्रयोग दूसरों को वरदान देने में, शाप देने या अनिष्ट करने में तथा अपनी इच्छापूर्ति करने में न लगायें, प्रत्युत उस बल को अपने साधन में जो बाधायें आती हैं, उनको प्रसन्नता से सहने की शक्ति बढ़ाने में ही लगाये।

'आर्जवम्'–सरलता, सीधेपन को 'आर्जव' कहते हैं। यह सरलता साधक का विशेष गुण है।[९८] यदि साधक यह चाहता है कि दूसरे लोग मुझे अच्छा समझें, मेरा व्यवहार ठीक नहीं होगा, तो लोग मुझे बढ़िया नहीं मानेंगे, इसलिए मुझे सरलता से रहना चाहिए, तो यह एक प्रकार का कपट ही है। इससे साधक में बनावटीपन आता है, जबकि साधक में सीधा सरल भाव होना चाहिए। सीधा, सरल होने के कारण लोग उसको मूर्ख, बेसमझ कह सकते हैं, पर उससे साधक की कोई हानि नहीं। इसीलिए साधक के शरीर, वाणी और मन के व्यवहार में कोई बनावटीपन नहीं रहना चाहिये। जैसा कि कहा गया है कि महात्माओं के मन, वचन और कर्म ये तीनों में एक ही बात होती है, परन्तु दुरात्माओं के मन, वचन और कर्म तीनों में ही अलग-अलग बातें होती हैं।[९९]

गीता ने इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुये कहा है कि अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध न करना, प्राणियों पर दया करना, सांसारिक विषयों में न ललचाना, संसार

---

९८. अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः। दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। गीता० १६/१

९९. मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्।।

की कामना का त्याग, अन्तःकरण की राग-द्वेष जनित हलचल का न होना, चुगली न करना, अन्तःकरण की कोमलता, अकर्तव्य करने में लज्जा, चपलता का अभाव आदि ये सब दैवी सम्पदा को प्राप्त कर लेना ही मनुष्य का लक्षण है। अर्थात् इन बातों पर चलना दैवी सम्पदा का लक्षण है।[१००]

इसी प्रसंग में और भी बातें गिनाते हुए बताया है कि तेज (प्रभाव), क्षमा, धैर्य, शरीर की शुद्धि, वैरभाव का न रहना और मन को न चाहना, ये सभी बातें श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दैवी सम्पदा को प्राप्त हुए मानव के लक्षण अथवा परिभाषा को बतलाया है।[१०१]

'तेज' :—महापुरुषों का संग मिलने पर उनके प्रभाव से प्रभावित होकर साधारण पुरुष भी दुर्गुण-दुराचारों का त्याग करके सद्गुण-सदाचारों में लग जाते हैं। महापुरुषों की उस शक्ति को ही यहाँ 'तेज' कहा है। ऐसे तो क्रोधी आदमी को देखकर भी लोगों को उसके स्वभाव के विरुद्ध काम करने में भय लगता है, परन्तु यह क्रोध रूप दोष का तेज है।

साधक में दैवी सम्पदा के गुण प्रकट होने से उसको देखकर दूसरों के भीतर स्वाभाविक ही सौम्यभाव आते हैं, अर्थात् उस साधक के सामने दूसरे लोग दुराचार करने में लज्जित होते हैं, हिचकते हैं और अनायास ही सद्भाव पूर्वक सदाचार करने लग जाते हैं, यहीं उन दैवी सम्पदा वालों का तेज (प्रभाव) है।

'क्षमा'—बिना कारण अपराध करने वाले को दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी उसके अपराध को सह लेना और उसको माफ कर देना 'क्षमा' है। यह क्षमा मोह, ममता, भय और स्वार्थ को लेकर भी की जाती है। जैसे—पुत्र के अपराध कर देने पर पिता उसे क्षमा कर देता है, तो यह क्षमा मोह-ममता को लेकर होने से शुद्ध नहीं है। इसी प्रकार किसी बलवान् एवं क्रूर व्यक्ति के द्वारा हमारा अपराध किये जाने पर हम भयवश उसके सामने कुछ नहीं बोलते, तो यह क्षमा भय को लेकर है। मनुष्य क्षमा को अपने में लाना चाहे तो कौन सा उपाय करें? यदि मनुष्य अपना अपकार करने वाले का बुरा न चाहे, तो उसमें क्षमाभाव प्रकट हो जाता है।

---

१००. अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्। दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।१६/२।।

१०१. तेजः क्षमा धृतिः शोचमद्रोहो नातिमानिता। भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। गीता १६/३

'धृति'–किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति में विचलित न होकर अपनी स्थिति में कायम रहने की शक्ति का नाम 'धृति' (धैर्य) है। (गी०–१८/३३) वृत्तियाँ राजसी-तामसी होती हैं तो धैर्य वैसा नहीं रहता। जैसे–बद्रीनारायण के रास्ते पर चलने वाले के कभी गरमी, चढ़ाई आदि प्रतिकूलतायें आती हैं, और कभी ठण्डक, उतराई आदि अनुकूलतायें आती हैं पर चलने वाले को उन प्रतिकूलताओं और अनुकूलताओं को देखकर ठहरना नहीं है, प्रत्युत हमें तो बद्रीनारायण पहुँचना है, इस उद्देश्य से धैर्य और तत्परतापूर्वक चलते रहना है। ऐसे ही साधक को अच्छी-मन्दी वृत्तियों और अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों की ओर देखना ही नहीं चाहिए। इनमें उसे धीरज धारण करना चाहिये, क्योंकि जो अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है, वह मार्ग में आने वाले सुख और दुःख को नहीं देखता है–

"मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्"।। (भर्तृहरि)

'शौचम्'–बाह्यशुद्धि एवं अन्तःशुद्धि का नाम ही शौच है। परमात्मा प्राप्ति का उद्देश्य रखने वाला साधक बाह्य शुद्धि का भी ख्याल रखता है, बाह्य शुद्धि रखने से अन्तःकरण की शुद्धि स्वतः होती है और अन्तःकरण शुद्ध होने पर बाह्य अशुद्धि उसको सुहाती नहीं। इस पर पातञ्जलि ने कहा है कि–'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। यो०द०–२/४०।।

अर्थात्–शौच से साधक की अपने शरीर में घृणा अर्थात् अपवित्र बुद्धि और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा होती है।

'भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत'–श्री कृष्ण ने अर्जुन को ये सभी दैवी सम्पत्ति को प्राप्त हुए मनुष्यों के लक्षण को बतलाया है कि परमात्मा प्राप्ति का उद्देश्य होने पर ये दैवी सम्पत्ति के लक्षण साधक में स्वाभाविक ही आने लगते हैं। कुछ लक्षण पूर्वजन्मों के संस्कारों से भी जाग्रत होते हैं। परन्तु साधक इन गुणों को अपने नहीं मानता और न उनको अपने पुरुषार्थ से उपार्जित ही मानता है, प्रत्युत गुणों के आने में वह परमात्मा की कृपा ही मानता है। दैवी सम्पत्ति के गुणों को अपने नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ये देव-परमात्मा की सम्पत्ति है, व्यक्तिगत (अपनी) किसी की नहीं है। यदि व्यक्तिगत होती, तो यह अपने में रहती, किसी अन्य व्यक्ति की नहीं रहती। इसको व्यक्तिगत मानने से ही अभिमान आता है। अभिमान आसुरी सम्पत्ति का मुख्य लक्षण है। अभिमान की छाया में ही आसुरी सम्पत्ति के सभी अवगुण रहते हैं।

यहाँ पर दैवी सम्पत्ति कहने का तात्पर्य यह हैकि यह भगवान् की सम्पत्ति है। अत: भगवान् का सम्बन्ध होने से, उनका आश्रय लेने से शरणागत भक्त में यह (दैवी सम्पत्ति) स्वाभाविक ही आती है।

यहाँ पर गीता में आसुरी सम्पदा को विस्तार से समझाते हुए कहा है कि दम्भ करना, घमण्ड करना, अभिमान करना, क्रोध करना, कठोरता रखना, और अविवेक का होना भी ये सभी आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए मनुष्यों के लक्षण हैं।

'दम्भ'–मान, बड़ाई, पूजा, ख्याति आदि को प्राप्त करने के लिए अपनी वैसी स्थिति न होने पर भी वैसी स्थिति दिखाने का नाम 'दम्भ' है। यह दम्भ दो प्रकार से होता है–(क) सद्‌गुण-सदाचारों को लेकर। (ख) दुर्गुण-दुराचारों को लेकर। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य प्राण, शरीर, धन, सम्पत्ति, आदर, महिमा आदि को प्रधानता देने लगता है, तब उसमें दम्भ आ जाता है।

'दर्प'–घमण्ड का नाम 'दर्प' है। धन, वैभव, जमीन-जायदाद, मकान, परिवार आदि ममतावाली चीजों को लेकर अपने में जो बड़प्पन अनुभव होता है वह 'दर्प' है। जैसे–मेरे पास इतना धन है, मेरा इतना बड़ा परिवार है, मेरा इतना राज्य है, मेरे पास इतनी जमीन जायदाद है, मेरे पास इतने आदमी हैं अर्थात् मेरे पक्ष में बहुत आदमी हैं, धन, सम्पत्ति, वैभव में मेरी बराबरी कौन कर सकता है? मेरे पास-पास ऐसे पद हैं, अधिकार है, संसार में मेरा कितना यश, प्रतिष्ठा हो रही है, मेरा सम्प्रदाय कितना ऊँचा है। मेरे गुरुजी कितने प्रभावशाली हैं, आदि-आदि।

'अभिमान'–अहंता वाली चीजों को लेकर अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को लेकर अपने में जो बडप्पन का अनुभव होता है, उसका नाम 'अभिमान' है। जैसे–मैं जाति-पाति में कुलीन हूँ, मैं वर्ण आश्रम में ऊँचा हूँ, हमारी जाति में हमारी प्रधानता है, गाँव भर में हमारी बात चलती है, अर्थात् हम जो कह देगें, उसको सभी मानेंगे। मैं बड़ा विद्वान हूँ, मैं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि सिद्धियों को जानता हूँ, इसलिए सारे संसार को उथल-पुथल कर सकता हूँ आदि-आदि।

'क्रोध'–दूसरों का अनिष्ट करने के लिए अन्त:करण में जो जलनात्मक वृत्ति पैदा होती है, उसका नाम क्रोध है। क्रोध के वशीभूत होकर मनुष्य न करने योग्य काम भी कर बैठता है, जिसके फलस्वरूप स्वयं उसको पश्चाताप करना

पड़ता है। क्रोधी व्यक्ति उत्तेजना में आकर दूसरों का अपकार तो करता है, पर क्रोध से स्वयं उसका अपकार कम नहीं होता, क्योंकि अपना अनिष्ट किये बिना क्रोधी व्यक्ति दूसरे का अनिष्ट कर ही नहीं सकता। क्रोध स्वयं को ही जलाता है। क्रोध ही मनुष्य का प्रथम शत्रु है, जो देह में स्थित होकर देह का ही विनाश करता है। जैसे लकड़ी में स्थित अग्नि लकड़ी को ही जलाती है, ऐसे ही देह में स्थित क्रोध रूपी अग्नि देह को ही जलाती है।[१०२]

क्रोधी व्यक्ति की संसार में अच्छी ख्याति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा ही होती है। खास अपने घर के आदमी भी क्रोधी से डरते हैं। इसी अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में भी श्री कृष्ण ने क्रोध को नरकों का दरवाजा बताया है। जब मनुष्य के स्वार्थ और अभिमान में बाँधा पड़ती है, तब क्रोध पैदा होता है, फिर क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धि नाश से मनुष्य का पतन हो जाता है। 'पारुष्यम्'–कठोरता नाम 'पारुष्य' है। यह कई प्रकार का होता है। जैसे–शरीर से अकड़कर चलना, टेढ़े चलना यह शारीरिक पारुष्य है। नेत्रों से टेढ़ा-टेढ़ा देखना यह नेत्रों का पारुष्य है। वाणी से कठोर बोलना जिससे दूसरे भयभीत हो जायँ यह वाणी का पारुष्य है। दूसरों पर आफत, संकट, दुःख आने पर भी उनकी सहायता न करके राजी होना आदि जो कठोर भाव होते हैं यह हृदय का पारुष्य है।

'अज्ञानम्'–यहाँ 'अज्ञान' नाम अविवेक का है। अविवेकी पुरुषों को सत् असत्, सार-असार, कर्तव्य-अकर्तव्य आदि का बोध नहीं होता। कारण यह है कि उनकी दृष्टि नाशवान् पदार्थों के भोग और संग्रह पर ही लगी रहती है। इसलिए परिणाम पर दृष्टि न रहने से वे यह सोच ही नहीं सकते हैं कि ये नाशवान् पदार्थ कब तक हमारे साथ रहेंगे और हम कब तक इनके साथ रहेंगे। पशुओं की तरह केवल प्राण-पोषण में ही लगे रहने के कारण ये क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है, इन बातों को नहीं जान सकते और न जानना ही चाहते हैं।

'अभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्'–ये सब आसुरी सम्पत्ति देवताओं का विरोधवाचक नञ् समास नहीं है, जो मनुष्य केवल इन्द्रियों और प्राणों का पोषण करने में ही लगे हुए हैं, उन मनुष्यों का वाचक यहाँ 'असुर' शब्द है। तात्पर्य

---

१०२. क्रोधो हि शत्रुः प्रथमो नराणां देहस्थितो देहविनाशनाय।
यथास्थितः काष्ठगतो हि वह्निः स एव वह्निदहते शरीरम्।। गीता० २/६२-६३

यह है कि जिनका उद्देश्य परमात्मा को प्राप्त करना नहीं है और जो शरीर धारण करके केवल भोग भोगना चाहते हैं, वे असुर हैं। उन असुरों के सम्पत्ति का नाम आसुरी सम्पत्ति है। ये आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त हुए मनुष्यों के लक्षण हैं। मरण धर्म शरीर के एकता मानकर 'मैं कभी मरूँ नहीं, सदा जीता रहूँ और सुख भोगता रहूँ ऐसी इच्छा वाले मनुष्य के अन्तःकरण में ये लक्षण होते हैं। मनुष्य जब अस्थायी को स्थायी मान लेता है, तब आसुरी सम्पत्ति के दुर्गुण-दुराचारों के समूह के समूह उसमें आ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि असत् का सङ्ग होने से असत् आचरण, असत् भाव और दुर्गुण बिना उद्योग किये अपने-आप आते हैं, जो मनुष्यों को परमात्मा से विमुख करके अधोगति में ले जाने वाले हैं।[१०३]

भगवान् से विमुख मनुष्य में आसुरी सम्पत्ति किस क्रम से आती है, गीता में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति को नहीं जानते और उनमें न बाह्य शुद्धि, न श्रेष्ठ आचरण तथा न सत्य-पालन ही होता है।[१०४]

जहाँ सत्कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती, वहाँ सद्भावों का भी निरादर होता है अर्थात् सद्भाव दबते चले जाते हैं। इसको स्पष्ट किया है कि संसार असत्य, अप्रतिष्ठित और बिना ईश्वर के अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से पैदा हुआ है। इसलिए काम ही इसका कारण है, और कोई कारण नहीं है।[१०५]

इसी प्रसंग को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि नास्तिक दृष्टि का आश्रय लेने वाले जो मनुष्य अपने नित्य स्वरूप को नहीं मानते, जिनकी बुद्धि तुच्छ है, जो उग्रकर्मा और संसार के शत्रु हैं, उन मनुष्यों की सामर्थ्य का उपयोग जगत् का नाश करने के लिए ही होता है।[१०६]

जहाँ सत्कर्म सद्भाव और सद्विचार का निरादर हो जाता है, वहाँ मनुष्य

---

१०३. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्यपार्थ सम्पदमासुरीम्।।१६/४ गीता०

१०४. प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।१६/७

१०५. असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्। अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।१६/८।। गीता०

१०६. एतां दृष्टिमवष्टभ्य ..... जगतोऽहिताः।।१६/९।। गीता०

कामनाओं का आश्रय लेकर क्या करता है, इस प्रसंग को बताते हुए कहा है कि कभी पूरी न होने वाली कामनाओं का आश्रय लेकर दम्भ, अभिमान और मद में चूर रहने वाले तथा अपवित्र व्रत धारण करने वाले मनुष्य मोह के कारण दुराग्रहों को धारण करके संसार में विचरते रहते हैं।[१०७]

सत्कर्म, सद्भाव और सद्विचारों के अभाव में उन आसुरी प्रकृति वालों के नियम, भाव, और आचरण किस उद्देश्य को लेकर और किस प्रकार के होते हैं। इस प्रसंग को गीता में स्पष्ट किया गया है कि वे मृत्युपर्यन्त रहने वाली अपार चिन्ताओं का आश्रय लेने वाले पदार्थों का संग्रह और उनका भोग करने में ही लगे रहने वाले और जो कुछ है, वह इतना ही है ऐसा निश्चय करने वाले होते हैं।[१०८]

वे आशा की सैकड़ों फाँसियों से बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोध के परायण होकर पदार्थों का भोग करने के लिए अन्यायपूर्वक धन-संचय करने की चेष्टा करते रहते हैं।[१०९]

आसुर स्वभाव वाले व्यक्ति लोभ, क्रोध और अभिमान को लेकर किस प्रकार के मनोरथ किया करते हैं, उसे इन तीन श्लोंकों में बताया है कि-इतनी वस्तुयें तो हमने आज प्राप्त कर ली, और अब इस मनोरथ को प्राप्त (पूरा) कर लेंगे। इतना धन तो हमारे पास है ही, इतना धन फिर हो जायेगा।[११०]

वह शत्रु तो हमारे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओं को भी हम मार डालेंगे। हम सर्व समर्थ हैं। हमारे पास भोग-सामग्री बहुत है। हम सिद्ध हैं। हम बड़े बलवान् और सुखी हैं।[१११] हम धनवान् हैं, बहुत से मनुष्य हमारे पास हैं,

---

१०७. काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः। मोहाद् गृहीत्वा सद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१६/१०॥

१०८. चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः। कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥१६/११॥

१०९. आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः। ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥१६/१२॥

११०. इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१६/१३॥

१११. असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१६/१४॥

हमारे समान और कौन है? हम खूब यज्ञ करेंगे, दान देंगे और मौज करेंगे इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित रहते हैं।[११२]

इस प्रकार अभिमान को लेकर मनोरथ करने वाले आसुर लोग केवल 'करेंगे, करेंगे'–ऐसा मनोरथ ही करते रहते हैं, वास्तव में करते कराते कुछ नहीं। वे करेंगे भी तो वह भी नाममात्र के लिए करेंगे। कारण यह है कि 'इत्यज्ञान-विमोहिता'–इस प्रकार तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें श्लोक में वर्णित मनोरथ करने वाले आसुर लोग अज्ञान से मोहित रहते हैं, अर्थात् मूढ़ता के कारण ही उनकी ऐसे मनोरथ वाली वृत्ति होती है।

भक्ति दर्शन

गीता पर माध्वाचार्य ने भाष्य करते हुए कहा है कि केवल सत्य स्वरूप भगवान् ही, जिसे पुरुषोत्तम कहते हैं, भक्ति का विषय बन सकता है। निम्न श्रेणी के पूजा के साधन उस तक पहुँचने के लिए केवल मार्ग बना सकते हैं। दसवें अध्याय में हमें आदेश दिया गया है कि हमें अपना ध्यान विशेष-विशेष पदार्थों तथा ऐसे पुरुषों में स्थिर करना चाहिए जिनके अन्दर असाधारण शक्ति और विभूति दिखाई देती है। इसे प्रतीक उपासना कहते हैं। ग्यारहवें अध्याय में समस्त विश्व को ही ईश्वर का स्वरूप बताया गया है। बारहवें अध्याय में अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर का वर्णन है। केवल सर्वोच्च सत्ता ही मोक्ष दिला सकती है। दूसरे भक्त सान्त लक्ष्य तक पहुँचते हैं। केवल सर्वोपरि ब्रह्म के भक्त ही अनन्त आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं।[११३]

भक्ति दर्शन के विषय में गीता में स्पष्ट किया है कि उस मेरे द्वारा दृढ़ की हुई श्रद्धा से युक्त होकर वह मनुष्य (सकामभावपूर्वक) उस देवता की उपासना करता है और उसकी वह कामना पूरी भी होती है, परन्तु वह कामना पूर्ति मेरे द्वारा विहित की हुई ही होती है।

'स तया श्रद्धया युक्तः....तान्'– मेरे द्वारा दृढ़ की हुई श्रद्धा से सम्पन्न हुआ वह मनुष्य उस देवता की आराधना की चेष्टा करता है और देवता से जिस कामनापूर्ति की आशा रखता है, उस कामना की पूर्ति होती है। यद्यपि वास्तव

---

११२. आढ्योऽभिजनवानस्मि ..... मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥१६/१५॥ गीता०

११३. "अन्तो ब्रह्मादिभक्तानां मद्भक्तानामनन्तता ..... ।" गीता पर माध्वाचार्य की टीका ७/२१॥

में उस कामना की पूर्ति मेरे द्वारा ही की हुई होती है, परन्तु वह उसको देवता से ही पूरी की हुई मानता है। वास्तव में देवताओं में मेरी ही शक्ति है और मेरे ही विधान से वे उनकी कामना पूर्ति करते हैं।

जैसे–सरकारी अफसरों को एक सीमित अधिकार दिया जाता है कि तुम लोग अमुक विभाग में अमुक अवसर पर इतना खर्च कर सकते हो, इतना इनाम दे सकते हो। ऐसे ही देवताओं में एक सीमा तक ही देने की शक्ति होती है, अतः वे उतना ही दे सकते हैं, अधिक नहीं। देवताओं में अधिक से अधिक इतनी शक्ति होती है कि वे अपने-अपने उपासकों को अपने-अपने लोकों में ले जा सकते हैं। परन्तु अपनी उपासना का फल भोगने पर उनको वहाँ से लौटकर पुनः संसार में आना पड़ता है। यहाँ 'मयैव' कहने का तात्पर्य है कि संसार में स्वतः जो कुछ संचालन हो रहा है, वह सब मेरा ही किया हुआ है। अतः जिस किसी को जो कुछ मिलता है, वह सब मेरे द्वारा विधान किया हुआ ही मिलता है।[११४]

इस श्लोक में श्रीकृष्ण उपासना के अनुसार फल का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उन अल्पबुद्धि मनुष्यों को उन देवताओं की आराधना का फल अन्तवाला (नाशवान्) ही मिलता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरे को ही प्राप्त होते हैं।[११५]

इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा है कि 'अन्तवत्तुफलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्'–देवताओं की उपासना करने वाले अल्पबुद्धि युक्त मनुष्यों को अन्तवाला अर्थात् सीमित और नाशवान् फल मिलता है। यहाँ शंका होती है कि परमात्मा के द्वारा विधान किया हुआ फल तो नित्य ही होना चाहिए, फिर उनको अनित्य फल क्यों मिलता है?

इसका समाधान करते हुए कहा है कि एक तो उनमें नाशवान् पदार्थों की कामना है और दूसरी बात, वे देवताओं को भगवान् से अलग मानते हैं। इसलिए उनको नाशवान् फल मिलता है। परन्तु उनको दो उपायों से अविनाशी फल मिल सकता है–एक तो वे कामना न रखकर (निष्काम भाव से) देवताओं की

---

११४. स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।७/२२।। गीता०

११५. अन्तवन्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।७/२३।। गीता०

उपासना करें तो उनको अविनाशी फल मिल जायेगा, और दूसरा वे, देवताओं को भगवान् से भिन्न न समझकर अर्थात् भगवत् स्वरूप ही समझकर उनकी उपासना करें तो यदि कामना रह भी जायेंगी तो उपाय पाकर उनको अविनाशी फल मिल सकता है। अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

यहाँ पर 'अल्पमेधसाम्' कहने का तात्पर्य है कि उनको नियम तो अधिक धारण करने पड़ते हैं तथा विधियाँ भी अधिक करनी पड़ती हैं, पर फल मिलता है सीमित और अन्तवाला। परन्तु मेरी आराधना करने में इतने नियमों की जरूरत नहीं है, तथा उतनी विधियों की भी आवश्यकता नहीं है, पर फल मिलता है, असीम और अनन्त। इस तरह देवताओं की उपासना में नियम हों, अधिक, फल हो थोड़ा और हो जाये जन्म-मरण रूप बन्धन और मेरी आराधना में नियम हों कम, फल हो अधिक हो जाये कल्याण-ऐसा होने पर भी वे उन देवताओं की उपासना में लगते हैं, और मेरी उपासना में नहीं लगते। इसलिए उनकी बुद्धि अल्प है, तुच्छ है।

'देवान्देवयजो यान्ति मद्‌भक्ता यान्ति मामपि'–देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करने वाले मेरे को ही प्राप्त होते हैं। यहाँ 'अपि' पद से यह सिद्ध होता है कि मेरी उपासना करने वालों की कामनापूर्ति भी हो सकती है और मेरी प्राप्ति तो हो ही जाती है अर्थात् मेरे भक्त सकाम हो या निष्काम, वे सब के सब मेरे को ही प्राप्त होते हैं। परन्तु भगवान् की उपासना करने वालों की सभी कामनायें पूरी हो जाये, यह नियम नहीं है। भगवान् उचित समझें तो पूरी कर भी दें और न भी करें अर्थात् उनका हित होता हो तो पूरी कर देते हैं, और अहित होता हो तो कितना ही पुकारने पर तथा रोने पर नहीं करते।

यह नियम है कि भगवान् का भजन करने से भगवान् के नित्य सम्बन्ध की स्मृति हो जाती है, क्योंकि भगवान् का सम्बन्ध सदा रहने वाला है। अतः भगवान् की प्राप्ति होने पर फिर संसार में लौटकर नहीं आना पड़ता 'यद्‌गत्वा न निवर्तन्ते' (१५/६)। परन्तु देवताओं का सम्बन्ध सदा रहने वाला नहीं है, क्योंकि उनका कर्म जनित है। अतः देवतालोक की प्राप्ति होने पर संसार में लौटकर आना ही पड़ता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।।

यहाँ 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' का तात्पर्य है कि जीव कैसे ही आचरणों वाला क्यों न हो अर्थात् वह दुराचारी से दुराचारी क्यों न हो, आखिर है तो मेरा

ही अंश। उसने केवल आसक्ति और आग्रहपूर्वक संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ लिया है। अगर संसार की आसक्ति और आग्रह न हो तो उसे मेरी प्राप्ति हो जायेगी।

यद्यपि देवताओं की उपासना का फल सीमित और अन्तवाला होता है, फिर भी मनुष्य उसमें क्यों उलझ जाते हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि बुद्धिहीन मनुष्य मेरे सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमभाव को न जानते हुए अव्यक्त (मन, इन्द्रियों से पर) मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मा को मनुष्य की तरह ही शरीर धारण करने वाला मानते हैं।[११६]

"अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं.....अनुत्तमम्"–जो मनुष्य निर्बुद्धि हैं और जिनकी मेरे में श्रद्धा-भक्ति नहीं है, वे अल्पमेधा के कारण अर्थात् समझ की कमी के कारण मेरे को साधारण मनुष्य की तरह अव्यक्त से व्यक्त होने वाला अर्थात् जन्मने-मरनेवाला मानते हैं। मेरा जो अविनाशी अव्ययभाव है अर्थात् जिससे बढ़कर दूसरा कोई हो ही नहीं सकता और जो देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि में पूरिपूर्ण रहता हुआ इन सबसे अतीत, सदा एकरूप रहने वाला, निर्मल और असम्बद्ध है–ऐसे मेरे अविनाशी भाव को वे नहीं जानते और मेरा अवतार लेने का जो तत्त्व है, उसको नहीं जानते। इसलिए वे मेरे को साधारण मनुष्य मानकर मेरी उपासना नहीं करते, प्रत्युत देवताओं की उपासना करते हैं।

'अबुद्धय:'–पद का अर्थ नहीं है कि उसमें बुद्धि का अभाव है, प्रत्युत बुद्धि में विवेक रहते हुए भी अर्थात् संसार को उत्पत्ति-विनाशशील जानते हुए भी इसे मानते नहीं यही उनमें बुद्धिरहितपना है, मूढ़ता है।

दूसरा भाव यह है कि कामना को कोई रख नहीं सकता, कामना रह नहीं सकती, क्योंकि कामना पहले नहीं थी और कामनापूर्ति के बाद भी कामना नहीं रहेगी। वास्तव में कामना की सत्ता ही नहीं है, फिर भी उसका त्याग नहीं कर सकते, यही अबुद्धिपना है।

मेरे स्वरूप को न जानने से वे अन्य देवताओं की उपासना में लग गये और उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थों की कामना में लग जाने से वे बुद्धिहीन मनुष्य मेरे से विमुख हो गये। यद्यपि वे मेरे से अलग नहीं हो सकते तथा मैं भी उनसे अलग

---

११६. अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धय:।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।७/२४।। गीता०

नहीं हो सकता, तथापि कामना के कारण ज्ञान ढक जाने से वे देवताओं की तरफ खिंच जाते हैं। अगर वे मेरे को जान जाते, तो फिर केवल मेरा ही भजन करते।

(१) बुद्धिमान् मनुष्य वे होते हैं, जो भगवान् के शरण होते हैं। वे भगवान् को ही सर्वोपरि मानते हैं।

(२) अल्पमेधावाले मनुष्य वे होते हैं, जो देवताओं के शरण होते हैं। वे देवताओं को अपने से बड़ा मानते हैं, जिससे उनमें थोड़ी नम्रता, सरलता रहती है।

(३) अबुद्धिवाले मनुष्य वे होते हैं, जो भगवान् देवता जैसा भी नहीं मानते, किन्तु साधारण मनुष्य जैसा ही मानते हैं। वे अपने को ही सर्वोपरि, सबसे बड़ा मानते हैं। यही तीनों में अन्तर है।

'परं भावमजानन्तः' का तात्पर्य है कि मैं अज रहता हुआ, अविनाशी होता हुआ और लोकों का ईश्वर होता हुआ ही अपनी प्रकृति को वश में करके योगमाया से प्रकट होता हूँ, इस मेरे परमभाव को बुद्धिहीन मनुष्य नहीं जानते।

'अनुत्तमम्' कहने का तात्पर्य यह है कि पन्द्रहवें अध्याय में जिसको क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम बताया है अर्थात् जिससे उत्तम दूसरा कोई है ही नहीं, ऐसे मेरे अनुत्तम भाव को वे नहीं जानते।

गीता में यह स्पष्ट किया है कि वेदों में कहे गये सकामनुष्ठान को करने वाले सोमरस को पीने वाले जो पाप रहित मनुष्य यज्ञों के द्वारा इन्द्ररूप से ईश्वर से पूजन करके स्वर्ग प्राप्ति की कामना करते हैं, वे पुण्य के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त करके वहाँ स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोगों को भोगते हैं।[११७]

इसी का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि ऐसे भक्तजन स्वर्गलोक के भोगों को भोगकर पुण्यों के क्षीण होने पर मृत्युलोक में पुनः आ जाते हैं। इस प्रकार कहा है कि–वेदों में कहे गये सकाम धर्म का आश्रय लिए हुए भोगों की कामना करने वाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते रहते हैं।

ईश्वर की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि सम्पूर्ण प्राणी के आदि, मध्य तथा अन्त में ईश्वर ही है। तथा सभी प्राणियों के अन्तःकरण में व्यापक होकर ईश्वर ही निवास करता है।

---

११७. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देव भोगान्।।९/२०।।

श्रद्धा से भक्ति करते हुए गीता में कहा है कि ईश्वर के अन्दर मन को लगाकर नित्य निरन्तर ईश्वर की भक्ति जो भक्त परम श्रद्धा से युक्त होकर भक्ति करते हैं। वे गीता के मत में श्रेष्ठ योगी हैं।[११८] इसका अभिप्राय यह है कि अपने मन में किसी विषय को जानने को पूर्ण अभिलाषा और उत्कण्ठा के अभाव तथा अपना प्रश्न न होने के कारण सत्संग आदि में सुनी हुई शास्त्रों में पढ़ी हुई साधन सम्बन्धी अति महत्त्वपूर्ण बातें प्रायः साधकों के लक्ष्य में नहीं आती। यही विषय यदि उनको प्रश्न करने पर समझाया जाता है तो वे उसको अपने लिए विशेष रूप से कही गयी मानकर श्रद्धा पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। गीता में शरीर प्रकृति का और जीव परमात्मा का अंश माना जाता है। प्रकृति के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहं से तादात्म्य ममता और कामना न करके केवल भगवान् को अपना मानने वाला यह कह सकता है कि मैं भगवान् का हूँ और भगवान् मेरे हैं। ऐसे कहने या मानने वाला भगवान् से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता है। चेतन और नित्य होने के कारण जीव का भगवान् से सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। परन्तु उस नित्य सिद्ध वास्तविक सम्बन्ध को भूलकर जीवात्मा ने अपना सम्बन्ध प्रकृति एवं उसके कार्य शरीर में मान लिया, जो तात्त्विक नहीं है। अतः जब तक प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध है तभी से भगवान् से सम्बन्ध मानने की आवश्यकता है। प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही भगवान् से अपना वास्तविक और नित्य सम्बन्ध प्रकट हो जाता है। इसी को गीता में "नष्टोमोहस्मृति लब्धाः" (गी०)।

जड़ता अर्थात् प्रकृति के सम्मुख होने के कारण तथा उस सुख भोग रहने के कारण जीव शरीर से तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ लेता है, अर्थात् मैं शरीर हूँ ऐसा मान लेता है। इस प्रकार शरीर से माने हुए शरीर से वह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा बालकपन, जवानी आदि अवस्थाओं को बिना स्मरण किये हुए भी अपनी ही अवस्था मान लेता है। जीव की विजातीय शरीर और संसार के साथ सम्बन्ध की मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि सदा उसी को मानकर संसार में बार-बार आवागमन करता रहता है।

सगुण-उपासकों को सर्वश्रेष्ठ योगी कहकर निर्गुण उपासकों के बारे में

---

११८. मय्यावेश्य मनो मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः॥१२/२॥

बताते हुए कहा है कि जो अपनी इन्द्रियों को वश में करके अचिन्त्य, सब जगह परिपूर्ण, अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुव, अक्षर और अव्यक्त की उपासना करते हैं। वे प्राणिमात्र के हित में रत और सब जगह समबुद्धि वाले मनुष्य मुझे ही प्राप्त होते हैं।[११९]

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनों ही प्रकार के साधकों के लिए सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव रखना जरूरी है। सम्पूर्ण प्राणियों के हित से अलग-अलग हित मानने से 'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधक के लिए आगे चलकर बाधक होता है। अपने लिए किये जाने वाले साधन से 'अहम्' बना रहता है, इसलिए 'अहम्' को पूर्णतया मिटाने के लिए साधक को प्रत्येक क्रिया (खाना-पीना, सोना आदि एवं जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) संसारमात्र के हित के लिए ही करनी चाहिए। संसार के हित में ही अपना हित निहित है। भगवान् की मात्र शक्ति परहित में लग रही है। अतः जो सब के हित में लगेगा, भगवान् की शक्ति उसके साथ हो जायेगी।

जो अव्यक्त ब्रह्म है उसकी साधना आसक्ति चित्त वाले साधकों के लिए अत्यधिक कठिन है। क्योंकि शरीर अभिमानों के द्वारा अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करना सहज नहीं है।[१२०]

इसी प्रकार गीता में भक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है कि उन चार भक्तों में ईश्वर में लगा हुआ अनन्यभक्ति वाला ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी भक्तों को मैं (ईश्वर) अत्यधिक प्रिय हूँ, वह ईश्वर को भी अत्यन्त प्रिय है।[१२१] सभी प्रकार के भक्त श्रेष्ठ भाव वाले हैं। परन्तु ज्ञानी भक्त तो ईश्वर का स्वरूप ही है। ऐसा गीता का मत है। इसमें हेतु देते हुए कहा है कि वह युक्त आत्मा और जिससे श्रेष्ठ दूसरी कोई गति नहीं है, ऐसे ईश्वर ही दृढ़ आस्था रखने वाला दृढ़ भक्त ही होता है। ये सब के सब भगवान् में समर्पण का भाव रखते हैं।[१२२]

---

११९. ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं ..... ध्रुवम्/संनियम्येन्द्रिय ..... रताः।।१२/३-४।।

१२०. क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।१२/५।।

१२१. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च माम प्रियः।।७/१७।।

१२२. उदारा सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।७/१८।।

इसी प्रसंग को चौथे अध्याय के ग्याहरवें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि 'भक्त जिस प्रकार मेरे शरण होते हैं, उसी प्रकार मैं उनका भजन करता हूँ। भक्त भगवान् को चाहते हैं भगवान् भक्तों को चाहते हैं। परन्तु इन दोनों में पहले भक्त ने ही सम्बन्ध जोड़ा है और जो पहले सम्बन्ध जोड़ता है वह उदार होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् सम्बन्ध जोड़े या ना जोड़े इसकी भक्त परवाह नहीं करता। वह तो अपनी तरफ से पहले सम्बन्ध जोड़ता है और अपने को समर्पित करता है इसलिए वह उदार है।

देवताओं के भक्त सकाम भाव से विधिपूर्वक यज्ञ, दान, तप आदि कर्म करते हैं तो देवताओं को उनकी कामना के अनुसार वह चीज देनी ही पड़ती है, क्योंकि देवता लोग उनका हित-अहित नहीं देखते। परन्तु भगवान् का भक्त अगर भगवान् से कोई चीज माँगता है तो भगवान् अगर उचित समझें तो वह चीज दें देते हैं अर्थात् देने से उसकी भक्ति बढ़ती हो तो दे देते हैं और भक्ति न बढ़ती हो तो, संसार में फसावट होती हो तो नहीं देते। कारण कि भगवान् परम पिता है, और परम हितैषी है। तात्पर्य यह है कि अपनी कामना की पूर्ति हो अथवा न हो तो भी वे भगवान् का ही भजन करते हैं, भगवान् के भजन को नहीं छोड़ते यह उनकी उदारता है।

संसार के भोग और रुपये-पैसे प्रत्यक्ष सुखदायी दिखते हैं, और भगवान् के भजन में प्रत्यक्ष जल्दी सुख नहीं दीखता, फिर भी संसार के प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर अर्थात् भोग भोगने और संग्रह करने की लालसा को छोड़कर भगवान् का भजन करते हैं, यह उनकी उदारता ही है।

भगवान् के दरबार में माँगने वालों को भी उदार कहा जाता है। 'यदि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई। अर्थात् कोई कुछ माँगता है, कोई धन चाहता है, कोई दुःख दूर करना चाहता है ऐसे माँगने वाले भक्तों को भी भगवान् उदार कहते हैं, यह भगवान् की विशेष उदारता ही है।

भक्तों का लौकिक-पारलौकिक कामनापूर्ति के लिए अन्य की तरफ किञ्चिन्मात्र भी भाव नहीं जाता। वे केवल भगवान् से ही कामनापूर्ति चाहते हैं। भक्तों का यह अनन्य भाव ही उनकी उदारता है।

'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'-यहाँ तू पद से ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त की विलक्षणता बतायी है कि दूसरे भक्त तो उदार हैं ही पर ज्ञानी को उदार क्यों कहें, वह तो मेरा स्वरूप ही है। स्वरूप में किसी निमित्त से, किसी कारण विशेष से

प्रियता नहीं होती, प्रत्युत अपना स्वरूप होने से स्वतः स्वाभाविक प्रियता होती है।

प्रेम में प्रेमी अपने-आपको प्रेमास्पद पर न्यौछावर कर देता है, अर्थात् प्रेमी अपनी सत्ता अलग नहीं मानता। ऐसे ही प्रेमास्पद भी स्वयं प्रेमी पर न्यौछावर हो जाते हैं। उनको इस प्रेम द्वैत की विलक्षण अनुभूति होती है। ज्ञानमार्ग का जो अद्वैतभाव है वह नित्य-निरन्तर अखण्ड रूप से शान्त सम रहता है। परन्तु प्रेम का जो अद्वैतभाव है, वह एक-दूसरे की अभिन्नता का अनुभव कराता हुआ प्रतिक्षण वर्धमान रहता है। प्रेम का अद्वैतभाव एक होते हुए भी दो है और दो होते हुए भी एक है। इसलिए प्रेम-तत्त्व अनिर्वचनीय है। शरीर के साथ सर्वथा अभिन्नता (एकता) मानते हुए भी निरन्तर भिन्नता बनी रहती है और भिन्नता का अनुभव होने पर भी भिन्नता बनी रहती है। इसी तरह प्रेम तत्त्व में भिन्नता रहते हुए भी अभिन्नता बनी रहती है, और अभिन्नता का अनुभव होने पर भी अभिन्नता बनी रहती है। जैसे—नदी समुद्र में प्रविष्ट होती है तो प्रविष्ट होते ही नदी और समुद्र के जल की एकता हो जाती है। एकता होने पर भी दोनों तरफ से जल का एक प्रवाह चलता रहता है अर्थात् कभी नदी का समुद्र की तरफ और कभी समुद्र का नदी की तरफ एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है। ऐसे ही प्रेमी का प्रेमास्पद की तरफ और प्रेमास्पद का प्रेमी की तरफ प्रेम का एक विलक्षण प्रवाह चलता रहता है। उनका नित्य योग में वियोग और वियोग में नित्ययोग इस प्रकार प्रेम की एक विलक्षण लीला अनन्तरूप से अनन्तकाल तक चलती रहती है। उसमें कौन प्रेमास्पद है और कौन प्रेमी है इसका ख्याल नहीं रहता। वहाँ दोनों ही प्रेमास्पद हैं और दोनों ही प्रेमी हैं। यही 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' पदों का तात्पर्य है।

"आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्"—क्योंकि जिससे उत्तम गति कोई हो ही नहीं सकती, ऐसे सर्वोपरि मेरे में ही उसकी श्रद्धा विश्वास और दृढ़ आस्था है। तात्पर्य है कि उसकी वृत्ति किसी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को लेकर मेरे से हटती नहीं, प्रत्युत एक मेरे में ही लगी रहती है। केवल भगवान् ही मेरे हैं'—इस प्रकार मेरे में उसका जो अपमान है, उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता को लेकर क़िञ्चिन्मात्र भी फर्क नहीं पड़ता प्रत्युत वह अपमान दृढ़ होता और बढ़ता ही चला जाता है। वह युक्तात्मा है अर्थात् वह किसी भी अवस्था में मेरे से अलग नहीं होता, प्रत्युत सदा मेरे से अभिन्न रहता है।

गीता में क़र्मयोग और भक्ति योग की समीक्षा करते हुए कहा है कि कर्मयोगी तो अपने समीप शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जो कुछ ब्रह्माण्ड का जड़ अंश है। उसको स्वार्थ अभिमान और कामना का त्याग करके संसार की सेवा में लगा देते हैं। इससे अपनी मानी हुई वस्तुओं से अपनापन छूटकर उनसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। तथा जो स्वतः स्वाभाविक असंगता है वह स्वतः ही प्रकट हो जाती है। भक्त अपने स्वाभाविक कर्मों और समय-समय पर किये गए पारमार्थिक कर्मों के द्वारा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त परमात्मा की पूजा में समर्पित हो जाता है।[१२३]

इन दोनों में भाव की भिन्नता होने से इतना अन्तर अवश्य है कि कर्मयोगी की सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रभा सबको सुख पहुँचाने में लगा रहता है। क्रियाओं को करने की गति न्यून होकर स्वयं में असंगत आ जाती है। भक्ति में सम्पूर्ण क्रियायें परमात्मा की साधना सामग्री बन जाने से जड़ता से विमुक्ता होकर भगवान् की सम्मुखता आ जाती है, और प्रेम बढ़ जाता है।

भक्त तो पहले से ही भगवान् के सम्मुख होकर अपने-आपको भगवान् के लिए समर्पित कर देता है। स्वयं के अनन्यता पूर्वक भगवान् के समर्पित हो जाने से उसका भोजन आदि काम, धन्धा आदि लौकिक कर्म और जप, स्वाध्याय, सत्संग आदि पारमार्थिक क्रियायें भी भगवान् को अर्पण हो जाती हैं। उसकी लौकिक पारमार्थिक क्रियाओं में बाहर से भेद देखने में आता है, परन्तु वास्तव में भेद नहीं रहता है।

कर्मयोगी और ज्ञानयोगी ये दोनों अन्त में एक हो जाते हैं, जैसे—कर्मयोगी कर्मों के द्वारा जड़ता का त्याग करता है अर्थात् सेवा के द्वारा उसकी सभी क्रियायें संसार के लिए अर्पित हो जाती हैं तथा स्वयं में असंग हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञानयोगी तत्त्व ज्ञान के द्वारा असंगता का त्याग करता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा उसकी सभी क्रियायें प्रकृति में अर्पित हो जाती हैं। और वह स्वयं असंग हो जाता है। इसका अभिप्रायः यह है कि दोनों के अर्पण करने के प्रकार में अनन्तर है। असंगता में दोनों एक हो जाते हैं। इस असंगता में ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों स्वतन्त्र हो जाते हैं। उनके लिए किञ्चित् मात्र भी कर्मों का बन्धन नहीं रहता है। केवल कर्तव्य पालन के लिए ही कर्तव्य कर्म करने से कर्म योगी के सम्पूर्ण

---

१२३. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।१८/४६।। गीता०

कर्म लीन हो जाते हैं, तथा ज्ञान रूप अग्नि से ज्ञान योगी के सम्पूर्ण कर्मभस्म हो जाते हैं।

ज्ञान, कर्म और भक्तियोग में असंग होना आवश्यक है। इस प्रकार तीनों में समन्वय अपने आप हो जाता है।

मोक्ष

गीता ही नहीं अपितु समस्त भारतीय साहित्य में जीवन का अन्तिम उद्‌देश्य मुक्ति ही है। मोक्ष के साधन के विषय में विभिन्न भाष्यकारों एवं आचार्यों के अनेक मत प्राप्त होते हैं। मोक्ष ज्ञान से प्राप्त होता है एवं कर्म से प्राप्त होता है, तथा भक्ति से प्राप्त होता है। यह एक आचार्यों का शास्त्रार्थ का विषय रहा है। शंकर का मत है कि मोक्ष अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार सेवा अथवा भक्ति के द्वारा नहीं होता है। इसलिए सेवा और भक्ति मुक्ति के प्रारम्भिक साधन अवश्य हो सकते हैं। अन्तिम साधन के रूप में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मोक्ष का साधन कौन सा श्रेष्ठ है इसका वर्णन करते हुए गीता में कहा है कि अभ्यास से शास्त्र का ज्ञान श्रेष्ठ है। शास्त्र ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है। ध्यान से भी सब कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है। कर्म फल त्याग से तत्काल ही परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।[१२४]

वास्तव में कर्मफल त्याग कर्मयोग का ही दूसरा नाम है। कारण यह है कि कर्मयोग में 'कर्मफलत्याग' ही मुख्य है। यह कर्मयोग भगवान् श्री कृष्ण के अवतार से बहुत पहले ही लुप्तप्राय: हो गया था। (गी०–४/२)। श्री कृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर कृपा पूर्वक इस कर्मयोग को पुनः प्रकट किया (गी०–४/३)। भगवान् ने इसको प्रकट करके प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक मनुष्य को कल्याण का अधिकार प्रदान किया, अन्यथा अध्यात्ममार्ग के विषय में कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता था कि एकान्त के बिना, कर्मों को छोड़े बिना, वस्तुओं का त्याग किये बिना, स्वजनों के त्याग के बिना प्रत्येक परिस्थिति में मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है।

कर्मयोग में फलासक्ति का त्याग ही मुख्य है। स्वस्थता, अस्वस्थता,

---

१२४. श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।।१२/१२।। गीता०

धनवत्ता-निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ कर्मों के फलरूप में आती हैं। इनके साथ राग-द्वेष रहने में कभी परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। (गी०-२/४२/४४)।

उत्पन्न होने वाली मात्र वस्तुयें कर्मफल है। जो फलरूप में मिला है। वह सदा रहने वाला नहीं होता, क्योंकि जब कर्म सदा नहीं रहता, तब उससे उत्पन्न होने वाला फल सदा कैसे रहेगा? इसलिए उसमें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल कभी नहीं मिला है, उसकी क‌ामना करना भी भूल है। अतः फलासक्ति का त्याग कर्मयोग का बीज है।

कर्मयोग में क्रियाओं की प्रधानता प्रतीत होती है और शरीरादि जड़ पदार्थों के बिना क्रियाओं का होना सम्भव नहीं है, इसलिए कर्मों एवं फलों से छुटकारा पाना कठिन मालूम देता है। परन्तु वास्तव में देखा जाये तो मिली हुई कर्म सामग्री को अपनी तथा अपने लिए मानने से ही फलासक्ति का त्याग कठिन मालूम देता है। शरीरादि प्राप्त-सामग्री में किसी प्रकार की आसक्ति न रखकर कर्तव्य-कर्म करने से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। वास्तव में क्रियायें कभी बन्धन कारक नहीं होती। बन्धन का मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्ति के मिटने पर सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं। (गी०-४/१९/२३)।

श्रीकृष्ण ने कर्मयोग को कर्मसंन्यास से भी श्रेष्ठ बताया है। (गी०-५/२) भगवान् के मत में स्वरूप से कर्मों का त्याग करने वाला व्यक्ति संन्यासी नहीं है, प्रत्युत कर्मफल का आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करने वाला कर्म योगी ही संन्यासी है। (गी०-६/१) आसक्तिरहित कर्मयोगी सभी संकल्पों से मुक्त होकर सुगमतापूर्वक योगारूढ़ हो जाता है। इसके विपरीत जो कर्मों तथा उनके फलों को अपना और अपने लिए मानकर सुख-भोग की इच्छा रखते हैं, वे वास्तव में पाप का ही भोग करते हैं। अतः फलासक्ति ही संसार में बन्धन का मुख्य कारण है-'फले सक्तो निबध्यते' (गी०-५/१२)। इसका त्याग ही वास्तव में त्याग है।

गीता फलासक्ति के त्याग पर जितना जोर देती है, उतना और किसी साधन पर नहीं। दूसरे साधनों का वर्णन करते समय भी कर्मफल के त्याग को उनके साथ रखा गया है। भगवान् के मतानुसार त्याग वहीं है, जिसमें निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन हो और फलों में किसी प्रकार की आसक्ति न हो। उत्तम से उत्तम कर्मों में भी आसक्ति न हो और साधारण से साधारण कर्मों में भी द्वेष न हो क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायेंगे, पर उनमें होने

वाली आसक्ति और द्वेष रह जायेगा, जो बन्धन का हेतु है। इसके विपरीत अहंभाव तथा राग-द्वेष से रहित मनुष्य के सामने समस्त प्राणियों का संसार रूप कर्तव्य कर्म भी आ जाये, तो भी वह बँध नहीं सकता। (गी०-१८/१७) इसलिए भगवान् कर्मफल त्याग को तप, ज्ञान, कर्म अभ्यास, ध्यान आदि साधनों से श्रेष्ठ बताते हैं। दूसरे साधनों में क्रियायें तो उत्तम प्रतीत होती है, पर विशेष लाभ दिखाई नहीं देता तथा श्रम भी करना पड़ता है। परन्तु फलासक्ति का त्याग कर देने पर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रय देश, आदि का परिवर्तन ही करना पड़ता है। प्रत्युत साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थिति है, उसी में फलासक्ति के त्याग से बहुत सुगमता से अपना कल्याण कर सकता है।

नित्य प्राप्त परमात्मा की अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ परमात्मा की प्राप्ति कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्य प्राप्त की प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिए। वह प्राप्त साधनों से नहीं होती, प्रत्युत जड़ता के त्याग से होती है। ममता कामना और आसक्ति ही जड़ता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ मै या मेरा मानना ही जड़ता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते-करते जब जड़ता से सम्बन्ध-विच्छेद होता है, तभी नित्य प्राप्त परमात्मा की अनुभूति होती है। इस जड़ता का त्याग जितना कर्म फलत्याग से अर्थात् कर्मयोग सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि से नहीं। कारण यह है कि ज्ञानादि साधनों में शरीरादि को अपना और साधन को अपने लिए मानते रहने से जड़ता से विशेष सम्बन्ध बना रहता है। इन साधनों का लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति होने से आखिर में सफलता तो मिल जाती है, किन्तु उसमें देरी और कठिनाई होती है। परन्तु कर्मयोग में आरम्भ से ही जड़ता है त्याग का लक्ष्य रहता है। जड़ता का सम्बन्ध ही नित्यप्राप्त परमात्मा की अनुभूति में प्रधान बाधा है-यह बात अन्य साधनों में स्पष्ट प्रतीत नहीं होती।

जब साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि मेरे को कभी किसी परिस्थिति में मन, वाणी अथवा क्रिया से चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट, अभक्ष्य-भक्षण आदि कोई शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं करने हैं, तब उसके द्वारा स्वत: विहित कर्म होने लगते हैं।

साधक को निषिद्ध कर्मों के त्याग का ही निश्चय करना चाहिए, न कि विहित कर्मों को करने का। कारण कि अगर साधक विहित कर्मों को करने का निश्चय करता है तो उसमें विहित कर्म करने का अभिमान आ जायेगा, जिससे

उसका 'अहम्' सुरक्षित रहेगा। विहित कर्म करने का अभिमान रहने से निषिद्ध कर्म होते हैं। परन्तु मैं निषिद्ध कर्म नहीं करूँगा, इस निषेधात्मक निश्चय में किसी योग्यता सामर्थ्य की अपेक्षा न रहने के कारण साधक में अभिमान नहीं आता। निषिद्ध कर्मों के त्याग में भी मूर्खता अभिमान आ सकता है। अभिमान, आने पर विचार करे कि जो नहीं करना चाहिए, वह नहीं किया तो इसमें विशेषता किस बात की? फल की कामना भी तभी होती है, जब कुछ किया जाता है। जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्ध कर्म का त्याग ही किया है, तब फल की कामना क्यों होगी? अत: करने का अभिमान न रहने से फलासक्ति त्याग स्वत: हो जाती है। फलासक्ति का त्याग होने पर शान्ति स्वत: सिद्ध है।

साधन और सम्बन्ध :–श्री कृष्ण ने नवें दसवें और ग्याहरवें श्लोक में क्रमश: तीन साधन बताये हैं–अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफल त्याग। विचारपूर्वक देखा जाए तो उनमें से (कर्मफल त्याग को छोड़कर) प्रत्येक साधन में शेष दोनों साधन भी आ जाते हैं, जैसे–(१) अभ्यासयोग में भगवान् के लिए भजन, नाम-जप आदि क्रियायें करने से वह भगवदर्थ है ही और नाशवान् फल की कामना न होने से उसमें कर्मफल त्याग भी है। (२) भगवदर्थ कर्म में भगवान् के लिए कर्म होने से अभ्यास योग भी है और नाशवान् फल की कामना न होने से कर्म फलत्याग भी है।

वास्तव में साधक को सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्य को दृढ़ करना चाहिए। इसके बाद उसे यह पहचानना चाहिए कि उसका सम्बन्ध वास्तव में किसके साथ है, फिर चाहे कोई भी साधन करें अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करें, अथवा कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिए श्रेष्ठ हो जायेगा। जब साधक का यह लक्ष्य हो जायेगा कि उसे भगवान् को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादि काल से उसका भगवान् के साथ स्वत: सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिए छोटा नहीं रह जायेगा। किसी साधन का छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टि से ही है। वास्तव में मुख्यता उद्देश्य की ही है। अत: साधक को चाहिए कि वह अपने उद्देश्य में कभी किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता न आने दे।

किसी साधन की सुगमता या कठिनता साधक की 'रुचि' और उद्देश्य पर निर्भर करती है। रुचि और उद्देश्य एक भगवान् का होने से साधन सुगम होता है तथा रुचि संसार की और उद्देश्य भगवान् का होने से साधन कठिन हो जाता

है। जैसे–भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करने पर तृप्ति का अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजन पर भोजन की रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होने के कारण भोज्य पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह साधकों की रुचि, विश्वास और योग्यता के अनुसार साधन भी भिन्न होते हैं, पर भगवान् की अप्राप्ति का दु:ख तथा भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा (भूख) सभी साधकों में एक ही होती है। साधक चाहे किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, साधन की पूर्णता के बाद भगवत्प्राप्ति रूप आनन्द की अनुभूति (तृप्ति) भी सबको एक जैसी ही होती है।

इस प्रकरण में अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् ने मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए चार साधन बताये हैं–(१) समर्पण योग (२) अभ्यास योग (३) भगवान् के सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान और (४) सर्वकर्मफलत्याग।

यद्यपि चारों साधनों का फल भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि साधकों में रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता की भिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न साधनों का वर्णन हुआ है। वास्तव में चारों ही साधन समान रूप से स्वतंत्र और श्रेष्ठ हैं इसलिए साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधन को सर्वोपरि मानना चाहिए।

अपने साधन को किसी भी तरह हीन (निम्न श्रेणी का) नहीं मानना चाहिए और साधन की सफलता के विषय में कभी निराश भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि कोई भी साधन निम्नश्रेणी का नहीं होता। अगर साधक का एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो साधन उसकी रुचि, विश्वास तथा योग्यता के अनुसार हो, साधन पूरी सामर्थ्य और तत्परता से किया जाए और भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा भी तीव्र हो, तो सभी साधन एक समान है। साधक को उद्देश्य सामर्थ्य और तत्परता के विषय में कभी हतोत्साह नहीं होना चाहिए। भगवान् साधक से इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यता को साधन में लगा दें। साधक चाहे भगवत्तत्व को ठीक-ठीक न जानने पर सर्वज्ञ भगवान् तो उसके उद्देश्य, भाव, सामर्थ्य, तत्परता आदि को अच्छी तरह जानते ही हैं। यदि साधक अपने उद्देश्य भाव, चेष्टा, तत्परता, उत्कण्ठा आदि में किसी प्रकार की कमी न आने दे तो भगवान् स्वयं उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। वास्तव में अपने उद्योग, बल, ज्ञान आदि की कीमत से भगवान् की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अगर भगवान् के दिये हुए बल, ज्ञान आदि को भगवान् प्राप्ति के लिए ही लगा दिया जाये तो वे साधक को कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

संसार में भगवत्प्राप्ति ही सबसे सुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं, क्योंकि इसी के लिए मनुष्य शरीर मिला है। सब प्राणियों के कर्म भिन्न-भिन्न होने के कारण किन्हीं दो व्यक्तियों को भी संसार के पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जबकि भगवत्प्राप्ति सबसे एक समान ही होती है, क्योंकि भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है।

ऊपर जो चार साधन बताये गये हैं, उनमें से प्रथम तीन साधन तो मुख्यतः भगवत्प्राप्ति की उत्कण्ठा जाग्रत करने वाले हैं, और चौथा साधन कर्म फलत्याग मुख्यतः संसार सम्बन्ध विच्छेद करने वाला है।

मुक्ति के साधनों का वर्णन करते हुए गीता में कहा है कि तपस्या से योग श्रेष्ठ है, ज्ञान से भी योग श्रेष्ठ है, कर्म से भी योग श्रेष्ठ है, इसलिए मुक्ति प्राप्ति के लिए योग करना सर्वोत्तम है।[१२५] इसी भाव को विस्तार करते हुए कहा है कि भक्ति करने से जब साधक में अनन्य भक्तिभाव उत्पन्न होता है, तो चार प्रकार की भक्ति करने वाले भक्त ईश्वर की शरण में होते हैं। जिनमें पवित्र कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु अर्थात् प्रेमी होते हैं।[१२६]

ईश्वर के योग में आश्रित हुआ साधक यदि और अधिक कठिन साधन नहीं कर सकता है तो, मन एवं इन्द्रियों को वश में करके सम्पूर्ण कर्म के फल का त्याग करना चाहिए। विभिन्न साधनों का वर्णन करते हुए कहा है कि कुछ साधक ध्यानयोग के द्वारा साधना करते हुए परमात्मा का अनुभव करते हैं।[१२७] जो मुमुक्षु इन ध्यान, योग, कर्मयोग, सांख्य योग आदि साधनों को नहीं जानते, वे केवल जीवन मुक्त पुरुषों से श्रवण करके तथा उसी प्रकार की उपासना करते हैं, वे भी ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं।

जो साधक शास्त्र विधि को छोड़कर मनमाना अपनी इच्छा से आचरण करता है वह अन्तःकरण की शुद्धि को नहीं प्राप्त कर सकता है। न सुख को प्राप्त करता है और न ही परम गति को प्राप्त करता है।[१२८]

---

१२५. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि ..... तस्माद्योगीभवार्जुन।।६/४६।।

१२६. चतुर्विधा भजन्ते मां जना सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।७/१६।।

१२७. ध्यानेनात्मनिपश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।१३/२४।।

१२८. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।१६/२३।।

मुक्ति प्राप्त करने के योग का इतिहास बतलाते हुए गीता में कहा है कि–भगवान् ने इस योग का सूर्य को उपदेश दिया, तदुपरान्त सूर्य ने अपने पुत्र वैवश्वत को यह योग विद्या बतलायी, उसके पश्चात् मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को यह योग समझाया था। अतः योग विद्या अनादि काल से चली आ रही है।[१२९] वह परम ब्रह्म निर्गुण और निराकार है। उसका साक्षात्कार करना अनेक जन्मों की योग साधना का परिणामः होता है, उस परम अक्षर की प्राप्ति का उपाय बतलाते हुए कहा है कि–ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वे योग करते हैं। इसी प्रकार कहा गया कि जो जितेन्द्रिय तथा साधन परायण हो, ऐसा श्रद्धावान् व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त होता है। और ज्ञान को प्राप्त होकर परम शान्ति को प्राप्त करता है।[१३०]

जब कर्मयोगी कर्म फल को त्यागकर नैष्ठिकी शान्ति को प्राप्त होता है। परन्तु सकाम पुरुष कामना के कारण फल में आसक्त होकर बँध जाता है। यहाँ कर्मफल का त्याग करने का तात्पर्य यह है कि आसक्ति का त्याग करना। क्योंकि वास्तव में त्याग कर्मफल का नहीं, प्रत्युत कर्मफल की इच्छा का होता है। कर्मफल की इच्छा का त्याग करने का अर्थ है–किसी भी कर्म और कर्मफल से अपने लिए कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी प्रकार का (सुख) मिलता है और दूसरा परिणाम में फल मिलता है। इन दोनों ही फलों की इच्छा का त्याग करना है। अपना कुछ नहीं है, अपने लिए कुछ नहीं करना है और अपने को कुछ नहीं चाहिए। इस प्रकार कर्ता के सर्वथा निष्काम होने पर कर्मफल की इच्छा का त्याग हो जाता है।[१३१]

संचित कर्मों के अनुसार प्रारब्ध बनता है, प्रारब्ध के अनुसार मनुष्य का जन्म होता है और मनुष्य जन्म में नये कर्म होने से नये कर्म संस्कार संचित होते हैं। परन्तु कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके कर्म करने से कर्म भुने हुए बीज की तरह संस्कार उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं और उनकी संज्ञा 'अकर्म' हो जाती है। (गी०–४/२०) वर्तमान में निष्कामभावपूर्वक किये कर्मों के प्रभाव

---

१२९. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकेवऽब्रवीत्।।४/१।। गीता०

१३०. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानंतत्परः संयतेन्द्रिय। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।४/३९।। गीता०

१३१. युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।५/१२।। गीता०

से उसके पुराने कर्म संस्कार (संचित कर्म) भी समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उसके पुनर्जन्म का कारण ही समाप्त हो जाता है। यहाँ पर कर्मफल को बताया गया है कि कर्मफल चार प्रकार के होते हैं–

(१) **दृष्ट कर्मफल**–वर्तमान में किये जाने वाले नये कर्मों का फल, जो तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दीखता है, जैसे–भोजन करने से तृप्ति होना आदि दृष्ट कर्मफल कहलाते हैं।

(२) **अदृष्ट कर्मफल**–वर्तमान में किये जाने वाले नये कर्मों का फल, जो अभी तो संचित रूप से संगृहीत होता है, पर भविष्य में इस लोक और परलोक में अनुकूलता या प्रतिकूलता रूप में मिलेगा।

(३) **प्राप्त कर्मफल**–प्रारब्ध के अनुसार वर्तमान में मिले हुए शरीर, जाति, वर्ण, धन, सम्पत्ति, अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आदि।

(४) **अप्राप्य कर्मफल**–प्रारब्ध कर्म के फलरूप में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्य में मिलने वाली है।

उपर्युक्त चार प्रकार के कर्मफल में दृष्ट और अदृष्ट कर्मफल 'क्रियमाण कर्म' के अधीन हैं तथा प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल 'प्रारब्ध कर्म' के अधीन हैं। कर्मफल का त्याग करने का अर्थ है–दृष्ट कर्मफल का आग्रह नहीं रखना तथा मिलने पर प्रसन्न या अप्रसन्न न होना, अदृष्ट कर्मफल की आशा न रखना, प्राप्त कर्मफल में ममता ना करना तथा मिलने पर खुशी या दुखी ना होना और अप्राप्त कर्मफल की कामना न करना कि मेरा दुःख मिट जाए और सुख हो जाए।

साधारण मनुष्य किसी ना किसी कामना को लेकर ही कर्मों का आरम्भ करता है और कर्मों की समाप्ति तक उस कामना का चिन्तन करता रहता है। जैसे व्यापारी धन की इच्छा से व्यापार आरम्भ करता है तो उसकी वृत्तियाँ धन के लाभ और हानि की ओर ही रहती हैं कि लाभ हो जाए हानि न हो। धन का लाभ होने पर प्रसन्न होता है और हानि होने पर दुःखी होता है। इसी तरह सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई आदि कोई न कोई अनुकूल फल की इच्छा रखकर ही कर्म करते हैं। परन्तु कर्मयोगी फल की इच्छा का त्याग करके कर्म करता है।

यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि अगर कोई इच्छा ही न हो तो कर्म

करें ही क्यों? इसके उत्तर में सबसे पहली बात तो यह है कि कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। यदि ऐसा मान भी लिया जाए कि मनुष्य बहुत अंशों में कर्मों का स्वरूप से त्याग कर सकता है, तो भी मनुष्य के भीतर जब तक संसार के प्रति राग है, तब तक वह शान्त (कर्म किये बिना) नहीं बैठ सकता। उसे विषयों का चिन्तन अवश्य होगा, जो कि कर्म है। विषयों का चिन्तन होने से वह क्रमशः पतन की ओर चला जायेगा। इसलिए जब तक राग का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता, तब तक मनुष्य कर्मों से छूट नहीं सकता। कर्म करने से पुराना राग मिटता है और निःस्वार्थ भाव से केवल परहित के लिए कर्म करने से नया राग पैदा नहीं होता है।

विचारपूर्वक देखा जाए तो कर्मफल की इच्छा रखकर कर्म करना बड़ी बेसमझी है। पहली बात तो यह है कि जब प्रत्येक कर्म आरम्भ और समाप्त होने वाला है, तब उसका फल नित्य कैसे होगा? फल भी प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म और कर्मफल–दोनों ही नाशवान् हैं। या तो फल नहीं रहेगा या तो हमारा कहलाने वाला शरीर नहीं रहेगा। दूसरी बात इच्छा रखें या ना रखें, जो फल मिलने वाला है वह तो मिलेगा ही। इच्छा करने से अधिक फल मिलता हो और इच्छा न करने से कम फल मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। अतः फल की कामना करना बेसमझी ही है।

निष्काम भाव से अर्थात् फल की कामना न रखकर लोकाहितार्थ कर्म करने से कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। कर्मयोगी के कर्म उद्देश्यहीन अर्थात् पागल के कर्म की तरह नहीं होते, प्रत्युत परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का महान् उद्देश्य रखकर ही वह लोकहितार्थ सब कर्म करता है। उसके कर्मों का लक्ष्य परमात्मतत्त्व रहता है, सांसारिक पदार्थ नहीं। शरीर में ममता न रहने से उसमें आलस्य, अकर्मण्यता आदि दोष नहीं आते, प्रत्युत वह कर्मों को सुचारु रूप से और तत्परता के साथ करता है।

गीता में मुक्ति के विषय में ऐसे विभिन्न दृष्टिकोण मिलते हैं कि जिनमें भाष्यकारों के भिन्न-भिन्न दार्शनिक सिद्धान्त विकसित हुए हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि गीता में मोक्ष की व्याख्या सांख्यवादियों के कैवल्य के रूप में की गई प्रतीत होती है। यदि शरीर जब तक साथ रहेगा, तब तक प्रकृति भी अपना कार्य करती रहेगी। शरीर का छोड़े हुए खोल की भाँति जब तक सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, तब तक अमूर्तात्मा शरीर के क्रिया के प्रति अनासक्त

रहेगी। शंकर भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब तक शरीर रहेगा तब तक जीवन भी रहेगा, और कर्म भी रहेगा। हम प्रकृति की साधनता से बच नहीं सकते। जीवन्मुक्त पुरुष जो शरीर धारण किये हुए है, बाह्य जगत् की घटनाओं से प्रतिक्रियारूप में सम्बद्ध है, यद्यपि वह उनमें आसक्त नहीं होता। ऐसा कोई सुझाव नहीं मिलता है कि सम्पूर्ण प्रकृति अमरत्व के धर्म में परिणत हो जाती हो, जो दैवी अंश की अनन्त शक्ति है। आत्मा और शरीर का द्वैतभाव प्रकृत है, और इनमें परस्पर समन्वय नहीं हो सकता अतएव जीवात्मा अपनी पूर्णता को तभी प्राप्त कर सकती है जबकि शरीर की यथार्थता के भाव को सर्वथा दूर-दूर कर दिया जाए। इस विचार के आधार पर हम सर्वोच्च ब्रह्म के कर्म के विषय में सोच भी नहीं सकते, क्योंकि समस्त क्रिया का आधार अर्थात् अस्थायी निर्माणकार्य एवं अस्थायी प्रतीति अनन्त के विशाल वक्ष पर विलीन हो जाते हैं। हमारे दृष्टिकोण का पूर्णरूपेण त्याग सब प्रकार की प्रगति का अन्त प्रतीत होता है। आचार्य शंकर कहते हैं कि अनन्त के जीवन की पूर्णता का ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते। इस मत को स्वीकार करते हुए वे कहते हैं कि गीता के वे श्लोक जिनमें आत्माओं की अनेकता ध्वनित होती है, परम अवस्था से सम्बन्ध नहीं रखते, अपितु वे केवल सापेक्ष अवस्थाओं के ही सम्बन्ध में हैं।

हमें और भी श्लोक मिलता है जिनमें प्रकट होता है कि मुक्त आत्माओं के लिए भी कर्म सम्भव हो सकता है। अन्तर्दृष्टि तथा ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति सर्वोपरि ब्रह्म का अनुकरण करते हैं और इस संसार में कार्य करते हैं।[१३२] सर्वोच्च अवस्था सर्वोपरि ब्रह्म में लय अथवा तिरोभाव हो जाना नहीं है, अपितु अपना पृथक् व्यक्तित्व है। मुक्त पुरुष ही आत्मा यद्यपि विदेहभाव में केन्द्रित है, लेकिन अपना निजी व्यक्तित्व भी रखती है और दिव्य आत्मा का अंश है। ठीक इसी प्रकार पुरुषोत्तम जो समस्त विश्व में व्याप्त है, कर्म करता है, मुक्तात्मा को भी उसी प्रकार कर्म करना चाहिए। सर्वोच्च अवस्था पुरुषोत्तम में निवास करने की अवस्था है।[१३३] जो इस अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और ईश्वर के पद को प्राप्त करते हैं।[१३४] मोक्ष के लिए व्यक्तित्व

---

१३२. एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥४/१५॥ गीता०

१३३. निवसिष्यसि मय्येव।

१३४. पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।

का विलोप हो जाना नहीं है, अपितु जीवात्मा की एक आनन्दरूप मुक्ति एवं ईश्वर की उपस्थिति में एक पृथक् तथा लक्षित हो सकने वाला अस्तित्व है। मेरे भक्त मेरे पास आ जाते हैं। गीता का रचयिता मोक्षावस्था में भी एक चेतना सम्पन्न व्यक्तित्व के तारतम्य को मानता है, ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः कुछ एक स्थलों से यह सुझाव मिलता है कि मुक्तात्मायें ईश्वर तो नहीं बन जाती किन्तु तत्त्व रूप में ईश्वर के समान हो जाती हैं।[१३५] मोक्ष विशुद्ध तादात्म्य नहीं है, बल्कि केवल गुणात्मक समानता है, यह जीवात्मा का ऊँचे उठकर ईश्वर के सदृश अस्तित्व प्राप्त कर लेना है, जहाँ तुच्छ इच्छाओं के प्रवृत्त होने की कोई शक्ति नहीं है। अमर होने के आशय नित्यस्वरूप प्रकाश में निवास है।

हमारी आत्मायें नष्ट नहीं होती, बल्कि अधिक गहरी हो जाती हैं, पाप के सब धब्बे मिट जाते हैं। संशय की गांठ कट जाती है। हम अपने ऊपर प्रभुत्व पा जाते हैं, और हम सदा के लिए प्राणिमात्र का कल्याण करने में अपने को लगा देते हैं। हम अपने को सभी गुणों से मुक्त नहीं कर लेते किन्तु सत्त्वगुण धारण करते हैं और रजोगुण का दमन करते हैं।

रामानुज भी इसी मत पर बल देते हैं और प्रतिपादन करते हैं कि मुक्त अवस्था में आत्मा, ईश्वर के साथ सदा संयुक्त रहती है, और उसका समस्त जीवन इसको अभिव्यक्त करता है। उस प्रकाश से जिससे वह निवास करता है। ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है, और वह अपने ईश्वर के प्रति प्रेम में एक प्रकार से खो जाता है। इस अवस्था में हम एक सर्वोत्तम जीवन को प्राप्त करते प्रतीत होते हैं, सम्पूर्ण रूप में प्रकृति का बहिष्कार करके नहीं, अपितु उच्चकोटि की आध्यात्मिक पूर्णता के द्वारा। इसी दृष्टिकोण से हम कर्म करते तथा ईश्वर में निवास करते हैं, केवल मात्र क्रियाशीलता का केन्द्रबिन्दु जीवात्मा से हटकर दिव्यरूप में परिवर्तित हो जाता है। दैवशक्ति की धड़कन समस्त विश्व में अनुभव की जा सकती है, जो विभिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेती हैं। प्रत्येक जीवात्मा अपना केन्द्र तथा परिधि ईश्वर के अन्दर रखती है। रामानुज के मत में आध्यात्मिक शरीर उच्चतम अनुभूति में भी एक महत्वपूर्ण घटक है।"[१३६]

---

१३५. वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।१८/२१।। गीता०
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्। देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।७/२३।। गीता०

१३६. भारतीय दर्शन का इतिहास–डॉ० राधाकृष्णन्, पृ०सं० ५३२-३३।।

निष्कर्ष :–

गीता में अनेक स्थलों पर सांख्य योग की मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। सांख्य एवं योगदर्शन शुद्ध द्वैतवादी दर्शन हैं। इसीलिए गीता में अद्वैतवाद एवं विशिष्ट द्वैतवाद के सिद्धान्त नहीं होने चाहिए। माया शब्द का वर्णन केवल प्रकृति के अर्थ में आया है, क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि माया को प्रकृति मानों और मायावी को ईश्वर जानो।"[१३७] इसलिए गीता में उपनिषदों के दर्शन का ही सार है। क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि उपनिषद् रूपी गौओं का कृष्ण रूप गोपालक ने गीता रूपी नवनीत निकाला है। गीता के इस दर्शन में किसी मतवादी भाष्य का आलम्बन नहीं किया है। इस विषय में केवल औपनिषदिक दर्शन को गीता के रूप में माना गया है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि–गीता के अनेक प्रसंग प्रक्षित भी हैं, इसकी सम्भावना हो सकती है। यहाँ पर केवल गीता के दर्शन को सामान्य रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

---

१३७. माया तु प्रकृति विद्यात् मायिनम् महेश्वरः।। श्वेता० उ०

चतुर्थ अध्याय

लोकायत दर्शन (चार्वाक दर्शन)

भारतीय समस्त दार्शनिक परम्परा में चार्वाक एवं लोकायत दार्शनिक विचारधारा ने दर्शन की वैदिक परम्परा का कटु प्रत्याख्यान किया है। यह दर्शन किस ऋषि अथवा आचार्य के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, इस विषय में कई मत प्राप्त होते हैं।

पौराणिक युग में भी दैत्यों के समक्ष नास्तिक मत का प्रचार करते हुए वृहस्पति के नाम का उल्लेख मिलता है। यद्यपि वृहस्पति के द्वारा प्रणीत अर्थ शास्त्रीय सूत्र ग्रन्थ उपलब्ध है, परन्तु इस ग्रन्थ में चार्वाक मत सम्बन्धी सूत्र ग्रन्थ के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। प्रबोधचन्द्रोदय नामक नाटक के प्रणेता कृष्णमिश्र ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि वाचस्पति ने लोकायत शास्त्र का प्रणयन कर उसे चार्वाक को समर्पित किया और चार्वाक ने अपने शिष्योंपशिष्यों के द्वारा उसका पूर्णरूप से प्रचार किया।[१] माध्वाचार्य ने 'वृहस्पतिमतानुयायी' कहकर चार्वाक का परिचय दिया है। उन्होंने चार्वाक दर्शन प्रकरण की समाप्ति के समय "तदेतत्सर्वं बृहस्पतिनाऽप्युक्तम्" कहकर ग्यारह श्लोक भी उद्धृत किये हैं।[२] किन्तु लौक्य बृहस्पति को बार्हस्पत्य चार्वाक मत का प्रवर्तक मान लेने पर भी वे बार्हस्पत्य सूत्र प्रणेता बृहस्पति हो नहीं सकते। ऋग्वेद के मन्त्र युग और लौकिक संस्कृत के सूत्र युग के मध्य में समय के दृष्टिकोण से बहुत बड़ा व्यवधान पड़ जाता है। वैदिक ऋषि के मन्त्रों की वैदिक भाषा और बार्हस्पत्य सूत्रों की लौकिक संस्कृत भाषा भी एक नहीं। अतएव, बार्हस्पत्यमत के आदि प्रवर्तक ऋषि लौक्य बृहस्पति और बार्हस्पत्य सूत्र प्रणेता बृहस्पति एक नहीं हो सकते। अन्ततोगत्वा दो बृहस्पतियों का तो अस्तित्व स्वीकार करना ही होगा।

---

१. "वाचस्पतिना प्रणीय चार्वाकाय समर्पितम्।
तेन च शिष्योपशिष्यद्वारेण बहुलीकृतं तन्त्रम्।। अंक २, पृ० ४६"

२. ल०स०द०सं० १/१३-१४ और १०५

कुछ विद्वानों के मत से लोकायत और चार्वाक दो अलग-अलग नास्तिक दर्शन के सूत्रकार थे, क्योंकि लोकायत और चार्वाक द्वारा लिखित पृथक्-पृथक् सूत्रों को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने उद्धृत किया है। लोकायत द्वारा प्रणीत पन्द्रह सूत्रों का विवरण मिलता है। यथा—षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न के तीन सूत्रों को "लोकायतसूत्राणि" कहकर उद्धृत किया है।[३] वाचस्पति मिश्र ने "इति लौकायतिकाः" कहकर एक सूत्र का उदाहरण दिया है।[४] वात्स्यायन ने "इति लौकायतिका" कहकर छह सूत्र उद्धृत किये हैं।[५] मधुसूदन ने "इति लौकायतिका" कहकर एक सूत्र को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है।[६] शंकर ने "इति लौकयतिकदृष्टिरियम्" कहकर एक सूत्र का उल्लेख किया है।[७] कमलशील ने "लोकायतिकस्य" कहकर तीन सूत्रों का उद्धरण किया है।[८]

चार्वाक प्रणीत दो सूत्रों का विवरण शास्त्रों में उपलब्ध होता है। यथा अभयदेवसूरि ने "चार्वाकसूत्रम्" कहकर एक सूत्र को और फिर उन्होंने "इति चार्वाकैरभिहितम्" कहकर अन्य एक सूत्र को उद्धृत किया है।[९]

शास्त्रों में पुरन्दर नामक एक बार्हस्पत्यमत के सूत्रकार का परिचय मिलता है। सम्भवतः यही पुरन्दर सुशिक्षित चार्वाक सम्प्रदायी है। पुरन्दर के द्वारा प्रणीत चार्वाक मत के प्रतिपादक दो सूत्रों का विवरण उपलब्ध होता है। प्रथम सन्मति प्रकरण की टीका में अभयदेवसूरि ने "एतच्च पौरन्दरं सूत्रम्" यह कहकर एक सूत्र का उल्लेख किया है और पुनः शान्तरक्षित के तत्व संग्रह की पञ्जिका में कमलशील ने "पुरन्दरस्त्वाह" यह कहकर द्वितीय सूत्र का उद्धरण किया।[१०] पुरन्दर प्रमुख सुशिक्षित चार्वाकों ने लोकयात्रोपयोगी काम और लौकायतिक सिद्धान्तों का प्रामाण्य भी स्वीकार किया है। शान्तरक्षित ने अपनी कारिकाओं में ऐसे चार्वाकैकदेशी एवं लोकप्रसिद्ध अनुमान प्रमाण के अनुयायी सम्प्रदायों की

---

३. Vide शास्त्री १७४
४. Ibid
५. Ibid 175
६. Ibid
७. स०गी०शा० XVI. 8
८. Vide शास्त्री 175
९. Ibid 175
१०. द्र—शास्त्री० पृ० १७५

चर्चा की है।[११] शान्तरक्षित के शिष्य कमलशील ने तत्व संग्रह की पंजिका में यथा प्रसंग पुरन्दर का मत उद्धृत किया है। अतः यह स्पष्ट है कि पुरन्दर प्रमुख सुशिक्षित चार्वाकों का मत तत्व संग्रहकार शान्तरक्षित को परिज्ञात था। कमलशील शान्तरक्षित के समसामयिक थे। पण्डितों के मत से शान्तरक्षित का समय अष्टम शतक है। अतएव यह सिद्ध होता है कि पुंरन्दर अवश्य ही शान्तरक्षित और कमलशील के पूर्ववर्ती थे।

कम्बलाश्वतर नामक एक अन्य सूत्रकार का भी उल्लेख मिलता है। इनके मत में "प्राणापानाद्यधिष्ठित" काय से ही ज्ञान की उत्पत्ति युक्ति सिद्ध प्रतिपादित हुई है। शान्तरक्षित ने कम्बलाश्वतर प्रणीत तत्प्रतिपादक एक सूत्र का उल्लेख किया है।[१२] कम्बलाश्वतर का समय ई०पू० ५००-५५० निर्धारित किया गया है। इससे ये निश्चित होता है कि देहात्मवादी सम्प्रदाय का अस्तित्व कम्बलाश्वतर के समय में था।

व्याकरण शास्त्र में लोकायत शास्त्र पर 'भागुरी' नामक टीका के लेखक भागुरी नामक आचार्य के नाम का संकेत किया है। यथा-"वर्णिका भागुरी" "लोकातस्य वार्तिका भागुरी लोकायतस्य"[१३] इससे अवगत होता है कि निश्चय ही लोकायत नामक ग्रन्थ था। और उसके ऊपर ई०पू० १५० के पूर्व अथवा ई०पू० ३०० के भी पूर्व न्यूनतः एक टीका तो अवश्य थी, क्योंकि वार्तिक सूत्र के प्रणेता आचार्य कात्यायन का समय ई०पू० १५०-३०० के मध्य में ही संभावित है।[१४] सम्भवतः यही तर्क और हेतुशास्त्र के ऊपर प्राचीन पुस्तक थी। भट्टोजी दीक्षित ने व्याकरण में भागुरी नामक आचार्य का नामोल्लेख किया है।[१५] इससे अवगत होता है कि उस समय तक लोकायत शास्त्र अपने अस्तित्व में अवश्य था।

---

११. "लोकप्रसिद्धमनुमानं चार्वाकैरपीष्यत एव, यत्तु कैश्चिल्लौकिकं मार्गमतिक्रम्यानुमानमुच्यते तन्निषिध्यते।"

१२. "कायादेव ततो ज्ञानं प्राणायानाधधिष्ठितात्। त०स०प० १४८२
युक्तं जायत इत्येतत्कम्बलाश्वतरोदितम्।।" त०स० १८६४

१३. cf. व्या०म० और कैयट टीका ७/३/४५

१४. cf. H.I. Phil. Vol. III. p. 516

१५. "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरूपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचां निशा दिशा।।"-सि०कौ० अव्यय प्रकरण

महाकाव्य या रामायण के युग में भी हमें नास्तिक संप्रदाय की मन्तव्यताओं की चर्चा दृष्टिगोचर होती है। जाबालि नामक एक ब्राह्मण पण्डित था। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् शोक से व्याकुल भरत को आश्वासन देते हुए धर्म के परिज्ञाता रामचन्द्र के प्रति उसने धर्म विरोधी वचन कहे थे–

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः।।

जाबालि ने मृत पितरों के उद्देश्य से विधेय अष्टका आदि श्राद्ध कर्म के प्रति खण्डनात्मक वाक्य कहे थे। उसने यज्ञ, जाप, दीक्षा, दान, तप, संन्यास आदि वैदिक धर्मों को दाम्भिक बतलाकर परलोक का खण्डन किया है।[१६]

जैन सम्प्रदाय और चार्वाक–

ईश्वरानपेक्षी दर्शनों में चार्वाक दर्शन के पश्चात् जैन दर्शन का स्थान है। जैनमत का प्रारम्भ प्रागैतिहासिक युग में ही हुआ है। जैनों के अनुसार जैन मत के प्रवर्तक चौबीस तीर्थकर थे। अत्यन्त प्राचीन काल से इन तीर्थकरों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही है। ऋषभ देव इस परम्परा के प्रथम तीर्थकर माने जाते हैं और वर्द्धमान या महावीर इसके चौबीसवें या अन्तिम तीर्थकर थे। विष्णु पुराण में महात्मा नाभि और मेरुदेवी से उत्पन्न एक राजर्षि का विवरण है। सम्भव है यही दिग्म्बर जैन परम्परा के आदि तीर्थकर हैं। जैन दर्शन नास्तिक दर्शनों में परिगणित होता है, क्योंकि कुछ सिद्धान्तों में इसका आस्तिक दशर्नों से स्वाभाविक मतभेद भी है, तथापि यह दर्शन उसी पथ का पथिक है, जिससे होकर आस्तिक दशर्नों की विचारधारा प्रवाहित होती है। जैन सम्प्रदाय के धार्मिक, दार्शनिक तथा काव्यादि, ग्रन्थों में चार्वाक, लोकायतिक, बार्हस्पत्य, नास्तिक और वाममार्गीय मत का उल्लेख पाया जाता है।

---

१६. "अष्टका पितृदेवत्यामत्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रव पश्य मृतो हि किमशिष्यति।।
यदि भुक्तमिहान्येव देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत्।।
दान संवनना ह्येयते ग्रंथा मेधाविभिः कृताः।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज।।
स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु।।"–वा०रा० २/१०८/१४-१०

जैन सम्प्रदाय के आगम साहित्यों में सूत्रकृताङ्ग का स्थान द्वितीय है। आस्तिक वाङ्मयों में जो स्थान वेद का है और बौद्ध वाङ्मयों में त्रिपिटिक का वही स्थान जैन वाङ्मयों में आगम का है। आगम साहित्य उसे कहा जाता है जो अर्थ रूप से साक्षात् जिनभाषित हो शब्द रूप से उन (तीर्थकरों) के मुख्य अधिकारी गणधरों के द्वारा उपनिबद्ध हो। सिद्धान्त और भाषा की दृष्टि से सूत्रकाङ्ग की प्राचीनता अत्यन्त प्रामाणिक है। सूत्रकृताङ्ग के सर्वप्रथम समयाध्ययन में प्राचीन दार्शनिक मतों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ के प्राचीन टीकाकार आचार्य शीलांक चार्वाक के लिये 'वाममार्ग' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि ये लोग गुप्त रूप से अनाचार प्रवृत्तियों में संलग्न रहे हैं।[१७] जैन परम्परा प्रतिपादित चार्वाकाभिमत चतुर्भूतों के अतिरिक्त पंचम भूत के रूप में आकाश का भी विवरण मिलता है। सर्वप्रथम चार्वाक मत का ही खण्डन करते हुए कहा गया है कि कुछ लोगों का कथन है कि पृथ्वी, जल, तेजस, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं।[१८] इनसे एक चैतन्य की निष्पत्ति होती है और कायाकार में परिणत पाँच भूतों में से किसी एक के विनाश हो जाने पर चैतन्य शक्ति का भी विनाश हो जाता है।[१९]

उपर्युक्त चार्वाक मान्यता सम्बन्धी सूत्रांश पर टीका करते हुए आचार्य शीलांक चार्वाक मत का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य ने चार्वाक के लिये भूतवादी, बार्हस्पत्य, लोकायतिक और वाममार्ग शब्दों का भी प्रयोग किया है। पृथ्वी आदि पाँच भूतवादी जब कायाकार में परिणत हो जाते हैं तब एक चिद्रूप आत्मा की उत्पत्ति हो जाती है, किन्तु आत्मा भूत स्वरूप ही होता है। भूतों से अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों के द्वारा अभिमत परलोकानुयायी तथा सुखदःखभोक्ता जीव नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं होता। उक्त चार्वाक मत की विवेचना में आचार्य विस्तार के साथ कहते हैं–"पृथ्वी आदि पंच महाभूतों से अतिरिक्त आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि भूतातिरिक्त स्वतन्त्र आत्म तत्व का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाण एक मात्र प्रत्यक्ष ही है। अनुमानादिक प्रमाण

---

१७. 'यथा वाममार्गादावनाचारप्रवृत्तावपि गुप्तिकरणमिति'–शीलाङ्क पृ० ११

१८. "सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगासपंचमा।।"–सूत्रकृताङ्ग १/१/१/७, पृ० १५

१९. "ए ए पंच महब्भूया तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेणं विणासो होइ देहिणो।।"–Ibid I bid 1\1\1\8

नहीं हो सकते, क्योंकि अनुमानादिकों में इन्द्रिय के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। अतः अनुमानदिकों में व्यभिचार की संभावना बनी रहती है और जहाँ व्यभिचार की संभावना हो तथा केवल सादृश्य में बाधा संभव हो तो वह लक्षण ही दूषित हो जाता है और सर्वत्र अविश्वस्तता की स्थिति उपस्थित हो जाती है। कथन भी है कि केवल हस्त स्पर्श के आधार पर विषम पथ पर दौड़ने वाले अन्धे का पतन जिस प्रकार असंभव नहीं उसी प्रकार अनुमान प्रधान विचार से सत्य की शोध करने वाले का पतन भी असम्भव नहीं है। अस्तु जब एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है तब उस प्रत्यक्ष के द्वारा तो भूतातिरिक्त आत्मा का ग्रहण होता नहीं है और जो भूतों में चैतन्य उपलब्ध होता है वह भूतों से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वह चैतन्य कायाकारपरिणत भूतों से ही अभिव्यक्त हो जाता है, जिस प्रकार मद्य के समुदित अंगों में मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसा कारण होता है तदनुरूप ही उसका कार्य भी होता है। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न घट मृत्तिका रूप ही होता है तदतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं। इसी प्रकार चैतन्य तत्व भी भूतों से अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह भूतों का ही कार्य है जिस प्रकार जल से बुद्‌बुद् की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार भूतातिरिक्त आत्मा के अभाव होने से भूतों से ही चैतन्याभिव्यक्ति होती है। यहाँ इन लोकायत सिद्धान्तों का वर्णन है, जो आकाश को भी पंचम भूत के रूप में स्वीकृत करते हैं। अतः मूल सूत्रगत चार्वाकवाद के लिये पंचभूतवाद के रूप में स्वीकृत करते हैं। अतः मूल सूत्रगत चार्वाकवाद के लिये पंचभूतवाद का उपन्यास असंगत नहीं है। यदि भूतातिरिक्त आत्मा नामक पदार्थ नहीं है, फिर लोक में 'मृत' शब्द का व्यवहार किस आधार पर होता है। इस शंका के समाधान में चार्वाकों का उत्तर है कि कायाकार में परिणत भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाने पर कालान्तर में यदा कदाचित् उन भूतों में से वायु या तेजस अथवा दोनों का अपगम हो जाता है तब देवदत्तादि नाम धारक आत्म तत्व का भी विनाश हो जाता है और तब मृत प्राणी के लिये मृतव्यवहार की प्रवृत्ति होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि भूतों से अतिरिक्त कोई आत्म तत्व था और वह कहीं चला गया है।

आगे चलकर सूत्रकृतांग में चार्वाक मत का ही तज्जीव तच्छरीरवादी के रूप में उल्लेख किया गया है। प्रत्येक शरीर एक आत्मा है। शरीर से भिन्न आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जब तक शरीर रहता है तब तक ही तत्स्वरूप आत्मा भी रहता है। परलोकगामी आत्मा जैसा कोई तत्व नहीं है, क्योंकि प्राणी मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता। और जब आत्मा नहीं है तब पुण्य-पाप

भी नहीं है, और न इस लोक से अतिरिक्त कोई परलोक ही है शरीर के नाश हो जाने पर देही (आत्मा) का भी विनाश हो जाता है।[२०]

टीकाकार आचार्य शीलांक का कथन है कि कायाकार परिणत भूतों में चैतन्य का अविर्भाव हो जाता है और भूतसमुदाय के विघटन होने पर चैतन्य का विनाश हो जाता है। इसलिए जब तक शरीर विद्यमान रहता है तब तक तत्स्वरूप आत्मा की भी विद्यमानता रहती है। शरीर के अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है। शरीर से भिन्न अपने कर्मफल का भोक्ता आत्मा नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो परलोक में गमन करता हो, क्योंकि प्राणी ओपपातिक नहीं है अर्थात् एक जन्म से दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं। औपनिषदिक कथन भी है कि इन भूतों से विज्ञान धन (आत्मा) उत्पन्न होता है, और इनके विनाश के पश्चात् विनष्ट भी हो जाता है। परलोक जैसी कोई स्थिति नहीं है।[२१]

जब आत्मारूप कोई धर्मी नहीं है तो फिर पुण्य और पाप का अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। और पुण्य-पाप के फलभोग के लिये ही है। अस्तु शरीर के विनाश होने पर अर्थात् भूतों के विघटन होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाता है। ऐसा नहीं है कि शरीर के नाश होने पर आत्मा का नाश नहीं होता हो और वह परलोक में आकर पुण्य पाप का फलानुभव करता हो। इस सम्बन्ध में अनेक दृष्टान्त उपस्थित किये जा सकते हैं, यथा जल से भिन्न जल बुद् बुद् कोई भिन्न पदार्थ नहीं है उसी प्रकार भूतों से अतिरिक्त आत्मा भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिस प्रकार कदलीस्तम्भ के एक के पश्चात् एक बाह्य छाल का अपनय न करने पर अन्त तक छाल ही की विद्यमानता रहती है और भीतर में कोई सारभूत स्वतन्त्र तत्व दृष्टिगोचर नहीं होता है इसी प्रकार भूत समुदाय के विघटित होने पर भीतर में आत्मा नामक कोई सारभूत स्वतन्त्र पदार्थ उपलब्ध नहीं होता है। जिस प्रकार अलात चक्र घुमाने पर अतद्रूप चक्रबुद्धि उत्पन्न कर देता है। उसी प्रकार भूत समुदाय भी विशिष्ट क्रियोपेत होने पर जीव की भाँति उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य पदार्थ के बिना ही विज्ञान बहिर्मुखाकार रूप से

---

२०. "पत्तेअं कसिणे आया जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्च न ते संति नत्थि सत्तोव वाइआ।।
नत्थि पुण्णे न पावे वा नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्य विणसेणं विणासो होई देहिणो।।"–सूत्रकृताङ्ग १/१/१/११-१२

२१. Cf. FN. 2. 27

अनुभूत होता है उसी प्रकार आत्मा के बिना भी भूत समुदाय में आत्मा थी प्रतीति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार दर्पण में स्वच्छता के कारण प्रतिबिम्बित होने वाला बहिर्गत पदार्थ भी अन्तर्गत सा लक्षित होता है।, किन्तु वस्तुतः वैसा है नहीं। इसी प्रकार ग्रीष्म में पार्थिव उष्मा के कारण परिस्पन्दमान मरीचि समूह जलाकर विज्ञान को उत्पन्न कर देता है और गन्धर्व नगरादि आकाश में स्वस्वरूप से अतथाभूत होते हुए भी तथा भूत प्रतिभाषित होते हैं उसी प्रकार आत्मा भी भूत समुदाय के कायाकार में परिणत होने पर भूतों से भिन्न सत्ता न रखते हुये भी भिन्नता की भ्रांति उत्पन्न कर देता है। यदि भूतातिरिक्त आत्मा जैसा कोई पदार्थ नहीं है और उसके द्वारा क्रियमाण पुण्य-पाप भी नहीं है। तो फिर यह जगत् की विचित्रता कैसे घटित हो सकती है? हम देखते हैं कि कोई धनी है तो कोई दरिद्र, एक सुभग तो अन्य दुर्भग, एक सुखी तो अन्य दुःखी, एक सुरूप तो अन्य कुरूप, एक रोगी तो अन्य नीरोग। इस प्रकार जगद्वैचित्र का क्या कारण है? इन शंकाओं के समाधान में चार्वाकीय प्रतिपादन है कि जगत् की विचित्रता स्वभावसंभूत है। देखा जाता है कि एक पाषाणखण्ड की देव प्रतिमा बनाई जाती है और वह चन्दन, पुष्प विलेपन आदि का उपभोग करती है तद्रूप अन्य पाषाणखण्ड के ऊपर मल-मूत्र किये जाते हैं। खण्डद्वय का किया पुण्य-पाप जैसा कुछ भी नहीं है, जिसके उदय से इस प्रकार का अवस्थाविशेष हो। अतः स्पष्ट है कि जगत् की विचित्रता पुण्य-पाप के आधार पर नहीं है, किञ्च स्वभाव पर ही आधारित है।[२२] स्वभाववाद की सिद्धि में कहा गया है—कण्टकों की तीक्ष्णता, मयूर के वर्ण की विचित्रता और कुक्कुट की विधिवर्णता देखकर हम समझ सकते हैं कि जगत् का वैचित्र्य स्वभाव से ही निर्मित हुआ है।

जैन साहित्य के सूत्रकृताङ्ग सूत्र से ऊपर चार्वाक परम्परा का दिग्दर्शन हो चुका है। सूत्रकृताङ्ग का स्थान अंग साहित्य में है। अंग साहित्य के पश्चात् उपांग साहित्य का स्थान आता है। चार्वाक परम्परा का उपांग साहित्य में क्या स्थान है और वह कितनी प्राचीन है—इसका संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है। 'रायपसेणइय सुतं' उपांग साहित्य का द्वितीय सूत्र है। इसमें भगवान् महावीर के मुख से अपने से पूर्वकालीन कैकय प्रदेश के पएसी (प्रदेशी) नामक राजा के कथानक का वर्णन है। यह राजा चार्वाक की विचार धारा का पक्षपाती था। यह

---

२२. "तथाहि कायाकरपरिणतेषु न प्रेत्य संज्ञास्तीति।
पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणम् स्वभावेन भवन्ति हि।।"—शीलाङ्क १/१/१/११-१२

स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु उसकी जीवनचर्या और आत्मन् के अस्तित्व में अविश्वासिता आदि के उल्लेखों से ध्वनित होता है कि वह चार्वाक अर्थात् नास्तिक विचारधारा का पूर्ण पक्षपाती था।

स्याद्वादमंजरी नामक अपनी प्रसिद्ध टीका में श्री मल्लिषेण सूरि नास्तिक मत का प्रतिपादन करते हैं कि चार्वाकों का अभिमत एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है अत: पंच इन्द्रिय विषयों के बाह्य कोई वस्तु नहीं है।[२३] और बाह्य वस्तु के अभाव में प्रत्यक्षेतर प्रमाणों की कोई आवश्यकता अथवा उपयोगिता नहीं है, क्योंकि अनुमान प्रमाण को न मानकर भी अन्य व्यक्ति की चेष्टा से अन्य व्यक्ति का अभिप्राय समझ लिया जाता है। इसलिये चार्वाक सम्प्रदाय में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण की अधिमान्यता है।[२४] भौतिक जड़वाद के समर्थन में चार्वाकों का कथन है कि जिस समय पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु ये चार तत्व शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं, उस समय उनसे स्वयं चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाती है।[२५] अतएव चतुर्भूतों से भिन्न चैतन्य नामक कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि यदि पृथ्वी आदि चतुर्भूतों से चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती तो सोकर उठने वाले व्यक्ति में वह चैतन्य शक्ति कहाँ से आ जाती है? सोने के समय के पूर्व तो चेतन शक्ति नष्ट हो जाती है।[२६] यदि शरीर और चैतन्य का कोई सम्बन्ध नहीं है तो शरीर में विकार के उत्पन्न होने से चेतना में विकृति क्यों हो जाती है।[२७]

भगवान् ऋषभदेव जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर माने गये हैं। इनका अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल में माना गया है। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक महाकाव्य में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव का जीवन चरित्र लिखा है। भगवान् ऋषभदेव का आत्मा अपने पूर्व जन्मों में किस प्रकार धर्माराधन करता हुआ विकास के पथ पर अग्रसर हुआ इसका एक बहुत सुन्दर चित्रण प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

सम्राट् महाबल एक विषयासक्त राजा था। वह धार्मिक भावना से शून्य

२३. "प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाका:।"–स्याद्वाद०पृ० १३०
२४. "ननु कथमिव तूष्णीकतैवास्य श्रेयसी यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणम्।।"–Ibid p. 131
२५. 'कायाकारपरिणतेभ्यस्तेभ्य: स उत्पद्यते'– Ibid p. 132
२६. 'कुहस्तर्हि सुप्तोत्थितस्य तदुदय:। असंवेदनेन चैतन्यस्याभावात्'– Ibid p. 133
२७. 'कथं तर्हि कायविकृतौ चैतन्य विकृति:।'–Ibid

रहकर निरन्तर भोगमय जीवन यापन करता था। स्वयं बुद्धि मंत्री ने राजा सभा में ही राजा को धर्मोपदेश दिय और धर्माराधन के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी इस पर यहबल राजा के सम्भिन्नमति नामक अन्य मन्त्री ने स्वयं बुद्धि मंत्री के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए चार्वाक परम्परा के सिद्धान्त का मण्डन कि और बतलाया कि आत्मा और उसका पुनर्जन्म जैसा कोई भी तत्त्व नहीं है। फिर कष्ट साध्य धर्माराधन की क्रियाओं से क्या लाभ है? सम्भिन्नमति मन्त्री का प्रतिपादित यह नास्तिकवाद त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में इस प्रकार चित्रित किया गया है–(१) वर्तमान जीवन के ऐहिक भोगों को त्यागकर परलोक के लिए यत्न करना हस्तगत मधुराम्ल अवलेह्य को त्याग कर कोहनी को चाटने के समान है। (२) धर्म का फल परलोक में मिलता है–यह कथन भी असंगत है, क्योंकि परलोकगामी आत्मा का ही जब अभाव है तो फिर परलोक का अभाव स्वत: सिद्ध हो जाता है। (३) पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु इस भूत चतुष्टय से चेतना शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिस प्रकार गुड़, पिष्ट और जल आदि (मद्योपकरणों) से एक विलक्षण मदशक्ति का स्वयं अविष्कार हो जाता है। (४) शरीर से पृथक् शरीरी अर्थात् आत्मा जैसा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, जो शरीर त्याग के पश्चात् परलोकगामी होता है। (५) अतएव संसार के वैषयिक सुखों को नि:संकोच भाव से उपभोग करना श्रेयस्कर है। आत्मा को सांसारिक सुखों से वंचित करना औचित्यपूर्ण नहीं, क्योंकि संसार में स्वार्थ ध्वंस ही सर्वाधिक मूर्खता है। (६) धर्म और अधर्म की आशंका रखना उचित नहीं ये दोनों (धर्माधर्म) सुखोपभोग में विघ्न कारक हैं और वास्तव में खर विषाण के समान धर्माधर्म की कोई सत्ता ही नहीं है। (७) एक प्रस्तर खण्ड जब प्रतिमा आदि के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अंगराग माला, वस्त्र और अलंकारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूपी प्रस्तरखण्ड ने ऐसा कौन सा पुण्य किया है? (८) और एक अन्य प्रस्तरखण्ड है जिस पर बैठकर लोग मल-मूत्र करते हैं। उस प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पाप कर्म किया है।

(९) यदि प्राणी कर्म से जन्म ग्रहण करते और मरते हैं तो फिर ये जल के बुद् बुद् किस पुण्यापुण्य कर्म से उत्पन्न और विलीन होते हैं। (१०) अस्तु, जब तक चेतन है तब तक ही इच्छानुसार चेष्टायें होती हैं। जब चेतन का विनाश हो गया तब फिर उसका जन्म नहीं होता। (११) जो प्राणी मरता है वहीं फिर से उत्पन्न होता है। यह केवल वचनमात्र है, क्योंकि आत्मा की सिद्धि किसी भी प्रकार से नहीं होती। (१२) शिरीष पुष्पों के समान मृदुल शय्या पर रूपलावण्यसम्पन्न रमणियों के साथ नि:संकोच भाव से रमण करना ही श्रेयस्कर है। (१३) अमृत

के तुल्य भोज्य और पेय पदार्थों का यथाभिलषित स्वच्छन्द भाव से आस्वादन करना ही कल्याण कारक है। वह शत्रु है, जो इसका निषेध करता है। (१४) कर्पूर, अगर, कस्तूरी और चन्दन आदि विलास सामग्रियों से चर्चित मनुष्यों को सौरभनिष्पन्न होकर अहर्निश विलासमय जीवनयापन करना उचित है। (१५) संसार में उद्यान, यान और चित्रशाला आदि जो कुछ भी दृश्य हैं, नेत्रों की तृप्ति के लिये निरन्तर देखना ही उन्हें उचित है। (१६)वेणु, वीणा और मृदंग आदि की मधुर गीतध्वनियों से अहर्निश कर्णामृत का आस्वादन करना उचित है। (१७) मनुष्य को आजीवन वैषयिक सुखोपभोग के द्वारा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही उचित है। धर्म कार्यों के लिये चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि धर्माधर्म का फल कहीं कुछ भी नहीं है।[२८]

आचार्य हेमचन्द्र के उपर्युक्त कथा प्रसंग से ध्वनित होता है कि चार्वाक सम्प्रदाय की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही है। मानव सभ्यता के आदिम युग में भी कुछ लोग भोगवाद विचार परम्परा के पक्षपाती थे तथा आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर विश्वास नहीं रखते थे और वह नास्तिकवाद की परम्परा गुप्त रूप से इतस्ततः कोणों में ही नहीं पनप रही थी, किन्तु विराट् राजसभाओं में भी मुक्त रूप से इस लोकायत मत पर वाद-विवाद चलते रहते थे।

इस प्रकार जैन सम्प्रदाय में चार्वाकमत का उल्लेख मिलता है। जैन साहित्यों में चार्वाकमत का प्रतिपादन तो हुआ है, पर सिद्धान्तस्वरूप से उसकी स्वीकृति नहीं है। केवल पूर्व पक्ष के रूप में उल्लेख हुआ है और तत्पश्चात् निराकरण भी किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन और तत्पूर्व युग में भी चार्वाकमतावलम्बी सम्प्रदाय की विद्यमानता थी।

बौद्ध सम्प्रदाय और भूतवाद

बौद्ध दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ०टी०आर०वी० मूर्ति नैरात्म्यवाद के प्रतिपादन में कहते हैं कि केवल बौद्ध सम्प्रदाय ही नैरात्म्यवादी नहीं है, अपितु जैन और कतिपय ब्राह्मण सम्प्रदायों ने भी बौद्धों के समान आत्मन् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया है। माधवाचार्य ने बौद्ध मत को कुछ ही अंशों में चार्वाकभिमत जड़वाद से न्यूनतर माना है। अपने सर्वदर्शन संग्रह में बौद्धदर्शन प्रकरण को परम्पराक्रम से चार्वाक दर्शन के तुरन्त पश्चात् अव्यवहित रूप में प्रतिष्ठापित

---

२८. "त्यक्त्वा यदैहिकान्भोगान...धर्माधर्मफलं क्व तत्।"—त्रिषष्टिशलाका० १/१/३२९-३४५

किया है। आत्मवादी (सम्प्रदाय) के लिये नैरात्म्यवाद से अन्य अवांछनीय तत्त्व हो नहीं सकता और इसी नैरात्म्यवाद के कारण उदयनाचार्य ने बौद्ध मत का अनेक युक्तियों के साथ खण्डन किया है।[२९] इस कारण से बौद्धमत को नास्तिक वर्ग में रखने में सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं होना चाहिए।

केवल परलोकास्तित्व में आस्थावान् होने के कारण एक चतुर्थांश रूप से बुद्ध की आस्तिक श्रेणी में गणना हो सकती है किन्तु नैरात्म्यवादिता, वेदाप्रामाण्यवादिता और निरीश्वरवादिता के कारण तो बुद्ध तीन चतुर्थांश रूप से निःसन्देह नास्तिक श्रेणी में ही परिगणनीय हो जाते हैं। यथार्थ आस्तिकवादी सम्प्रदाय तो वही है, जिसे आत्मन् परलोक और ईश्वर के अस्तित्व तथा वैदिक प्रामाणिकता की मान्यता हो। इस परिस्थिति में बौद्ध दर्शन को नास्तिक सम्प्रदाय में स्थापित करना अनौचित्यपूर्ण नहीं होगा। महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने पुरातत्व निबन्धावली (पृ० १२१) में बुद्ध को जड़वादी घोषित किया है।

बौद्ध साहित्य में बहुधा नास्तिक प्रसंग दृष्टिगोचर होता है। रीज डेविड्स की पालिइंगलिश डिक्शनरी (पृ० १८२) में नत्थिक अर्थात् नास्तिक शब्द की पारिभाषिक व्याख्या में कहा गया है कि जो धर्म में अनास्थावान् और शून्यवाद में आस्थावान् है वही नात्थिक या नास्तिक है, क्योंकि संशयवाद या शून्यवाद को ही नास्तिक दिट्ठी अभिहित किया गया है अतएव अब वांछनीय है कि बौद्ध साहित्य के मूल स्रोत से नास्तिकता के सम्बन्ध में कुछ विवेचन हो।

अब मक्खलिगोसाल के सिद्धान्त का विवेचन करते हैं। पालि साहित्य में यह मंखलिपुत्त गोसाल के नाम से भी प्रसिद्ध है। मक्खलि गोसाल महावीर और बुद्ध दोनों का समसामयिक था। आचार्य बुद्धघोष का कथन है कि इस का जन्म एक गोशाला में हुआ था। कुछ बड़ा होने पर यह किसी के घर में सेवक के रूप में नियुक्त कर लिया गया। एक दिन तेल लाने के लिये पंकिल मार्ग से

---

२९. "The Buddhists are not the only ones in taking their philosophuy as naira tmyavada. Jaina and Brahmanical systems, invariabluy characterise Buddhist only slightly less objectionable than the materialist (charvak) in the gradstion of systems the makes in his Sarvadarsana sangraha, Bauddha-darsana immediately follows the Charvaka. For an at mavadin nothing Could be more pernieious than the denial of the self. Udayanacharya very significantly calls his refutation of Buddhistic Doctrines." C Phil. B.P. 27

जा रहा था। कीचड़ में पैर फिसल ना जाये इसलिये स्वामी ने इसे सावधान किया। किन्तु सावधान रहने पर भी इसके पैर फिसल गये और तब वहाँ से भागने लगा। क्रोधित होकर स्वामी इसकी धोती का छोर खींचने लगा तब धोती को स्वामी के हाथ में छोड़कर मक्खलि नंगा ही भाग गया। नग्नाअवस्था में रहते हुए कुछ दिनों के पश्चात् यह पूरण कस्सप के समान ही संन्यासी हो गया (सुमंगल विलासिनी, १/१/४३-१४४। भगवतीसूत्र (१५/१) के अनुसार यह मक्खलि का पुत्र था, जो मंख अर्थात् भिक्षुक के रूप में घर-घर में चित्र दिखाकर आजीविका चलाता था। इसकी माता का नाम भद्दा था। इसके युवावस्था में ही अपने पिता का ही व्यापार अपनाया था। तीस वर्ष की आयु में इसकी महावीर से भेंट हुई और दो वर्षों के पश्चात् मक्खलि उनका शिष्य बन गया। छह वर्ष इसने उनके साथ तपश्चर्या में बिताये। तत्पश्चात् इन दोनों में झगड़ा हो गया और मक्खलि दो वर्ष तपस्या कर पक्का जैन बन गया। और तब मक्खलि ने जैन धर्म में दो वर्ष रहने के पश्चात् महावीर जिन हुए। तत्पश्चात् मक्खलि सोलह वर्षों तक 'जिन' होने के प्रयत्न में रहा। महावीर उस अवधि के अन्तिम भाग में उससे फिर उसी सावत्थि में मिले, जहाँ दोनों में झगड़ा हुआ था और गोसाल महावीर के अभिशाप से ज्वराक्रान्त होकर मर गया। महावीर भी ई०पू० ४५०-४५१ में मर गया। मक्खलि आजीवक संप्रदाय का प्रवर्तक था।[३०]

राजा ने पूर्व की भाँति कर्मफल के विषय में प्रश्न किया। जब मक्खलि ने निम्न प्रकार से उत्तर दिया—महाराज प्राणियों के पापकर्म के लिये कोई कारण नहीं है। जीव बिना कारण के ही पापी हो जाते हैं। पुण्य कर्म के लिये भी कोई कारण नहीं। वे बिना कारण के ही पवित्र हो जाते हैं। शक्ति, तेज, बल या पराक्रम आदि कुछ भी माननीय तत्व नहीं। अण्डज, पिण्डज और वनस्पति आदि कोई भी प्राणी बलवान्, वीर्यवान् या शक्तिमान् नहीं है परिस्थिति के अनुसार ही नियति आधार पर उनकी अंशेष प्रवृत्तियाँ होती हैं, सुख या दुःख की अनुभूति परिस्थिति के अनुसार होती है।[३१] गोसाल के मत में स्त्री संभोग करने पर संन्यासी पाप का भागी नहीं होता।[३२]

मक्खलिगोसाल के उपरोक्त प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि गोसाल का

३०. H.I. phil. III p. 522
३१. Dialogues p. 71
३२. H.I. Phil. III p. 524

सिद्धान्त नास्तिक मत के समान ही है, क्योंकि इसके मत में भी पुण्यापुण्य कर्मों का कोई कारण नहीं। नियति या परिस्थिति के अनुसार सुख या दुःखादि की अनुकूल या प्रतिकूल रूप में अनुभूति होती है। अतः गोसाल के नास्तिकवादी होने में सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं होना चाहिये।

पालि के त्रिपिटक साहित्य में तीर्थंकर अजितकेश कम्बली और पायसि के मत का विवरण मिलता है। ये बुद्ध के समसामयिक थे। इनके मत में दान, यज्ञ और हवन आदि वेदविधेयक कर्मकलाप निरर्थक हैं। सुकृत और दुष्कृत कर्मों का कहीं कुछ भी फल नहीं। कोई भी जीव माता पिता के अभाव में जन्म ग्रहण नहीं कर सकता। प्राणियों के जन्म का कारण माता-पिता के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। इस प्रकार का कोई भी श्रमण भिक्षु अथवा ब्राह्मण नहीं जो इहलोक और परलोक उभय लोकों की व्यक्तिगत अभिज्ञता अन्य व्यक्ति को ज्ञापित करा सके। पुरुष की देह चार भूतों के योग से निर्मित होती है। जब पुरुष मर जाता है, तब पार्थिव अंश महापृथ्वी में, जलीय अंश जल में, तेजस् अंश अग्नि में तथा वायवीय अंश वायु में प्रत्यावर्तित होकर मिल जाते हैं। उसका इन्द्रिय समूह आकाश में विलीन हो जाता है। उसके उद्देश्य से श्राद्ध, यज्ञ और दान आदि का जो अनुष्ठान किया जाता है, उसका कोई भी फल नहीं। अस्तिकवाद वृथा है। मूर्ख और पण्डित सभी के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु के पश्चात् कोई भी नहीं रहता। जन्मान्तर या परलोक, स्वर्ग या नरक आदि की बात तो मूर्खप्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[३३] अजितकेशकम्बली का यही अपना स्वतन्त्र मत था। इसके मत में प्रत्यक्ष रूप से स्वभाववाद, कामशास्त्र या अर्थशास्त्र का कोई भी योग नहीं देखा जाता है। संभवतः तत्व संग्रह की पंजिका में उल्लिखित कम्बलाश्वतर और अजितकेशकम्बली दोनों अभिन्न व्यक्ति थे, क्योंकि दोनों के मत में एकान्त सादृश्य लक्षित होता है।

बौद्ध वाङ्मय के पालि साहित्य में संजयवेलट्ठिपुत्त के मत का विवरण उपलब्ध होता है। संजय के जगत् के आदि कारण, जगत् के अन्त कारण पूर्वजन्म अथवा जन्मान्तर और कर्मफल आदि के तत्वों के दार्शनिक विचार में उदासीनता का भाव प्रदर्शित किया है। संजय को संशयवादी एवं अज्ञेयवादी निर्धारित किया गया है। इसके सिद्धान्त में जो अज्ञानवाद है वही अज्ञेय और संशयवाद है।[३४] जिस

---

३३. द्र-दी०नि० सामञ्जफल और पयासि सुत्तंत।

३४. द्र-महावग्ग।

समय जो परिदृश्यमान् बाह्य जगत् के वस्तुनिश्चय के आदि और अन्त को जानने के लिये ज्ञान की अक्षमता को सरल भाव से स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है, उस समय वह सरल तत्वों को अज्ञात और अज्ञेय मान कर ही स्वीकार करता है। उस समय वह अज्ञानवादी (Anostic) है और जिस समय वह अलौकिक विषयों के ज्ञापक प्रमाणों की अयथार्थता स्वीकार करने में इधर-उधर करता है उस समय वह संशय वादी (Sceptic) है। संजय के मत और केनोपनिषद् के ऋषिगण के मत में एकान्त साम्यअनुमित होता है, क्योंकि केनोपनिषद् में भी संशयवाद का ही प्रतिपादन हुआ है।[३५] संशयवादी होने के कारण संजय वेलट्ठिपुत्त को नास्तिकवादी के रूप में स्वीकार करना अनौचित्यपूर्ण न होगा।

इस प्रकार बौद्ध वाङ्मय के साहित्यों में भौतिकवादिता अथवा नास्तिक मत का प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होता है। इससे स्पष्ट अवगत होता है कि बौद्ध एवं तत्पूर्ण युग में भी लोकायत मतानुयायी सम्प्रदाय की विद्यमानता अवश्य और निसंदेह थी।

ज्ञान-मीमांसा

चार्वाक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसके अनुसार साक्षात् इन्द्रिय सम्बन्ध से जो जाना जाता है वही सत्य है। उसी की सत्ता विद्यमान है। जिसका हम प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कर सकते हैं, उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अनुमान प्रमाण के द्वारा प्राप्त ज्ञान सन्देह रहित नहीं हो सकता है। जब हम धूम को देखते हैं, तब उस समय हमें पुराने प्रत्यक्ष अनुभव साहचर्य के द्वारा स्मृति पूर्वक अग्नि का स्मरण हो जाता है, इसी कारण अनुमान प्रमाण कभी-कभी सत्य और कभी-कभी असत्य हो जाता है। हम तब तक अनुमान नहीं कर सकते हैं जब तक कि सामान्य सम्बन्धों का ज्ञान न हो। प्रत्यक्ष अनुभव सामान्य सम्बन्ध का ज्ञान नहीं करा सकता है। अनुमान के द्वारा ही हमें सामान्य सम्बन्धों के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार मानने से अनुमान को अन्य अनुमान की आवश्यकता होगी फिर अन्य अनुमान की इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा इसलिये अनुमान अयथार्थ है। वह केवल विषयी गत सम्बन्ध का ही ज्ञान कराता है, जो केवल आकस्मिक रूप में ही सत्यज्ञान प्राप्त करा सकता है।

---

३५. (क) "यदि मन्यसे....ते मन्ये विदितम्।"
(ख) "नाहं मन्ये सुवेदेति...न वेदेति वेद च।"
(ग) "यस्यामतं तस्य....विज्ञातमविजानताम्।" के०उ० २/१-३

व्याप्ति का खण्डन—अनुमान का आधार व्याप्ति माना जाता है। व्याप्ति का अर्थ है व्याप्य, व्यापक अर्थात् दो वस्तुओं का नियत साहचर्य अर्थात् एक के साथ अन्य की लगातार नियामकता। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि उपाधिहीन सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। धूम और अग्नि के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध उपलब्ध है, इसके आधार पर ही अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान किया जाता है। जहाँ धूम होता है वहीं-वहीं अग्नि है, "यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः"। वहाँ इस पर्वत पर धूम दिखलाई देता है। अतः इस पर्वत पर अग्नि है। इस अनुमान ज्ञान में जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, व्याप्ति वाक्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान व्याप्ति पर निर्भर है। इस विषय में चार्वाक का मत है कि व्याप्ति की स्थापना एवं सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः चार्वाक व्याप्ति के खण्डन में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रत्यक्ष के अनुसार भूत वर्तमान और भविष्यत् सभी कालगत विषयों का ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष द्वारा बाह्य विषय का ही ज्ञान होता है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्तमान कालिक पदार्थों का ही ज्ञान सम्भव है। यह प्रत्यक्ष द्वारा भूत कालिक भविष्यत् कालगत ज्ञान असम्भव है। इससे त्रिकालदर्शी व्याप्ति वस्तुओं का निष्कर्ष निकालने वाली व्याप्ति प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती है।[३६] जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है यह एक व्याप्ति वाक्य है। यह वाक्य तभी सामान्य हो सकता है। जब समस्त धूमयुक्त स्थानों को, प्रत्यक्ष रूप में अग्नि युक्त ज्ञान का प्रत्यक्ष रूप में अवलोकित किया हो यह किसी भी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं है कि विश्व के समस्त रसोईघरों में जाकर धूम और अग्नि के साहचर्य युक्त सम्बन्ध को प्रत्यक्ष रूप में अवलोकित कर सके। अतः इस प्रकार व्याप्ति कि सिद्धि भी असम्भव है।

व्याप्ति का ज्ञान न तो बाह्य प्रत्यक्ष से सम्भव है और न ही आन्तरिक प्रत्यक्ष से सम्भव है। व्याप्ति की सिद्धि में पंच अवयवों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है—

अयं पर्वतः वह्निमान्—प्रतिज्ञा—इस पर्वत पर अग्नि है।

धूम दर्शनात्—हेतु—धूम दिखाई देने से।

---

३६. तस्य संप्रयुक्त विषय ज्ञान जनकत्वेन भवति प्रसरसर्वेऽपि।
भूत भविष्यतोऽस्तद संभवेन सर्वोपसंहारवत्या व्याप्तदुर्ज्ञानत्वात्।। सर्वदर्शन सं०अ० १

यथा महानसे–उदाहरण–जैसे कि रसोईघर में।

यत्र-यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः–उपनय–जहाँ-जहाँ धूम वहाँ-वहाँ अग्नि होती है।

अतः एव अयं पर्वतः वह्निमान्–निगमन–अतः यह पर्वत अग्नि वाला है अतः इस पर्वत पर अग्नि है। इसका निष्कर्ष निकलता है कि व्याप्ति प्रतिज्ञा और उपनय को सभी घटनाओं का पारस्परिक अनिवार्य सम्बन्ध है। परन्तु प्रतिज्ञा और उपनय के सम्बन्ध की सभी स्थितियों को बाह्य इन्द्रियों की सहायता से नहीं जाना जा सकता है तथा व्याप्ति को आन्तरिक प्रत्यक्ष वाह्य प्रत्यक्ष पर आधारित है बाह्य इन्द्रियों के अधीन अन्तःकरण है। हमें जो-जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियों के संवेदनाओं से प्राप्त होता है। हमारा मन उसी के ज्ञान को ग्रहण करता है, इसलिये बाह्य वस्तुओं (धूम-अग्नि आदि) में स्वतन्त्रता पूर्वक प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिये निश्चय रूप में अन्तःकरण बाह्य इन्द्रियों के संवेदनाओं की सहायता ग्रहण करेगा। यह माना जाता है कि चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्रदर्शित विषयों को ग्रहण करने वाला मन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों के द्वारा परतन्त्र हैं।[३७]

चार्वाक की मान्यता है कि व्याप्ति की स्थापना सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के आधार पर मानना समीचीन नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण से जाति अथवा सामान्य को नहीं जाना जा सकता है। अग्नि और धूम की समस्त स्थितियों को अवलोकित किये बिना ही अग्नित्व और धूमत्व में अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न किया जाता है। धूमत्व के ज्ञान हेतु समस्त विशेष अग्नियों के प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। यह प्रत्यक्ष करना उपर्युक्त हेतु असम्भव है। अतः इस आधार पर व्याप्ति स्थापना करना युक्ति-युक्त नहीं है।

अनुमान के प्रमाण के आधार पर भी व्याप्ति की सिद्धि की जा सकती है। अनुमान दो प्रकार से किया जा सकता है, आगमनात्मक और निगमनात्मक, व्याप्ति की सिद्धि न तो निगमन द्वारा हो सकती है और न ही आगमन द्वारा हो सकती है। यदि व्याप्ति का आधार अनुमान ही है तो उस अनुमान को किसी अन्य व्याप्ति पर अवलम्बित करना होगा। उस अवस्था में अनुमान व्याप्ति पर

---

३७. अन्तः करणस्य र्बाहरिन्द्रिय तन्त्रत्वेन बाह्योऽर्थे स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त्यनुपपन्तेः। तदुक्तम् चक्षुराद्युक्त विषयं परतन्त्र बहिर्गमनः।। (मा० सर्वदर्शन संग्रह अध्याय १)

और व्याप्ति अनुमान पर अवलम्बित होने से उसमें अन्योन्याश्रित दोष आ जायेगा।[३८]

शब्द प्रमाण से भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती है। शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता भी अनुमान पर अवलम्बित है। दूसरे अनुमान शब्द प्रमाण पर आधारित है, तो फिर प्रत्येक व्यक्ति को अनुमान हेतु किसी दूसरे व्यक्ति के शब्द पर निर्भर करना होगा। इस श्रृंखला में भी अनवस्था दोष की आपत्ति आ जायेगी। न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम भी किसी न किसी रूप में शब्द का अस्तित्व अनुमान पर ही आधारित होना मानते हैं। उनका कहना है कि शब्दगत अर्थ का ही तो अनुमान किया जा सकता है। अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इस प्रकार शब्द अनुमान में सन्निहित हो जाता है।[३९]

नैयायिकों ने व्याप्ति की सिद्धि का प्रयास अन्वयव्यतिरेक विधि के द्वारा किया है। यह भी उचित नहीं क्योंकि अन्वय व्यतिरेक विधि में विधेयात्मक और निषेधात्मक दृष्टान्तों को उपयोग करके, उनका निरीक्षण किया जाता है। जैसे कि अनेक दृष्टान्तों में धूम और अग्नि का सहाचर्य सम्बन्ध मिलता है अथवा साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहना अपेक्षित है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव रहेगा। व्याप्ति की सिद्धि इसी प्रकार सम्भव है। जहाँ-जहाँ धूम है वहीं-वहीं पर अग्नि भी होती है। इस सम्बन्ध में चार्वाक की आपत्ति है कि विधेयात्मक और निषेधात्मक उदाहरणों के होने पर भी जो आवश्यक कारक अपेक्षित होते हैं, उनके प्रति संशय बने रहने की सम्भावना रहती ही है। इस सन्दर्भ में भी सामान्यीकरण आदि की समस्यायें रहती हैं, जो ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त होगा, वह पूर्ण रूपेण सन्देह रहित नहीं हो सकता है। असत् रूप में भी होने की सम्भावना बनी रहेगी। अतः इस अन्वयव्यतिरेक विधि द्वारा भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है।

व्याप्ति को सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि हेतु और साध्य का अविनाभाव सम्बन्ध सोपाधिक कभी न हो। यदि अविनाभाव सम्बन्ध सोपाधिक रूप में होगा तो व्याप्ति अर्थ विहीन हो जायेगी। यथा जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है, यह व्याप्ति निरर्थक है, क्योंकि धूम तो आर्द्र इन्धन अर्थात्

---

३८. नाप्यमानं व्याप्ति ज्ञानोपायः तत्रतत्राप्यमेवोमत्यनवस्था द्वौस्थः प्रसङ्गात् (सर्व द० अध्याय-१

३९. शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्। (न्याय स सू० २-७-५०)

लकड़ी में गीलापन तथा जलांश के रहने पर भी धूम उत्पन्न होता है। जब उसमें आर्द्रता नहीं रहती है तो धूमभाव हो जाता है, वहाँ अग्नि तो रहती ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अविनाभाव सम्बन्ध की समस्त उपाधियों तथा उनकी अनुपस्थिति का करना अत्यधिक दु:साध्य है। अत: अविनाभाव सम्बन्ध की समस्त उपाधियाँ व्यापक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हैं।[४०]

उपमान प्रमाण के अनुसार भी व्याप्ति को सिद्ध करना सम्भव नहीं है। चार्वाक का इस सम्बन्ध में स्पष्ट मत है कि उपमान आदि प्रमाण तो व्याप्ति ज्ञान के विषय किसी भी प्रकार सहायक नहीं हो सकता है।

उपमान प्रमाण में संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध आदि विषय ज्ञापक हैं। अत: वे उपाधि रहित सम्बन्ध व्याप्ति के ज्ञापक नहीं हो सकते हैं।[४१]

चार्वाक के अनुसार अनुमान का आधार व्याप्ति की सिद्धि आवश्यक है, जो उपर्युक्त तर्कों के अनुसार सिद्ध नहीं हो सकती है। व्याप्ति स्वयं असिद्ध है। अत: व्याप्ति के असिद्ध होने से, उस पर आधारित अनुमान, ज्ञान का स्रोत अथवा प्रमाण नहीं हो सकता है जैसे कि कोई भवन बिना आधार नींव के निर्मित नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण को सन्देह रहित नहीं माना जा सकता है।

समालोचना–चार्वाक के अनुमान का खण्डन व्याप्ति को असिद्ध मानकर किया है। चार्वाक द्वारा दी जाने वाली युक्तियाँ असम्भव है क्योंकि यह सम्भव नहीं है। यह आक्षेप स्वयं एक अनुमान वाक्य है। क्योंकि इसमें हेतु यह निश्चित नहीं है कि किस आधार पर साध्य की सिद्धि की गई है। इस अनुमान वाक्य में यदि हेतु साध्य से व्याप्त नहीं है। इस तरह व्याप्ति का खण्डन नहीं किया जा सकता है। भारतीय दर्शन जो अनुमान को प्रमाण मानते हैं, उन्होंने अनुमान में जितने भी सम्मिलित दोष आ सकते हैं, उनसे पृथक् अनुमान का लक्षण एवं एवं परिभाषा की है। बौद्ध दार्शनिकों के आधारानुसार कार्य करण सम्बन्ध तथा दादात्म्य सम्बन्ध व्याप्ति के आधार हैं। इन दोनों सम्बन्धों की धारणायें अनुभव

---

४०. अविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानदवकाशः (सर्वदर्शन संग्रह प्रथम अध्याय)

४१. उपमानदिकं तु दुरपास्तम्। तेषां संज्ञा संज्ञि सम्बन्धादि बोधकत्वेनानौपाधि अपिसम्बन्ध कत्वा संभवात् (सर्व०द० संग्रह अध्याय १)

निरपेक्ष हैं। इन पर दोनों आधारित व्याप्ति सिद्ध हैं। धूम तथा अग्नि की व्याप्ति सम्भव है। जैसे जब भी पुत्र उत्पन्न हुआ है या होता है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उसका पिता जीवित हो। बिना पिता के पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है। व्याप्ति इस प्रकार होगी कि देवदत्त एक पुत्र है तो कोई ना कोई उसका पिता है। जो जो पुत्र होगा उसका पिता भी होगा। जैसे सोमदेव एक पुत्र है तो यज्ञदत्त उसका पिता है। यदि देवदत्त युवक होने पर यह कहे कि, क्योंकि मैंने अपने पिता को प्रत्यक्ष रूप में नहीं देखा है, इसलिये उपर्युक्त व्याप्ति से मेरा कोई पिता नहीं है, क्योंकि विश्व के समस्त पिता पुत्र का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जाकर अवलोकित नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त देवदत्त की इस मान्यता को सामान्य और विद्वत्जन अनर्गल ही मानेंगे। दो वस्तुओं में यदि कार्य कारण सम्बन्ध हो तो उन दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध भी अवश्य होगा। कार्य की उत्पत्ति कारण के बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यता और चिन्तनशीलता व्याप्ति भी सम्भव है। इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है, अर्थात् एक का अस्तित्व दूसरे का कारण है कि वहाँ पर व्याप्ति सम्बन्ध अवश्य होगा।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार अव्यभिचारित पूर्वानुभव व्याप्ति का आधार है। उनकी मान्यता है कि यदि अतीत में दो पदार्थों का साहचर्य अवलोकित किया जाये अर्थात् उन्हें निरन्तर किसी सम्बन्ध से एक साथ देखा जाए तथा इस साहचर्य का व्यभिचार (अपवाद) कभी भी देखने में न आये तो उन दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिये। अतः उनका कहना है कि अव्यभिचरित पूर्वानुभव के आधार पर व्याप्ति की सिद्धि अवश्य हो जाती है।

नैयायिकों ने अन्वय-व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधि-निरास तर्क तथा सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति को प्रबल तर्क से सिद्ध किया है। अन्वय वह सम्बन्ध है जिसके द्वारा यह निश्चय होता है कि एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु का रहना आवश्यक एवं निश्चित रूप में हो अर्थात् एक के रहने पर दूसरी भी अवश्य रहती है और उसका एक भी अपवाद उपलब्ध न हो या कभी भी न देखा गया हो। उस अवस्था में व्याप्ति अवश्य सिद्ध होती है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में अवलोकित कर चुके। अतः धूम और अग्नि का व्याप्ति सम्बन्ध कहना समीचीन है।

व्याप्ति को सिद्ध करने के लिये व्यतिरेक विधा का प्रयोग किया जाता है। इसका अभिप्राय है कि एक वस्तु के न रहने पर दूसरी का न रहना ही

व्यतिरेक है। यह शर्त अवश्य है कि इसका कोई अपवाद नहीं होना चाहिये। यदि साध्य के अभाव में साधन का निरपवाद रूप में अभाव है तो उन दोनों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध अवश्य है, यथा–जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती, वहाँ-वहाँ धूम भी नहीं होता है। (यत्र यत्र अग्निः नास्ति तत्र तत्र धूमोऽपि नभवति) इससे यह निष्कर्ष निकला कि अग्निहीन वस्तु धूमहीन होती है। अन्वय व्यतिरेक विधि से जिस व्याप्ति का निश्चय पूर्वक ज्ञान है, उसमें कोई व्यभिचार अथवा अपवाद के न होने पर व्याप्ति के मानने पर कोई आपत्ति अपेक्षित नहीं है। व्याप्ति की प्रक्रिया में नैयायिकों का मत है कि उपाधि नीरस अर्थात् उपाधियों का निराकरण किये बिना व्याप्ति की सिद्धि करना सम्भव नहीं है। उपाधि की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है, परन्तु हेतु या साधन के साथ सदा नहीं रहता है। यदि कोई अग्नि से धूम का अनुभव करें तो यह अनुमान उपाधि दोष युक्त माना जायेगा। वास्तव में ऐसा अनुमान उपाधि दोष युक्त होने के कारण भ्रमात्मक हो जायेगा। क्योंकि यहाँ धूम साध्य है और अग्नि साधन है। जबकि अग्नि धूम तो इन्धन में आर्द्रता के कारण होता है। यहाँ उपाधि आर्द्र एवं गीले इन्धन के साध्य धूम के साथ सदा पाया जाता है, किन्तु हेतु अग्नि साथ सदा नहीं पाया जाता है क्योंकि ऐसे भी अग्नि भाव पदार्थ होते हैं जो धूमवान् नहीं होते जैसे विद्युत् या लोहे की अग्नि युक्त छड़ आदि। अतः दो वस्तुओं में नियत सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उपाधि निराश नितान्त आवश्यक है। ऐसा नियम अनौपाधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न दोनों वस्तुओं के अन्वय और व्यतिरेक या भूयोदर्शन के क्रम में यदि हम अवलोकन करें कि साध्य के उपस्थित या अनुपस्थित रहने पर हेतु के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उपस्थित या अनुपस्थित नहीं होगी तो हम समझेंगे कि हेतु और साध्य के मध्य स्थित नियत सम्बन्ध स्थापित करते समय जितनी उपाधियों की आशंका रहती है उन सबका निराकरण हो जाता है और तब हम कहते हैं कि उन दोनों के मध्य व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित है।

नैयायिकों के तर्क के आधार पर भी व्याप्ति की स्थापना की है क्योंकि तर्क से ही समस्त शङ्काओं का निराकरण किया जा सकता है। इसलिए उनकी मान्यता है कि यदि धूम और अग्नि के साहचर्य सम्बन्ध में शङ्का है तो उसका निराकरण तर्क के द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ सभी धूमवान् पदार्थ

वह्निमान् हैं। इस तर्क की प्रमाणिकता तर्क द्वारा इस प्रकार हो सकती है। कल्पना कीजिए कि यह वाक्य असत्य है तो इसका विरोधी वाक्य यह हो सकता है कि कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् नहीं है। अवश्य सत्य होगा। "किन्तु कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् नहीं हैं" का अर्थ है कि धूम बिना बह्नि के ही उत्पन्न होता है। अर्थात् धूम का कोई कारण नहीं है, यह वाक्य सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि यह मानना कार्य कारण सिद्धान्त के विरुद्ध है। कार्यकारण सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं हो सकता। इसलिए धूम का भी कोई न कोई कारण होना अपेक्षित है। अतः कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् नहीं हैं। यह वाक्य असत्य है तो इसका विरोधी वाक्य होगा कि सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् है, यह सत्य है। इस प्रकार धूम और अग्नि के साहचर्य सम्बन्ध को तर्क द्वारा समीक्षा करके व्याप्ति की सिद्धि स्पष्ट रूप में हो जाती है।

सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा भी नैयायिकों ने व्याप्ति को सिद्ध किया है। न्याय शास्त्र में सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष का अर्थ है। सामान्य धर्म का ज्ञान जैसे समस्त मनुष्य मननशील हैं इसका अर्थ है कि जितने भी मनुष्य हैं, चाहे वे भूतकाल में हो, वर्तमान में हो अथवा भविष्यत् काल में हो, सभी मननशील हैं, मृत्यु केवल विशेष मनुष्य के लिये ही नहीं अपितु मनुष्य जाति के लिये लागू होती है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि समस्त मनुष्य जाति के विषय में कैसे जान सकते हैं। इस सम्बन्ध में न्याय का मत है कि मनुष्य जाति का ज्ञान मनुष्यता सामान्य के अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा होता है। जब हम किसी व्यक्ति को देखते हैं तो उसमें अवश्य ही मनुष्यत्व का भी प्रत्यक्ष होता है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्यत्व धर्म विशिष्ट सभी व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष कहा जाता है। मनुष्यत्व और मननशीलता के मध्य व्याप्ति का निश्चय हमें सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष के अनुसार ही होता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अनुमान प्रमाण ही ऐसा प्रमाण है, जो हमें बहुत से पदार्थों का ज्ञान कराता है अतः चार्वाक द्वारा अनुमान का खण्डन करना उचित नहीं है।

तत्व मीमांसा–जगत् के रचना वैचित्र्य का रहस्य ज्ञान अत्यन्त जटिल है। इसको सुलझाना सुगम नहीं। जगत् की सृष्टि कब और क्यों हुई, इस जगत् का कोई सृष्टि कर्ता भी है या नहीं, सृष्टि के कारण क्या और कौन-कौन से हैं,

सृष्टि का प्रयोजन क्या, किसको और क्यों हुआ, इत्यादि समस्याओं का समीक्षण संसार की दार्शनिक चिन्तन परम्परा का एक मुख्य विषय है। इस ऊहापोह में विभिन्न तार्किक सम्प्रदायों के विभिन्न मत हैं। परन्तु प्रसंग के चार्वाक सम्प्रदायी होने के कारण जड़वादी दृष्टिकोण से ही समीक्षण करना युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

चार्वाक सम्प्रदाय ज्ञान विकास के प्रथम सोपान पर चढ़कर प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी होने के कारण स्थूल दृष्टि से आत्मा की खोज करता है। ऐसी स्थिति में जो पदार्थ इसके दृष्टिपथ में अवतीर्ण होते हैं, उन्हें ही यह सम्प्रदाय अपना 'प्रमेय' मानता है। औचित्यपूर्ण भी यही है, क्योंकि प्रत्यक्षतः साक्षात्कृत वस्तु की सत्ता या स्वरूप को स्वीकार नहीं करना भी तो असत्यता का द्योतक है। चक्षु ही तो दृष्टि का उत्कृष्टतम साधन है। लोकायत चार्वाकमत में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन्हीं चार जड़तत्वों की अधिमान्यता है। यद्यपि कतिपय अन्य भारतीय दर्शनों में आकाश को भी पंचम तत्व मानकर स्वीकार किया गया है। किन्तु चार्वाकमत में आकाश को "आवरण का अभाव" कहकर तत्वों के अन्तर्गत उसकी गणना नहीं की गई।[४२] उपर्युक्त भूतचतुष्टय के यथोचित रासायनिक परिमाण में संयोग होने से देह एवं इन्द्रियादिकों का निर्माण होता है। और फिर किण्वादि (मादक द्रव्यों) के यथोचित मात्रा में संयोग होने पर जिस प्रकार मदिरा में मादकता उत्पन्न हो जाती है,[४३] उसी प्रकार चातुर्भौतिक देह में चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है।[४४] चार्वाक अपने पक्ष के पुष्टीकरण में एक दूसरा दृष्टान्त उपस्थित करते हुए कहते हैं कि यद्यपि लाल रंग न तो पान के पत्ते में रहता है, न सुपारी में और न चूने में, किन्तु विशिष्ट मात्रा में इनका संयोग होने पर ताम्बूलभक्षक के मुख में लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है।[४५] चार्वाक का प्रतिपादन है कि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखने से भी नये नये गुणों का आविर्भाव होता है। गुड़ में मादकता का अभाव है, किन्तु उसके सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है। उसी प्रकार, जड़ तत्वों का भी सम्मिश्रण यदि एक विशेष रीति से हो तो शरीर की उत्पत्ति होकर उसमें एक नया गुण चैतन्य आविर्भूत हो जाता है।

४२. मिश्र०भा० ८८

४३. "किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।"–बा०सू० ४

४४. "तेभ्यश्चैतन्यम्।"–Ibid 3

४५. "जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यन्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितः।।"–स०सि०सं० ७।

कतिपय सिद्धान्तगत मन्तव्यताओं में एकता होने के कारण सांख्यदर्शन सम्प्रदाय भी चार्वाक सम्प्रदाय के समान ही कुछ अंशों में जड़वादी सिद्ध होता है, क्योंकि सांख्य दर्शन में भी प्रकृति ही संसार की सृष्टिकर्त्री है और उसे जड़ अथवा अचेतन निर्दिष्ट किया गया है।[४६] इनके मत में त्रिगुणात्मक और प्रसवधर्मी होने के कारण जड़ बुद्धि तत्व ही कर्ता एवं भोक्ता माना गया है और चेतन पुरुष अत्रिगुण एवं अप्रसवधर्मी होने से कर्ता एवं भोक्ता नहीं हो सकता। अतएव 'मैं करता हूँ', यह कर्तृत्व प्रतीति पुरुष में भ्रम से होती है, क्योंकि पुरुष के साथ अत्यन्त सन्निधान होने से ही जड़ बुद्धि अपने को चेतन समझने लगती है और बुद्धि के साथ अभेद ग्रह होने के कारण पुरुष भी अपने को कर्ता और भोक्ता मानने लगता है। वास्तव में चेतन पुरुष न तो कर्ता है, न भोक्ता है, वह तो "असंगो ह्यसं पुरुषः" के अनुसार कमलपत्र के समान निर्लिप्त है।

प्राचीन ग्रीक के स्वभाववादी दार्शनिकों में 'दैमोक्रेतु' ही एक ऐसा था, जो भौतिकवाद से घनिष्ठ समीपता रखता था। उसके सिद्धान्त के अनुसार–"अभाव से कोई वस्तु नहीं निकल सकती (न भावो विद्यतेऽभावात्)" और किसी वस्तु (भाव) का ध्वंस भी नहीं हो सकता। संसार के सारे परिवर्तन विभिन्न परमाणुओं के संयोग और विभागमात्र हैं। कोई वस्तु या घटना अकस्मात् नहीं उत्पन्न हो जाती, प्रत्येक घटना किसी कारण या आवश्यकता से होती है। उसके विचार से परमाणु या शून्य आकाश को छोड़कर संसार में और कोई वस्तु अस्तित्व नहीं रखती, वह केवल कल्पनामात्र है। परमाणु असंख्य और अनन्त प्रकार के हैं। वे अनन्त आकाश में निरन्तर गिरते रहते हैं। बड़े परमाणुओं के पतन का वेग अपेक्षाकृत अधिक होता है, इसलिये वे गिरते समय अपने से अपेक्षाकृत न्यून गतिधारी छोटे परमाणुओं से टकराते हैं, इस संयोग के कारण जो भौतिक गति या चक्कर प्रारम्भ होता है, उसी से संसार की सृष्टि आरम्भ होती है। परमाणुओं के इस तरह के संयोग-वियोग से असंख्य जगत् एक साथ या बारी-बारी से बनते और मिटते हैं।[४७]

इस प्रसंग के आधार पर दैमोक्रेतु और लुक्रेटियस आदि पाश्चात्य दार्शनिकों को हम धूर्त सम्प्रदायी चार्वाक श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि इनके और धूर्तसम्प्रदायी चार्वाकों के सिद्धान्तों में पूर्ण सादृश्य है।

---

४६. "तस्मात्तसंयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः"।।–सा०का० २०।

४७. Cf. कार्लमार्क्स, पृ० २६-२७

परलोक का निराकरण—भारतीय वाङ्मय में एक पक्ष से यदि असंख्य लोक परलोकों की विद्यमानता की घोषणा निरन्तर दृष्टिगोचर होती है। इधर आस्तिक सम्प्रदायी वेद, धर्मशास्त्र, पुराण आदि साहित्य यदि भूर्भुवादि और स्वर्ग नरकादि संख्यातीत लोकों के अस्तित्व के सनातन आलाप सुना रहे हैं, तो उधर नास्तिक सम्प्रदायी लोकायतिक साहित्य उन लोकों के खण्डन में सतर्क तान छेड़ रहे हैं। शब्द एवं अनुमान आदि प्रमाणों पर आधारित वैदिक साहित्यों का प्रतिपादन है कि अमुकामुक पुण्यापुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्रेतात्माओं को अमुकामुक स्वर्गनरकादि लोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी चार्वाक सम्प्रदाय स्पष्ट और ओजस्वी शब्दों में परलोक मात्र का खण्डन कर देता है। चार्वाकों की घोषणा है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान् जगत् के अतिरिक्त अन्य किसी परलोक का अस्तित्व नहीं है।[४८] परलोक की सत्ता में श्रुति भी संशय प्रकट करती हुई कहती है कि कौन जानता है कि परलोक है और वहाँ जीवात्मा जाता है? पुराण साहित्यों में भी यत्र-यत्र परलोक खण्डन के प्रतिपादक प्रमाणों का अभाव नहीं है। एक स्थल पर उल्लेख है कि न कहीं स्वर्ग का अस्तित्व है और न किसी प्रकार के मोक्ष का। व्यर्थ ही लोग इनकी उपलब्धि के लिये शारीरिक कष्ट उठाते हैं।[४९] फिर अन्य स्थल पर माया मोह दैत्यों को समझा रहा है कि सम्पूर्ण जगत् विज्ञानमय है, ऐसा समझना चाहिये। मेरे वाक्यों पर पूर्णरूप से ध्यान दो। इस विषय में बुद्धजनों का ऐसा ही मत है कि यह संसार निराधार है, भ्रम जन्य पदार्थों की प्रतीति पर ही स्थिर है तथा रागादि द्वेषों से दूषित है। इस संसार संकट में जीव निरन्तर ही भटकता रहता है।[५०]

रामायण में भी परलोक के निरसनरूप में एक ऐसा ही चित्रण पाया जाता है। राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् शोक से व्याकुल तथा उदासीन राम को

४८. "परलोकफलो धर्मः कीर्त्यते तदसङ्गतम्।
परलोकोऽपि नास्त्येवाऽभावतः परलोकिनः।"—त्रिषष्टिशलाका० 1\1\330 and निरुक्त० 6\32\127\1 क०उ० IK 16

४९. "न स्वर्गो नैव मोक्षोऽत्र लोकाः क्लिश्यन्ति वै वृथा"—प०पृ०सृ० 13\323

५०. विज्ञानमयमेवेदमशेषमवगच्छत्।
बुद्धयध्वं मे वचः सम्यग्बुधैरेवमिहोदितम्।।
जगदेतदनाधारं भान्ति कामार्थतत्परम्।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसंकटे।।—वि०पु० 3\18\17-18

आश्वासन देता हुआ जाबालि नामक एक द्विजोत्तम कह रहा है कि हे महामते! वास्तव में इस प्रत्यक्ष लोक के अतिरिक्त अन्य परलोक आदि कुछ भी नही है, इसे आप सम्यक् प्रकार से समझ लीजिये। अत: जो प्रत्यक्ष है, उसे ग्रहण कीजिए और जो परोक्ष है, उसे अपेक्षित कीजिये।[५१]

अपने लौकायतिक पक्ष के विवरण प्रकरण में शंकराचार्य ने भी परलोक और स्वर्ग नरक आदि का अभाव दिखलाकर विवरण दिया है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान् संसार के अतिरिक्त अन्य कोई भी लोक, नरक आदि तत्व नहीं है।[५२]

हरिभद्र सूरि ने अपने लोकायत मत के प्रकरण प्रसंग में परलोक का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि यह संसार, जितना स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष गोचर हो रहा है, उतना ही भर है, और यदि कहा जाये कि परलोक की भी सत्ता है, तो वह केवल शशक के सींगों तथा बन्ध्या पुत्र के ही समान उस (अप्रत्यक्ष लोक) का अस्तित्व हो सकता है। वह परलोक सत्ता उस वृकपद के समान है। मानो जो यथार्थ में प्रकृत वृकपद का चिन्ह न होकर कृत्रिममात्र है अर्थात् राजमार्ग की धूलि में अपनी अंगुलियों से चित्रित एक कृत्रिम वृकपद का चिन्ह निर्मित कर कोई लोकप्रतिष्ठित अनुभवी पण्डित लोगों को उसे दिखलाकर यह कहता है कि रात में एक वृक आया था, उसी का यह पदचिन्ह है और लोग भी इस पर विश्वास कर लेते हैं।[५३]

शान्तरक्षित ने अपने चार्वाकमत के विवरण प्रसंग में परलोक के खण्डन स्वरूप एक श्लोक का प्रतिपादन किया है। उसका तात्पर्य है कि यह आत्मा अनुगमन नहीं करता अर्थात् इस वर्तमान शरीर के पूर्व आत्मा की परम्परा नहीं थी। इस कारण परलोक का अस्तित्व खण्डित हो जाता है।[५४]

देहात्मवाद–चार्वाक सम्प्रदाय चतुर्भूतमय देह के अतिरिक्त अन्य किसी अदृष्ट को ही आत्मा मानता है। देहात्मवाद के पक्ष में आचार्य माधव का प्रतिपादन है कि "मैं स्थूल हूँ" "मैं कृश हूँ"–इत्यादि सामान्य देह का संकेत

---

५१. स नास्ति परमित्येतत्कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु।।–वा०रा० 2\109\17

५२. "इहलोकात्परो नान्यः स्वर्गोऽस्ति नरको न च।"–स०सि०सं० 8.

५३. एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे वृकपदं पश्य यद्वदन्ति बहुश्रुताः।।–ष०द०स०श्लो० 81

५४. द्र०–त०सं० 1857

करते हैं।[५५] "मेरा शरीर" इत्यादि कथन तो केवल लोकव्यवहार के लिये है जैसा कि 'राहु का शिर' यह कथन परिपाटी हो गई और इसी प्रकार यह भी कथन परिपाटी हो गई है 'यह मेरा शरीर'। हरिभद्र सूरि का मत है कि प्रत्यक्ष दृष्टिगोचरीभूत शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी भी अनुमिति गम्य विशिष्ट आत्मा का अस्तित्व नहीं है।[५६] लौकिक एवं पारलौकिक दो शरीरों में विविध विभिन्नताओं के तथा तद्गत दो चित्तों में असादृश्य होने के कारण सम्बन्धाभाव हो जाता है।[५७] अतएव अतीन्द्रिय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता मृत मनुष्य के आत्मा के अस्तित्व में भी सन्देह प्रकट किया गया है।[५८]

इन्द्रियात्मवाद–मनुष्य श्रोत्र आदि इन्द्रियों की विकृति से अपने को विकारी मानकर मैं बधिर हूँ, मैं अन्धा हूँ, इत्यादि वचन कहता है। इन वाक्यों में 'मैं' का प्रयोग तो आत्मा के लिये ही हुआ है और चार्वाक पक्ष श्रोत्र तथा चक्षुरादि इन्द्रियों को ही आत्मा मानता है। यही इन्द्रियात्मवाद है।[५९]

मनश्चैतन्यवाद–इन्द्रियात्मवादी दल की अपेक्षा कुछ अधिक उन्नतावस्थापन्न एक दल का सिद्धान्त यह है कि समस्त शरीर कार्य मनोऽधीन है क्योंकि मन जब निद्रा की अवस्था में लीन रहता है, तब शरीर कार्य करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है। मन स्वतन्त्र है और यही ज्ञान प्रदान करता है। श्रुति का भी यह प्रतिपादन है।[६०]

प्राणात्मवाद–अनुभव और ज्ञान के विकास के साथ क्रमशः इनकी दृष्टि सूक्ष्मतर होती है और इन्द्रियों तथा मन प्राणों की अधीन प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थिति प्राणमय है। प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर और इन्द्रिय समूह मृत हो जाते हैं, तथा प्राणवायु के रहने पर शरीर जीवित रहता है। 'मैं भूखा हूँ', और 'मैं प्यासा हूँ,' यहाँ पर भूख और प्यास से प्राण को ही लक्षित किया गया है,

---

५५. "अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः।
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवात्मा न चापरः।।"–स०द०सं० 1\63\-64

५६. "एतावानेव लोकोऽयं यावदिन्द्रियगोचरः।
नहि भीरू गतं विवर्त्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम्।।"–ष०द०स० 2-3

५७. "इहलोकपरलोकशरीरयोर्भिन्नत्वात्तद्गतयोरपि चित्तयोर्नैकः सन्तानः।–त०स०प० 1970"

५८. Cf. क.उ० 1\1\20

५९. Cfék सिद्धान्त बिन्दु पृ० 107

६०. "अन्योऽन्यतर आत्मा मनोमयः।"–2\3\1

क्योंकि भूख और प्यास प्राण के ही धर्म हैं।[६१] जब क्षुधा से व्याकुल मनुष्य के प्राण शरीर से निकलने लगते हैं, तब मनुष्य कर्त्तव्याकर्त्तव्य या कृत्याकृत्य का विचार छोड़कर अपने प्रियतम प्राणों की रक्षा की शक्ति भर चेष्टा करता है। ऋग्वेद की शाखा "ऐतरेय ब्राह्मण" में सुयवस ऋषि के पुत्र 'अजीगर्त्त' नामक एक ब्राह्मण और उसके पुत्र "शुन:शेप" का उपाख्यान है। दुर्भिक्ष के कारण पीड़ित अवस्था में अजीगर्त्त ने अपने प्राणों की रक्षा के लिये अपने पुत्र 'शुन:शेप' को सौ गायों के मूल्य पर हरिश्चन्द्र के हाथ विक्रय कर दिया था।[६२] जब राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में शुन:शेप रूप पशु को मारने के लिये कोई बंधक नहीं मिला, तब शुन: शेप का पिता अजीगर्त ही सौ गायें और अधिक लेकर बन्धक का कार्य करने के लिये प्रस्तुत हो गया।[६३] यह प्राणात्मवाद ही तो है। प्राणात्मवाद का एक रूप शास्त्रों में उपवर्णित हुआ है। एक समय अनेक वर्षव्यापी महान् दुर्भिक्ष के कारण ऋषि विश्वामित्र अपने प्रिय प्राणों की रक्षा के लिये रात्रि में चौर्यकर्म से एक चाण्डाल के घर में जाकर उसका उच्छिष्ट कुत्ते का माँस भक्षण करने को तत्पर हो गये थे।[६४] शास्त्रों में इस प्रकार के बहुसंख्यक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

ऊपर के परिवर्णित देह, इन्द्रिय, मन और प्राण ये चार बाद भौतिकवाद पर ही आधृत हैं। भूतों में ही इस मत के समस्त विचार निहित हैं। इन स्थूल भूतों के आगे जाने में इसकी दृष्टि असमर्थ है। उपनिषद् काल में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद और पुरुषवाद का प्रतिपादक प्रसंग मिलता है।[६५]

अनात्मवाद–भौतिकवादी सम्प्रदाय में यथार्थत: आत्मन् के अस्तित्व की कोई अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वहाँ चातुर्भौतिक देह को ही प्रत्यक्ष आत्मरूप से

६१. "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय:"–तै०उ० 2\2\1

६२. "तौ ह मध्यमे सम्पादायचक्रतु: शुन: शेपे।
तस्य ह शतं गवां दत्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।।"–ऐ०ब्रा०हरि०पृ० 14-15

६३. "तस्मा उपाकृताय नियुक्तायाप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं न विविदु:। स होवाचाजीगर्त्त: सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं विशशिष्यामीति। तस्मा अपरं शतं ददु:। सोऽसिं नि:शान एयाय।"–Ibid p. 17

६४. द्र०भा० शान्ति० 141\43, 45-93

६५. "काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीश: सुखदु:खहेतो:।।"–श्वे०उ० 1\2

स्वीकृत किया गया है। गम्भीर विवेचन करने पर कतिपय अंशों से इस सिद्धान्त में वास्तविकता ही अवगत होती है, क्योंकि सतत गमनार्थक 'अत्' धातु के आगे कर्त्रर्थ में 'मनिण्' प्रत्यय के योग से आत्मन् शब्द की निष्पत्ति होती है। शब्द शास्त्र के अनुसार आत्मन् शब्द का व्यूत्पन्नार्थ होता है–'अतति सततं गच्छति, नैकत्र तिष्ठीत्यात्मा'–अर्थात् आत्मा वह तत्व है, जो निरन्तर गमन करता रहता है। गमनकर्ता का अर्थ हो सकता है–परिवर्तनशील। परिवर्तनशील वस्तु का अस्तित्व भी सदा सम्भव नहीं। आचार्य माधव ने भी अनात्मवाद के पक्ष में प्रतिपादन किया है कि यदि देह से भिन्न कोई आत्मा है और देह से निकलकर परलोक चला जाता है और यदि उसका वहाँ जाना सिद्ध है तो फिर वह बन्धु-बान्धवों के स्नेह से आकृष्ट होकर वहाँ से क्यों नहीं लौट आता है?[६६] यदि उसका यथार्थतः अस्तित्व होता तो कभी अवश्य ही आ जाता, किन्तु कभी भी ऐसा नहीं देखा जाता। आचार्य मधुसूदन और नीलकण्ठ ने भी कहा है कि चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है।[६७] शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई अन्य अतीन्द्रिय तत्व नहीं है। लोक में 'मेरा शरीर' कथन मात्र की परिपाटी है। इससे किसी इन्द्रियातीत आत्मतत्व को लक्षित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार "राहु का शिर" इस कथन का कोई अर्थ नहीं, क्योंकि राहु तो शिरोमात्र ही है फिर भी "राहु का शिर" इस कथन की लौकिक प्रथा तो है ही। इसी प्रकार "मेरा शरीर" कथन की एक प्रथा सी हो गई है। शान्त रक्षित आत्मन् के अनास्तित्व के प्रतिपादन में कहते हैं कि दो शरीरों में विविध भिन्नताओं और तद्गत दो चित्तों में असादृश्य के कारण पारस्परिक सम्बन्धाभाव हो जाता है।[६८]

उपर्युक्त उल्लेखों पर ध्यान देने से अवगत होता है कि इस प्रत्यक्ष दृश्यमान् देह से भिन्न किसी अतीन्द्रिय आत्मन् की सत्ता युक्तियुक्त नहीं। अतएव चार्वाक पक्षीय अनात्मवाद या देहचैतन्यवाद स्वतः सिद्ध हो जाता है।

स्वभाववाद–चार्वाकमत में स्वभाववाद की अनवरत अपेक्षा है, क्योंकि स्वभाव के ही ऊपर जड़ तत्व के सिद्धान्त आधारित हैं। स्वभाव के अभाव में चतुर्भूतों की कायाकार में परिणति असंभव है। जड़वाद के सिद्धान्त में यह

---

६६. "यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।
कस्माद्भूयो न चायाति बन्धु स्नेहसमाकुलः।।"स०द०स० 1\24-25

६७. चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः।–गी०म०नी० 16\11

६८. द०पा०टी० ७६।

प्रतिपादन है कि अशेष दृश्यमान् पदार्थ निसर्गत: इसी रूप में सदा से सम्पन्न होते आ रहे हैं और भविष्य में भी इसी प्रकार सम्पन्न होते रहेंगे। न कोई इनका कर्ता है और न कारण। सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर आदि के लिये कोई अवसर नहीं है। प्राचीन साहित्य में भी व्यापक रूप से स्वभाववाद की रूपरेखा का चित्रण दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध साहित्य में इसकी चर्चा है। आचार्य बुद्धघोष स्वभाववाद की विवृति में प्रतिपादन करते हैं कि शुभ और अशुभ तथा उत्पत्ति और अनुत्पत्ति आदि क्रियायें स्वभाव से ही होती रहती हैं, क्योंकि समस्त व्यापार नैसर्गिक हैं अत: कोई भी प्रयत्न करना व्यर्थ है। इन्द्रियों की अपने व्यापारों में प्रवृत्ति नियत है। विषयों में प्रिय और अप्रिय भाव की अनुभूति स्वयं अधिष्ठित रहती है। वार्धक्य में रोगयुक्त होना स्वाभाविक है। इस विचार से भी पुण्यापुण्य कार्य विधान में विधिनिषेध क्यों? जल से अग्नि का शमन तथा तेजस् से जल का शोषण होता है। शरीर में स्थित पाँच तत्व स्वभावत: पृथक्-पृथक् हैं और वे एक होकर जगत् का निर्माण करते हैं गर्भपात होने पर (भ्रूण) के हस्त, पाद, उदर, पृष्ठ और मस्तक आदि अवयवों का निर्माण होता है और आत्मन् से संयोग होता है। विद्वानों के मत में ये सब स्वाभाविक हैं। कण्टकों की तीक्ष्णता तथा पशु पक्षियों की विचित्रता आदि का सर्जनकर्ता कौन है? ये सब विसर्ग से ही सम्पन्न हुए हैं। अपनी इच्छा से कोई सफल कर्मा नहीं हो सकता, अत: प्रयत्न करना व्यर्थ है।[६९]

बुद्धघोष के उपर्युक्त प्रतिपादन से चार्वाक पक्ष में यह सिद्ध होता है कि स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के लिये मनुष्य पुण्यापुण्य कर्मों के विधि-निषेध से अपने को अलग रखे, क्योंकि सुकृत से सुख और दुष्कृत से दु:ख की उपलब्धि होगी। यह धारणा निरर्थक है।

पुनर्जन्म—अब प्रश्न यह होता है कि बौद्धमत आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तब पुनर्जन्म किसका होता है, क्योंकि बौद्ध मत में पुनर्जन्म का बड़ा ही महत्व है। राजा मिलिन्द की भदन्त नागसेन के प्रति यही जिज्ञासा

---

६९. "केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्न:।।
यदिन्द्रियाणां नियत: प्रचार: प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तन्न यत्नो ननु स स्वभाव:।।—बुद्धचरितम्, 9\48-49.....52

थी, जो व्यक्ति जन्म के समय रहता है, क्या बाल्य, यौवन और वार्धक्य के समय वही व्यक्ति रहता है या तद्भिन्न? नागसेन का समाधान है, न वही (व्यक्ति) है और न तद्भिन्न ही। नागसेन ने दीपशिखा के दृष्टान्त से अपने सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है। तेल से परिपूर्ण जो दीपक सूर्यास्त से सूर्योदय काल तक रातभर जलता रहता है। क्या सूर्यास्त के समय प्रज्वलित की गई जो दीपशिखा थी वही पूरी रात जलती रही या तद्भिन्न? साधारण बुद्धि से प्रतीत होता है कि वह एक ही दीपशिखा सारी रात जलती है, परन्तु स्थिति कुछ अन्य ही है, दीपक तो एक ही है, परन्तु उसकी शिखा (लौं) प्रतिक्षण परिवर्तनशील रहती है। आत्मा की स्थिति के प्रसंग में भी ठीक यही दशा है। किसी वस्तु के क्रम में आत्मा की एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक लय, और इस प्रकार प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी प्रकार एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा हो जाता है।

दूध से बनी वस्तुओं को ध्यान से देखने पर सिद्धान्त का पुष्टिकरण हो जाता है। जैसे दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी बनाया जाता है, समाधान यह है कि दही, मक्खन या घी से परिवर्तित तीन वस्तुयें दूध नहीं हैं, दूध के विकार हैं। विज्ञान का प्रवाह भी इसी प्रकार निरन्तर चलता रहता है। पुनर्जन्म के समय जन्मग्राही जीव न तो वही है और न तर्दभिन्न ही। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि विज्ञान की लड़ी प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने पर भी नित्य सी दृष्टिगोचर होती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही अन्य जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न हो उठता है।[७०]

संशयवाद–संशय बड़ी विचित्र वस्तु है। इसके बीज यदि किसी विचारभूमि में लग जाते हैं, तो प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। प्राचीन काल के बड़े-बड़े तत्वज्ञानियों के मन में भी आत्मा, परलोक तथा ईश्वर आदि अलौकिक तत्वों के विषय में संशयालुता देखी जाती है। इस संशयवाद के अनेक प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं। वैदिक ऋषि दीर्घतमा अन्य ऋषियों से अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुये कह रहे हैं कि परमार्थ तत्व के विषय में मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है, अतएव मैं आप लोगों से जिज्ञासा करता हूँ कि क्या इस वैचित्र्यमय जगत् का कोई नियामक है? जहाँ सम्पूर्ण पार्थिव सृष्टि का अवसान

---

७०. Vide मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी) पृ० 49-50

होता है, जो सृष्टि की पराकाष्ठा है, जो निखिल भुवन का बन्धनरूप है तथा जिसके साथ समग्र विश्व सन्नद्ध है इस प्रकार की किसी सत्ता के विषय में निश्चित रूप से मैंने कोई भी समाधान नहीं पाया। इस कारण मैं जिज्ञासु भाव से आप लोगों से जानना चाहता हूँ। उपर्युक्त वाक्यों से अवगत होता है कि ऋषि दीर्घतमा का चित्त परम सत्य के विषय में संशय के कारण व्याकुल है।[७१]

ऋग्वेद में प्रजापति परमेष्ठी संशयित चित्त से जिज्ञासा कर रहे हैं, क्या यह जगद्वैचित्र्य सृष्टि के आदि काल से ही घन गम्भीर और विस्तीर्ण जलराशिमय था? यह विविध वैचित्र्यमय सृष्टि कब, किस रूप में, कहाँ से आई, यह कौन निश्चित रूप से जानता है? कौन दृढ़ता के साथ कह सकता है? देवता भी इस विविध सृष्टि के पीछे उत्पन्न हुए हैं। परमेष्ठी यहाँ पर जगद्वैचित्र्य के मूलभूत कारण को अज्ञेय बतला रहे हैं।[७२]

एक ऋषि कह रहे हैं, "हे संग्रामेच्छुगण, यदि सचमुच इन्द्र है तो, तुम लोग इन्द्र की स्तुति करो," नेम बोले, "इन्द्र नामक कोई व्यक्ति नहीं है। किसी ने इन्द्र को देखा है? हम किसकी स्तुति करें?[७३] इस विवरण से विदित होता है कि इन ऋषियों के मन में वैदिक देवताओं में सर्वप्रथम इन्द्र के अस्तित्व में भी संशय हो रहा है। सत्य ही, इन्द्र का अस्तित्व अज्ञेय है।"

पुनः एक अन्य ऋषि कह रहे हैं, "जिस घोर भयंकर इन्द्र के विषय में लोग जिज्ञासा करते हैं, वह इन्द्र कहाँ है?" उसके सम्बन्ध में अन्य लोगों का कहना है कि 'इन्द्र' नहीं है। इन्द्र उद्वेजक रूप में शत्रुओं की धनराशि को विनष्ट

---

७१. "को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्।।"–अस्यवामीयं (विश्वेदेवाः) सूक्तम् 1\164\4
"पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः, पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
न विजानामि यदि वेदमस्ति, को ददर्श प्रथमं जायमानम्।।" Cf शास्त्री०पृ० 34

७२. "अन्तः किमासीद्गहनं गभीरम्?" Ibid
"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत अज्ञाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जने नाथा को वेद यत आबभूव।।"

७३. "प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
नेन्द्रो अस्तीति नेम उत्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम्।।"–ऋग्वेद 8\100\3

कर देता है। अतएव वही इन्द्र है, ऐसा समझकर उसका विश्वास करो।[७४] इस प्रसंग में ऋषि के अपने संशय के न रहने पर भी साधारण लोग इन्द्र के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशयव्याकुल हो सकते हैं। किसी का कथन है, "इन्द्र कोई नहीं है।" उपर्युक्त विभिन्न ऊहापोहों से प्रतीत होता है कि यहाँ पर जनसाधारण के मन में इन्द्र के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूर्ण संशय है और इन्द्र के अस्तित्व के विषय में संशय का अर्थ है वेद और वेद से उत्पन्न ज्ञान के प्रति संशय होना। जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है तथा जिसे किसी ने देखा नहीं उसके अस्तित्व में संशय होना स्वाभाविक है।

पुनः एक ऋषि की उक्ति है–कोई काल को जगत् का कारण बतलाते हैं, कोई स्वभाव को, कोई नियति को कोई यदृच्छा को, कोई पञ्चभूत को और कोई पुरुष को ये काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचभूत और पुरुष जगत् के कारण हो सकते हैं या नहीं, यही चिन्तन का विषय है। ये पृथक्-पृथक् भी कारण नहीं हो सकते और संघातरूप से भी कारण नहीं हो सकते, क्योंकि इनका संयोग भी (अपने शेषी) आत्मा के अधीन होने के कारण नहीं बन सकता तथा जीवात्मा भी सुख दुःख के हेतु (पुण्यापुण्य कर्मों के अधीन) है।[७५] अतएव वह भी कारण नहीं हो सकता, इस ऋषि के मत में कालवादी, स्वभाववादी, नियतिवादी, यदृच्छावादी, भूतवादी, पुरुषवादी आदि ऋषि अज्ञानवादी सिद्ध होते हैं। अतएव यहाँ भी संशयवाद उपस्थित हो जाता है।

पुनः उपर्युक्त ऋषि ने संशयवाद को और अधिक स्पष्ट रूप में परिष्कृत किया है–"कोई बुद्धिमान् स्वभाव को (जगत् का) कारण बतलाते हैं और कोई काल, क्योंकि ये स्वयं मोहग्रस्त और संशयालुचित्त होने के कारण तत्व को नहीं मानते।[७६] वे परम तत्व को जाने बिना ही प्रचार करते हैं। यहाँ भी अज्ञानवाद की ही सिद्धि होती है।

अज्ञेयवाद–अज्ञेयवाद का प्रतिपादन करते हुये एक अन्य ऋषि का प्रतिपादन है, "परम तत्व का ज्ञान नहीं हो सकता। वह सर्वतो भावेन अज्ञेय है, क्योंकि तत्व तो ज्ञान के अतीत है।"[७७]

---

७४. "यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुपेतमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा भिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥"–Ibid 2\12\5

७५. द्र०–श्वे०उ० 1\2

७६. "स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये।"–Lbid 6\1

७७. "अन्यदेव तद्धिदितादथो अविदितादधि।"–के०उ०उ० 1\3

अज्ञेयवाद के समर्थन में ऋषि का प्रतिपादन है, "यदि तू ऐसा मानता है कि मैं अच्छी तरह परम तत्व को जानता हूँ, तो निश्चय ही तू परम तत्व को अल्प मात्र ही जानता है।[७८] मैं न तो यह मानता हूँ कि मैं परम तत्व को अच्छी प्रकार जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नहीं जानता।[७९] जो परम तत्व को निश्चित रूप से अविदित समझकर जानता है, वही परम तत्व को सचमुच नहीं जानता। जो परम ज्ञानवान् है, वह परम तत्व को ज्ञात मानकर नहीं जानता और जो सम्यक् ज्ञानवान् नहीं है, वहीं परम तत्व को 'ज्ञात' समझता है। परम तत्व को जानने का कोई उपाय नहीं है। अतएव परम तत्व अज्ञेय है।"[८०]

नहीं जानता हूँ, यह भी नहीं कहा जा सकता और "जानता हूँ" यह भी नहीं, इस प्रकार ऋषि की उक्ति अनिश्चितता और संशय को दृढ़तर करती है।

परवर्ती काल में महावीर ने भी "अज्ञानीय" गण की चर्चा की है। अज्ञानीयगण अपने को ज्ञानी एवं चिकित्सोत्तीर्ण अर्थात् संशयोत्तीर्ण कहकर प्रचार करते थे। प्रकृत पक्ष में ये तत्वदर्शी नहीं थे। निर्विचार में वे अज्ञ शिष्यों के मध्य में मिथ्या ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान बतलाकर उसका प्रचार करते थे और वे अज्ञानवादी ही थे।[८१]

उच्छेदवाद–

बौद्ध पालिसाहित्य में अजितकेशकम्बल नामक एक तीर्थकर की चर्चा है। यही केशकम्बल उच्छेदवाद का प्रथम उपदेशक माना गयः है। इसका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि से प्रतीत होता है कि केशों से निर्मित कम्बल धारण करने के कारण यह नाम पड़ा होगा। इसका मत विशुद्ध भौतिकवाद है। पालि साहित्य के निकाय ग्रन्थों में अर्जित केशकम्बली के उच्छेदवाद का विस्तृत विवरण दृष्टिगोचर होता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय का मन्थन करने पर संस्कृत साहित्य में भी यत्र तत्र उच्छेदवाद का प्रसंग आता है और सूक्ष्म विवेचन से तीर्थकर अजित केशकम्बली का सिद्धान्त उससे सर्वथा मिलता जुलता तथा अभिन्न सा आभासित होता है।[८२]

---

७८. "यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि नूनम्।"–Lbid 2\1

७९. "नाहं मन्ये सुवेदिति नो न वेदेति वेद च।"–Lbid 2\2

८०. "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।"–Lbid 2\3

८१. सूयगड 1\12\2

८२. द्रष्टव्य–वा०रा० 2\109\16-17

वेद का खण्डन—भारतीय वाङ्मय परम्पराओं के समग्र सम्प्रदाय सम्भवतः सृष्टि के आदिकाल से ही वेद को नित्य, अनादि और अपौरुषेय, अतएव प्रामाणिक तथा आदर्श मानकर उसके प्रति अपना सर्वोच्च उदात्त सम्मान तथा अक्षुण्ण और आन्तरिक श्रद्धा समर्पण करते आ रहे हैं। यहाँ के अशेष साहित्य वेद की ही दृढ़ भित्ति पर आधारित हैं। उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, पुराण आदि सम्पूर्ण विद्याशाखायें वेद से ही प्रकाश पाकर भारतवासी जिज्ञासुओं के मानसमन्दिरों में उज्ज्वल ज्ञानलोक को सर्वतोभावेन मान्य है। किन्तु चार्वाकसम्प्रदाय वेद की भी निन्दापूर्ण कटु आलोचना करने से अपने को विरत और संयत नहीं रख सका। चार्वाकों ने वेद का सर्वतोभावेन घोर छिद्रान्वेषण और स्पष्ट रूप से नग्न उपहास भी किया। चार्वाकों की उच्च घोषणा है कि वेद कभी नित्य अनादि और अपौरुषेय हो नहीं सकता। अपने पक्ष के पुष्टिकरण में वे विविध प्रकार की युक्तियाँ और तर्क उपस्थित करते हुए कहते हैं कि वेद की शाखाओं के काठक, पैप्पलाद और कौथुम आदि नाम हैं। अतएव, यह सूचित होता है कि वेद के प्रणेता या कर्ता भी कोई रहे हैं, और वे जन्मरणशील मनुष्य ही हैं जो ग्रन्थ 'कठ' नामक व्यक्ति के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम 'काठक' हुआ। इसी प्रकार जो ग्रन्थ 'पिप्पलाद' नामक व्यक्ति, के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम 'पैप्पलाद' और जो ग्रन्थ 'कुथुम' नामक व्यक्ति के द्वारा रचित हुआ, उसका नाम 'कौथुम' पड़ा।

आचार्य जैमिनि अपने दर्शन में वेद की नित्यता तथा अपौरुषेयता स्थापित करने के प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में वेद विरुद्धवादियों के मत संक्षेप में विवृत करते हुये कहते हैं और उसके अर्थ प्रतिपादन में भाष्यकार का कथन है कि वेद में 'प्रावाहणि', अर्थात् 'प्रवहण' के पुत्र 'बबर' और 'औद्दालकि', अर्थात् उद्दालक के पुत्र कुसुरविन्द आदि जनन्मरणशील मनुष्यों का उल्लेख पाया जाता है। इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वेद के उन भागों की रचना, जहाँ 'प्राबाहणि' और औद्दालकि प्रभृति मनुष्यों का उल्लेख है, उन (प्रावाहणि और औद्दालकि) मनुष्यों के पीछे, अर्थात् परवर्त्ती कालों में हुई। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं और इस कारण वेद की अनादिता और प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।[८३]

शास्त्रों के पारस्परिक और सैद्धान्तिक विरोधी होने के कारण भी वेद की

८३. द्रष्टव्य—मी०द० 1\1\28

प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती क्योंकि भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं।

अनुष्ठित सुकृत और दृष्कृत कर्मों के सुख और दुःखरूप फलों के प्रत्यक्ष अभाव के कारण वेद की नित्यता, सिद्ध नहीं होती। लोक में ऐसा भी प्रायः देखा जाता है कि पुण्याचारियों का जीवन दुःखमय है और दुराचारियों का सुखमय, अतएव वेद की अनादिता सिद्ध नहीं होती।

यज्ञीय पूर्णाहुति होते ही कामनायें सिद्ध होती हैं, अश्वमेध, यज्ञकर्ता यजमान मृत्यु को पार कर जाता है, ब्रह्म हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है इत्यादि निरर्थक वादों के कारण वेद का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि यज्ञीय पूर्णाहुति लेते ही मनोरथों को पूर्ण होते नहीं देखा जाता।[८४]

अयुक्त प्रतिषेध किये जाने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, वेद में कहीं-कहीं अभागिप्रतिषेधक वाक्य मिलते हैं, जैसे—न पृथ्वी में अग्नि चयन करना चाहिए, न अन्तरिक्ष में और न स्वर्ग में, यहाँ अयुक्त प्रतिषेध किया गया है, क्योंकि यह तो सर्वविदित है कि अन्तरिक्ष अर्थात् आकाशदि में अग्निचयन नहीं होता, फिर भी पृथ्वी के साथ आकाश में भी अग्नि चयन का प्रतिषेध किया गया है इत्यादि अयुक्तप्रतिषेधकता के कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

अनित्य संयोग होने के कारण भी वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, अनित्य संयोग का अर्थ होता है—सामान्यश्रुति अर्थात् केवल शब्द श्रवण जैसे—किसी व्यक्ति का अभिधान है, 'वृहस्पति'। पर, वह 'वृहस्पति' नामक व्यक्ति है 'महामूर्ख'। अतएव वह वृहस्पति नामक व्यक्ति अर्थतः वृहस्पति नहीं होकर केवल श्रुतितः अथवा शब्दतः ही वृहस्पति है। इसी प्रकार किसी दुराचारी पुरुष का नाम साधु है और किसी व्याध का नाम 'दीनदयालु' परन्तु वह साधु नामक पुरुष व्यवहारतः चोर है और दीन दयालु नामक पुरुष व्यवहारतः व्याध अथवा हिंसक है इत्यादि।

यदाकदाचित् पुंश्चली पत्नी के अपराध अर्थात् दुराचरण से भी यज्ञकर्ता पति को पुत्र का दर्शन होता है—यहाँ पुत्र के दर्शन में वैदिक यज्ञानुष्ठान की कारणता नहीं है, इस लौकिक प्रमाण के उदाहरण से भी वेद की प्रमाणिकता सिद्ध नहीं होती।

---

८४. Ibid., 1\2\2-4

कभी-कभी और कहीं-कहीं विधि वाक्य अर्थकारी सिद्ध होता है। उस (विधिवाक्य) से शाब्दिक स्तुति का बोध होता है और इसी प्रकार अन्यत्र भी स्तुति बोधक मात्र ही रह जाता है, इस कारण भी वेद की प्रमाणिकता सिद्ध नहीं होती।[८५]

वेद के मन्त्र शब्द प्रधान न होकर अर्थ प्रधान होते हैं। यदि शब्द की प्रधानता होती तब तो मन्त्रोच्चारण मात्र से कल्याण होता। किन्तु कल्याण तो अर्थ प्रकाश या अर्थावबोध में ही अन्तर्निहित है, इस कारण वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

मन्त्रों में पद-क्रम नियमित होते हैं। यदि पद क्रम अनियमित कर दिये जायें, तो मन्त्र अर्थहीन हो जाते हैं। जैसे-"अग्निमीडे पुरोहितम्," (ऋ०-१/१/१) इस मन्त्र का विपर्यय कर देने से रूप होता-"मतहिरोपु डेमीग्निअ"। अतएव मन्त्रों के पद क्रमों में बद्ध होने के कारण भी वेद प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता।

वेद ही एक मात्र ज्ञानप्रद शास्त्र है, अतएव वेद का स्वाध्याय अर्थावबोध के साथ होना चाहिये। ऐसा नहीं होने से वेद निरर्थक और अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

शब्दों के अनुसार अर्थ न रहने के कारण और अर्थ के अनुसार शब्दों के न रहने के कारण अर्थ सहित स्वाध्याय असम्भव है, इस कारण भी वेद की उपयोगिता अथवा प्रमाणिकता सिद्ध नहीं होती है।

वेद में जड़ अथवा अचेतन पदार्थों के लिये भी स्तुति का विधान मिलता है। जैसे-"हे औषधि, तुम इस रोगी का रोगहरण कर त्राण करो" इस प्रकार जड़ पदार्थों में अपने अर्थों से बद्ध वेद पठन पाठन के योग्य नहीं और वह सर्वथा अयोग्य, परस्पर में विरोधी अर्थों के प्रतिपादक होने अथवा तदर्थक वाक्यों की ही पुनरावृत्ति के कारण वेद का पठन-पाठन अयोग्य सिद्ध होता है। अतएव उसकी प्रामाणिकता असिद्ध हो जाती है। जिन वाक्यों में वेद के पठन पाठन का विधान है उन वाक्यों में अर्थ सहित पठन पाठन का भी विधान नहीं मिलता। अतएव, अर्थ सहित पठन पाठन भी उपयुक्त नहीं। इस कारण से भी वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।[८६]

---

८५. Ibid., 1\2\5-6, 13-23

८६. Ibid., 1\2\31-37

कुछ मन्त्रों के अज्ञेयार्थक अथवा निरर्थक होने के कारण वेद का पठन पाठन अनुपयुक्त है। ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जिनका अर्थ आर्वज्ञेय है या वे मन्त्र अर्थहीन हैं। जैसे–

"सृष्येव जर्भरी तूर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी फर्फरीका,
उदन्यजेव जेमना मदेरूता मे जरायृवजरं मरायु।"

पुनः अनित्य पदार्थ अर्थात् जन्म, मरण, यौवन, जरा आदि का सम्बन्ध होने से मन्त्रों का पठन पाठन निरर्थक है। वेद में 'कीकट' नामक जनपद, नैचाशाख नामक नगर तथा पमङ्गद नामक राजा के विषय में बताया है ये सभी जन्म मरणशील तथा जवानी बुढ़ापे से युक्त था और इसलिये अनित्य भी। इससे भी प्रतीत होता है कि इन अनित्य द्रव्यों के पीछे ही वेद की रचना हुई, यह निर्विवाद है। इस कारण वेद अनित्य है।[८७]

ऋषियों के द्वारा प्रोक्त होने के साथ-साथ व्याख्या रूप होने के हेतु से भी वेद को परतः प्रमाण में ग्रहण किया गया है। इसलिये वेद की नित्यता और अपौरुषेयता सिद्ध नहीं होती।[८८] शब्द की स्थिति नहीं अर्थात् मुहूर्तमात्र भी उच्चरित शब्द स्थिर नहीं रहता तत्क्षण में ही सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। अतएव शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

किसी प्रेरक के द्वारा प्रेरित होकर कोई व्यक्ति शब्दोच्चारण करता है। ऐसा लोक व्यवहार है। जैसे देवदत्त ने कहा-'शब्द करो' यज्ञदत्त ने शब्द किया। इस विषय का लोक व्यवहार से 'शब्द' परतः प्रमाण में आता है। अतएव शब्द की नित्यता असिद्ध प्रमाणित होती है। इस देश एवं अन्य देशों में एक ही समय में और एक ही साथ उपलब्ध होने के कारण भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

आचार्य शबर का कहना है कि प्रकृति और विकृति के कारण भी शब्द अनित्य प्रमाणित होता है। जैसे-"दध्यत्र (दधि+अत्र+दध+य+अत्र)-इस पद में 'इ' कार प्रकृति है और 'य' विकृति। जिस अक्षर में विकार होता है, वह अनित्य है-यही मान्यता भी है। अतएव 'य' में इकार सादृश्य होने के कारण दोनों में प्रकृति और विकृति का भाव लक्षित होना है। अतः शब्द की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। (मी०शा०-१/१/१०)।

---

८७. Ibid., 1\2\38-39
८८. Ibid., 1\1\7-11

जब बहुत लोग मिलकर एक साथ शब्दोचारण करते हैं, तब वह शब्द महान् प्रतीत होता है और वही शब्द एक पुरुष के द्वारा उच्चारित होने पर लघु प्रतीत होता है, इससे भी शब्द अनित्य सिद्ध होता है।[८९]

सांख्यदर्शन का भाष्य करते हुये आचार्य विज्ञान भिक्षु का कथन है कि यज्ञरूप परमात्मा से कार्यरूप में उत्पन्न होने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकता। शब्द नित्य नहीं, क्योंकि कारण-रूप उच्चारण से कार्यरूप में उत्पन्न होकर वह (शब्द) तत्क्षण ही विनष्ट हो जाता है और उत्पद्यमान पदार्थ नाशवान् होते हैं, अतएव शब्द भी नाशवान् होने के कारण अनित्य सिद्ध होता है।[९०]

(१) अनृत (अत्य), (२) व्याघात (परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादन) और (३) पुनरुक्त (एक ही विषय की पुनः पुनः आवृत्ति) इन दोषों के कारण शब्द रूप वेद की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। ऋग्वेद में एक स्थल पर निर्जीव दर्भ रूप औषधि से प्रार्थना की जाती है, "हे औषधि, तू इसकी रक्षा कर" (तै०सं० १/२/१)। "हे क्षुररूप अस्त्र, तू इसकी हिंसा न कर" (तै०सं० १/२/१)। "हे पाषाणो श्रवण करो" (तै०सं० १/३/१३)। इन मन्त्रों में अचेतन दर्भ, लौहमय अस्त्र और पत्थरों को चेतन के समान सम्बोधित किया गया है, जो असम्भव प्रतीत होता है। अतएव, अनृत, अर्थात् असत्यार्थ बोधक होने के कारण वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। श्रुति का प्रतिपादन है कि पुत्रकामी को पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिये, यह विधि वाक्य है। पुत्रेष्टि यज्ञ के सम्पादन के अभाव में भी पुत्र-लाभ तो होता ही है। यहाँ भी अनृत दोष है। (न्या०द०वा०भा० २/१/५७)। इन दो मन्त्रों में परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन हुआ है और व्याघात दोष के कारण उसकी अप्रमाणिकता सिद्ध होती है। यज्ञकर्ता यजमान के क्षौर काल में क्लेदनशील जल से प्रेरणा की जाती है कि वह यजमान के सिर को क्लेदित करे (तै०सं० १/२/१)। यहाँ लोक प्रसिद्ध क्लेदनरूप अर्थ की पुनरावृत्ति के कारण पुनुरुक्त दोष होकर वेद की अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। उपनिषदों में भी अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोषों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। जैसे, "अन्न ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान हुआ" (तै०उ० ३/२/१)। "प्राण ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान हुआ" (तै०उ० ३/३/१)। इन मन्त्रों में वस्तुतः अब्रह्मभूत अन्न और प्राणों का ब्रह्मत्व प्रतिपादित हुआ है। अतएव, इनके अनृतार्थ बोधकत्व के कारण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध

---

८९. सा०द० 5\45 और 58

९०. चा०द०

नहीं होती। "ब्रह्म एक है, द्वितीय नहीं" (छा०उ० ६/२/१)। यहाँ ब्रह्म की एकरूपता का निर्देश है। पुनः एक स्थल पर कहा गया है–ब्रह्म के जीव और ईश्वर भेद से दो रूप हैं (मु०उ० ३/१/१)। इत्यादि मन्त्रों में आत्मा का ब्रह्म की विभिन्नता का निर्देशन किया गया है। अतएव, परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादन, जनित व्याघात दोष के कारण वेद अप्रमाणिक सिद्ध होता है। पृथ्वी से औषधि वर्ग की उत्पत्ति हुई और औषधि वर्ग के अन्न उत्पन्न हुआ। (तै०उ० २/१/१) इस मन्त्र में लोक प्रसिद्ध अर्थ के अनुवाद होने के कारण पुनरुक्त दोष हो गया है और इस कारण से वेद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।[९१]

कृष्णमिश्र के चार्वाक पक्षीय मत से ऋक्, यजुस् और सामन् ये तीन वेद धूर्त्तों के प्रलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आचार्य माधव का भी चार्वाक प्रकरण में कथन है कि वेदकर्त्ता भण्ड, धूर्त्त और निशाचर थे।[९२]

अनीश्वरवाद–ईश्वर, परमेश्वर या परमात्मा आदि सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक तत्व की मान्यता प्रायः जगत् के अधिकाँश आस्तिक जन समाज में है, चाहे उस ईश्वरीय तत्व के नाम उनकी भाषाओं के अनुसार जो भी हों। ऐसे अल्पसंख्यक कतिपय ही समाज है, जिनमें ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न किया गया है। ईश्वरीय सत्ता को स्पष्ट रूप में नहीं मानने वाला एक चार्वाकसम्प्रदाय ही है। इसमें ईश्वरादि किसी भी अदृष्ट शक्ति की किसी भी अवस्था या रूप में मान्यता नहीं है। इसकी घोषणा है कि प्रत्यक्ष अव्याप्ति के कारण ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि नहीं होती। कपिल के मत से भी इनके पक्ष की पुष्टि होती है।[९३] दो ही लौकिक लक्ष्यों के अन्तर्गत ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। (१) वह क्लेशादि से मुक्त हो सकता है अथवा (२) क्लेशादि से बद्ध। इसके अतिरिक्त तीसरा कोई भी लक्ष्य उसके अस्तित्व के समर्थन में नहीं आता। फिर भी ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध ही रह जाता है, क्योंकि अब वह दो परस्पर विरोधी लक्षणों के अन्तर्गत होकर सीमा में आबद्ध हो जाता है और सीमाबद्ध हो जाने के कारण अनन्त शक्तिमत्ता नष्ट हो जाती है और तब उसका अस्तित्व ख़त्म हो जाता है।[९४] यदि ईश्वर की व्याप्ति अनवच्छिन्न

---

९१. Cf. न्या०द० 2\1\57

९२. त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।।–स०द०सं० 1\28-29

९३. "ईश्वरासिद्धेः"–सा०द० 1. 92

९४. "मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः"–Ibid 1. 93.

रूप से प्रत्येक कारण के अन्तर्गत है तथा अशेष प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक पुण्य पाप कर्म कर लेने के उपरान्त सुख-द:ख रूप फल के उपभोक्ता होते हैं, तब भी उस ईश्वर का अस्तित्व असिद्ध हो जाता है। क्योंकि यदि वह पूर्ण शक्तिमान् है, समदर्शी है, सर्वज्ञ है, दयालु और न्यायकर्ता है, तब प्राणी पुण्य-पाप रूप कर्म करने में स्वतन्त्रता क्यों प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें सुकर्म-कुकर्म के लिये सुख-दु:ख रूप फल का उपभोग क्यों करना पड़ता है। यदि ऐसा विधान वह (ईश्वर) करता है, तब तो उसका अस्तित्व निष्प्रयोजन सिद्ध होकर खण्डित हो जाता है।[९५] इस परिस्थिति में लौकिक प्राणियों के समान ही आत्मकल्याण साधन में उसकी प्रवृत्ति भी होती है तथा हम और ईश्वर में कोई अन्तर ही न रह जायेगा।[९६] अपूर्णकाम होने के कारण सुख-दु:खादि प्रसंग से वह भी लौकिक ईश्वर, अर्थात् राजा के समान ही संसारी बन जायेगा।[९७] चार्वाकों का मत है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव होने से उस (ईश्वर) के अस्तित्व की सिद्धि नहीं हो सकती। सांख्यदर्शन से भी इसकी सिद्धि होती है।[९८]

उसे सर्वज्ञ मान लेना भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वज्ञता में सर्वज्ञेयता अपेक्षित है और वह प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर भी नहीं होता।[९९] यदि कहा जाये कि इन्द्रियगोचर त्वातिक्रान्त अप्रत्यक्ष रूप में ईश्वर का अस्तित्व है, तब तो उसका अस्तित्व शशश्रृङ्ग अथवा बन्ध्या पुत्र के समान ही हो सकता है और वह केवल औपचारिक है।[१००] पुरुष केवल माता के शोणित और पिता के शुक्र से उत्पन्न होता है। अतएव पुरुषोत्पत्ति में माता-पिता के अतिरिक्त दूसरा कोई (अदृष्ट तत्व) निमित्त कारण नहीं हो सकता।[१०१] चार्वाकों के मत में लौकिक राजा के अतिरिक्त अन्य कोई भी ईश्वर या परमेश्वर नहीं है।[१०२] मीमांसा दर्शन के भाष्यकार शबर ने जगत् के कर्तृत्व में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया है।

---

९५. "नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः"–Lbid 5\2

९६. "स्वोपकारादधिष्ठानलोकवत्"–Lbid 5\3

९७. "लौकिकेश्वरवदितरथा"–Lbid 5\4

९८. "प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः"–Lbid 5\10

९९. "नास्ति सर्वज्ञः प्रत्यक्षादिगोचरातिक्रान्तत्वात्"–चार्वाकषष्टि परिशिष्ट (क) ७९

१००. "शशश्रृंगवत्"–ष०द०स० ८१।

१०१. "शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः"।–चार्वाकषष्टि परिशिष्ट (क) 78

१०२. "लोकसिद्धो राजा परमेश्वरः"।–स०द०स० 1\52

मीमांसकों को ईश्वर के अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं हुई और ये ईश्वर के विषय में मौन हैं।

परवर्ती काल के विद्वानों ने जगत् के स्रष्टा के रूप में तो ईश्वर को नहीं माना है, किन्तु रूपान्तर में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। प्रभाकर का भी यही मत है।[१०३] ईश्वर के विषय में चार्वाक और बुद्ध के सिद्धान्तों में पूर्ण साम्य है। बुद्ध चार्वाक कोटि के ही अनीश्वरवादी थे। बुद्ध के मत में ईश्वर की सत्ता स्वीकार करने के लिये कोई भी उपयुक्त तर्क नहीं है। बुद्ध ने अपने निकाय ग्रन्थों में ईश्वर के कर्तृत्व का बड़ा उपहास किया है।[१०४] बुद्ध ने ईश्वर को अन्य देवताओं के समान एक साधारण देवता निर्दिष्ट किया है।[१०५] इस प्रकार संक्षेप प्रत्यक्ष प्रमाणवाद, जड़तत्ववाद, परलोकनिरसनवाद, अनात्मवाद, अवैदिकवाद, अनीश्वरवाद आदि चार्वाक सम्मत प्रमुख एवं देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, बुद्ध्यात्मवाद, प्राणात्मवाद, कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद आदि अनुषंगिक सिद्धान्तों का विवेचन शास्त्रीय आधार पर सम्पन्न किया गया।

प्रत्येक चार्वाक सम्प्रदाय में उपर्युक्त प्रमुख और अनुषांगिक सिद्धान्तों की मान्यता है। इनमें अवैदिकवाद और अनीश्वरवाद जैन और बौद्ध सम्प्रदायों को भी मान्य है। इसी कारण ये दोनों सम्प्रदाय नास्तिक नाम से प्रख्यात हैं। अनीश्वरवादी होने के कारण तो वैदिक दर्शन सांख्य सम्प्रदाय भी नास्तिकवाद में आ जाता है। जैन बौद्धादि सम्प्रदाय अपूर्ण नास्तिक हैं, परन्तु चार्वाक सम्प्रदाय सर्वतो भावेन पूर्ण नास्तिक-सम्प्रदाय है। यह निर्विवाद है।

आचार मीमांसा–चार्वाक के अनुसार अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म पुरुषार्थ नहीं है। इसलिये साहित्य, कला ये ही दो वेद हैं। धर्म के अभाव में अधर्म भी नहीं है। अतएव तत्परिणाम स्वरूप स्वर्ग तथा नरक का भी अस्तित्व नहीं रहता है। स्वर्ग तथा नरक के अभाव होने से मनुष्य का निर्माता परमेश्वर भी कोई सिद्ध नहीं होता। मृत्यु ही मोक्ष है। लोकायत शास्त्र के प्रत्यक्ष मूलक होने के कारण अर्थशास्त्र और कामशास्त्र उसी (लोकायत मत) के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।[१०६] अन्नगत दिन (कल) के अन्न के समान अन्न होने के

---

१०३. प्रकरणपंजिका, पृ० 137-140

१०४. दी०नि० पथिकसुत्त 3\1

१०५. Cf. केवट्ठसुत्त 11

१०६. तत्र प्रत्यक्षैक प्रमाणवादिनो लोकायतशास्त्रप्रवर्तकस्य चार्वाकस्य "मनुष्योऽहम्"

कारण क्षुधा का शमन कारक होता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के प्रत्यक्षमूलक नहीं होने पर भी उसी (प्रत्यक्ष प्रमाण) में समाविष्ट हो जाता है। अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फलविधायक तथा धर्म और ब्रह्म विषयक प्रतिपादक वेद ज्ञानेन्द्रियों के अगोचर (अप्रत्यक्ष) होने के कारण सिद्धान्ततः अप्रामाणिक हो जाता है।[१०७]

प्रातः और सांयकाल अग्नि में हवन, त्रिवेदों का अध्यपनाध्यापन ललाट में त्रिपुण्ड्र और भस्मधारण ये क्रियायें बुद्धि तथा पुरुषार्थ से हीन लोगों के जीवन यापन के साधनमात्र हैं। ऐसा वृहस्पति का कथन है। वेद के कर्त्ता तीन हैं–मुनि, भण्ड और निशाचर। कर्त्ता, क्रिया तथा प्रचुर द्रव्यों के नाश होने पर भी यदि यज्ञकर्ता यजमानों को स्वर्ग मिलता है तो दावाग्नि से जले वृक्षों में फल प्रचुर मात्रा में लगने चाहिये, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध पदार्थों के विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करने वाले वेदान्त यदि शास्त्र मान लिये जाए तो प्रेक्षावान् (बौद्ध सम्प्रदाय) उनकी उपासना क्यों करें?[१०८]

कृष्ण मिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय के काव्य (नाटक) होते हुए भी इस ग्रन्थ में लोकायत या चार्वाक मत के साहित्य की अल्प, किन्तु सर्वांगपूर्ण उपलब्धि होती है। विवरण मिलता है। इस जड़तत्वमय देह के अतिरिक्त अन्य किसी आत्मा की सत्ता है और वह लोकान्तरगामी होकर कर्मफलों का उपभोग करता

"स्थूलोऽहम्" कृशोऽहम् इति प्रत्यक्षसिद्धश्चैतन्यगुणाश्रयो देह एव प्रमाता। उच्चावचदेहरूपेण सम्भवाद्देहसंहतिं पुनर्विहति च प्रतिपद्यमानानि पृथ्वी-वारि-वह्नि-वायुलक्षणानि चत्वारि तत्वानि प्रमेयम्।

१०७. अर्थकामावेव पुरुषार्थौं, न धर्मः। तन्निष्ठावर्थगान्धर्ववेदावेव च वेदौ। धर्माभावान्नाधर्मोऽपि कश्चित्। मरणमेव च मोक्षः। अर्थ कामशास्त्रं लोकायत शास्त्रं च प्रत्यक्ष मूलत्वात् तत्रैवान्तर्भूतम्।–(सर्वमत संग्रह)

१०८. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिपुण्ड्रं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपोरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।।१।।
त्रयो वेदस्य कर्तारो मुनि-भण्डनिशाचराः।
स्वर्गः कर्तृक्रिद्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनाम्।।२।।
भवेद्दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरूहाम्।
प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थाभिधायिनः।।३।।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धाः कथमुपासते।।४।।–सर्वमत संग्रह

है यह आशा उसी प्रकार अलीक अर्थात् व्यर्थ है जिस प्रकार कोई कहे कि इस अनन्त आकाश वृक्ष में कुसुम और फल की उत्पत्ति होती है।[१०९]

मिथ्यावादी तथा वेदानुयायी आस्तिक सम्प्रदायियों ने यथार्थतः अविद्यमान आत्मरूप वस्तु की विद्यमानता घोषित कर सत्यवादी तथा वेदविरुद्धाचारी नास्तिक सम्प्रदायियों की निन्दा की है। प्रेक्षावान् व्यक्तियों को विचारणीय है कि शरीर के कट जाने पर उस शरीर से पृथक् जीवात्मा को क्या कभी देखा गया है? यदि कोई कहे कि आत्मा गुप्त या अदृश्य रूप से शरीर में व्याप्त रहता है तो यह भी निरर्थक प्रतिपादन है, क्योंकि कालान्तर में शरीरांगों के नष्ट हो जाने पर आत्मा के गुप्त रूप का अस्तित्व कभी संभव नहीं।[११०]

शरीरगत किसी भी विशिष्ट लक्षण से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस वर्णचतुष्टय के क्रम का निर्धारण असम्भव है। मुख आदि अवयवों के कारण शारीरिक तुल्यता होने पर भी यह स्त्री यह धन सम्पत्ति अपनी है या अन्य किसी की है, यह भेद स्त्रभावतः हमारे लिये अज्ञात ही रहता है। स्त्री या धन सम्पत्ति का प्रकृत अधिकारी कौन है इसका कोई विशिष्ट धर्म या लक्षण में व्यक्त नहीं होता। तथापि वे आस्तिक सम्प्रदायी हिंसा में, स्त्रियों के स्वच्छन्दगमन में और पर सम्पत्ति के ग्रहण में ग्राह्याग्राह्य का प्रसंग उठाते हैं यह उनकी निष्पुरुषार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[१११]

यदि यज्ञकर्ता यजमानों को यज्ञसम्पादन सम्बन्धी क्रियाकलापों में धन सम्पत्ति के स्वाहा हो जाने पर भी स्वर्गीय सुखभोग हो सकता है तो दावाग्नि के

---

१०९. आत्मास्ति देहाद् व्यतिरिक्तमूर्त्तिभोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्।
आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात् प्रथीयसः स्वादुफलाप्रसूतौ।। प्रबोध 2\41

११०. यन्नास्त्येव तदस्ति वस्त्विति मृषा जल्पद्भिरेवास्तिकैर्वाचालैर्बहुभिस्तु सत्यवचसो निन्द्या कृता नास्तिकाः।।
हं हो पश्यत तत्त्वत्तो यदि पुनश्छिन्नादितो वर्ष्मणो दृष्टः किं परिणामरूषितचितेर्जीवः पृथवकैरपि प्रबोध चन्द्रोदय–2\43

१११. तुल्यत्वे वपुषां मुखाद्यवयवैर्वर्णक्रमः कीदृशोयोषेय वसु वा परस्य यदमुं भेदं न विद्मो वयम्।
हिंसायामथवा यथेष्टगमने स्त्रीणां परस्वग्रहे, कार्याकार्य कथा स्तथापि यदमी निष्पौरुषाः कुर्वते।। प्रबोध चन्दो०ना० 2\44

कारण सम्पूर्ण रूप से दग्ध हो चुकने वाले वृक्षों में पर्याप्त मात्रा में फल लगना चाहिये, पर ऐसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर कभी नहीं होता।[११२]

यदि मृत प्राणियों को इस लोक में किये गए श्राद्ध से परितृप्ति हो सकती तो प्रदीप स्थित तेल स्वयं ही बुझे हुये उसकी वार्तिका को बाँधता रहता, किन्तु लौकिक व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता है।[११३]

रसानुभूति के साथ सहृदयप्रेमी के करयुग्म से मर्दन किये जाने पर श्लथीभूत पीनस्तन युगल से अत्यन्त मनोहर विशालाक्षी का कहाँ सुन्दर आलिंगन और कहाँ मूर्ख आस्तिक सम्प्रदायियों के अनुमोदित भिक्षावृत्ति, उपवासनियमसूर्यताप आदि क्लेशकर तपश्चरण के द्वारा देह को शोषित तथा करने वाला यह विधि विधान? इन दोनों में कोई तुलना ही नहीं।[११४]

विषय संगम जनित सुख दुःख मिश्रित होने के कारण त्याज्य है। यह मूर्खों का विचार है। भला ऐसा कौन आत्महितैषी व्यक्ति होगा जो रूक्ष भूसी से छिपे श्वेत स्वच्छन्द और उत्तम तण्डुलकणों से युक्त धान्य अन्न को त्यागना भी चाहेगा?[११५]

प्रातः और सायंकाल में हवन, ऋच्, सामन् और यजुस् वेदत्रयी का आचार-पालन, दण्डयुक्त संन्यास और ललाट में भस्मधारण ये कर्म बुद्धि और पुरुषार्थ से हीन पुरुषों की आजीविका है, ऐसा वृहस्पति का वचन है।[११६]

आचार्य हेमचन्द्र (एकादश शती) ने "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" नामक

---

११२. स्वर्गः कर्त्तृक्रियाद्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनाम्।
ततो दावाग्निदग्धानां फलं स्याद् भूरि भूरूहाम्।।
प्रबोध चन्द्रो०ना० 2\47

११३. मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेन्तृप्तिकारकम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवर्धयेच्छिरवाम्।। प्रबोध०च० 2\48

११४. क्वालिंगनं भुजनिपीडितबाहुमूलभुग्नोन्नतस्तनमनोहरमायताक्ष्याः।
विक्षोपवासनियमार्कमरीचिदाहैर्देहोपशोषणविधिः कुधियां क्व चैषः।।–प्रबोध 2\49

११५. त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
बीहीन् जिहासति सितोन्तमतण्डुलाख्यान् को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी।।
2\50

११६. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः।। प्रबोध चन्ये० 2\56

अपने महाकाव्य के प्रथम पर्व में प्रथम सर्ग के ३२९-३४५ पर्यन्त नास्तिकमत के प्रतिपादक १७ श्लोकों का प्रतिपादन किया है। एहलौकिक सुखोपभोगों को त्यागकर परलोक के लिये यत्न करना वैसा ही है जैसे हाथ में आये हुए सुस्वादु अवलेह को त्याग कर कोहनी चाटना।[११७]

धर्माचरण का फल परलोक में मिलता है, यह कथन युक्ति संगत नहीं क्योंकि परलोकी प्राणी के प्रत्यक्ष अभाव के कारण परलोक का अभाव स्वत: सिद्ध हो जाता है।[११८]

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके मिलने से ही चेतना उत्पन्न हो जाती है, जिस प्रकार गुड़ और पिष्टोदकादि से मादक शक्ति स्वयं प्रादुर्भूत हो उठती है।[११९] इस प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न कोई आत्मादि तत्व नहीं जो शरीर को त्यागकर परलोक को जायेगा।[१२०]

इस प्रकार निर्भीक होकर वैषयिक सुखोपभोग करना चाहिए। अपने को सुखोपभोग से वञ्चित रखना तो मूर्खता ही है। धर्म और अधर्म की शंका में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि ये सुखों में विघ्न रूप हैं और धर्म तथा अधर्म नामक कोई तत्व अस्तित्व में नहीं है जिस प्रकार गर्दभ के श्रृङ्ग का अस्तित्व नहीं है।

एक पाषाण जब प्रतिमा के रूप में निर्मित हो जाता है तब स्नान, अङ्गराग, माला, वस्त्र और अलङ्कारों से उसकी पूजा की जाती है। विचारणीय यह है कि उस प्रतिमारूप प्रस्तरखण्ड ने कौन सा पुण्य किया था?

---

११७. त्यक्त्वा यदैहिकान् भोगान् परलोकाय यत्यते।
हित्वा हस्तगतं लेह्यं कूर्परालेहनं हि तत्।।–त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित १

११८. परलोकफलो धर्मः कीर्त्यते तदसङ्गतम्।
परलोकोऽपि नाऽस्त्येवाऽभावतः परलोकिनः।। त्रिषष्टिशलाका०–२

११९. पृथ्व्यप्तेजः समीरेभ्य, सभुद्भवति चेतना।
गुडपिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरिव स्वयम्।।–त्रिषष्टि०–३

१२०. शरीरान्न पृथक् कोऽपि शरीरी हन्त विद्यते।
परित्यज्य शरीरं यः परलोकं गमिष्यति।।–त्रिषष्टिशलाका०–४

पञ्चम अध्याय

बौद्धदर्शन

प्रमाणमीमांसा के बौद्ध दार्शनिक आचार्य एवं उनकी कृतियाँ :-

बौद्ध धर्म एवं दर्शन पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है कि बौद्धदर्शन का प्रादुर्भाव भारतीय षड्दर्शन, तन्त्र दर्शन और चार्वाक दर्शन के पश्चात् हुआ है।

बौद्ध धर्म की स्थापना भारतीय संक्रमण ऐतिहासिक काल में महात्मा गौतम बुद्ध ने की थी। प्राचीन कौशल जनपद के प्रधान नगर कपिल वस्तु में ५६० ई० पूर्व की वैशाखी पूर्णिमा को लुम्बिनी नामक कुल में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम सुदोधन, था जो शाक्यवंश के राजा थे। तथा माता का नाम महाभाया देवी था।

बौद्ध ने भी प्राच्य अन्य उपदेशों की परम्परानुसार अपने ज्ञान का प्रचार उपदेशों में ही किया। बुद्ध के निकटतम शिष्यों ने उनके वचनों तथा उपदेशों को संकलित कर उन्हें 'पिटक' का रूप दिया, क्योंकि बुद्ध के प्रतिपादित ग्रन्थ 'पिटक' में तीन पिटक हैं, इसलिये इन्हें 'त्रिपिटक' कहा जाता है।

ये पिटक हैं—विनय पिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म पिटक। दक्षिण और उत्तरी दोनों ही परम्परा यह स्वीकार करती हैं कि बुद्धदेव की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध धर्म के सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। उनकी प्रामाणिक संख्या १८ बतायी जाती है। मोग्गलि पुत्र तिस्स (वि०पू० तृतीय शतक) में कथावस्तु ग्रन्थ की रचना करके अट्ठ कथा के अनुसार १८ निकायों का वर्णन किया है। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश निकाय शास्त्र की रचना द्वारा अष्टादश निकायों को वर्णित किया है—

अष्टादश निकाय शास्त्र के अनुसार अठारह शाखा में।

स्थिरवादी	**महासंघिक**	**सर्वस्तिवादी**
हेमवत	ज्ञप्तिवादी	महीशासक
वात्सीपुत्रीय	चैतीय	काश्यपीय
धर्मोत्तरीय	लोकोत्तरवादी	सौत्रान्तिक
भद्रायानीय	एकव्यावहारिक	धर्मगुप्त
सम्मितीय	गोकुलिक	
षाण्णगरिक		

परन्तु ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने उन अठारह भेदों पर दृष्टिपात न कर बौद्धदर्शन को प्रधानतया चार सम्प्रदायों में विभाजित किया है–

(१) वैभाषिक — बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद
(२) सौत्रान्तिक — बाह्यार्थनुमेयवाद
(३) योगाचार — विज्ञानवाद
(४) माध्यमिक — शून्यवाद

इनमें से प्रथम दो सम्प्रदायों का सम्बन्ध हीनयान से है, स्थविरवादियों का संगठन कालान्तर में हीनयान सम्प्रदाय बना।

तथा अन्य दो सम्प्रदायों का सम्बन्ध महायान से है। महासंघिक लोगों का सम्प्रदाय महायान कहलाया। किन्तु अदृश्यबज्र के अनुसार वैभाषिक मत हीनयान तथा अन्य तीनों मत (सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक) महायान से उत्पन्न हए हैं।[१] नैषधकार श्री हर्ष ने भी इन चारों सम्प्रदायों को इसी रूप में स्वीकारा है।

वैभाषिक मत के आचार्य और उनकी कृत्तियाँ :–

वैभाषिक की उत्पत्ति विक्रम के प्रथम शतक के अनन्तर प्राप्त हुई परन्तु यह निकाय प्राचीन काल से ही विद्यमान था। उस समय इसका नाम सर्वास्तिवाद था। वाचस्पति मिश्र[२] ने भामती में तथा शंकराचार्य[३] ने भाष्य में वैभाषिकों को सर्वास्तिवादी ही कहा है।

---

१. इन मतों के सिद्धान्तों का एकत्र वर्णन–"मुख्यो माध्यमिको विवर्त्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत् योगाचारमते तुसन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिल:"।
'अथोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमिति बौद्धस्तु सौत्रान्तिक: प्रत्यक्षक्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।।
२. यद्यपि वैभाषिक सौत्रान्तिकयोरवान्तमतभेदोऽस्ति....उपन्यस्त:।। मामती–२/२१८
३. तत्र ते सर्वास्तिवादिनो वाह्यन्तरं च वस्तु अभ्युपगच्छन्ति मतं च भौतिकं च चित्तं च चैत्तं च।।

सर्वास्तिवाद के इतिहास में चतुर्थ शताब्दी में दो बड़े-बड़े आचार्यों ने प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की वे आचार्य थे वसुबन्धु और संघभद्र। वसुबन्धु को विद्वज्जन द्वितीय बुद्ध के नाम से पुकारते थे।[४] वसुबन्धु का समय २८० ई० से लेकर ३६० ई० तक रहा। वैसे तो वसुबन्धु ने सांख्य शास्त्र में भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। चीनी भाषा के त्रिपिटिक में इनके ३६ ग्रन्थों का परिचय मिलता है। किन्तु हीनयान सम्बन्धी ग्रन्थ की विशेषता महत्त्वपूर्ण है।

(१) **परमार्थ सप्तति** :–विन्ध्यावासी रचित सांख्य सप्तति का खण्डन।

(२) **तर्क शास्त्र** :–यह ग्रन्थ बौद्ध न्याय से सम्बन्धित है तथा इसमें तीन परिच्छेद पञ्चावयव, छल, जाति तथा निग्रह स्थान का वर्णन है।[५]

(३) **वादविधि** :–इस ग्रन्थ के अस्तित्व के विषय में शान्तिरक्षित (७४०-८४०) ने 'धर्मकीर्ति' कृत 'वादन्याय' ग्रन्थ की व्याख्या में लिखा है–

"अयं वादन्यायमार्गः सकललोकनिबन्धन बन्धुना वादाविद्यानादौ आर्य वसुबन्धुनां महाराजपथीकृतः। क्षणस्तद्नु महात्यां न्यायपरीक्षायां कुमतिमतमन्तमातङ्गशिरः पीठपाटनपटु भिरार्चा दिङ्नागपादैः।" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि वसुबन्धु ने वादविधि नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

(४) **अभिधर्म कोश** :–यह बसुबन्धु का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। वैभाषिक का यह सर्वस्व है कि रचना के अनन्तर काश्मीर में वैभाषिकों की प्रधानता सर्वमान्य हुई, जिसके आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई।[६]

यह ग्रन्थ आठ परिच्छेदों में विभक्त है। वसुबन्धु ने इस ग्रन्थ को छः सौ कारिकाओं में निरुद्ध किया है। जिससे यह अति सूक्ष्म तथा गूढ़ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के तात्पर्य को व्यक्त करने के लिये निम्नलिखित आचार्यों की व्याख्यायें मिलती हैं–

(१) वसुबन्धु कृत 'अभिधर्म कोश भाष्य'
(२) दिङ्नाग रचित 'मर्मप्रदीपवृत्ति'
(३) स्थिरमति रचित 'भाष्य टीका'

---

४. परमार्थशास्त्र कृत्या कुर्वाणं शास्त्रकृत्यमिव लोके। यं बुद्धिमतामग्राह्यं द्वितीयमीव बुद्धमिप्याहुः। तेन वसुबन्धुनाम्नाभविष्यपरमार्थ....धर्म कोशाख्यः।। स्फुटार्था पृ०–१
५. इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद परमार्थ ने ५५० ई० में किया।
६. काश्मीर वैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयावं कथितोऽभिधर्मः–अभिधर्म कोष–८/४०

(४) यशोमित्र कृत 'स्फुटार्था'
(५) शान्तिस्थिरदेवकृत 'औपायिकी'
(६) प्रत्यवर्धन कृत 'लक्षणानुसारिणी'

अत: अभिधर्मकोश एक ग्रन्थ न होकर स्वयं पुस्तक माला है।

संघभद्र :–ये वसुबन्धु के समकालीन दार्शनिक थे। वैभाषिक सिद्धान्तों के पुनरुद्धार के निमित्त इन्होंने दो ग्रन्थों का निर्माण किया जो संस्कृत मूल के अभाव में चीनी भाषा में आज भी अनुवाद के रूप में विद्यमान हैं।

(१) **अभिधर्म-न्यायानुसार :**–इसमें अभिधर्म कोश की कड़ी आलोचना है इएलिये दूसरा नाम 'कोशकारिका' है। यह आठ प्रकरणों में विभक्त है।

(२) **अभिधर्म समय दीपिका :**–ह्वेनसांग ने इसका चीनी अनुवाद किया है इसमें नव (९) प्रकरण हैं। संघप्रद्र का कार्यक्षेत्र अयोध्या ही था।

सौत्रान्तिक मत के आचार्य और उनकी कृतियाँ :–

(१) **क्रमारलात :**–ये तक्षशिला के निवासी थे। ह्वेनसांग ने इन्हें सौत्रान्तिक मत का संस्थापक बताया है। ये संभवत: नागार्जुन (**द्वितीय शतक**) के समकालीन थे। इनके द्वारा रचित एकमात्र ग्रन्थ 'कल्पनामाण्डतिका' था। जिसे 'कल्पनालंकृतिका' भी कहते हैं। इनके इस ग्रन्थ का एकमात्र अंग डॉ० लूडर्स को तुरफान से मिले हुये हस्तलिखित पुस्तकों में उपलब्ध हुआ। इस ग्रन्थ का पूरा नाम पुष्पिका में दिया गया है–कल्पनामाण्डतिका दृष्टांत पंक्ति अर्थात् दृष्टान्तों का समुदाय जो कवि कल्पना से सुशोभित किया गया है।

श्री लाभ :–श्री लाभ क्रमारलात के सौत्रान्तिकमतानुयायी शिष्य थे। इन्होंने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ 'सौत्रान्तिक विभाषा' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का विवरण हमें 'कूइ' के ग्रन्थों में मिलता है। इन्होंने अनेक नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर एक नया ही मार्ग चलाया।[७] ३, ४, धर्ममात्र तथा बुद्धदेव आचार्य सौत्रान्तिक वादी थे किन्तु न तो इनकी कोई रचना ही उपलब्ध है और न ही इनका कोई परिचय प्राप्त हुआ।

(५) **यशोमित्र :**–ये सौत्रान्तिकवादी थे। ये लोग सूत्र को ही बुद्ध मत

---

७. द्रष्टव्य–स्फुटार्था पृ०–६३

की समीक्षा के लिये प्रमाण मानते थे।[८] इनकी एकमात्र महत्त्वपूर्ण रचना अभिधर्म कोश के विस्तृत व्याख्या 'स्फुटर्था' है।

योगाचार सम्प्रदाय के आचार्य और उनकी कृतियाँ :–

(१) **नाथ मैत्रेय :**–मैत्रेयनाथ स्वयं ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिन्होंने योगाचार सम्प्रदाय की स्थापना की तथा अपने शिष्य असंग को इस मत की शिक्षा प्रदान की। मोटदेशीय विद्वान् बुस्तोन ने अपनी बुद्ध धर्म के इतिहास में मैत्रेय के पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है–'महायान सूत्रालंकार' 'धर्म धर्मता त्रिभंग' 'माहायान उत्तरतंत्र' मध्यान्त विभंग तथा 'अभिसमयालंकारिका' है। इनमें से मैत्रेय नाथ का 'अभिसमयालंकारिका' जिसका पूरा नाम 'अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमिता उपदेश शास्त्र अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें ७० विषयों का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसकी संस्कृत तथा तिब्बती भाषा में २१ टीकायें उपलब्ध हैं।

(२) **आर्य असंग :**–आर्य असंग का पूरा नाम वसुबन्धु असंग था जो कि आचार्य वसुबन्धु के ज्येष्ठ भ्राता तथा मैत्रेय नाथ के शिष्य थे। इनका आविर्भाव चौथी शताब्दी में हुआ। इनके ग्रन्थों का विशेष पता चीनी भाषा में किये गए अनुवादों से ही चलता है।

(१) **महायान संपरिग्रह :**–यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके तीन चीनी अनुवाद तथा इस ग्रन्थ पर लिखी टीकायें उपलब्ध हैं।

(२) **प्रकरण आर्यवाचा :**–इस ग्रन्थ में योगाचार के व्यावहारिक तथा नैतिक रूप की व्याख्या की गई है।

(३) **योगाचार भूमिशास्त्र :**–यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। जिसमें योगाचार के साधन मार्ग का प्रमाणिक विस्तृत वर्णन है।

(४) **माध्यान सूत्रालंकार :**–इस ग्रन्थ में २१ परिच्छेद हैं। कारिका मैत्रेय नाथ की है तथा व्याख्या असंग की।

(३) **आचार्य स्थिरमति :**–आचार्य स्थिरमति वसुबन्धु के शिष्य थे तथा इनका समय चौथी शताब्दी का है। इनके प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–

(१) काश्यपपरिचय टीका, (२) मूलालंकार वृत्तिभाषा, (३) त्रिशिंका

---

८. नैष दोषः सूत्रविशेषाः एवम् अर्थविनिश्चयादयोऽभिधर्मसंज्ञा येषु धर्मलक्षणं विद्यते–स्फुटार्था पृ०–१२

भाष्य, (४) पञ्च स्कन्ध प्रकरण एवं भाष्य, (५) अभिधर्म कोश भाष्यवृत्ति, (६) मूलमाध्यामिका कारिका वृत्ति, (७) मध्यान्त विभाग सूत्र भाष्य टीका।

(४) **आचार्य दिङ्नाग :**–ये वसुबन्धु के पट शिष्यों में से थे, अतः उनका समय ३४५-४२५ ई० है। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ–(१) प्रमाण समुच्चय, (२) प्रमाण समुच्चय वृत्ति, (३) न्याय प्रवेश, (४) हेतु चक्रम्, (५) प्रमाण शास्त्र न्याय प्रवेश, (६) आलम्बन परीक्षा, (७) आलम्बन परीक्षा टीका, (८) त्रिकाल परीक्षा, (९) धर्म प्रदोष वृत्ति।

(५) **शंकर स्वामी :**–शंकर स्वामी दिङ्नाग के शिष्य थे, इन्होंने एक मात्र ग्रन्थ की रचना की वह है–'हेतुविद्यान्यायप्रवेशशास्त्र'।

(६) **धर्मपाल :**–इनके ग्रन्थ–(१) आलम्बन प्रत्ययध्यान शास्त्र व्याख्या, (२) विज्ञप्ति मात्रसिद्धि व्याख्या, (३) शतशास्त्र व्याख्या प्रमुख हैं।

(७) **धर्मकीर्ति :**–जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी में धर्मकीर्ति के सिद्धान्तों का तीक्ष्ण आलोचक होने पर भी इनको 'सुनिपणबुद्धि' तथा इनके प्रयत्न को जगदभिभवधीन माना है।[१] धर्म कीर्ति का समय ६३५ ई० लगभग है। ग्रन्थ–(१) प्रमाणवार्तिक–इस ग्रन्थ का परिणाम लगभग १५०० श्लोक हैं। (२) प्रमाण विनिश्चय–इस ग्रन्थ का परिमाण १३४० श्लोक हैं। (३) न्याय बिन्दु–धर्मकीर्ति का यह सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। (४) सम्बन्ध परीक्षा। (५) हेतु बिन्दु। (६) वादन्याय। (७) सन्तानान्तर सिद्धि।

शून्यवादी के आचार्य और उनकी कृतियाँ :–

(१) **आचार्य नागार्जुन :**–ये शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य थे, इनका समय द्वितीय शताब्दी का है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं–(१) माध्यमिक कारिका (२) युक्तिषष्ठिका (३) प्रमाण विध्वंसन (४) उपाय (५) विग्रह व्यावर्तनी (६) शुद्धल्लेख (७) चतुःस्तव।

(२) **आर्य देव :**–ये नामार्जुन के शिष्य थे, इनका समय २००-२०४ ई० रहा। इनके ग्रन्थों की संख्या दस है। जिनमें प्रथम चार शून्यवादी से तथा अन्य छः तन्त्रशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं। (१) चतुः शतकम् (२) माध्यमिक हस्ताबाल प्रकरण (३) संवलित प्रथमनियुक्ति हेतु (४) ज्ञानसार समुच्चय (५)

---

१. इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानुबन्धम्।
भवतु मतिमान् शमनः चेष्टितं दृष्टिमतेत् जगदभिभवधीरश्रमतो धर्मकीर्तिः॥

चयमिलायन प्रदीप, (६) चित्तावरणीय शोधन, (७) चतुः पीठ तन्त्रराज (८) चतुः पीठ साधन (९) ज्ञानकिनी साधन (१०) एक दुर्गपञ्जिका।

(३) **स्थविर बुद्धपालित** :–ये पाँचवी शताब्दी के आरम्भ में हुए। इन्होंने नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' के ऊपर 'अकुतोभया' नामक व्याख्या लिखी है।

(४) **भाव विवेक** :–इनके द्वारा रचित ग्रन्थ :– (१) माध्यमिक-कारिका व्याख्या, (२) मध्यम हृदयकारिका, (३) मध्यमार्थ संग्रह (४) हस्त रत्न है।

(५) **चन्द्र कीर्ति** :–इनका समय छठी शताब्दी का है। इनके प्रमुख ग्रन्थ :–(१) माध्यमिकावतार, (२) प्रसन्नपदा, (३) चतुःशतक टीका है।

(६) **शान्ति देव** :–इनके द्वारा रचित तीनों ग्रन्थों के नाम उपलब्ध हैं–(१) शिक्षा समुच्चय, (२) सूत्र समुच्चय, (३) बोधिचर्यावतार, (४) शान्तरक्षित, इनका समय आठवीं शताब्दी का है। इनका सिर्फ एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है–तत्त्व संग्रह। भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में केवल बाह्य है। यद्यपि आत्म चेतना के विषय में यह सर्वथा भिन्न प्रकार का है। आत्म चेतना के विषय में ज्ञान या प्रमा और ज्ञेय पदार्थ या प्रमेय के मध्य में अत्यन्त सन्निकृष्ट सम्बन्ध है। आत्म चैतन्य के अन्दर ज्ञान का प्रमाता, ज्ञान का विषय और स्वयं ज्ञान के लिये ठोस इकाई के भिन्न-भिन्न पहलु मात्र है। जीव के चैतन्य स्वरूप को ही छील लेता है, उसे अचेतन की कोटि में पहुँचा देना ही ज्ञान विहीन जीव का लक्षण है। बिना जीवात्माओं के ज्ञान सम्भव नहीं। क्योंकि इससे ज्ञान आधार विहीन हो जायेगा।

जीवात्मा की पूर्ण अवस्था विशुद्ध ज्ञान और दर्शन की है।[१०] सम्पूर्ण ज्ञान विपरीतता, विमोह एवं अनिश्चितता से रहित होता है।[११] ये एक साथ ही रहते हैं। अलौकिक जीवों में ज्ञान से पूर्व दर्शन होता है।[१२] ऐसे कर्म जिनसे दार्शनिक प्रकार धुंधले दिखाई देते हैं, उन्हें दर्शनावरणीय कर्म कहा जाता है। जो कर्म ज्ञान को विविध प्रकार से अनिश्चितता में लाते हैं, उन्हें ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

---

१०. माधवाचार्य द्वारा कृत–'सर्वदर्शन संग्रह'–६
११. माधवाचार्य द्वारा कृत–सर्वदर्शन संग्रह–४४
१२. माधवाचार्य द्वारा कृत–सर्वदर्शन संग्रह–४२

जब जीवात्मा ज्ञान को ढकने वाले प्रकृति के प्रभावों से निर्मुक्त हो जाती है और कर्म करने को स्वतन्त्र होती है, तब तक वह सर्वज्ञता का पात्र बनती है। तब ही वह भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। अपने समस्त भौतिक जीवन को उखाड़कर हम अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकते हैं तब जीवात्मा अपनी स्वाभाविक क्रिया के अनुकूल स्पन्दन करती है और अपने ज्ञान के कर्म का सदुपयोग करती है। ज्ञान ही जीवात्मा का विशिष्ट गुण है।

बौद्धदर्शन में ज्ञान का स्रोत :–

ज्ञान साकार चित्त के रूप को ही कहते हैं, उसके आकार को ग्रहण करने की शक्ति बोधस्पन्दता कहलाती है। पूर्वकाल में वर्तमान आकार को ग्रहण करने में सक्षम ज्ञान के उत्तरक्षण में तदाकार ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यह आकार दो प्रकार का होता है :–(१) अहम् का आकार (२) इदम् का आकार।

(१) **अहम् का आकार :–**पूर्वक्षण के ज्ञान को उत्पन्न ज्ञान को अहमाकार कहते हैं। अहमाकार एकरूप वाला है, अनादि है, और अनेकों में व्याप्त होता है। यही आलय विज्ञान है।[१३]

(२) **इदम् का आकार :–**इदमाकार कभी–कभी ही उत्पन्न होता है इसलिये इदमकार के लिये कारणों की अपेक्षा होती है। इदमाकार अनेक रूप वाला आदि होता है। इसके द्वारा प्रवृत्ति ज्ञान की उत्पत्ति है।[१४]

मति ज्ञान के लिए चार स्रोत की अपेक्षा होती है। ज्ञान के चार कारण निम्नलिखित हैं :–

(१) **आलम्बन**–उस विषय का आधार है जिस पर आश्रित होकर प्रवृत्ति विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

(२) **समनन्तर :–**पूर्वक्षण का ज्ञान जो उत्तरक्षण के ज्ञान को आकार ग्रहण की शक्ति प्रदान करता है उसे समन्नतर ज्ञान कहते हैं।

(३) **सहकारी :–**ज्ञान को स्पष्ट प्रकाश देने वाला ज्ञान सहकारी है। मन का विषय वस्तु से संयोग भी सहकारी ज्ञान कहलाता है।

---

१३. माधवाचार्य द्वारा कृत 'सर्वदर्शन संग्रह' श्लोक–२३

१४. प्रवृत्ति विज्ञान क्रियाशील चित्त है, जिससे विषयों की प्रतीति होती है जबकि इसकी उत्पत्ति आलय विज्ञान से होती है–सर्वदर्शन संग्रह–पृ०–७१

(४) **अधिपति** :–जो सब पर नियन्त्रण है वह 'अधिपति' कहलाता है अर्थात् इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को 'अधिपति' ही कहते हैं। यह अपने अधिकार क्षेत्र में सक्षम ज्ञान को ही आकार प्रदान करता है, जिस प्रकार सभी बाह्य इन्द्रि अपने-अपने अधिकार क्षेत्र के ज्ञान को आकार प्रदान करती है उसी प्रकार आन्त: इन्द्रिय अर्थात् मन जिसे चित्त भी कहते हैं, उसका अवदान आन्तरिक सुखादि विषयों तक ही सीमित है चित्त और चित्त के विकारों के रूप में स्कन्ध के पाँच प्रकार होते हैं :–(१) रूप स्कन्ध, (२) विज्ञान स्कन्ध, (३) वेदना स्कन्ध, (४) संज्ञा स्कन्ध, (५) संस्कार स्कन्ध।[१५]

(१) **रूप स्कन्ध** :–अहमाकार व इदमाकार जब विषयों के आकार में आ जाते हैं तब उसे 'रूप' स्कन्ध कहते हैं। यह चित्तविकार है।

(२) **विज्ञान स्कन्ध** :–आलय विज्ञान और प्रवृति विज्ञान के प्रवाह को 'विज्ञान स्कन्ध' कहते हैं। यह स्कन्ध चित्त स्कन्ध भी कहलाता है, क्योंकि अन्य चारों स्कन्ध चित्त के विकार कहलाते हैं।

(३) **वेदना स्कन्ध** :–चित्त का विषय इन्द्रिय के साथ मिलकर सुख-दु:ख आदि अनुभूतियों का प्रवाह ही वेदना स्कन्ध कहलाता है।

(४) **संज्ञा स्कन्ध** :–न्याय रूप आदि को व्यक्त करने वाले ज्ञानों का प्रवाह 'संज्ञा स्कन्ध' कहलाता है।

(५) **संस्कार स्कन्ध** :–राग-द्वेष, क्लेश, मन-बुद्धि आदि अल्प कष्ट तथा धर्म-अधर्म आदि के प्रवाह को 'संस्कार स्कन्ध' कहते हैं।

सभी चित्त विकारों को समाप्त करने पर ही अर्थात् इन स्कन्ध के विनाश के बाद ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

प्रमाण :–

बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि विज्ञान की प्राप्ति के बिना निर्वाण सम्भव नहीं।[१६] यह प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान प्राप्ति कैसे होती है? आदि इन सभी प्रश्नों को ध्यान में रखकर बौद्ध ने जो ज्ञान की प्राप्ति के उपाय बताये हैं, उनकी रूप-रेखा को प्रस्तुत किया जाता है।

---

१५. चित्तचैत्तात्मक: स्कन्ध: पञ्चविधो रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार संज्ञक। (माधवाचार्य-'सर्व०द०'-पृ०-७५

१६. ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:।

ज्ञान की उत्पत्ति के साधन हैं प्रमाण। प्रमाण वह ज्ञान है।[१७] जो अज्ञान अर्थ को प्रकाशित करता है और वस्तुस्थिति के अनुकूल ही चलता है। उसमें और वस्तु की स्थिति में हमेशा सामंजस्य रहता है। जो ज्ञान अर्थ क्रिया के ऊपर आश्रित रहता है। वह असंवादी होता है।[१८] अर्थ दो प्रकार के होते हैं–ग्राह्य व अध्यवसेय।[१९] इन्द्रियों के साथ जब वस्तुओं का सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे निर्विकल्प ज्ञान या ग्राह्य कहते हैं। लेकिन वाद में जब उस वस्तु की जाति गुण रूप आदि का जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे सविकल्पक ज्ञान अर्थात् अध्यवसाय कहते हैं।

निर्विकल्पक ज्ञान में अनुमान नहीं होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष होता है उसे ही प्रमाण मान लिया जाता है लेकिन सविकल्पक ज्ञान अनुमान प्रमाणों पर आधारित होता है। बौद्ध ने निर्विकल्पक को ज्ञान प्रत्यक्ष होने से ही प्रमाण माना है और सविकल्पक को अप्रमाण माना है, क्योंकि वह संदेह पूर्व कल्पनाओं पर आधारित होता है।[२०] प्रमाण वही है जो एकात्मक ज्ञान पर आधारित होता है। ग्राह्य ज्ञान का विषय सत्य पर आधारित है क्योंकि प्रमाण केवल ग्रहण ही है। इसके अलावा जो कुछ है वह वस्तु नहीं है।

यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष व परोक्ष न्यूनाधिक न होकर समान ही है। दोनों अपने-अपने विषय में पूर्णतः बल रखते हैं फिर भी दोनों में सामर्थ्य की दृष्टि से अन्तर होता है। प्रत्यक्ष ज्ञप्ति काल में स्वतन्त्र होता है और परोक्ष प्रत्यक्ष साधन परतन्त्र। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का वस्तुओं के साथ अव्यवहित साक्षात् सम्बन्ध होता है, जो कि वर्तमान में ही होता है और परोक्ष का व्यवहित अर्थात् वह अन्य प्रमाणों के अधीन होता है अतः जैन-साहित्य में सभी दार्शनिकों ने परोक्ष व प्रत्यक्ष के रूप में दो ही प्रमाणों को स्वीकारा है। अन्य सभी प्रमाणों का समावेश भी परोक्ष प्रमाण में कर दिया गया है।

---

१७. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शाब्देप्याभिप्रायनिवेदनात्।। (प्रमाण वार्तिक–२/१)

१८. प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्र मोहनिवर्तनम्। (देखिए–प्रमाणवार्तिक–२/४)

१९. ग्राह्यं अर्थात्–निर्विकल्पक ज्ञान जैसे की वस्तु है।
अध्यवसाय–अर्थात् सविकल्पक ज्ञान का विषय।

२०. कल्पनारहितं भान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्। विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपपल्लवः।।
सर्वद०सं० २/२४

बौद्धदर्शन में प्रमाणों की संख्या :–

बौद्ध दार्शनिक बुद्ध का प्रधान मत था कि बिना ज्ञान प्राप्ति के निर्वाण नहीं मिल सकता।[२१] प्रमाण वह ज्ञान है जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता हैं और वस्तु स्थिति का विरोधी नहीं होता है।[२२] इस ज्ञान को अविसंवादी अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान कल्पना रहित है इसलिये निर्विकल्पक ज्ञान प्रमाण है और सविकल्पक (विसंवादी)[२३] ज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि यह कल्पना के ऊपर अवलम्बित रहता है। यह दोनों ज्ञान इन्द्रियों के प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है, सविकल्पक जो अप्रमाण है निर्विकल्पक जो प्रमाण है। सभी बौद्ध दार्शनिकों ने प्रमाण के दो रूपों को स्वीकारा है–प्रत्यक्ष और अनुमान। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण में सिर्फ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है, क्योंकि यह कल्पना रहित है। सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि यह कल्पना युक्त होता है।[२४]

अनुमान ज्ञान भी प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुमान ज्ञान भी कल्पना पर आधारित होता है। इस प्रकार बौद्धदर्शन में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है। इस प्रकार ज्ञान की प्रक्रिया अर्थ की प्रतीति से आरम्भ होकर अर्थाधिगम पर समाप्त हो जाती है।[२५] 'यह पूर्व की ही है 'अवाय' है उसी विषय का संस्कार से उत्पन्न फिर से ज्ञान होना 'धारणा' है।[२६] प्रत्यक्ष का प्रतिभास होने में प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं रहती अर्थात् 'विशदः प्रत्यक्षम्' (प्रमाण मीमांसा–१. १. ३३)

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण :–

प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करने के लिये उसे तीन क्षणों को प्राप्त करना होता

---

२१. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

२२. प्रमाणमविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः। अविसंवादनं शब्देप्यभिप्रायनिवेदनात्।। (प्रमाणवार्तिक–२/१)

२३. प्रामाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिर्वतनम्। प्रमाण वार्तिक–२/४।।

२४. कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्पो वस्तुनिभा सादृसंवदादुपल्लवः।। सर्वद० संग्रह–२/२४।।

२५. अर्थाधिगमात् समाप्तः प्रमाण व्यापारः।

२६. Epistemology of the Agamas, Page N. 27-28, Dr. Nathmal Tatiya. Studies in Jaina Philosophy.

है, प्रथम इन्द्रिय सन्निकर्ष से अभीष्ट विषय की प्रतीति, द्वितीय में उसके लिये द्रष्टा उसे देखता और तृतीय में उसका साक्षात् ज्ञान।

कल्पना से रहित निर्भ्रान्त ज्ञान ही प्रत्यक्ष है।[२७] दिङ्गनाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है–नाम, जाति आदि से असंयुक्त कल्पना विरहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। बौद्धों की यह प्रत्यक्ष विवेचना नैयायिकों के निर्विकल्पक ज्ञान के समान होती है। धर्मकीर्ति की यह प्रत्यक्ष विवेचना नैयायिकों के निर्विकल्पक ज्ञान के समान होती है। धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है, 'तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है।

बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष की यह तटस्थ परिभाषा अत्यन्त विलक्षण और दुर्बोधपूर्ण जबकि अन्य दर्शनों में प्रत्यक्ष लक्षण केवल इन्द्रिय व अर्थ के सन्निकर्ष में ही किया जाता है। कल्पनाप्रौढ़ ज्ञान वही है जो सभी कल्पनाओं से रहित हो। कल्पनायें अनुमान का विषय है अतः बौद्धों ने प्रत्यक्ष को कल्पना रहित कहकर प्रत्यक्ष व अनुमान को पृथकता प्रदान की है।

व्यक्ति घट को जानता है उसको यह कहने पर घटार्थ की प्रतीति होती है इसी को धर्मकीर्ति अभिलाषा संसर्ग योग प्रतिभास प्रतीति कहते हैं। अतः योग प्रतिभास प्रतीति ही कल्पना है। किन्तु प्रत्यक्ष इससे भिन्नार्थ रखता है, उसके अनुसार घट शब्द कहने से घट की व्याख्या नहीं हो सकती। बल्कि घट के प्रत्यक्ष द्वारा ही घट की अनुभूति होती है।

अभ्रान्त ज्ञान :–सभी प्रकार की भ्रान्तियों से विरहित ज्ञान अभ्रान्त ज्ञान होता है। भ्रान्ति ज्ञान प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नहीं आता है। इन्द्रिय दोष, नौयान, संक्षोभादि ज्ञान से भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

आचार्य असंगदेव के अनुसार पाँच प्रकार की भ्रान्ति मानी गयी है:–

(१) संज्ञा भ्रान्ति :–मृगतृष्णा करने वाली मरीचिका में जल का ज्ञान संज्ञाभ्रान्ति है।

(२) संख्या भ्रान्ति :–धुन्ध रोग वाले आदमी को एक लौ में लौ दिखाई पड़ना संख्या-भ्रान्ति कहलाता है।

---

२७. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम जात्याद्यसंयुक्त'–प्रमाणसमुच्चय (दिङ्नाग)

(३) **संस्थान-भ्रान्ति** :–आकृति की भ्रान्ति जैसे बनेठी में चक्र की भ्रान्ति होना, संस्थान-भ्रान्ति का ज्ञान होता है।

(४) **वर्ण-भ्रान्ति** :–पीलिया ग्रस्त रोगी को सभी श्वेतवर्ण वस्तुओं का पीत वर्ण वस्तु में देखना।

(५) **कर्म-भ्रान्ति** :–रेल या बस में बैठे आदमी का सभी वृक्षों को पीछे चलते देखना कर्म भ्रान्ति है।

इन सभी भ्रान्तियों में चित्त का जो आग्रह है वह चित्त-भ्रान्ति कहलाता है, किन्तु कुछ अन्य बौद्धाचार्यों के अनुसार भ्रान्तियाँ हैं :–

आशु भ्रमण :–चलते पंखे की पखड़ियों का अदृश्य हो जाना, जलती वस्तु का मण्डलाकार में घुमाने से अग्नि चक्र का बन जाना ही आशुभ्रमण है।

नौयान :–नौयान कर्मभ्रान्ति का ही पर्याय है।

संक्षोभ :–पित, वात, कफ आदि दोषों का संक्षोभ भ्रान्ति का कारण है।

सादृश्य :–अवास्तविक वस्तुओं को वास्तविक वस्तु समझना सादृश्य भ्रम है।

इन्द्रिय :–समस्त भ्रान्ति के दो भेद हैं–इन्द्रियस्थ अर्थात् तिमिर और संक्षोभ आदि से उत्पन्न भ्रम। विषस्थ अर्थात् भ्रमण नौयान आदि से उत्पन्न भ्रम।

इन सभी भ्रान्तियों से विरहित तथा नाम, जाति आदि की योजना में नितान्त अस्पष्ट ज्ञान ही 'प्रत्यक्ष' होता है। बौद्धों के अनुसार ज्ञान के चार भेद हैं–इन्द्रियज्ञान, मनोविज्ञान, स्वसंवेदन और योगिज्ञान। इस प्रकार चार के प्रत्यक्ष होते हैं।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष :–इन्द्रिय के द्वारा जो कल्पानविरहित और अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त होता है वहीं इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय ज्ञान होते समय उस वस्तु के आकार प्रकार वर्ण, रंग आदि किसी वस्तु का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता। कल्पना का आरम्भ जब होता है जब इन्द्रिय प्रत्यक्ष होने के अनन्तर द्रष्टता का चित्त जाति गुण आदि की ओर अग्रसर होता है। इन्द्रिय से हम केवल वस्तु के स्वलक्षण का ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। चक्षुरिन्द्रिय में घट, नील, पाल आदि पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। घ्राणेन्द्रिय से गन्ध का, रसेन्द्रिय से रस, लवण का तथा त्वगिन्द्रिय से ग्रीष्म शीतादि का प्रत्यक्ष होता है।

मानस प्रत्यक्ष :–चक्षुरादि इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन में उत्पन्न होता है वही मानस प्रत्यक्ष है।[२८] दिङ्नाग[२९] ने पदार्थ के प्रति राग आदि का जो प्रत्यक्ष होता है उसी का मानस प्रत्यक्ष कहा है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष का जनक है। चक्षुरिन्द्रिय आदि द्वारा प्राप्त ज्ञान मन को दिया जाता है फिर मन इन्द्रिय ज्ञान का विशेषण कर प्रत्यक्ष का ग्रहण करता है।

बौद्ध के अनुसार ज्ञान के चार प्रत्यय कारण हैं[३०] –

(१) आलम्बन प्रत्यय, (२) समान्तर प्रत्यय, (३) सहकारी प्रत्यय (४) अधिपति प्रत्यय।

विषय के आधार को आलम्बन कहते हैं जिस पर आश्रित होकर प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होता है। नेत्र से घर का ज्ञान होने में पहला कारण घर ही है, विषय होने से यह आलम्बन होता है। ज्ञात शब्द से समझे जाने वाले नीलादि की प्रतीति का जिसे चित्त भी कहते हैं, नील से, आवलम्बन के कारण ही नीलरूप बनता है। बाध्यार्थरिक्त्वादि बौद्ध बाह्य वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करते हैं किन्तु विज्ञानवादियों के मत में बाह्य पदार्थ शून्य है, आन्तर सत्य। अद्वैत वेदान्तियों का अनुसरण करके यह दृष्टान्त माना है कि ज्ञानों से ही नीलादि पदार्थों को जाना जाता है। ज्ञान और विषय साथ प्राप्त होने का नियम है, इसलिये नील और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं भेद तो एक चन्द्र में द्विचन्द्र दर्शन की तरह भ्रान्तज्ञान के कारण होता है।[३१] नीलादि आकार ज्ञान के अपने रूप में होने पर भी भ्रान्ति के कारण, भेद से, ब्राह्यपदार्थ जैसा प्रतीत होता है यही कारण है उसमें 'अहम्' द्वारा अभिव्यक्ति नहीं होती। वैशेषिकों का प्रश्न है कि यदि बाह्य पदार्थ शून्य है तो नीलाकार आया कहाँ से? अतः कोई न कोई आलम्बन को स्वीकार करना पड़ेगा। बाह्यपदार्थ (विषय) ही आलम्बन प्रत्यय है।

जिस कारण से पूर्व ज्ञान का उद्बोध होता है उस कारण को समनन्तर प्रत्यय कहते हैं।[३२]

---

२८. स्वविषयान्तरे विषय सहकारिणीन्द्रियज्ञानेन समनन्तर प्रत्ययेन जनितं तत् मनोविज्ञानम्।। न्याय बिन्दु (१/९)

२९. चित्तमव्यर्थरागादि। प्रमाण समुच्चय (१/६)।

३०. ते चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धः आलम्बन समनन्तर.......ग्रहणप्रतिनियमः। सर्वद०सं०पृ०–७३

३१. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। अन्यच्चेत्सर्विदो...संविदि।। वि० प्रमेय सं०–७५

३२. समनन्तर प्रत्ययात् प्राचीन ज्ञानात् बौद्धरूपता।।

साकार चित्त को ही ज्ञान माना है और बोधव्यता का अर्थ है आकार को ग्रहण करने की शक्ति। जिस प्रकार पूर्वक्षण के 'घट' से उसी के आकार में उत्तर क्षण में घट उत्पन्न होता है उसी तरह पूर्वक्षण में वर्तमान आकार को ग्रहण करने में समर्थ ज्ञान से उत्तर क्षण में तदाकार ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यह ज्ञान परम्परा समनन्तर रूप से चलती रहती है यही समनन्तर प्रत्यय है। अतः उत्तर क्षण के ज्ञान को आकार-ग्रहण शक्ति देते हुये पूर्वक्षण का ज्ञान समनन्तर कहलाता है। बौद्धदर्शनों के अनुसार नेत्रादि इन्द्रियों से जो विषय का विज्ञान हुआ है उसी का समान्तर प्रत्यय बनाकर जो मन उत्पन्न हुआ है उसे ही मानस प्रत्यक्ष कहते हैं।

विना किसी प्रकाश की सहायता से चक्षु किसी 'घर' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अतः सहकारी के द्वारा ही प्रकाश से स्पष्टता होती है। जो ज्ञान में सहायता करता है वह सहकारी है।[३३] ज्ञान को स्पष्ट करने वाला प्रकाश को ही सहकारी माना जा सकता है। मन से वस्तु का संयोग होना भी सहकारी होता है। चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा विषय के ग्रहण पर नियन्त्रण को अधिपति प्रत्यय कहते हैं।[३४] ज्ञान में यह अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत ही आकार प्रदान करता है। चक्षु इन्द्रिय ज्ञान के अन्तः इन्द्रिय मन, सुखादि आन्तरिक विषयों को ही आकार देता है। अतः इन्द्रिय का ही दूसरा नाम अधिपति है।

अतः इन ज्ञान के चार कारणों में से समनन्तर प्रत्यय द्वारा ही जनित ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष :—दिङ्नाग के अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान ही स्वसंवेदन रूप है।[३५] धर्मकीर्ति के मत में, चित्त और चैत्त का आत्मसंवेदन आत्म प्रत्यक्ष कहलाता है।[३६] अर्थमात्र को ग्रहण करने वाला चित्त कहलाता है। जबकि विशेष अवस्था को ग्रहण करने वाले सुखादि चैत्त कहलाते हैं। इन्द्रियों द्वारा गृहीत रूप का ज्ञान मानस प्रत्यक्ष हो जाता है, तब उस विषय के प्रति राग-द्वेष, सुख-दुःख का जो अनुभव है वही आत्मसंवेदन प्रत्यक्ष है। परन्तु धर्मकीर्ति के अनुसार मानस प्रत्यक्ष इन्द्रिय जनित ज्ञान का अनुभव कराता है। परन्तु इन दोनों भिन्न राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि का ज्ञान बिल्कुल नई वस्तु है, अतः आत्म प्रत्यक्ष को पूर्ण दोनों

---

३३. सहकारी प्रत्ययादौ कौतुकस्पष्टता।

३४. चक्षुषो अधिपति प्रत्ययात् विषयग्रहणप्रतिनियमः। "सर्वद०सं०"।

३५. स्वसंवित् निर्विकल्पकम्। प्रमाण समुच्चय (दिङ्नाग)

३६. सर्वचित्त चैत्तात्मात्मसंवेदनम्। न्यायबिन्दु (धर्मकीर्ति)

प्रत्यक्षों से भिन्न मानना नितान्तः आवश्यक है। बौद्ध के अनुसार प्रत्येक पदार्थ के दो रूप हैं। बाह्य और आन्तर। बाह्य पदार्थ में पंचभूत और रूप आदि भौतिक पदार्थ शामिल हैं। आन्तर पदार्थ के भी दो भेद हैं। चित्त और चैत्त। चित्त और चैत्त (चित्त के विकार) के रूप में स्कन्ध पाँच प्रकार का है।[३७] १. रूप स्कन्ध, २. विज्ञान स्कन्ध, ३. वेदना स्कन्ध, ४. संज्ञा स्कन्ध, ५. संस्कार स्कन्ध। इनमें विज्ञान स्कन्ध चित्त है और अन्य स्कन्ध चैत्त।

(१) **रूप स्कन्ध** :–विषय और इन्द्रियाँ रूप स्कन्ध ही हैं।[३८] विषयों के आकार में आने पर यह (प्रवृत्ति विज्ञान) रूप स्कन्ध कहलाता है। जिन इन्द्रियों द्वारा विषय का निरूपण होता है वहीं रूप स्कन्ध है। इस प्रकार जो निरूपित होते हैं उन्हें भी रूप स्कन्ध कहते हैं। अतः इन्द्रियाँ और विषय रूप स्कन्ध की व्युत्पतियाँ हैं। ये इन्द्रियाँ भौतिक नही, चैत्त ही हैं। चित्त का अनुभव केवल आत्मा द्वारा ही हो सकता है। रूप स्कन्ध चित्त का विकार (चैत्त) है चित्त नहीं।

(२) **विज्ञान स्कन्ध** :–आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञान स्कन्ध कहलाता है।[३९] विज्ञान दो प्रकार के हैं–आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान। 'अहम्' आकार वाले विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं।[४०] मैं देखता हूँ, मैं जानता हूँ आदि में...मैं का आधार आलय विज्ञान ही है। 'अहं' आकार वाले आलय विज्ञान का प्रवाह ही आत्मा है। 'इदम्' आकार वाले विज्ञान को प्रवृत्ति विज्ञान कहते हैं। 'यह घट है' यह ज्ञान जिसके द्वारा होता है, वह प्रवृत्ति विज्ञान है। मैं घट को जानता हूँ, इस ज्ञान में आलय विज्ञान तथा प्रवृत्ति विज्ञान दोनों का समावेश है। इन दोनों विज्ञान के प्रवाह को ही विज्ञान स्कन्ध कहा जाता है।

३. **वेदना स्कन्ध** :–रूप स्कन्ध तथा विज्ञान स्कन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रतीतियों के प्रवाह को वेदना स्कन्ध कहते हैं।[४१] जब चित्त इन्द्रिय विषय आदि के साथ मिलता है तो सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है, यह वेदना स्कन्ध है। किसी भी वस्तु के भोग से सुख-दुःख अथवा मोह की प्राप्ति होती है। इस सुख-दुःख अथवा मोह के अनुभव को वेदना स्कन्ध कहते हैं।

---

३७. सोऽयं चित्तचैत्तात्मकः स्कन्धः पंचविधा। रूप-विज्ञान वेदना-संज्ञा-संस्कार संज्ञकः।। सर्वद० संग्रह।।

३८. रूप्यन्त एभिर्विषया रूपन्ते च इति व्युत्पत्या सविषयाणीन्द्रियाणि च रूपस्कन्धः।।

३९. आलयविज्ञानप्रवृत्ति विज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः। (सर्वद० संग्रह-२/७५)

४०. तस्यालयविज्ञानं यद् भवेदिदृशमास्यपदम्। तत्स्यात्प्रवृत्ति....उल्लिखेत्।।

४१. रूपस्कन्ध विज्ञान स्कन्ध जन्य, सुखदुःखादि प्रत्यय प्रवाहो वेदनास्कन्धः।।

४. **संज्ञा स्कन्ध** :–घर पर आदि नाम संज्ञास्कन्ध है। किसी संकेत को अवयवों के आधार पर दिया जाना ही संज्ञा स्कन्ध। किसी पिण्ड विशेष का कोई विशेष नाम ही संज्ञा स्कन्ध कहलाता है, किसी पिण्ड का नाम अश्व और किसी का 'गौ' है। अत: गौ इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले प्रत्यय का प्रवाह 'संज्ञा' स्कन्ध कहलाता है।

५. **संस्कार स्कन्ध** :–जब हम किसी वस्तु के भोग द्वारा सुख दु:खादि की प्रतीति करते हैं तो उससे एक सूक्ष्म संस्कार जनित होता है जो कि वेदना के आधार पर शुभ, अशुभ जन्य का कारण होता है। अत: वेदना स्कन्ध पर आधारित रागद्वेषादि क्लेश, मद-मन आदि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म को संस्कार स्कन्ध कहते हैं।[४२]

इन पंचविध चित्त और चैत्त में विज्ञान स्कन्ध ही चित्त है जबकि अन्य स्कन्ध चैत्त हैं। विज्ञान स्कन्ध में आलय विज्ञान का प्रवाह ही आत्मा को होता है जो आत्मप्रत्यक्ष कहलाता है।

जैनाचार्यों ने बौद्धदर्शन के आचार्यों की प्रत्यक्ष प्रमाण की आलोचना की है। बौद्धदर्शन में जैन दार्शनिकों के प्रत्याख्यान का उत्तर दिया है। जैसा कि कहा गया है कि त्वक् रसना, घ्राण को प्राप्यकारी तथा चक्षु एवं मन को अप्राप्यकारी मानने के सन्दर्भ में जैन एवं बौद्धदर्शन दोनों एक मत के हैं, परन्तु श्रोत्र के प्राप्यकारित्व अप्राप्यकारित्व को लेकर मतभेद हैं। बौद्ध दार्शनिक श्रोत्र को लेकर अप्राप्यकारी मानते हैं। जैन दार्शनिक उसे प्राप्यकारी कहते हैं। बौद्धदार्शनिकों के मत में श्रोत्र का शब्द से सन्निकर्ष हुए विना ही शब्द का ज्ञान हो जाता है जबकि जैन दार्शनिक श्रोत्र से शब्द का सन्निकर्ष होना आवश्यक मानते हैं। यहाँ पर अभयदेवसूरि प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के अनुसार बौद्ध मन्तव्य को पूर्वपक्ष में रखकर खण्डन प्रस्तुत किया गया है। **पूर्वपक्ष**–चक्षु एवं मन की भ्रांति श्रोत्र की अप्राप्यकारी है। श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द का ग्रहण होता है। यदि शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट होकर गृहीत हो तो शब्द में दूर निकट आदि का व्यवहार संभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार चक्षु का अर्थ से सन्निकर्ष नहीं होने के कारण दूर स्थित पादपादि का ज्ञान होता है, उसी प्रकार श्रोत्र के द्वारा असन्निकृष्ट शब्द में

---

४२. वेदना स्कन्ध निण-धूना रागद्वेषादयः क्लेशाः।
उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कार स्कन्धः।। सर्वद० संग्रह–२/७५।

दूर या निकटता का ज्ञान होता है। जिस प्रकार तेजस्विता के कारण असन्निकृष्ट रूप का चक्षु में अभिघात होता है, उसी प्रकार सन्निकृष्ट शब्द का उसकी तीव्रता के कारण श्रोत्र में अभिघात होता है।

उत्तरपक्ष–अभयसूरि, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि जैन दार्शनिकों ने श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुये कहा है कि श्रोत्र को अप्राप्यकारी मानने में प्रत्यक्ष से बाधा है। कर्णशष्कुली में प्रविष्ट मच्छर आदि के शब्दों का ज्ञान, श्रोत्र के द्वारा शब्द का सन्निकर्ष होने पर ही होता है। दूर-निकट आदि का व्यवहार श्रोत्र के प्राप्यकारी होने पर भी संभव है। जिस प्रकार घ्राण के द्वारा सन्निकृष्ट का ज्ञान होने पर भी "पद्म की गन्ध दूर से आ रही है, मालती की गंध निकट से आ रही है" जिस प्रकार दूर निकटादि का व्यवहार संभव है उसी प्रकार शब्द का सन्निकर्ष से ग्रहण करते हुए भी उसमें दूर-निकट का बोध होता है।

शब्द का ग्रहण सन्निकर्ष पूर्वक होता हैं, क्योंकि निर्वात में दूरस्थ पुरुष के द्वारा शब्द सुनाई नहीं देता है। तथा जो शब्द निकटस्थ मनुष्य के द्वारा सुनाई देता है, वह प्रतिवात चलने पर उसे सुनाई नहीं देता है। यदि शब्द अपने उत्पत्ति स्थान में ही गृहीत होते हैं, तो दूरस्थ मेरी आदि के शब्दों को ग्रहण नहीं होकर मच्छर के गुनगुनाने का ही शब्द सुनाई देना चाहिए था, किन्तु भेरी या नगाड़ों की आवाज से मच्छर की आवाज दब जाती है। फलतः भेरी या नागड़ों की आवाज ही सुनाई देती है। जैन दार्शनिक चक्षु के अप्राप्यकारित्व का समर्थन एवं श्रोत्र के अप्राप्यकारित्व का खण्डन करते हुए कहते हैं कि सूर्य की किरणे भासुर रूप से लौटकर चक्षु से अभिसंबद्ध होने के कारण चक्षु की अभिघात हेतु होतीं हैं, जबकि श्रोत्र में अभिघात का कोई हेतु नहीं है जो शब्द से लौटकर श्रोत्र से अभिसंबद्ध हो। इसलिए श्रोत्र को प्राप्यकारी मानना ही उचित है।[४३]

मानस प्रत्यक्ष का खण्डन :–जैन दर्शन में अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं मनः पर्यव ज्ञान का निरूपण बौद्धदर्शन, के मानस प्रत्यक्ष से एकदम भिन्न है। बौद्धदर्शन में निरूपित मानस-प्रत्यक्ष का समनन्तर प्रत्यय इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है तथा आलम्बन प्रत्यय इन्द्रियप्रत्यक्ष का अनन्तर विषय। अर्थात् मानस प्रत्यक्ष के

---

४३. द्रष्टव्य तत्त्वबोधविधायिनी पृ०–५४५/४६,
न्यायकुमुदचन्द्र भाग–१, पृ०–८३–८६, एवं स्याद्वादरत्नाकर, पृ०–३३३–३८॥

पूर्व इन्द्रिय प्रत्यक्ष का होना आवश्यक है। जैन दर्शन में कल्पित अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के मन ही सीधा समस्त अर्थों का ग्रहण कर सकता है। इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। मनः पर्यवज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। जिसमें इन्द्रिय एवं मन दोनों की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु सीधे आत्मा के द्वारा दूसरे के मन की पर्यायों अथवा मन में विचारित अर्थों का ज्ञान होता है।

जैन दार्शनिक अकलङ्क एवं उनके टीकाकार वादिराज द्वारा किये गए बौद्ध मानस प्रत्यक्ष का खण्डन यहाँ प्रस्तुत है। प्रस्तुत खण्डन में धर्मकीर्ति के साथ बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र के मत का भी उपयोग किया गया है।

भट्ट अकलङ्क आदि जैन दार्शनिकों ने मानस प्रत्यक्ष को भी अव्यवसायात्मक होने के कारण अप्रमाण माना है। अकलङ्क कहते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न होने वाले एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न विषय को ग्रहण करने वाले स्पष्ट ज्ञानात्मक मानस प्रत्यक्ष तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष में कोई भेद दिखाई नहीं देता है।[४४] बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र ने इन्द्रियप्रत्यक्ष एवं मानसप्रत्यक्ष में भेद प्रतिपादित करते हुए कहा है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष सविकल्पक ज्ञान को सन्तान भेद के कारण सीधा उत्पन्न नहीं करता, मानस प्रत्यक्ष के द्वारा विकल्प उत्पन्न होता है, इसलिए मानस प्रत्यक्ष इन्द्रिय प्रत्यक्ष से भिन्न है।[४५] अकलङ्क शान्तभद्र के मन्तव्य का निरसन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सविकल्पक ज्ञान से इन्द्रिय प्रत्यक्ष सन्तान भेद के कारण एकदम भिन्न है उसी प्रकार मानस प्रत्यक्ष भी सन्तान भेद से भिन्न है, अतः मानस प्रत्यक्ष भी विकल्प ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता है।[४६]

यदि जितने इन्द्रिय प्रत्यक्ष होते हैं, उनके अनन्तर उतने ही मानस प्रत्यक्ष होते हैं तो उनमें यह प्रतिसन्धि नहीं हो सकेगी कि "मैं वही हूँ, जिसने शाकुली

---

४४. अक्षज्ञानानुजं स्पष्टं तदनन्तरगोचरम्। प्रत्यक्षं मानसं चाह भेदस्तत्र न लक्ष्यते। न्या० विनिश्चय–१५७-५८

४५. (१) शान्तभद्रस्त्वाह–यद्यपि प्रत्यक्षतस्तस्य...लक्ष्यत एवं। ....ततोऽन्येदेव....प्रत्यक्षम्।।
(२) द्रष्टव्य–सिद्धिविनिश्चयटीका, भाग–१, पृ०–१२९
वादिराज–न्याय विनि०, पृ०–५२६

४६. अन्तरेणेदमक्षानुभूतं चेन्न विकल्पयेत्। सन्तानान्तरवच्चेतः समनन्तरमेव किम्।। न्या०विनि०–१५८-५९

(पूड़ी) का सुगन्ध लेकर भक्षण किया है।[४७] यदि एक ही मानस प्रत्यक्ष रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि समस्त विषयों को ग्रहणकर लेता है तो फिर पाँच प्रकार की इन्द्रियों का प्रतिपादन अनावश्यक हो जायेगा।[४८] यदि प्रत्येक इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अनन्तर क्रम से मानस प्रत्यक्ष होता है तो इन्द्रिय प्रत्यक्षों के सहोत्पत्ति का बौद्ध मत खण्डित हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पश्चात् मानस प्रत्यक्ष होगा, फिर उसका विकल्प होगा। तभी अन्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो सकेगा, अतः विभिन्न इन्द्रिय प्रत्यक्षों एवं विकल्पों के मध्य मानस प्रत्यक्ष व्यवधान उत्पन्न होगा।[४९] इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा ही निर्णयात्मक ज्ञान हो जाता है। इसलिए इन्द्रिय प्रत्यक्ष एवं निर्णयात्मक विकल्प के बीच मानस प्रत्यक्ष को अंगीकार करने की कल्पना व्यर्थ है। उसका प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरोध आता है।[५०]

बौद्ध दार्शनिक शान्तभद्र ने मानस-प्रत्यक्ष को स्मृति में कारण माना है। अकलङ्क ने उसका खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं मानस-प्रत्यक्ष का विषय यदि अभिन्न है तो मानस-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भाँति सन्तान भेद के कारण स्मृति को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि मानस प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भिन्न है तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष स्मृति की भाँति मानस-प्रत्यक्ष का उपादान या समनन्तर कारण नहीं हो सकता।[५१]

मानस-प्रत्यक्ष को कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार माना है, अतः अकलङ्क का कथन है कि जब वेदना आदि का ज्ञान करने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष में मानसप्रत्यक्ष का समावेश हो जाता है तो मानस-प्रत्यक्ष के नाम से एक भिन्न प्रमाण मानना वृथा है।[५२]

यदि आगमप्रसिद्ध होने से ही मानस-प्रत्यक्ष को स्वीकार किया गया है[५३]

---

४७. शष्कुलीभक्षणादौ चेत्तावन्त्येव मनांस्यापि यावन्तीन्द्रियचेतांसिप्रतिसन्धिर्न युज्यते।। न्या०विनि०-१५९-६०

४८. अथैकं सर्वविषयमस्तु किं वाऽक्षबुद्धिर्भिः।। न्याय विनिश्चयः-१६०

४९. क्रमोत्पत्तौ सहोत्पत्तिविकल्पोऽयं विरुध्यते। न्या०विनि०-१६१

५०. अध्यक्षादिविरोधः स्यात् तेषामनुभवात्मनः। न्या०विनि०-१६१

५१. प्रत्यक्षान्मानसादृते बहिर्नाक्षधियः स्मृतिः। सत्त्वान्तरच्चेत्तत् समनन्तरमस्यकिम्।। सिद्धि विनि०-२, ५

५२. वेदानादिवदिष्टं चेत्कथं नातिप्रसज्यते।। न्यायविनिश्चय-१६२

५३. धर्मोत्तर ने इसे आगम प्रसिद्ध कहा है। द्रष्टव्य, यही अध्याय, पादटिप्पण-१०४

तो उपयुक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण-शास्त्रीय ग्रन्थों में इन अनावश्यक बातों को स्थान नहीं है।[५४]

अकलङ्क के विवरणकार वादिराज बौद्धों की ओर से इन्द्रिय-प्रत्यक्ष एवं मानस प्रत्यक्ष में भेद बतलाते हुए कहते हैं कि मानस-प्रत्यक्ष निश्चय रूप होता है तथा "यह नीला है" "यह पीला है" इत्यादि उल्लेखयुक्त होता है, इन्द्रिय ज्ञान नहीं। वादिराज इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि इन्द्रियज्ञान को ही निश्चयरूप मानना उचित है, क्योंकि इन्द्रियज्ञान से मानसप्रत्यक्ष ज्ञान में कोई भेद प्रतीत नहीं होता है। इन्द्रियज्ञान में जिस प्रकार संशयादि होते हैं, उसी प्रकार वे मानसज्ञान में भी होते हैं। यदि मानस ज्ञान में संशयादि न हों तो समारोप का निवारण करने के लिए अनुमान-प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।[५५] मानसप्रत्यक्ष का खण्डन करते हुए मीमांसक कहते हैं कि यदि कोई मानस-प्रत्यक्ष है तो लोचनविकल पुरुष को भी दिखाई देना चाहिए। इस दोष का परिहार करने के लिए धर्मकीर्ति एवं धर्मोत्तर ने मानस-प्रत्यक्ष के पूर्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का समनन्तर कारण के रूप में होना आवश्यक प्रतिपादित किया। वादिराज कहते हैं कि अन्धे को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होने पर भी स्वसंवेदन के रूप में मानस-प्रत्यक्ष होना चाहिए।[५६]

स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष का निरसन–

बौद्ध दार्शनिकों की भांति ज्ञान का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष जैन दार्शनिकों को भी अभीष्ट है, किन्तु अन्तर यह है कि बौद्ध दार्शनिक चित्त एवं चैत्त में होने वाले समस्त विकल्पों का आत्मसंवेदन मानते हैं।[५७] जबकि जैन दार्शनिकों के अनुसार निर्णयात्मक ज्ञान का स्वसंवेदन ही प्रमाण होता है।[५८] बौद्ध दार्शनिक रागादि चित्त विकल्पों का ग्रहण स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से करते हैं तथा उस प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक मानते हुए प्रमाण स्वीकार करते हैं।[५९] इसके विपरीत जैन दार्शनिक

---

५४. लक्षणं तु न कर्तव्यं प्रस्तावानुपयोगिषु। न्यायविनिश्चय–१६३
५५. मानसविषयेऽपि कथं तदविशेषात्। न भवत्येवेति...सम्भवात्।। न्याय विनिश्चय पृ०–५२०
५६. न्याय विनिश्चयविवरण, पृ०–५३०
५७. निश्चयात्मा स्वतः सिद्ध्येत्। लघीयस्त्रय–१८
५८. मानसं चार्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका। प्रमाण समुच्चय का०–६

ज्ञान को स्वप्रकाशक रूप में स्वीकार करते हुए भी उसके निर्णयात्मक स्वरूप को ही प्रमाण मानते हैं।

जैन दार्शनिकों की यह विशेषता है कि वे ज्ञान एवं बाह्यार्थ दोनों को स्वीकार करते हैं। वे बाह्य अर्थ का जिस प्रकार अस्तित्व स्वीकार करते हैं उसी प्रकार ज्ञान का भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं, एवं ज्ञान को बाह्यार्थ को जानने में सक्षम मानने के साथ ही स्वयं को जानने में भी समर्थ मानते हैं। ज्ञान जिस प्रकार बाह्याभिमुख होकर बाह्य पदार्थों को जानता है उसी प्रकार आत्माभिमुख होकर अपने आपको भी जानता है। मैं यदि घट को जानता हूँ तो मुझे यह भी ज्ञान है कि मैं अपने ज्ञान से घट को जानता हूँ। इस प्रकार ज्ञान बाह्य अर्थ का निश्चात्मक होने के साथ-साथ स्वनिश्चायक भी होता है।[६०] उसकी स्वनिश्चायकता को प्रमाण के रूप में अंगीकार करने में जैनदार्शनिकों को कोई आपत्ति नहीं है। जैन दर्शन में ज्ञान के पूर्व होने वाला दर्शन की स्वसंवेदी होता है, किन्तु उसे निर्विकल्पक एवं अव्यवसायात्मक होने के कारण जैन दार्शनिकों ने प्रमाण नहीं माना है।

बौद्ध समस्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अप्रामाण्य को लेकर जैन दार्शनिकों ने अनेक शंकायें खड़ी की हैं। भट्ट अकलङ्कदेव यह आशंका करते हैं कि समस्त ज्ञानों एवं चैत्तसिक विकल्पों का स्वसंवेदन स्वीकार करने पर निद्रा एवं मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में भी स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष मानना होगा। निद्रा एवं मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में यदि स्वसंवेदन नहीं होता है तो चतुःसत्य की भावनादि से विरोध उत्पन्न होता है, क्योंकि बौद्धों ने चतुःसत्य की भावनाओं को प्रत्येक अवस्था में स्वीकार किया है।[६१] दूसरी आशंका अकलङ्कदेव ने यह उठायी है कि समस्त चित्त एवं चैत्तों के आत्मसंवेदन को प्रत्यक्ष मानकर हित की प्राप्ति एवं अहित का परिहार करने में प्रवृत्त पुरुषों के लिए निद्रा एवं जागृति अवस्था में कोई भेद ही नहीं रहेगा, क्योंकि तब आत्मसंवेदन के कारण निद्रावस्था में भी सम्यग्

---

५९. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। न्यायबिन्दु–११०
६०. स्वोन्मुखप्रतिभासनं स्वस्यव्यसायः। अर्थस्येव तदुन्मुखतया। घटमहमात्मना वेद्मि। परीक्षामुख–१, ६, ८.
६१. अध्यक्षामात्मवित्सर्वज्ञानानामभिधीयते। स्वापमूर्च्छाद्यवस्थोऽपि प्रत्यक्षी नाम किं भवेत्?
विच्छेदे हि चतुःसत्य भावनादिर्विरुध्यते।। न्याय विनिश्चय–१६३. ६४.

ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ सिद्धि होने लगेगी।[६२] निद्रावस्था में आत्मसंवेदन के अतिरिक्त सत् का लक्षण नहीं है, इसलिए उस अवस्था में आत्मसंवेदन रहता ही है।

वस्तुतः समस्त ज्ञानों के स्वरूप का व्यवसायात्मक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता है। यदि स्वसंवेदन को निर्विकल्पक स्वीकार किया जायेगा तो निर्णयात्मक ज्ञान का भी उसके द्वारा निर्णयात्मक ज्ञान के रूप में ग्रहण नहीं हो सकेगा। उसका निश्चय करने के लिए किसी अन्य निर्णयात्मक ज्ञान को स्वीकार करना होगा। फलतः अनवस्था दोष आ जायेगा, और अर्थक्रिया में प्रवृत्ति करना रूप व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा।[६३]

योगीप्रत्यक्ष :–जैन दार्शनिकों का योगी प्रत्यक्ष से विरोध नहीं है, किन्तु उसकी निर्विकल्पता से विरोध है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में जैन दार्शनिकों ने जिन दोषों का उद्‌भावन किया है वे समस्त दोष योगीप्रत्यक्ष मे भी आते हैं।[६४]

वादिराज ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि योगी प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है। योगिज्ञान अपनी सत्ता मात्र से विनेय लोगों के लिये प्रमाण नहीं होता है, अपितु उनको हेय, उपादेय तत्त्वों का ज्ञान देने से प्रमाण होता है।[६५] इसलिए धर्मकीर्ति कहते हैं कि ज्ञानवान् पुरुष को उसके द्वारा कथित ज्ञान को जानने के लिए खोजा जाता है।[६६] वादिराज यहाँ पर यह स्पष्ट करते हैं कि योगीप्रत्यक्ष वाले पुरुष को निर्विकल्पक ज्ञान के कारण नहीं खोजा जाता है, अपितु उनके सविकल्पक शब्दों से अभिव्यक्त वाणी को जानने के लिए खोजा जाता है। शब्द सविकल्पक होते हैं अतः योगीप्रत्यक्ष को सविकल्पक मानना ही उचित है।[६७]

वादिदेवसूरि ने योगीप्रत्यक्ष की उत्पत्ति का बौद्धदर्शनानुसार निर्देश कर उसका मिथ्यात्व घोषित किया है। भावनाओं के प्रकर्षपर्यन्त अवस्था में योगिज्ञान उत्पन्न होता है वह भावना दो प्रकार की होती है, श्रुतमयी एवं चिन्तामयी।

---

६२. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षं....सिद्धिर्न भवेत्।। सिद्धिविनि०–पृ०–९६, १०–१२

६३. द्रष्टव्य सिद्धिविनिश्च टीका भाग–१, पृ०–९६

६४. प्रायशो योगिविज्ञानमेतेन प्रतिवर्णितम्। न्या०विनि० विवरण–१६८

६५. न च तत् स्वसत्तामात्रेण विनेयानां प्रमाणं, अपितु सोपायाहेयोपादेयतत्त्वोपदेशात्।। न्या०विनि०–पृ०–५३३/२५

६६. ज्ञानवान् मृग्यते काश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये। प्रमाणवार्तिक–१. ३२

६७. न्यायविनिश्चयविवरण–भाग–१, पृ०–५३३

क्षणिकत्व, नैरात्म्यादि को विषय करने वाले परार्थानुमान वाक्यों को सुनकर जो भावना उत्पन्न होता है वह श्रुतमची भावना होती है तथा वह स्वार्थानुमान लक्षणयुक्त चिन्तामयी भावना को उत्पन्न करती है। वह बढ़ती हुई प्रकर्ष पर्यन्तावस्था को प्राप्त करके योगीप्रत्यक्ष को उत्पन्न करती है।

वादिसूरि कहते हैं कि बौद्धों के द्वारा स्वीकृत ये दोनों भावनायें ही मिथ्यारूप हैं अतः उनसे परमार्थ विषयक योगीप्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता। ये भावनायें इसलिये मिथ्या हैं क्योंकि इनमें क्षणिकत्व, नैरात्म्य आदि अतथाभूत वस्तुओं का विचार किया जात है।[६८]

सर्वज्ञता विचार :–योगीप्रत्यक्ष के सन्दर्भ में जैन दार्शनिक एवं बौद्ध दार्शनिकों के सर्वज्ञता विषयक विचारों का अध्ययन भी प्रासंगिक है जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि जैनदर्शन में अतीन्द्रिय अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेदों में सकल प्रत्यक्ष भी एक प्रकार है जो समस्त घातीकर्मों के आवरण का क्षय होने पर केवल ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। केवल ज्ञान में त्रिकालवर्ती निखिल द्रव्यों एवं पर्यायों का ज्ञान किया जा सकता है। इसमें इन्द्रिय एवं मन के माध्यम की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए यह अतीन्द्रिय भी होता है।[६९]

सूक्ष्म, दूरस्थित एवं अन्तरित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने के लिए समन्तभद्र ने केवलज्ञान को समर्थ माना है तथा अनुमान से उसकी सिद्धि की है।[७०] ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, जब दोष एवं ज्ञानावरण का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, तो केवल ज्ञान प्रकट होता है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण द्रव्यों का उनकी विभिन्न पर्यायों के साथ साक्षात्कार होता है। अकलङ्क ने भी सर्वज्ञता की सिद्धि की है, वे कहते हैं कि सर्वज्ञ है, क्योंकि उसकी सिद्धि में बाधक प्रमाण का नहीं होना सुनिश्चिय है।[७१] अकलङ्क यह भी प्रतिपादित करते हैं कि सर्वज्ञता का स्वीकार

---

६८. क्षणिकत्वनैरात्म्यादि भावनायाः...दक्ष्यते।। स्यासद्वादरत्नाकर, पृ०–३६२

६९. द्रष्टव्य बौद्धप्रमाण मीमांसा की०–के जैन प्रत्यक्ष वाले अध्याय में वर्णित–पृ०–१३७

७०. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथां अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिसर्वज्ञसंस्थितिः।। आप्तमीमांसा–५

७१. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासः भवबाधप्रमाणाऽभावात् सुखादिवत्।। सिद्धिविनिश्चय, पृ०–५३७

किये बिना अत्यन्त अपरोक्ष अर्थ ज्योतिष, नक्षत्र आदि का अविसंवाद ज्ञान होना संभव नहीं है।[७२]

जैन दार्शनिकों द्वारा सर्वज्ञता की सिद्धि में निरतिशय ज्ञान का भी हेतु दिया गया है। हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि परिमाण के अतिशय के समान प्रज्ञा के तारतम्य की कहीं विश्रान्ति होना चाहिए। यह विश्रान्ति अथवा निरतिशय प्रज्ञा केवल ज्ञान में होती है।[७३]

इस प्रकार ज्ञानावरण के सम्पूर्णक्षय, बाधका भाव, प्रज्ञा की निरतिशयता, अत्यन्त अपरोक्ष अर्थों का अविसंवादी ज्ञान जैन दर्शन में सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं।

बौद्धदर्शन के प्रवर्तक भगवान् गौतम बुद्ध स्वयं संसार के शाश्वत् अशाश्वत् होने आदि अनेक प्रश्नों के उत्तर अव्याकृत छोड़ देते हैं। यही कारण है कि बौद्धदर्शन में बुद्ध की सर्वज्ञ मानने की परम्परा जैन दर्शन की भाँति बलवती नहीं रही है। धर्मकीर्ति ने बुद्ध की सर्वज्ञता की सिद्धि पर बल नहीं दिया, किन्तु प्रज्ञाकरगुप्त, शांतरक्षित आदि ने सर्वज्ञता को महत्त्व दिया है। धर्मकीर्ति ने बुद्ध में सर्वज्ञता का प्रतिषेध तो नहीं किया, किन्तु सर्वज्ञता को महत्व नहीं देकर उनकी धर्मज्ञता पर बल दिया है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि–"हेय एवं उपादेय तत्त्वों को साभ्युपाय जानने वाला पुरुष हमें प्रमाण रूप में इष्ट है, समस्त अर्थों को जानने वाला नहीं। हमें तो संसार दुःख के शमन करने वाले ज्ञान का विचार करना चाहिए। उन ज्ञानवान् पुरुषों को कीड़े-मकोड़ों की संख्या का ज्ञान है कि नहीं, इससे हमें क्या प्रयोजन है? कोई ज्ञानवान् पुरुष दूरवर्ती वस्तु को देखे या ना देखे, किन्तु उसे आर्यसत्यचतुष्टयं रूप इष्ट तत्त्व का ज्ञान होना चाहिए। यदि दूरदर्शिता पुरुष प्रमाण होता है तो आइये मुमुक्षुओं! हम दूरदर्शी गिद्धों की उपासना करें।[७४]

इससे स्पष्ट होता है कि धर्मकीर्ति की आस्था भगवान् बुद्ध को जगत् के

---

७२. धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः...साधनान्तरम्।। सिद्धि विनि०, पृ०–४१३
७३. प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादि सिद्धेस्तत्सिद्धिः। प्रमाणमीमांसा–१, १, १६
७४. तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्यविचार्यताम्। कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते।। १. ३३।। प्रमाणवार्तिक हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः। य प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः।। १. ३४।। प्रमाण वार्तिक–
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं....गृध्रानुपास्महे।।१. ३५।। प्रमाण वार्तिक

समस्त पदार्थों का ज्ञाता मानने में नहीं, अपितु दुःख से मुक्ति के उपदेष्टा धर्मज्ञ मानने में है। धर्मकीर्ति का यह मन्तव्य जैन दार्शनिकों के विरोध में जाता है क्योंकि जैनदार्शनिक भगवान् महावीर या केवल ज्ञानी पुरुषों को जगत् के समस्त अर्थों का ज्ञाता मानते हैं।

धर्मकीर्ति के अनन्तर प्रज्ञाकरगुप्त, शान्तरक्षित आदि बौद्ध दार्शनिकों ने भी संभवतः अन्यमतावलम्बियों से प्रभावित होकर बुद्ध में सर्वज्ञता का स्थापन किया है। प्रज्ञाकरगुप्त का कथन है कि साधक के वीतराग होने पर उसे समस्त अर्थों का ज्ञान हो सकता है। वीतराग पुरुष समाधियुक्त होकर समस्त अर्थों का निश्चित ज्ञान कर लेता है।[७५] शान्तरक्षित ने प्रतिपादित किया है कि सर्वज्ञ पुरुष में ऐसी शक्ति होती है कि वह जिस वस्तु का ज्ञान करने की इच्छा करता है उस वस्तु का उसे ज्ञान हो जाता है। वह शक्ति वीतराग पुरुष में ज्ञेय पदार्थों के आवरण का क्षय होने पर प्राप्त होती है।[७६] नागसेन ने भी शान्तरक्षित के जैसा ही मत प्रकट किया है।[७७]

इस प्रकार बौद्ध एवं जैन दार्शनिक सर्वज्ञता के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। बौद्ध दार्शनिकों से सर्वज्ञता को उत्तरकाल में महत्त्व दिया भी, किन्तु वीतराग पुरुष में सब पदार्थों को जानने की मात्र शक्ति बतलायी है। जिससे वीतराग पुरुष जिस अर्थ को जानना चाहे, जान सकता है, जबकि जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञाता को सदैव समस्त अर्थों का ज्ञाता प्रतिपादित किया है। यह अवश्य है कि प्राचीन जैनागम आचाराङ्ग सूत्र में सर्वज्ञ को त्रिलोकवर्ती जगत् के पदार्थों का ज्यादा प्रतिपादित नहीं किया गया है। सर्वज्ञता के प्रतिपादन में आचाराङ्ग सूत्र में कहा गया है–"जो एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" अर्थात् जो एक को जानता है वह सबको जानता है एवं जो सबको जानता है वह एक को जानता है।[७८] पं०सुखलाल संघवी ने इसका अर्थ द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ को

---

७५. ततोऽस्या वीतरागत्वे सर्वार्थ ज्ञानसंभवः...विनिश्चितम्।। प्रमाणवार्तिक, पृ०–३२९

७६. यद् यद् इच्छति बौद्धुं वा तत्तद् वेति नियोगतः। शक्तिरेवंविधा ह्यस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ।। तत्त्वसङ्ग्रह, ३६, २८

७७. भन्ते नागसेन, बुद्धो सब्बञ्जू सबब्दस्सासीति? आम् महाराज भगवा सब्बम्भूसब्बदस्सावीति। मिलिन्दपञ्हपालि, पृ०–६०

७८. आचाराङ्ग सूत्र–१. ३. ४.।।

जानने से लिया है, अर्थात् जो एक द्रव्य को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक या द्रव्यपर्यायात्मक रूप में समानभाव से जानता है वह सर्वत्र होता है।[७९] बाह्य पदार्थों की सर्वज्ञता को पं० सुखलाल संघवी ने अंगी नहीं किया है। इस प्रकार पं० सुखलाल संघवी क मत को स्वीकार करने पर बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित सर्वज्ञता में विषय की दृष्टि से कोई भेद नहीं रह जाता है।

सर्वज्ञता का प्रश्न सदैव विवाद का विषय रहा है। जगत् के समस्त बाह्य पदार्थों की समस्त पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना एक वीतराग या मुक्ति प्राप्त अरिहन्त के लिए निष्प्रयोजन लगता है, जिन्होंने राग-द्वेष समाप्त कर आत्मज्ञान या केवल ज्ञान प्राप्त किया है उन्हें बाह्य पदार्थों से भोग करना या उन्हें निरुद्देश्य जानते रहना उपयुक्त नहीं लगता है। यह अवश्य है कि बाह्य पदार्थों की विनश्वरता या उत्पादव्ययता को जानते हैं तथा वीतराग होने के पश्चात् उन्हें कुछ नया जानना भी शेष नहीं रहता है। जानना शेष न रहने के अर्थ में वीतराग को सर्वत्र कहा जाये तो अधिक उपयुक्त लगता है।[८०] यही कारण है कि जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय से आत्मज्ञाता में सर्वज्ञता स्वीकार की है तथा बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने बुद्ध की धर्मज्ञता को महत्त्व दिया है।

बौद्धदर्शन में अनुमान प्रमाण :—बौद्ध के विचार में 'विषय' प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद से ही दो प्रकार का होता है। परस्पर एक दूसरे के भेद पदार्थों में तृतीय प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। इसलिए विषय[८१] के द्वैविध्य से बौद्ध प्रमाण भी दो प्रकार के मानते हैं। प्रमाणों का वर्गीकरण करने का विषय के अतिरिक्त कोई अन्य आधार नहीं हो सकता, जब दो ही विषय हैं तो किसलिए तृतीय प्रमाण का स्वीकार किया जाए।[८२]

विषय का द्वैविध्य क्यों है? इसको स्पष्ट करते हुए मनोरथ नन्दी कहते

---

७९. पं० सुखलाल संघवी लिखते हैं कि—जैन परम्परा का सर्वज्ञत्व संबन्धी दृष्टिकोण मूल में केवल इतना ही था कि द्रव्य और पर्याय उभय को समानभाव से जानना ही ज्ञान की पूर्णता है। दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ०—५५८.

८०. श्री कन्हैया लाल लोढा का लेख—सर्वज्ञ की सर्वज्ञता भी द्रष्टव्य है। जीत अभिनन्दन ग्रन्थ, द्वितीय खण्ड, पृ०—१५३

८१. तेहि प्रमेय द्वैविध्यात् प्रमाणं द्विविधं जगुः। नान्यप्रमाणभेदस्य हेतु विषयभेदतः। न्या०म०आ०। प्रमा०प्र०।

८२. प्रमाण द्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्। न्या०म०आ०।

हैं।[८३] स्वलक्षण अर्थ क्रिया में समर्थ होता है, और विजातीय के निषेध के लिए परिकल्पित सामान्य अर्थक्रिया समर्थ न होने से विषय का द्वैविध्य होता है। जहाँ विषय के अतिरिक्त अन्य निमित्त से सद्भाव अस्तित्व "बुद्धि होती है, वह सामान्य है और जहाँ नहीं होती वह स्वलक्षण है।" इस प्रकार विषय का द्वैविध्य का प्रतिपादन करता है।[८४] यहाँ प्रश्न उठता है कि अनुमान यदि सामान्य विषय ज्ञान है जिसमें अर्थ क्रियाकारित्व रूप अविसंवादकत्व नहीं है वह भ्रान्ति क्यों नहीं है? और भ्रान्ति है तो प्रमाण क्यों नहीं है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वार्तिकार[८५] कहते हैं कि अनुमान यदि सामान्य विषयक ज्ञान है तो वह भ्रान्ति ही है किन्तु भ्रान्ति होने पर भी अभिप्राय का अविसंवाद से उसमें भी प्रमाणतत्त्व है। इस विषय में प्रमाण वार्तिकार[८६] का कहना है कि मणि और प्रदीप दोनों की प्रभा में यह मणि ही है। इस प्रकार के निश्चय के कारण उसको प्राप्त करने के लिये दौड़ने वाले का मिथ्याज्ञान होने पर भी मणि साध्य अर्थ क्रिया को प्राप्त करता है। दीप प्रभा में मणिप्रभा का अध्यवसाय करने वाला उसे प्राप्त नहीं करता। इसलिये व्याप्ति रूप लिंग अन्य अनुमान अयथार्थ होने पर भी प्रापक हैं। सामान्य लक्षण के विषय में दूसरा कोई प्रमाण नहीं है।[८७]

धर्मकीर्ति के अनुसार व्याख्या में दो प्रकार हैं–(१) स्वार्थानुमान (२) परार्थानुमान। जैसा कि नामों से ही स्पष्ट है कि स्वार्थानुमान के प्रयोग किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये किया जाता है, और दूसरे का प्रयोग किसी दूसरों को जानने के लिए। एक दूसरे का प्रयोग दूसरों को जानने के लिए अनुमान के सभी अवयवों हेतु उदाहरण आदि का प्रयोग आवश्यक होता है।

---

८३. स्वलक्षणस्य अर्थक्रियाशक्तत्वात् विजातीय....अशक्तवाद् विषय–द्वैविध्यम् प्र०बा०मनो०–२–१

८४. यत्र विषय व्यतिरिक्तनिमित्त सद्भावे भवति बुद्धि....एवेति द्वैविध्यमेव विषयस्य–प्रमा०वा०मनो०वृ०–२–२

८५. गतिश्चेत्पररूपेण न च भ्रान्तिः प्रमाणता। अभिप्रायाविसंवादादपि भ्रान्तेः प्रमाणता। प्रमा०वा० २–५५।

८६. मणि प्रदीपप्रमेयोर्मणि बुद्ध्याभिधावतो। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषार्थक्रियां प्रति।। यथा–यथा यथार्थ त्वेऽवेऽप्यमानं तदोभयोः अनुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्।। प्रमा०वा० २–५७।

८७. प्रत्यक्षमनुमानञ्ज प्रमाणं हि लक्षणम् प्रमेय तत्रसिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत्। हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लौजिक में प्रमाण समुच्चय उद्धृत् पृ०–२

अनुमान का लक्षण करते हुए वसुबन्धु[८८] ने वादविधि में प्रमाणों की जो व्याख्या की है वह प्रमाण समुच्चय के जैनेन्द्र बुद्धिकृत भाष्य में आंशिकरूप से उद्धृत है। उसमें अनुमान का लक्षण इस प्रकार किया है कि "अनुमान वहीं है जो प्रत्यक्ष के अवशिष्ट 'विषय' के प्रति आश्वस्त है।"

वसुबन्धु ने न्यायवार्तिक में "नान्तरीय कार्यदर्शनं तद्विदोनुमानम्" यह लक्षण उद्धृत किया है। ऐसा बौद्ध न्याय में ग्रन्थ की टिप्पणी में श्चेरवास्की[८९] लिखते हैं कि आचार्य वाचस्पति मिश्र[९०] वार्तिककार के खण्डन को स्पष्ट करते हुए इसे दिङ्नाग की परिभाषा बतलाते हैं।

आचार्य दिङ्नाग[९१] के अनुमान के लक्षण को वार्तिककार ने इस प्रकार अनुमेय और उसके द्रव्य अर्थात् सजातीय में जिसका अस्तित्व है और अनुमेय और इसके विपरीत से भिन्न में जो नहीं है वह अनुमान है। यह अनुमान का लक्षण हेतु की त्रिरूपता पर आधारित है।

आचार्य धर्मकीर्ति[९२] ने प्रमाणवार्तिक में इस प्रकार लक्षण किया है कि सम्बन्धी के धर्म से धर्म के विषय में जो परोक्षानुभूति होती है, वही अनुमान है। न्याय सिद्धि में धर्मकीर्ति ने अनुमान के दो भेद बतलाये है किन्तु अनुमान का सामान्य लक्षण नहीं बताया है। धर्मोत्तराचार्य[९३] ने इसका कारण बतलाते हुए कहा है कि परार्थानुमान शब्दात्मक है तथा स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है। तत्त्व संग्रहकार[९४] ने भी अनुमान के दो ही भेद बतलाये हैं।

अनुमान के अंग :—बौद्ध-न्याय में अनुमान के अंग और हेतु बतलाये हैं।

---

८८. सेम्पादोर्जा आचार्य द्वारा केन्द्रीय तिब्बती उच्चशिक्षा सं० १९७६ मार्च में आयोजित गोष्ठी में पढ़े गये दिङ्नाग पूर्व प्रमाणमीमांसा" शीर्षक निबन्ध से उद्धृत है।

८९. बौद्ध-न्याय अनुवाद चा०-१९६९ पृ०-२७९

९०. नहि दिङ्नागमते किञ्चिदस्तिवस्तु यन्नान्तरीयक...अपेक्षते इति। न्या०वा०ता०टी०-१. १. ५

९१. अपरे तु मन्यते अनुमेयेऽथ तत्तुल्ये...रूपानुमानम्। न्या०वा०-१. १. ५

९२. सा च सम्बन्धिनो धर्माद् भूति...साधनम्।। प्र०वा०-२-६२

९३. परार्थनुमानं शब्दात्मकं स्वार्थनुमानं तु ज्ञानात्मकम्...भेदः कथ्यते।। न्या०वि०धर्मो०टी० (२) परि०

९४. स्वपरार्थविभागेन त्वनुमानं द्विधेष्यते। स्वार्थ....पुनरुच्यते।। तत्त्व संग्रह अनु०प०श्लो०-१३६२

व्याप्ति का स्वरूप तथा हेतुकार लक्षण प्रमाण वार्तिककार करते हुए कहते[९५] हैं कि अविनाभाव या अवश्यभाव व्याप्ति है जो कार्यकारण भाव या स्वभाव पर आधारित है। न्याय बिन्दु में आचार्य धर्मकीर्ति[९६] ने व्याप्ति के लिए स्वभाव प्रतिबन्ध शब्द का प्रयोग किया है जिससे एक पदार्थ दूसरे का गमक होता है। धर्मकीर्ति के आशय को स्पष्ट करते हुए धर्मोत्तराचार्य[९७] है जो जिसके साथ स्वभाव से प्रतिबद्ध नहीं रहता है वह उसके साथ अव्यभिचरित नहीं रहता है। इसलिए जहाँ अव्यभिचार नियम होता है वहीं अविनाभाव और व्याप्ति रहती है।

व्याप्ति के प्रकार :–भारतीय तर्क विद्या में व्याप्ति के कई प्रकार के वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं, जैसे अन्वयव्याप्ति, व्यतिरेक व्याप्ति, सामान्य व्याप्ति, विशेष व्याप्ति, देशक व्याप्ति, कालिक व्याप्ति, समव्याप्ति असमव्याप्ति अन्तव्याप्ति बहिव्याप्ति आदि। धर्मकीर्ति[९८] आदि बौद्ध तार्किकों ने व्याप्ति का वर्गीकरण दो प्रकार से किया है–अन्वय तथा व्यतिरेक। मनोरथ नन्दी[९९] ने भी धर्मकीर्ति का समर्थन करते हुए कहा है "व्याप्ति दो प्रकार की हैं– व्यापक और व्याप्य इन्हीं दोनों को धर्मकीर्ति ने क्रमशः अन्वय और व्यतिरेक कहा है।

साधर्म्य हेतु का प्रयोग करने पर भी अन्वय हेतु का ज्ञान होता है। उसी प्रकार वैधर्म्य हेतु प्रयोग करने पर अन्वय हेतु का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार साधर्म्य और वैधर्म्य का प्रयोग धर्मोत्तराचार्य को भी अभीष्ट है।[१००]

बौद्धों के अनुसार अनुमान सामान्य विषयक होने से मान्य की ही व्याप्ति होती है, विशेष की नहीं। बौद्धों के इस मत का न्यायवार्तिककार[१०१] टीकाकार वाचस्पति मिश्र[१०२] आदि ने खण्डन करके विशेष व्याप्ति की स्थापना की है।

---

९५. गौतमीय न्याय में व्याप्ति पक्षधर्मता परामर्श आदि को अनुमान का अंग माना है।

९६. कार्यकारणभावाद स्वभावाद् का नियामकात् अविनाभावनियमोऽदर्शनान्नतु दर्शनात्।। प्र०वा०–३–३१

९७. स्वभावप्रतिबन्धे हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्। न्या०वि०–२ परि०।

९८. द्विविधाचेयं व्याप्तिः व्यापकव्याप्यधर्मतया। तत्र व्याप्ये सति...अवुक्तौ।। प्र०पा०वृ० (३)

९९. न्या०वि०धर्मो०टी०–२ परि०।

१००. अन्यत्सामान्यलक्षणम्। सोऽनुमानस्य विषयः। न्या०वि०–२ परि०।

१०१. न्या०वा० १. १. १५

१०२. न्या०वा०ता०टी०–१. १. १५

प्रमुख रूप से बौद्ध ग्रन्थों में व्याप्ति के अन्वय और व्यतिरेक रूप के आधार पर ही वर्गीकरण प्राप्त होता है।

हेतु एवं उसकी त्रिरूपता :–आचार्य धर्मकीर्ति[१०३] भी नैयायिकों के समान पक्षधर्मता को अनुमान का आवश्यक अंग मानते हैं। केवल हेतु में साध्य की व्याप्ति का ग्रहण होने से अनुमान नहीं हो सकता है। इसलिए हेतु का लक्षण करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है कि "पक्षधर्म और सपक्षधर्म साध्य से व्याप्य जो हो वह हेतु है।" हेतु के तीन रूपों में पक्षधर्मता भी एकरूप धर्मकीर्ति मानते हैं। लिंग के अनुमेय में सत्व ही पक्षधर्मता कहलाता है। हेतु का दूसरा रूप है सपक्षधर्मत्व। धर्मोत्तर[१०४] के अनुसार न्यायबिन्दुकार ने सपक्षवृत्तित्व के लक्षण में निश्चित शब्दों का प्रयोग किया है।

इस प्रकार से धर्मकीर्ति के मत में तीन हेतु के रूप हैं। तथापि धर्मोत्तर प्रदीपकार[१०५] दुर्विवेक मिश्र ने अबाधित विषयत्व आदि के योग से चतुर्लक्षणत्व अथवा पञ्चलक्षणत्व मानने वालों के मत का निषेध किया है।

इस प्रकार धर्मकीर्ति और उनके अनुयायी अविनाभाव के साथ ही हेतु की त्रिरूपता को ही अनुमान का आवश्यक अंग मानते हैं।

प्रो० श्चेरवास्की[१०६] के अनुसार पर्याप्त हेतु नियम को ही त्रिरूप लिंगनियम कह सकते हैं। इसके नियमों के सूत्र के रूप में ये तीन बातें हैं। उद्देश्य में उपस्थिति "पक्षसत्त्व" सपक्ष में सत्त्व, और विपक्ष में असत्त्व।

हेतु के भेद :–बौद्ध[१०७] हेतु के तीन प्रकार स्वीकार करते हैं–१. कार्य २. स्वभाव और ३. अनुपलब्ध।

आचार्य धर्मकीर्ति[१०८] ने सर्वत्र तीन प्रकार के ही हेतु बतलाये हैं–अनुपलब्धि

---

१०३. यस्मिन् प्रागुपलब्धश्च नोपलब्धश्च यत्र सः। अन्वयो व्यतिरेकी वा विस्पष्टं तत्र दृश्यते।। तत्त्व सं०अनु०प०–१४०७

१०४. त्रिरूपो हेतुरित्यक्तं पक्षधर्मेतु संस्थितः रूपे रूपं द्वयं शेषं दृष्टान्तेन प्रदर्श्यते। प्रमाण समुच्चय–३ परि०

१०५. न्याय०वि०धर्मो०टी०–२ परि०।

१०६. बौद्ध न्याय श्चेरवास्की अनु०चौ०पृ०–३७६

१०७. त्रिधैवसः प्र०वाव०–३. १

१०८. अनुपलब्धिः स्वभावे कार्ये चेति–न्या०वि०चौ०।

स्वभाव और कार्य। अनुपलब्धि स्वरूप हेतु का उदाहरण देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं, "इस प्रदेश में घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि योग्य होते हुए अनुपलब्ध है उपलब्धि लक्षणा प्राप्त का अर्थ धर्मोत्तराचार्य ने किया है।"

बौद्ध मत में प्रतिषेध की सिद्धि[१०९] :–

प्रतिषेध की सिद्धि बौद्ध मत में दृश्यानुपलब्धि से होती है। क्योंकि वस्तु की विद्यमानता में दृश्यानुपलब्धि नहीं होती है, अविद्यमानता में ही होती है इसलिए दृष्टानुपलब्धि से ही प्रतिषेध 'अभाव' की सिद्धि होती है। अभाव की निश्चायक अनुपलब्धि प्रयोग की विभिन्नता से ग्यारह प्रकार की होती है[११०] –

(१) **स्वाभावानुपलब्धि :–**प्रतिषेध का स्वभाव है उसकी अनुपलब्धि ही स्वाभावानुपलब्धि है।

(२) **कार्यानुपलब्धि :–**प्रतिषेध के कार्य की अनुपलब्धि को कार्यानुपलब्धि कहते हैं।

(३) **व्यापकानुलब्धि :–**प्रतिषेध व्याप्य के व्यापक धर्म की अनुपलब्धि व्यापकानुलब्धि कहलाती है।

(४) **स्वाभावविरुद्धोपलब्धि :–**प्रतिषेध के स्वभाव से विरुद्ध की उपलब्धि स्वाभावविरुद्धोपलब्धि होती है।

(५) **विरुद्ध कार्योपलब्धि :–**प्रतिषेध से विरुद्ध कार्य की उपलब्धि को विरुद्ध कार्योपलब्धि कहते हैं।

(६) **विरुद्धव्याप्तोपलब्धि :–**प्रतिषेध से विरुद्ध के व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि ही विरुद्धव्याप्तोपलब्धि है।

(७) **कार्यविरुद्धोपलब्धि :–**प्रतिषेध के कार्य के विरुद्ध की उपलब्धि कार्यविरुद्धोपलब्धि है।

(८) **व्यापकाविरुद्धोपलब्धि :–**प्रतिषेध के व्यापक के विरुद्ध की उपलब्धि 'व्यापकविरुद्धोपलब्धि' कहलाती है।

(९) **कारणानुपलब्धि :–**प्रतिषेध के कारण की अनुपलब्धि कारणनुपलब्धि है।

---

१०९. उपलब्धिज्ञानम्–तत्प्राप्तोऽर्थो जनकत्वेन साम्यग्भ्रान्त भविवादुपाधिलक्षणप्राप्तो दृश्यं इत्यर्थः–धर्मोत्तर टीका चौ०पृ०–

११०. न्याय वि०पृ०–२ परि०।

(१०) **कारणविरुद्धोपलब्धि :**–प्रतिषेध के कारण विरुद्ध की उपलब्धि को 'कारणविरुद्धोपलब्धि' कहते हैं।

(११) **कारणविरुद्धकार्योपलब्धि :**–प्रतिषेध कारण से विरुद्ध के कार्य को उपलब्धि ही 'कारणविरुद्ध कार्योपलब्धि' होती है।

आचार्य धर्मकीर्ति लिखते हैं कि ये सब कार्यानुपलब्धि आदि इस प्रकार की अनुपलब्धियाँ है उनका अन्तर्भाव स्वभावानुपलब्धि में होता है। तत्त्वसंग्रहकार आचार्य शान्तिरक्षित[१११] ने भी हेतुओं के इन्हीं तीन प्रकारों का समर्थन किया है।

आचार्य दिङ्नाग[११२] ने अनुमान के दो भेद किये हैं–(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान।

(१) **स्वार्थानुमान :**–आचार्य दिङ्नाग ने स्वार्थानुमान का लक्षण इस प्रकार से किया है–कि जो त्रिरूप लिङ्ग के द्वारा अनुमेयार्थ का वर्णन है वह स्वार्थानुमान है। आचार्य शान्तिरक्षित[११३] तथा उनके टीकाकार कमलशील[११४] तथा तर्कभाषाकार मोझाकर गुप्त ने भी अनुमान के इन भेदों को मान्यता देते हुए दिङ्नाग व धर्मकीर्ति आदि के लक्षणों का समर्थन किया है।

(२) **परार्थानुमान :**–बौद्ध परार्थानुमान को वचनात्मक मानते हैं। दिङ्नाग के अनुसार परार्थानुमान स्वदृष्ट अर्थ का प्रकाशन है। परार्थानुमान के लक्षण में स्वयं शब्द के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि एक ही शब्द रूप धर्मी के नाना धर्म होने पर भी अपने अभीष्ट साध्य की सिद्धि के लिये प्रयुक्त साधन के उपन्यास काल में इष्ट धर्म को ही साध्य करना चाहिए। अन्य को नहीं, इस बात को बतलाने के लिए आचार्य दिङ्नाग ने 'स्व' शब्द का ग्रहण किया है।

प्रो० श्चेरवास्की के अनुसार परार्थानुमान ज्ञान का साधन ही है। यह ऐसे तर्क वाक्यों से निर्मित होता है–जिसके उपलब्ध ज्ञान का दूसरे से सूचित करने के लिए उपयोग किया जाता है। परार्थानुमान वह हेतु है जो श्रोता के मन में

---

१११. नायं स्वभावः कार्यं वा दृश्यस्यादृष्टिरेव वा।
न च तद् व्यतिरिक्तस्य भवत्यव्यभिचारता। तत्त्व०सं०–अनु०प०–१४१७

११२. प्रमाणसमुच्चय वृत्ति–४ परि० "द्वादशारनयचक्र।"

११३. तत्त्व संग्रह पंजिका अनु०प०–१४६३–६६

११४. प्र.वा.–४–१–१२.

अनुमिति उत्पन्न करता है। इसलिए इसकी यह परिभाषा त्रिरूप लिंगकथन परार्थानुमान है। निम्नलिखित तीन उदाहरण व परार्थानुमान के भेद को स्पष्ट करते हैं–

स्वार्थ स्वरूप :–(१) शब्द अनित्य है, क्योंकि उसकी इस इच्छा से उत्पत्ति होती है, जैसे घट आदि। यह अनुमान नित्यता और उत्पत्ति दो विकल्पों के तादात्म्य पर आधारित है।

पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धूम है, जैसे–पाकशाला आदि में। यह दो वस्तुओं के मध्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध पर आधारित अनुमान है।

इस स्थान पर घट नहीं है, क्योंकि हमें उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, जैसे हमें गगन कुसुम का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यह अनुपलब्धि पर आधारित अनुमान है।

परार्थ स्वरूप :–(१) जिसकी भी यदृच्छा से उत्पत्ति होती है वह अनित्य होता है। जैसे घट शब्दादि।[११५]

(२) यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्नि यथा महानसे। तथैव अधुनापर्वतो वर्तते धूमः।

(३) जब हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उसकी उपस्थिति को अस्वीकार करते हैं, जैसे आकाशपुष्प को हम अस्वीकार करते हैं, इस स्थान पर प्रत्यक्ष नहीं हो रहा। यद्यपि प्रत्यक्ष की सामग्री विद्यमान है।

न्याय बिन्दु में प्रतिपादित धर्मकीर्ति के लक्षण त्रिरूपलिंग प्रतिपादन में त्रिरूप पद से धर्मोत्तर[११६] ने अन्वय व्यतिरेक और पक्षधर्मत्व का ग्रहण किया है, जो अन्ततः व्याप्ति तथा पक्षधर्मता का सूचक है।

न्यायबिन्दुकार[११७] ने परार्थानुमान के दो भेद किये हैं–(१) साधर्म्यवत् और (२) वैधर्म्यवत्।

साधर्म्यवत् और वैधर्म्यवत् दोनों ही प्रकारों के अनुमानों का प्रयोग[११८] अनुपलब्धि स्वभाव और कार्य तीनों ही हेतुओं में होता है। अनुपलब्धि हेतु के

११५. बौद्ध न्याय–अनु०चौ०।

११६. त्रीणि रूपाण्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां धर्मत्वसंज्ञकाणि यस्य। न्या०वि०धर्मो०–३ परि०।

११७. न्या०वि. ३ परि०।

११८. न्या०वि०धर्मो० ३ परि०।

उपलब्धि योग्य होते हुए भी जो उपलब्ध नहीं है वह असद् व्यवहार योग्य है। अनुपलब्धि हेतु के प्रयोग में जो सत् और उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता है, वह अवश्य उपलब्ध होता है जैसे नील आदि वस्तु विशेष।

स्वभाव हेतुक[११९] प्रयोग में अनित्यत्व के रहने पर सत्त्व कृतकत्व यथा उत्पत्तिमत्व नहीं रहता है, शब्द सत् होते हुए उत्पत्तिमान् तथा कृतक है। यह स्वभाव हेतु का प्रयोग है। कार्य हेतुक प्रयोग में अग्नि के न रहने पर धूम भी नहीं रहता।

आचार्य कुमारिल[१२०] के अनुसार सम्बन्ध दो प्रकार का है–प्रत्यक्षदृष्ट सम्बन्ध और सामान्य दृष्ट सम्बन्ध।

इस प्रकार आचार्य दिङ्नाग से लेकर कमलशील[१२१] तक सभी बौद्ध विचारक अनुमान का स्वार्थ व परार्थ के रूप में वर्गीकरण उचित मानते हैं। दिङ्नाग से पूर्व अनुमान का स्वार्थ व परार्थ के रूप में वर्गीकरण उपलब्ध नहीं होता। दिङ्नाग के अनुसार बौद्ध परम्परा में आचार्य दिङ्नाग[१२२] को मीमांसक के समान पक्ष, हेतु, दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रयोग ही मान्य है, साध्यवाक्य अर्थात् प्रति की व्यर्थता को धर्मकीर्ति[१२३] ने कहा है–"जिसके विषय में विवाद होने पर साधन का उपन्यास किया जाता है, उसकी सिद्धि की इच्छा करने वाले द्वारा साध्य का अर्थात् प्रतिज्ञा का उच्चरण न करने पर भी उसके विषय में विवाद होने से वही साध्य है।"

निगमन को "अनुमान-साधनानि" मानने वाले उद्योतकारादि के मत में खण्डन करते हुए शान्तिरक्षित[१२४] कहते हैं कि साध्य विपर्यय की शंका की निवृत्ति के लिए निगमन का प्रयोग आवश्यक है। आचार्य कमलशील[१२५] भी

---

११९. न्या०वि०धर्मो० ३ परि०।

१२०. तत्त्व संग्रह पंजिका श्लोक–१४४६–१४५१।

१२१. अनुमानं स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधम्–तत्त्व सं०पं०अनु०-प्र०–१३६१।

१२२. पक्षहेतु दृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानाम् प्रतितोर्थः प्रतिपद्यत इति। न्या०प्र०–सू०–२।

१२३. तत् पक्षवचनं वक्तुरभिप्रायनिवेदने। "प्रमाणं संशयोत्पत्तेः स्वतः साक्षान्न साधनम्"। प्र०वा०–४–१६

१२४. त्रिरूपहेतु निर्देशः सामर्थ्यादेव सिद्धितः। न विपर्यय....निगमसंततः त०सं०अनु०प०–१४३७

१२५. तत्त्वसंग्रहपञ्चिका अनु०प०–१४३९।

निगमन की व्यर्थता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–"हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञाया: पुनर्वचनं निगमनम्" इस निगमन लक्षण के अनुसार प्रति का ही पुनः कथन निगमन है जब प्रतिज्ञा का प्रयोग ही निरर्थक सिद्ध किया जा चुका है तो निगमन का प्रयोग भी निरर्थक है।

आचार्य दिङ्नाग[१२६] ने भी निगमन को पुनरुचित होने से साधनाङ्ग नहीं माना है। न्यायबिन्दु[१२७] में भी दृष्टान्त को साधनाङ्ग नहीं माना है। बौद्धमत[१२८] में न्यायावयवों का प्रयोग निम्न प्रकार से है–

स्वभाव हेतु साधर्म्यवत् प्रयोग

उदाहरण : जो सत् होता है।

उपनय : शब्द सत् है।

वैधर्म्यवत् प्रयोग :–

उदाहरण : जो अनित्य नहीं होता है वह सत् नहीं होता, जैसे–आकाश।

उपनय : जो शब्द सत् है। कार्यहेतु

साधर्म्यवत् प्रयोग :–

उदाहरण : जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जैसे–महानस में।

उपनय : यहाँ धूम है।

अनुपलब्धि हेतु :–

साधर्म्यवत् प्रयोग :–

उदाहरण : जो उपलब्धि योग्य होते हुए उपलब्ध नहीं है, वह असद् व्यवहार का विषय होता है। जैसे–खरगोश के सींग।

उपनय : इस प्रदेश विषय में उपलब्धि लक्षण प्राप्त घट उपलब्ध नहीं होता है।

वैधर्म्यवत् प्रयोग :–

उदाहरण : जो सत् और उपलब्धि लक्षण प्राप्त होता है वह अवश्य उपलब्ध नहीं होता है। जैसे–नील आदि।

---

१२६. न्या०प्र०सू०प्र०–१२१, तत्त्व सं०प०अनु०प०–१४३९।

१२७. त्रिरूपो हेतुरुक्त:। तावतैवार्थप्रतीतिर्न पृथक् दृष्टान्तो नाम साधनावयव: कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं। न्या०वि०–३ परि–२

१२८. न्या०वि०–३ परि।

उपनय : उसी प्रकार यहाँ उपलब्धि लक्षण प्राप्त सद्घट की उपलब्धि नहीं है।

अनुमान के दोष :–बौद्ध मत के अनुसार अनुमान के दोष तीन प्रकार के होते हैं–(१) पक्षाभास (२) हेत्वाभास (३) दृष्टान्ताभास।

(१) **पक्षाभास** :–आचार्य धर्मकीर्ति[१२९] ने पक्षाभास के चार भेद स्वीकार किये हैं–प्रत्यक्षनिराकृत, अनुमान निराकृत, प्रतीतिनिराकृत और स्ववचन निराकृत।

(१) **प्रत्यक्ष निराकृत** :–जिस पक्ष का प्रत्यक्ष द्वारा निराकरण होता है वह प्रत्यक्ष निराकृत 'पक्षाभास' कहलाता है।

(२) **अनुमान निराकृत** :–जिसमें पक्ष अनुमान के द्वारा बाधित होता है, उसे अनुमान निराकृत पक्षाभास कहते हैं।

(३) **प्रतीति निराकृत** :–प्रतीति का अर्थ है कि विकल्प विज्ञान का विषय। शशि चन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है। यह कथन प्रतीति के द्वारा निराकृत होता है।

(४) **स्ववचन निराकृत** :–प्रतिज्ञार्थ वाचक शब्द से निराकृत पक्ष स्ववचन निराकृत पक्षाभास कहलाता है।

न्याय प्रवेश[१३०] में आचार्य दिङ्नाग ने नौ प्रकार के पक्षाभास उपस्थित किये हैं।

(१) **प्रत्यक्ष-विरुद्ध** :–जैसे शब्द श्रवण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

(२) **अनुमान-विरुद्ध** :–जैसे घट नित्य है, यह प्रतिज्ञा, घट अनित्य है, क्योंकि कृतक है इस अनुमान के विरुद्ध है।

(३) **आगम-विरुद्ध** :–वैशेषिक का कथन शब्द नित्य है।

(४) **लोक-विरुद्ध** :–नरकपाल पवित्र है। यह प्रतिज्ञा लोक विरुद्ध है। लोक में नरकपाल अशुचि के रूप में प्रसिद्ध है।

(५) **स्ववचन-विरुद्ध** :–जैसे मेरी माता बन्ध्या है। यहाँ प्रतिज्ञार्थ-प्रतिज्ञार्थ वाचक शब्द से ही बाधित है।

---

१२९. न्या०वि० ३ परि०।
१३०. न्याय प्रवेश पक्षाभास प्र०पृ०–२।

(६) **अप्रसिद्ध-विशेषण** :–सांख्यकों का बौद्धों के प्रति कथन आत्मा चेतन है।

(७) **अप्रसिद्ध विशेषण** :–बौद्धों का सांख्यों के प्रति यह कथन शब्द विनाशी है।

(८) **अप्रसिद्धोभय** :–वैशेषिक का बौद्धों के प्रति यह कथन आत्मा सुख आदि का समवायि कारण है।

(९) **प्रसिद्धसम्बन्ध** :–शब्द श्रावण है। पक्षदोष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्ति[१३१] कहते हैं कि सभी हेतु आदि दोषों से पक्ष ही बाधित होता है, इसलिए जो मात्र पक्ष से ही सम्बन्ध दोष है वे ही पक्ष दोष हैं।

(२) **हेत्वाभास** :–हेत्वाभास का लक्षण करते हुए आचार्य धर्मकीर्ति[१३२] कहते हैं कि विरूप लिंग के आख्यान को परार्थानुमान कहा है। उसके तीन रूपों में से एक रूप के न कहने पर एक रूप से अप्रसिद्ध होने पर या उसके विषय में संदेह होने पर हेत्वाभास होता है।

बौद्ध परम्परा के हेत्वाभासों का विवेचन हमें सर्वप्रथम आचार्य नागार्जुन[१३३] के उदय हृदय में मिलता है। आचार्य नागार्जुन ने आठ प्रकार के हेत्वाभास माने हैं–(१) वाक् छल (२) सामान्य छल (३) संशयसम (४) कालातीत (५) प्रकरणसम (६) वर्ण्यसम (७) सव्यभिचार (८) विरुद्ध।

आचार्य वसुबन्धु ने अपनी वाद निधि में तीन प्रकार के हेत्वाभास बताये हैं–(१) असिद्ध (२) अनिश्चित (३) विरुद्ध।

आचार्य दिङ्नाग के[१३४] अनुसार हेतु चक्र प्रमाण से हेत्वाभास दो प्रकारों अनैकान्तिक तथा विरुद्ध तथा उनके अवान्तर भेदों का ज्ञान होता है। असिद्ध के अवान्तर भेदों का वर्णन न्याय प्रवेश[१३५] में उपलब्ध होता है। डॉ० विद्याभूषण के

१३१. सर्वे पक्षस्य बाधतः तस्मात् तन्मात्रसङ्गमिनः पक्षदोषा मता नान्ये प्रत्यक्षादिवेशेषवत्। प्र०वा०–४८३

१३२. न्या०वि० ३ परि०।

१३३. उपाय–हृदय।

१३४. तत्र च। सन् सजातीये द्वेधा चासन् तदव्येषा सहेतुविपरीतोऽस्माद् विरुद्धोऽन्यस्त्वनिश्चितः। प्रमाण समुच्चय अध्याय–३ न्या०वा०ता०टी० में उद्धृत पृ०–२९९।

१३५. न्या०प्र०हेत्वा०प्र०।

अनुसार दिङ्नाग[१३६] ने चौदह प्रकार के हेत्वाभास अवान्तर भेद सहित स्वीकार किये हैं। इस प्रकार से असिद्ध के चार भेद स्वीकार किये हैं–(१) उभयसिद्ध (२) अन्तरासिद्ध (३) संदिग्धसिद्ध (४) आश्रयसिद्ध। धर्मकीर्ति व प्रशस्तपाद ने भी इन्हीं चार भेदों का समर्थन किया है।

आश्रयसिद्ध[१३७] धर्मी अर्थात् आश्रय से असिद्ध होने पर हेत्वाभास होता है। अनैकान्तिक[१३८] असिद्ध के समान ही एकरूप असपक्षासत्व के बाधित होने से अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास होता है। एकान्त का अर्थ है निश्चय का प्रयोजन। जिसको ऐकान्तिक कहते हैं। इस प्रकार साध्य और साधनाभाव संशय का जनक होता है उसे हेतु अनैकान्तिक या हेत्वाभास कहते हैं।

न्याय प्रवेशकार[१३९] अनैकान्तिक के छः भेद स्वीकार करते हैं :–१. साधारण २. असाधरण ३. सपक्षैक देशवृत्ति विपक्ष व्यापक ४. विपक्षैकदेश वृत्तिपक्ष व्यापी ५. उभयपक्षैक देशवृत्ति एवं ६. विरुद्धाव्याभिचारी।

विरुद्ध[१४०] हेतु में से तीन रूपों में से दो रूपों का अभाव होने पर विरुद्ध होता है। आचार्य दिङ्नाग ने विरुद्ध के चार भेद प्रदर्शित किये हैं, जिनमें धर्म विशेष विपरीत साधन या प्रच्छन्न विरुद्ध को हेत्वाभास माना है। आचार्य धर्मकीर्ति[१४१] इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास नहीं मानते हैं। उनका विचार है कि अनुमान वाक्य में प्रयोग किये गए साध्यवाचक शब्द का एक ही अर्थ हो सकता है। आचार्य दिङ्नाग ने एक और हेत्वाभास विरुद्ध व्यभिचारी माना है। विरुद्ध व्यभिचारी भी संशय का जनक होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में विरुद्ध व्यभिचारी हेत्वाभास का खण्डन किया है। उनका कहना है कि अनुमान का विषय प्रमाणसिद्ध व नैरूप्य है। प्रमाण सिद्ध हेत्वाभास वही हो सकता है जो त्रिरूपता के होने पर प्रमाण सिद्ध हो। विरुद्ध व्यभिचारी का कोई प्रमाणसिद्ध स्वरूप नहीं है। आचार्य अर्वर ने दिङ्नाग की आलोचना करते हुए कहा है कि किसी भी अनुमान में साध्य निश्चय के लिए एक ही हेतु का उपादान किया जाता है। इसलिए उसके विरुद्ध दूसरा हेतु व्यर्थ है।

---

१३६. न्या०प्र०हेत्वा०प्र०।
१३७. न्या०वि० ३ परि०।
१३८. न्या०वि० ३ परि०।
१३९. न्या०वि० २ (वही)।
१४०. न्या०वि० ३ परि०।
१४१. न्या०प्र०हेत्वा०प्र०।

(३) **दृष्टान्ताभास** :–आचार्य धर्मोत्तर[१४२] ने दृष्टान्ताभास का लक्षण करते हुए कहा है कि "पूर्वोक्त सिद्धि के लिए प्रयुक्त किया गया दृष्टान्त जब अपने कार्य की सिद्धि में समर्थ नहीं होता तब वह दृष्टान्त दोष है।"

दृष्टान्ताभास के मुख्यत: दो भेद साधर्म्य दृष्टान्ताभास और वैधर्म्य दृष्टान्ताभास होते हैं। दिङ्नाग ने न्याय प्रवेश[१४३] में साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्ताभासों के पाँच-पाँच भेद व्यक्त किये हैं।

साधर्म्य-दृष्टान्ताभास :–१. साधनधर्मासिद्ध, २. साध्यधर्मासिद्ध, ३. उभयधर्मासिद्ध, ४. अनन्वय और ५. विपरीतान्वय।

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास :–१. साध्याव्यावृत्त, २. साधनाव्यावृत्त, ३. उभयाव्यावृत्त, ४. व्यतिरेक, ५. विपरीत व्यतिरेक।

आचार्य धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के इन दृष्टान्ताभासों के अतिरिक्त अन्य आठ भेद बतलाये हैं, इससे धर्मकीर्ति के अनुसार १८ प्रकार के दृष्टान्ताभास होते हैं, जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं।

साधर्म्यदृष्टान्ताभास :–१. साध्य विकल, २. साधन विकल, ३. उभय विकल, ४. संदिग्ध साध्य, ५. संदिग्ध साधन, ६. सन्दिग्धोभय, ७. अनन्वय, ८. अप्रदर्शितान्वय, ९. विपरीतान्वय।

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास :–१. साध्यव्यतिरेकी, २. साधनाव्यतिरेकी ३. उभयव्यतिरेकी ४. सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक ५. सन्दिग्ध साधन व्यतिरेक ६. सन्दिग्धोभयव्यतिरेक ७. अव्यतिरेक ८. अप्रदर्शित व्यतिरेक ९. विपरीत व्यतिरेक।

अनुमान के लिए व्याप्ति का महत्त्व :–

व्याप्ति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में दर्शनों में विभिन्न नाम उत्पन्न होते हैं, व्याप्ति, अविनाभाव, साहचर्य नियम, समय, अनौपाधिक सम्बन्ध, सम्बन्ध आदि। आचार्य जयन्त[१४४] के अनुसार व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव नित्य साहचर्य है अन्य ग्रन्थकारों के समान जयन्त ने भी व्याप्ति को अनुमान का अंग माना है।

---

१४२. न्या०वि० ३ (वही)

१४३. पूर्वोक्तसिद्धये च उपादीयमानोऽपि दृष्टान्तो न समर्थः स्वकार्यसाधयितुं सदृष्टान्तदोष इति। न्या०वि०धर्मो० ३ परि० पृ०–१५।

१४४. नियमस्मृतेरिति विप्रयंता कोऽयं नियमोनाम....साहचर्यमित्यर्थः। न्या०म०आ०

आचार्य उदयन[१४५] निरूपाधि सम्बन्ध से अव्यभिचार को व्याप्ति कहना चाहते हैं। वैशेषिकों के अनुसार अनुमान का मुख्य तार्किक कहना चाहते हैं। वैशेषिकों के अनुसार अनुमान का मुख्य तार्किक अंग व्याप्ति या साहचर्य दर्शन है, व्याप्ति ग्रहण के प्रकार को व्यक्त करते हुए प्रशस्तपाद[१४६] कहते हैं कि विधि है जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, अग्नि के न रहने पर धूम नहीं रहता है। इस प्रकार प्रसिद्ध व्याप्ति 'संयम' वाले असन्दिग्ध धूम के दर्शन और साहचर्य स्मरण के पश्चात् अग्नि का अध्यवसाय होता है। व्याप्ति के स्वरूप रूप को उपस्थित करते हुए प्रमाण वार्तिककार[१४७] कहते हैं कि अविनाभाव या अवश्यभाव व्याप्ति है जो कार्य कारण भाव या स्वभाव पर आधारित है। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति[१४८] ने व्याप्ति के लिए स्वभाव प्रतिबन्ध शब्द का प्रयोग किया है।

अन्य तार्किकों के समान ही जैन तार्किक भी अनुमान का मुख्य आधार व्याप्ति को मानते हैं। आचार्य हेमचन्द्र[१४९] ने आचार्य मणिक्यनन्दी की तरह ही अविनाभाव को व्याप्ति स्वीकार किया है। आचार्य धर्मभूषण के अनुसार साध्य और साधन में गम्यगमक भाव को सिद्ध करने वाला व्यभिचार से रहित जो सम्बन्ध है उसी को अविनाभाव कहा जाता है। आचार्य ने व्याप्ति के दो रूप प्रदर्शित किये हैं, प्रथम रूप में आयोग व्यवच्छेद रूप से व्याप्ति के दो रूप अन्य किसी भी जैन तर्क शास्त्री ने स्वीकार नहीं किये हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र[१५०] ने व्याप्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है–१. बहिर्व्याप्ति २. साकल्य व्याप्ति ३. अन्तर्व्याप्ति।

आचार्य गंङ्गेश[१५१] ने पूर्व पक्ष व्याप्ति के पाँच स्वरूप उपस्थित किये हैं। "यत्र-यत्र हेतुस्तत्र तत्र साध्यम्" इस प्रकार व्याप्ति होती है। साध्यसाधन की

---

१४५. स्वभाविको निरूपाधिरित्यर्थः यद्यपि....अवश्यं व्यभिचारः।। न्या०परि०–१. १. ५।

१४६. विधिस्तु यत्र धूमः साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरम् अवन्यध्यवसायो भवति। प्र०भा०अनु०प्र०पृ०–२९४।

१४७. कार्यकारणभावाद् स्वभावाद् वा नियमाकात्। अविनाभाव नियमोऽदर्शनात्तु दर्शनात्। प्र०वा०–३-३१।

१४८. स्वभावप्रतिबन्धो हि सत्यर्थोऽर्थं गमयेत्। न्या०वि० २ परि०।

१४९. प्र०र०भा०पृ०–१४८।

१५०. तर्कात्तन्निर्णयः परीक्षामुख सूत्र०–३-१५ र०मा०पृ०–१४७।

१५१. तत्त्वचिंतामणि व्याप्ति पञ्च प्र०पृ०–१०१ कलकत्ता।

व्याप्ति को "अन्वय व्याप्ति" साध्याभाव साद्यन्तभाव की व्याप्ति का नाम "व्यतिरेक व्याप्ति" तथा दोनों ही व्याप्ति का नाम "अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति" है। इस प्रकार व्याप्ति के तीन भेद होने से अनुमान के भी उक्त तीन भेद हैं।[१५२]

तत्पूर्वक पद से लिंग-लिंगी के सम्बन्ध का ज्ञान तथा लिंग ज्ञान अभिप्रेत है।[१५३] "विभिन्न दर्शनों में लिंग-लिंगी, साहचर्य ज्ञान, पक्ष, पक्षतादि पर विचार सपक्ष-विपक्ष परामर्श ज्ञान पर विचार।"

न्यायदर्शन के विचारकों के अनुसार अनुमान में लिंग और लिङ्गी दोनों की ही विद्यमानता रहती है। जयन्तभट्ट[१५४] ने पञ्चलक्षण युक्त ज्ञान लिङ्ग अथवा लिङ्ग ज्ञान की व्याप्ति स्मरण से युक्त होने पर प्रमाण[१५५] और लिङ्गज्ञान को उसका फल माना है। आचार्य उदयन[१५६] भी तृतीय लिङ्ग परामर्श को ही अनुमान मानते हैं। जयन्त के अनुसार लिङ्ग और लिङ्गी अर्थात् हेतु और साध्य का सम्बन्ध साहचर्य सम्बन्ध है। साहचर्य नियम ग्रहण मात्र से अनुमिति होती है। अनुमिति के पूर्व साहचर्य का दर्शन नहीं होता। अपितु पूर्व साहचर्य का दर्शन नहीं होता। अपितु पूर्व गृहीत साहचर्य का अनुमिति के पूर्वकाल से स्मरण होकर अनुमिति होती है।[१५७]

लिङ्ग और लिङ्गी को न्यायदर्शन में बहुत अच्छे ढंग से समझाया गया है। जैसे-"परीक्षार्थं लिङ्ग्यते गम्यते इति लिङ्गम्" जिससे परोक्षार्थ माना जाये वही लिङ्ग है और लिङ्गमस्यास्तीति लिङ्गी" जो लिङ्ग से सिद्ध हो उसका नाम लिङ्गी है। लिङ्ग हेतु यह दोनों और लिङ्ग तथा साध्य यह दोनों पर्याय शब्द हैं।[१५८] अनुमान

---

१५२. अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापककर्मिष्यते। साध्या भावोन्यथा व्याप्यः व्यापकः साधनाव्ययः। व्याप्यव्यापकभावो हि....भवति तत्त्वतः। मीमांसा वार्तिक।

१५३. तत्पूर्वकेन लिंङ्गलिङ्गिनो सम्बन्ध दर्शनं लिङ्गदर्शान्वयाभिसम्बन्धयते। न्या० दर्शन भाष्य।

१५४. अत्रापि लिङ्ग विषयं ज्ञानं ज्ञान....फलमुपवर्णनीयम्। न्या०म०आ०।। प्रम०प्र०।

१५५. न्या०म०आ०प्रमा०प्र०।

१५६. नहि व्याप्ति स्मरणमात्रादनुमितः नापि लिङ्गदर्शनमात्रात् किं तर्हि व्याप्तिविशिष्ट लिङ्गदर्शनात्-न्या०परिशुद्धि पृ०-१. १. ५।

१५७. नियमो हि गृहीतोङ्गमनुमेयप्रमां प्रति। न नारिकेल द्वीपस्थो धूमादग्निं प्रपद्यते। साध्यानुमितिवेलायां न चास्ति नियमः। नियमग्रहण काले....दर्शनात्।। न्या०म०आ०।

१५८. परीक्षार्थं लिङ्गयते गम्यते अनेनेति लिङ्गम्। लिङ्गमस्यास्तीति लिङ्गी। न्या०द०सू० ५ भा०पृ०-४५

केवल वहीं होता है जहाँ लिङ्ग का प्रत्यक्ष होता है, लिङ्गी का नहीं। यदि दूरस्थ पर्वत पर धुआँ उठते देखते हैं तो वह हमारे अनुमान का विषय होता है, क्योंकि हमें वहाँ धुये का प्रत्यक्ष होता है, आग का नहीं। हम धुयें को देखकर ही आग का अनुमान करते हैं। अतः जहाँ धूम है वहीं वह्नि है।[१५९]

न्यायदर्शन भाष्य में कहा है कि जहाँ हेतु रहता है वहीं साध्य रहता है। यह व्याप्ति ज्ञान पूर्वक लिङ्ग-लिङ्गी के स्वरूप को प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव करके किसी अन्यकाल में वैसे हि लिङ्ग-लिङ्गी के अनुमान का नाम ही पूर्ववत्[१६०] है। अनुमान की इच्छा को 'अनुमित्सा' लिंग को लिंगदर्शन का लिंग परामर्श कहते हैं। इसी अभिप्राय से वाचस्पतिमिश्र का कथन है जो व्याप्ति स्मृतिपूर्वक अपने साध्य के एक अधिकरण में रहने वाले लिंग का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उसी का नाम परामर्श है।

परामर्श की आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए आचार्य व्योमशिव[१६१] लिखते हैं कि अविनाभाव का स्मरण अनियत होने से नियत स्थान में अग्नि का ज्ञान नहीं होगा। परामर्श उपनयार्थ होने से उसे स्वीकार न करने पर उपाय का वैयर्थ्य होता ही है। अतः अग्निरध्यवसाय पद से अध्यवसीतेऽनेनत्यध्यवसायः इस व्युत्पत्ति के आधार पर परामर्श रूप ज्ञान का ग्रहण करना चाहिए। कई स्थानों पर हमने अनुभव किया है कि धूम (लिंग) आग (लिंगी) के साथ पाया जाता है। अतः यह सिद्ध है कि जहाँ धूम होता है वही अग्नि होती है। यह तो लिङ्ग-लिङ्गी के साहचर्य ज्ञान सपक्ष विपक्ष परामर्श ज्ञान पक्ष पक्षता ज्ञान का अटल नियम है। "तृतीय लिङ्ग परामर्श" ही ज्ञान के अनुमान का कारण अनुमिति है।

बौद्ध दार्शनिक सामान्यता आदि की कल्पना के लिए अन्त व्याप्ति को ही प्रामाणिक मानते हैं।[१६२] बड़ा काम है, जब किसी विद्वान् के द्वारा कोई निष्कर्ष निश्चित हो जाता है तो पाँच तर्क वाक्यों में प्रस्तुत निष्कर्ष परार्थानुमान कहलाता है। वे पाँच तर्क वाक्य इस प्रकार के हैं–

---

१५९. लिङ्ग-लिङ्गी सम्बन्धदर्शन मात्रं प्रत्यक्षं लिङ्ग दर्शनं द्वितीय लिङ्गदर्शनात्...प्रतिपाति।। न्या०वा०

१६०. सम्बन्ध ग्रहणकाले लिङ्गलिङ्गिनो प्रत्यक्षतः....वर्तते अनुमानम्।। न्या०द०भा०।

१६१. अविनाभाव सम्बन्धस्य। नियतत्वानियत प्रदेशोऽग्नि प्रतिपत्तिर्न स्यात्। उपनय वैयर्थ्यं चोपनययार्थं स्याभ्युपगमात्। व्यो०अनु०प्र०। चौ०पृ०-५७०।

१६२. सिक्स बुद्धि ट्रैक्स्ट्स में रत्नाकर शान्ति द्वारा लिखित अन्तर्व्याप्ति का समर्थन-वि०चौथे०खा०पृ०-१९१।

(१) प्रतिज्ञा –पर्वत अग्निमान है।
(२) हेतु –क्योंकि इसमें धुआँ है।
(३) उदाहरण –यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्नि यथा महानसे।
(४) उपनय –यह पर्वत उसी प्रकार का है।
(५) निगमन –अतः पर्वत पर आग है।

दर्शनों में अनुमान के विभिन्न भेदः–

महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन भेद स्वीकार किये हैं[१६३] :–(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट।

जबकि भाष्यकार वात्स्यायन ने इन प्रकारों की दो प्रकारों से व्याख्या प्रस्तुत की है। न्यायवार्तिककार[१६४] ने त्रिविध पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की है :–व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी तथा अन्वयी बतलाये हैं। इस वर्गीकरण का आधार हेतु के स्वरूप की भिन्नता है। कुछ हेतु पक्ष में रहकर तथा कुछ हेतु विपक्ष में न रहकर साध्य के अनुमापक होते हैं, कुछ पक्ष में रहते हैं लेकिन उनके लिए विपक्ष नहीं होता। कुछ हेतु सपक्ष में रहते हुए विपक्ष के न रहने वाले होते हैं। इस प्रकार के अनुमापक हेतुओं के स्वभाव के आधार पर वार्तिककार ने अनुमानों का वर्गीकरण किया है।

वार्तिककार[१६५] का विचार है कि अनुमानों के अनन्त भेद हैं। जैसे–अन्वय व्यतिरेकी अनुमान के दो भेद हैं–सपक्ष ने वृत्ति और सपक्ष में वृत्ति अवृत्ति। उसी प्रकार अन्वयी के भी दो भेद हैं और व्यतिरेकी एक प्रकार का है। इस प्रकार अनुमान के पाँच भेद हैं। काल के भेद से तीन कालों के आधार पर अनुमान के १५ (पन्द्रह) भेद होते हैं। पुरुष भेद के आधार पर '६०' भेद हैं। फिर उसके अवान्तर अनेक भेद हैं। इस प्रकार से अनन्त संख्या वाले अनुमानों को उक्त तीन प्रकार में संग्रह किया है। इसलिए त्रिविध नियमार्थ है।

उदयन आदि नैयायिकों के समकालीन दार्शनिकों ने अनुमान का वर्गीकरण भिन्न प्रकार से किया है बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने अनुमान में दो भेद–"स्वार्थ"

---

१६३. अथतत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च। न्याय सूत्र०–१. १. ५।
१६४. त्रिविधमिति। अन्वयी व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति। न्या०वा०–१. १. १।
१६५. न्या०वा०ता०टी०–१. १. ५।

और "परार्थ" किया है।[१६६] आगे चलकर नव्यनैयायिकों ने अनुमान के भेद स्वीकार किये हैं।

वैशेषिकों ने व्याप्ति नियामक सम्बन्धों के आधार पर अनुमान के पाँच भेद स्वीकार किये हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र[१६७] ने सांख्यों के सम्बन्धों पर आधारित सात प्रकार के अनुमानों का भी निषेध किया है–

१. मात्राहेतुक २. निमित्त हेतुक ३. संयोगि हेतुक ४. विरोध हेतुक ५. सहचारि हेतुक ६. स्वस्वामिभाव तथा ७. वाध्यघातकभाव हेतुक,[१६८] वर्तमान उपलब्ध संख्या के सर्व प्राचीन ग्रन्थ सांख्यकारिका में तो 'त्रिविधम् अनुमानमाख्यातम्' कहा गया है। ये तीन भेद व्यास सूत्र में प्रतिपादित पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ही है। इनका वर्गीकरण सांख्यतत्त्व कौमुदीकार[१६९] ने व्याप्ति के आधार पर 'वीत' और 'अवीत' किया है।

जैन तार्किक अकलंक ने नैयायिकों के पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेद की तीव्र आलोचना की है । "अस्ति आत्मा प्रमाणतः उपलब्धे" "षड्विषाणं नास्ति अनुपलब्धः" आदि अनुमान ऐसे हैं जिनका अन्तर्भाव उक्त तीन प्रकारों में नहीं होता है तथा वैशेषिक और सांख्यों के द्वारा प्रस्तुत पञ्चविध और सप्तविध में वे नहीं आते हैं। इसलिए जैन परम्परा में अनुमान के दो भेद आचार्य सिद्धसेन ने स्वीकार किये हैं। 'स्वार्थ' तथा परार्थानुमान[१७०] अनुमान के स्वार्थ तथा परार्थ भेद को प्रशस्तपाद ने भी स्वीकारा है।[१७१] अनुमान के इन भेदों को आगे चलकर प्रायः सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। मीमांसा तथा वेदान्त[१७२] ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से इनका प्रतिपादन किया है।

---

१६६. अनुमानं द्विधा स्वार्थीनिरूपणाल्लिङ्तोऽथ परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थ प्रकाशकम्। (प्रमाण समुच्चय–२१)

१६७. न्या०वा०ता०टी०–१. १. ५

१६८. मात्रानित्तसंयोगिसहचारिभिः स्वस्वामिनोगाधैः सांख्यानां सप्तधानुमाया। न्या०वा०ता०टी०–१. १. ५

१६९. सांख्य तत्त्व कौमुदी अनु०प्र०।

१७०. स्वनिश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः। परार्थानुमानमाख्यातं वाक्यं तद्रुप चारतः।। न्या०पा०का०।

१७१. प्रशस्तपाद–भाष्य–लौकिक ज्ञान प्र०।

१७२. वेदान्त परिभाषा–अनु०।

निग्रहस्थान

भारतीय दर्शन में जय-पराजय की व्यवस्था के लिए निग्रह स्थानों का निरूपण किया गया है। न्यायदर्शन में तत्त्वनिर्णय के लिए वाद तथा तत्त्वसंरक्षण के लिए जल्प एवं वितण्डा को कथा का आवश्यक अंग माना गया है। वाद में स्वपक्ष-स्थापन तथा परपक्षदूषण प्रमाण एवं तर्क पर आधारित होते हैं, जबकि जल्प और वितण्डा में छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे–असदुत्तरों को भी स्थान दिया गया है। बौद्ध एवं जैन दर्शन में छल, जाति आदि के प्रयोग को अन्याय बतलाया गया है। अतः इन दोनों दर्शनों में जल्प एवं वितण्डा का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। ये दोनों दर्शन वाद को ही कथा के रूप में स्वीकार करते हैं, नैयायिकों की भाँति जल्प एवं वितण्डा को कथा का अंग नहीं मानते हैं।

जय-पराजय व्यवस्था के लिए निग्रहस्थानों को बौद्धों ने स्वीकार किया है। न्यायसूत्र में विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान कहा गया है।[१७३] विप्रतिपत्ति का अर्थ है–कुत्सित अथवा विपरीत प्रतिपत्ति होना तथा अप्रतिपत्ति का अर्थ है पक्ष को स्वीकार करके उसका स्थापन नहीं करना तथा प्रतिवादी के द्वारा स्थापित पक्ष का निषेध नहीं करना अथवा प्रतिवादी के द्वारा वादी का पक्ष निषिद्ध करने पर उसका पुनः परिहार नहीं करना।

न्यादर्शन में २२ निग्रस्थानों का निरूपण है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने इन निग्रहस्थानों को निरर्थक सिद्ध करअपने ग्रन्थ वादन्याय में असाधनांगवचन एवं अदोषोद् भावन नामक दो निग्रहस्थानों को प्रतिष्ठित किया है। वे कहते हैं कि असाधनांगवचन एवं अदोषोद् भावन इन दो के अतिरिक्त अन्य निग्रह स्थान का होना उचित प्रतीत नहीं होता।[१७४] असाधनांगवचन को वादी का निग्रहस्थान तथा अदोषवाद् भावन को प्रतिवादी का निग्रहस्थान मानते हैं। बौद्धमत में त्रिरूप लिङ्ग साधन है, उसका कथन करना साधनांगवचन है, किन्तु जब तीन रूपों में से पक्षधर्मत्वादि किसी एक का भी कथन न किया जाए तो वह हेतु असाधनांगवचन है जो वादी का निग्रहस्थान है।[१७५] त्रिरूपसाधन का जो अंग नहीं है ऐसे प्रतिज्ञा

---

१७३. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्। न्यायसूत्र–१. २. १९

१७४. असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः। निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते।। वादन्याय–पृ०–४

१७५. साध्यते येन परेषामप्रतीतोऽर्थ इति साधनम्....निग्रहस्थानम्।। वाद न्या०पृ०–५९

उपनय, निगमन आदि का साधन-वाक्य में कथन करना भी वादी का निग्रहस्थान है, क्योंकि उसका कथन व्यर्थ है।[१७६] साधन रूप सिद्धि का जो अंग नहीं है यथा असिद्ध विरुद्ध अथवा अनैकान्तिक हेत्वाभास इनका कथन करना भी धर्मकीर्ति के अनुसार वादी का निग्रहस्थान है।[१७७]

अदोषोद् भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान है। वादी के द्वारा साधन का प्रयोग किये जाने पर जब प्रतिवादी उत्तरपक्ष को स्वीकार करके वादी के विषय में दोष प्रकट नहीं करता है तब वह अदोषोद् भावन नामक निग्रह स्थान द्वारा पराजित होता है।[१७८] साधन के दोषों की परिगणना करते हुए धर्मकीर्ति ने अनेक दोषों का कथन किया है, यथा न्यूनता असिद्धि, अनैकान्तिकतावादी को इष्ट साध्य अर्थ का विपर्यय साधन और अठारह प्रकार के दृष्टान्ताभास। वादी के इन दोषों को जब प्रतिवादी प्रकट नहीं करता है तो वह पराजित समझा जाता है।[१७९]

जैन दर्शन में अकलङ्क , विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने निग्रहस्थानों पर विचार किया है, तथा वादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि को ही प्रतिवादी के निग्रहस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने न्याय एवं बौद्धदर्शन सम्मत निग्रहस्थानों का निरसन किया है। जैन मान्यता के अनुसार स्वपक्ष सिद्धि ही एकमात्र प्रतिवादी का निग्रह है। दूसरे शब्दों में वादी की स्वपक्षसिद्धि से ही प्रतिवादी का निग्रह हो जाता है। अतः उनके अनुसार असाधनांगवचन एवं अदोषोद् भावन नामक दो निग्रहस्थान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[१८०]

असाधनांगवचन का खण्डन करने हेतु प्रभाचन्द्र बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि वादी एवं प्रतिवादी में से कोई एक अपने पक्ष की सिद्धि करता हुआ, असाधनांगवचन अथवा अदोषोद् भावन से दूसरे का निग्रह करता है। अथवा

---

१७६. तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्ग प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि तस्यासाधानांगस्वसाधन वाक्ये उपादानं वादिनो निग्रहस्थानम् व्यर्थाभिधानात्। वादन्याय, पृ०-५९

१७७. साधनस्य सिद्धेर्यन्नांगम् असिद्धो विरुद्ध अनैकान्तिको वा हेत्वाभासः तस्यापि वचनं वादिनो निग्रहस्थानम् असमर्थोपादानात्। वादन्याय पृ०-६४

१७८. वादिना साधने प्रयुक्तेऽभ्युपगतोत्तरपक्षो यत्र विषये प्रतिवादी यदा न दोषमुद् भावयाति तदा पराजितो वक्तव्यः। वादन्याय पृ०-६

१७९. द्रष्टव्य वादन्याय-पृ०-६७

१८०. स्वपक्षसिद्धेरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्गवचनमदोषोद् द्वयोः। उद्धृतः प्रमेयकमलतमार्तण्ड-भाग-३ पृ०-६४०

स्वपक्ष की सिद्धि न करता हुआ ही वह दूसरे का निग्रह कर देता है? प्रथमपक्ष में अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि करने से यदि अन्य की पराजय होती है तो दोषोद्भावन करना व्यर्थ है तथा स्वपक्ष को सिद्ध किये बिना ही पर का निग्रह होता है, ऐसा माने तो असाधनांग वचनादि के प्रकट करने पर भी किसी की जय नहीं होगी, क्योंकि उससे किसी की पक्षसिद्धि नहीं होती।

बौद्ध त्रिरूप हेतु को साध्य का गमक मानते हैं। उनके मत में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व ये तीनों साधन के अंग हैं। इनमें से किसी का भी कथन न होने पर असाधनांगवचन के कारण वादी का निग्रह हो जाता है। प्रभाचन्द्र बौद्धों की इस मान्यता का खण्डन करने हेतु नैयायिकों द्वारा समस्त पांचरूप्य का आश्रय लेते हैं एवं कहते हैं कि बौद्धों के समान पंचावयवप्रयोगवादी नैयायिक भी कह सकते हैं कि साधन रूपसिद्धि का अंग पाँच अवयवों का प्रयोग है। यदि बौद्ध इन पाँच अवयवों का प्रयोग नहीं करता है तो उसका भी निग्रह समझना चाहिए।[१८१] नैयायिकों के अनुसार अनुमान वाक्य के पाँच अवयव हैं–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन। बौद्ध इनमें से हेतु को ही अनुमान वाक्य का अंग मानता है। अतः अन्य के प्रयोग को आवश्यक न मानने के कारण वह नैयायिकों द्वारा पराजित समझा जा सकता है।

बौद्ध प्रत्युत्तर देते हुए प्रतिपादित करते हैं कि पंच अवयवों का कथन करने पर भी निग्रह नहीं होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा एवं निगमन का पक्षधर्म के उपसंहार की सामर्थ्य से ज्ञान हो जाता है। जब वे दोनों पक्षधर्मोपसंहार के सामर्थ्य से गम्यमान हैं तो इनका कथन करने पर पुनरुक्त दोष आता है। इनका प्रयोग करने पर भी यदि हेतु प्रयोग न किया जाये तो साध्य अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि प्रतिज्ञा के साध्य सिद्धि होती है तो हेतु आदि का कथन व्यर्थ है, और प्रतिज्ञा से साध्यसिद्धि नहीं होती है तो उसको साध्यसिद्धि का अंग नहीं समझना चाहिए।

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि बौद्ध मत में भी यदि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है तो दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक है। यदि हेतु से साध्यसिद्धि नहीं होती तो उसे भी साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिए। यदि बौद्धों के अनुसार साध्य और साधन की व्याप्ति दिखाने वाला होने से दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक नहीं है तथा साध्य-साधन की व्याप्ति नहीं दिखाई जाने पर हेतु साध्य का गमक नहीं हो सकता है तो प्रभाचन्द्र इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध कथन

१८१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग–३, पृ०–६४१

असंगत है, क्योंकि "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस हेतु में सबको अनित्य सिद्ध करने पर दृष्टान्त का अभाव होने से सत्त्वादि हेतु भी अगमक हो जायेगा। यदि सत्त्व हेतु विपक्ष (नित्य) से व्यावृत है अतः विपक्ष व्यावृत्ति के कारण साध्य का गमक बन जाता है तो इस प्रकार सभी हेतु साध्य के गमक बन जायेंगे और दृष्टान्त व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। विपक्ष की व्यावृत्ति से हेतु का समर्थन करते हुए भी प्रतिज्ञा का निराकरण करना उचित नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञा के अभाव में साध्य एवं हेतु कहाँ रहेंगे? यदि प्रतिज्ञा गम्यमान रहती है तो उसमें रहा हेतु भी गम्यमान होना चाहिए। यदि गम्यमान हेतु का मंदमति पुरुषों के लिए कथन दिया जाता है तो इसी प्रकार प्रतिज्ञा का भी मंदमति पुरुषों के लिए कथन करना चाहिए।

असाधनांग शब्द का भिन्न प्रयोग प्रस्तुत करते हुए प्रभाचन्द्र ने इसे बौद्धग्रन्थ वादन्याय से पुष्ट किया है–"साधर्म्यपूर्वक हेतु का कथन करने में वैधर्म्य कथन गम्यमान रहता है तथा वैधर्म्यपूर्वक हेतु का कथन करने पर साधर्म्य कथन गम्यमान रहता है, अतः साधर्म्य का कथन करने पर पुनः वैधर्म्य का कथन करना एवं वैधर्म्य का कथन करने पर पुनः साधर्म्य का कथन करना पुनरुक्ततादोष युक्त है अतः यह साधनांग नहीं है।"

जैन दर्शन के अनुसार हेतु सम्यक् एवं स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला होना चाहिए, उसमें साधर्म्य प्रयोग के पश्चात् वैधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग के पश्चात् साधर्म्य प्रयोग से कोई अन्तर नहीं आता है। साध्यसिद्धि के अप्रतिबंधक हेतु के अधिक कहने मात्र से निग्रह होना शक्य नहीं है। प्रभाचन्द्र के अनुसार वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि करना आवश्यक है। हेतु में साधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग से वचनाधिक्य मानकर निग्रह करना सर्वथा अनुचित है।[१८२]

सारांश यह है कि बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने न्यायदर्शन में प्रतिपादित २२ निग्रहस्थानों को अनुपयोगी सिद्ध कर दो निग्रहस्थानों का प्रतिपादन किया है, किन्तु जैन दार्शनिकों ने उन दो निग्रहस्थानों का भी खण्डन किया है। धर्मकीर्ति के द्वारा प्रतिपादित निग्रहस्थानों के विषय में पं० सुखलाल संघवी लिखते हैं कि धर्मकीर्ति ने जो असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन द्वारा जय-पराजय की व्यवस्था की है उसमें इतनी जटिलता और दुरूहता आ गयी है कि अनेक प्रसंगों में सफलता से यह निर्णय करना ही असंभव हो गया कि असाधनांगवचन तथा

---

१८२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, भाग–३, पृ०–६४२–४४

अदोषोद्भावन है या नहीं? इस जटिलता और दुरूहता से बचने एवं सरलता से निर्णय करने की दृष्टि से अकलङ्क ने धर्मकीर्ति कृत जय-पराजय व्यवस्था का संशोधन किया। पंडित सुखलाल जी के मत में अकलङ्क कृत संशोधन में धर्मकीर्ति समस्त सत्य का तत्त्व तो निहित है ही, इसके अतिरिक्त उसमें अहिंसासमभाव का जैन प्रकृतिसुलभभाव भी निहित है।[१८३] अकलङ्क आदि जैन दार्शनिकों का यह सुनिश्चित मत है कि किसी एक पक्ष की सिद्धि दूसरे पक्ष की असिद्धि के बिना हो ही नहीं सकती।

प्रमाणव्यवस्था एवं प्रमाणसंप्लव :-

बौद्ध दार्शनिक प्रमाण व्यवस्थावादी हैं। वे प्रत्येक प्रमेय के लिए भिन्न प्रमाण का होना आवश्यक मानते हैं। न्याय, मीमांसा एवं जैन दार्शनिकों की भाँति वे प्रमाण संप्लववादी नहीं है। प्रमाणसंप्लव के अनुसार एक प्रमेय को एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा जाना जाता है। यथा आगम एवं अनुमान से जानने के पश्चात् किसी प्रमेय को प्रत्यक्ष से भी जाना जा सकता है, अर्थात् एक प्रमेय को जानने के लिए एक से अधिक प्रमाणों का आलम्बन लेना प्रमाणसंप्लव है। बौद्ध दार्शनिक ऐसा नहीं मानते हैं। इसलिए बौद्ध दार्शनिक दिङनाग ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि प्रमाण दो ही हैं, कम एवं अधिक नहीं, क्योंकि प्रमेय भी दो ही हैं-स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण।[१८४] स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से भिन्न प्रमेय नहीं है। इसलिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं, इनके अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण नहीं है।[१८५]

जैन दार्शनिकों ने प्रमेय के आधार पर प्रमाणों की संख्या का निर्धारण नहीं किया, क्योंकि वे सामान्यविशेषात्मक रूप में एक प्रकार का प्रमेय मानते हैं,[१८६] वे उस प्रमेय को जानने के लिए ही प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों का अवलम्बन लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो जैन दार्शनिक प्रमाणसंप्लववादी हैं, अतः उन्हें प्रमेय के आधार पर प्रमाणों के व्यवस्थापन की आवश्यकता नहीं हुई।

---

१८३. प्रमाणमीमांसा, भाषा टिप्पण-पृ०-१२२
१८४. अत्र प्रमाणं द्विविधमेव। कुतश्चेत्। द्विलक्षणं प्रमेयं। स्वसामान्यलक्षणाभ्यां भिन्नलक्षणं प्रमेयान्तरं नास्ति। प्रमाण समुच्चयवृत्ति-१. २ पृ०-४
१८५. स्वलक्षणविषयं प्रत्यक्षमेव। सामान्यलक्षण....नास्ति। प्रमाण समु०पृ०-६
१८६. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। परीक्षामुख-४-१

अपोह विचार

बौद्धदर्शन में अपोह :—बौद्धों की यह मान्यता है कि शब्द बाह्यार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकते। बाह्य अर्थ स्वलक्षणरूप होता है जो क्षणिक एवं निरंश होता है अतः शब्द स्वलक्षण में संकेतग्राही नहीं होता है।[१८७] दिङ्नाग ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि शब्द विकल्प से उत्पन्न होते हैं तथा विकल्प शब्द से उत्पन्न होते हैं, वे दोनों परस्पर कार्यकारण रूप में सम्बद्ध है तथा शब्द स्वलक्षण अर्थ का स्पर्श करने में भी समर्थ नहीं।[१८८] शब्द एवं अर्थ दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं तथा उनका परस्पर न तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध है और न तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध। शब्द को श्रोत्र से सुना जाता है जबकि अर्थ को चक्षु आदि से देखा जाता है। इसलिए इनमें तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।[१८९] अर्थ से शब्द उत्पन्न नहीं होता है, अर्थाभाव में भी शब्द देखा जाता है इसलिए इनमें तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध भी नहीं है।[१९०]

'दाह' शब्द का सुनने पर जलने का अनुभव नहीं होता,[१९१] इससे सिद्ध होता है कि शब्द से अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द के द्वारा सामान्य या जाति को भी विषय नहीं किया जाता, क्योंकि यह बौद्ध मत में असत् है। बौद्धों ने स्वलक्षण से भिन्न एक सामान्यलक्षण प्रमेय की कल्पना अवश्य की है, किन्तु वह नैयायिकों के सामान्य से भिन्न है। वह सामान्यलक्षण अर्थ ही अन्यापोह के रूप में शब्द का विषय बनता है।

अन्यापोह का संक्षिप्त नाम अपोह है। अन्यापोह का अर्थ है—अतद् व्यावृत्ति। 'गौ' शब्द गोभिन्न (अगो) की व्यावृत्ति (निषेध) करके अपना अर्थ (अभिप्राय) प्रकट करता है।[१९२] अर्थात् जो वैसा (तत्) नहीं है उसकी व्यावृत्ति करना

---

१८७. तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते। तत्त्वसङ्ग्रह–८७१

१८८. विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः। कार्य कारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि। (दिङ्नाग)

१९९. श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, अर्थस्तु चक्षुरादिना। तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका–१५१२, पृ०–५३८

१९०. नापि तदुत्पत्ति लक्षण सम्बन्धः व्यभिचारात्। तत्त्वसङ् ग्रहपञ्जिका–१५१२, पृ०–५३९

१९१. अन्यथैवाग्निसम्बन्धात् दाहं दग्धोऽभिमन्यते। अन्यथादाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते। वाक्यपदीपय, काण्ड–२ श्लोक–४१८

१९२. स्वार्थमन्यापोहेन भाषते। प्रमाण समुच्चय–५. १

अन्यापोह है। 'अन्यापोह' के सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रणयन दिङ्नाग ने किया था।[१९३] प्रमाणसमुच्चय का पंचम परिच्छेद अपोह से ही सम्बद्ध है, किन्तु आज वह संस्कृत में अनुपलब्ध है।

प्रायः अपोह का स्वरूप निषेधात्मक अथवा अभावात्मक होता है, क्योंकि इसमें अतद् का निषेध किया जाता है। अतद् का निषेध करने पर भी वह अपोह्य आधार वासना आदि भेदों से अनेक प्रकार का होता है।

शान्तरक्षित के तत्त्वसङ्ग्रह में सामान्य रूप से अपोह के दो भेद प्रतिपादित हैं–पर्युदास एवं प्रसज्य। पर्युदास अपोह भी दो प्रकार का है–बुद्ध्यात्मा एवं अर्थात्मा।[१९४] इनमें बुद्ध्यात्मा पर्युदास ही प्रमुख अपोह है, जो बुद्धि में अर्थ प्रतिबिम्ब के रूप में रहता है।[१९५] जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थाकारता होती है उसी प्रकार बुद्ध्यात्मा अपोह में अर्थ प्रतिबिम्ब बनता है।[१९६] अर्थात्मा पर्युदास अपोह 'स्वलक्षण' अर्थ रूप है जो अन्य अर्थों से उसकी व्यावृत्ति का बोध कराता है। प्रसज्य नामक अपोह भाव का अभाव रूप में ज्ञान कराता है। यथा 'गौ' का अर्थ है अगो का 'प्रतिषेध'।[१९७] इन तीनों प्रकार के अपोहों में मुख्य रूप से बुद्ध्यात्मा अपोह को ही शब्दों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। शब्द के द्वारा बुद्धि में अर्थ प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, जो विकल्पान्तर अर्थों का अपोह कराता है। शब्द से उत्पन्न होने के कारण अपोह रूप अर्थ प्रतिबिम्ब वाच्य होता है तथा शब्द वाचक होता है। दूसरे शब्दों में शब्द कारण होता है तथा अर्थ प्रतिबिम्ब कार्य होता है।[१९८] अन्य दोनों अपोह गौण रूप से शब्दार्थ है।

---

१९३. तत्र केचिद् बौद्धाः परिहारमाहुः न खल्वपोह्यभेदाद्....भविष्यति। तत्त्व संग्रह पञ्जि०–१५९, पृ०–३७६

१९४. तथाहि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः। द्विविधः पर्युदासोऽपि बुद्ध्यात्मार्थात्मभेदतः। तत्त्वसंग्रह–१००३

१९५. यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम्।। तत्त्वसंग्रह०–१००५

१९६. प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्यम्। अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते।। तत्त्व संग्रह–१००९

१९७. तत्रायं प्रथमः शब्दैरपोहः प्रतिपाद्यते। वाह्यार्थध्यवस....हेतुफलात्मकः।। तत्त्व सं०–१०-१०-११

१९८. एवं तावत् प्रतिबिम्बलक्षणोऽपोहः साक्षाच्छब्दैरूपजन्यमानत्वात् शब्दार्थ इति। तत्त्वसंग्रह–१०-१०-१२, पृ०–३९३

कमलशील कहते हैं कि अर्थप्रतिबिम्ब रूप में जो बौद्धदर्शन में अपोह प्रतिपादित किया गया है, वह भी एक विशेष प्रकार का निषेध मात्र है उसे भावात्मक नहीं जानना चाहिए।[१९९] अर्थप्रतिबिम्ब के रूप में शान्तरक्षित ने उसे भावात्मक भी प्रतिपादित किया है। जिनेन्द्रबुद्धि ने अपोहवाद के पोषण में प्रतिपादित किया है कि हम अतद् का निषेध किये बिना तद् को नहीं जान सकते। भावात्मक रूप में भी हम 'गो' को जानना चाहे तो गौ से भिन्न अश्वादि की व्यावृत्ति करना आवश्यक हो जाता है।[२००] बौद्ध दार्शनिक रत्नकीर्ति (१०वींशती) का मत है कि अपोह के द्वारा शब्द का केवल विधिरूप अर्थ अभिप्रेत नहीं है और न केवल अन्यव्यावृत्त रूप अर्थ अभिप्रेत है, अपितु अन्य व्यावृत्ति विशिष्ट विधि अर्थ अभिप्रेत है।[२०१]

शब्द के अतिरिक्त लिंग (हेतु) द्वारा भी अपोह का ही प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा दिङ्नाग का निर्देश है।[२०२] धर्मकीर्ति ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि शब्द एवं विकल्प का विषय वस्तु नहीं हो सकता। उसका विषय सामान्य रूप में अन्यापोह होता है।[२०३]

बौद्ध दार्शनिक वस्तुवादी दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित जाति, जातिवाद आदि का खण्डन कर 'अपोह' की स्थापना करते हैं, तथापि जाति की कुछ विशेषतायें अपोह में भी आ गयी हैं, यथा एकत्व, नित्यत्व, प्रत्येक, परिसमाप्ति आदि।[२०४] विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों से डी०एन०शास्त्री प्रतिपादित करते हैं कि 'जाति' की कल्पना भावात्मक है तथा 'अपोह' की कल्पना अभावात्मक अथवा निषेधात्मक, किन्तु दोनों के द्वारा अनुवृत्ति एवं व्यावृत्ति प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।[२०५]

---

१९९. But me should not forget that according to the Buddhist, eren the thought image is not positive, but is only a king of special negation. critique of Indian Realism, po. 359.

२००. द्रष्टव्य–प्रमाणसमुच्चय का अनुवाद,–Buddhist Logic, Vo. 1, p. 461.

२०१. नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः....शब्दानामर्थः।। रत्नकीर्तिनि०पृ०–५४

२०२. ओहः शब्दलिङ्गाभ्यां प्रतिपद्यते। प्रमाणवार्तिक, पृ०–२९९ पर उद्धृत।

२०३. तेनान्यापोहविषयाः प्रोक्ताः सामान्यगोचराः। शब्दाश्च बुद्धश्चैव वस्तुन्येषामसम्भवात्। प्रमाण वा०–३-१-३४

२०४. आचार्य दिङ्नागेनोक्तम्–सर्वत्राभेदादश्रया स्यानुच्छेदात्....एवावतिष्ठन्ते।। (तत्त्व संग्रह पञ्जि०पृ०–३८९

२०५. Critique of Indian Realism, p. 368.

बौद्धदर्शन के अपोहवाद का खण्डन न्याय, मीमांसा, वैशेषिक आदि समस्त वस्तुवादी दर्शनों द्वारा किया गया है। कुमारिल, वाचस्पतिमिश्र, जयन्त एवं श्रीधर के ग्रन्थों में 'अपोह' सिद्धान्त का विस्तृत खण्डन किया गया है।[२०६] सर्वाधिक चर्चा कुमारिल भट्ट के श्लोक वार्तिक में मिलती है।[२०७]

जैनदर्शन में अपोहवाद का प्रत्याख्यान :–

जैनदर्शन में अपोहवाद का खण्डन यूँ तो अकलङ्क, हरिभद्र, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र आदि दार्शनिकों के ग्रन्थों में मिलता है, किन्तु व्यवस्थित खण्डन प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

अकलङ्क द्वारा निरसन :–

भट्ट अकलङ्क ने बौद्ध सम्मत अन्यापोह को पूर्व पक्ष में रखकर उसका विधिवत् खण्डन किया है।

पूर्वपक्ष (बौद्धमत):–शब्द स्वलक्षण में संकेत ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि स्वलक्षण में शब्दों द्वारा संकेत ग्रहण करना निष्फल रहता है। निष्फल इसलिए रहता है कि जिस स्वलक्षण में संकेत ग्रहण किया जाता है वह स्वलक्षण पुनः इन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः संकेत ग्रहण करना सार्थक नहीं रह पाता। शब्द स्वयं भी स्वलक्षण संकेत ग्रहण करने में अशक्त है, क्योंकि शब्द एवं स्वलक्षण अर्थ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं, अतः इनमें संकेतग्रहण होना संभव नहीं है।[२०८] इसलिए शब्द संकेत अन्यापोह विषयक होता है। अन्यापोह विषयक शब्दज्ञान द्वारा पुरुष दृश्य स्वलक्षण एवं विकलप्य शब्द ज्ञानाकार को एकीभूत करके भ्रमवश व्यवहार में प्रवृत्त होता है।[२०९]

उत्तरपक्ष–एक ओर बौद्ध स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में शब्द संकेत ग्रहण करने का प्रतिषेध करते हैं तो दूसरी ओर शब्द द्वारा असंकेतित अर्थ को कहने का भी निषेध करते हैं।[२१०] जब शब्द असंकेतित अर्थ को नहीं कह सकता तथा

२०६. द्रष्टव्य–मीमांसाश्लोक वार्तिका–अपोहवाद परिच्छेद। न्याय कन्दली पृ०–७५६-६५

२०७. द्रष्टव्य–The Buddhist Philosophy as presented in Mimamsa slokavartika, chapter VII.

२०८. अफलत्वादशक्तेश्च न संकेत्येरन् स्वलक्षणे। सिद्धिविनिश्चय–९. २२

२०९. सामान्येऽपि सुतरां न संकेतः तस्य दृष्टावप्रतिभासनात् सतोऽप्यर्थकक्रियाऽसामर्थ्यात्। सिद्धि विनि०पृ०–६३३. ७

२१०. वाचोऽसंकेतितं वाहु। सिद्धि विनिश्चय–९. २२

स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण संकेत भी ग्रहण नहीं करता तो बौद्धों के द्वारा दिये गए सारे हेतु संकेताभाव में अनैकान्तिक सिद्ध होते हैं।[२११]

यदि स्वलक्षण अर्थों के असाधारण स्वभाव में संकेत ग्रहण करना संभव नहीं है तो उसी प्रकार स्वलक्षण अर्थ के असाधारण रूप का प्रत्यक्ष करना भी संभव नहीं है, क्योंकि जो असाधारण स्वलक्षण क्षण प्रत्यक्षज्ञान का कारण बनता है, वह कालभेद के कारण दृष्टि का विषय नहीं बनता, पूर्व स्वलक्षण क्षण का सदृश अन्य स्वलक्षण-क्षण ही दृष्ट होता है।[२१२]

अर्थक्रिया में समर्थ होने से संकेत को निष्फल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यवहार काल में शब्द संकेत से प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि का अविसंवादी ज्ञान देखा जाता है।[२१३] अपोह खपुष्प के समान नीरूप है, अतः अपोह में शब्द संकेत मानना उचित नहीं है।[२१४] शब्द संकेत तो सामान्य विशेषात्मक अर्थ में होता है। शब्द को यदि बौद्ध संकेताभास के कारण निरर्थक एवं अप्रमाण मानते हैं, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि तब तो उन्हें प्रत्यक्ष एवं अनुमान को भी निरर्थक मानना होगा। स्वलक्षण अर्थ को प्रत्यक्ष एवं अनुमान का कारण मानने पर व्यवहार काल में वह स्वलक्षण-क्षण विद्यमान नहीं रहता, अतः अक्षणिकता की आपत्ति आती है। विकल्प से कल्पित दृश्य एवं प्राप्य का एकत्व अवस्तु है अतः उससे अर्थक्रिया सिद्ध करना उचित नहीं ठहरता है।

अकलङ्क प्रतिपादित करते हैं कि अर्थ एवं शब्द में स्वतः कथञ्चित् वाच्य वाचक सम्बन्ध है। यदि वाच्य-वाचक सम्बन्ध न होता तो "इसने क्या कहा है" इस प्रकार की वाच्यविशेष शंका नहीं होती।[२१५]

बौद्ध दार्शनिक मानते हैं कि बुद्धि से अपोह युक्त अर्थों में सामान्य की प्रतिपत्ति होती है तथा अतद्हेतुफल का अपोह होता है, किन्तु बौद्धों की यह

---

२११. तदपोहविषयः संकेतः। तद्विषयं शब्दज्ञानं विभ्रमवशात्....नियुङ्क्ते। सि०वि०वृ०-९. २२, पृ०-६३३. ८

२१२. तुलनीय न चागृहीतसंकेतो गम्यतेऽन्य इव ध्वनेः। तत्त्वसंग्रह-८७३.

२१३. अशक्यसमयंरूपं यथार्थानामन्यभाक्। अशक्यदर्शनं रूपं तथार्थानामनन्यभाक्। सिद्धि वि०-९. २३

२१४. द्रष्टव्य सिद्धिविनश्चिय टीका पृ०-६३८.

२१५. वाच्यवाचकसम्बन्धः स्वतः शंकाऽन्यथा कथम्। असंकेतितानन्तवाच्यभेदेऽपि गिरां श्रुतौ।। सि०वि०-९-३०

मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतिपत्ति होती हुई नहीं देखी गयी है।[२१६] विधिरूप में ही सामान्य विशेषात्मक अर्थ का बोध होता है। एक अर्थ में संकेत ग्रहण करके तत्समान परिणामी द्रव्यों में संकेत का व्यवहार किया जाता है। शब्द के द्वारा वस्तुभूत सामान्यविशेषात्मक अर्थ का ग्रहण किया जाता है न कि काल्पनिक अपोह का।

अकलङ्क ने जैनदर्शनानुसार प्रतिपादित किया है कि किसी एक वस्तु में संकेत ग्रहण करके तत्सदृश अन्य वस्तुओं में भी उसका व्यवहार किया जाता है।[२१७] यथा एक-एक वस्तु में 'घट' शब्द का संकेत ग्रहण कर तत्सदृश अन्य घटों में भी 'घट' शब्द का व्यवहार किया जाता है, समस्त घटों में पृथक्-पृथक् रूप से घट शब्द का संकेत ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक वस्तु सादृशासदृशात्मक होती है। वह तज्जातीय द्रव्यों के सदृश तथा विजातीय द्रव्यों से विसदृश होती है, यथा 'घट' वस्तु तत्सदृश घटों के सदृश तथा पट आदि से विसदृश होती है। उसकी अन्य वस्तुओं से सदृशता सामान्य है तथा विसदृशता विशेष है। सामान्य विशेष से पृथक् वस्तु में नहीं रहता तथा इसी प्रकार विशेष भी सामान्य से पृथक् वस्तु में नहीं होता, दोनों की प्रतीति एक है वस्तु में होती है और जो भी ज्ञान होता है वह सामान्य विशेषात्मक वस्तु का ही ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तु में ही संकेत ग्रहण होता है।[२१८]

विद्यानन्द द्वारा निराकरण :–

विद्यानन्द अपोहवाद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि 'गो' शब्द गोभिन्न की व्यावृत्ति करता है तो इसका अर्थ है कि वह गोत्व सामान्य का ही विधान करता है। इसलिए 'गो' शब्द को अन्यापोह का विषय मानना उचित नहीं है।[२१९] यदि 'गो' शब्द अगोनिवृत्ति को भी 'अन्यनिवृत्ति' के रूप में प्रतिपादित करता है तो 'गो' शब्द का कोई अभिधेय नहीं हो सकेगा एवं अनवस्था दोष का

---

२१६. सामान्यं चेदपोहिनां बुद्धया सन्दर्शते यथा। अतद्धेतुफलापोहः न तथा प्रतिपत्तिः। न्या०वि०–१९४-९५

२१७. तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु। संयमः तत्प्रकारेषु प्रवर्तेतेति साध्यते। न्याय विनि०–१९८-९९

२१८. तत्समानासमानेषु तत्प्रवृत्ति विनिवृत्तये। संक्षेपेण क्वचित् कश्चिच्छब्दः संकेतमश्नुते।। (न्याय विनिश्चय–२१४.)

२१९. यदिगौरित्ययं शब्दो विधत्तेऽन्यनिवर्तनम्। विदधीत तदागोत्वं तन्नान्यापोहगोचरः।। तत्त्वार्थ श्लो०वा०–१. ५. ४२

प्रसंग आ जायेगा। विद्यानन्द के कथन का तात्पर्य है कि 'गो' शब्द के द्वारा जिस प्रकार 'अगोनिवृत्ति' का कथन किया जाता है, क्या उसी प्रकार 'अगोनिवृत्ति' का अनगोनिवृत्ति के रूप में अभिधान किया जाता है। यदि यह क्रम जारी रहता है तो अनवस्था दोष आ जाता है। यदि यह क्रम बन्द हो जाता है तो किसी शब्द का विध्यर्थ अवश्य मानना होगा।[२२०]

विद्यानन्द कहते हैं कि शब्द को बाह्यार्थ का वाचक नहीं मानकर विवक्षा का प्रतिपादक माना जाता है तो "समस्त शब्द अन्यापोह का कथन करते हैं" बौद्धों का यह कथन खण्डित हो जाता है।[२२१]

शब्द का विषय अन्यापोह मानने पर शब्द से जनसाधारण की अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शब्द किसी अन्य कार्य में प्रवृत्ति करने के लिए कहे जाये तथा प्रवृत्ति किसी अन्य कार्य में हो सकती।[२२२]

अभयदेवसूरि का योगदान :-

सिद्धसेन के टीकाकार अभयदेवसूरि ने अपोहवाद का न्याय मीमांसा व्याकरण आदि विभिन्न दृष्टियों से पर्याप्त आलोडन-विलोडन किया है तथा उसका विकास-क्रम से उपस्थापन कर जैनदृष्टि से परीक्षण किया है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में जितना चिन्तन अभयदेवसूरि ने किया है, संभवतः उतना किसी भी अन्य जैन दार्शनिक ने नहीं। सम्मति तर्कटीका का द्वितीय भाग पूर्णरूपेण शब्दार्थ मीमांसा से सम्बद्ध है।[२२३] जो पृथक् रूप से शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकता है।

अभयदेवसूरि ने प्रकट किया है कि मीमांसा दार्शनिक कुमार भट्ट ने अपोहवाद का जो खण्डन किया है वह अपोह को निषेधमात्र मानकर ही किया है, किन्तु अपोह निषेध मात्र नहीं है, क्योंकि शान्तरक्षित ने कुमारिल का खण्डन करते हुए उसे अर्थ प्रतिबिम्ब रूप में प्रस्तुत किया है। अर्थ-प्रतिबिम्ब को

---

२२०. अगोनिवृत्तिमप्यन्यनिवृत्ति मुखतो यदि। गोशब्दः कथयेन्नूमनवस्था प्रसज्यते।। वही-१. ५. ४३

२२१. वक्तुरिच्छां विधत्तेऽसौ वहिरर्थं न जातुचित्। शब्दोऽन्यापोहकृत्सर्वः यस्य बांध्यविजृम्भितम्।। तत्त्वार्थ श्लो०वा.-१. ५. ४४, वही-१. ५. ४५

२२२. अन्यापोहे प्रतीते न कथमर्थे प्रवर्तनम्। शब्दात्सिध्येज्जनस्यास्य सर्वथातिप्रसंगतः।।

२२३. द्रष्टव्य, तत्त्वबोधविधायिनी टीका, पृ०-१६९-७०।

निषेधमात्र नहीं कहा जा सकता।[२२४] शब्दों को सुनने पर बुद्धि में अर्थ का प्रतिबिम्ब बनता है जो अन्य अर्थ प्रतिबिम्बों का अपोह करने के कारण शब्द का वाच्य या कार्य कहा जाता है।[२२५] पर्युदास एवं प्रसज्य दो प्रकार के अपोहों में वह बुद्धयात्म नामक पर्युदास ही शब्द का मुख्यार्थ कहा गया है, अन्य अपोह गौण हैं। अभयदेवसूरि कहते हैं कि बौद्ध मत में शब्द का वाच्यार्थ के साथ जो वाच्यवाचक भाव या कार्यकारण भाव है, वह सांवृत्तिक है, पारमार्थिक नहीं। इसी प्रकार सामान्यलक्षण अपोह में संकेत ग्रहण करना भी सांवृतिक है, पारमार्थिक नहीं है।[२२६] क्योंकि परमार्थतः बाह्यार्थ का शब्द से कथन नहीं किया जा सकता।

अर्थ दो प्रकार का होता है–बाह्यार्थ एवं बुद्ध्यारूढ़। बाह्य अर्थ का शब्द के साथ पारमार्थिक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः बाह्यार्थ का परमार्थितः शब्द द्वारा अभिधान शक्य नहीं है। केवल बाह्यार्थ के अध्यवासी विकल्प को उत्पन्न करने के कारण उपचार से शब्द को अर्थ का वाचक कहा जाता है।[२२७] बुद्ध्यारूढ़ अर्थ का ही शब्द के द्वारा मुख्यतः कथन किया जाता है।[२२८]

अगोनिवृत्ति के रूप में जो गाय का अभिधान किया जाता है, वह उसका अश्वादि से अन्यत्व प्रतिपादन करने के लिये किया जाता है। परमार्थतः गो आत्मगतरूप है। शान्तरक्षित आदि के अनुसार शब्दों का परमार्थतः विधिरूप में कोई वाच्य अर्थ नहीं है, किन्तु सांवृत्त रूप में शब्दार्थ विधिरूप है।[२२९]

कुमारिल भट्ट ने अपोहवाद का निरसन एवं सामान्य का स्थापन करते हुए कहा है कि शाबलेय व्यक्ति का ज्ञान होने मात्र से बाहुलेय आदि में 'गो' प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, इसलिए 'गोत्व' नामक सामान्य मानना होगा, क्योंकि उसी से बाहुलेय आदि को भी हम 'गो' रूप में जानते हैं। उन्होंने बौद्ध प्रतिपादित 'अगोनिवृत्ति' में 'गो' शब्द को शाबलेय बाहुलेय आदि विभिन्न गायों में सामान्य 'गोत्त्व' का प्रतिपादक माना है अन्यथा शाबलेय में संकेत ग्रहण करने पर

---

२२४. तुलनीय निषेधमात्रं नैवेह शाब्दे ज्ञानेऽवभासते। तत्त्वसंग्रहपञ्जिका–पृ०–३९३.

२२५. तत्त्वबोध विधायिनी, पृ०–२०३, १२.

२२६. (१) तत्त्वबोधविधायिनी, पृ०–२१२. (२) तत्त्वसंग्रह–१०८९.

२२७. द्विविधो ह्यर्थः बाह्यो बुद्ध्यारूढश्च। तत्र.....शब्दोऽर्थानाह इति।। तत्त्व बोध०पृ०–२१३

२२८. यस्तु बुद्ध्यारूढोऽर्थस्तस्य मुख्यत एव शब्दैरभिधानम्। तत्त्वबोध०–पृ०–२१३. ६.

२२९. अगोनिवृत्तिर्यों गौरभिधीयते सोऽश्वादिभ्यो यदन्यत्वं तत्स्वभावैव नान्या। तत्त्व बोध०पृ०–२१३. २०

'अगोनिवृत्ति' शब्द के प्रयोग द्वारा बाहुलेय आदि गायों की भी निवृत्ति होने लगेगी। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि बौद्धों ने अगोनिवृत्ति के रूप में जो 'गो' शब्द का वाच्य माना है वह गोत्व सामान्य से भिन्न नहीं है।

अभयदेवसूरि ने कुमारिल, बौद्ध एवं व्यक्तिवादी दार्शनिकों के मत का खण्डन करते हुए शब्द का वाच्य सामान्य विशेषात्मक अर्थ को सिद्ध किया है।[२३०] वे कहते हैं कि गोत्व सामान्य शाबलेय, बाहुलेयादि व्यक्तियों के बिना संभव नहीं है, तथा शाबलेय बाहुलेय आदि में भी कोई न कोई समानधर्म पाये जाने के कारण उनमें गोत्व की प्रतिपत्ति होती है।

प्रभाचन्द्र का चिन्तनः–बौद्ध–शब्द के द्वारा बुद्धि में अर्थ का प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। वह प्रतिबिम्ब शब्द का वाच्य होता है। दूसरे शब्दों में शब्द कारण होता है तथा अर्थप्रतिबिम्ब कार्य होता है। अतः वाच्यवाचक भाव को कार्यकारण रूप मानना चाहिए।

प्रभाचन्द्र ने इसका परिहार करते हुए कहा है कि जो घट, पट आदि विशिष्ट रूप संकेतों से बाह्य, गो, घट, पट आदि का ज्ञान होता देखा गया है, ज्ञान होने के पश्चात् इनमें प्रवृत्ति एवं प्राप्ति भी देखी गयी है। अतः शब्द के द्वारा बाह्यार्थ को वाच्य मानना ही उचित है, अर्थप्रतिबिम्ब मात्र विकल्प को नहीं, क्योंकि ज्ञान में अर्थप्रतिबिम्ब की शब्द से वाच्य के रूप में प्रतीति नहीं होती है। शब्द को अर्थ प्रतिबिम्ब रूप विकल्प का कारण एवं वाचक मानने पर परस्पर से स्वलक्षण को भी उसका कारण एवं वाचक मानना होगा जो बौद्धों को इष्ट नहीं है।[२३१]

इस प्रकार बौद्धों की यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि बुद्धि में अर्थ प्रतिबिम्ब का होना मुख्य अन्यापोह है तथा विजातीय से व्यावृत्ति एवं अन्य स्वलक्षणों से व्यावृत्ति औपचारिक अन्यापोह है, क्योंकि शब्द का वाच्य सामान्य विशेषात्मक बाह्यार्थ होता है, अन्यापोह नहीं। प्रतिनियत शब्दों से प्रतिनियत अर्थ की प्रतीति एवं प्रवृत्ति देखी गयी है। अतः शब्द ज्ञान का विषय सामान्य विशेषात्मक रूप वस्तुभूत अर्थ है। जैन दर्शन में 'सामान्य' नामक कोई पृथक् तत्त्व नहीं है, जो सभी व्यक्तियों में अन्वित हो, अपितु व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न

---

२३०. न्याय कुमुदचन्द, पृ०–५५८–५६०

२३१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग–२, पृ०–५५७–५५८.

सदृश गुण धर्म ही सामान्य है जो प्रत्येक व्यक्ति या विशेष में विद्यमान रहते हैं। दीपक से लेकर आकाश तक समस्त पदार्थ जैन दर्शन में सामान्य विशेषात्मक हैं, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं, क्योंकि समस्त वस्तुओं का ज्ञान सामान्य विषेषात्मक रूप में ही होता है। 'इति'

स्मृति प्रमाण निरूपण

स्मृति का स्वरूप :–

जैन दार्शनिकों ने स्मृति को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में स्मृति को भी गिनाया जाता है, यथा "मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्"।[१३२] भट्ट अकलङ्क ने मतिज्ञान के इन पर्यायवाची शब्दों को आधार बनाकर ही क्रमशः स्मृति प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क प्रमाणों को स्थापित किया है। 'स्मृति' शब्द से उन्होंने स्मृति प्रमाण, संज्ञा शब्द से प्रत्यभिज्ञान प्रमाण एवं 'चिन्ता' शब्द से तर्क प्रमाण का विकास किया। 'अभिनिबोध' शब्द से उन्होंने अनुमान प्रमाण का ग्रहण किया है। इसके साथ ही उन्होंने स्मृति को प्रत्यभिज्ञान का प्रत्यभिज्ञान को तर्क का एवं तर्क को अनुमान का कारण माना है।[१३३]

भट्ट अकलङ्क से पूर्व जैन दर्शन में स्मृति को प्रमाण भेदों में स्थान नहीं मिलता था। उनके पूर्ववर्ती सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार में परोक्ष प्रमाण के दो ही भेद किये हैं–अनुमान एवं आगम। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की चर्चा सिद्धसेन नहीं करते हैं। इस दृष्टि से जैनन्याय को अकलङ्क का यह महान् अवदान है। भट्ट अकलङ्क के पश्चात् लगभग समस्त दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दार्शनिकों के इन तीनों प्रमाणों की अविसंवादाता सिद्ध कर इन्हें कोटि में रखा है तथा अन्य दर्शन प्रस्थानों के द्वारा अप्रमाण माने जाने पर उनका खण्डन किया है।

स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने वाले भट्ट अकलङ्क ने शब्द योजना के पूर्व इसे मतिज्ञान में तथा शब्द योजना के पश्चात् श्रुतज्ञान में

---

२३२. तत्त्वार्थ सूत्र–१. १. ३

२३३. स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (प्रत्यभिज्ञानस्य), संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः। लघीयस्त्रय वृत्ति, अकलङ्क ग्रन्थस्य–पृ०–५

सम्मिलित किया है।[२३४] विद्यानन्द ने 'तत्' (वह) आकार वाले एवं अनुभूत अर्थ को विषय करने वाले ज्ञान को स्मृति कहा है।[२३५] मणिक्यनन्दी के अनुसार संस्कार की जागृति से 'तत्' आकारक ज्ञान स्मृति है।[२३६] संस्कार के जैनदर्शन में 'धारणा' भी कहा गया है। निर्णीत या अनुभूत अर्थ के ज्ञान का दृढ़तापूर्वक गृहीत होना धारणा अथवा संस्कार है। संस्कार से स्मृति का जन्म होता है। इसलिए अकलङ्क ने स्मृति को धारणा-प्रमाण का फल कहा है। स्मृति भी प्रमाण है, क्योंकि उसका फल प्रत्यभिज्ञान है।[२३७] विनास्मृति के प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। स्मृति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वादिदेवसूरि कहते हैं कि संस्कार की जागृति से उत्पन्न अनुभूत अर्थ को विषय करने वाला, एवं तत् (वह) आकार वाला ज्ञान स्मृति है।[२३८] हेमचन्द्र सूरि के अनुसार वासना अर्थात् संस्कार के उद्बोध से उत्पन्न तत् (वह) आकार ज्ञान स्मृति है।[२३९] वैशेषिक दर्शन में कणाद ने आत्मा एवं मन के संयोगविशेष संस्कार से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति प्रतिपादित किया है।[२४०] प्रशस्तपाद ने स्मृति को विद्या का एक प्रकार माना है। वे चार प्रकार की विद्याओं का निरूपण करते हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति एवं आर्षज्ञान।[२४१] प्रशस्तपाद ने स्मृति को दृष्ट श्रुत एवं अनुभूत अर्थों में शेषानुव्यवसाय (अनुमेय ज्ञान) इच्छा, अनुस्मरण एवं द्वेष का हेतु बतलाया है।[२४२] योगसूत्र में पतञ्जलि ने स्मृति को प्रमाण विपयर्य, विकल्प एवं निद्रा की भाँति एक चित्तवृत्ति माना है, तथा अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति कहा है।[२४३] न्यायदर्शन के अनुसार

---

२३४. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा वाऽभिनिबोधिकम्.......शब्दानुयोजनात्।। लघीयस्त्रय-१०-११

२३५. तदित्याकारानुभूतार्थविषया स्मृतिः। प्रमाण परीक्षा, पृ०-४२

२३६. संस्कारोद् बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः। परीक्षामुख-३.३.

२३७. अविसंवाद स्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृतिः संज्ञायाः। अकलङ्क ग्रन्थस्य, पृ०-५

२३८. तत्र संस्कार प्रबोधसम्भूतं अनुभूतार्थ विषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम्। प्रमाणनयतत्त्वलोक-३. ३.

२३९. वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकाराः स्मृतिः। प्रमाण मीमांसा-१. २. ३

२४०. आत्मनः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः। वैशेषिक सूत्र-९. २. ६

२४१. विद्यापि चतुर्विधा। प्रत्यक्षलैङ्गिस्मृत्यार्षलक्षणा। प्रश०पादभा०, प्रत्यक्ष प्र०, पृ०-१५३

२४२. प्रशस्तपाद भाष्य, स्मृतिप्रकरण।

२४३. प्रमाण विपर्ययविकल्प निद्रास्मृतयः। अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः। योगसूत्र-१. ६ एवं ११

एक ही ज्ञाता पूर्वकाल में ज्ञाता विषय का जब पुनः ग्रहण करता है तो वह स्मरण कहलाता है।[२४४] न्यायसूत्र में स्मरण को आत्मा का गुण कहा गया है।[२४५] तथा स्मृति की उत्पत्ति में प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास आदि अनेक हेतुओं की गणना की गई है।[२४६] न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने प्रत्यक्ष ज्ञान का निरोध होने पर उसके विषय का अनुसंधान करने वाले प्रत्यय को स्मृति कहा है। ब्रह्मसूत्र के शाङ्करभाष्य में भी स्मृति अधिकरण में स्मृति की चर्चा है। समुदायाधिकरण में शङ्कर ने वैनाशिक बौद्धों का खण्डन करते हुए द्रष्टा एवं स्मार्ता का एककर्तृत्व अङ्गीकार किया है।[२४७]

बौद्धदर्शन में धर्मकीर्ति ने उत्पद्यमान सदृश अपर भावों में भेद की प्रतीति न होने से 'स एवायम्' (यह वही है) इस आकार वाले विकल्प को स्मरण कहा है।[२४८] उनके मत में स्मृति अतीत अर्थ में होती है, अगृहीत में नहीं है।[२४९] वह अनुभव से उत्पन्न होती है, बिना अनुभव या प्रत्यक्ष के नहीं होती है, तथा अर्थाकार से रहित होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में स्मृति की चर्चा हुई है, किन्तु पृथक् प्रमाण के रूप में इसका स्थापन जैनदार्शनिकों द्वारा ही किया गया है।

स्मृति 'प्रमाण' क्यों नहीं है :–

भारतीय संस्कृति में वेदों के अनन्तर स्मृतियों को ही प्रमाण माना गया है। वेदों के लुप्त ज्ञान का प्रतिपादन स्मृतियों द्वारा हुआ है, इसलिए स्मृतियाँ लोक-व्यवहार में प्रमाणभूत हैं। तथापि वैदिक दर्शन प्रस्थानों में स्मृति को एक पृथक् प्रमाण क्यों स्वीकार नहीं किया गया, इस सम्बन्ध में पं०सुखलाल संघवी ने अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वैदिक-परम्परा में श्रुति अर्थात् वेद का ही मुख्य प्रामाण्य है तथा स्मृति का प्रामाण्य श्रुति के अधीन है। यही

---

२४४. न्यायसूत्र (वात्स्यायन भाष्य) ३. २. १८
२४५. न्यायसूत्र–३. २. ४१
२४६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य–२. २. २५
२४७. प्रमाणवार्तिक–२. ४९८-९९
२४८. स्मृतिर्भवेदतीते च साऽगृहीते कथं भवेत्। प्रमाणवार्तिक–२. १७९
२४९. स्मृतिश्चेदृग्विधं ज्ञानं तस्याश्चानुभवाद् भवः।
स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम्? प्रमाणवार्तिक–२. ३७४

कारण है कि मीमांसा आदि वैदिक-दर्शनों में स्मृति ज्ञान को अनुभव या प्रत्यक्ष के अधीन होने के कारण प्रमाण नहीं माना है।[२५०]

मीमांसक दर्शन स्मृति को प्रमाण नहीं मानता, क्योंकि स्मृति अन्य प्रमाण द्वारा गृहीत अर्थ का ही ज्ञान कराती है और मीमांसादर्शन के अनुसार प्रमाण अनधिगत अर्थ का ग्राही होती है।[२५१] वैशेषिक दर्शन में स्मृति को विद्या का एक प्रकार प्रतिपादित करते हुए भी उसे पृथक् प्रमाण की संज्ञा नहीं दी गयी, इसको श्रीधर बतलाते हैं कि स्मृति पूर्वानुभूत विषय के ही उपदर्शन से अर्थ का निश्चय कराती है इसलिए वह पूर्वानुभाव के परतन्त्र होने से प्रमाण नहीं कही जा सकती।[२५२]

न्यायदर्शन में स्मृति को न प्रमाण कहा गया है और न प्रमा तथापि क्षणिकवादी बौद्धों का खण्डन कर आत्मा को नित्य सिद्ध करते हुए स्मृति को हेतु बनाया गया है, वात्स्यायन कहते हैं कि निरात्मक क्षणिक विज्ञानधारा मात्र को आत्मा मानने पर एक ही ज्ञाता के द्वारा अनुभव और स्मरण की सिद्धि नहीं होती। अतः नित्य आत्मा मानना आवश्यक है।[२५३] इस प्रकार आत्मा की नित्यता सिद्ध करने हेतु नैयायिकों ने स्मृति को साधकतम हेतु के रूप में प्रयुक्त किया है।

जयन्तभट्ट ने स्मृति को अर्थजन्य नहीं होने के कारण अप्रमाण माना है। उनके अनुसार स्मृति गृहीतग्राही ज्ञान होने से अप्रमाण नहीं है, अपितु पदार्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण अप्रमाण है।[२५४] यह उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने धारावाहित ज्ञान को गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण माना है तथा मीमांसकों के अनधिकतार्थग्राही प्रमाण लक्षण का खण्डन किया है।

वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका में स्मृति को प्रमा नहीं माना है,

---

२५०. प्रमाण मीमांसा, भाषा टिप्पण पृ०—७३

२५१. प्रमिते च प्रवृत्तत्वात् स्मृतेर्नास्ति प्रमाणता। परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यमुपजायते।। श्लो०वा० पृ०—३०६

२५२. अतएव न प्रमाणं तस्याः पूर्वानुभवविषयत्वोपदर्शनेनार्थं निश्चिन्वत्या अर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्। न्याय कन्दली, पृ०—६२७

२५३. न्याय सूत्र (वात्स्यायन भाष्य) ३. २. ३९।

२५४. न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्।। (न्यायमञ्जरी, पृ०—२१)

क्योंकि वे शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को लोकाधीन मानते हैं।[२५५] उदयनाचार्य का मत है कि महर्षियों और अभियुक्तों ने स्मृतिज्ञान के लिए प्रमाण शब्द का प्रयोग नहीं किया है, इसलिए स्मृतिज्ञान अप्रमाण है।

बौद्धमत में स्मृति का अप्रामाण्य :–स्मृति को प्रमाण न मानने का सबसे बड़ा पक्ष बौद्ध दार्शनिकों का है। बौद्ध दार्शनिक स्मृति को अग्राङ्कित कारणों से प्रमाण नहीं मानते हैं–(१) स्मृति प्रत्यक्षादि द्वारा गृहीत अर्थ का ज्ञान कराती है। गृहीत अर्थ का ज्ञान करने से उसका कोई प्रमाण व्यापार नहीं होता। (२) स्मृतिज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होता। जो ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है वही अर्थ का अव्यभिचरित ज्ञान कराने से प्रमाण होता है। (३) स्मृति को प्रमाण मानने पर इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा, फलतः अव्यवस्था होगी। (४) स्मृतिज्ञान विसंवादक है। (५) स्मृतिज्ञान अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण अर्थाकार भी नहीं होता। इसलिए भी वह अप्रमाण है।

दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चय में स्मृतिज्ञान को अनवस्थादोष के कारण प्रमाण नहीं माना गया। दिङ्नाग का तर्क है कि यदि सभी ज्ञानों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाए तो इच्छा, द्वेष आदि को भी प्रमाण मानना होगा, इससे प्रमाण की अनवस्था आ जाती है।[२५६] वैसे दिङ्नाग के मत में अज्ञात अर्थ के ज्ञापक ज्ञान को प्रमाण माना गया है, इसलिए भी स्मृति उनके मत में प्रमाण नहीं ठहरती है, क्योंकि स्मृति ज्ञात अर्थ को ही जानती है। धर्मकीर्ति को भी स्मृति का प्रामाण्य अभीष्ट नहीं है, क्योंकि स्मृति अतीत अर्थ में प्रवृत्त होती है, अगृहीत अर्थ में नहीं।[२५७] स्मृति के प्रामाण्य का एक कारण वे यह देते हैं कि स्मृति अर्थ से उत्पन्न नहीं होती, वह तो अनुभव से उत्पन्न होती है।[२५८] अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण वह अर्थाकार भी नहीं होती।[२५९] प्रमाणज्ञान अर्थाकार होता है। बौद्धों के अनुसार प्रमाण का एक लक्षण अर्थसारूप्य है। स्मृति में अर्थसरूपता नहीं होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं होती। स्मृति में अर्थकारता के अभाव में

---

२५५. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृ०–२१
२५६. यदि सर्वेषां ज्ञानानां प्रमाणत्वमिष्यते प्रमाणानवस्था प्रसज्यते। प्रमाणसमु०, वृत्ति पृ०–११
२५७. द्रष्टव्य, यही अध्याय पादटिप्पण–३८।
२५८. नार्थाद् भावस्तदाभावात्। प्रमाणवार्तिक–२. ३७५
२५९. स चार्थाकाररहितः सेदानीं तद्वती कथम्। प्रमाणवार्तिक–२. ७७४।

अविसंवादकता भी सिद्ध नहीं होती, इसलिए धर्मकीर्ति के मत में भी स्मृति अप्रमाण है। शान्तरक्षित, कमलशील आदि आचार्यों ने भी गृहीतग्राही आदि हेतुओं से स्मृति को अप्रमाण माना है।[२६०]

बौद्धदर्शन में प्रत्यभिज्ञान का अप्रामाण्य :–

बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार स्मृति की भाँति प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानने पर स्मृति की भाँति अनेक दोष आते हैं, यथा १. प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसे प्रमाण मानने पर अनवस्था दोष आता है।[२६१] २. वह गृहीतग्राही होता है।[२६२] ३. उसका अपना कोई विषय नहीं है।[२६३] ४. इसमें स्मृति एवं प्रत्यक्ष दो भिन्न ज्ञान हैं। इसलिए प्रत्यभिज्ञान को भ्रान्तज्ञान माना गया है। ५. निर्विषय होने से संवादकता का इसमें प्रश्न ही नहीं उठता है।

दिङ्नाग कहते हैं कि जो प्रत्यभिज्ञात्मक विशेषदृष्ट ज्ञान है, वह प्रमाण नहीं होता है। उनके मत में ज्ञान एवं प्रत्यभिज्ञान में वस्तुतः भेद नहीं है, फिर भी प्रमाण एवं फल का भेद करने पर ज्ञान प्रत्यभिज्ञेयार्थ से भिन्न हो जाता है। प्रत्यभिज्ञान तो गृहीत का ग्रहण करता है। यहाँ पर वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा गृहीत आदि के अनित्य होने का जो प्रमाण है वह भी प्रमाण नहीं होता है। वे प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण मानने के जिस कारण का निर्देश करते हैं वह है अनवस्था दोष। वे कहते हैं कि यदि सभी ज्ञानों को प्रमाण माना जाए तो अनवस्था दोष आता है।[२६४]

धर्मकीर्ति ने प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष मानने वाले दार्शनिकों का खण्डन कर प्रत्यक्ष से भिन्न प्रतिपादित किया है। धर्मकीर्ति का मत है कि 'यह वही है' इस प्रकार की एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान नामक कल्पना को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाण एवं प्रत्यभिज्ञान का विषय भिन्न है। प्रत्यक्ष में स्पष्ट अवभास होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान में उसका भ्रम होता है। काटे हुए केशों एवं नवीन उत्पन्न केशों में जादूगर के द्वारा प्रदर्शित गोलों में, तथा प्रतिक्षण नये जल

---

२६०. यद् गृहीततग्राहि ज्ञानं न तत्प्रमाणम् यथा स्मृतिः। तत्त्व संग्र०पञ्जि०, पृ०–४७४-७५
२६१. नाऽपि पुनः प्रत्यभिज्ञाऽनवस्था स्यात्स्मृतादिवत्। प्रमाण समुच्चय–१. ३
२६२. गृहीतग्रहणं प्रत्यभिज्ञानम्। प्रमाण समुच्चय वृत्ति, पृ०–१०
२६३. प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययो भ्रान्त एव निर्विषयत्वात्। तर्कभाषा, पृ०–३२
२६४. प्रत्यभिज्ञात्मकं यद्विशेषदृष्टज्ञानं तत्प्रमाणं...स्मृत्यादिवत्।। प्रमाण समु०वृत्ति०, पृ०–१०

रहे दीपक आदि में यह वही दीपक है के रूप में जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह स्पष्टावभासी प्रत्यक्ष से भिन्न है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। ऐसे प्रत्यभिज्ञान से वर्णादि में एकत्व का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञान दोनों भिन्न हैं। प्रत्यभिज्ञान में पूर्वानुभूत अर्थ के धर्म का स्मरण होने से वर्तमान अर्थ पर आरोप किया जाता है, ऐसा आरोप प्रत्यक्ष में नहीं होता।[२६५]

शान्तरक्षित का मत है कि दो भिन्न ज्ञानों में अभेद के अध्यवसाय से प्रवृत्त होने के कारण प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है, प्रत्यक्ष उससे विलक्षण होता है।[२६६] प्रत्यक्ष कल्पनापोढ होता है जबकि प्रत्यभिज्ञान साभिलाप होता है।[२६७] रत्नकीर्ति ने कारण भेद, विषय भेद एवं स्वभाव भेद के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न निरूपित किया है।[२६८] मोक्षाकार गुप्त ने प्रत्यभिज्ञान को निर्विषय होने के कारण भ्रान्त बतलाया है।

इस प्रकार बौद्धदर्शन ने न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों की मान्यता का खण्डन कर प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष से भिन्न प्रतिपादित किया है, तथा उसे निर्विषय होने के कारण भ्रान्त बतलाया है। बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग जहाँ अनवस्था के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानते वहाँ अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने उसके अप्रामाण्य पर अधिक प्रकाश नहीं डाला है।

वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण मानने पर बौद्धों के क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए बौद्धमत में यह अप्रमाण है। क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञान का विषय ही नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष से दृष्ट विषय तो दूसरे क्षण रहता ही नहीं है।

तर्क :–तर्क को प्रमाण की श्रेणी में प्रतिष्ठित करना भी जैन दार्शनिकों का भारतीय न्याय को अनूठा योगदान है। न्याय, वैशेषिक एवं बौद्धदर्शनों ने तर्क को प्रमाण का उपग्राहक स्वीकार करके भी उसे प्रमाण नहीं माना है, किन्तु

---

१६५. एतेन यः समक्षेऽर्थे....कथं तादृशी भवेत्। प्रमाण वा०–२. ५०३–५०६

२६६. भ्रान्तं च प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षंतद्विलक्षणम्। अभेदाध्यवसायेन भिन्नरूपेऽपि वृत्तितः।। तत्त्व सं० ४४७

२६७. न खलु प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षमुपपद्यते। वस्तुस्वरूपमनिर्देश्यं साभिलापं च तद्यतः।। तत्त्व संग्रह–४४६

२६८. द्रष्टव्य, बौद्ध मीमांसा पादटिप्पण–१०६

जैनदार्शनिकों ने तर्क की पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठा करने के साथ उसके स्वरूप का भी विकास किया है। सांख्य, मीमांसा एवं अद्वैत दर्शनों ने तर्क को पृथक् प्रमाण तो नहीं माना है, किन्तु उन्हें उसका अनुमान अथवा अर्थापत्ति प्रमाण में अन्तर्भाव अभीष्ट है।

तर्क का स्वरूप :–बौद्धदर्शन में तर्क, विमंसी आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य हुआ है।[२६९] किन्तु तर्क की पृथक् चर्चा नहीं मिलती है। प्रोफेसर सातकड़ी मुखर्जी के शब्दों में–We have not come across any speculation on tarka in any Buddhist work.[२७०] बौद्ध न्याय की परम्परा में प्रसंग, प्रसंग साधन,, प्रसंगापादन, प्रसंगानुमान आदि शब्दों का अवश्य व्यवहार हुआ है जो तर्क के ही निरूपक हैं, वैसे बौद्धन्याय में व्याप्ति का ग्रहण करने के लिए जो उपलम्भ एवं अनुपलम्भ के पञ्चक का निरूपण किया गया है।[२७१] वह जैनदर्शन में प्रतिपादित तर्कप्रमाण का ही मार्ग प्रशस्त करता है। जैनों ने भी उपलम्भ एवं अनुपलम्भ के निमित्त से उत्पन्न होने वाले व्याप्तिग्राहक ज्ञान को तर्क कहा है। बौद्धों ने इस व्याप्तिज्ञान के लिए तर्क शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु वे इसे अनुमान प्रमाण के लिए उपयोगी अवश्य मानते हैं। जैनों ने इसे तर्क शब्द देकर अनुमान में उपकारक तो माना ही है, किन्तु पृथक् प्रमाण की संज्ञा भी दी है। जैन एवं बौद्ध मान्यता में यही सूक्ष्म भेद है कि बौद्ध जिस व्याप्ति ग्राहक ज्ञान (तर्क) को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिकों ने इसे प्रबल तर्कों का आश्रय लेकर पृथक् प्रमाण सिद्ध किया है।[१७२]

आगम-प्रमाण का निरूपण :–

भारतीय दर्शन में न्याय मीमांसा, वेदान्त, सांख्य एवं जैन सम्प्रदाय शब्द अथवा आगम को पृथक् प्रमाण मानते हैं। चार्वाक मत में अनुमान की भाँति आगम का भी प्रामाण्य इष्ट नहीं है। बौद्ध एवं वैशेषिक दो ऐसे दर्शन हैं जिनमें शब्द का प्रामाण्य अंगीकार करते हुए भी उसे पृथक् प्रमाण की कोटि में नहीं रखकर अनुमान प्रमाण में समाविष्ट कर लिया गया है।

---

२६९. तर्कताण्डव (चतुर्थसंपुत) मैसूर विश्वविद्यालय–१९४३, पृ०–१४०–४१
२७०. द्रष्टव्य प्रथम अध्याय, पादटिप्पण–३३
२७१. The Buddhist philosophy of universal Flux, p. 396.
२७२. द्रष्टव्य चतुर्थ अध्याय, व्याप्ति विमर्श, पृ०–२५१

बौद्धों ने शब्द से वक्ता की विवक्षा का अनुमान स्वीकार किया है। वे शब्द से अर्थ का ज्ञान अन्यापोह के द्वारा स्वीकार करते हैं। अतः शब्द प्रमाण की चर्चा के अनन्तर अपोह पर विचार किया जायेगा।

बौद्धदर्शन में शब्द का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव :-

शब्द या आगम-प्रमाण को बौद्ध दार्शनिक अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं मानते हैं। वे इसका अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।[२७३] वैशेषिकों ने शब्द का अनुमान प्रमाणों में अन्तर्भाव समान विधि के कारण किया है।[२७४] जिस प्रकार लिङ्गदर्शन से व्याप्ति स्मरण होता है एवं फिर अनुमेय अर्थ का ज्ञान होता है उसी प्रकार शब्द से संकेत स्मरण द्वारा वाच्य अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए शब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न प्रमाण नहीं है। बौद्ध कहते हैं कि शब्द का वाच्य वस्तु के साथ न तादात्म्य लक्षण प्रतिबन्ध है और न तदुत्पत्ति लक्षण प्रतिबन्ध।[२७५] शब्द के साथ अर्थ का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, इसलिए शब्द द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्मकीर्ति कहते हैं कि शब्दों का बाह्य अर्थ के साथ अविनाभाव नहीं है। इसलिए शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं होता। शब्द तो वक्ता के अभिप्राय के सूचक होते हैं।[२७६] वक्ता के अभिप्राय का अविसंवादी ज्ञान होने से शब्द का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, अन्यथा शब्द के साथ अर्थ का कोई निबन्धन नहीं है।[२७७] वक्ता के अभिप्राय अर्थात् विवक्षा का शब्दों के द्वारा अनुमान किया जाता है। शान्तरक्षित ने इसका स्पष्ट प्रतिपादन करते हुये कहा है कि समस्त वचनों से विवक्षा का ही अनुमान किया जाता है।[२७८] प्रत्यक्ष एवं

---

२७३. न प्रमााणान्तरं शब्दमनुमानात् तथा हि सः। दिङ्नाग, तत्त्व संग्रह पञ्जिका, पृ०-५३९

२७४. शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्। प्रशस्तपादभाष्य-अनुमान प्रक०-पृ०-१७३

२७५. न हि वाच्यैर्वस्तुभिः सह कश्चित् तादात्म्यलक्षणः तदुत्पत्तिलक्षणो वा प्रतिबंधो वाचसामस्ति। तत्त्व सं० पञ्जिका-१५१२, पृ०-५३८

२७६. नान्तरीयकता भावाच्छब्दानां वस्तुभिस्सह। नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः। प्रमाण वा०-३. २१३-१४

२७७. शाब्दोऽप्यभि प्रायनिवेदनात्। प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम्। प्रमाण ववा०-१. ३. ४

२७८. वचोभ्यो निखिलेभ्योऽपि विवक्षैनुमीयते। प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां तद्हेतुः सा हि निश्चिता। तत्त्वसंग्रह-१५१४

अनुपलम्भ से शब्द हेतु के द्वारा विवक्षा की निश्चित की जाती है। शब्द से विवक्षा का अन्वय व्यतिरेक रहता है। कमलशील कहते हैं कि शब्दों से यदि किसी श्रोता को वक्ता की विवक्षा का ज्ञान नहीं होता है तो इसमें शब्द-लिङ्ग का दोष नहीं है, यह तो प्रमाता पर निर्भर करता है कि वह शब्द-लिङ्ग द्वारा वक्ता की विवक्षा का अनुमान करता है या नहीं।[२७९]

शान्तरक्षित ने शब्द को कार्य हेतु तथा विवक्षा को साध्य बनाकर उसमें त्रैरूप्य हेतुलक्षण को भी सिद्ध किया है। पुरुष अथवा प्रदेश विशेष में शब्द का रहना पक्षधर्मत्व तथा तत्सदृश संतान में रहना सपक्षसत्त्व एवं विवक्षाविहीन पुरुषादि में शब्द का न रहना विपक्षासत्त्व है। इस प्रकार शब्द हेतु में त्रैरूप्य लक्षण घटित किया जाता है।[२८०]

आप्तपुरुष के वचनों को भी बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने अविसंवाद सामान्य के कारण अनुमान प्रमाण ही माना है।[२८१] दिङ्नाग धर्मकीर्ति आदि दार्शनिकों के अनुसार शब्द पौरुषेय है। उन्होंने मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित वेद के नित्यत्व एवं अपौरुषेयत्व का अपने ग्रंथों में विस्तृत एवं प्रबल खण्डन किया है।

बौद्ध कहते हैं कि शब्दों द्वारा विवक्षा का अनुमान संकेत की अपेक्षा से होता है। शब्द बाह्यार्थ में संकेतित नहीं होते हैं, तथा असंकेतित अर्थ का शब्द द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिए शब्द का संकेत ग्रहण पुरुषाश्रित होता है। संकेत द्वारा ही शब्द विवक्षा का अनुमान कराने में समर्थ होते हैं। इसलिए शब्द ज्ञान में संकेत भेद के कारण भेद देखा जाता है।[२८२]

संक्षेप में कहा जाये तो बौद्ध मत में शब्द बाह्यार्थ के अभिभावक नहीं होते हैं, क्योंकि उनका बाह्यार्थ के साथ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध नहीं होता है। वे अन्यापोह द्वारा वक्ता के अभिप्राय का अनुमान मात्र कराते हैं।

प्रामाण्यवाद :-

बौद्ध एवं जैन दर्शन प्रमाण के प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के निश्चय को

---

२७९. ये पुनस्तासु लिङ्गभूतासु गीर्षु विशेषं नावधारयन्ति, तेषामयं दोषः न तु लिङ्गस्य। तत्त्व सं०पञ्जि०-१५१७, पृ०-५४१

२८०. विवक्षायां च गम्यायां विस्पष्टैव त्रिरूपता।
पुंसि धर्मिणि सा साध्या कार्येण वचसा यतः।। तत्त्व संग्रह-१५२०

२८१. आप्तवादाविसंवादसामान्यादनुमानता। प्रमाणवार्तिक-३. २१७

२८२. अर्थज्ञापनहेतुर्हि संकेतः पुरुषाश्रयः। प्रमाण वार्तिक-३. २२७

अभ्यास दशा में स्वतः तथा अनभ्यास दशा में परतः स्वीकार करने में एकमत है।

प्रमाणभूत ज्ञान का प्रमेय से अव्यभिचरित होना प्रमाण का प्रामाण्य है तथा प्रमेय से व्यभिचरित होना उसका अप्रामाण्य है।[२८३] दूसरे शब्दों में कहें तो प्रमाण की अर्थ से अविसंवादिता ही उसका प्रामाण्य है एवं अर्थ से विसंवाद होना उसका अप्रामाण्य है।[२८४]

प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को लेकर भारतीय दर्शन में गहन विचार हुआ है। मीमांसा दार्शनिक प्रमाण में प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः एवं अप्रामाण्य का ज्ञान परतः मानते हैं।[२८५] न्याय दार्शनिक प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का ज्ञान परतः मानते हैं। जिस ज्ञान से प्रमेय हुआ है उससे ही यदि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान होता है तो उसे स्वतः प्रामाण्य कहा गया है एवं उसके प्रामाण्य का ज्ञान करने के लिए यदि अन्य ज्ञान या अर्थ की अपेक्षा होती है तो उसे परतः प्रामाण्य कहा गया है।

जैन एवं बौद्ध दार्शनिक इस बात पर एकमत हैं कि अभ्यास दशा में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है तथा अनभ्यास दशा में परतः होता है। यद्यपि सर्वदर्शनसंग्रह एवं बुद्धिस्त लॉजिक में बौद्धों के एक भिन्न मत का उल्लेख किया गया है।[२८६] जिसके अनुसार प्रामाण्य का ज्ञान परतः एवं अप्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है, किन्तु बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित एवं कमलशील ने स्पष्ट रूपेण प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य को स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार का घोषित किया है।[२८७] कमलशील ने मीमांसकों द्वारा उपस्थित प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य के चार विकल्पों का निर्देश दिया है।[२८८] १. प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का स्वतः होना, २. प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनो का परतः होना, ३. प्रामाण्य का परतः एवं

---

२८३. द्रष्टव्य, षष्ठ अध्याय में प्रमाण की अर्थाकारता का खण्डन, पृ०–३६८–३७८

२८४. ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम्। तदितरत्त्वप्रामाण्यम्। वादिदेव० प्रमाणनय श्लोक–१. १८

२८५. वस्तुसंवादः प्रामाण्यभिधीयते। तत्त्वसंग्रह–२९५८

२८६. स्वतः सर्वप्रामाणानां प्रामाणामिति गम्यताम्। न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।। श्लो०वा०धो०श्लो०–४७

२८७. (१) सर्वदर्शनसङ्ग्रह, पृ०–२७९

(२) श्चेरवात्स्की, Buddhist Logic, Vol I. p. 66

२८८. तत्त्वसंग्रह–२९६०–२९६१ एवं पञ्जिका।

अप्रामाण्य का स्वतः होना तथा, ४. प्रामाण्य का स्वतः एवं अप्रामाण्य का परतः होना। मीमांसकों ने इनमें से चौथा विकल्प अपनाया है, किन्तु कमलशील बौद्ध प्रामाण्यवाद का निर्देश करते हुए कहते हैं कि इनमें से हमें कोई भी विकल्प अभीष्ट नहीं है। हमारे अनुसार तो प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों कहीं स्वतः एवं कहीं परतः हो सकते हैं, अतः हेतु इनका अनियम पक्ष अभीष्ट है।[२८९] अनियमपक्ष का अभिप्राय संभवतः अभ्यास दशा में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों का स्वतः तथा अनभ्यासदशा में दोनों का परतः होना है।

धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष का कल्पनापोढ लक्षण निर्दिष्ट करते समय प्रत्यक्ष की सिद्धि किसी अन्य प्रमाण में नहीं, अपितु प्रत्यक्ष से ही स्वीकार की है।[२९०] किन्तु कदाचित् ऐसा भी हो सकता है कि प्रत्यक्ष से अर्थक्रिया का ज्ञान न हो या समारोप हो तो उसका अनुमान के द्वारा या अर्थ क्रिया ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जाता है।[२९१] सारांश यह है कि अर्थक्रिया के अनुरोध से ही प्रमाण का प्रामाण्य निश्चित होता है।[२९२] चाहे वह स्वतः हो या परतः।

बौद्ध प्रामाण्यवाद का स्पष्ट संकेत हमें प्रमाण वार्तिक की मनोरथनन्दी द्वारा की गयी वृत्ति में मिलता है। मनोरथनन्दी कहते हैं कि अर्थक्रियावभासक प्रत्यक्ष स्वतः अर्थक्रियानुभावात्मक होता है, इसलिए उसमें प्रामाण्य की सिद्धि करने के लिए अन्य अर्थक्रिया की अपेक्षा नहीं होती है, इसलिए वह स्वतः प्रमाण है। इसमें अर्थक्रिया की परम्परा का अनुसरण करने वाला अनवस्था दोष भी नहीं आता है तथा जहाँ अनभ्यास दशा में सन्दिग्ध प्रमाण होता है वहाँ उत्पत्ति में उसके अर्थक्रिया ज्ञान से अथवा अनुमान से प्रामाण्य का निश्चय किया जाता है।[२९३] इस प्रकार प्रामाण्य स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से उत्पन्न है।

जैन दार्शनिकों ने प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति एवं उनकी ज्ञप्ति पर पृथक् रूपेण विचार किया है। वादिदेवसूरि ने प्रतिपादित किया है कि प्रामाण्य

---

२८९. तत्त्वसङ्ग्रह पञ्जिका, २८१०-११, पृ०-९०३

२९०. (१) प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिध्यति। प्रमा०वा०-२. १२३
(२) स्वरूपस्य स्वतो गतिः। प्र०वा०-१. ६

२९१. प्रामाण्यं व्यवहारेण। प्र०वा०-१. ७।

२९२. अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्। प्र०वा०-२. ५८

२९३. अर्थक्रियानिर्भासं तु प्रत्यक्षं स्वत एवार्थक्रियानुभवात्मकम् न तत्र परार्थक्रियापेक्ष्यत इति तदपि स्वतो निश्चितप्रामाण्यम्। अत.....निश्चीयते। प्रमाण वा०-१. ३, पृ०-४

एवं अप्रामाण्य दोनों की उत्पत्ति परतः होती है तथा ज्ञप्ति अभ्यास दशा में स्वतः एवं अनभ्यासदशा में परतः होती है।[२९४] जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार ज्ञान के निमित्त इन्द्रियादि के दोष के कारण ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार इन्द्रियादि के निर्दुष्ट होने पर ज्ञान में प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है।[२९५] ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य की परीक्षा प्रमेय के आश्रित होती है। ज्ञान में ऐसी कोई विशेषता नहीं है कि उसमें बिना इन्द्रियादि बाह्य कारणों के अप्रामाण्य उत्पन्न हो सके।[२९६] दो चन्द्रमाओं के दिखाई देने रूप अप्रामाण्य जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के दोष से होता है उसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय के निर्दोष या निर्मल होने पर एकचन्द्रज्ञान में प्रामाण्य भी उत्पन्न हो सकता है।[२९७]

वादिदेवसूरि के पूर्व माणिक्यनन्दी ने भी प्रामाण्य के निश्चय को स्वतः एवं परतः बतलाया है।[२९८] प्रभाचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि अभ्यास दशा में ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञात करने के लिए किसी भिन्न ज्ञान या वस्तु की आवश्यकता नहीं होती, अभ्यास के कारण हम उसी ज्ञान से प्रमेय का अव्यभिचरित ज्ञान कर लेते हैं तथा अनभ्यस्त दशा में या संशयादि की स्थिति में ज्ञान का प्रामाण्य जानने के लिए किसी भिन्न ज्ञान या अर्थक्रिया संवाद का आश्रय लेना पड़ता है।[२९९] हेमचन्द्राचार्य ने भी ज्ञान का प्राभाण्य स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से उत्पन्न बतलाया है।[३००]

जैन दर्शन में वादिदेवसूरि कृत प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति के सिद्धान्त को सर्वाधिक आदर मिला है। पं० सुखलाल संघवी ने भी वादिदेवसूरी कृत स्थापन को पूर्णतया जैन परम्परा का द्योतक बतलाया है।[३०१]

---

२९४. तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति। प्र०वा०–१. २१

२९५. (१) प्रमेय कमलमार्तण्ड, भाग–१, पृ०–४३६
(२) स्याद्वादरत्नाकर, पृ०–२४०-२४२

२९६. स्वस्मिन् व्यभिचारित्वासम्भवात्....प्रमाणाभासः। स्याद्वा० पृ०–२४०. ८

२९७. यथैव ह्यप्रमाण्यलक्षणं विशिष्टं कार्यं काचकामलादिदोषलक्षणविशिष्टेभ्यश्चक्षुरादिभ्यो जायते तथा प्रामाण्यमपि गुण विशेषणविशिष्टेभ्यो विशेषाभावात्। प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग–१, पृ०–४०९

२९८. तत्प्रामाण्यं स्वतः परश्चेति। परीक्षामुख–१. १३

२९९. प्रमेयकमलमार्तण्ड, भाग–१, पृ०–४५०

३००. प्रमाणमीमांसा–१. १. ८ एवं वृत्ति।

३०१. प्रमाणमीमांसा, भाषाटिप्पण, पृ०–१७

किन्तु डॉ० सागरमल जैन प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की उत्पत्ति को एकान्ततः परतः मानना उचित नहीं समझते हैं। सागरमल जैन लिखते हैं कि "वे सभी ज्ञान जिनका ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है, उनके प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वतः ही होती है।"[३०२] प्रामाण्य के निश्चय के संदर्भ में भी वे लिखते हैं कि सकलज्ञान पूर्णज्ञान और आत्मगत ज्ञान में ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय स्वतः होगा। जबकि विकल ज्ञान, अपूर्णज्ञान, नयज्ञान और वस्तुगतज्ञान में उसका निश्चय परतः होगा। पारमार्थिक प्रत्यक्ष के द्वारा होने वाले ज्ञान में उसके प्रामाण्य का बोध स्वतः होगा। जबकि व्यावहारिक प्रत्यक्ष और अनुमानादि में प्रामाण्य का बोध स्वतः और परतः दोनों प्रकार से सम्भव है।[३०३] सागरमल जैन के कथन से प्रतीत होता है कि वादिदेवसूरि ने ज्ञान में प्रामाण्य या अप्रामाण्य की उत्पत्ति का निरूपण बाह्य प्रमेय की दृष्टि से किया है, आत्मगत ज्ञान की दृष्टि से नहीं। ज्ञप्ति का प्रतिपादन भी अभ्यास एवं अनभ्यासदशा के आधार पर सामान्य लोक-व्यवहार के आश्रित किया गया प्रतीत होता है।

जो भी हो, बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने मीमांसकों के स्वतः प्रामाण्यवाद का जमकर खंडन किया है तथा एकान्ततः परतः प्रामाण्यवाद का भी यथावसर प्रतिषेध किया है। दोनों सम्प्रदायों के दार्शनिकों ने स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से प्रामाण्यवाद का निश्चय स्वीकार किया है। अतः बौद्ध एवं जैन प्रामाण्यवाद में विरोध नहीं है। यही कारण है कि किसी भी जैन दार्शनिक ने बौद्ध प्रामाण्यवाद को अपनी आलोचना का विषय नहीं बनाया है तथा बौद्ध दार्शनिकों ने भी जैन प्रामाण्यवाद का खण्डन नहीं किया है।

प्रमेय :–

प्रमाण के विषय का दूसरा नाम प्रमेय है। 'प्रमातुं योग्यं प्रमेयम्' 'प्र+उपसर्ग+मा धातु एवं यत् प्रत्यय से निष्पन्न 'प्रमेय') व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण जानने योग्य पदार्थ को प्रमेय कहा जाता है। सांख्य की दृष्टि से प्रमेय अनन्त है, क्योंकि जगत् में जितने भी द्रव्य या पदार्थ हैं, वे प्रमेय हैं। किन्तु प्रमेय का विभाजन वस्तुओं, द्रव्यों, पदार्थों की संख्या के आधार पर नहीं, अपितु उनकी स्वरूपगत विशेषताओं के आधार पर किया जाता है। इस दृष्टि से जैन एवं बौद्धदर्शन में मौलिक मतभेद है। स्वरूप के आधार पर बौद्धदर्शन में जहाँ

३०२. जैन भाषादर्शन, पृ०–८८. ६
३०३. जैन भाषादर्शन, पृ०–८८. २०–२४

स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण के भेद से दो प्रमेय प्रतिपादित हैं वहाँ जैन दर्शन में सामान्य विशेषात्मक रूप में एक ही प्रमेय मान्य है। जगत् की वस्तुओं को संख्या की दृष्टि से अनन्तानन्त स्वीकार करके भी जैन दार्शनिक स्वरूप की दृष्टि से उन्हें सामान्य विशेषात्मक ही मानते हैं। आकाश, अग्नि, पृथ्वी, टेबिल, कुर्सी आदि समस्त प्रमेय जैन दर्शन में सामान्य विशेषात्मक एवं नित्यनित्यात्मक हैं, जबकि बौद्धदर्शन में स्वलक्षण प्रमेय परमार्थसत् है एवं वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विशेष है तथा सामान्यलक्षण प्रमेय संवृत्तिसत् है एवं न्यायवैशेषिकों के सामान्य से भिन्न है। वह अनुमान प्रमाण का विषय है। प्रत्यक्ष एवं अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण बौद्धदर्शन में मान्य नहीं है। जैन दर्शन में मान्य प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के समस्त भेदोपभेदों के लिए प्रमेय का एक ही स्वरूप है, सामान्यविशेषात्मक। अपेक्षा विशेष से इसे भेद भेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, भावाभावात्मक आदि शब्दों से भी अभिहित किया गया है। अब बौद्ध एवं जैन दर्शन में प्रतिपादित प्रमेय के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है।

बौद्धदर्शन में द्विविध प्रमेय :–

बौद्ध दार्शनिक मत में दो प्रमाणों की भाँति दो ही प्रकार के प्रमेय मान्य हैं। दो प्रकार के प्रमेय हैं–१. स्वलक्षण और २. सामान्यलक्षण। प्रत्यक्षलक्षण का विषय स्वलक्षण है तथा अनुमान प्रमाण का विषय सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण अर्थ परमार्थसत् एवं सामान्यलक्षण संवृत्तिसत् कहलाता है। सामान्य लक्षण के द्वारा भी स्वलक्षण की ही प्राप्ति होती है, इसलिए धर्मकीर्ति के अनुसार वस्तुतः प्रमेय एक ही प्रकार का है, और वह एक प्रमेय 'स्वलक्षण' अर्थ है। एक मात्र स्वलक्षण को प्रमेय मानने का कारण यह है कि वही अर्थक्रिया सामर्थ्य से युक्त होता है और जो अर्थक्रिया में समर्थ है वही बौद्ध मत में सत्। अर्थक्रियार्थी पुरुष अर्थक्रिया की सिद्धि के लिए स्वलक्षण से सत्त्व एवं असत्त्व का ही विचार करते हैं। उस एक प्रमेय के ही स्वरूप (स्वलक्षण) एवं पररूप (सामान्य लक्षण) की दृष्टि से दो भेद हो जाते हैं यथा–

तस्मादर्थक्रियासिद्धेः, सदसत्ताविचारणात्।
तस्य स्वपररूपाभ्यां, गतेर्मेयद्वयं मतम्।। प्रमाण वा०–२. ५. ४

सामान्यलक्षण पररूप भेद है। उसके द्वारा अर्थक्रिया सम्पन्न नहीं होती, इसलिए उसे अवस्तु कहा गया है, किन्तु वह स्वलक्षण प्राप्ति में सहायक होने के कारण प्रमेय माना गया है। अथवा संवृत्ति सत् कहा गया है।

स्वलक्षण :–

जो अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है वहीं स्वलक्षण है।[३०४] स्वलक्षण को ही धर्मकीर्ति ने परमार्थसत् कहा है।[३०५] वही वस्तु भी है, क्योंकि वस्तु ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होती है।[३०६] अर्थक्रिया सामर्थ्य क्या है? इसका धर्मोत्तर ने स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जिसकी अर्थना की जाती है वह अर्थ है। वह हेय एवं उपादेय के रूप में दो प्रकार का होता है। हेय अर्थ को छोड़ा जाता है तथा उपादेय अर्थ को ग्रहण किया जाता है। ज्ञान एवं उपादान रूप प्रयोजन की क्रिया या निष्पत्ति अर्थक्रिया है, तथा उसमें शक्तियुक्त होना अर्थक्रिया सामर्थ्य कहलाता है।[३०७] स्वलक्षण अर्थक्रिया में समर्थ होता है, इसलिए वह वस्तु एवं परमार्थसत् कहा जाता है।[३०८]

स्वलक्षण को बाह्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हुए धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में उसे इस प्रकार पारिभाषित किया है–जिस अर्थ के सन्निधान अथवा असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता या अस्फुटता का भेद होता है वह स्वलक्षण है।[३०९] धर्मोत्तर कहते हैं कि स्वलक्षण वस्तु का असाधारण स्वरूप होता है।[३१०] मोक्षाकरगुप्त ने स्वलक्षण को देश, काल एवं आकार में नियत बतलाया है,[३११] तथा कहा है कि जो उदक लाने में समर्थ घटादि अर्थ हैं वे देश, काल एवं आकार में नियत रहकर प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत होकर प्रवृत्ति का विषय बनाते हैं तथा वे नित्यत्व आदि धर्मों से उदासीन रहकर विजातीय (पटादि) एवं सजातीय अर्थों से व्यावृत्त होते हैं, अतः स्वलक्षण कहे जाते हैं।[३१२] मोक्षाकार गुप्त के द्वारा

---

३०४. तत्र यदर्थक्रियासमर्थं तदेव वस्तु स्वलक्षणमिति। प्रमाण समु० टीका, पृ०–६

३०५. अर्थक्रियासमर्थं यत तदत्रपरमार्थसत्। प्रमाण वा०–२. ३

३०६. अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद् वस्तुनः। न्यायबिन्दु–१. १५

३०७. अर्थ्यत इत्यर्थः। हेय उपादेयश्च। हेयो हि....लक्षणम्।। न्यायबिन्दु टीका, १. १३, पृ०–७८

३०८. वस्तुशब्दः परमार्थपर्यायः। न्याय बिन्दु टीका–पृ०–७८

३०९. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निन्धानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्। न्यायबिन्दु–१. १३

३१०. स्वमसाधारणलक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। न्यायबिन्दु टीका–१. १२, पृ०–६९

३११. स्वलक्षणमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालकारनियतम्। तर्कभाषा, पृ०–११. १०

३१२. घटादिरूदकाद्याहरण समर्थोऽर्थो देशकालारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेक–धर्मोदासीन प्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीय व्यावृत्तः स्वलक्षणमित्यर्थः। तर्कभाषा, पृ०–११. ११

प्रदत्त यह स्वलक्षण स्वरूप बौद्ध चिन्तन में उत्तरकाल की परिणति है अतः बौद्ध मत में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

शान्तरक्षित ने प्रतिपादित किया है कि स्वलक्षण अर्थ सजातीय एवं विजातीय अर्थों से व्यावृत्त होने के कारण विशेषण से विशिष्ट होकर गृहीत नहीं होता है।[३१३] धर्मकीर्ति के वृत्तिकार मनोरथनन्दी ने धर्मकीर्ति कृत सामान्यलक्षण वर्णन के आधार पर स्वलक्षण को अनभिधेय, असाधारण, संकेत स्मरण से रहित, अर्थक्रियाक्षम आदि कहा है।[३१४] वाचस्पतिमिश्र ने न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका में देशतः अनुमान नहीं करने के कारण इसे परमार्थ एवं कालतः अनुगमन नहीं करने के कारण क्षणिक कहा है–

संक्षेप में स्वलक्षण के स्वरूप को निम्नाङ्कित बिन्दुओं में रखा जा सकता है :–

१. यह सजातीय एवं विजातीय अर्थों से व्यावृत्त होने के कारण असाधारण होता है।

२. देश एवं काल में अनुगत नहीं होता। इसका देश में विस्तार नहीं होने से यह परमार्थसत् एवं काल में विस्तार नहीं होने से क्षणिक होता है।

३. यह अर्थक्रिया सामर्थ्य से युक्त होता है।

४. यह शब्द द्वारा अनभिधेय एवं संकेतस्मरण से रहित होता है।

सामान्य लक्षण :–न्याय-वैशेषिक दर्शन में सामान्य को वास्तविक एवं प्रत्यक्ष योग्य एक पृथक् पदार्थ माना गया है। बौद्ध दार्शनिक इसका खण्डन करते हैं। बौद्धदर्शन में प्रतिपादित 'सामान्यलक्षण' अर्थ काल्पनिक एवं अवस्तुरूप है। यह अनुमान-प्रमाण का ग्राह्य विषय होता है। इसके माध्यम से स्वलक्षण अर्थ को प्राप्त किया जा सकता है अथवा अविसंवादी व्यवहार किया जा सकता है, इसलिए इसे संवृत्तिसत् कहा गया है। सामान्य लक्षण अर्थ स्वयं अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता, इसलिए इसे अवस्तु, अनर्थ आदि शब्दों से भी कहा गया है।[३१५]

---

३१३. सजातीयविजातीयव्यावृत्तार्थ ग्रहान्मतः।
विशिष्टविषयो बोधो न विशेषणमङ्क्ते।। तत्त्व संग्रह–१२७०.

३१४. द्रष्टव्य, मनोरथनन्दिवृत्ति, प्रमाण वार्तिक–२. ५१, पृ०–११६

३१५. (१) सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम्। प्र०वा०–पृ०–६
(२) अन्यत् संवृत्तिसत् प्रोक्तम्। प्रमाण वार्तिक–२. ३

सामान्यलक्षण प्रमेय को धर्मकीर्ति ने तीन प्रकार का प्रतिपादित किया है। १. भावाश्रय, २. अभावाश्रय एवं ३. उभयाश्रय।[३१६] रूपादि भावों के आधार पर कृत कृत्वादि शब्दों द्वारा वाच्य लिङ्ग भावाश्रय सामान्य है। उपलब्धि लक्षण प्राप्त की अनुपलब्धि होना आदि अभावाश्रय सामान्य है। भाव एवं अभाव में साधारण रहने वाले ज्ञेयत्व आदि उभयाश्रय सामान्य हैं।

धर्मकीर्ति प्रतिपादित करते हैं कि परमार्थसत् रूप से प्रमेय एक ही है–स्वलक्षण। किन्तु उसका ज्ञानस्वरूप से प्रत्यक्ष द्वारा एवं अनुमान से पररूप द्वारा होने के कारण प्रमेय को दो प्रकार का माना गया है–स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण।[३१७] सामान्य लक्षण विषय के द्वारा भी स्वलक्षण अर्थ को उसी प्रकार प्राप्त किया जा सकता है जिस प्रकार कि मणिप्रभा को मणि समझकर उसकी ओर देखने वाला पुरुष वहाँ पर मणि को प्राप्त करने में सफल होता है।[३१८] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सामान्य लक्षण प्रमेय के द्वारा भी अर्थक्रिया सामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण अर्थ को प्राप्त किया जाता है, इसलिए सामान्य लक्षण भी संवृत्तिसत् रूप में एक प्रमेय है।

सामान्यलक्षण की प्रतीति निर्विकल्पक नहीं होती। वह अवस्तु रूप होता है, क्योंकि वह शब्दों द्वारा अभिधेय है।[३१९] घट, वह्नि आदि शब्दों का प्रयोग सामान्य लक्षण अर्थ में ही होता है, स्वलक्षण अर्थ में नहीं। वस्तुतः स्वलक्षण सन्तान में रहा हुआ साधारण रूप ही सामान्य लक्षण प्रमेय है। यह स्वलक्षण सन्तान में साधारणरूपेण आरोपित किया जाता है। आरोपित होने से तथा सकल अग्नि में यह समस्त घटों में साधारण होने के कारण इसे सामान्यलक्षण कहा गया है। सामान्य लक्षण अर्थ के सन्निधान या असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में स्फुटता के रूप में भेद नहीं होता है।[३२०]

स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण में भेद :–स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण

---

३१६. सामान्यं त्रिविधम् तच्च भावाभावोभयाश्रयात्। प्र०वा०–२. ५१

३१७. (१) मेयं त्वेकं स्वलक्षणम्। प्र०वा०–२. ५३
(२) तस्य स्वपररूपाभ्यां गतेर्भेयद्वयं मतम्। प्रमाण वा०–२. ५४.

३१८. प्रमाणवार्तिक–२. ५७, द्रष्टव्य, द्वितीय अध्याय, पादटिप्पण–३६.

३१९. न तद् वस्त्वभिधेयत्वात्। प्रमाण वा०–२. ११.

३२०. तस्य समारोपितस्य सन्निधानाद् असन्निधानाच्च ज्ञानप्रतिभासस्य न भेदः स्फुटत्वेना स्फुटत्वेन वा। न्याय बिन्दु टीका–१. १६, पृ०–७९.

विषयों में मुख्य रूप से निम्नाङ्कित भेद किये जा सकते हैं।[३२१] १. स्वलक्षण विषय अर्थक्रिया में समर्थ होता है, इसलिए वह परमार्थसत् है। सामान्य लक्षण विषय अर्थक्रिया में समर्थ नहीं होता है तथापि व्यवहार में अविसंवादक होने से वह संवृत्तिसत् है।

२. स्वलक्षण विषय का शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जा सकता, जबकि सामान्यलक्षण विषय का शब्दों के द्वारा कथन किया जा सकता है। घट, वह्नि आदि शब्दों का प्रयोग सामान्यलक्षण में ही होता है, स्वलक्षण में नहीं।

३. स्वलक्षण विषय सर्वतो व्यावृत्त होने से असदृश अथवा असाधारण होता है, जबकि सामान्यलक्षण विषय में विजातीय व्यावृत्ति होने से सदृशता पायी जाती है।

४. विषय से भिन्न निमित्त के मिलने पर भी सामान्यलक्षण का ज्ञान हो सकता है, किन्तु स्वलक्षण का नहीं।

५. स्वलक्षण अर्थ प्रत्यक्ष का विषय होता है, जबकि सामान्यलक्षण अर्थ अनुमान प्रमाण का विषय बनता है।

६. स्वलक्षण अर्थ संकेतस्मरण से अनपेक्ष प्रतिपत्ति वाला होता है, जबकि सामान्य लक्षण की प्रतिपत्ति संकेतस्मरण के सापेक्ष होती है।

७. स्वलक्षण अर्थ सन्निधान एवं असन्निधान से स्फुटं रूप प्रतिभास भेद का जनक होता है जबकि सामान्यलक्षण अर्थ इस भेद का जनक नहीं होता।

विज्ञानवाद में प्रमाण, प्रमेय एवं फल-व्यवस्था :-

दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि दार्शनिक मूलतः विज्ञानवादी विचारधारा के दार्शनिक थे। अतः उन्होंने प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था को विज्ञानवाद में भी घटित करने का प्रयास किया है। धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय पर प्रमाणवार्तिक की रचना करते हुए यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि अर्थ एवं ज्ञान के सहोपलम्भ नियम[३२२] के आधार पर विज्ञानवाद में भी अर्थकारता एवं ज्ञानाकारता इन दोनों रूपों की सिद्धि हो जाती है। ज्ञान ही विकल्प वासना के कारण ग्राह्य

---

३२१. (१) शक्त्यशक्ति तः अर्थक्रियायाम्। प्र०वा०-२. १.
(२) सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः....धीसदसत्त्वतः। प्र०वा०-२.२.
(३) द्रष्टव्य, प्रमाण वार्तिक-२. ३, २७-२८-५०-५१ भी।

३२२. द्वैरूप्यं सहसंवित्तिनियमात् तच्च सिध्यति। प्रमाण वार्तिक-२. ३९८.

एवं ग्राहक भेद को ग्रहण कर लेता है।[३२३] परमार्थतः ज्ञान अविभागी है तथापि उसमें बाह्यार्थ प्रत्यक्ष की भाँति प्रमाण, प्रमेय एवं फल की व्यवस्था की जा सकती है।[३२४] मनोरथनन्दी कहते हैं कि ज्ञान का ग्राह्याकार रूप प्रमेय होता है, ग्राहकाकाररूप प्रमाण होता है तथा ज्ञान फलरूप होता है।[३२५]

जैन दार्शनिकों ने विज्ञान से पृथक् बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार की है, अतः वे ज्ञान में स्वसंवेदन स्वीकार करते हुए भी ज्ञान को आत्म प्रकाशक की भाँति अर्थप्रकाशक भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने विज्ञानवाद एवं उसमें प्रतिपादित प्रमाण, प्रमेय एवं फलव्यवस्था का मूलोच्छेदन किया है। अकलङ्क, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज, अभयदेव, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि सभी मूर्धन्य जैन दार्शनिकों ने विज्ञानवाद के निरसनार्थ लेखनी चलायी है जो स्वतन्त्र रूप से एक शोध-प्रबन्ध का विषय बन सकती है, किन्तु विस्तार भय से इसकी चर्चा यहाँ करना सम्भव नहीं है।[३२६] 'इति'

बौद्धदर्शन में प्रमाण फल :-

प्रमाण के साथ उसके फल की चर्चा भी अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। वैदिक एवं श्रमण सभी दर्शन प्रमाण के साथ फल की भी चर्चा करते हैं।

जैन एवं बौद्ध दोनों दर्शन प्रमाण एवं उसके फल को ज्ञानरूप मानते हैं। प्रमाण एवं प्रमिति (फल) दोनों को ज्ञानात्मक स्वीकार करने पर यह समस्या उठती है कि प्रमाण एवं फल दोनों जब ज्ञानात्मक हैं तो उनमें फिर क्या भेद है? बौद्ध दार्शनिकों ने प्रमाण एवं प्रमिति के स्वरूप में भेद स्थापित करते हुए ज्ञान में रहे हुए अर्थसारूप्य को प्रमाण[३२७] तथा अर्थाधिगति को फल[३२८] कहकर

---

३२३. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मविपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। प्रमाण वार्तिक-२. ३५८

३२४. यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः। क्रियते विद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम्।। प्रमाण वा०-२. ३५७

३२५. ग्राह्याकारो मेयः ग्राहकाकारो मानम् संवित्तिः फलमिति व्यवस्थाप्यते। मनोरथनन्दिवृत्ति प्रमाण वा०-२. ३५७, पृ०-२०६

३२६. (१) द्रष्टव्य, अनेकान्तजयपताका, भाग-२, पृ०-१-२०।
(२) द्रष्टव्य सिद्धिविनिश्चयटीका, भाग-२, पृ०-४१६।
(३) द्रष्टव्य स्याद्वादमञ्जरी, पृ०-१७६।

३२७. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। न्याय बिन्दु-१. २०.

३२८. अर्थप्रतीतिरूपत्वात्। न्यायबिन्दु-१. १९.

दोनों में भिन्नता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि ज्ञान एक है। तथापि उसके दो पहलू हैं–एक प्रमाणात्मक तथा दूसरा प्रमाण-फलात्मक। जब हम किसी बाह्य अर्थ का ज्ञान करते हैं तो हमारे ज्ञान में बाह्य अर्थ का आकार गृहीत होता है अथवा हमारा ज्ञान बाह्य अर्थ से सारूप्य रखता है, तभी हमें बाह्य अर्थ का वास्तविक ज्ञान हो पाता है। बाह्य अर्थ का ज्ञान होना प्रमाण का फल है तथा उसका आकार का ज्ञान में प्रतिभास होना प्रमाण है।

बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने ज्ञान के व्यापारात्मक स्वरूप को प्रमाण कहकर[३२९] उसके विषयाभास स्वरूप की ओर ही संकेत किया है। दिङ्नाग कहते हैं कि जब बाह्य अर्थ प्रमेय होता है तो ज्ञान की विषयाकारता ही प्रमाण कही जाती है, क्योंकि उस प्रमेय का ज्ञान विषयाकारता से होता है।[३३०] जैसे-जैसे अर्थ का आकार शुक्लादि रूप से ज्ञान में प्रतिभाषित होता है वैसे-वैसे वह अर्थ शुक्लादि रूप में प्रतीत होता जाता है।[३३१]

धर्मकीर्ति ने न्यायबिन्दु में ज्ञान को प्रमाण एवं फल स्वीकार करते हुए उसके द्वारा होने वाली अर्थप्रतीति को प्रमाण का फल तथा अर्थ-सारूप को प्रमाण कहा है।[३३२] प्रमाणवार्तिक में उन्होंने विषयाकारता को प्रमाण तथा अर्थसंविद् को प्रमाण-फल प्रतिपादित करते हुए उनका बाह्यार्थवाद के साथ विज्ञानवाद में भी व्यवस्थापन किया है। धर्मकीर्ति की रचना 'न्यायबिन्दु' पूर्णरूपेण सौत्रान्तिक मत को ज्ञापित कराती है जबकि प्रमाणवार्तिक में विज्ञानवाद का भी सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। विज्ञानवाद के अनुरूप प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमिति का व्यवस्थापन हुआ है। विज्ञानवाद के अनुरूप प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमिति का व्यवस्थापन दिङ्नाग ने भी किया है,[३३३] किन्तु धर्मकीर्ति ने उसको भलीभाँति प्रतिष्ठित किया है।[३३४] धर्मकीर्ति कहते हैं कि इष्ट या अनिष्ट बाह्य

---

३२९. सव्यापारप्रतीतत्वात् प्रमाणं फलमेव सत्। प्रमाण समुच्य-१. ९.

३३०. विषयाकारतैवास्य प्रमाणं तेन मीयते। प्रमाण समुच्चय-१.१०.

३३१. यथा-यथा ह्यर्थस्याकारः शुभ्रादित्वेन ज्ञाने प्रतिभाति तत्तद्रूपः स विषयः प्रतीयते। (तत्त्व संग्रह पञ्जिका भाग-१, पृ०-४८३-८४)

३३२. द्रष्टव्य, उपर्युक्त, पादटिप्पण-४७-४८.

३३३. यदाभासं प्रमेयं तत्प्रमाणमथ तत्फलम्। ग्राहकाकारसंवित्ति त्रयं नातः पृथक् कृतम्। प्रमाण समुच्चय-१. ११

३३४. द्रष्टव्य, प्रमाणवार्तिक-२. ३२० से २. ३७३, एक कारिका यथा-अविभागोऽपि. ...लक्ष्यते।। प्रमाण वार्तिक-२. ३५४.

अर्थ अपने सरूप ज्ञान का कारण होता हुआ उस ज्ञान का विषय बनता है तब उस ज्ञान में इष्ट या अनिष्ट आकार के रूप में बाह्य अर्थ का अनुभव होता है। इस ज्ञान में विषय का सारूप्य प्रमाण तथा बाह्यार्थ का ज्ञान फल है।[३३५] इसी प्रकार जब ज्ञानांश में विप्लव के कारण अर्थ की व्यवस्थिति का ज्ञान होता है तो ज्ञान को सविषय जानना चाहिए। तब उस ज्ञान में रही हुई विषयाकारता प्रमाण है तथा ज्ञानाकारता के अनुभव रूप जो अर्थ का निश्चय है, वह प्रमाण फल है।[३३६] इस प्रकार विषयाकारता या अर्थसारूप्य प्रमाण तथा विषयाधिगति या अर्थाधिगति फल है।

शान्तरक्षित, कमलशील आदि ने विज्ञानवाद के पक्ष में स्वसंवित्ति का फल तथा स्वसंवेदन की योग्यता को प्रमाण कहा है तथा बाह्यार्थ के पक्ष में विषयाधिगति को प्रमाणफल तथा विषय सारूप्य को प्रमाण स्वीकार किया है।[३३७]

इस प्रकार ज्ञान को प्रमाण एवं फल दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए भी बौद्धदार्शनिक आपेक्षिक दृष्टि से उसमें कथञ्चित् भेद का प्रतिपादन करते हुए दोनों का व्यवस्थापन करते हैं।

व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव :–अर्थ सारूप्य को प्रमाण एवं अर्थाधिगति को फल प्रतिपादित करते हुए बौद्ध दार्शनिकों ने उनमें व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव से साधन एवं साध्य का द्योतन किया है, जन्य-जनक भाव से नहीं।[३३८] मीमांसकों एवं नैयायिकों ने प्रमाण तथा फल में जन्य-जनक भाव स्वीकार किया है। बौद्ध दार्शनिकों ने एक ही ज्ञान में प्रमाण एवं फल की व्यवस्था करने के लिए अर्थसारूप्य को प्रमाण कहकर उसे व्यवस्थापक तथा अर्थाधिगति को फल कहकर उसे व्यवस्थाप्य प्रतिपादित किया है,[३३९] तथा इससे प्रतिकर्म या प्रतिनियत व्यवस्था का संचालन माना है।

---

३३५. यदा निष्पन्नतद्भाव इष्टाऽनिष्टोऽपि वा परः।
विज्ञप्ति हेतुर्विषयस्तस्याश्चानुभवस्तथा।। प्रमा०वा०–२. ३३८

३३६. यदा सविषयं ज्ञानं ज्ञानांशेऽर्थ व्यवस्थितेः।
तदा य आत्मानुभवः स एवार्थ विनिश्चयः।। प्रभा०वा०–२. ३३९

३३७. विषयाऽधिगतिश्चात्र प्रमाण फलमिष्यते। स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।। तत्त्व संग्रह–१३४३.

३३८. (१) धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका, १. २१, पृ०–८८। (२) तत्त्व संग्रह पञ्जिका–१३४५, पृ०–४८८

३३९. व्यवस्थापनहेतुर्हि सारूप्य तस्य ज्ञानस्य।
व्यवस्थाप्यं च नीलसंवेदनरूपम्।। न्याबिन्दु टीका–१. २१, पृ०–८८.

तदुत्पत्ति, तद्रूपता एवं तदध्यवसाय :-

प्रमाण एवं फल में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव स्वीकार करने के साथ ही बौद्धदर्शन में तदुत्पत्ति, तद्रूपता एवं तदध्यवसाय शब्दों का आगमन हुआ। मैं जिस वस्तु का ज्ञान कर रहा हूँ, उसका ज्ञान वस्तुसरूप अर्थात् तद्रूप कैसे हो जाता है? इसका समाधान करने के लिए बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि अमुक ज्ञान अमुक वस्तु से उत्पन्न होता है। ज्ञान की उत्पत्ति में वस्तु अर्थात् "अर्थ" कारण है। अर्थ से उत्पन्न होने के कारण ही ज्ञान में अर्थ का सारूप्य किंवा ताद्रूप्य आता है और ताद्रूप्य आने पर वस्तु का अध्यवसाय होता है। समासतः कहें तो तदुत्पत्ति से ताद्रूप्य एवं ताद्रूप्य से तदध्यवसाय होता है। जिस नीलवस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह ज्ञान नीलवस्तु के सारूप्य होता है तथा नीलाकार होने से नील वस्तु का नीलरूप में अध्यवसाय होता है।[३४०] वस्तुतः तदुत्पत्ति एवं ताद्रूप्य से ही प्रतिनियत व्यवस्था शक्य होती है।

प्रमाणाभास :-

सभी दर्शन अपने प्रमाण लक्षण से इतर प्रमाण स्वरूप को प्रमाणभास की श्रेणी में रखते हैं। यही कार्य बौद्ध एवं जैन दार्शनिकों ने भी किया है। जैन दार्शनिक वादिदेवसूरि ने प्रमाणाभास को स्वरूप संख्या विषय एवं फल के आधार पर चार प्रकार का प्रतिपादित किया है।[३४१] माणिक्यनन्दी ने अस्वसंविदित, गृहीतार्थ दर्शन, (निर्विकल्पक ज्ञान) एवं संशय आदि को स्वरूप से प्रमाणाभास कहा है।[३४२] इनके प्रमाणाभास होने का वे कारण मानते हैं कि ये अपने विषय का निश्चय नहीं करा पाते हैं।[३४३] जिस प्रकार दूसरे पुरुष का ज्ञान अपने विषय का ज्ञान नहीं कराता उसी प्रकार अस्वसंविदित अर्थात् अस्व-प्रकाशक ज्ञान अपने विषय का निश्चय नहीं करता है। माणिक्यनन्दी दिगम्बर जैन दार्शनिक हैं तथा वे प्रमाण लक्षण में स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहते है। इसलिए उनके मत में गृहीतार्थ ग्राही ज्ञान भी प्रमाणभास की श्रेणी में आता है। इसलिए उनके मत में गृहीतार्थग्राही ज्ञान भी प्रमाणाभास की श्रेणी में आता है। श्वेताम्बर जैन दार्शनिक इसे प्रमाण ही मानते हैं, प्रमाणाभास नहीं। माणिक्यनन्दी ने

३४०. प्रमाण वार्तिक-२. ३२०-३२५।

३४१. प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम्। प्रमाण नय तत्त्व श्लोक-६. २३।

३४२. अस्वसंविदितगृहीतार्थ दर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः। परीक्षामुख-६. २।

३४३. स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्। पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत्। परीक्षामुख-६. ३-४।

निर्विकल्पक दर्शन को प्रमाणाभास कहा है, क्योंकि वह अपने विषय का निश्चय नहीं करता। संशय विपर्यय एवं अनध्यवसाय को भी वे अपने विषय का निश्चय नहीं होने के कारण प्रमाणाभास मानते हैं।

वादिदेवसूरि ने स्वरूप की दृष्टि से अज्ञान अनात्मप्रकाशक ज्ञान, स्वमात्र प्रकाशक ज्ञान, निर्विकल्पक ज्ञान एवं समारोप अर्थात् संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को प्रमाणाभास कहा है,[३४४] क्योंकि इनसे स्व एवं पर का व्यवसाय नहीं होता।[३४५] अज्ञान शब्द के द्वारा वे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि को अनात्मप्रकाशक ज्ञान के द्वारा वे नैयायिकादि के द्वारा कल्पित मात्र परप्रकाशक ज्ञान को स्वमात्र प्रकाशक ज्ञान के द्वारा वे विज्ञानवादियों के ज्ञान को निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा बौद्धमत चतुर्विध प्रत्यक्ष के प्रमाणाभास कहते हैं। समारोप के अन्तर्गत वे संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय को रखकर उन्हें भी प्रमाणाभास कहते हैं। वादिदेवसूरि ने जैनदर्शन में प्रतिपादित 'दर्शन' को भी अज्ञानात्मक होने के कारण अप्रमाण या प्रमाणाभास कहा है।[३४६]

स्वरूपाभास के रूप में प्रमाणाभास जहाँ प्रमाण के स्वरूप पर आधृत है वहाँ संख्याभास के रूप में वह प्रमाण की संख्याओं पर आधृत है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दो ही प्रमाण होते हैं इनमें भिन्न प्रमाण संख्या मानना संख्याभास के अन्तर्गत सम्मिलित होता है।[३४७] बौद्धदर्शन में संख्या की दृष्टि से यद्यपि दो ही प्रमाणमान्य हैं–प्रत्यक्ष एवं अनुमान, किन्तु अनुमान में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं आगम प्रमाणों का समावेश नहीं होता है, परोक्ष प्रमाण में हो जाता है, इसलिए बौद्ध मान्य दो प्रमाण भी जैन दृष्टि से संख्याभास से दूषित है। प्रमाण का विषय जैन दर्शन में सामान्यविशेषात्मक वस्तु है। इसके भिन्न केवल सामान्य केवल विशेष अथवा दोनों को भिन्न-भिन्न विषय मानना

---

३४४. अज्ञानात्मकानात्म प्रकाश स्वमात्रावभास निर्विकल्पकसमारोपाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः। (प्रमाण नयतत्त्वलोका–६. २४.)

३४५. तेभ्यः स्वपरव्यवसायस्यानुपपत्तेः। प्रमाणनयतत्त्वालोक–६. २६।

३४६. यथा सन्निकर्षाद्यस्वसंविदित परानवभासकज्ञान दर्शन विपर्यय संशयानध्यवसायाः। (प्रमाणनयतत्त्वा श्लोक–६. २५.।

३४७. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम्। प्रमाणनयतत्त्वालोक–६. ८५

विषयाभास रूप प्रमाणाभास है।[३४८] इस दृष्टि से बौद्धदर्शन में मान्य दो विषय स्वलक्षण एवं सामान्य लक्षण भी जैन मत में विषयाभास के दोष से ग्रस्त हैं। स्वरूप संख्या एवं विषय के समान फल पर आधृत आभास फलाभास है। जैन दार्शनिक प्रमाण एवं उनके फल को एक दूसरे से कथञ्चित् भिन्न एवं कथञ्चित् अभिन्न मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक दोनों को प्रायः अभिन्न मानते हैं, नैयायिक आदि भिन्न मानते हैं इसलिए जैनों के अनुसार बौद्ध एवं नैयायिकों की मान्यता फलाभास है।[३४९]

जिस प्रकार प्रमाण की तरह प्रतीत होने वाले अप्रमाणाभास कहा गया है उसी प्रकार प्रत्यक्षाभास, अनुमान भास, आगमाभास, स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास आदि आभासों को भी उपपन्न कर लिया जाता है। जैन दार्शनिक माणिक्यनन्दी एवं वादिदेवसूरि ने इनका सोदाहरण विवेचन किया है।[३५०] माणिक्यनन्दी ने बौद्धमान्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को अविशद होने से प्रत्यक्षाभास कहा है। वादिदेवसूरि ने सांव्यावहारिक एवं पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास के पृथक्-पृथक् लक्षण किए हैं। वस्तुतः सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष न होने पर भी मेघों में गन्धर्वनगर की भाँति जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप प्रतीत हो, वह सांव्यावहरिक प्रत्यक्षाभास है। इसी प्रकार जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष न होने पर भी पारमार्थिक प्रत्यक्ष जैसा प्रतीत हो उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास कहा गया है। यथा शिव नामक राजर्षि को हुआ असद् अवधिज्ञान (विभङ्गज्ञान)। शिव राजर्षि को अपने ज्ञान में असंख्यात द्वीप-समुद्रों के स्थान पर सात द्वीप-समुद्र ही सत्य प्रतीत हुए।

स्मरणाभास का लक्षण देते हुए वादिदेवसूरि ने कहा है कि अननुभूत (अज्ञात) वस्तु की 'वह है' इस तरह पूर्वज्ञात की भाँति स्मृति होना स्मरणाभास है। सदृश पदार्थों में यह वही है, एक पदार्थ में यह उसके सदृश है। आदि ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है। व्याप्ति के न होने पर भी व्याप्ति का आभास होना तर्काभास है। अनुमानाभास के लिए कहा गया है कि पक्षाभास आदि से उत्पन्न होने वाला

---

३४८. सामान्यमेव, विशेष एव तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाभासः। वही-६. ८६

३४९. अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं तस्य तदाभासम्। प्रमाण० तत्त्वलोक-६. ८७

३५०. द्रष्टव्य परीक्षामुख एवं प्रमाणनयतत्त्वालोक के षष्ठ परिच्छेद।

ज्ञान अनुमानाभास है। अनाप्तपुरुष के वचन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगमाभास कहा गया है।

बौद्धदर्शन के अनुसार विसंवादक एवं ज्ञात अर्थ का ग्राहक ज्ञान प्रमाणाभास है, ऐसा उनके द्वारा प्रदत्त प्रमाणलक्षणों (प्रमाणविसंवादिज्ञानम्)[३५१] एवं 'अज्ञातार्थज्ञापकमिति प्रमाणसामान्य लक्षणम्' से विदित होता है।[३५२] बौद्धदर्शन में प्रतिपादित प्रत्यक्षाभास का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है।[३५३]

तत्त्व मीमांसा

बौद्धदर्शन की तत्कालीन परिस्थियाँ :—महात्मा बुद्ध की यह मान्यता नहीं थी कि जो कुछ वे कहते हैं उसको बिना विचार के माना जाए। उनका कहना था कि "मेरे विधान को मुझ में केवल आस्था रखने वाले ही स्वीकार न करें, अपितु जिस प्रकार सोने को अग्नि में तपाकर उसकी परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार मेरे विचारों की परीक्षा करनी चाहिए।" महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय देश की बहुत विचित्र स्थिति थी।[३५४] डॉ० राधा कृष्णन् ने महात्मा बुद्ध की तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय समस्त वातावरण परस्पर-विरोधी मन्तव्यों की कल्पनाओं के एक राशिभूत पुंज से परिपूर्ण था, और जो व्यक्तियों के साथ बदलता था एवं वैयक्तिक आचरण, भावनाओं एवं उनके निर्माताओं की आन्तरिक इच्छाओं को प्रतिबिम्बित करता था। उस समय ऐसे कोई मान्य सत्य एवं सिद्धान्त नहीं थे जिन्हें सब लोग एकमत होकर स्वीकार कर सकें। किन्तु मात्र द्रावक विचार एवं अन्तः प्रेरणाएं मिलती थी। उस समय जो जगत् एवं आत्मा की नित्यता, अनित्यता अथवा दोनों में से एक भी नहीं, सत्य तथा आभास की पहचान एक परलोक की वास्तविकता, मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व एवं इच्छा के स्वातन्त्र्य आदि के विषय में संवाद अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में आ गए थे। कुछेक विचारक मन और आत्मा को एक ही मानते थे, जबकि अन्य उनमें परस्पर-भेद मानते थे। कुछ परमेश्वर को सर्वोपरि मानते थे तो अन्य ऐसे भी थे जो मनुष्य को ही सर्वोपरि स्वीकार करते थे। कुछ का तर्क था कि हम इस विषय में कुछ नहीं जानते,

---

३५१. प्रमाण वार्तिक—१. ३

३५२. प्रमाण समुच्चय टीका, पृ०—११

३५३. द्रष्टव्य, तृतीय अध्याय, पृ०—१२१

३५४. दिव्यावदान ग्रन्थ

दूसरे कुछ व्यक्ति अपने श्रोताओं को बड़ी-बड़ी आशाओं एवं विश्वास के साथ निश्चय दिलाकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते थे। कुछ परिष्कृत अध्यात्मविद्या-सम्बन्धी कल्पनाओं के निर्माण में व्यस्त थे, इसके विपरीत, दूसरी ओर वे भी थे जो उक्त कल्पनाओं के खण्डन में उतना ही परिश्रम कर रहे थे। उस काल में वैदिक परम्परा से एकदम निरपेक्ष अनेक कल्पनाओं ने जन्म लिया। उस काल में हमें निग्गण्ठ मिलते हैं जो अपने को सब बन्धनों से मुक्त कहते थे। श्रमण मिलते थे, अर्थात् ऐसे तपस्वी जो ब्राह्मणों से भिन्न थे, और जो संसार को त्याग देने में ही आत्मा के लिए शान्तिलाभ मानते थे, ऐसे भी थे जो आत्मनियन्त्रण के लिए दीर्घकाल तक अन्नग्रहण को त्याग देते थे, ऐसे भी थे, जिन्होंने आध्यात्मिक साधना के लिए संसार निवृत्ति के लिए प्रयत्न किया था, तथा नैयायिक वितर्कवादी, भौतिकवादी एवं संशयवादी सभी तरह के लोग।

इसके अतिरिक्त ऐसे भी थे जो अपने आत्माभिमान के कारण अपने से बढ़कर किसी को ज्ञानी नहीं समझते थे, जैसा सच्चक, जो धृष्टता के साथ यहाँ तक कहा गया है कि "ऐसा कोई भी श्रमण, ब्राह्मण, शिक्षक, आचार्य अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष का मुखिया भले ही वह अपने को पवित्रात्मा, सर्वोपरि बुद्ध ही क्यों न कहे नहीं है जो यदि शास्त्रार्थ में मेरे सामने आने का साहस करें तो लड़खड़ा न जाए, काँपने न लगे, उसे भय के मारे पसीना न छूटने लगे। यदि मैं एक जड़ खम्भे पर भी अपनी वाणी का प्रहार करूँ तो वह भी लड़खड़ा जाए और उसे भी कंपकंपी आने लगे, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है।"[३५५] यह कल्पनाओं की अस्तव्यस्तता का काल था और असंगत परमार्थ विद्याओं एवं अनिश्चित वितण्डावादों और वाक्कलहों से भरपूर था।[३५६]

इस प्रकार अध्यात्मविद्या की ओर प्रवृत्ति रखने वाले लोगों की समृद्ध कल्पनाशक्ति देश, काल एवं नित्यता आदि के प्रश्नों का समाधान करते हुए अपना मन बहलाती रही, और उन्होंने दर्शनशास्त्र की अत्यन्त श्रेष्ठ कला को एक अत्यन्त सामान्य रूप दे दिया। किन्तु महान् सत्य अस्पष्ट एवं रहस्यमय आध्यात्मिक ज्ञान के पीछे छिपे पड़े रहे। ये वे लोग हैं जो कल्पनापरक साहित्य

---

३५५. ओल्डनवर्ग : 'बुद्ध' पृ० ७०

३५६. गौतमबुद्ध के समय में प्रचलित ६२ कल्पनाओं का जिनका 'ब्रह्मजालसुत्त' में उल्लेख है, रीज डेविड्स ने अपने अमेरिकन लेक्चर्स ऑन बुद्धिज्म' नामक ग्रन्थ में विश्लेषण किया है।

के मार्ग में से स्फुटित होते हुए सत्य को नहीं ग्रहण कर सकते। एक-दूसरे के ऊपर आक्रमण करते हुए श्रद्धोन्माद ने परस्पर विसंवादी या असंगत शास्त्रपद्धतियों ने, एवं मिथ्या विश्वास के ज्वारभाटे ने मिलकर बुद्ध के हृदय पर एक अजीव असर डाला और वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अध्यात्मविद्या सम्बन्धी ये सब विचार मनुष्य को शान्ति दे सकने में असमर्थ हैं। पारलौकिक कल्पनाओं के सूक्ष्म विभेदों से अथवा अविराम प्रश्नात्मक प्रवृत्ति से, या दार्शनिक सम्प्रदायों के जटिलवाद विवादों के द्वारा तर्क को सूक्ष्म और परिमार्जित करने में आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णयशून्य विचार भले ही मनुष्य के मस्तिष्क पर कोई कुप्रभाव उत्पन्न न करें, उसके नैतिक हित के लिए अवश्य ही हानिकर सिद्ध होता है। विचार के क्षेत्र की अव्यवस्था से नैतिक क्षेत्र में भी अव्यवस्था आती है। इसलिए बुद्ध ने परलोकशास्त्र सम्बन्धी वाद विवादों को, जिनसे कोई भी लाभ उन्हें प्रतीत नहीं हुआ, एकदम ही छोड़ देना उचित समझा। बौद्धधर्म में अध्यात्मविद्या या परलोक शास्त्र का जो भी विषय हमें मिलता है, वह मौलिक 'धम्म' नहीं है, अपितु उसमें पीछे से जोड़ा गया है, अर्थात् अभिधम्म है।[३५७] बौद्धधर्म अनिवार्य रूप से मनोविज्ञान तर्कशास्त्र एवं नीतिशास्त्र का समुच्चय है। उसमें अध्यात्मशास्त्र सन्निविष्ट नहीं है।

भारत जैसे विस्तृत भूभाग में देवताओं की कल्पना करने में मनुष्य की अद्भुत क्षमता और बहुदेववाद के प्रति दुर्दमनीय मानसिक प्रेरणा को स्वच्छन्द कार्यक्षेत्र मिला। उस समय देवी-देवताओं और प्रेतात्माओं का ही शासन जनसाधारण के मन पर था, जिनमें नुकसान पहुँचाने और तंग करने की शक्ति थी, अथवा प्रसन्न होकर वरदान देने एवं गौरवान्वित कर देने की भी शक्ति थी। अधिकाँश लोग वैदिक धर्म को बहुत ऊँची श्रद्धा से देखते थे, जिसमें तरह-तरह के सम्प्रदायों, क्रियाकलापों, कर्मकाण्डों और धार्मिक अनुष्ठानों की भरमार थी। ठीक यूरोप के उन मूर्तिपूजकों की भाँति जो धनवान होने की अभिलाषा को लेकर अग्दिदेवता को मस्तक नवाते थे और अपनी गृहसामग्री का दसवाँ हिस्सा अर्पण करते थे, बीमारी से छुटकारा पाने के लिए एस्कूपिअस नामक देवता को मुर्गा चढ़ाते थे, वे लोग देवताओं को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। यहाँ तक कि

---

३५७. 'अभि' परे 'धम्म' भौतिक विज्ञान। मेधम्नो का आगे चलकर अभिधम्न में विश्लेषण किया गया है। अरस्तु से तुलना कीजिए। देखिए-अत्थसालिनी : प्रारम्भिक संवाद।

एकेश्वर वादियों का परमेश्वर भी अधिकतर मनुष्यों के ही समान एक देवता था, यद्यपि वह वीर प्रकृति का था, और यदि उसे स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वह बहुत दयालु रहता था। पर यदि कोई उसकी अवहेलना करे तो कुद्ध हो जाने वाला था, और क्रोध शान्त हो जाने पर क्षमाशील भी था। उस एकमात्र परमेश्वर का अपने उपासकों के साथ जैसा चाहता था व्यवहार करता था और युद्ध में हमें शत्रुओं का सामना करने का आदेश देता था। वह संसार के अन्दर आवश्यकता से अधिक दखल देता था। धूमकेतु उसके कोप के प्रतीक थे, जो कि पापपूर्ण संसार को चेतावनी देने के निमित्त प्रेषित किए गये थे। यदि चेतावनी की अवहेलना की जाती तो वह जनसंख्या के दशांश का संहार करने के वास्ते महामारी भेज सकता था। चमत्कार उस समय के लिए साधारण घटना थी। यद्यपि उपनिषदों के द्वारा एक व्यापक नियम की कल्पना तो की जा चुकी थी, किन्तु वह एक जागृति विश्वास के रूप में नहीं आई थी, और कठोर एकेश्वरवाद का परिणाम यह हुआ कि कुल उत्तर-दायित्व परमेश्वर के ऊपर डाल दिया जाता था। यदि हम बुरे हैं तो उत्तरदायी वही परमेश्वर है, यदि अच्छे हैं तो भी वही उत्तरदायी है या तो केवल मन की मौज से अथवा किसी पूर्वपुरुष के किसी पापकर्म द्वारा अपमान किये जाने के कारण उसने मनुष्य जाति के अधिकांश भाग को निराशा एवं दुःख का जीवन बिताने की व्यवस्था की है।[३५८]

बौद्धदर्शन की चार शाखाएं :-

बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय (शाखा) माने जाते हैं, इनसे दो का सम्बन्ध हीनयान से है और दो का सम्बन्ध महायान से है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक जो यर्थाथवादी अर्थात् सर्वस्तिवादी हैं। इनकी यह अवधारणा है कि देश और काल की अवधि से जकड़ा हुआ यह संसार वस्तु स्थिति में है। इसमें मन की स्थिति भी अन्य सीमित वस्तुओं के साथ ही एक समान है ये सम्प्रदाय हीनयान के सम्प्रदाय माने जाते हैं। माध्यमिक तथा योगाचार महायान शाखा के सम्प्रदाय है। योगाचार की मान्यता है कि विचार ही से सब कुछ निर्मित होता है, यह परमतत्त्व है। अर्थात् यही यथार्थता का परमरूप है। माध्यमिक दर्शन एक निषेधात्मक तथा विवेचनात्मक पद्धति का नाम है। माध्यमिक दर्शन महायान सूत्रों की अध्यात्म विद्या सम्बन्धी पृष्ठ भूमि का निर्माण करती है। इनको कहीं-कहीं पर सर्ववै-नाशिक अर्थात् शून्यवादी भी कहा गया है।

---

३५८. भारतीय दर्शन का इतिहास-डॉ० राधाकृष्णन; पृ० ३२३-२४।

बौद्धदर्शन के इन उपर्युक्त चार सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव का कारण यह माना जाता है कि महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्धों में अनेक प्रकार के मतभेद उत्पन्न होने लगे। यह मतभेद इतना उग्ररूप धारण कर चुके थे कि वे वैशाली की परिषद् में भी इन मतभेदों सम्बन्धी विवाद के कारण ही महासंघ नाम की एक बड़ी सभा को जन्म दिया। जिसकी व्यवस्था सम्बन्ध एवं विच्छेद करने वालों ने की थी, जो बाद में आठ विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गये थे। वैशाली परिषद् का आयोजन करने वाले 'थेरा तथा स्थविर' लोगों ने भी ईशा से पूर्व दूसरी शताब्दी में अनेक सम्प्रदायों का प्रकाश किया था।

यद्यपि बौद्ध धर्म के अन्तर्गत कल्पनात्मक पद्धतियों की उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ यों तो बहुत पहले से विद्यमान थी, परन्तु उनको व्यवस्थित रूप में अर्थात् संहिता के आकार में कनिष्क के समय के बाद में ही किया गया। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् तीसरी शताब्दी में वैभाषिक सम्प्रदाय ने जोर पकड़ा। सौत्रान्तिक ने चौथी शताब्दी में जोर पकड़ा था, आर्यदेव की मान्यता के अनुसार माध्यमिक सम्प्रदाय बुद्ध की मृत्यु के पाँच सौ वर्ष के पश्चात् का माना जाता है।

योगाचार सम्प्रदाय का संस्थापक आचार्य असंघ इनमें सबसे अर्वाचीन है, जो ईशा के पश्चात् तीसरी शताब्दी का माना जाता है। जीवन की दुसाध्य समस्या पर बौद्धदर्शन का इतिहास एक निश्चित् मतवादी है। बौद्धदर्शन भारत को यथार्थरूप में धार्मिक मोक्ष कराने में असफल अवश्य रहा, परन्तु सरल एवं शुद्ध जीवन पर जोर देता रहा।

वैभाषिक मत :–

वैभाषिक सम्प्रदाय का नाम वैभाषिक क्यों पड़ा? इसके विषय में कहा जाता है कि वे अन्य सम्प्रदायों की भाषा को असंगत अर्थात् विरुद्ध भाषा मानते हैं। इस कारण भी उनको यह संज्ञा दी गई कि उन्होंने अपना सम्बन्ध विभाषा अथवा अभिधर्म की टीका से जोड़ा। वे सूत्रों की सत्ता को अस्वीकार करते हैं और केवल अभिधर्म को ही मान्यता प्रदान करते हैं। वे अनुभव को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि अनुभव ही पदार्थों के स्वरूप का निर्दोष साक्षी है। अनुभव से उनका तात्पर्य उस ज्ञान से है, जो पदार्थ के साथ सीधा सन्निकर्ष होने पर प्रादुर्भूत होता है। संसार प्रत्यक्ष ज्ञान का क्षेत्र है। यह सोचना कि बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, गलत है, क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के अनुमान नहीं हो सकता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान से हमें उचित सामग्री उपलब्ध न हो तो हम व्याप्ति का प्रतिबोधन

भी नहीं कर सकते। पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र भी अनुमान की प्राप्ति हो सकती है। यह बात एक साधारण बुद्धि में नहीं आ सकती। इसलिए पदार्थों का विभागीकरण दो प्रकार का है—एक वे जो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं, दूसरे वे जो अनुमान द्वारा जाने गए हैं। इन्द्रियगम्य और तर्कनीय अथवा चिन्तनीय। यद्यपि बाह्य पदार्थों की इतस्ततः सत्ता का ज्ञान अनुमान द्वारा भी किया जा सकता है, परन्तु साधारणतः उनकी सत्ता का निर्देश प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। विचारों के आन्तरिक जगत् और पदार्थों के बाह्य जगत् के मध्य प्रायः भेद किया जा सकता है। परन्तु प्रकृति में जिस प्रकार का पदार्थों का एकत्रीकरण होता है एवं विचारों में जिस प्रकार उनका एकत्रीकरण होता है उन दोनों प्रकारों में परस्पर अन्तर है। इस प्रकार वैभाषिक स्वभावतः द्वैतवादी है जो प्रकृति एवं मन की पृथक् सत्ता को स्वीकार करते हैं। प्रमाणवाद की दृष्टि से उनका सिद्धान्त एक सरल और अकृत्रिम यथार्थवाद है। मस्तिष्क पदार्थों से अभिज्ञ रहता है। अपने ऐसे ज्ञान को अथवा ऐसे पदार्थों के विषय में अपनी अभिज्ञता को जो मानसिक नहीं है, निर्माण न कहकर हम केवलमात्र खोज कहेंगे। पदार्थ पहले से उपस्थित हैं। पदार्थों का वस्तुतत्त्व नित्य एवं सत् है, और वह भूत् वर्तमान एवं भविष्यत् काल के इन तीनों विभागों में विद्यमान रहता है।

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दोनों ही बाह्य जगत् की यथार्थता को स्वीकार करते हैं। वे पदार्थों में बाह्य एवं अबाह्य अथवा आभ्यन्तर, इस प्रकार का भेद करते हैं। बाह्य पदार्थों के विभाग में भूत अथवा तत्त्व एवं भौतिक पदार्थ आते हैं। आभ्यन्तर पदार्थों के विभाग में चित्त अथवा बुद्धि एवं चैत्त अर्थात् बुद्धि सम्बन्धी पदार्थ आते हैं।

इनके अनुसार तत्त्व चार हैं पाँच नहीं। पृथ्वी जो कठोर है, जल जो शीतल है, अग्नि जो ऊष्ण है, एवं वायु जो गतिमान् है। पाँचवे तत्त्व आकाश को वे नहीं मानते। बाह्य पदार्थ परम अणुओं की अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार एकत्रीकरण का परिणाम है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक दोनों ही आणविक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। सब पदार्थ अन्त में जाकर और विभक्त होकर अणुओं के रूप में आ जाते हैं। वैभाषिकों का मत है कि अणु के छः पार्श्व हैं और फिर भी अणु स्वयं एक ही है, क्योंकि अणु के अन्तर्गत आकाश या देश अविभाज्य है। वे यह भी मानते हैं कि अणु पुंजरूप में ही देखे जा सकते हैं और उन्हें

अलग-अलग नहीं देख सकते। ठीक इसी प्रकार से बालों को हम समूहरूप में देख सकते हैं किन्तु एक बाल अलग देखने में सूक्ष्म है।[३५९]

वसुबन्धु के अनुसार अणुरूप का अत्यन्त छोटा कण है।[३६०] इसे कहीं स्थापित नहीं किया जा सकता न इसको पैर के नीचे दबाया जा सकता है एवं इसे पकड़ना व आकृष्ट करना भी असम्भव है। यह न तो लम्बा है और न छोटा, न वर्गाकार है और न गोलाकार, न वक्र है और न सीधा, न ऊँचा है और न नीचा ही। यह अविभाज्य, अविश्लेष्य, अदृश्य है, श्रवण का विषय नहीं, अस्थायी एवं अस्पर्शनीय है।[३६१] अणु एक-दूसरे के अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक द्विगुणित अथवा त्रिगुणित अणुओं को स्वीकार नहीं करते, यद्यपि अणुओं का अनन्त एकत्रीकरण उन्हें अभिमत है। मिश्रित पदार्थ आदिम तत्त्वों से मिलकर बने हैं। शरीर जो इन्द्रियगोचर होते हैं, अणुओं के ही एकत्रीकरण से बने हैं। भौतिक पदार्थ जो इन्द्रियों को बाधा प्रदान करते हैं, रूप की चतुर्विध आधार भूमि के संग्रह है, अर्थात् वर्ग, गंध, स्वाद एवं स्पर्श के संग्रह। इस चतुर्विध गुण से रखने वाली इकाई ही परमाणु है जिसका आगे अश्लेषण नहीं हो सकता। परमाणु भी जब परस्पर संयुक्त हो जाते हैं तो दृष्टिगोचर हो सकते हैं। दृष्टिगोचर हो सकने योग्य आणविक इकाई अणु है जो परमाणुओं का एकत्रीकरण है। समस्त तत्त्वों के अन्दर पृथ्वी, वायु, अग्नि और जल रखने वाले अणु एक समान हैं। यद्यपि भौतिक पदार्थों में चारों भिन्न-भिन्न तत्त्वों के गुण विद्यमान हैं तो भी ऐसा होता है कि कुछ अवस्थाओं में कुछ तत्त्व अपनी क्रियात्मक शक्ति का प्रदर्शन करते हैं जबकि अन्य तत्त्व गुप्त अवस्था में रहते हैं। कठोर धातु में पृथ्वीतत्त्व, बहती हुई नदी में जलतत्त्व एवं जाज्वल्यमान अग्नि ज्वाला में अग्नि तत्त्व की प्रधानता रहती है। सर्वास्तिवादी दो लोकों में परस्पर भेद करते हैं। अर्थात् भाजनलोक वह विश्व जो वस्तुओं का आवासस्थान है, और सत्त्वलोक जो जीवित प्राणियों का संसार है। पहला दूसरे लोक की सेवा के लिए है। चित्त विप्रयुक्त धर्म संयुक्त शक्तियाँ हैं जो प्रकृति एवं मन से भिन्न हैं जैसे कि प्राप्ति और अप्राप्ति। वे वास्तविक नहीं है, किन्तु केवल गुप्त है और वास्तविक सत्ता

---

३५९. न्यायसूत्रों के मत में, अणु इन्द्रियातीत है, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। न्यायसूत्र २ : १, ३६, ४ : २, २४

३६०. परमाणु रूप का सूक्ष्मतम आकार हैं। इसके अन्दर छिद्र नहीं हो सकता, न इसे उठाया और न फेंका जा सकता है।

३६१. अभिधर्ममहाविभाषा।

के रूप में आ जाती है। जब वह अपने को किसी मानसिक अथवा एक भौतिक आधार से सम्बद्ध करती है।

प्रत्यक्ष कारक अथवा उपलब्धि करने वाला सिद्ध विज्ञान है। और चेतना (चित्त अथवा मन) का अधिष्ठान स्थायी है। स्मृति एक चित्तधर्म अथवा चित्त का एक गुण है। इन्द्रियों के विषय है रूप (वर्ण अथवा आकृति), स्वाद, गन्ध, स्पर्श और शब्द। इन पाँच इन्द्रियविषयों के अनुकूल पाँच इन्द्रियाँ दी गई हैं। बाह्य विषयों को ग्रहण करने के पश्चात् इन्द्रियाँ चित्त अथवा मन को सजग करती हैं एवं विज्ञान अथवा चेतना को उत्तेजित करती हैं। ये इन्द्रियाँ जो पदार्थ को ग्रहण करती हैं, अपने स्वरूप में भौतिक हैं। प्रत्येक के दो भाग हैं—मुख्य और सहायक। दर्शनेन्द्रिय के विषय में देखने की नाड़ी मुख्य है एवं आँख का गोलक सहायक है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और छठे मन के कारण जो आभ्यन्तर इन्द्रिय है ज्ञान के छः भेद कहे जाते हैं। छठी इन्द्रिय मन के द्वारा हमें केवल विशेष रंगों का ही ज्ञान नहीं होता, किन्तु यह भी ज्ञान होता है कि यह रंग है, अथवा विभेदीकरण सब एक ही है। विज्ञान अथवा चित्त से भिन्न आत्मा कोई पृथक् सत्ता नहीं है।

इस शाखा के मत से बुद्ध एक साधारण व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने बुद्धत्व के द्वारा निर्वाण प्राप्त करने एवं मृत्यु के द्वारा अन्तिम निर्वाण (महापरिनिर्वाण) प्राप्त करने के पश्चात् अपनी सत्ता को खो दिया। बुद्ध के अन्दर एकमात्र दैवी अंश यह था कि उन्होंने बिना किसी अन्य की सहायता के आन्तरिक दृष्टि द्वारा ही सत्य का ज्ञान प्राप्त किया।

सौत्रान्तिक मत :—

सौत्रान्तिक के विषय में माध्वाचार्य मानते हैं कि सौत्रान्तिक मत का आविर्भाव इस प्रकार से हुआ है कि कुछ शिष्यों ने महात्मा बुद्ध से कुछ प्रश्न किये, तो उत्तर में उन्होंने कहा कि सौत्रान्तिक हो जाओ।[३६२] यह भी हो सकता है कि शाखा के अनुयायियों के नाम सौत्रान्तिक इसलिए भी पड़ा हो कि ये सुत्तपिटक ही को सर्वमान्य ग्रन्थ मानते हैं जिसमें बुद्ध के संवाद हैं, एवं अन्य दो पिटकों का निषेध करते हैं। सौत्रान्तिक लोग सूत्रों को ही अपना आधार मानते हैं। इनमें भी दो वर्ग हैं, एक वह जो बुद्ध के वाणी के अतिरिक्त और किसी

---

३६२. यथाक्रमं सर्व शून्यत्व—बाह्यार्थशून्यत्व—वाह्यार्थनुमेयत्वबाह्यार्थप्रत्यक्षत्ववादानातिष्ठन्ते। सर्वदर्शन संग्रह पृ० ३१

प्रमाण को मान्य नहीं ठहराता, दूसरा वह जो अन्य प्रमाणों को भी स्वीकार करता है। कुमारलब्ध जो नार्गाजुन का समकालीन था, इस पद्धति का संस्थापक माना जाता है। धर्मोत्तर जो तार्किक था और यशोमित्र जो वसुबन्धु के अभिधर्मकोष नामक ग्रन्थ का टीकाकार था।

इसका अभिप्राय यह है कि सौत्रान्तिक का विशेष सम्बन्ध सूत्र पिटक से है। इसके अनुसार मानसिक और बाह्य पदार्थ दोनों सत्य हैं। यद्यपि बाह्य पदार्थों का ज्ञान अनुमानों से होता है जबकि उनसे प्रत्यक्ष के लिए विषय, चित्त, इन्द्रियाँ तथा सहायक तत्त्व जैसे–प्रकाश, आकार, इन चार वस्तुओं की आवश्यकता है इनके परस्पर मिलने से मन में उत्पन्न होने वाले विषय का विचार या अनुकृति प्राप्त होती है। इसलिए बाह्य वस्तु मन में रहने वाले विषय के विचारों के प्रतिनिधि मात्र है। यह ये भी मानते हैं कि यह बाह्य पदार्थ क्षणभंगुर है। सब वस्तुयें क्षणभंगुर हैं। यदि वे पदार्थ जो चेतना की आकृतियों का निर्णय करते हैं, यदि केवल वह क्षणिक ही है तो हमें स्थायी पदार्थों का भ्रम कहाँ से और कैसे होता है? "पदार्थ की आकृतियाँ एक के बाद दूसरी हमारे बोध में प्रवेश करती हैं। इनका यह प्रवेश ऐसे ही होता है जैसे कि एक बाण एक फूल की आठों पंखुड़ियों के अन्दर से एक ही समय में गुजर जाता है, अथवा जलती हुई मशाल घुमाने पर चक्कर सा बाँध देती है।" सौत्रान्तिक लोग परिकल्पित द्वैतवादी हैं, अथवा हैमिल्टन की परिभाषा में सर्वेश्वरवादपरक आदर्शवादी एक स्वतन्त्र जगत् के तात्कालिक ज्ञान का निषेध करते हैं किन्तु स्वतन्त्र जगत् की यर्थाथता को स्वीकार करते हैं जिससे हमारे प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञान एवं प्रतिकृतियों की व्याख्या सम्भव हो सके। चेतना के द्वारा प्रस्तुत होने से पदार्थों का बोध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ तक मनोवैज्ञानिक तथ्य का सम्बन्ध है, वैभाषिक उत्कृष्टतर भूमि पर हैं। जब हम देखते हैं तो सौत्रान्तिक का कहना है कि हमारे आगे एक विचार प्रस्तुत होता है। एक सीधा-सादा व्यक्ति, जिसका मन मनोवैज्ञानिक अध्ययन से दूषित नहीं हुआ है, वैभाषिक के कथन की पुष्टि करते हुए कहता हैं कि वह वृक्ष को देखता है, न कि किसी विचार को जिससे वृक्ष का अनुमान किया जाए। एक अनुभव करने वाले सरल व्यक्ति के मन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के निष्कर्षो को घुसाना मनोवैज्ञानिक का हेत्वाभास रूप कर्म है। एक व्यक्ति वृक्ष को देखता है और वह वृक्ष वह स्वयं नहीं है। यह कहना कि उसे एक विचार का बोध होता है, जिसका सम्बन्ध वह आगे चलकर बाह्य

पदार्थ के साथ जोड़ता है, यह सीधे-सादे तथ्यों को मोड़ना-तोड़ना है। आधुनिक मनोविज्ञान वैभाषिकों के इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना का ही एक ऐसा कर्म है जो विद्यमान अमानसिक भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध रखता है।

सौत्रान्तिक बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हुए यह ज्ञान की प्रक्रिया के विषय में स्पष्ट करता है कि चार अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो इस प्रकार से है–१. सामग्री एवं आलम्बन २. सुझाव एवं समानान्तर ३. माध्यम एवं सहकारी ४. प्रमुख इन्द्रिय अथवा अधिपतिरूप। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई भी ज्ञान सामान्य रूप से प्राप्त होता है तो इस उपर्युक्त प्रक्रिया के माध्यम से होता है। धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ न्यायबिन्दु में स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान केवल पदार्थ के द्वारा निर्णीत अनुभव है जो सब प्रकार की मानसिक कल्पना से स्वयतन्त्र है।

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों की आणविक कल्पना को थोड़े भेद से स्वीकार किया है।

योगाचार मत :–

यह माना जाता है कि आचार्य असंग तथा उसके छोटे भाई वसुबन्धु ने जो दिङ्नाग का गुरु था, मिलकर योगाचार अथवा विज्ञान मत की स्थापना की। योगाचार इस शाखा का नाम इसलिए पड़ा कि परम (निरपेक्ष) सत्त्व अथवा बोधी, जो बुद्धों के अन्दर प्रकट होती है, वह इसलिए होती है कि इनकी योग क्रिया के द्वारा वह बोधी अवस्था प्राप्त की जाती है। वास्तव में योगाचार दर्शन बौद्धदर्शन का क्रियात्मक रूप है। जबकि विज्ञानवाद इसके कल्पनात्मक विशेषत्व का निरूपण करता है। आलोचनात्मक विश्लेषण के सिद्धान्त का प्रयोग केवल व्यक्तिगत अहं एवं भौतिक पदार्थों तक ही सीमित नहीं हैं किन्तु धर्मों अर्थात् वस्तुओं के घटक अवयवों पर भी लागू होता है और इस प्रकार एक ऐसे आदर्शवाद का विकास होता है जो समस्त यथार्थता को केवल विचार सम्बन्धों के रूप में ही परिणत कर देता है।

विज्ञानवाद :–

विज्ञानवाद के आचार्य असंग के अनुसार विषय और विषयी दोनों ही चित्त हो या विज्ञान हो। बौद्धविज्ञानवाद की मान्यता है कि एकमात्र आन्तरिक ज्ञान ही

सत्य है। बाह्य वस्तुयें असत्य मानी जाती हैं। आचार्य बसुबन्धु ने भी बाह्य वस्तुओं को असत् स्वीकार किया है। उन्होंने कहा है कि चित्त मात्र ही ध्रुव है। जो वस्तुयें बाहर दृष्टिगोचर हो रही हैं वे सब अध्रुव हैं। उनकी सत्ता चित्त के कारण ही जान पड़ती हैं। यदि चित्त या विज्ञान न हो तो उनकी सत्ता की प्रतीति नहीं होगी।

इनके अनुसार ही अनुसरण क्रिया है।[३६३] इनके अनुसार कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातु सब विज्ञप्तिमात्र हैं। वस्तुतः बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है, जो कुछ भी है, विज्ञान ही है। विज्ञान के अतिरिक्त सब असत् है। इसलिए वसुबन्धु ने विंशिका की प्रथम कारिका में ही कहा है। 'असदर्थावभासानात्' अर्थात् जिस प्रकार तिमिरादि रोगग्रस्त को असत् केशगुच्छादि के दर्शन यों ही होते हैं, इसी प्रकार न होते हुए भी अर्थ प्रतीत होते हैं।[३६४] वसुबन्धु ने यहाँ पर असदर्थ की प्रतीति की बात कही है। प्रतीति के लिए 'अवभास' शब्द का प्रयोग किया है, जो कि शंकर ने अध्यास के लक्षण में कहा है, "अवभासाध्यास, अध्यास का अर्थ भी अवभास ही है।"[३६५] जहाँ पर जो नहीं है, वहीं पर उसकी प्रतीति होना ही अवभास है। "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" ही अवभास है। यही बात बसुबन्धु उक्त प्रथमकारिका में 'असदर्थावभासनात्' शब्द द्वारा कहना चाहते हैं। असद् का अर्थ है--न होना। जहाँ पर अर्थ या विषय न हो वहीं पर विषय की प्रतीति ही अवभास है, जैसे--सीपों में चाँदी का भ्रम है, क्योंकि सीपी में चाँदी का आभास है। अतः सीपी में चाँदी असत् है। असत् होने पर भी वही चाँदी की प्रतीति होना ही अवभास है। यहाँ पर वसुबन्धु ने तिमिर रोगी के केशगुच्छादि के दर्शन को भ्रम का उदाहरण दिया है, जो कि अद्वैत के अनुसार प्रातिभासिक है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार अलौकिक तो सम्भव नहीं है।[३६६] यदि प्रतीति हो रही हो तब तो उसे प्रातिभासिक या व्यावहारिक सत् कहना होगा। तिमिर रोगी एक विशेष दृष्ट हुआ, उसको विशेष रूप से जो दोष के कारण अभाव में केश गुच्छादि की प्रतीति होती है, वह प्रातिभाषिक प्रतीति ही है। यद्यपि वसुबन्धु प्रातिभाषिक सता का नाम नहीं लिया है तथापि केश-गुच्छादि के उदाहरण प्रातिभासिक प्रतीति की ओर संकेत करते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बसुबन्धु अद्वैत के ही समान व्यावहारिक

---

३६३. विंशिका; पृ० १

३६४. विज्ञप्तिमात्रमेवदमसदर्थावभासनात्। यद्वत् तैमिरिकस्यासत्केशौण्ड्राकादिदर्शनम्। (वही कारिका १, २०-१८)

३६५. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य भामती; पृ० १८

३६६. अद्वैतसिद्धि; पृ० ३३२ तथा ३३३

वस्तुओं को स्वतन्त्र सत्ता नहीं देने को तैयार है। अद्वैत में रज्जु सर्पादि भ्रम के उदाहरणों द्वारा जगत् की अध्यस्तता एवं मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार वसुबन्धु ने भी केशगुच्छादि के प्रातीतिक ज्ञान के उदाहरण द्वारा विज्ञप्ति मात्रता के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किया है। हमने मिथ्यात्व लक्षणों में देखा है कि अद्वैत वेदान्ती "प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्वं" को मिथ्यात्व कहते हैं। जैसे–रज्जु, सर्प भ्रम स्थल में रज्जु सर्प का परमार्थतः त्रैकालिक निषेध सम्भव है। यद्यपि रज्जु विषयक अज्ञानकालीन प्रातीतिक सर्प भ्रमकाल में होता है, फिर भी उस काल में भी पारमार्थिक दृष्टिकोण के सर्प नहीं होता अतः भ्रमकाल के सर्प का तीनों कालों में निषेध होता है, इसी कारण भ्रमकालीन सर्प मिथ्या है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपंच भी मिथ्या है, फिर भी अधिष्ठान ज्ञान से पूर्व प्रपंच की प्रातीतिक सत्ता अद्वैत के अनुसार स्वीकार्य है। इसी प्रकार वसुबन्धु के अनुसार बाह्य वस्तुयें तीनों कालों में नहीं हैं। जो कुछ भी है, विज्ञप्तिमात्रता ही है। वसुबन्धु और धर्मों को आलयविज्ञान के परिणाम कहते हैं।[३६७] किन्तु वसुबन्धु के अनुसार परिणाम का अर्थ सांख्य के परिणाम से भिन्न है।[३६८] वसुबन्धु द्वारा प्रयुक्त परिणाम शब्द का अर्थ करते हुए स्थिरमति ने कहा है, "कोत्रयं परिणामोनाम्?" अन्यथात्वम्–अन्यथाभाव को ही परिणाम कहा है।[३६९] सांख्य के परिणाम में नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं मानी गई है, क्योंकि सांख्य के अनुसार कारण में पूर्व से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है, न कि नवीन कार्य की। विज्ञानवादी वसुबन्धु के अनुसार अनादि विकल्प वासनाओं के कारण आत्मादि एवं रूपादि का आरोप होता है।

वसुबन्धु का उपचार और अद्वैत का अध्यास का आरोप समानार्थक शब्द है। जिस प्रकार अद्वैत में वस्तुतः ब्रह्म में प्रपंच के तीनों कालों में न रहने पर भी अज्ञान के कारण उसको आरोपित माना जाता है, उसी प्रकार आचार्य स्थिरमति विज्ञान में बाह्य वस्तुओं के अभाव होने पर भी उन्हें विज्ञान में आरोपित मानते हैं। उपचार का अर्थ आरोप है। स्थिरमति का कहना है–"जो पदार्थ जहाँ पर नहीं, उसके वहाँ पर होने का जो आरोप होता है, उसे उपचार कहते हैं। यथा–शुक्तिका

---

३६७. आत्मधर्मोपचारौ हि विविधौ यः प्रवर्त्तते।
विज्ञान परिणामे असौ। त्रिंशिका का० १, पृ० २८

३६८. इण्डियन आइडिलिज्म, पृ० २८, दास गुप्ता १९६२

३६९. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ० २८, स्थिरमतिभाष्य। चौखम्बा १९६७

में रजत का उपचार अथवा वाहीक में बल का उपचार। इसी अर्थ में विज्ञान स्वरूप में बाह्य पदार्थों का आरोप या उपचार होता है। अतः बाह्य वस्तुयें परिकल्पित हैं। परमार्थतः वे वस्तु नहीं हैं।"[३७०] बसुबन्धु के अनुसार सम्पूर्ण परिणाम या उपचारों का कारण या अधिष्ठान आलय विज्ञान है! आलयविज्ञान ही संसार का जीव है।[३७१] इसी आलयविज्ञान को आलय करके मनोविज्ञान एवं विषय विज्ञप्ति की उत्पत्ति होती है। इन सभी आरोपित सत् वस्तुओं का विशुद्ध आलम्बन या अधिष्ठान विशुद्ध विज्ञप्ति है, जिसे विज्ञप्ति मात्रता कहा है। यह नित्य है, शाश्वत है। इस प्रकार हम बसुबन्धु की विज्ञप्ति मात्रता की तुलना अद्वैत के ब्रह्म से कर सकते हैं। आचार्य बसुबन्धु के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्ति समुद्र के समान है और बाह्य वस्तुयें तरंगों के समान उस पर परिकल्पित हैं। विशुद्ध विज्ञप्ति ग्राह्य-ग्राह्यता से परे हैं।

पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के अनुसार विशुद्ध विज्ञप्ति मात्रता भी सापेक्षनित्य है।[३७२] परन्तु भट्टाचार्य जी का कथन समीचीन नहीं जान पड़ता। वसुबन्धु ने विज्ञप्ति मात्रता को ध्रुव कहा है।[३७३] भट्टाचार्य जी ने ध्रुव शब्द का जो सापेक्षनित्य अर्थ किया है, वह आचार्य स्थिरमति के भाष्य के आधार पर समीचीन नहीं बैठता, क्योंकि स्थिरमति ने त्रिंशकाभाष्य में ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य किया है।[३७४] चन्द्रधर शर्मा का कथन सत्य है कि वसुबन्धु ने यहाँ पर ध्रुव शब्द प्रयोग निरपेक्ष सत्य के अर्थ में किया है।[३७५] वसुबन्धु जब यह कहते हैं कि दृश्य प्रपंच स्वप्नवत् या तिमिर रोगी के केशगुच्छादि के समान हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि बाह्य वस्तुयें हैं ही नहीं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि जिस विकल्प बुद्धि की कोरियों द्वारा कल्पित जगत् स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।

---

३७०. यच्चयत्रनास्ति तत् तत्रोपचर्यते। तथा वाही के गाः। विज्ञ० सि० स्थिरमति भा० का० १, पृ० २९।।

३७१. सर्वजीवं हि विज्ञानम् विज्ञप्ति मात्रतासिद्धि कारिका, १८, पृ० ८१।

३७२. The Agam Shashtra of Gauaped—Introduction, P. XCLII., V. Bhattacharya, Col. Un.

३७३. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः, का० ३०, अचिन्यः कुशलेध्रुवः।।

३७४. ध्रुवौ नित्यत्वात् अक्षयतया-अयं च नित्य इति। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि भा० १०१.

३७५. Vasubandhu uses the word 'Dhruva' here in the sense of the absolutsly permanent—A critical survey of Indian Philosophy; p. 122, C.D. Sharma.

विज्ञप्ति मात्रता या धर्म नैरात्म्य का सिद्धान्त सविकल्पक बुद्धि द्वारा ही कल्पित कर्त्ता और कर्म, ग्राहक और ग्राह्य, द्रष्टा और दृश्य के द्वन्द्व पर अधिष्ठित जगत् का खण्डन करता है, न कि विशुद्ध निर्विकल्पक विज्ञप्तिमात्रता का यह मत व्यावहारिक जगत् को परतन्त्र सत्ता प्रदान करता है। जब तक निर्विकल्प अर्थज्ञान की अनुभूति नहीं होती, तब तक परिकल्पित जगत् की व्याख्या करने के लिए ही वसुबन्धु ने त्रिविध सत्तावाद को स्वीकार किया है। अद्वैतवाद में स्वीकृत प्रातिभाषिक, व्यावाहारिक एवं पारमार्थिक सत्ता के समान ही आचार्य बसुबन्धु भी त्रिविध सत्ता स्वीकार करते हैं। परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न ये त्रिविध सत्तायें हैं। इन त्रिविध सत्ताओं को वस्तु स्वभाव भी कहा गया है। परिकल्पित स्वभाव वाली वस्तुयें आरोपित हैं, क्योंकि उन वस्तुओं का अपना स्वभाव नहीं है, जैसे शुक्ति में रजत की कल्पना परिकल्पित है। वस्तुतः शुक्ति में रजत है ही नहीं, अतः उसमें रजत का ज्ञान आरोपित वस्तु विषयक ज्ञान ही है। आरोपित वस्तु विषयक ज्ञान को ही वसुबन्धु परिकल्पित मानते हैं। परिकल्पित वस्तु स्वाधिष्ठान में न होने के कारण ही स्थिरमति ने अपने भाष्य में कहा है कि "न स विद्यते इति"[३७६] अर्थात् कल्पित वस्तु की अपनी सत्ता का अभाव हुआ करता है। यहाँ तक कि कल्पित वस्तु में हेतुप्रत्यय के प्राप्त स्वभाव भी नहीं। हेतु प्रत्यय स्वभाव व्यावहारिक वस्तुओं का ही होता है। प्रातिभासिक वस्तुओं का स्वभाव कल्पित ही है। द्विचन्द्रज्ञान के समान परिकल्पित ज्ञान तथ्यरहित है। एवमेव परिकल्पित वस्तु भी तथ्यहीन है। परतन्त्र सत्य या परतन्त्रज्ञान सापेक्ष है, क्योंकि यह कार्य-कारण सम्बन्ध पर आधारित है। किन्तु यह भी परसापेक्ष होने के कारण स्वतन्त्र सत्ता से रहित है। सापेक्ष का अर्थ है प्रतीत्यसमुत्पन्न संसार की वस्तुयें परतन्त्र हैं, क्योंकि वे वस्तुयें किसी हेतु प्रत्यय में उत्पन्न है। जो वस्तु कारण सापेक्ष है, वह परतन्त्र है, अतः परतन्त्र को भी शुद्ध सत्ता प्राप्त नहीं है। यह भी एक प्रकार सत् स्वभाव से रहित ही है। अद्वैत वेदान्त की व्यावहारिक सत्ता से इसकी तुलना की जा सकती है।[३७७]

क्योंकि अद्वैत के अनुसार व्यावहारिक जगत् अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म सापेक्ष है। कारण के बिना कार्य अस्तित्त्व में नहीं आ सकता, अतः ब्रह्मसत्ता के

---

३७६. येन-केन विकल्पेन यद्यद् वस्तु विकल्प्यते, परिकल्पित एवासौ स्वभावौ न स विद्यते। का० २०-त्रिंशिका।

३७७. त्रिंशिकाभाष्य, पृ० ८०, का० २०.

बिना जगत् कार्य में नहीं रह सकता। घटोऽस्ति इत्यादि बाह्य वस्तुयें अस्तिसापेक्ष हैं। वह अस्ति ही कारणरूप ब्रह्म है, अतः अद्वैत के अनुसार जगत् प्रपंच सापेक्षसत् है। विज्ञानवादी के अनुसार भी सभी वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, अतः परतन्त्र स्वभाव है।[३७८]

परिनिष्पन्न वस्तुस्वभाव है अर्थात् परिनिष्पन्न ही तत्त्व है। परिनिष्पन्न परतन्त्र भी अधिष्ठान है। बिना परिनिष्पन्न के परतन्त्र की सत्ता हो ही नहीं सकती, क्योंकि परिनिष्पन्न को लेकर ही परतन्त्र का व्यवहार संभव है। यह ग्राह्य-ग्राहकादि भावों से परे है। यह परतन्त्र से भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं। हम इसे यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि परिनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप भासने लगना है, साथ में परिनिष्पन्न ही अविद्या के कारण परतन्त्र के रूप में भासना लगता है। साथ में परिनिष्पन्न परतन्त्र की पहुँच से सर्वथा बाहर है, अतः परतन्त्र से अभिन्न भी कहना समीचीन नहीं। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में एकमात्र विशुद्ध परमार्थ ब्रह्म ही सत्य है और सम्पूर्ण प्रपंच का अधिष्ठान रूप है फिर भी प्रपंच से परे है, उसी प्रकार परिनिष्पन्न शुद्ध और शाश्वत है। वह देश-काल से परे है। देश-काल उसी परिनिष्पन्न से आरोपित है। परिनिष्पन्न समस्त प्रपंच का आधार होते हुए भी प्रपंच से वह रहितावस्था है।[३७९] अतएव यह इन्द्रियानुभवातीत है। यह निरपेक्ष सत् है। बाह्य विषय का अस्तित्व इसी के अस्तित्व से प्राप्त है। इसी सदधिष्ठान में घटाधिष्ठान में घटादि विकल्प कल्पित हैं, क्योंकि कारणव्यतिरेक कार्य की सिद्धि नहीं है, अतः कारण ही कार्यरूप से भासित होता है।

इस प्रकार हमने यहाँ पर दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार वसुबन्धु के विज्ञानवादानुसार बाह्य वस्तुयें विशुद्ध विज्ञान या विज्ञप्ति में आरोपित हैं। अद्वैतवेदान्त के आचार्य प्रकाशात्मयति ने पंचपादिका विवरण में त्रिविध सत्ता की स्थापना करते हुए कहा है कि परमार्थ सत्ता ब्रह्म की है, अर्थक्रिया सामर्थ्य सत्व आकाशादि का, एवं अविद्योपाधिकसत्व मुक्ति-रजतादि का।[३८०] जिस प्रकार रजतादि शुक्ति में आरोपित है, उसी प्रकार आकाशादि भी ब्रह्म में आरोपित है,

---

३७८. परतन्त्रस्वभावस्तु विकल्पः प्रत्ययोद्भवः-त्रिंशिका० २१

३७९. निष्पन्नस्तस्य पूर्वृणरहितता तु या-त्रिंशिका-का० २१

३८०. त्रिविधं सत्वं परमार्थ सत्वं ब्रह्मणः अर्थ कयासामर्थ्यसत्वं मयोपाधिकमाकाशादे? अविद्योपाधिकसत्वं रजतादेः। पंचपादिकाविवरण, पृ० १६५।मद्रास ५८।।

अतः शुक्ति-रजतादि के समान ही आकाशादि भी मिथ्या है। यहाँ पर विज्ञानवाद और अद्वैत मत की समानता है।

अद्वैत में जिस प्रकार प्रातिभासिक को व्यावहारिक दृष्टि से सत् स्वभाव रहित कहा है और व्यावहारिक वस्तुओं को पारमार्थिक दृष्टिकोण से सत् स्वभावरहित कहा है। उसी प्रकार आचार्य वसुबन्धु भी तीन प्रकार निःस्वभावों का कथन करते हैं। इन्हें लक्षणनिः स्वभावना, उत्पत्ति निःस्वभावता एवं परमार्थ निःस्वभावना क़हते हैं। परिकल्पित वस्तुयें आकाश कुसुम के समान निःस्वभाव हैं, ये लक्षण से अपेक्षित हैं। परिकल्पित वस्तुओं की सिद्धि के लिए बिना लक्षणों का समावेश किया जाता है, वे वास्तविक नहीं हैं, अतः ऐसी वस्तुयें लक्षणों से निःस्वभाव होने के कारण लक्षण निःस्वभाव कहलाती हैं, क्योंकि स्वयं स्वभाव वाले परतन्त्र नहीं हैं। स्वयं स्वभाव वाले होते तो परतन्त्र ही नहीं कहलाते। इसी प्रकार परिनिष्पन्न परमार्थ निःस्वभाव वाला है। परमार्थतः उसमें किसी प्रकार के धर्म नहीं है, अतः वश विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र होने के कारण परमार्थतः निःस्वभाव है।[३८१] इस प्रकार परमार्थ विशुद्ध विज्ञान ही एक निरपेक्ष सत्ता है। असंग ने भी उक्त त्रिविध सत्वों का प्रयोग महायान सूत्रालंकार में किया है।[३८२]

वसुबन्धु के विज्ञानवाद के विषय में ऊपर दिये गए विवरण से हम यह धारणा बना सकते हैं कि असंग तथा वसुबन्धु ने जगत् की बाह्यता को तो आरोपित या मिथ्या कहा है, किन्तु वे जगत् की बाह्यता का अपलाप नहीं करते। इन विज्ञानवादी आचार्यों के अनुसार बाह्यता या ग्राह्य-ग्राहक आदि सर्वप्रपंच विज्ञान में आरोपित वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अतः वे मिथ्या है। अद्वैत में भी अध्यस्ततया प्रपंच को ही मिथ्या कहा है। वसुबन्धु ने जगत् को आलय कहा है। जब विशुद्ध सांसारिक द्वन्द्व या विकल्पों से परमार्थतः परे हैं, और शाश्वत एकरूप है, तब विशुद्ध विज्ञप्ति से कार्य-कारणात्मक संसार सम्बन्धित नहीं हो सकता अथवा व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्धित मानना होगा। जैसा कि अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म परमार्थतः किसी का अधिष्ठान भी नहीं है, क्योंकि सत्य अर्थ में किसी का अधिष्ठान होना भी निर्गुणत्व को आघात पहुँचाना है, अतः कहा गया है कि प्रपंच ब्रह्म में विवर्त है। विवर्त का अर्थ है अध्यस्ता या कार्य

---

३८१. त्रिंशिका-का०-२५

३८२. महायानसूत्रालंकार ११। ३९, ४०-४१ बौद्धदर्शन मीमांसा १५० से उद्धृत, बलदेव उपाध्याय चौखम्बा १९५४.

का होना न कि वस्तुतः। इसी प्रकार वसुबन्धु की विशुद्ध विज्ञप्ति भी जब परतन्त्रों से भी सम्बन्धित नहीं है, फिर जगत् की विज्ञप्ति का परिणाम कैसे कहा जाए? ऐसा लगता है कि वसुबन्धु जगत् को आलय विज्ञान का परिणाम और पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्धविज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का विवर्त मानते हैं। यदि विशुद्ध विज्ञप्ति का परिणाम जगत् है, तब तो विशुद्ध विज्ञप्ति में भी विकृति आनी चाहिए? ऐसा होता नहीं है। जगत् के परिणाम होने पर भी विज्ञप्ति विशुद्ध ही रहती है, अतः जगत् परिणाम को विवर्त के अर्थ में लेना आवश्यक है। इसी अर्थ में वसुबन्धु ने आत्म धर्मों का विज्ञान में उपचरित कहा है, अर्थात् आत्मा और धर्मादि का उपचार होता है, न कि वस्तुतः है।

वसुबन्धु के द्वारा परतन्त्र वस्तुओं का स्वीकार करना ही सिद्ध करता है कि वसुबन्धु बाह्यता का सम्पूर्णतया अपलाप नहीं करते, जैसा कि आचार्य चन्द्रधर शर्मा का कथन है कि इस विज्ञानवाद में प्रपंच की बाह्यता का प्रत्याख्यान नहीं किया गया।[३८३] इस कारण विज्ञानवाद को विशुद्ध विषयीवाद नहीं कह सकते।[३८४] विज्ञानवाद मात्र यह कहता है कि बाह्यता विज्ञानातिरिक्त के रूप में असत् है, किन्तु विज्ञानसापेक्ष बाह्यता है। यही अद्वैत के अनुसार बाह्यता की स्थिति है।

लंकावतार के दर्शन को विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही का मिश्रण कहा जा सकता है। यह न विशुद्ध शून्यवाद है और न ही विज्ञानवाद। इस ग्रन्थ के अनुसार एकमात्र चित्त ही सत्य है। लंकावतार में विशुद्ध विज्ञान के लिए चित्त शब्द का ही प्रयोग मिलता है।[३८५] चित्त ही विज्ञान है, इस विज्ञान के अतिरिक्त काम रूप एवं अरूप अर्थात् भौतिक वस्तुयें असत् हैं। बाह्यता नाम की कोई भी वस्तु वस्तुतः नहीं है। बाह्य वस्तु व्यक्तिगत मन की सृष्टि नहीं है, अपितु विशुद्ध विज्ञान की सृष्टि है। लंकावतार में बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व का जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान मिलता है।[३८६] बाह्य वस्तुओं के प्रत्याख्यान में वसुबन्धु संभवतः इतना बल नहीं देते जितना कि लंकावतार देता है। लंकावतार में बाह्य वस्तुओं

---

३८३. The objectivity of the External world is not denied, A critical survey of Indian Philosophy, p. 122.
३८४. Vijnanvada can not be called oubjectivism—India.
३८५. A critical survey of India Philosophy, p. 110.
३८६. लंकावतार, १८६ तथा १८५।। संपा बी० नानजिओ, लंदन १९२३

के अस्तित्व प्रत्याख्यान में नागर्जुन एवं गौड़पाद के समान स्वप्न माया बन्ध्यापुत्रादि के दृष्टान्तों का पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[३८७] लंकावतार के अनुसार सम्पूर्ण बाह्य वस्तुयें विकल्प मात्र हैं। यहाँ पर वस्तुतः न द्रष्टा है, न द्रष्टव्य ही कुछ है न कोई वाच्य है, और न ही उसका वाचक।[३८८]

जिस प्रकार अद्वैत के ब्रह्म में परमार्थतः ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृत्व भाव नहीं, उसी प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार भी प्रपंच परमार्थतः उक्त भेदों से रहित है। न ग्राह्य है, न ग्राहक, वन्ध्यापुत्र के समान सभी कल्पित हैं।[३८९] न कोई उत्पत्ति है, न कोई उत्पाद्य है, किन्तु व्यवहार में सभी कल्पित हैं। उसी प्रकार भाव वस्तुओं की कल्पना होती है।[३९०] वस्तुतः सभी धर्म निःस्वभाव हैं। दार्शनिक विश्लेषण करने पर कार्य कारण भाव के विश्लेषण करने पर बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, इसलिए अनभिलाष्य कहा गया है।[३९१] अद्वैत के अनुसार भी प्रपंच को सदसद् अनिवर्चनीय कहा है। अर्थात् सद्रूप से अथवा उभयरूपों से वस्तुओं का कथन सम्भव नहीं, क्योंकि अद्वैत के अनुसार सत् का बोध नहीं होता, अतः सदसद् अनिवर्चनीय है, इसी प्रकार लंकावतार में भी वस्तुओं की दोनों बातें हैं, अतः सद् असद् अनिवर्चनीय है। वस्तुओं के स्वभाव की खोज करने पर स्वभाव का परिचय नहीं मिलता, अपितु परभाव का ही परिचय मिलता है। घटादि का स्वभाव कुछ भी नहीं है। विज्ञानातिरिक्त घटादि माया के समान हैं। जिस प्रकार माया की सिद्धि सम्भव नहीं है, उसी प्रकार संसार की भी सिद्धि सम्भव नहीं।[३९२] अद्वैत में भी माया को असद् अनिवर्चनीय कहा है, क्योंकि इसकी उक्त रूपों से सिद्धि संभव नहीं है।

इस प्रकार लंकावतार में यदि प्रपंच के बाह्यत्व का जोरदार प्रत्याख्यान किया है। जैसा कि आचार्य पी०टी० राजू ने कहा है कि लंकावतार के अनुसार संसार न यथार्थ है, न भिन्न है, और न अभिन्न है, फिर भी यह बिना सत्य के

---

३८७. स्वप्नोऽथवा कायानगरं गन्धर्व शब्दितम्–लंकावतार, पृ० ९

३८८. लंकावतार का० ४३, पृ० ९

३८९. लंकावतार का० १४४ द्वितीय परिवर्त।

३९०. लंकावतार का० १६६, पृ० १०५

३९१. बुद्धया विवेच्यमानामां स्वभावोनाधायं ते। तस्मादतमिलाप्यास्ते निःस्वभावश्चदेशिताः। लंका० सू० पृ० ११६-२-१७५

३९२. लंकावतार, पृ० १३०

नहीं है। इसे माया अवश्य कहा गया है, किन्तु माया असत्य अथवा अनस्तित्व का वाचक नहीं है। माया इसीलिए कहा गया है, क्योंकि सत् न होने पर भी प्रतीत होता है।[३९३] यही अद्वैत का भावरूप अज्ञान के कारण प्रतीय संसार है। पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य वस्तुयें है ही नहीं। यही बात अद्वैत के अनुसार भी कही गई है। आरम्भाणाधिकरण ब्रह्मसूत्र भाष्यटीकाओं में अद्वैताचार्यो ने वाचारम्भण के दृष्टान्त से कार्य को कारणभिन्न कहा है।[३९४] लंकावतार के द्वितीय परिवर्तन में भी बाह्य जगत् को बाह्य विकल्पित कहा गया है। अद्वैत के ही समान कहा गया है कि हे महामते, मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड न भिन्न है। सुवर्ण भूषणों से न अन्य है और न अनन्य। यदि अन्य होता तो उनसे अनन्य नहीं होता, अर्थात् यदि मृत्परमाणुओं से मृत्पिण्ड एकान्त भिन्न होता, तब परमाणुओं से उसे आरब्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एकान्त भिन्न एकान्त भिन्न वस्तु का कारण नहीं बन सकता, और यदि अभिन्न कहा जाए तो भी मृत्पिण्ड और परमाणुओं में कार्य-कारण विभाग नहीं बन सकता।[३९५] अतः कार्य न कारण से अभिन्न है, न भिन्न है। अद्वैत के अनुसार भी कार्य-जगत् न ब्रह्म से अभिन्न है, क्योंकि अभिन्न होने पर कार्य की पृथक् प्रतीति नहीं होनी चाहिए, और न भिन्न ही। ऐसा होने पर कारण सत्ता से कार्यसत्ता की भिन्नता सिद्ध होगी और द्वैतवाद की आपत्ति होगी। अद्वैतवाद के ही समान लंकावतार में भी त्रिविधसत्ताओं का वर्णन है। परिकल्पित, परतन्त्र एवं परिनिष्पन्न।[३९६] परिकल्पित के अनुसार अवस्तु में भी वस्तुत्व की कल्पना करना है, जैसे रज्जु में सर्प की कल्पना, एक चन्द्र में द्विचन्द्र की कल्पना। परतन्त्र सापेक्षता को कहते हैं। सभी वस्तुयें प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं। विश्लेषण करने पर निःस्वभाव हो जाती हैं। परिनिष्पन्न वस्तुओं का मूल सत्व है, वही विशुद्ध विज्ञान है।

बौद्धि विज्ञानवाद का दूसरा रूप है, स्वतन्त्र विज्ञानवाद। इस विज्ञानवाद के प्रतिपादक आचार्य द्विङ्नाग हैं। आचार्य दिङ्नाग के विज्ञानवाद का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति ने किया है। इनके बाद इस विज्ञानवाद का विकास आचार्य शान्तरक्षित एवं कमलशील ने किया है। यह वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रतावाद से

---

३९३. The Idealistic thought of India, p. 264.

३९४. विमतधिष्ठानातिरिक्तसत्वशून्यं सावधित्वात्।। न्यायनिर्णय, पृ० ३७४, भामती भी द्रष्टव्य, पृ० ३७४

३९५. लंकावतार द्वितीय परिवर्त, पृ० ३४

३९६. The Idealistic thought of India, p. 264.

अत्यन्त भिन्न है। इसी विज्ञानवाद का प्रत्याख्यान आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में किया है न कि वसुबन्धु के शाश्वत विज्ञानवाद का।[३९७] भारतीय दर्शन का आलोचनात्मक सर्वेक्षण में आचार्य चन्द्रधर शर्मा ने इसी को स्वतन्त्र विज्ञानवाद कहा है।[३९८]

आचार्य दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी घट-घटादि के रूप में दिखाई देते हैं, वे सब विज्ञान के ही आकार है। वस्तुतः विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के रूप में अवभासित हो रहा है। दिङ्नाग के अनुसार बाह्य वस्तुओं की कल्पना दो रूपों में की जा सकती है—अनुरूप में या संघात रूप में अणु अविभाज्य एवं अमूर्त हैं। अणुओं का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष केवल मूर्त द्रव्य में ही सम्भव है। यदि एक अणु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं अणुओं के संघात के विषय में भी यही बात होगी। अर्थात् अङ्कों के संघात का भी प्रत्यक्ष असंभव है। इस प्रकार बाह्य वस्तुयें न अणुरूप हो सकती हैं और न ही अणुओं का संघातरूप ही, किन्तु बाह्य वस्तुयें प्रत्यक्ष गोचर होती हैं, अणु या संघात बाह्य वस्तुओं के कारण नहीं बन सकते।[३९९] दिङ्नाग के अनुसार आन्तरिक प्रत्यय ही बाह्य वस्तुओं में भासित होते हैं। ये ही आन्तरिक प्रत्यय ग्राह्य ग्राह्यकता के रूप में अवभासित होते हैं। वस्तुतः ग्राह्य और ग्राहक दोनों ही आन्तरिक हैं, बाह्यता अलीक है।

धर्मकीर्ति के अनुसार "सत् वह है जो प्रभावोत्पादन में समर्थ हो" जो वस्तु किसी को उत्पन्न करने में असमर्थ है वह असत् है, अतः "अर्थक्रियाकारित्व प्रभावोत्पादन सामर्थ्य परमार्थ का लक्षण है। धर्मकीर्ति के अनुसार बाह्यवस्तुयें हैं फिर भी अनादि वासना के कारण नानात्व एवं बाह्यत्व दिखाई देता है। परम् सत् ग्राह्य ग्राहकत्व से परे है। पाण्डु रोगी-रोग के कारण जिस प्रकार शंख को पीला देखता है—उसी प्रकार अविद्याग्रस्त होने के कारण चित्त को परमसत् नहीं समझ पाते, न ही बाह्य वस्तुओं को ही असत् समझे हैं, आन्तरिक प्रयत्नों को ही बाह्य वस्तुयें मान बैठते हैं। एकमात्र चित्त ही शुद्ध सत् है, वह स्वयं प्रकाश एवं स्वतः देदीप्यमान् है।[४००]

---

३९७. The Idealistic " " ", p. 264.

३९८. A critical survey of India Philosophy, p. 322.

३९९. आलम्बन परीक्षा क० १; एवं आलम्बन परीक्षावृत्ति, पृ० ३ तथा ४-१९४२.

४००. प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवोमलाः प्रमाणवार्तिक, २-२०८
धर्मकीर्ति सं० राहुल सांकृत्यायन-किताब महल-इलाहाबाद, १९४३

शान्तरक्षित ने ही धर्मकीर्ति के समान अर्थक्रियाकारी सामर्थ्य को ही परमार्थ कहा है। वह प्रभावोत्पादन में समर्थ है तथा क्षणिक है। संसार की सभी वस्तुयें शान्तरक्षित के अनुसार क्षणिक हैं, क्योंकि वे विनाशी हैं। क्षणिक वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है।[४०१] विनाश कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु वस्तु के साथ ही होता है। अविनश्वर और नित्य वस्तु असम्भव है। यह विवेक और तर्क के विपरीत है। यदि कोई वस्तु नित्य और शाश्वत है तो उसमें उत्पन्न होने वाले सभी कार्यों की एक साथ उत्पत्ति होनी चाहिए। क्योंकि निमित्त कारण या प्रभावोत्पादक कारण विद्यमान होने के कारण विलम्ब का कोई हेतु नहीं है। इस प्रकार की कल्पना यथार्थ है, जीवन के विपरीत है। वस्तुयें प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। भ्रमवश उसकी सादृश्यता को हम एकरूपता मान बैठते है, और लगने लगता है कि वस्तुयें सत्य हैं। वस्तुतः वस्तुयें क्षणिक नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हुए शान्तरक्षित ने कहा है कि विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यता नहीं है। ये सब क्षणिक विज्ञान के ही विलासमात्र हैं। इस क्षणिक विज्ञान का प्रकाशक अन्य नहीं है। यदि प्रकाशक, प्रकाशक हैं तो भी वे विज्ञान मात्र हैं, इसलिए विज्ञानवाद में ज्ञान और ज्ञेय को अभेद कहा है। दोनों में भेद नहीं है। इसी को धर्मकीर्ति ने प्रमाणविनिश्चय में सहोपलम्भ नियम कहा है।[४०२] इस नियम के अनुसार वस्तु और वस्तु के ज्ञान में पार्थक्य नहीं है। प्रत्ययवाद का यह मूल और प्रधान तर्क विज्ञान और विज्ञेय में अन्तर नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रत्ययवादी का कहना है कि कोई भी वस्तु ज्ञान के बिना उपलब्ध्यि का विषय कैसे बन सकती है? ज्ञान के बिना वस्तु को जानना वदतोव्याघात है। ज्ञान के बिना वस्तु की सिद्धि करना असंभव है। जहाँ भी वस्तु की सिद्धि की जायेगी, ज्ञान वहीं पर होगा। ज्ञान और ज्ञेय में एक प्रकार यह व्याप्ति है, किन्तु प्रत्ययवादी का कहना है कि ज्ञान विषय निरपेक्ष हो सकता है। विषय ज्ञान निरपेक्ष नहीं हो सकता। बर्कले ने भी इसी तर्क से बाह्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार 'सत्ता' सर्वदा अनुभव मूलक होती है।[४०३] जहाँ अनुभव नहीं, सत्ता नहीं। इसी प्रकार विज्ञानवादी बौद्ध का भी

---

४०१. वही, पृ० ३७६.

४०२. सहोपलम्भनियमादभेदौ–नीलतद्धियौः भेदश्च प्रान्तिविज्ञानैर्द्दैश्येतेन्दाविवाद्धये–भामती में उद्धृत, पृ० ५४४.

४०३. Essert Percipi

यही कथन है कि ज्ञान के बिना ज्ञेय अस्तित्व की सिद्धि कैसे संभव है, जहाँ पर भी घट को जाना गया वह ज्ञात पाया गया है। धर्मकीर्ति का सहोपलम्भ नियम भी यही बतलाता है कि विषय नील और **उसकी धी** अर्थात् ज्ञान दोनों अभिन्न हैं–नील वस्तु और नील ज्ञान दोनों अभिन्न पदार्थ हैं, जिसे ज्ञान का विषय कहा जाता है वह भी ज्ञान का ही आकार विशेष है। नीलाकार विज्ञानविशेष ही नीलवस्तु है। घटाकार विज्ञान विशेष ही घट है। ज्ञानातिरिक्त विषय की पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानातिरिक्त विषय असत् है। विज्ञानवादी विज्ञान और वस्तु में अभेदसिद्धि करने के लिए "सहोपलम्मनियमात्" इस प्रकार 'सहोपलम्भ' का हेतु रूप से उपन्यास करते हैं। और इसी हेतु बल से अनुमान करके ज्ञान-ज्ञेय में नील और नीलज्ञान में अभेद सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। ज्ञान और ज्ञेय के इस अभेद सिद्धान्त को जानने के लिए उक्त अनुमान के हेतु 'सहोपलम्भ नियमात्' को जानना आवश्यक है।

यहाँ पर 'सह' और 'नियम' दो विशेष शब्द हैं। ज्ञान के साथ ज्ञेय नीलादि का उपलब्धि होती है। ज्ञान के बिना ज्ञेय विषय की उपलब्धि नहीं हो सकती, यही उक्त 'सह' शब्द का अर्थ है, किन्तु 'सह' शब्द के इस प्रकार अर्थ करने पर ज्ञान और इसे में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती किसी के होने पर किसी का होना "इससे दो पदार्थों" की सिद्धि होती है न कि अभेद की। 'सह' शब्द का स्वार्थ है, साहित्य। साहित्य या सहभाव दो भिन्न पदार्थों में भी सम्भव है। अभेद में सहभाव कैसा? इसी कारण भदन्त शुभगुप्त ने कहा है कि "विरुद्धौऽयं हेतुः" यह सहोपलम्भ नियम हेतु विरुद्ध हेतु है।

ज्ञान और ज्ञेय पूर्णरूप से अभिन्न होकर सहभाव सम्भव नहीं, अतः उक्त हेतु ज्ञान-ज्ञेय में अभेद का साधक न होकर भेद का ही साधक हुआ, इसीलिए विपरीत हेतु होने के कारण विरुद्ध हेतु हुआ। विरुद्ध हेतु का अर्थ हुआ हेत्वाभास। हेत्वाभासयुक्त अनुमान से साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। उक्त हेत्वाभास दोष से मुक्त होने के लिए शान्तरक्षित ने "तत्त्व-संग्रह" में सह शब्द का प्रयोग न करके प्रकारान्तर से ज्ञान और ज्ञेय के अभेदसिद्धान्त की स्थापना की है।

शान्तरक्षित का कहना है कि नील वस्तु ज्ञान दोनों एक हैं।[४०४] एक अभिन्नोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। सर्वज्ञ ज्ञानाकार ही विषयाकार है, अतः ज्ञान

---

४०४. तत्त्व-संग्रह–पंजिका ६९२ कमलशील बौद्ध, भारती–वाराणसी ६९२

और ज्ञेय में भेद नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय एक हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा एक होने पर भी नेत्र रोग के कारण द्विचन्द्रमा दर्शन किया करते हैं। वस्तुतः चन्द्रमा दो नहीं हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय एक हैं, फिर भी ज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-ज्ञेय एक हैं, फिर भी ज्ञानवश लोग दो समझ बैठते हैं।[४०५] शान्तरक्षित ने एकोपलब्धि को सहोपलम्भ कहा है। इनके अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ एक है, न कि साहित्य, तत्त्वसंग्रह, पंजिका में किसी विज्ञानवादी आचार्य के अनुसार 'सह' शब्द का अर्थ 'एक काल' किया है। इनके अनुसार कालभेद वस्तुभेद का व्याप्य है। 'कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्।' अर्थात्-कालभेद होने पर वस्तु में भी भेद अवश्य होगा।[४०६]

ज्ञान और ज्ञेय की उपलब्धि एक काल में है, अतः दोनों एक हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र विज्ञानवादानुसार ज्ञान की उपलब्धि ही ज्ञेय सत्ता को सिद्ध करती है, अतः ज्ञान व्यतिरेक दृश्य की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि अध्यस्त कभी भी अधिष्ठानातिरिक्त नहीं होता। अधिष्ठान सापेक्ष होता है। उक्त सहोपलम्भ नियम का और इससे साधित बाह्य सत्ता रहित विज्ञानवाद का अद्वैताचार्यों ने जोरदार शब्दों में प्रत्याख्यान् किया है। अद्वैत आचार्यों का कहना है कि नील और नीलज्ञान अभेद अथवा एक साधक हेतु हेत्वाभास मात्र है, क्योंकि घट और घट दर्शन का भेद संसार में प्रसिद्ध है। ज्ञान ज्ञेय अभेद सिद्धान्त अथवा ज्ञान-ज्ञेय एक सिद्धान्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित है, प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है, अतः प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष द्वारा बाधित अनुमान प्रमाण की गति संभव नहीं है। उक्त हेतु प्रत्यय आवित होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है, अत एवं प्रकार हेतु से विज्ञानवादी विज्ञान और विशेष में एकत्व या अभेदत्व साधन नहीं कर सकते। आचार्य शंकर ने 'नाभाव उपलब्धेः' (२-२-२८) ब्रह्मसूत्र के इस सूत्रभाष्य में विज्ञानवाद के उक्त सहोपलम्भनियम का जोरदार खण्डन किया है। बहिर्विश्व को विज्ञानातिरिक्त न मानने के सिद्धान्त के खण्डन में शंकर ने उपलब्धि का प्रश्न उठाया है, अर्थात् बहिर्विश्व घट-घटादि कैसे नहीं है, हमारे सामने जो स्तम्भ या घट दिखाई दे रहे हैं नहीं हैं-ऐसा कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि उनकी उपलब्धि हो रही है। उपलभ्यमान वस्तु के अस्तित्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।[४०७]

---

४०५. यत्संवेदनमेवस्याद्यस्य संवेपध्रुवम्।
तस्माद्व्यतिक्तिं तत् ततौवान् विभिद्यते।। तत्वसंग्रह, पृ० ५९१.

४०६. कालभेदस्य वस्तुभेदेन व्याप्यत्वात्-तत्त्वसंग्रह

४०७. आलम्बन परीक्षा, का० २, पृ० १

वाचस्पति मिश्र का कहना है कि बाह्य वस्तु घटादि की उपलब्धि इतनी स्पष्ट है कि उनका अपलाप नहीं किया जा सकता। मात्र स्पष्ट अनुभव ही नहीं, "यह घट है पट है" इत्यादि सार्वजनिक अनुभव हुआ करता है। अर्थात् एक व्यक्ति के लिए जो घट प्रत्यक्ष सिद्ध बाह्य सिद्ध वस्तु हैं, वह सभी के लिए प्रत्यक्ष सिद्ध घट है, अतः उनका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।[४०८] एक बात और भी है कि जो भी बाह्य विषय की उपलब्धि करता है, वह उपलब्धि को ही उपलब्धि नहीं कहता, अपितु बाह्य विषय की उपलब्धि विषयतया करता है अतः बाह्यार्थ का अभाव नहीं है।

अद्वैत वेदान्त बाह्य वस्तु को विज्ञानातिरिक्त व्यावहारिक बाह्यवस्तुयें स्वीकार करते हैं, इसी कारण विज्ञानवाद के ऊपर उनका आक्षेप है कि वे बाह्य वस्तु को स्वीकार किये बिना उभर नहीं सकते, क्योंकि बाह्यता का खण्डन करने के लिए भी उसे स्वीकार करना होगा।

आचार्य दिङ्नाग ने आलम्बन परीक्षा में विज्ञानवादी की स्थापना करते हुए कहा है कि "यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासते"[४०९] अर्थात् जो आन्तरविज्ञान है, वहीं बहिर्विश्व में ज्ञेयरूप से भासता है। ज्ञान के सामने ज्ञेय वस्तु भी आन्तर बाह्यता अलीक है। अलीक बाह्यता ही मन में भासती है और उस बाह्यता को हम सत्य समझ बैठते हैं।

आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र (२-२-२९) जागृत और स्वप्न के वैधर्म्य भी बतलाये हैं। विज्ञानवाद के अनुसार बाह्य वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं के समान निःस्वभाव हैं। किन्तु आचार्य शंकर यहाँ पर बाह्य वस्तुओं की स्वप्न तुल्य करने के भी विरुद्ध हैं, उनका कहना है , जागृत और स्वप्न में महदन्तर है। प्रथम वैधर्म्य तो बाध-अबाध है, अर्थात् स्वप्न दृष्ट वस्तुयें जाग्रत में वाधित हो जाती हैं। स्वप्न दृष्ट महाजन समागम जागने पर नहीं रहता। स्वप्न में सिंह देखकर भयभीत हुआ व्यक्ति जागने पर भयभीत नहीं रहता। इस प्रकार स्वाप्निक वस्तुयें जागृत में बाधित हो जाती है, अतः जागृत से स्वाधिक वस्तुएँ कम सत्ता वाली हैं।[४१०] जागृत वस्तुयें अनुभूत वस्तुयें होती हैं, जबकि स्वप्न की वस्तुयें स्मृति में निहित होती हैं। स्वप्न व्यक्तिगत होता है। जागृत सार्वजनिक है। अर्थात् स्वप्न में

४०८. तत्त्वसंग्रहपंजिका, पृ० ६८३

४०९. यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु वहिर्वदवभासते—आचार्य दिङ्नाग

४१०. न खल्वभावौ बाह्यस्यार्थस्याध्यवसातुं शक्यते। कस्मात् उपलब्धेः। ब्रह्म सू०शा०भा०, पृ० ५४७

देखी हुई वस्तुयें स्वप्नद्रष्टा को ही दिखाई देती हैं। पास सोये हुए को नहीं दिखाई देती, जबकि जागृत की वस्तुयें सभी को सामान्य रूप दिखाई देती हैं। इस प्रकार शंकर ने जाग्रत स्वप्न में वैधर्म्य दिखाकर बाह्यवस्तुयें स्वप्नवत् नहीं हैं, सिद्ध किया है।[४११]

हमने ऊपर के विवरणों में देखा है कि किस प्रकार आचार्य शंकर और उसके अनुयायी बौद्ध विज्ञानवाद के खण्डन के प्रसंग में वस्तुवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं।

माध्यमिक मत :—माध्यमिक दर्शन पद्धति एक प्राचीन पद्धति है, जिसका पता बुद्ध के आदिम उपदेशों में मिलता है। बुद्ध ने अपने नैतिक उपदेश को बराबर मध्यम मार्ग कहा है, और दोनों ही प्रकार की अतिवादिताओं अर्थात् तपस्वी जीवन एवं प्रवृत्ति के वशीभूत भौतिक इन्द्रियभोग के जीवन का विरोध किया है। अध्यात्मविद्या के क्षेत्र में भी उन्होंने सब प्रकार की अतिवादी स्थिति को दूषित ठहराया है, अर्थात् सब वस्तुयें सत् हैं एवं कुछ भी सत् नहीं है, दोनों ही स्थापनायें अग्राह्य हैं। माध्यमिक दर्शन चरम विधि और चरम निषेध-दोनों के मध्य मार्ग को स्वीकार करता है। नागार्जुन को हम भारत के एक बहुत महान् विचारक के रूप में पाते हैं, जिसने विषयीनिष्ठतावादी एवं यथार्थवादी दोनों वर्ग के विचारकों से कहीं अधिक आगे बढ़कर प्रबल रूप में अनुभव के विषयों का विश्लेषण किया है। निःस्वार्थ बौद्धिक उत्साह एवं दार्शनिक लगन के द्वारा जिनका लक्ष्य उनके अपने ही हित में सम्यक्ता एवं समग्रता पाना है, उसके मत को समर्थन मिला। उसका दर्शन कभी तो संशयवाद को स्पर्श करता है तो कभी रहस्यवाद को। उसका संशयवाद उसके विचार की अनिवार्य सापेक्षता को जान लेने के कारण है, किन्तु तो भी उसकी आस्था एक परम यथार्थसत्ता के मानदण्ड में है। उसके संशयवाद का उद्‌भव तो बौद्धदर्शन से है और परमार्थवाद उसने उपनिषदों से लिया है।

नागार्जुन एक यथार्थ दार्शनिक भावना से प्रेरित होकर ऐसे विरोधी तत्त्वों को प्रकाश में लाकर रख देता है जिन्हें विवेकशून्य वाक्यरचना एवं चिन्तन के प्रति उदासीनता के कारण हमारी दैनिक चेतना परदे की ओट में रखती है। योगाचार यथार्थता के सापेक्ष दृष्टिकोण का सुझाव देता है जिसमें से ही नागार्जुन अपने संशयवाद को विकसित करता है। किन्तु उसके दर्शन का जो निश्चित

४११. न हिं स्फुटतरे सर्वजनित उपलब्ध्ये सति तदभावः शक्यौ वक्तुम्—भामती, पृ० ५४७

अंश है वह उपनिषदों की अद्वैतपरक व्याख्या के मत से भिन्न नहीं है। यह कल्पना करना एक भयंकर भूल है कि नागार्जुन में हमें केवल उपनिषदों का ही सिद्धान्त मिलता है। उपनिषदों से वह प्रेरणा लेता हुआ अवश्य प्रतीत होता है किन्तु उसके दर्शन सिद्धान्त का विकास अधिकतर बौद्धमत के आश्रय में एवं उसी के उद्धरणों द्वारा हुआ।

निष्कर्ष यह है कि नागार्जुन ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके नमूने का विचार पहले से नहीं रहा यद्यपि समझा जाता है कि इसकी उत्पत्ति प्रज्ञापारमिता से हुई। यह प्रतिपादन करना संभवतः अधिक उपयुक्त होगा कि साधारण धारणा के अनुसार शून्यवाद विज्ञानवाद से पूर्व प्रादुर्भूत हुआ, यद्यपि इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः दोनों का विकास साथ-साथ हुआ हो। हर हालत में हमारी उक्त विषय के प्रतिपादन की व्यवस्था उक्त दोनों पद्धतियों के अन्दर तार्किक सम्बन्धों को पहचानने में सहायक सिद्ध होती है।

शून्यवाद :–

नागार्जुन माध्यमिक मत (कारिका) में शून्यवाद की स्थापना करते हैं। उनके अनुसार बाह्य वस्तुयें अबोध्य होने के कारण अवास्तविक हैं। बाह्य वस्तुओं के स्वभाव में विरोध है जिस कारण उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। सत्य सर्वदा सर्वथा एक रूप होता है। यह प्रपंच, चाहे आन्तर हो, चाहे बाह्य, प्रातीतिक है। यहाँ पर विज्ञान और विज्ञेय, दोनों अवास्तविक हैं। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता, तीनों के रूप में वस्तुयें सिद्ध नहीं हो सकती। सम्बन्धों की जटिलता को ही लोग संसार कहते हैं, परन्तु विश्लेषण करने पर सम्बन्ध दुर्बोध्य है। नागार्जुन ने चेतन-अचेतन सभी को आवास्तविक कहा है। जिस प्रकार माया, गन्धर्वनगर, स्वप्न मिथ्या है, उसी प्रकार प्रपंच मिथ्या है।[४१२] आचार्य नागार्जुन ने संसार की सभी वस्तुओं को अवास्तविक कहा है, क्योंकि वे प्रतीत्य समुत्पन्न है। प्रतीत्यसमुत्पन्न का अर्थ है कारण पर निर्भर शीलता। कोई भी कार्य अपने कारण से व्यक्तिरिक्त उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण नाना हैं। इसका अर्थ हुआ नानाकारणों पर निर्भरशीलता ही कार्य है (कार्य यथार्थ नहीं है। यदि वे यथार्थ हैं तब उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता है यदि अयथार्थ है, तब कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? नागार्जुन के अनुसार जो भी सापेक्ष है, प्रातीतिक है। संसार की वस्तुयें सापेक्ष है, इसलिए

४१२. माध्यमिक शास्त्र–७-६४

अवास्तविक है।[४१३] कार्य से अन्य रूप से कारण की और कारण से अन्य रूप से कार्य की उपलब्धि नहीं होती, यदि अतिरिक्त रूप से कारण कार्य की, उपलब्धि हो तब तो उनमें कार्य कारण का सम्बन्ध ही नहीं होगा, क्योंकि कार्य कारण का सम्बन्ध अनिवार्य माना गया है। विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन कहते हैं कि सभी धर्म तत्त्वरहित हैं। निःस्वभाव हैं, क्योंकि वे प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। इसी प्रकार आत्मा और स्कन्दों की सत्ता का भी प्रत्याख्यान किया है। इनके अनुसार जो परमार्थ है वह उत्पत्ति और विनाश का विषय नहीं बनता। वस्तुयें भी वस्तुतः जो उत्पन्न होती हैं, न नष्ट होती हैं।[४१४] उत्पत्ति विनाश प्रतीत होते हैं। वस्तुयें न भावरूप हैं, न अभावरूप हैं, न वस्तु का लक्षण संभव है, न वस्तु ही लक्ष्य बन सकती है।[४१५] लक्षणभाव आदि बातें काल्पनिक हैं, माध्यमिक के अनुसार वस्तु न सत् हैं न असत् हैं और न सदसत् हैं, उभयभिन्न हैं। इस प्रकार वस्तु "चतुष्कोर्टिविनिर्मुक्त हैं। जिस वस्तु का कथन उक्त किसी भी पक्षावलम्बन पूर्वक संभव नहीं उसकी उपलब्धि के विषय में किस प्रकार का कथन संभव है? अर्थात् वस्तु का कथन किसी भी पक्ष से संभव नहीं है।[४१६] भाव पदार्थ न स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः और न दोनों से, न बिना हेतु के ही होते हैं।[४१७] इस प्रकार भाव पदार्थ कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते जिनकी उक्त प्रकार से उत्पत्ति समझ नहीं, उनकी निवृत्ति भी संभव नहीं, क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। यदि उत्पत्ति उक्त विरोध के कारण संभव नहीं, तब विनाश या विरोध भी संभव नहीं।[४१८]

नागार्जुन वस्तुओं को ही शून्य नहीं कहते, अपितु तत्त्व को भी शून्य कहते हैं। तत्व को शून्य कहने का तात्पर्य है स्वभाव शून्यता। तत्त्व में किसी प्रकार के स्वभाव नहीं है, इस कारण शून्य है। चन्द्रकीर्ति ने शून्यता की व्याख्या निःस्वभावता से ही की है।[४१९] धर्मशून्यता या स्वभावशून्यता तो अद्वैत ब्रह्म में भी

---

४१३. A critical Survey of India Philosophy. 100.
४१४. विग्रहव्यावर्तिनी, पृ० २६, बड़ौदा १९२९.
४१५. Mahayan Vimasaka of Nagarjuna, p. 11, Bhattacharya, Cal.-183.
४१६. तस्मान्भावो नाभावो न लक्ष्यं नापि लक्षणाम्। माध्यमिक शास्त्र, पृ० ५३
४१७. अदसत्य दच्चेतियस्य पक्षो न विद्यते।
उपालम्भरिविरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते।। चतुः शतक १६, २५ माध्य० शास्त्र में उद्धृत-५
४१८. माध्यमिक शास्त्र, पृ० ४.
४१९. माध्यमिक शास्त्र प्रसन्नपदा–टीका–१९१

है, क्योंकि अद्वैत के अनुसार ब्रह्म में सत्यवादी गुण भी नहीं रहते। वह निर्धर्मक है। अद्वैत में भी कार्य को कारण व्यतिरिक्त कहा है। पारमार्थिक दृष्टि से कार्य जगत् कारणजन्य है, और व्यावाहारिक दृष्टि से कारणभिन्नत्वेन प्रतीत होने के कारण कार्यजगत् मिथ्या है। शून्यवादी कार्यकारणात्मक जगत् का सत्व नहीं मानते। कहीं-कहीं पर कार्य जगत् को नरशृंग, स्वप्नसदृश कहा गया है। कहीं पर मरीच्युपम कहा है, और कही पर उदक प्रतिबिम्ब के उदाहरण से मिथ्यात्व समझाया है।[४२०] शत-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता में मायोपम में कहा है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी मायोपम हैं।[४२१] इसी प्रकार उक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के लिए प्रतिभास शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[४२२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक वस्तुओं को जब शून्य कहते हैं तब उनका तात्पर्य स्वभाव शून्यता से है न कि वस्तुओं के अभाव से। इसी कारण से वस्तुओं के विषय में निजस्वभाव और परस्वभाव का खण्डन किया है। अद्वैत वेदान्त में भी कार्य जगत् अधिष्ठान सापेक्षतया सत्स्वभाव शून्य है। अद्वैतवादी कहते हैं कि 'घट' सत् नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान बाध्य है। अधिष्ठान ज्ञान से आरोपित वस्तु के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। घटाधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य को जान लेने पर अद्वैत के अनुसार 'घट' बाधित हो जायेगा। तब वह सत् नहीं रहेगा, क्योंकि जो बाह्य है, वह परमसत् नहीं है। व्यावहारिक सत् भले ही हो। यहाँ पर सापेक्षता द्वारा वस्तुओं को मायोपम कहना अद्वैत के मिथ्यात्व से साम्य रखता है। अद्वैत में मिथ्यात्वानुमान में 'परिच्छिन्नत्व' हेतु दिया है। सभी वस्तुयें परिछिन्न हैं, अतः मिथ्या हैं। वस्तुयें देशगत और कालगत हैं। कोई भी वस्तु देश और काल से परे नहीं है। देश काल से वस्तुयें सीमित हैं, घट न उत्पत्ति के पूर्व था, न विनाश के बाद में रहेगा, अतः मिथ्या है।

शून्यवाद के नाना प्रकार के अर्थ समझे जाते हैं। कतिपय व्यक्तियों के लिए इसका अर्थ अभावात्मक है और अन्यों के लिए एक स्थिर इन्द्रियातीत और अव्याख्येय तत्त्व, जो सब वस्तुओं के अन्तर्गत है। पहला अर्थ आनुभाविक संसार के लिए सत्य है एवं दूसरा आध्यात्मिक यथार्थता के लिए। शून्य के वायुमण्डल

---

४२०. माध्यमिक शास्त्र १९३।। दरगंजा-१९६०

४२१. मायोपमं सुमूते रूपं, मायोपमा वेदना मायोपमा संज्ञा मायोपमाः संस्कारा, मायोपमं विज्ञानम्। शतसाहस्त्रिका प्रजापारमिता-परिवत-६, पृ० ९०७

४२२. प्रतिभासोपमं सूभूते रूपम इत्यादि वही, पृ० ९०८, कलकत्ता-१००२।।

में भ्रांतिरूप ढाँचा भी नहीं ठहर सकता। प्रत्येक निषेध एक अन्तनिर्हित स्वीकृति के ऊपर निर्भर करता है। नितान्त निषेध असम्भव है। पूर्ण संशयवाद एक काल्पनिक वस्तु है, क्योंकि इस प्रकार का संशयवाद संशयवादी के निर्णय की यथार्थता का संकेत करता है, यद्यपि उपनिषदों के ही समान वह उसे अनुभव का पदार्थ नहीं मानता। आँख नहीं देखती, न मन ही उसका विचार करता है, यह उच्चतर श्रेणी का सत्य है जिसमें मनुष्यों का प्रवेश नहीं है। ऐसे क्षेत्र को जहाँ पर सब पदार्थों की पूर्ण छवि तुरन्त प्राप्त होती है, बुद्ध ने परमार्थ कहा है, अर्थात् निरपेक्ष सत्य जिसका वाणी के द्वारा प्रचार नहीं किया जा सकता।[४२३] इसे न तो शून्य ही कह सकते हैं और न अशून्य ही, दोनों भी नहीं कह सकते, और न दोनों में से एक कह सकते हैं, लेकिन केवल उसका संकेत करने को शून्य कहा जाता है।[४२४] आधारभूत यथार्थता नामक एक वस्तु अवश्य है जिसके बिना वस्तुयें जो हैं वह न होती। शून्यता एक भावात्मक तत्त्व है। कुमारजीव ने नागार्जुन पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "यह शून्यता ही के कारण है जो प्रत्येक वस्तु सम्भव हो सकती है और बिना इसके संसार में कुछ सम्भव नहीं है।" यही सबका आधार है। हे सुभूति सब धर्मों का आश्रय शून्यता ही है, वे उस आश्रय स्थान में कुछ परिवर्तन नहीं लाते।[४२५] शून्यता उसका पर्यावाची है जिसका कोई कारण नहीं, जो विचार एवं प्रत्यय या भाव से परे है, वह जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, जो उत्पन्न नहीं हुई और जिसका कोई माप नहीं।[४२६] आनुभाविक जगत् के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने पर शून्यता का अर्थ होता है, प्रतीतिरूप जगत् की सदा परिवर्तनशील अवस्था। अनन्तता के आतकंकारी शून्य में मनुष्य सब आशा खो बैठता है किन्तु ज्यों कि वह इसकी अयथार्थता को समझ लेता है, वह उससे ऊपर उठता है और स्थिर तत्त्व तक पहुँच जाता है। वह यह जानता है कि सम्पूर्ण इकाई एक क्षणिक स्वप्न है जिसमें वह विवाद-विषयों के प्रति उदासीन और विजय को निश्चित मानकर बैठा रह सकता है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने इसकी समीक्षा करते हुए कहा है कि नागार्जुन का शून्य

---

४२३. अध्याय-३.

४२४. शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञाप्त्यर्थं तु कथ्यते।।

४२५. प्रज्ञापारमिता।

४२६. अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता, अध्याय-१८.

पाठक को हैमिल्टन की निरूपाधिक अथवा स्पैंसर की अचिन्त्य शक्ति का स्मरण कराता है। इसके सम्बन्धविहीन स्वरूप के कारण कभी-कभी इसको प्लातिनस के एकत्व के 'स्पिनोजा' के सारतत्त्व एवं शैलिंग के क्लीवाणु के समान बतलाया जाता है। संसार के क्षोभ से क्षुब्ध मानवीय मस्तिष्क को यह भाव बहुत रुचिकर प्रतीत होता है। वह उच्चतम तत्त्व अपनी निरपेक्षता या परमार्थता में गतिविहीन होने के कारण सब प्रकार के परिणयन (Becoming) का प्रभाव प्रतीत होता है। निषेध के अंश को मान लेने से ही इसकी परमार्थता दुविधा में पड़ जाती है। इस मत के अनुसार यदि परमार्थतत्त्व पूर्णरूप से यथार्थ है, तब इसमें निषेधात्मक तत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार की एक निस्सीम सत्ता निस्तेज एवं उदास शून्यरूप प्रतीत हो सकती है। निषेध भी ऐसा ही महत्त्हवपूर्ण प्रतीत होता है, जैसा कि विध्यात्मक कथन। बिना इसके हमें भेद का अंश भी नहीं मिलता और परिणाम में जीवन अथवा अभिव्यक्ति ही असम्भव हो जाती है यदि विशुद्ध सत् जीवित एवं यथार्थ होता तो हमें इसके अन्दर भेदवाचक तत्त्व एवं निषेधात्मकता के तत्त्व के सम्बन्ध में विचार करने को वाध्य होना पड़ता। नागार्जुन की दृष्टि में इस प्रकार का तर्क 'मानवीय' एवं आवश्यकता से अधिक मानवीय ठहरेगा। परमार्थतत्त्व को स्वरूप की व्याख्या करने में अपनी अक्षमता अथवा सीमित एवं असीम के मध्यगत सम्बन्ध को समझ सकने की अयोग्यता के कारण हमें इस प्रकार की प्रेरणा न मिलनी चाहिए कि हम उसे शून्य समझने लगें। परमार्थतत्त्व की यथार्थता एवं उसकी पूर्णता का प्रमाण ब्रह्म साक्षात्कारवादी योगियों द्वारा प्राप्त निर्वाण का परमानन्द ही है। यदि योगाचार शाखा माध्यमिक शाखा से अर्वाचीन है, तब तो हम इस विकास के तर्क को सरलता से समझ सकते हैं। नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित परमार्थ सत्ता की बौद्धिक व्याख्या हमें आलयविज्ञान की ओर ले जाती है। अपने सीमित स्तर से नागार्जुन का परमार्थतत्त्व अपनी परमार्थता में गतिविहीन प्रतीत होता है।

क्षणिकवाद :-

यह क्षणिकवाद बौद्धों का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। क्षणिकवाद के अनुसार जो सत् है अर्थात् जिसकी सत्ता है वह क्षणिक है।[४२७] उदाहरण देते हुए इन्होंने स्पष्ट किया है कि जैसे-मेघ दूर से स्थायी रूप में दिखलायी देते हैं, परन्तु ये क्षणिक

४२७. यत्सत्तत्क्षणिकं, यथा जलधरपटलं, सन्तश्चामी भावा इति।। सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३३

ही होते हैं। सत्ता को स्थायी रूप में सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए यह अर्थ क्रियाकारित्व का हेतु देते हैं। जिसका अभिप्राय यह है कि प्रयोजन भूता या क्रिया तत्कारित्वमेव सत्वम् (अभ्य०) प्रयोजन के रूप में जो कार्य है उसे करने की क्षमता होना ही सत्ता का लक्षण है। दूसरे शब्दों में सत्ता वह है जो कुछ कार्य उत्पन्न करने की क्षमता रखे। शशविषाण के सदृश असत् वस्तु कभी भी कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती। सत्ता का यह लक्षण स्वीकार करने पर सभी पदार्थों को क्षणिक मानने में सुविधा होती है। मान लें कि बीज क्षणिक नहीं है, स्थायी है तो इसकी सत्ता होने के कारण क्षण-क्षण में यह नये-नये कार्य उत्पन्न करता रहेगा। यदि बीज सभी क्षणों में समान ही रहे, अपरिवर्तित हो, तो सदा वह उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न करेगा, किन्तु वस्तु स्थिति इसके विपरीत है। घर में रखा बीज वही नहीं जो खेत में डाला गया था। दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न हैं। यदि यह तर्क किया जाए कि वस्तुतः बीज वही कार्य उत्पन्न नहीं करता किन्तु उसमें क्षमता है जो उचित उपादानों (जैसे–पृथ्वी, जल आदि) के संसर्ग से अभिव्यक्त हो जाती है। अतः बीज सदा वही है। यह तर्क असहाय है, क्योंकि ऐसी दशा में यह स्वीकार करते ही हैं कि पहले क्षण का बीज अंकुरण का कारण नहीं प्रत्युत विभिन्न उपादानों के संसर्ग से परिष्कृत बीज ही उसका कारण है। अतः बीज तो परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार कोई भी वस्तु दो क्षण नहीं ठहरती। सभी वस्तुयें क्षणिक हैं। इसकी सिद्धि के लिए सत्ता का एक विशिष्ट लक्षण (अर्थक्रियाकारित्व) करना पड़ता है।

बौद्ध दार्शनिकों ने दूसरा हेतु देते हुए कहा है कि यह नियम व्यापक अर्थात व्याप्त करने वालों का निष्कासन (व्यावर्तन) करने से व्याप्य का भी निष्कासन होता है। व्यापक में नहीं रहने वाली वस्तु व्याप्य में भी नहीं रहती, इस नियम के द्वारा व्यापक पदार्थ से क्रम (आगे-पीछे होना) और अक्रम (साथ-साथ होना) का निष्कासन भी करने पर क्षणिक होने वाली वस्तुओं से सत्ता की निष्कासन भी सिद्ध होता है इसका अभिप्राय यह है कि व्यापक से किसी को अलग करना व्याप्य से भी उसे अलग कर देना है, जब व्यापक से क्रम-अक्रम को पृथक् कर देते हैं, इससे स्वभावतः अक्षणिक (व्याप्य) वस्तुओं से सत्ता पृथक् हो जाती है, क्षणिक सत् है क्योंकि अक्षणिक से सत् व्यावृत्त होता है। इससे 'यत्सत्तत्क्षणिकं' सिद्ध होता है, और उपर्युक्त अनुमान हेतु के ठीक रहने से उचित प्रतीत होता है।

यह सार्थक कार्य करने की शक्ति (जिसे यहाँ पर कहा जा रहा है) क्रम (पूर्वापरता) तथा अक्रम (एक साथ होना) से व्याप्त है और क्रम तथा अक्रम

के बीच तीसरा विकल्प भी सम्भव नहीं है। वैसा करने पर निम्नलिखित नियम के अनुसार व्यावहारिक दृष्टि से विकट असंगति हो जायेगी–"आपस में विरोधी (पदार्थों) के बीच किसी तीसरे प्रकार की सत्ता नहीं हो सकती। वचन में ही विरोध होने के कारण विरोधियों में कभी भी एकता नहीं होती। इसका भाव यह है कि क्रम और अक्रम परस्पर विरोधी हैं, दोनों के बीच में तीसरे विकल्प की आशंका नहीं है, जो अर्थक्रियाकारित्व को व्याप्त कर सके। किसी वस्तु की सत्ता या तो क्रमिक होगी, आगे-पीछे करके या अक्रमिक अर्थात् एक साथ ही होगी। बाद में यह दिखलाया जायेगा कि ये दोनों क्रम और अक्रम स्थायी वस्तु से पृथक् हैं और अर्थक्रिया को भी व्यावृत्त करते हुए क्षणिकत्व भावना को सिद्ध करते हैं। अर्थमूलक क्रिया की शक्ति केवल क्षणिक में ही है।[४२८]

इन्द्रिय ग्राह्य जगत् ऐसे संवेद्यार्थों से बना है जो संस्कारों के क्षणिक प्रकटन मात्र होते हैं। अतिचिरस्थायी, शाश्वत, व्यापक प्रकृति जिसकी सांख्य तथा अन्य सम्प्रदाय अपने मूलतत्त्व के रूप में कल्पना करते हैं, एक मिथ्या कल्पना मात्र है। सभी वस्तुयें निरपवाद रूप से क्षणिक घटनाओं की श्रृंखला के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कमलशील[४२९] कहते हैं कि "इनकी क्षणिकता का यह स्वभाव, इनका अलग-अलग क्षणों में विभक्त होना, प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है। अपने इसी आधारभूत पक्ष को सिद्ध करके हम 'एक प्रहार मात्र' (एक प्रहारेण एव) से आस्तिकों के ईश्वर, सांख्यों की प्रकृति, तथा अपने विपक्षियों द्वारा कल्पित समस्त पदार्थों को निरस्त कर सकते हैं। इनका एक-एक करके परीक्षण करना तथा विस्तार से प्रतिवादों की रचना करना सर्वथा व्यर्थ परिश्रम होगा क्योंकि यह कार्य अत्यन्त स्वल्प उपाय द्वारा ही किया जा सकता है। वास्तव में हमारे विपक्षियों में से कोई भी यह स्वीकार नहीं करेगा कि ये वस्तुयें या पदार्थ क्षणिक हैं कि ये उदय होते ही समाप्त हो जाती हैं, और यह कि अपने पीछे कोई चिह्न छोड़े बिना ही समाप्त हो जाना इनका धर्म है।[४३०]

सत्ता गतिमूलक है :–

कमलशील[४३१] का कथन है कि "अपनी दैनिक अर्थक्रिया में रत प्रेक्षावानों

४२८. व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरिति न्यायेन व्यापकक्रमाक्रमव्यावृतौ अक्षणिकात्सत्त्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वाच्च। तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्।। (सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ३३)

४२९. तुकी तसंप०, पृ० १३१.१७ और बाद (संक्षिप्त)

४३०. निरन्वय-निरोध-धर्मक।

४३१. तसंप०, पृ० १५१.१९ और बाद।

के लिए समस्त वाञ्छित वस्तुओं के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में विचार करना[४३२] स्वाभाविक ही है। ऐसा न करना उन्मत्त[४३३] व्यवहार होगा। अतः चाहे साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से और किसी भी देश और काल में मनुष्य जो कुछ भी पदार्थ स्वयं प्राप्त करता है उन्हें वह यथार्थ वस्तु मानता है।[४३४] अब हम (बौद्ध) यह सिद्ध करते हैं कि इस प्रकार के पदार्थ अर्थात् ऐसे पदार्थ जो अर्थक्रियाकारी रूप है क्षणिक होते हैं। इस नियम का कोई अपवाद नहीं है कि अर्थक्रिया सामर्थ्य यथार्थता की स्थापना की एक अनिवार्य विशिष्टता है। यह एक ऐसी विशिष्टता है जिसकी सत्ता के साथ व्याप्ति सिद्ध है।[४३५] परन्तु कोई भी पदार्थ अपने अन्तिम क्षण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार अर्थक्रियाकारी और प्रापक नहीं हो सकता। उसके पूर्वक्षण कोई भी प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रापकता के क्षण को परस्पर व्याप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार उसके भावी क्षण तो पूर्व प्रभाव को और भी उत्पन्न नहीं कर सकते।

प्रत्येक क्षण के बाद अनिवार्यतः दूसरा क्षण आता रहता है। इस गति में ऐसा भंग जो सम्यक् यथार्थता का निर्माण करता है, विशिष्ट अथवा असमान क्षण की प्रतीति होती है।[४३६] यह हमारी व्यावहारिक आवश्यकता के लिए विशिष्ट होता है, क्योंकि हमारे लिए क्षणों के सतत् परिवर्तन की उपेक्षा करते हुए उस पर उसी क्षण ध्यान देना स्वाभाविक है। जब वह एक नवीन गुण बन जाता है, अर्थात् जब वह हमारे व्यवहार अथवा हमारे विचार पर एक नवीन अभिवृत्ति का प्रभाव डालने के लिए पर्याप्त होता है। किसी वस्तु के अस्तित्व में पूर्व के क्षणों की अनन्यता केवल उनके भेद अग्रह मात्र में ही निहित हैं। इस अनन्यता में व्यवधान इनकी गति में व्यवधान नहीं है। यह तो सदैव ही कल्पित होता है, ऐसे क्षणों का संघटन होता है जिनके भेद को हम ग्रहण नहीं कर पाते। "यथार्थता का स्वरूप क्षणिक या चल-भाव होता है" ऐसा शान्तिरक्षित[४३७] का कथन है। यथार्थता गतिमूलक है। जगत् एक चलचित्र है। कारणता अर्थात् एक दूसरे का

---

४३२. अर्थस्य अस्तित्व-अनस्तित्वेन विचारः।

४३३. उन्मत्तः स्यात्।

४३४. 'यद् एव पदार्थ-जातम् ..... तत्रैव वस्तु-व्यवस्था' (तुकी० सदसं०, पृ० २६)

४३५. साध्येन (सत्तया) व्याप्ति-सिद्धिः।

४३६. सहकारिता साकल्यम् न प्रातेर अतिरिच्यते। ताटी०, पृ० ८०.५

४३७. तसं०, पृ० १३८.९–'चल-भाव-स्वरूप-क्षणिक, तसंप०–११७.१७.

अनुगमन करने वाले क्षणों का अन्योन्याश्रयत्व स्थिरता या अवधि की भ्रांति उत्पन्न कर देता है, किन्तु वास्तव में ये क्षण ऐसे संस्कार होते हैं जो अपने में बिना किसी स्थायित्व के ही क्षणिक अस्तित्व प्राप्त करते रहते हैं, और इनमें कोई व्यवधान नहीं होता, अथवा इतना सूक्ष्म व्यवधान होता है कि ये निरन्तर ही प्रकट होते हैं।

काल और दिक् प्रत्ययात्मकता पर तर्क :-

विरम्य व्यापार के सिद्धान्त में यह निहित है कि कालगत प्रत्येक अवधि एक-दूसरे का अनुगमन करने वाले क्षणों से निर्मित है, दिक् का प्रत्येक विस्तार भी सानिध्यपूर्ण और एक साथ ही उत्पन्न क्षणों से निर्मित है, और प्रत्येक गति इन्हीं क्षणों की सान्निध्यता और निरन्तरता से उत्पन्न होती है। अतः इन क्षणों के अतिरिक्त कोई काल, दिक् या गति नहीं है जिनसे ही हमारी कल्पना इन कल्पित सत्ताओं को उत्पन्न करती है।[४३८]

बौद्धों का काल दिशा और गति (कर्मता) की धारणा को समझने के लिए हमें इन्हें भारतीय यथार्थवादी सम्प्रदायों में प्रतिपादित विभिन्न धारणाओं के समक्ष रखना होगा। हमें अपने अध्ययन के प्रायः प्रत्येक पग पर इस विधि का आश्रय लेना होगा। हम पहले काल और दिक् से आरम्भ करेंगे।

भारतीय यथार्थवादियों के अनुसार काल एक द्रव्य है। यह एक नित्य और सर्वव्यापी है।[४३९] इसके अस्तित्व का घटनाओं की निरन्तरता तथा सहकालिकता द्वारा अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार दिक् भी एक द्रव्य[४४०] है जो एक नित्य और सर्वतोव्याप्त है। इसके अस्तित्त्व का इस तथ्य द्वारा अनुमान किया जाता है कि विस्तृत समस्त पदार्थ अभेद्यता से युक्त और दिक् के अन्तर्गत एक-दूसरे के साथ-साथ रहते हैं। प्रशस्तपाद यह अत्यन्त रोचक टिप्पणी और जोड़ देते हैं कि काल, दिक् और आकाश सभी अपना-अपना एकत्व रखते हैं अतः इन्हें दिये गए नाम वस्तुतः पारिभाषिक[४४१] संज्ञायें हैं जातिवाचक[४४२] शब्द नहीं। विभिन्न काल

---

४३८. निरन्तर-क्षण-उत्पाद।

४३९. वैसू० २.२, ६.९, तुकी० प्रशस्तपा०, पृ० ६२.२३ और बाद।

४४०. वैसू० २.२, १०.१६; तुकी प्रशस्तपाद, पृ० ६७.१ और बाद।

४४१. परिभाषिक्यः संज्ञाः।

४४२. अपर-जात्यभारे।

एक ही और उसी काल के अंश होते हैं। जब काल और दिक् को अनेक कालों और अनेक दिशाओं में विभक्त कहा जाता है तो यह एक लाक्षणिक प्रयोग ही होता है। इनमें स्थित पदार्थ[४४३] ही विभक्त होते हैं स्वयं दिक् और स्वयं काल नहीं। अतः ये "नाना विषयक अथवा सामान्य धारणायें" नहीं हैं। ये तो केवल एक व्यक्ति-भेद के अधिष्ठान मात्र हैं।

यह स्पष्ट है कि भारतीय यथार्थवादी जैसा कि कुछ यूरोपीय हेतु प्राधान्यवादी भी मानते हैं, काल और दिक् को ऐसे सर्वव्यापी आधार मानते हैं जिनमें से प्रत्येक सम्पूर्ण विश्व को अपने में धारण किये हुए हैं।

अविध और विस्तार यथार्थ नहीं है :-

वास्तव में यदि हम यह माने कि कोई वस्तु यद्यपि एक रहते हुए विस्तार और अवधि से युक्त होती है, तो जहाँ तक हम यथार्थता को प्रापकता के रूप में ग्रहण करते हैं, हमें विरोधत्व मिलेगा। न तो एक ही यथार्थ वस्तु का ही समय में अनेक स्थलों पर अस्तित्व हो सकता है, और न एक ही यथार्थ अलग-अलग कालों में यथार्थ हो सकता है। यदि स्थिति ऐसी हो तो यह विरोध नियम के विपरीत होगा। यदि एक वस्तु किसी एक स्थान पर है तो वह उसी समय किसी अन्य स्थान पर उपस्थित नहीं हो सकती। अन्य स्थान पर भी उपस्थित होने का अर्थ प्रथम स्थान पर उपस्थित न होना है। इसी प्रकार अनेक स्थानों पर स्थित रहने का अर्थ किसी एक समय पर किसी एक ही स्थान विशेष पर उपस्थित और अनुपस्थित होना होगा। यथार्थ वादियों के अनुसार अनुभवात्मक वस्तुओं की एक सीमित यथार्थ अवधि होती है। ये प्रकृति की रचनात्मक शक्ति से अथवा मानव संकल्प द्वारा या ईश्वर की इच्छा द्वारा परमाणुओं से उत्पन्न होती है। परमाणु संयुक्त होते हैं और नवीन पदार्थ एकीभूत वस्तुओं का निर्माण करते हैं। ये सृजित एकीभूत यथार्थ वस्तुयें अपने उपादान कारण, अर्थात् परमाणुओं में स्थित अथवा अन्तर्निहित होती हैं। इस प्रकार हमें बहुसंख्यक परमाणुओं अर्थात् अनेक स्थानों में एक साथ ही स्थित एक ही यथार्थ वस्तु मिलती है। यह असम्भव है। या तो सृजित एकत्व एक कल्पितार्थ मात्र है और केवल उसके विभिन्न अंश ही यथार्थ है, अथवा ये अंश ही कल्पितार्थ है और समग्र रूप मात्र यथार्थ है। बौद्धों के लिए अंशमात्र ही यथार्थ है और समग्र एक कल्पितार्थ क्योंकि यदि यह एक

---

४४३. अञ्जसा एकत्वेपि ..... उपाधि भेदात् नानात्वोपचारः।

यथार्थ हो तो यह एक ऐसा यथार्थ होगा जो एक ही समय में अनेक स्थानों में स्थित होगा, अर्थात् ऐसा यथार्थ जो एक समय में किसी एक ही स्थान विशेष पर उपस्थित तथा अनुपस्थित होगा।

इसी प्रकार के तर्कों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि कोई वस्तु किसी अवधि से युक्त नहीं हो सकती। यदि किसी वस्तु का 'क' क्षण में अस्तित्त्व है तो उसी का 'ग' क्षण में भी अस्तित्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि 'क' क्षण में यथार्थ अस्तित्त्व का अर्थ 'ग' क्षण में अथवा किसी भी अन्य क्षण में कोई यथार्थ अस्तित्त्व न होना है। इस प्रकार यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि उसी वस्तु का 'ग' क्षण में भी अस्तित्त्व बना रहता है, तो इसका मात्र यही अर्थ होगा कि उसका एक साथ ही 'क' क्षण में यथार्थ अस्तित्त्व है भी और यथार्थ अस्तित्त्व नहीं भी है। यदि किसी वस्तु की अनेक क्षणों में यथार्थ अविध हो तो वह एक ऐसे यथार्थ एकत्व को व्यक्त करेगी जिसका एक साथ ही विभिन्न कालों में अस्तित्त्व है। यह अवधिगत एकत्व या तो कल्पितार्थ है और केवल क्षणमात्र ही यथार्थ है, अथवा क्षण कल्पितार्थ है और अवधि मात्र ही यथार्थ है। बौद्धों के लिए केवल क्षण ही यथार्थ और अवधि कल्पितार्थ है, क्योंकि यदि यह एक यथार्थ हो तो एक ऐसा यथार्थ होगा जिसका एक साथ ही विभिन्न कालों में अस्तित्त्व होगा अर्थात् यह जिसका एक साथ ही विभिन्न कालों में अस्तित्त्व होगा अर्थात् यह किसी क्षण विशेष में विद्यमान तथा साथ ही अविद्यमान होगा।

साक्षात् प्रत्यक्ष पर आधारित तर्क :–

समस्त विद्यमान वस्तुओं के क्षणिक स्वभाव की प्रत्यक्ष तथा अनुमान पर आधारित तर्कों के आधार पर भी स्थापना हो जाती है। इनमें से प्रथम साक्षात् प्रत्यक्ष पर आधारित तर्क है।[४४४] विज्ञान एक क्षणिक प्रतिभास है ऐसा स्वसंवेदन से सिद्ध हो जाता है। परन्तु एक क्षणिक विज्ञान केवल एक क्षणिक वस्तु का प्रतिवर्त मात्र ही है। यह उनमें से किसी को भी ग्रहण नहीं कर सकता जो पहले हो चुका है अथवा बाद में होगा। ठीक उसी प्रकार जैसे जब हम एक क्षणिक विज्ञान में एक नील पट का प्रत्यक्ष करते हैं, तब हम ठीक उसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं जो उस विज्ञान के अनुरूप होती है, अर्थात् हमें केवल नीले पट का

---

४४४. न्याकमि०, पृ० १२३.१४ और बाद,
ताटी०, पृ० ९२.१५ और बाद।

ही प्रत्यक्ष होता है, पीले का नहीं। ऐसा करते हुए भी हम उस विज्ञान में ठीक वर्तमान क्षण का ही प्रत्यक्ष करते हैं न तो गत का और न आगत का। जब एक नील पट के अस्तित्त्व का प्रत्यक्ष होता है तो उसका अनस्तित्त्व अथवा उसकी अनुपस्थिति स्वतः वर्जित होती है और इस प्रकार उसके पूर्व तथा आगत क्षण भी वर्जित हो जाते हैं। विज्ञान द्वारा केवल वर्तमान क्षण का ही ग्रहण होता है। अतः समस्त बाह्य पदार्थों को ऐन्द्रिक विषयों के रूप में घटाया जा सकता है और तदनुरूप विज्ञान भी सदैव एक क्षणमात्र तक ही सीमित होते हैं, अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त पदार्थों का जहाँ तक वे हमें प्रभावित करते हैं, क्षणिक अस्तित्त्व ही होता है। विज्ञान को क्षण के बाहर पदार्थ की अवधि की स्वयं विज्ञान के लिये आवश्यकता नहीं होती, यह अवधि तो उस विज्ञान की एक विस्तार मात्र हमारी कल्पना की एक रचना मात्र होती है। हमारी कल्पना विज्ञान द्वारा उद्दीप्त होने पर पदार्थ के आकार का निर्माण करती है, किन्तु विज्ञान मात्र विशुद्ध विज्ञान, एक क्षणिक पदार्थ का ही संकेत करता है।

प्रत्यभिज्ञा अवधि को सिद्ध नहीं करती :–इस तर्क के विरुद्ध यथार्थवादी निम्नलिखित आपत्ति करता है।[४४५] वह कहता है कि यह सत्य है कि विज्ञान केवल एक नील पट का ही प्रत्यक्ष करता है और यह उसी समय इससे भिन्न किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं करता। परन्तु हम इतनी दूर तक जाकर यह स्वीकार नहीं कर सकते कि विज्ञान उसकी अवधि की ठीक-ठीक काल का ही प्रत्यक्ष करता है और यह अवधि केवल क्षणिक ही होती है। स्वयं विज्ञान एक क्षण से अधिक देर तक होता है, यह दो या तीन क्षणों तक बना रह सकता है। यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि यह केवल एक क्षण तक ही होता है, और यह भी किसी प्रकार असम्भव नहीं है कि एक वस्तु विद्यमान रहती है और क्रमशः एक के बाद एक विज्ञानों की एक श्रृंखला को उत्पन्न करती है।

बौद्धों[४४६] का यह मानना है कि वाद-विवाद के द्वारा हम यह मान लें कि समस्त अस्तित्त्वों की क्षणिकता हमारे विज्ञान में साक्षात् प्रतिभासित नहीं होती, (किन्तु क्या अवधि की स्थिति इससे भिन्न होती है? क्या अवधि का साक्षात् प्रतिभास होता है?) हाँ होता है, ऐसा यथार्थवादी कहता है। एक प्रतिष्ठित तथ्य अर्थात् प्रत्यभिज्ञा का तथ्य भी है जो वस्तुओं के स्थायित्व और उनकी अवधि

४४५. न्याकवि, पृ० १२३.२३ और बाद।
४४६. वही, पृ० १२४.७

को सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का एक विज्ञान का बोध है कि यह वही रत्न है। ("जिस मैं पहले देख चुका हूँ"।) बौद्ध इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह निश्चय ही रत्न के स्थायित्व अथवा उसकी अवधि को कदापि सिद्ध नहीं करता। यह इस बात को सिद्ध नहीं करता कि उसकी पूर्व स्थिति उसकी वर्तमान स्थिति के सर्वथा समान है। और यदि सिद्ध नहीं है तो हमारे यह मानने में कोई बाधा नहीं है कि इस रत्न तक में परिवर्तन की एक अप्रत्यक्ष और निर्बाध प्रक्रिया निहित है। ऐसी स्थिति में यह एक स्थायी द्रव्य नहीं बल्कि एक दूसरे का अनुगमन करती हुई क्षणिक सत्ताओं का परिवर्तन होगा। वास्तव में यह निश्चय कि 'यह वही रत्न है' दो सर्वथा विषमजातीय तत्त्वों का अवैध संघात है जिनमें परस्पर कुछ भी समान नहीं। यह तत्त्व वर्तमान का एक विज्ञान का और एक यथार्थ पदार्थ का द्योतक है। वह तत्त्व अतीत का किसी ऐसी वस्तु का द्योतक है जो अब एकमात्र कल्पना और स्मृति में ही विद्यमान है।

प्रतीत्य-समुत्पाद :-

प्रतीत्यसमुत्पाद का हेतुपनिबन्धन कारण इस प्रकार होता है-बीज से अंकुर, अंकुर से ग्रन्थि-ग्रन्थि से डंठल, डंठल से कली, कली से टूँड, उससे फूल और तब फल इस प्रकार एक कारण का दूसरे कारण को उत्पन्न करते जाना। यहाँ बाह्य समुदायों के होने पर बीजादि कारण या अंकुरादि कार्य यह नहीं समझते कि मैं अंकुर बना रहा हूँ या मैं बीज से बना हूँ। इसी तरह आध्यात्मिक पदार्थों में भी दो कारणों (प्रत्यय, हेतु) को समझ लें।

आध्यात्मिक वस्तुओं का प्रत्ययोपनिबन्ध जैसे-कार्य की उत्पत्ति, पृथ्वीं, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान इन छः धातुओं के समवाय से होती है। पृथ्वी धातु से कार्य में कठोरता, जल धातु से स्निग्धता, अग्निधातु से वर्ण और परिपाक, वायु धातु से श्वासादि, आकाश धातु से विस्तार तथा विज्ञान धातु से नाम रूप प्राप्त होता है।

आध्यात्मिक वस्तुओं का हेतूपनिबन्धन कारण ही भवचक्र कहलाता है। इसे ही विशेषतया प्रतीत्यसमुत्पाद समझते हैं। इसमें १२ कारणों की श्रृंखला प्रदर्शित की गई है। बौद्ध लोग इन्हें ही दुःख का कारण समझते हैं-क्षणिक वस्तुओं को स्थिर समझना या तत्त्वों को न जानना अविद्या है। इसी के कारण पूर्व जन्म में भला-बुरा कर्म करने का संस्कार होता है। ये दोनों कारण पूर्व जन्म से सम्बद्ध है। संस्कार के कारण ही इस जन्म में प्राणी गर्भ में आता है तथा

विज्ञान या चैतन्य पाता है। इसके फलस्वरूप शारीरिक और मानसिक अवस्थायें नाम-रूप उसे मिलती हैं। नाम रूप के कारण ही षडायतन मिलता है जिसके कारण बालक बाह्य पदार्थों का स्पर्श करता है। स्पर्श करने पर उसे सुख दुःख तथा उदासीनता की त्रिविध वेदना होती है जिससे पदार्थों की तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। तृष्णा से विषयों की आसक्ति या उपादान होता है और उसी से भव अर्थात् नया जन्म होता है, जो पूर्व जन्म के संस्कार के समान ही है।[४४७]

यहाँ तक आठ कारण वर्तमान जीवन से सम्बद्ध है। अब भव के कारण भविष्य में जाति (जन्म) लेना अनिवार्य है। फिर जरामरण को कौन रोकेगा? यही दुःख के कारणों की श्रृंखला है जिस पर समूचा बौद्धदर्शन अवलम्बित है।

'प्रतीत्य-समुत्पाद' शब्द के अर्थ का उद्घाटन करने वाले तीन सूत्र हैं। प्रथम इन शब्दों में व्यक्त है, यह होने पर यह होता है।[४४८] द्वितीय यह कहता है-कोई भी यथार्थ उत्पन्नत्व नहीं है, केवल प्रतीत्य समुत्पन्नत्व होता है।[४४९] तृतीय यह कहता है-समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं।[४५०] प्रथम तथा अपेक्षाकृत अधिक सामान्य सूत्र का यह अर्थ है कि अमुक भाव के होने पर अमुक भावित्व होता है, अमुक विकार के होने पर अमुक विकारित्व होता है।[४५१] इन सूत्रों के पूर्ण अर्थ तथा अभिप्राय का उस समय उद्घाटन होता है जब हम यह विचार करते हैं कि इनका प्रयोजन इन सिद्धान्तों का प्रतिवाद तथा स्थानान्तरण करना था जिनका उस समय भारत में प्रचलन था और जिनके विरुद्ध बौद्ध मत संघर्ष करने के लिए बाध्य था। उस समय सांख्य, यथार्थवादी (वैशेषिकों) और भौतिकवादी सम्प्रदायों के सिद्धान्त विद्यमान थे। सांख्य सम्प्रदाय के अनुसार जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, वास्तव में कोई यथार्थ हेतुत्व होता ही नहीं-नवीन उत्पत्ति के आशय में अथवा आरम्भत्व के रूप में कोई हेतुत्व नहीं होता।

---

४४७. प्रतीत्यसमुत्पादस्य हेतूपनिबन्धनो यथा-बीजादङ्कुरः, अङ्कुरात्काण्डं, काण्डान्नालः, नालादगर्भ, ततः शूकं, ततः पुष्पं, ततः फलम्। न चात्र बाह्ये समुदाये कारणं बीजादि कार्यमङ्कुरादि वा चेतयते-अहमङ्कर निर्वर्तयामि अहं बीजेन निर्वर्तितः इति।। "सर्वदर्शन संग्रह"

४४८. अस्मिन् सति इदम् भवति; तुकी० सेक०, पृ० २८ और बाद।

४४९. प्रतीत्यतत् समुत्पन्न नोत्पन्नम् तत् स्वभावतः।

४५०. निर्व्यापादः (अकिंचित् कराः) सर्वे धमीः।

४५१. तद्भाव भावित्व तद्-विकार विकारित्व।

फल उसी वस्तु की एक नवीन अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। तथाकथित उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि फल में तादात्म्य होता है, अर्थात् अपने हेतुओं के साथ सत्तात्मक तादात्म्य। यह स्वयं अपने स्वत्व से ही उत्पन्न होता है।[४५२]

दूसरी ओर यथार्थवादी प्रत्येक वस्तु को एक पृथक् अवयवी मानते हैं, एक ऐसा अवयवी जो उन अवयवों का एक अतिरिक्त एकत्व होता है जिनसे वह निर्मित होता है। जब हेतुत्व व्यापार होता है तब यह अवयवी एक अतिशय आधार प्राप्त करता है, एक नवीन अवयवी उत्पन्न होता है। दोनों अवयवियों के बीच एक संयोजक, 'समवाय' अर्थात् एक ऐसा सम्बन्ध होता है जो पुनः एक पृथक् एकत्व होता है। इसलिए हेतुत्व का प्रत्येक उदाहरण स्वयं अपने स्वत्व से उत्पन्न हेतुत्व नहीं, बल्कि परतः उत्पन्न होता है।[४५३] एक तृतीय सिद्धान्त अधीत्य समुत्पाद[४५४] को सिद्धान्त को मान्यता और हेतुत्व के समस्त नियमों को अस्वीकार करता था। इन तीनों सिद्धान्तों के प्रति बौद्धों का उत्तर इस प्रकार है–"न स्वतः, न परतः और न अहेतुतः ही वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, वह तो वास्तव में प्रतीत्यसमुत्पन्न होती हैं।"[४५५] किसी एक नित्य वस्तु के सृष्टि कार्य में परिवर्तित होते रहने के आशय में कोई हेतुत्व नहीं होता, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु होती ही नहीं, ऐसी वस्तु एक कल्पितार्थ है। किसी वस्तु द्रव्य के सहसा दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाने के आशय में भी कोई हेतुत्व नहीं होता। और न कोई यादृच्छिक उत्पत्ति ही होती है। प्रत्येक उत्पादन विशुद्ध हेतुत्व नियमों का अनुसरण करता है। यह शक्ति का एक क्षणिक प्रतिभास मात्र होता है, किन्तु विशुद्ध हेतुत्व नियमों के अनुसार ही प्रकट होता है।

यह स्पष्ट है कि हेतुत्व का यह सिद्धान्त अनात्मवाद का एक साक्षात् परिणाम है, एक ऐसे सिद्धान्त का जो किसी भी अवधि को, किसी भी विस्तार को परमार्थ सत् के रूप में स्वीकार न करके क्षणिक धर्मों के एक सुसंहत और

---

४५२. स्वतः उत्पादः।

४५३. परतः उत्पादः।

४५४. यदृच्छावाद।

४५५. न स्वतो, न परतो, नाप्य अहेतुतः प्रतीत्य तत् समुत्पन्नम्, नोत्पन्नम् तत् स्वभावतः।

सतत् प्रवाह को स्वीकार करता हैं जिसके अन्तर्गत ये धर्म यादृच्छिक रूप से नहीं बल्कि हेतुत्व के नियम के अनुसार ही प्रकट होते हैं।[४५६]

एक मनोभौतिक समानान्तरवाद की समस्या का जिसने सांख्य प्रणाली को केवल दो मूल तत्त्वों एक चेतना से रहित किन्तु समस्त मानसिक घटनाओं से युक्त प्रकृति, तथा एक विशुद्ध पुरुष जो प्रकृति से पृथक् है–की स्थापना की ओर उन्मुख किया, बौद्धों ने अत्यन्त सरलता से समाधान कर दिया। चेतना अमुक-अमुक तथ्यों का कार्य है। यदि एक क्षण का ध्यान रङ्ग का एक पट और दृष्येन्द्रिय हों तो दृश्य संवेदना उत्पन्न होगी। यह अन्योन्याश्रयत्व स्पष्ट है क्योंकि यदि हेतुओं में से किसी एक में कोई परिवर्तन होता है तो फल में भी परिवर्तन हो जायेगा। यदि चक्षु प्रभावित या नष्ट हो जाए तो दृश्य संवेदना परिवर्तित या समाप्त हो जायेगी।

भारत तथा साथ ही साथ यूरोप में बहुचर्चित इस समस्या का क्या अन्धकार से प्रकाश उत्पन्न हो सकता है? क्या दिन गत रात्रि का प्रभाव है, बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा अत्यन्त स्वाभाविक समाधान हो जाता है, रात्रि कहीं जाने वाली श्रृंखला के अन्तिम क्षण का दिन कहीं जाने वाली श्रृंखला का उत्पाद होता है, वह सदैव गत क्षण से भिन्न होता है किन्तु अनुभवात्मक दृष्टिकोण से वह या तो समान अथवा असमान हो सकता है। अंकुर के क्षण बीज के क्षणों से भिन्न होते हैं। अनुभव यह दिखाता है कि असमान प्रतीत्य समुत्पन्नत्व भी उसी प्रकार सम्भव है जैसे समान।[४५७] यह स्वयं हमारे अज्ञान[४५८] का परिणाम है कि हमें 'समान' क्षणों[४५९] की विलक्षणता का बोध नहीं हो पाता और हम यह मान लेते हैं कि ये पदार्थ तथा अवधि को व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि बौद्ध मत में हमें क्रियात्मक अन्योन्याश्रयत्व के आशय में एक अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त मिलता है।

---

४५६. एक मध्यकालीन लेखक ने हेतुत्व के चार प्रमुख सिद्धान्तो को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–१. आरम्भवादः कणभक्ष-पक्ष। २. संघात–वादस् तु भदन्त-पक्षः।। ३. सांख्यादि-पक्षः परिणामवादो। ४. विवर्त-वादस् तु वेदान्त पक्षः।।

४५७. विजातीयाद् अप्य उत्पति दर्शनात्; टिप्प०, पृ० ३०.१८.

४५८. 'अज्ञादिवद्-अवर्ग-दृशः' न्याकणि०, पृ० १३३.५

४५९. 'सदृश-परापर-उत्पत्ति-विलब्ध-बुद्धयः (न लब्ध-बुद्धयः) वही।

प्रतीत्य समुत्पाद और यथार्थ दोनों समान हैं :-

इस प्रकार बौद्धों के अनुसार यथार्थता गत्यात्मक होती है और कोई भी स्थिर वस्तु नहीं होती। जिसे हम सत्ता कहते हैं उसके सम्बन्ध में ये लोग यह कहते नहीं थकते हैं कि वह सदैव व्यापृत होती रहती है।[४६०] शान्तिरक्षित कहते हैं कि सत्ता कार्य है। कर्म या कार्य तथा यथार्थ परस्पर विकार्य शब्द हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद चल होता है।[४६१] यह मानना एक मानवत्वारोपी भ्रान्ति है कि किसी वस्तु की केवल सत्ता हो सकती है, यह सत्ता स्थित होती है अर्थात् बिना व्यापार के विद्यमान होती है, यथा दूसरे शब्दों में सहसा उठाकर कोई व्यापार उत्पन्न कर देती है। जिसकी भी सत्ता है, वह सदैव व्यापृत होती रहती है।

यह निष्कर्ष है कि जिसकी भी सत्ता है वह हेतु होती है बौद्धों की उपरोद्धृत सत्ता की परिभाषा द्वारा प्रतिपादित होती है। सत्ता, यथार्थ सत्ता अर्थ-क्रियाकारित्व[४६२] के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार जो कुछ भी अर्थ-क्रिया कारित्व ये युक्त नहीं है अथवा जो अहेतु है, उसकी सत्ता नहीं होती। उद्योतकर[४६३] बौद्धों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि "अहेतु द्विविध होता है, तुम्हारे लिए यह या तो कुछ सत्ता रहित अथवा कुछ परिवर्तन रहित है।" कमलशील[४६४] उद्योतकर के इस वक्तव्य को शुद्ध करते हुए उन पर यह आक्षेप करते हैं कि वह अपने विपक्षियों के सिद्धान्तों को भली भाँति नहीं जानते, क्योंकि वह (कमलशील) यह कहते हैं कि वे बौद्ध जो न्याय[४६५] के विद्यार्थी हैं यह मानते हैं कि अहेतु अनिवार्यतः एक अयथार्थता है।[४६६]

इसका तात्पर्य यह है कि यथार्थ या सत्य होने का अर्थ हेतु होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जिसका भी अस्तित्व है वह अनिवार्यतः एक हेतु है। यथार्थवादियों और बौद्धों के बीच का यह विवाद आकाश की यथार्थता की समस्या से सम्बद्ध है, चाहे यह शून्य आकाश हो अथवा ईश्वर से भरा आरम्भिक

४६०. 'सत्तैव व्याप्तत्तिः' तसं०, पृ० १७७.२

४६१. 'चल ..... प्रतीत्युसमुत्पादः' वही, पृ० १

४६२. अर्थक्रिया कारित्वम्-परमार्थ-सत्; न्याबिटी० ११४-१५

४६३. न्यावा०, पृ० ४१६

४६४. तसंप०, पृ० १४०.७

४६५. न्याय-वादिनो बौद्धाः; वही।

४६६. अकारणम् असतः एवं ..... वही।

बौद्ध वह जो न्याय के विद्यार्थी नहीं थे, शून्य आकाश मानते थे।[४६७] जो फिर भी उन लोगों के लिए एक विषयगत यथार्थ एक धर्म, अपरिवर्तनशील और नित्य यथार्थ और उनके अपरिवर्तनशील तथा नित्य निर्वाण के बहुत कुछ समान था। यथार्थवादियों ने इस आकाश को एक नित्य क्रियारहित और भेध द्रव्य ब्रह्माण्डीय ईश्वर से भर दिया।[४६८] बाद के बौद्धों ने जिन्होंने न्याय का अध्ययन किया, इस प्रकार की अपरिवर्तनशील और शाश्वत वस्तु की यथार्थता को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि जो कभी परिवर्तित नहीं होता, और कोई क्रिया नहीं करता, उसकी सत्ता नहीं है, सत्ता परिवर्तन है।

इस उदाहरण में जैसे कि अनेक अन्य में दर्शन का इतिहासवाद मुझे विश्वास है कि इस बात को उल्लेखनीय मानेगा कि बौद्धों ने तर्कों की एक ऐसी श्रृंखला का अनुसरण किया है जो बहुत कुछ आधुनिक भौतिक शास्त्र के समान है।[४६९]

दो प्रकार के हेतुत्व :-

दो भिन्न प्रकार के यथार्थ होते हैं-एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। एक परमार्थ और विशुद्ध अर्थात् क्षण का यथार्थ होता है। दूसरा इस क्षण से संयुक्त यथार्थ होता है, जो हमारे विकल्प द्वारा कृत्रिम रूप से निर्मित आकार से मिश्रित होता है। यह आनुभाविक पदार्थ का यथार्थ होता है। फलस्वरूप दो प्रकार के हेतुत्व भी होते हैं-एक परमार्थ और दूसरा अनुभाविक। एक क्षण का अर्थक्रियाकारित्व है, और दूसरा क्षण से संयुक्त आनुभाविक पदार्थ का अर्थक्रियाकारित्व। और जैसा कि संकेत कर चुके हैं, इन दो विरोधी प्रतीत होने वाली उक्तियों कि यथार्थ गत्यात्मक होता है, और यह कि गति असम्भव है की ही भाँति हमें इन दो उक्तियों के बीच भी विरोधत्व मिलता है कि यथार्थ का प्रत्येक बिन्दु प्रापक होता है, और यह कि प्रापकता असम्भव है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है वास्तव में यथार्थ के समस्त धर्म निर्व्यापार होते हैं, क्योंकि क्षणिक होने के कारण उनके पास कुछ भी करने का समय नहीं होता। विरोधत्व का समाधान इस तथ्य में निहित है कि कोई पृथक् प्रापकता, सत्ता से अतिरिक्त संयुक्त कोई

---

४६७. अभिको० १.५।

४६८. आकाशो नित्यश च अक्रियश च।

४६९. बौद्ध-न्याय-एफ०टी० शेरबात्स्की, पृ० १४५-१५०

प्रापकता नहीं होती। सत्ता स्वयं हेत्वात्मक प्रापकता[४७०] के अतिरिक्त और कुछ नहीं। हेतु और वस्तु दोनों एक ही यथार्थ से गृहीत दो दृष्टिकोण हैं। "किसी कर्त्ता का कारण के साथ सम्बन्ध और उसके कार्य का उद्देश्य परमार्थिक नहीं होता," ऐसा कमलशील का कथन है,[४७१] क्योंकि समस्त यथार्थ धर्म क्षणिक होते हैं और कोई व्यापार नहीं कर सकते। यदि हम यथार्थ और हेतुक प्रापकता को समीकृत कर दें तब हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक यथार्थ के साथ ही एक हेतु होता है। यदि हम इन्हें पृथक् करें, तो हमें यह कहना होगा कि प्रापकता असम्भव है क्योंकि यह हमें दो विरोधी विधेयों के तर्कवाक्य में लिप्त कर देता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में एक वस्तु का दो भिन्न समयों में दो भिन्न स्थानों पर अस्तित्व होना चाहिए, अर्थात् एक ही समय तथा स्थान पर विद्यमान और अविद्यमान होना चाहिए। उदाहरण के लिए एक यथार्थवादी के लिए एक घट अवयवों से युक्त एक ऐसा पदार्थ है जो हथौड़े के प्रहार से तोड़ दिये जाने के क्षण तक स्थूलता और अवधि से युक्त होता है। मिट्टी के लोंदे तथा घट के बीच, घट और घट के टुकड़ों के बीच, कुम्हार और घट के बीच तथा हथौड़े तथा टुकड़ों के बीच हेतुत्व है। किन्तु बौद्धों के लिए कोई वस्तु, अर्थात् एक क्षण, जो बहुत समय पहले नष्ट हो चुका है, हेतु नहीं हो सकता, वह किसी ऐसी वस्तु को प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता जो उसके बहुत समय बाद प्रकट हो।

बौद्ध कहता है[४७२] कि कोई ऐसा स्थायी पदार्थ जो अपने अवयवों के इतने संहत एकत्व को व्यक्त करे कि उसके अवयव अवधिगत एकता के कारण पृथक् क्षण न रह जाये, तो इस प्रकार की संहता एकता अर्थक्रियाकारित्व के रूप में अकल्पनीय होगी। इसके विरुद्ध एक आपत्तिकर्त्ता यह टिप्पणी करता है कि हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि किसी पदार्थ की सत्ता प्रत्येक क्षण में उसकी प्रापकता परिवर्तित होती है।अनुभव यह दिखाता है कि क्षणों की एक श्रृंखला की एक ही प्रापकता हो सकती है। अन्यथा यदि किसी नीलपट का प्रथम क्षण नीले रङ्ग की संवेदना उत्पन्न करें और बाद का क्षण ऐसा न करे तो ये निश्चित रूप से भिन्न संवेदनायें उत्पन्न करेंगे। यदि विभिन्न क्षण एक ही और उसी प्रापकता

---

४७०. सत्रैव व्यावृत्तिः।

४७१. न पारमार्थिकः कर्तृकारणादि-भावोऽस्ति, क्षणिकत्वेन निर्व्यापारत्वात् सर्व-धर्माणाम्।। (तसंप०, पृ० ३९९.१२)

४७२. न्याकणि०, पृ० २४०, वाचस्पति यहाँ योगाचार बौद्धों को उद्धृत करते हैं।

से युक्त न हो तो नीले रंग का चित्र उत्पन्न ही नहीं होगा। इसका उत्तर यह दिया है कि जिस प्रकार नीले पदार्थ के प्रत्येक क्ष्ण में एक अबोधगम्य परिवर्तन होता है, उसी प्रकार विज्ञान या संवेदना के प्रत्येक क्षण और चित्र के प्रत्येक क्षण में भी नित्य परिवर्तन होता है। वास्तव में इस अन्तर की उपेक्षा करने के परिणाम स्वरूप ही एक समान प्रतीत होने वाले पदार्थ और एक प्रतीत होने वाले चित्र की उत्पत्ति होती है।[४७३]

यह स्वतः सिद्ध है कि प्रतीत्य समुत्पाद बौद्धदर्शन की एक ओर विशिष्टता इस धारणा में अन्तर्निहित है कि कभी भी कोई भी वस्तु अकेले कुछ भी उत्पन्न नहीं करती है। उसके पश्चात् उसमें कोई फल उत्पन्न होता है, जब वह ऐसे अन्य धर्मों के साथ संयुक्त होती है तो जिन्हें संस्कार कहते हैं इसलिए "प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व" शब्द संस्कृतत्व का पर्याय बन जाना अपेक्षित है।[४७४] इसका अभिप्राय यह है कि कोई भी एक से उत्पन्न नहीं होता और न एक से अनेक उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सभी वस्तुयें समग्रता से उत्पन्न होती हैं।[४७५]

प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धदर्शन का एक निष्ठा का सिद्धान्त बन गया था। शनैः-शनैः इस सिद्धान्त का विकास हुआ, उत्तरोत्तर यह एक तार्किक एवं वैज्ञानिक रूप में विकसित हो गया। बौद्धदर्शन की शाखाओं में इस प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धान्त को विभिन्न रूपों में भी माना जाने लगा। इसके चार प्रमुख स्वरूपों के रूप में भेद कर सकते हैं–इनमें से दो हीनयान से सम्बद्ध हैं, इनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद बहुत्ववाद से सहमत है। अन्य दो महायान से सम्बद्ध हैं, ये अत्यन्त अद्वैतवाद से सम्बद्ध है। वसुबन्धु यह बताते हैं कि सर्वसाधारण के लिए उदिृष्ट अपनी प्रचलित प्रकृति के कारण उपदेशों सामान्य सिद्धान्तो का उल्लेख नहीं मिलता है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रतीत्यसमुत्पाद की विभिन्न धाराणाओं का वर्णन किया है।[४७५]

प्रतीत्यसमुत्पाद की अवधारणाओं का जो विभिन्न हेतुओं से वर्णन किया गया है उसको निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है :–समस्त सांवृत्तिक जीवन (भावचक्र) एक बारह खण्डों के चक्र के रूप में व्यक्त है। यह अर्थात्

---

४७३. न्यायकणि०, पृ० २४०, वाचस्पति द्वारा योगाचार बौद्धों को उद्धृत करते हैं।

४७४. संस्कृतत्वम्=प्रतीत्यसमुप्तन्नत्वम्=सम्भूयकारित्व=धर्मतये।

४७५. न किंचिद् एकम् एकस्मात्, नाप्य एकस्माद् अनेकम्, अथवा न किंचिद् एकम् एकस्या समग्रया सर्व सम्पत्तेः। सर्वत्र।

(१) सम्पूर्ण चक्र, हमारे सीमित ज्ञान के केन्द्रीय धर्म अविद्या तब प्रापञ्चिक जीवन की भ्रान्ति समाप्त हो जाती है और शाश्वत्व प्राप्त हो जाता है। (२) प्रापञ्चिक जीव में जन्म-पूर्व के संस्कार (३) गर्भ का क्षण या नवीन जीव उत्पन्न करते हैं विज्ञान। (४) यह नवीन प्राणी क्रमशः अपनी मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं (नाम, रूप) को (५) षडायतन को, (६) पाँच बाह्य और एक आन्तरिक इन्द्रिय (स्पर्श) को, (७) और वेदना को विकसित करता है। (८) तब तृष्णा से, (९) उपादान या तृष्णा वैपुत्य से, और (१०) नाना कर्मों अर्थात् भव से, युक्त पूर्ण विकसित व्यक्ति के रूप में एक चेतन जीव उत्पन्न होता है। (११) इसके पश्चात् एक नवीन जीवन या जाति, (१२) एक नवीन मृत्यु या जरामरण आता है। और यही भाव चक्र उस समय तक निर्वाध रूप से चलता रहता है, जब तक अविद्या का धर्म, जो सम्पूर्ण चक्र में प्रमुख रूप से व्याप्त होता है, समाप्त नहीं हो जाता और निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो जाती।

इन उपर्युक्त बारह (१२) अंगों या स्तर में, जिनमें दार्शनिक पाण्डित्य ने अन्योन्याश्रित धर्मों के विशेष सिद्धान्त का निर्धारण किया है, कोई विशुद्ध तार्किक अनुपात नहीं है। इनमें से (१) एक सम्पूर्ण चक्र पर प्रधानता रखता है (२) दूसरा एक पूर्वजन्म में (३-१०) आठ अन्य वर्तमान जीवन से, और अन्तिम दो (११-१२) भावी जीवन से सम्बद्ध हैं।

अन्योन्याश्रयत्व के नियमों के अनुसार वर्तमान पूर्वजन्म से संयुक्त और भावीजीवन का स्रोत है। इसके लिए नित्य आत्मा या अहं (स्वत्व) के रूप में किसी निहित तत्त्व के सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। कमलशील का यह कथन है[४७६] "नैरात्म्य और इस तथ्य के अनुबन्धन में कि पूर्वकर्म में फल सामर्थ्य होता है, कोई विरोधत्व नहीं है।" और न यह इसी तथ्य के साथ कोई हस्तक्षेप करता है कि "उसमें यथार्थ का लेशमात्र भी नहीं होता, जो दूसरे क्षण में भी बना रहता है।[४७७] कुछ भी स्थित नहीं रहता, दूसरा पूर्व के कार्य कारण भाव से ही उत्पन्न होता है। पूर्व संस्कारों के किसी आगार को माने बिना स्मृति के तथ्य की भी कार्य-कारणभाव से पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। और न बन्धन तथा मोक्ष ही किसी ऐसे अधिकरण के गुण हैं जो बँधता है और फिर मुक्त होता है। किन्तु अविद्या, जन्म और मृत्यु के धर्म भवचक्र को उत्पन्न करते हैं, इन्हें

---

४७६. तसंप०, पृ० १८२.१९
४७७. तसंप०, पृ० १८३.१२

ही बन्धन कहते हैं। जब तत्त्वज्ञान के होने पर ये धर्म समाप्त हो जाते हैं तब उस निर्मल चेतना को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि यह कहा गया है कि स्वयं चेतना को, अविद्या और क्लेश आदि से भ्रष्ट होने पर प्रापञ्चिक जीवन कहते हैं, इनमें मुक्त हो जाने पर इसी चेतना को मोक्ष कहते हैं।[४७८]

चार आर्य सत्य :–बुद्ध दर्शन में "चार आर्य सत्य" का बहुत महत्त्व माना जाता है। महात्मा बुद्ध को अपने जीवन में यह निश्चय हो गया था कि संसार में 'दुःख' विद्यमान है। इसका कारण 'समुदय' भी विद्यमान है। दुःख को दूर किया जा सकता है (निरोध)। यही सफलता प्राप्त करने का मार्ग है। संयुक्त निकाय में महात्मा बुद्ध ने कहा है कि "प्राणियों की संसार रूपी महायात्रा अनादिकाल से चल रही है। ऐसे किसी उद्‌गमस्थल का पता नहीं जहाँ से चलकर प्राणी अज्ञान की भूल-भुलैया में फँसकर और अपने अस्तित्व की तृष्णा के बन्धनों में बँधकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं।" हे भिक्षुओ! बताओ कि चार महासागरों में जो जल है वह अधिक है या तुम्हारे उन आँसुओं का जल अधिक है जिन्हें तुमने अपनी इस दीर्घयात्रा में इधर-उधर भटकते हुए बहाया है, और इसलिए बहाया है कि जो तुम्हें हिस्से में मिलता है उससे तुम्हें घृणा है जो तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया? माता की मृत्यु, भाई की मृत्यु, सम्बन्धों की हानि, सम्पदा की हानि, इन सबका तुम युगों से अनुभव करते आ रहे हो, और जब युगों से तुमने इनका अनुभव किया है तो और भी आँसू तुमने बहाए हैं, इस महायात्रा में इधर-उधर भटकते हुए, कष्ट सहन करते हुए और रोते हुए तुमने जो आँसू बहाये हैं, और इसलिए बहाए हैं कि जो तुम्हें हिस्से में मिला है, उससे तुम्हें घृणा है और तुम्हें प्रिय है वह तुम्हारे हिस्से में नहीं आया, तुम्हारे ये आँसू चारों महासागरों के जल से अधिक हैं।"[४७९]

(१) दुःख :–पहला आर्य सत्य है। दुःख की निरंकुशता। जीवन दुःखमय है। "अब दुःख के विषय में आर्यसत्य यह है, जीवन दुःखदायी है, क्षीणता दुःखदायी है, रोग दुःखदायी है, मृत्यु दुःखदायी है, अप्रिय के साथ संयोग दुःखदायी है, प्रिय का वियोग दुःखदायी है और कोई उत्कट आकांक्षा जिसकी पूर्ति न हो सके, वह भी दुःखदायी। संक्षेप में पाँचों ही समष्टि अर्थात् शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, इच्छा और तर्क इनसे उत्पन्न होगा व दुःख ही होगा। समष्टि

---

४७८. तसंप०, पृ० १८४

४७९. संयुत्तनिकायः ओल्डनवर्गः 'बुद्ध', पृ० २१६-१७

रूप में जो आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, दुःखदायी है।[४८०] बुद्ध के समय में तीव्र बुद्धि वाले एवं गम्भीर भावना वाले व्यक्ति पूछते थे कि इस उकता देने वाले जीवन चक्र का आशय क्या है? और बुद्ध उन लोगों को सम्बोधन करते हुए जो छुटकारे के मार्ग की अभिलाषा रखते थे, कहते थे कि निर्वाण का आश्रय लेना जहाँ दुष्ट लोग कष्ट देना छोड़ देते हैं और थकावट भी समाप्त हो जाती है। दुःख पर बार-बार बल देना केवल बौद्धधर्म में नहीं है, यद्यपि बुद्ध ने इसके ऊपर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। विचारधारा के सम्पूर्ण इतिहास में दूसरे किसी ने मनुष्य-जीवन के दुःख का इतने अधिक कृष्ण रूप में, और न ही इतनी गहन भावना के साथ वर्णन किया जितना कि बौद्ध ने किया है। विषाद जिसकी पूर्व छाया उपनिषदों में पाई जाती है, बौद्ध धर्म में मुख्य स्थान ग्रहण कर लेता है। सम्भवतः तपस्वियों के आदर्शों ने अर्थात् बिना किसी तर्क के निर्धनता को ऊँचा स्थान देने आत्मत्याग की श्रेष्ठता एवं त्याग के आवेश ने बुद्ध के मन पर एक प्रकार से जादू का असर किया। इस संसार के कृष्णपक्ष को कुछ अधिक बढ़ाकर जनता के समक्ष रखा। भले ही हम आराम और सुख के विस्तार के लिए एवं सब प्रकार के सामाजिक अन्याय को दबा देने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार पूरा प्रयत्न क्यों न कर लें तो भी मनुष्य को संतोष नहीं होगा।

बुद्ध अन्त में कहते हैं कि मनुष्य जन्म दुःख है, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना दुःखदायी है, एवं भाग्य के उतार-चढ़ाव भयावह है। धम्मपद में ऐसा कहा गया है–"न तो आकाश में, न समुद्र के अन्तस्थल में और न पर्वत की कन्दराओं में–संसार में कहीं भी ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ मृत्यु के आक्रमण से बचकर निवास किया जा सके।" बड़े से बड़ा आचरणशूर भी और कला की महानतम कृति भी एक न एक दिन अवश्य ही मृत्यु का ग्रास बनेगा। सब पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। हमारे स्वप्न, हमारी आशायें, हमारे भय और हमारी इच्छायें सब भुला दी जायेगी। जैसे कि कभी रही ही न हों। महान् कल्प गुजरते जायेगें, और कभी न समाप्त होने वाली पीढ़ियाँ भी शीघ्रता के साथ गुजर जाएंगी।

मृत्यु की सार्वभौमिक शक्ति का कोई सामना नहीं कर सकता, मृत्यु जीवन का नियम है। सब मानवीय वस्तुओं की क्षणभंगुरता ही विषाद का उद्‌गम है, जिसके अधीन अधिकाँश व्यक्ति हैं। हमारा मन अपने लक्ष्य के सारतत्त्व को नहीं पकड़ सकता और न हमारे जीवनों में ऐसे पदार्थों की प्राप्ति हो सकती है जिनका

४८०. फाउण्डेशन ऑफ दी किंग्डम ऑफ राइटसनेसः पृ० ५

अभ्यास मन को स्वप्न में होता है। समस्त इच्छापूर्ति के साथ दुःख लगा हुआ है। मनुष्य के। स्वभाव में जो दुःख है और जिसके साथ अनादि काल से कामना सम्बद्ध है और जो पहले ही से इतना अभाव उत्पन्न कर देता है कि इससे पूर्व कि मनुष्य उसकी पूर्ति के लिए शक्ति प्रदान कर सके, हमें अनिवार्य रूप से यह अनुभव कराता है कि जीवन एक अभिशाप है। विचार की घोर यन्त्रणा से व्यथित होकर, आकस्मिक घटना से धोखा खाकर प्रकृति की शक्तियों से हारकर, कर्त्तव्य के स्थूल बोझ से, मृत्यु के भय से और आने वाले जीवनों की भयानक कल्पना से जहाँ फिर जन्म का दुःखान्त नाटक दोहराया जायेगा, मनुष्य बिना आक्रन्दन किये नहीं रह सकता कि "अच्छा हो, मैं छुटकारा पा जाऊँ, मुझे मरने दो।" इस संसार के सब दुःखों से छुटकारा पाने का इलाज इस संसार को छोड़ देना ही है।

बौद्धदर्शन के विषय में कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि यह एक निराशा का दर्शन है, परन्तु यहाँ निराशा से तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवन का उद्देश्य आनन्द को प्राप्त करना है, तो यह यथार्थ में वास्तविक निराशावाद नहीं है। यह सत्य है कि बौद्ध धर्म जीवन को यन्त्रणाओं की अन्त में होने वाली परम्परा के रूप में जानता है किन्तु वह नैतिक अनुशासन की मोक्षदायिनी शक्ति में भी विश्वास रखता है, और उसका विश्वास है कि मानवीय स्वरूप को पूर्णता तक भी पहुँचाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि बुद्ध के मन को सृष्टि के अन्दर विद्यमान दुःख का बोझ असह्य है, फिर भी उसे यह निष्प्रयोजन नहीं प्रतीत होता। सब प्रकार की इच्छाओं का त्याग परम् पुरुषार्थ के द्वारा करने की इच्छा भी साथ-साथ विद्यमान है। प्रत्येक मनुष्य को अपना बोझ अपने आप संभालना है और प्रत्येक हृदय अपनी कटुता को जानता है, और तो भी इसके द्वारा समस्त अच्छाईयाँ बढ़ती है और वही प्रगति आगे चलकर पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। यह संसार सारे दुःख के रहते हुए भी सत् चरित्रता के विकास के अनुकूल प्रतीत होता है। बुद्ध जीवन की निरर्थकता का उपदेश नहीं देते और न ही उसके विनाश का उपदेश देते हैं, केवल इसलिए कि मृत्यु अनिवार्य है। उनका सिद्धान्त निराशा का सिद्धान्त नहीं है। वे हमें बुराई के विरुद्ध विद्रोह करने का आदेश देते हैं और एक निर्मल जीवन प्राप्त करने की प्रेरणा देते हैं, जो अर्हत् की अवस्था है।[४८१]

---

४८१. भारतीय दर्शन का इतिहास–डॉ० राधाकृष्णन, पृ० ३३३-३३६

(२) दुःख का कारण :–सर्वदर्शन संग्रह में दुःख के कारण का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि समुदाय का अर्थ है–दुःख का कारण। यह कारण दो प्रकार का है–पहला प्रत्ययोपनिबन्धन और दूसरा हेतु-उपनिबन्धन। यह कार्य समूह तथा प्रत्यय अर्थात् कारण समुदाय का ही परिणाम है। इस कार्य की उत्पादन की ओर जो दूसरे हेतु कहे जाते हैं वे कार्य उत्पन्न करते हैं। उन जाने वाले अर्थात् दूसरे कारणों के साथ मिलने वाले, कारणों का भाव ही प्रत्यय है, जिसे कारण समवाय भी कहते हैं। उसका कार्य प्रत्ययों का फल चेतन का नहीं, यहीं सूत्र का अर्थ है।[४८२]

इसका अभिप्राय यह है कि कारणों के समूह के स्वभाव से ही कार्य की उत्पत्ति होना प्रत्ययोपनिबन्धन समुदाय है। अंकुर को उत्पन्न करने में मिट्टी, जल, बीज आदि कारण हैं कोई चेतना सत्ता इन पदार्थों में नहीं है। न तो मिट्टी ही चेतन है न अंकुर ही। चेतन सत्ता के अभाव में केवल कारणों से कार्य होता है। हेतुपनिबन्धन में क्रमिक कार्य होता है। अंकुर से काण्ड, काण्ड से नाल, नाल से गर्भ....आदि। यहाँ भी चेतन सत्ता नहीं रहती। न तो अंकुर ही समझता है कि मैं उत्पन्न कर रहा हूँ और न काण्ड ही अपने को उत्पादित समझता। उदाहरण के लिए बीज हेतुवाला अंकुर छह धातुओं (मूल कारणों) के समवाय (मेल) से उत्पन्न होता है। न तो कार्य ही चेतना है और न कारण, यह भी नहीं कि कोई दूसरी चेतनशक्ति इनकी सहायता कर रही है। इसलिए फल निकलता है कि अंकुरादि कार्य केवल कारणों के मेल से ही बनते हैं।[४८३]

इनमें पृथ्वी धातु अंकुर में कठोरता और गन्ध उत्पन्न करता है। जल धातु चिकनाहट और रस उत्पन्न करता है। तेज (अग्नि) धातु रूप और ऊष्णता वायु धातु स्पर्श गति देता है, आकाश धातु शब्द और स्थान की पूर्ति करता है। ऋतु धातु योग्यता के अनुसार पृथिवी आदि तत्वों को प्रदान करता है जिस ऋतु में पदार्थ होता है उसकी विशेषतायें लिए हुए रहता है। उसके अनुसार पृथ्वी आदि तत्त्वों में न्यूनाधिकता पर प्रभाव पड़ता है।

हेतुपनिबन्धन समुदाय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है, कि तथागतों

---

४८२. समुदायो दुःख कारणम्। तद् द्विविधं–प्रत्ययोपनिबन्धनो हेतूपनिबन्धनश्च। तत्र प्रत्ययोपनिबन्धनस्य संग्राहकं सूत्रम्–इदं प्रत्ययफलम्' इति। (सर्वदर्शन संग्र०, पृ० ७७)

४८३. यथा–बीजहेतुरङ्कुरो धातूनां षण्णां क्षमवायाज्जायते। तत्र पृथिवी धातुरङ्कुरस्य काठिन्यं गन्धं च जनयति। अब्धातुः स्नेहं रसं च जनयति। सर्वदर्शन सं०, पृ० ७९

अर्थात् बुद्धों के मत से कार्य-कारण के रूप में जो धर्म है उनकी धर्मता प्रकृति कार्य-कारण के भाव के रूप में है। यह उत्पाद (अन्वय-विधि) और अनुत्पाद। (व्यतिरेक-विधि) और जिसके न रहने पर जो उत्पन्न नहीं होता, वह उस कारण का कार्य है। धर्मता शब्द की धर्म स्थितिता इत्यादि शब्दों के द्वारा व्याख्या की गई है। धर्म अर्थात् कार्य के कारण का उल्लंघन न करके स्थित रहना। स्थितिता में तल् प्रत्यय उसी अर्थ का बोध है इसलिए निरर्थक धर्म अर्थात् कारण का कार्य के प्रति नियामक होना। इसलिए धर्मता का अर्थ है—कार्य का कारण के बिना न रहना और कारण का कार्य पर नियन्त्रण रखना।[४८४]

यह संसार जो जन्म जरा और मृत्यु से युक्त है, दुःख के अधीन है। अनात्म में यथार्थ नहीं मिल सकता, क्योंकि अनात्म उत्पत्ति और रोग के अधीन है। नित्य को उत्पत्ति एवं रोग नहीं व्याप सकते। चूंकि सब वस्तुएं अस्थायी हैं, इसलिए दुःख है। उत्पन्न होने के साथ ही सब वस्तुयें लुप्त हो जाती हैं। कारण-कार्य भाव का नियम समस्त सत्ता को नियन्त्रित करता है, जो निरन्तर प्रकट होने, उत्पन्न होने और गुजर जाने की अवस्था में है। "हे राजन्! तीन वस्तुएं ऐसी हैं जो तुम्हें इस संसार में नहीं मिल सकती, अर्थात् वह वस्तु जो सचेतन अथवा अचेतन अवस्था में हो लेकिन जो क्षय एवं मृत्यु के अधीन न हो, तुम्हें नहीं मिलेगी, ऐसा गुण, ऐन्द्रिय अथवा अनैन्द्रिय जो अस्थायी न हो, तुम्हें नहीं मिलेगा, और उच्चतम अर्थों में सत् नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे हम सत् स्वरूप कह सकें।"[४८५] "और वह जो अस्थायी है, हे भिक्षुओ! वह दुःखदायी है, अथवा सुखदायी? अर्थात् दुःखदायी है प्रभो!" दुःख ऐसी वस्तु है जो क्षणभंगुरता से युक्त है। इच्छायें ही दुःख को जन्म देती हैं, क्योंकि हम ऐसी वस्तु की इच्छा करते हैं जो अस्थायी है, परिवर्तनशील है एवं नाशवान् है। इच्छित वस्तु की क्षणभंगुरता ही निराशा एवं शोक-सन्ताप का कारण है। समस्त सुख भी क्षणभंगुर है। बौद्धमत की मूलभूत स्थापना अर्थात् जीवन दुःख है, रूढ़ि परम्परा के रूप में उपनिषदों से ग्रहण की गई है।[४८६]

---

४८४. उत्पादाद्वा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषां धर्मणां धर्मटाधर्मस्थितिता धर्मनियामकता च प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता ..... इत्यादयः।। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ७८

४८५. मिलिन्द ४ : ७, १२ भिक्खुनीसंयुत्तः धम्मपद, ५ : ४७-४८ और ओल्डन वर्गः 'बुद्ध' पृ० २१८-२१९

४८६. देंखे—मज्झिमनिकाय ३ : १९, बुद्धघोषः अत्थसालिनी, पृ० ७४

महात्मा बुद्ध की यह स्थापना है कि इस संसार में कुछ भी नित्य या स्थायी नहीं है और यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसे नित्य कहा जा सकता है तो वह आत्मा ही है। तब इस संसार में आत्मा की कोई सत्ता नहीं है। हर एक वस्तु अनित्य है। सब कुछ अस्थायी है। शरीर, मनोवेग, प्रत्यक्ष ज्ञान, संस्कार एवं चेतना ये सभी दुःख हैं। ये सब अनात्म हैं। इनमें से एक भी सारमय नहीं है। ये सभी आभासमात्र है और सारतत्त्व अथवा यथार्थता से शून्य है। जिसे हम आत्मा समझे हुए हैं वह भी निःसार आभासमात्र का एक अनुक्रम है और इतना तुच्छ है कि उसके लिए संघर्ष करना व्यर्थ है, यदि मनुष्य उनके लिए झगड़ते हैं तो यह अज्ञान के कारण है। किसकी सत्ता के आधार पर जरा-जीर्णता एवं मृत्यु आ उपस्थित होती है और किसके ऊपर ये निर्भर है। जन्म होने पर ही जरावस्था एवं मृत्यु भी सम्भव हो सकती है और इसलिए जन्म के ऊपर ही निर्भर हैं। अज्ञान के दूर हो जाने पर विचार भी शान्त हो जाते हैं और अज्ञान के विनाश हो जाने पर उसका भी विनाश हो जाता है। विचारों के नाश हो जाने पर बोध या ग्रहण का भी विनाश हो जाता है।[४८७]

बौद्धदर्शन में यह भी स्पष्ट किया है कि मिथ्या ज्ञान ही इच्छा उत्पन्न करता है। ज्ञान की प्राप्ति पर दुःख का अन्त होता है। ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया में इस दर्शन का स्पष्ट मत है कि मिथ्या इच्छा एक ही घटना के कल्पनात्मक एवं क्रियात्मक दो पार्श्व हैं। इस सम्बन्ध में इनका यह कहना है कि इस प्रक्रिया में चेतना का अर्थ तात्त्विक रूप में नहीं होना चाहिए। वस्तुतः यह मानसिक प्रक्रिया है। इनका मानना है कि संसार पत्नी अथवा पुत्रादि, सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्रेम अथवा लक्ष्मी, कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राप्त करने योग्य हो। यदि इन सब में कोई लिप्त होता है तो वह उद्देश्य तक नहीं पहुँच सकता है।[४८८] यदि इस सिद्धान्त की तुलना की जाए तो वर्गसाँ के सिद्धान्त मानसिक शक्ति से किया जा सकता है। उसका कहना है कि सत्ता के सिद्धान्त में परिवर्तन स्वाभाविक रूप में होता रहता है। वस्तुओं की क्षणिकता एवं निरन्तरता तथा निरन्तर प्रक्रिया और वस्तुओं में परिवर्तन से प्रभावित होकर बौद्ध आचार्यों ने परिवर्तन के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[४८९]

---

४८७. ललितविस्तार।

४८८. मज्झिमनिकाय ३२

४८९. पातुभावो-उप्पादो।

(३) **दुःख निरोध** :–दुःख और दुःख के कारणों का पवित्र ज्ञान के उत्पन्न होने पर निरोध होता है, इसी को बौद्धदर्शन में मुक्ति अथवा निर्वाण कहा जाता है, तथा इसे तत्त्वज्ञान भी कहा गया।[४९०] बौद्ध आचार्यों ने इसी को परमरहस्य भी कहा है। सूत्र के अन्तिम रहस्य को पूछा है जिसे अन्तिम रहस्य कहा गया है, इसलिए इन जिज्ञासुओं का नाम महात्मा बुद्ध ने सौत्रान्तिक कहा है। इसलिए इनका नाम सौत्रान्तिक पड़ गया।[४९१]

अष्टांग मार्ग :–दुःख निरोध के आठ क्रमिक मार्ग बुद्ध ने बताये हैं। वे हैं–(१) सम्यक् दृष्टि (ज्ञान), (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् आजीव, (५) सम्यक् व्यायाम, (६) सम्यक् स्मृति (७) कर्मान्त (पंचशील, दशशील) और सम्यक् समाधि(८)। इन्हें अष्टांग मार्ग कहते हैं। सम्यक् का अर्थ है मध्यम मार्ग, दोनों अतियों का परित्याग। न अधिक भोग न अधिक तपस्या।

१. **सम्यक् दृष्टि** :–बौद्धदर्शन के विषय में यह सर्वमान्य मत है कि उपनिषदों की नैतिक शिक्षाओं का प्रभाव बौद्धदर्शन में परिलक्षित होता है। सम्यक् दृष्टि का अभिप्राय यह है कि अध्यात्म को प्राप्त करने के लिए दो प्रकार के मार्ग हैं–प्रथम मार्ग जैनियों का है, जिसको अत्यन्त कठोर मार्ग कहा जाता है। महात्मा बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है।

सम्यक् दृष्टि का अभिप्राय यह है कि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इसमें केवल भेद केवल अवधि की मात्रा का है। ये विविध श्रृंखलायें मिलकर एक सम्पूर्ण का निर्माण करती हैं, जिसे धर्मधातु अथवा आत्मिक विश्व कहते हैं। बुद्ध यहाँ भी स्वर्णिम मध्यमार्ग का ही आश्रय लेते हैं। हे कच्चान, यह संसार साधरणतया एक द्वैत या द्वय के ऊपर चलता है जिसका स्वरूप है यह है एवं यह नहीं है। किन्तु हे कच्चान, जो कोई सत्य एवं विवेक के द्वारा देखता है कि संसार में पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, उसकी दृष्टि में यह नहीं का भाव नहीं उपजता। जो कोई, हे कच्चान सत्य और विवेक के द्वारा देखता है कि संसार में वस्तुयें किस प्रकार

---

४९०. तन्निरोधोपायो मार्गः। स च तत्त्वज्ञानम्, तच्च प्राचीन भावनाबलाद्भवतीति परमं रहस्यम्। (सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ८०)

४९१. सूत्रान्तं पृच्छति इति सौत्रान्तिकः। पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इति ठक्।

से विलीन हो जाती हैं उसकी दृष्टि में 'यह है' का भाव इस जगत् में नहीं रहता। हर वस्तु विद्यमान है, यह एक सिरे की उक्ति है। हे कच्चान, और हरेक वस्तु नहीं है, यह उसके विपरीत दूसरे सिरे की उक्ति है। सत्य इन दोनों के मध्य का मार्ग है।[४९२] यह एक निर्माण क्रिया है जिसका न आदि है, न अन्त है। ऐसा कोई स्थायी क्षण नहीं है जबकि निर्माण क्रिया सत् की अवस्था को प्राप्त करती है। जब हम इसका नाम और रूप के गुणों द्वारा ध्यान करेंगे, तब तक तो उतने समय में यह बदलकर कुछ और हो जाती है।[४९३]

इस परमार्थ प्रवाह के अन्दर हम वस्तुओं के विषय में सिवा प्रक्रियाओं के किस प्रकार से विचारने का उपक्रम करते हैं? और कोई साधन नहीं है। और क्रमागत घटनाओं की ओर से हम आँखे बन्द कर लेते हैं। यह अस्वाभाविक विचार पद्धति है। जिससे कि परिवर्तन के प्रवाह में विभाग बन जाते हैं और उन्हें ही हम वस्तु कहते हैं। पदार्थों का तादात्म्य का भाव असत् है। अवस्थाओं और सम्बन्धों द्वारा ही हम एक स्थिर प्रतीत होने वाले विश्व का निर्माण करते हैं। संसार को समझने के लिए हमें नाना प्रकार के सम्बन्धों का प्रयोग करना पड़ता है, यथा पदार्थ और उसका गुण सम्पूर्ण एवं उसका भाग, कारण और कार्य यह सब परस्पर सम्बद्ध है। सापेक्षता सम्बन्धी आठ मुख्य विचार जिन्हें हम अज्ञानवश निरपेक्ष अथवा विशुद्ध समझ लेते हैं, ये हैं–प्रारम्भ एवं अन्त, स्थिति एवं समाप्ति, एकत्व एवं बाहुल्य, आना और जाना। यहाँ तक कि सत्ता एवं अभाव भी परस्पर एक-दूसरे के आश्रित हैं, क्योंकि एक की सम्भावना दूसरे के बिना हो ही नहीं सकती। ये एब सम्बन्ध आनुषंगिक या आकस्मिक है, किन्तु जरूरी नहीं है। जैसा कि कान्त ने कहा है कि वे अपने आपमें सत्य नहीं हैं।[४९४]

२. **सम्यक् संकल्प** :–इसका अभिप्राय यह है कि अज्ञान को नष्ट करने के लिए सम्यक् संकल्प की आवश्कता है। सामान्य जीवन में भी तब तक उद्देश्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक उसको प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ संकल्प न धारण किया हो। अज्ञान को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि निरन्तर तथा दीर्घ काल तक संकल्प युक्त होकर उस मार्ग का अनुसरण

---

४९२. संयुत्तनिकाय। ओल्डनवर्गः 'बुद्ध', पृ० २४९

४९३. देखिए संयुत्तनिकाय, २२ : ९०.१६

४९४. बुद्ध घोष के अनुसार–काल का भाव किसी न किसी घटना के द्वारा उत्पन्न हुआ है और प्रयोगमात्र से आया है। (अत्थसालिनी, अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ७८)

न किया जाए। वह तभी सम्भव हो सकता है कि सम्यक् संकल्प धारण किया जाए।

३. **सम्यक् वचन** :—सम्यक् वचन का अभिप्राय यह है कि जीवन उत्थान के लिए अथवा तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिए वाणी का बहुत ही महत्त्व है। मिथ्या वचन का त्याग, कठोर बोलना तथा दूसरे की निन्दा करना, मृदुभाषी होना, सत्य वचन का पालन करना वाणी के गुण और दोष माने जाते हैं।

४. **सम्यक् आजीव** :—जीवन में आजीविका भी सम्यक् होनी चाहिए। क्योंकि संसार में यह प्रायः कहा जाता है कि आजीविका अथवा व्यापारादि कार्यों में झूठ आदि का बोलना आवश्यक होता है। महात्मा बुद्ध ने कहा है कि यदि जीवन में श्रेष्ठ व्यक्ति बनना है तो व्यक्ति की आजीविका भी समीचीन होनी चाहिए। जब किसी व्यक्ति की आजीविका और कार्य व्यवहार बुरे होंगे तो उससे राग, द्वेष, अधर्म, मद आदि से युक्त चित्त होगा। ऐसे चित्त से अधर्म ही उत्पन्न होगा, अधर्म उत्पन्न होने से मनुष्य का उत्थान असम्भव है।

५. **सम्यक् व्यायाम** :—दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है। इसलिए बौद्धदर्शन में कहा है कि सम्यक् व्यायाम करना भी इसलिए आवश्यक है कि अस्वस्थता रोगों का कारण है। जैसा कि कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। यह व्यायाम भी सम्यक् ही होना चाहिए। बौद्धदर्शन के अनुसार शरीर को अधिक पीड़ा देना भी उचित नहीं है।

६. **सम्यक् स्मृति** :—जो भी जीवात्मा कर्म करता है। उसकी स्मृति होना आवश्यक है। यदि जीवात्मा शुभ एवं उत्तम कर्म करेगा। तो उसकी स्मृति भी अच्छी होगी। परन्तु वह स्मृति रागात्मक और न ही मोहात्मक होनी चाहिए। वह स्मृति द्वेषात्मक भी नहीं होनी चाहिए। रागात्मक और द्वेषात्मक स्मृति से संसार के बन्धन नहीं कटेंगे, इसलिए कहा है कि स्मृतियों का समीचीन रूप में होना अपेक्षित है।

७. **कर्मान्त** :—जैसे अन्य दर्शनों में यह माना जाता है कि जब तक कर्म एवं उनके भोग, अवशिष्ट हैं, तब तक जन्म और मृत्यु भी होती रहेगी। इसलिए बौद्ध ने भी कहा है कि कर्म एवं उनके भोगों का अन्त करना आवश्यक है। जैसा कि प्रतीत्य समुत्पाद में यह बतलाया है कि कर्मान्त की अवस्था प्राप्त करने के लिए पहली सीढ़ी क्षणिक वस्तुओं को क्षणिक समझना यह तत्त्वज्ञान है। इस तत्त्व ज्ञान से अविद्या नष्ट होगी। अविद्या के नष्ट होने से शुभ और पाप (अशुभ) कर्म

करने के संस्कार नष्ट होते हैं। संस्कार के नष्ट होने से प्राणी जन्म लेने के लिए गर्भ में आता है, वह चैतन्य अर्थात् विज्ञान को प्राप्त करता है जिससे कि नाम रूप मिलते हैं। वह नाम रूप समाप्त हो जाता है, नाम रूप समाप्त होने से षडायतन भी समाप्त हो जाता है। षडायतन के समाप्त होने से सुख-दुःख रूप में जो वेदना होती है, जिससे तृष्णा उत्पन्न होती है, तृष्णा से विषयों की आसक्ति या उपादान होता है और उसी उपादान से जन्म होता है, नाम रूप के समाप्त होने से जन्म नहीं होता है, और जन्म न होने से कोई जाति प्राप्त नहीं होती है, किसी जाति के प्राप्त न होने पर जरा-मरण भी नहीं होगा। कर्मान्त होने से यह दुःखों की श्रृंखला समाप्त हो जाती है, जिस पर समस्त बौद्धदर्शन अवलम्बित है।

८. **सम्यक् समाधि :**–समधिस्थ होना अर्थात् अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना। यह दुःख विरोध का अन्तिम पड़ाव है। निर्वाण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि समाधि की सभी कोटियों को प्राप्त कर लेवे। इस समाधि के क्रम में प्रथम अवस्था सविकल्प समाधि और द्वितीय अवस्था निर्विकल्प समाधि है। समाधि की अवस्था में विमल ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा उसके पश्चात् निर्वाण प्राप्ति होती है।

पञ्च स्कन्ध (चित्त और उसके विचार)

चित्त के विकारों के रूप में यह स्कन्ध (अमूर्त तत्त्व) पाँच प्रकार का है। १. रूप स्कन्ध २. विज्ञान स्कन्ध ३. वेदना स्कन्ध ४. संज्ञा स्कन्ध और ५. संस्कार स्कन्ध उनमें विषयों के साथ इन्द्रियों का नाम रूप स्कन्ध है : जिसकी व्युत्पत्तियाँ हैं–जिनसे विषयों का निरूपण होता है और जो निरुपित होते है-विषय। आलप-विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह विज्ञान स्कन्ध है, केवल यही स्कन्ध चित्त है अन्य चैतचित्त के विकार है। पहले कहे गए इन दोनों स्कन्धों के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख-दुःख आदि प्रतीतियाँ का प्रवाह (परम्परा) वेदना स्कन्ध है। 'गो' इत्यादि शब्दों को व्यक्त करने वाले ज्ञानों का प्रवाह संज्ञा स्कन्ध है। वेदना स्कन्ध पर आधारित रागद्वेष आदि क्लेश (कष्ट) मद-मानादि उपक्लेश तथा धर्म-अधर्म को संस्कार स्कन्ध कहते हैं।

स्कन्धों का यह क्रम वस्तु तत्व ज्ञान के लिए अच्छा है किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में विज्ञान स्कन्ध को दूसरा स्थान न देकर, पाँचवां स्थान दिया गया है। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश में इसके लिए कारणों की मीमांसा की है। उनके

विचार से क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर गया है। संस्कार की अपेक्षा विज्ञान सूक्ष्म है और सुगम नहीं है। ये स्कन्ध चित्त और उसके विकारों से सम्बद्ध हैं। इनमें विज्ञान स्कन्ध चित्त है तथा अन्य स्कन्ध उसके विकारस्वरूप हैं। चैत्त के बाद चित्त का वर्णन सम्भव भी है। विज्ञान दो प्रकार के हैं–आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान। 'अहम्' के आकार वाले आलय विज्ञान का प्रवाह ही आत्मा है। 'इदम्' के आकार में प्रवृत्ति विज्ञान है। विषयों के आकार में आने पर यह रूप स्कन्ध कहलाता है। इसमें इन्द्रियाँ भी जो भौतिक नहीं, चैत्त (Mental) ही हैं। जब विज्ञान स्कन्ध (चित्त) रूपस्कन्ध के साथ मिलता है तब सुख-दुःख की अनुभूति होती है। यही वेदनास्कन्ध है। सुख-दुःख चूँकि चित्त के परिणाम हैं इसलिए भौतिक नहीं है। घट-पट आदि नाम संज्ञा स्कन्ध (Symbalical word) है। ये केवल संकेत हैं जो अवयवों के आधार पर दिये जाते हैं। इस विषय में सुविख्यात मिलिन्दप्रश्न का नागसेन-मिलिन्द-संवाद देखने योग्य है। घटादि में नाम-रूप दो भाग हैं। रूप भौतिक है किन्तु नाम चित्त की एक विशेष विकृति के कारण अमूर्त है। राग, द्वेषादि क्लेश है, मान-मद-मोहादि उपक्लेश, धर्म-अधर्म ये संस्कारस्कन्ध हैं। ये भी चैत्त है। स्मरणीय है कि इन स्कन्धों के पूर्ण विनाश के बाद निर्वाण की प्राप्ति होती है।

आत्मा :–

बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदायों का जिनमें क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञान-वाद तत्त्वमीमांसीय विवेचन वैभाषिक सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिकों का माना जाता है। इन सब की मान्यता है कि जीवन नित्य अवश्य है परन्तु कोई स्थायी चेतना के रूप में नहीं है। यह चेतन सत्ता केवल अनादि काल से प्रभा के रूप में नित्य कहीं जा सकती है, स्थायी चेतना के रूप में नहीं है। जैसे अन्य वेद, उपनिषद्, न्याय सांख्य में आत्मा को चेतन तत्त्व के रूप में कर्म के दर्शन के आधार पर तथा अन्य अनुमान वाक्यों के द्वारा आत्मा को सिद्ध किया जाता है उस प्रकार स्थायी चेतना आत्मा के रूप में अथवा तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है। जैसा कि शून्यवादी मानते हैं कि तत्त्व चतुष्कोटि रहित है। न वह सत् है, न असत् है, न सतासत् है, और नहीं असत्-सत् है। इसलिए क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों ने भी कहा है कि सभी पदार्थ क्षणिक है। ज्ञान भी क्षणिक है और विषय भी क्षणिक है।[४९५]

४९५. ननु ज्ञानाद्भिन्नकालस्यार्थस्य ग्राह्यत्वमनुपपन्नम्। इन्द्रियसन्निकृष्टस्य विषयस्योत्पाद्ये ज्ञाने स्वकारसमर्पकतया समर्पितेन चाकारेण तस्यार्थस्यानुमेयतोपपत्तेः।। (सर्वदर्शन सं०, पृ० ६८)

बौद्धों का कार्य-कारण का सिद्धान्त यह मानता है कि कारण के नष्ट होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य और कारण एक क्षण में अवस्थित नहीं रह सकते हैं। बौद्ध दार्शनिकों के विषय में यह शंका की जा सकती है कि जब जीवन नित्य है तो वह विना स्थायी चेतना के कैसे नित्य हो सकता है? इसका समाधान करते हुए बौद्धदर्शन में कहा है कि आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान वस्तुतः विज्ञान वादियों के अनुसार चेतना की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया जाता है। आलय विज्ञान धर्मों के बीजों का स्थान है। यह धर्म बीज के रूप में समेटे रहते हैं। और विज्ञान के रूप में बाहर निकलकर जगत् के व्यवहार का निर्माण करते हैं। लंकावतार सूत्र में कहा है कि आलय विज्ञान समुद्र के समान है। जिस प्रकार समुद्र में वायु-प्रेरित तरंगे उठती रहती हैं, कभी विराम नहीं लेती, उसी प्रकार आलय-विज्ञान में भी वाह्य विषयों के झकोरों की चित्र-विचित्र विज्ञान रूपी तरंगे उठती हैं। ये कभी भी नष्ट नहीं होती। आलय विज्ञान समुद्र है, विषय पवन है, तथा विज्ञान तरंगे हैं–

तरङ्गा उदधेर्यद्वत्पवनप्रत्पेरिताः।
नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न व्रर्तते॥
आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
चित्रैस्तरङ्गविज्ञानैः नृत्यमानः प्रवर्तते॥

इससे स्पष्ट है कि प्रवृत्ति विज्ञान भी इसमें डूबते-उतराते हैं।

दूसरी ओर, प्रवृत्ति-विज्ञान क्रियाशील चित्त है, जिससे विषयों की प्रतीति होती है, यह आत्मा के समान नहीं है, किन्तु आलयविज्ञान से ही उत्पन्न होता है, और उसी में विलीन हो जाता है। इसके सात भेद हैं–

(१) चक्षुविज्ञान, (२) श्रोत्रविज्ञान, (३) घ्राणविज्ञान, (४) जिह्वाविज्ञान (५) कायविज्ञान, (६) मनोविज्ञान और (७) क्लिष्ट मनोविज्ञान। इन सभी का वर्णन इतने सूक्ष्म ढंग से बौद्धों ने किया है कि आधुनिक मनोविज्ञान को भी इनके समक्ष नतमस्तक हो जाना पड़ेगा। इन पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त अनुसन्धान और अध्यवसाम की अपेक्षा है। विद्वानों के सप्रयास से यह सम्भव है।

बौद्धदर्शन में आलय-विज्ञान वह चैतन्य (बुद्धि) है, जो 'अहम्' (अर्थात् मैं आत्मा) का स्थान है। अहम् के आकार में है, नीलादि पदार्थों को व्यक्त करने

वाला (इदम् से सम्बद्ध) विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान है। जैसा कि कहा गया है–'वह आलय-विज्ञान है, जो आत्मा (Ego) का स्थान है, और वह प्रवृत्ति विज्ञान है, जो नीलादि पदार्थों को अभिव्यक्त करता है। इसलिए आलय विज्ञान के सन्तान (प्रवाह, क्योंकि सब कुछ क्षणिक है, अतः उनका प्रवाह ही सम्भव है) के अतिरिक्त, कभी-कभी होंने वाले प्रवृत्ति विज्ञान का कारण (घटादि) वाह्य पदार्थ है, अतः उसे तो ग्रहण करना ही होगा। ऐसा न समझें कि वासना के परिणाम की प्रतीति कभी-कभी होने वाले प्रवृत्ति विज्ञान का कारण (घटादि) वाह्य पदार्थ है, अतः उसे तो ग्रहण करना ही होगा। ऐसा न समझें कि वासना के परिणाम की प्रतीति कभी-कभी होती है, इसलिए बाह्यार्थ भी कभी-कभी ही उत्पन्न होगा।[४९६]

विज्ञानवादियों के इस उपर्युक्त मत के अनुसार कोई भी सत्ता स्थिर न होकर, क्षणिक वासना अथवा तरंगों की तरह प्रवाह के अनादिकाल से चला हुआ एक क्रम है जो उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। चेतना भी क्षणिक ही है जो स्थायी और नित्य रूप में भाषित होती रहती है, वस्तुतः जो स्थायी नहीं है।

आत्मा के विषय में आचार्य नागसेन का मत है कि अध्यात्म शास्त्र के कल्पनात्मक रूप से हटकर मनोवैज्ञानिक एवं तर्क पूर्ण खोज है। मनुष्य तो चेतन प्रकट रूप में उदय होते हुए और विलुप्त होते हुए विचारों की क्रीड़ा भूमि है। उसका यह भी आग्रह है कि नित्य आत्मा का तो अवैद्य एवं अमूर्त रूप अन्यथा अभावात्मक रूप ही है। उसका कहना है कि मानवी आत्मा भी एक ऐसे संयुक्त पदार्थ के रूप में जो केवल अविच्छिन्न ऐतिहासिक नैरन्तर्य को लिये हुए परिवर्तित संघटित रूप है। इसलिए नागसेन कहता है कि संसार में स्थायी कुछ नहीं है।[४९७] नागसेन विचारों एवं पदार्थों के बीच में भेद स्वीकार करता है कि हर एक व्यक्ति में नाम और रूप, मन और शरीर है। जैसे-शरीर स्थायी पदार्थ नहीं है, ऐसे ही मन भी स्थायी पदार्थ नहीं है। विचार एवं अवस्थायें तथा परिवर्तन आते-जाते रहते हैं, हमें कुछ समय के लिए आकृष्ट करते हैं, हमारा ध्यान लगाए

---

४९६. तस्मादालयविज्ञानसन्तानातिरिक्तः कादाचित्कप्रवृत्ति विज्ञान हेतुर्बाह्योऽर्थोग्राह्य एव, न वासनापरिपाक प्रत्यय कदाचित्कत्वात् कदाचिदुत्पाद् इति। सर्व०द०सं०पृ० ७१

४९७. मिलिन्द–२, १, १

रहते हैं और उसके पश्चात् विलुप्त हो जाते हैं। हम अनुमान करते हैं कि कोई स्थायी आत्मा है जो हमारी सब अवस्थाओं को बांधकर रखती है और उन सबको सुरक्षित रखती है, किन्तु यह धारणा वास्तविक अनुभव के आधार पर युक्तियुक्त नहीं जँचती।

नागसेन का यह मत इस कारण से बना प्रतीत होता है कि आत्मा के प्रश्न पर महात्मा बुद्ध मौन बने से प्रतीत होते हैं। इसलिए नागसेन ने उनके मौन रहने को निषेधात्मक अनुमान वाक्यों के द्वारा आत्मा का प्रत्याख्यान किया है। उसकी मान्यता है कि आत्मा विचारों की सतत् धारा का नाम है। यह सतत् धारा अमूर्त है, सभी अवस्थाओं में सामान्य एवं व्यापक तत्त्व है, इसी को हम सामान्य रूप से आत्मा कह देते हैं। नागसेन की इस विचारधारा की तुलना ह्यूम से की जा सकती है। ह्यूम के अनुसार हमारा ध्यान अध्यात्म शास्त्र की कल्पनात्मक अवधारणा से हटकर मनोवैज्ञानिक निरीक्षण सम्बन्धी मत की ओर अधिक होना चाहिए।

नागार्जुन ने अपने 'प्रज्ञापारमृतासूत्र' पर की गई टीका पर कहा है कि तथागत ने कभी तो अपने उपदेश में कहा है कि आत्मा का अस्तित्व है और कभी कहा आत्मा नहीं है। इसका निष्कर्ष निकालते हुए नागार्जुन कहते हैं कि जब तथागत ये कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है और उसे अपने कर्मों के अनुसार वर्तमान एवं भविष्य के जन्मों के सुख एवं दुःख को भोगना है तो इसका उद्देश्य यह होता है कि सामान्य व्यक्ति को नास्तिकता के गढ़े में गिरने से बचाना होता था। जब वे यह उपदेश करते थे कि आत्मा नहीं है, उस समय उनका अभिप्राय यह था कि उसे स्रष्टा तथा द्रष्टा अथवा एक ऐसा नितान्त स्वतन्त्र कर्ता पाँचों स्कन्धों के पुञ्ज को सन्तान क्रम से उपलब्ध नाम दिया गया है उसके अतिरिक्त माना जाये। उस समय शाश्वतवाद सम्बन्धी गड्ढे में गिरने से सामान्य जन को बचाया जाए। यहाँ यह स्पष्ट करना अपेक्षित है कि महात्मा बुद्ध के उपदेश इतने रहस्यवादी थे कि उनके शिष्य उनके अर्थों को अपनी बुद्धि के अनुसार ही निकाल पाते थे।

बौद्धदर्शन की अवधारणा को इस प्रकार रीज डेविडस ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि "परस्पर संयोग के बिना आत्मा बन नहीं सकती, एवं संयोग बिना क्रियमाण के सम्भव नहीं हो सकता," क्रियमाण बिना एक भिन्न क्रियमाण के

सम्भव नहीं है, और बिना विभाग हुए एक भिन्न क्रियमाण सम्भव नहीं हो सकता, यह एक तिरोभाव है जो आगे-पीछे कभी न कभी अवश्य पूर्ण होगा।"[४९८] यह एक शाश्वत एवं अविच्छिन्न प्रक्रिया है जिसमें स्थायी कुछ नहीं है। नाम और रूप कुछ भी स्थायी नहीं है।[४९९] वाराणसी में इषि पतन नामक स्थान के पाँच तपस्वियों को, जिनका मुखिया कौण्डिन्य था, आत्मा के अभाव पर दूसरा उपदेश दिया गया था। "यह शरीर नित्य आत्मा नहीं है क्योंकि यह नष्ट होने वाला है, और न ही भावना, प्रत्यक्ष मनोवृत्ति और बुद्धि सब मिलकर आत्मा का निर्माण कर सकते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह भी कभी सम्भव न होता कि चेतना भी उसी तरह नाश की ओर प्रवृत्त होती" "हमारे रूप, भावना, प्रत्यक्ष, मनोवृत्ति और बुद्धि ये सब क्षणिक हैं और इसलिए अश्रेय हैं और स्थायी एवं श्रेयस्कर नहीं हैं। वह जो क्षणिक है, अश्रेय है और परिवर्तन के अधीन है, नित्य आत्मा नहीं हो सकता। इसलिए समस्त भौतिक रूपों के विषय में चाहे वे जैसे भी हों, भूत, वर्तमान और भविष्यत् विषयीनिष्ठ अथवा विषयनिष्ठ, दूर अथवा समीप, ऊँचे या नीचे, यही धारणा रखनी चाहिए कि "यह मेरा नहीं, यह मैं नहीं हूँ, यह मेरी नित्य आत्मा नहीं है।"[५००]

वेदल्लसुत्त में धम्मदिन्न कहता है "अज्ञानी एवं विधर्मी मनुष्य आत्मा को देहधारी मानता है अथवा ऐसा पदार्थ जिसका शरीर हो यदि यह नहीं तो वह आत्मा को भावना का रूप समझता है, अथवा ऐसा कोई पदार्थ जिसमें भावना हो अथवा भावना ही आत्मा में हो"। इस तर्क की पुनरावृत्ति अन्य स्कन्धों के साथ भी की गई है। आत्मा अथवा पुद्गल अथवा सत्त्व (जीवित प्राणी) अथवा जीव इसमें से एक भी स्थायी नहीं है। हमें मनुष्य के अन्दर ऐसी किसी अपरिवर्तनशील वस्तु एवं नित्य तत्त्व का ज्ञान प्राप्त नहीं है।[५०१] केवल कारणों एवं कार्यों की श्रृंखलायें ही हमारे सामने हैं। मनुष्य पाँच स्कन्धों से मिलकर बना हुआ एक संयुक्त पदार्थ प्रतीत होता है। उपनिषदों में वर्णित नामरूप के आधार पर ही स्कन्धों की कल्पना विकसित की गई है। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य विषय यह

४९८. 'द रिलिजस सिस्टम्स आफ द वर्ल्ड' पृ० १४२.
४९९. महावग्ग, १, ६, ३८ और आगे।
५००. महावग्ग, १, २१
५०१. देखिए, संयुत्तनिकाय, ४, ५४

है कि समुत्पाद तत्त्वों अर्थात् रूप और नाम (मानसिक) के अतिरिक्त हमारे पास और कुछ प्रतीत नहीं होता है।

सुरंगमसुत्त में आनन्द का स्थान शरीर के अन्दर अथवा उसके बाहर एवं इन्द्रियों के पीछे आदि बताने के प्रयत्नों पर विवाद किया गया है। हम स्थायी आत्मा की खोज व्यर्थ में ही मस्तिष्क के अन्दर, इन्द्रियों के अवशेषों में अथवा व्यक्तित्व को बनाने वाले अवयवों में करने लगते हैं। आत्मा नाम की एक असम्बद्ध शक्ति की स्थापना, बौद्धों के मत में, कर्म के नियम के विरुद्ध जाती प्रतीत होती है, क्योंकि साधारण लोग आत्मा को डिब्बे के अन्दर बन्द एक जीवित जन्तु के समान मानते हैं, जो सब प्रकार की चेष्टाओं का मुख्य रूप में कर्ता है। श्रीमती रीज डेविड्स के शब्दों में "बौद्ध धर्म का 'अत्ता' के विपक्ष में तर्क मुख्य रूप से और बराबर ही आत्मा के विचार के विरुद्ध प्रतिपादित किया गया है, जो न केवल निरन्तर अपरिवर्तनशील, आनन्दमय, पुनर्जन्म लेने वाला आनुभाविक जगत् से ऊपर एक सत् है किन्तु ऐसा सत् भी है कि जिसके अन्दर परम आत्मा अर्थात् विश्वात्मा भी निहित है, जिसके शारीरिक एवं मानसिक अवयव भी हैं और जो आदेश देता है।[५०२] किन्तु उपनिषदों में प्रतिपादित आत्मा पुनर्जन्म प्राप्त करने वाली आत्मा नहीं है। उपनिषदों का एक अन्य भ्रमात्मक विचार, जिसका बुद्ध ने खण्डन किया है, वह है जिसके अनुसार आत्मा को सब प्रकार के भेदों से रहित एक अमूर्त एकता के रूप में माना गया है। यदि यह ऐसा है तो निश्चिय ही यह अभावात्मक है, जैसाकि बहुत समय पूर्व इन्द्र ने कहा था।[५०३]

तथागत ने यह अधिक जोर दिया है कि क्या-क्या वस्तु आत्मा नहीं है। आत्मतत्त्व क्या है? इसका भावात्मक वर्णन नहीं करते हैं। परन्तु यह कहना की वे आत्मा तत्त्व को बिल्कुल ही स्वीकार नहीं करते हैं यह कहना भी उचित नहीं है। जैसे कि भिक्षुवच्चगोत्त ने तथागत से कहा, हे पूज्यगौतम! प्रकृति किस प्रकार स्थित है? क्या 'अहम्' अर्थात् आत्मा है तब बुद्ध मौन रह गये। उसके पश्चात् फिर कहा, हे पूज्य गौतम! अनात्म नहीं, है, तब भी बुद्ध ने मौन साध लिया। भिक्षुवच्चगोत्त के जाने के पश्चात् आनन्द ने तथागत से कहा, आप ने भिक्षु के

---

५०२. 'बुद्धिस्ट साइकोलॉजी', पृ० ३१
५०३. डॉ०राधाकृष्णन् "भारतीय दर्शन का इति०" पृ० ३५२-५३

प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया? तब बुद्ध ने कहा, हे आनन्द! यदि मैं कहता कि आत्मा स्थिर है, अथवा है तो श्रमणों एवं ब्राह्मणों के सिद्धान्त का समर्थन होता, यदि मैं उत्तर देता कि आत्मा नहीं है, तब उनका समर्थन होता, जो शून्यवाद में विश्वास रखते हैं, इससे यही परिणाम निकलता है कि कुछ अवश्य ही है, चाहे अनुभवगम्य आत्मा न हो। इसलिए कहा है कि आत्मा न तो स्कन्ध है और न ही उससे सर्वथा भिन्न है। ये केवल मन और शरीर का सम्मिश्रण नहीं है। इसका यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तथागत आत्मा को सिद्ध नहीं मानते हैं।

आचार शास्त्र

भारतीय दर्शन की तरह बौद्धदर्शन भी आचार शास्त्र के विषय में यह मत रखता है कि जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति ही है। निर्वाण की प्राप्ति जब तक सम्भव नहीं है तब तक हमारा जीवन शुभ कर्मों से युक्त न हो। उपनिषदों में जो आचार सम्बन्धी अर्थात् जीवन की पवित्रता आदि के विषय में उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी आचार की उच्च नैतिक शिक्षा का उपदेश मिलता है। इसलिए कहा कि जो जीवन में मनुष्य कर्म करता है वे कर्म, आचार एवं शुभ गुणों से युक्त होने चाहिए। वे कर्म इस प्रकार के होने चाहिये, जिनसे राग आदि की परम्परा अनादि काल से चल रही है। जिससे नाना प्रकार की वासनायें उत्पन्न होती है, उनके बन्धन से मुक्त हो सके। उन वासनाओं से छुटकारा पाने के लिए उच्च आचार युक्त कर्म करना अनिवार्य है। क्योंकि संसार में रहने वाले प्राणियों के लिए जो पाँच प्रकार के स्कन्ध, विज्ञान, वेदना, संस्कार, संज्ञा और रूप माने गये हैं, वे सभी दुःखमय हैं।[५०४] उनको दूर करने के लिए द्वादश आयतन, जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूप, स्पर्श, रस. गन्ध और शब्द ये पाँच विषय है, मन और धर्म ये द्वादश आयतन कहलाते हैं, इनका निवास स्थान बुद्धि को माना जाता है। दूसरे बौद्धों के मतानुसार ज्ञानेन्द्रियों के स्थान पर कर्मेन्द्रियों को कहा गया है।[५०५]

---

५०४. दुखं संसारिणः स्कन्धास्ते च पञ्च प्रकीर्तिताः। विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव च।।३२।। (सर्वद०सं० श्लो० ३२)

५०५. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम्।
धर्मायतनमेतानि द्वादशायतानि तु।।३३।। सर्वदर्शन संग्रह श्लोक–३३ (पृ० ८८)

बौद्धदर्शन को मध्यमवर्ग का दर्शन माना जाता है, इसलिए बुद्ध ने एक ऐसी जीवन पद्धति का आख्यान किया है, वह अत्यन्त विषय भोग तथा आत्मनियन्त्रण की पराकाष्ठा दोनों से रहित है। वह एक मध्यम मार्ग है। इसके पीछे संभवतः महात्मा बुद्ध का अपने जीवन का अनुभव रहा होगा। बुद्ध ने छः वर्ष तक घोर तपस्या की थी, उस कठोर तपस्या के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "ऐसा व्यक्ति जिसने तपस्या से कृश होकर अपना बल खो दिया हो वह सत्य के मार्ग का अवलम्बन नहीं कर सकता। दो प्रकार की पराकाष्ठायें हैं, और दोनों का ही अनुसरण जीवन यात्रा में प्रवृत्त व्यक्ति को त्याग देना चाहिए, अर्थात् एक ओर बराबर वासनाओं एवं इन्द्रियों के सुखभोगों में लिप्त रहना, और दूसरी ओर अपने शरीर को यातना एवं कष्ट देने में रत रहना जो कि दुःखमयी है, अधम है एवं किसी प्रयोजन का नहीं है। तथागत ने इन दोनों के बीच एक मध्यमार्ग को खोज निकाला है। यह ऐसा मार्ग है जो आँखे खोल देता है और विवेक शक्ति प्रदान करता है, अथवा जो शांति, उच्चतमज्ञान की प्राप्ति के लिए अन्तर्दृष्टि एवं अन्त में निर्वाण की ओर हमें ले जाता है। यथार्थ में यही आठ सूची आर्यमार्ग हैं, अर्थात्–सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।[५०६]

बौद्धों के अष्टांगमार्ग का प्रतिपादन किया जा चुका है। सम्यक् कर्म का प्रतिपादन करते हुए बौद्ध आचार्यों ने रूढ़िवाद, कर्मकाण्ड, वशीकरण एवं जादू–टोना, मनुष्य अथवा पशु की बलि देना, यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा करना, महात्मा बुद्ध को स्वीकार नहीं था। उन्होंने कहा था कि "धर्म पर आरूढ़ पुरुष के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना सौ वर्ष तक अग्निपूजा करते रहने से कहीं श्रेष्ठ है।" एक बार जब एक ब्राह्मण ने बुद्ध से कहा कि "बहुक एवं अधिक एक मूर्ख के पाप धोकर उसे पवित्र नहीं बना सकती, भले ही वह उसमें बार-बार और सदा के लिए स्नान करे। कोई नदी पापी, मलिन हृदय एवं बार-बार पापकर्म करने वाले को पवित्रात्मा नहीं बना सकती। पवित्रात्मा व्यक्ति के लिए सदा ही फग्गूका पवित्र मास रहता है। पवित्रात्मा के लिए सदा ही उपवास है। शुभ कर्म करने वाले मनुष्य के लिए सदा ही व्रत रहता है। इस धर्म में स्नान करो, हे ब्राह्मण! प्राणिमात्र के प्रति दयालु बनो। यदि तुम कभी असत्य

---

५०६. धर्म चक्र प्रवर्तन सम्बन्धी प्रथम प्रवचन।

भाषण नहीं करते, यदि तुम किसी प्राणी का वध नहीं करते, यदि तुम्हें दान दिया जाए तो उसे स्वीकार नहीं करते एवं अपरिग्रह में ही अपने को सुरक्षित समझते हो तो गया जाकर तुम्हें क्या लाभ होगा? तुम्हारे लिए सभी जल गया के जल के समान पवित्र है।"[५०७]

अशोक ने स्पष्ट करते हुए कहा है कि "मिथ्या विश्वासों से पूर्ण कर्मकाण्ड नहीं, अपितु सेवकों एवं अनुजीवियों के प्रति करुणा का भाव न रखना, सम्मान के योग्य व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, आत्मसंयम जिसके साथ प्राणिमात्र के प्रति व्यवहार में दया का भाव रहे, और इसी प्रकार के अन्य धार्मिक कर्म वास्तव में ऐसे हैं जिन्हें काण्ड के स्थान पर सर्वत्र किया जाना चाहिए।" पवित्र नियम तो अल्प महत्त्व के हैं, किन्तु ध्यान या समाधि ही सर्वोत्तम है।[५०८]

बुद्ध ने उस समय के प्रचलित प्रथावाद के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप में तो संग्राम नहीं छेड़ा, किन्तु उसमें नैतिक भावों का प्रवेश कराके उन प्रथाओं का मूलोच्छेदन करने का प्रयत्न किया। क्रोध, मद्यसेवन, छल, ईर्ष्या ये सब अपवित्र कर्म हैं, मांसभक्षण नहीं।[५०९] इसके अलावा, जो "भ्रातियों से मुक्त नहीं हुआ उसे मद्यपान का त्याग करना, नग्न रहना, सिर मुंडाना, मोटे कपड़े पहनना, पुरोहितों को दान देना, देवताओं को बलि चढ़ाना आदि आदि कर्म कभी पवित्र नहीं कर सकते।" बुद्ध ऐसे कुत्सित एवं बीभत्स व्यक्तियों की पूजा के विरुद्ध थे जो विकृत तपस्या एवं साधना का रूप धारण किए रहते हैं। तपस्या की अस्वाभाविक विधियों को दूषित ठहराने में उन्होंने बहुत मधुर एवं तर्कसंगत उपायों का आश्रय लिया।

उत्तम कर्म से जीवन बनता है, जब जीवन में मनुष्य अनैतिक कर्म करता है जैसे–झूठ बोलना, धोखा देना, ठगना सभी प्रकार की चालाकी करना आदि सभी आचारहीन कर्म माने जाते हैं। जैसा कि संस्कृत में एक प्रसिद्ध उक्ति है कि–"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" अर्थात् आचारहीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते हैं। बौद्ध आचार्यों ने कुविचारों पर संयम करने के लिए पाँच प्रकार के उपाय बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं–(१) किसी अच्छे विचार का

---

५०७. 'लक्ष्मीनरसुः एसेंस आफ बुद्धिज्म' पृ० २३०

५०८. अशोक स्तम्भ पर लिखा हुआ आदेश, संख्या–७

५०९. तुलना कीजिए, "वह वस्तु जो मनुष्य के अन्दर प्रवेश करती है, उसे भ्रष्ट नहीं करती, किन्तु जो बाहर आती है वह भ्रष्ट करती है।"

ध्यान करो, (२) बुरे विचार के क्रियात्मक रूप धारण करने के जो परिणाम हो सकते हैं, उसके भय का दृढ़ता के साथ सामना करो, (३) बुरे विचार से एकदम ध्यान हटा लो, (४) इसके पूर्ववर्ती का विश्लेषण करो और उससे उत्पन्न जो प्रेरणा है उसका नाश कर दो, तथा (५) शारीरिक तनाव के बल प्रयोग द्वारा मन को वश में करो और इस प्रकार कुविचार को मन में बार-बार आने से रोको। अशुभ भावना के द्वारा अर्थात् बार-बार अशुभ विषय का चिन्तन करने से हमारे अन्दर उस सबके प्रति जो कलुषित या भ्रष्ट है, एक प्रकार की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। "हे भगवान् क्या आपने इधर से गुजरती हुई एक महिला को देखा है? और उस स्थविर ने उत्तर दिया, जो व्यक्ति इधर से गुजरा है, वह पुरुष है अथवा महिला, मैं नहीं कह सकता। मैं केवल इतना जानता हूँ के वह हड्डियों का ढाँचा इस मार्ग से चला जा रहा था।"[५१०] सम्यक् पुरुषार्थ के ज्ञान के विना प्रकाश नहीं हो सकता, और केवल इसके द्वारा ही हम क्रोध, ईर्ष्या, अभिमान एवं विषयासक्ति का नाश कर सकते हैं।

बौद्ध धर्म में इन्द्रिय दमन पर बल नहीं दिया गया है, उनका कहना है कि इन्द्रियों का प्रशिक्षण होना चाहिए। बुद्ध से किसी शिष्य ने पूछा कि इन्द्रियों को इस रूप में प्रशिक्षित किया जाये कि वे शनै-शनै भोग रूपी कार्य को करने में असमर्थ हो जाए। इसका अभिप्राय यह है कि भोग करने की लालसा ही न रहे। एक स्थान पर बुद्ध ने आनन्द से कहा कि 'हे आनन्द! मैं एकान्त में विचारमग्नता के परमाह्लाद में था....और अन्त में बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष से ऊपर उठकर बोध के अनन्त क्षेत्र में पहुँच गया और यह भी अन्त में शून्यता में विलीन हो गया. ...तब अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई और मैं एक दिव्य दृष्टि के द्वारा संसार के मार्ग को मनुष्यों की प्रवृत्ति को और उनके भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् को भी स्पष्टरूप में लक्ष्य करने में समर्थ हो सका और यह सब मेरे अन्दर उदय हुआ, गुजर भी गया किन्तु क्षणमात्र को भी मन में आत्माभिमान का भाव अथवा यह विचार कि यह सब मेरी कृति है, नहीं समा सका। इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि के आधार पर एक अतीन्द्रिय परमार्थ सत्ता विषयक दर्शनपद्धति का विकास करना केवल उपनिषदों के ही वश का विषय था। बुद्ध इसमें संकोच कर गये, क्योंकि एक क्रमबद्ध दर्शन को अभी आगामी समय की प्रतीक्षा करनी थी। बुद्ध तो हमारे

---

५१०. एम० पूसीं०-'ट्रांजेक्शन्स आफ द शर्ड इण्टरनेशनल कांग्रेस आफ रिलीजन्स' खण्ड २, पृ० ४१

सम्मुख केवल दृष्टिकोणों की श्रृंखलाओं एवं सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अनुभवों को ही प्रस्तुत करते हैं।

बौद्धदर्शन में ईश्वर पर आस्था नहीं की गई है, इसलिए ईश्वर की कृपा को भी नहीं माना गया है। इस दर्शन में केवल आत्मविकास को ही महत्त्व दिया गया है। इस दर्शन का आचार शास्त्र समाजिक न होकर वैयक्तिक है। एक व्यक्ति अपने आत्मा का विकास कैसे करे, इस पर अधिक जोर दिया गया है। बौद्धदर्शन में स्थिर चेतनात्मा का वर्णन नहीं किया गया हो, परन्तु भारतीय दर्शन की परम्परा के अनुसार ध्यान एवं समाधि पर अवश्य जोर दिया गया है। ध्यान की चार सीढ़ियाँ बतलायी गई हैं–प्रथम सीढ़ी ध्यान को ही कहा गया है। द्वितीय सीढ़ी उल्लास तथा मानसिक शांति की है, तथा तृतीय सीढ़ी वासना एवं पक्षपात आदि का अभाव है। चौथी सीढ़ी आत्म संयम एवं पूर्ण मुद्रा की है। योग साधना का स्वरूप लगभग योग दर्शन की तरह ही माना गया है।

बौद्धदर्शन के नीतिशास्त्र पर यह दोष आरोपित किया जाता है कि वह केवल बुद्धिवादी है, क्योंकि अज्ञान एवं दुःख, क्लेश के मुख्य कारण है। इसलिए मुक्तात्मा को बुद्ध की संज्ञा दी गई है। बुद्ध का अभिप्राय है–ज्ञानवान् होना। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय परमार्थविद्या सम्बन्धी रूढ़िगत सिद्धान्तों अथवा दीक्षाप्राप्त व्यक्तियों के लिए जो गुह्य विषय बताये जाते हैं, उनसे परिचित हो जाने से भी नहीं था, बल्कि ऐसे ज्ञान से अभिप्राय है जिसके लिए नैतिकता एक आवश्यक प्रतिबन्ध या शर्त है। यह एक सत्य से पूर्ण जीवन है जिसे हम वासनाओं एवं मानसिक प्रेरणा के कलुषित प्रभाव से आत्मा को निर्मल करके ही प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान कोई ऐसा नहीं है जिसे हम अपने मस्तिष्क के किसी एक कोने में अलग संभालकर रख सकें, बल्कि यह वह पदार्थ है जोकि हमारे समस्त जीवन में प्रवेश होता है, हमारे मनोवेग इसके रंग में रंजित होते हैं, जो हमारी आत्मा को आश्रयस्थान बना लेता है एवं यह हमारे इतना सन्निकट है, जैसे कि स्वयं जीवन हो। यह पूर्ण प्रभुत्व रखने वाली एक ऐसी शक्ति है जो बुद्धि के द्वारा सारे व्यक्तित्व को एक विशेष ढाँचे में ढालती है, मनोवेगों को नियमित करती है एवं इच्छा पर भी नियन्त्रण रखती है। तेविज्जसुत[५११] में इस विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है कि सिद्धान्त-सम्बन्धी विश्वास ही ज्ञान नहीं है।

---

५११. ते विज्जसुत्त–३, १–२

इस प्रश्न के उत्तर में कि मुझे दुःख से छुटकारा पाने के लिए क्या करना चाहिये?

बुद्ध उपनिषदों की शैली में कहते हैं कि स्वार्थपरता पर विजय पाने में ही मुक्ति है, क्योंकि कल्पना की दृष्टि से स्वार्थपरता अहंकार की भ्रांति है और क्रियात्मक रूप में यह आत्मा की उत्कट इच्छा है। बुद्ध बार-बार यही दोहराते हैं कि सत्य की प्राप्ति निम्नलिखित आवश्यक शर्तों के ऊपर निर्भर करती है-(१) श्रद्धा[५१२] (२) दर्शन अथवा दृष्टि। केवल विश्वास अथवा श्रद्धा ही प्रर्याप्त नहीं है, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के प्रामाणिक लेखों के आधार पर प्राप्त किये गए, सत्य हमारे मन के लिए फिर भी बाह्य है और इसीलिए हमारे जीवन के वे अंग नहीं बन सकते। देखो हे भिक्षुओं, क्या तुम कहना चाहते हो कि चूंकि हम अपने गुरु को आदर की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए उस आदर के कारण ही हम उसके अमुक-अमुक वचन पर विश्वास करते हैं? तुम्हें ऐसा न कहना चाहिए, क्योंकि क्या जिसे तुमने स्वयं अपनी आँखों से देखा अथवा अपनी बुद्धि से तोला वह सत्य न होगा?[५१३] भावना अथवा अनुशीलन। यह ध्यान का अथवा बार-बार सत्य के विषय में विचार करने का नाम है जब तक कि हम उसके साथ तादात्म्य उत्पन्न करके उसे अपने जीवन में पूर्णतया घटा न लें। अनुशासन-विहीन व्यक्ति उच्चतम जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता, और फिर भी सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार ही मानव जीवन का मुकुट है, जिसके धारण करते ही फिर कोई मिथ्या विश्वास नहीं टिक सकता।

अरस्तु अपने नीतिशास्त्र के अन्त में ध्यान पर ही आकर रुकता है, जिसे वह परम सद्गुण कहता है, यद्यपि उससे सम्बद्ध अन्य सद्गुणों का भी वह सर्वेक्षण करता है। बुद्ध 'प्रज्ञा' को उत्कृष्टतम निधि मानते हैं, किन्तु इस विषय की भी सावधानी रखते हैं कि बिना प्रेम एवं परोपकार भाव के प्रज्ञा सम्भव नहीं है, अथवा यदि सम्भव भी हो तो फलवती तो हो ही नहीं सकती। क्रियात्मक रूप में सदाचरण धारण किये विना केवल समाधि में बैठकर ध्यान करने मात्र से ही पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती है।[५१४]

दूसरा आक्षेप जो बौद्ध धर्म के नीतिशास्त्र पर किया जाता है, वह यह है

५१२. मज्झिम-१, ७१

५१३. मज्झिम-१

५१४. धम्मपद, १८३

कि यह त्यागमय जीवन की शिक्षा देता है यदि इच्छा के दमन का नाम ही त्यागी जीवन है तब तो बौद्ध धर्म अवश्य त्यागमय है। इच्छा ही जीवनरूपी इस भवन का निर्माण करती है। विना किसी उद्देश्य के एवं विना विश्राम के चलते जाना इसके स्वभाव में है। यह कभी शान्त नहीं होती। निम्नश्रेणी के जीवधारी में यह केवल असंस्कृत प्रेरणा है, उत्कट अभिलाषा अथवा तण्हा (तृष्णा) है, जबकि विवेकपूर्ण तृष्णा ही इच्छा है। तण्हा का विलोप इच्छा के मूलोच्छेद हो जाने से ही सम्भव है और इसे क्रियाशील इच्छाशक्ति अथवा 'छन्द' के द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। बुद्ध केवल निष्कर्मण्यता का समर्थन नहीं करते, क्योंकि उनके मत में अनुचित इच्छाओं का दमन निष्क्रियता अथवा मौन के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता अपितु प्रबल इच्छा और प्रयोजन को लेकर ही हो सकता है।[५१५]

बौद्धदर्शन का प्रभाव समाज पर बहुत अधिक रूप में पड़ा था, यद्यपि बुद्ध समाज सुधारक नहीं थे, तथापि सामान्य समाज बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया था। बुद्ध ने सामान्य परिवारों में जो संस्कार एवं रीति रिवाज चले आ रहे थे, उनमें कोई बाधा नहीं डाली। हाँ, उन्होंने केवल वेदों की प्रामाणिकता को अवश्य ही स्वीकार किया था। उन्होंने कहा, हे शिष्यो! ऐसी तीन वस्तुएँ हैं जिनका स्पष्टवादिता से नहीं, केवल गुप्तता से सम्बन्ध है। स्त्रियाँ पुरोहितायी एवं मिथ्या सिद्धान्त। हे आनन्द! तथागत ने एक ऐसे शिक्षक के समान जो कुछ न कुछ छिपाकर रखता है, कभी अपनी मुट्ठी बन्द नहीं रखी।[५१६]

बुद्ध स्वयं भी वेदों के निन्दक थे। उन्होंने वेदों के उस भाग का स्पष्ट रूप में विरोध किया जो यज्ञों में पशु हिंसा का विरोध करता है।

निर्वाण

बौद्ध साहित्य में निर्वाण शब्द की कई प्रकार से व्याख्या की गई है। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है—बुझ जाना, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त होना। मज्झिम में कहा गया है कि बुद्ध के निर्वाण की तुलना उस बुझती हुई अग्नि (ज्वाला) से करते हैं, जिसके पास जलाने के लिए कुछ शेष न रहा हो। न तो सूखी घास न ही कोई काष्ठ जलाने के लिए शेष रह गया है। वैदिक दर्शन में भी ईश्वर को ऐसी अग्नि कहा, जिसका ईंधन निःशेष हो गया है।

---

५१५. 'भारतीय दर्शन का इतिहास' डॉ॰राधाकृष्णन् पृ० ३९७-९८

५१६. महापरिनिब्बानसुत्त।

बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध चारों शाखाओं में निर्वाण का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

वैभाषिक मत में निर्वाण :–५१७

वैभाषिक मत के अनुसार सभी धर्मों की दो प्रकार की सत्ता है–एक धर्मों का शाश्वत रूप है जिसे "धर्मस्वभाव" कहते हैं और दूसरा उनकी क्षणिक अभिव्यक्ति है, जिसे "धर्म-लक्षण" कहते हैं। निर्वाण इस मत के अनुसार, सत्ता की एक भावात्मक स्थिति है जिसमें क्षणिक अभिव्यक्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है, रागों का पूर्णतः क्षय हो जाता है और इनके पुनः उत्पन्न होने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। प्रतिसंख्या (ज्ञान) द्वारा रागों की चेतना से विच्छेद हो जाना "प्रतिसंख्या-निरोध" कहलाता है। किन्तु आस्रवों मलों का चेतना से विच्छिन्न होना ही आवश्यक नहीं है, उन परिस्थितयों का समाप्त होना भी आवश्यक है, जिनसे आस्रव पुनः चेतना से सम्बद्ध हो सकते हैं। इन परिस्थितियों के समाप्त होने को "अप्रतिसंख्यानिरोध" कहा जाता है। निर्वाण के लिए दोनों ही निरोध आवश्यक हैं। इन निरोधों द्वारा किसी वस्तु का नाश नहीं होता, केवल धर्मों का विच्छेद हो जाता है और उनके पुनः संयोग की सम्भावना समाप्त हो जाती है। हमारे बन्धन और सांसारिक दुःखों का कारण आस्रवों (मलों) का चेतना से संयुक्त होना है, तथा इनका विच्छेद और पुनः संयोग की संभावना की समाप्ति निर्वाण होना है, तथा इनका विच्छेद और पुनः संयोग की संभावना की समाप्ति निर्वाण है। अतः निर्वाण एक ऐसी भावात्मक स्थिति है, जिसमें संसार के क्लेशों से पूर्ण मुक्ति है। इसे विशुद्धता और पूर्णत्व की स्थिति कहा जा सकता है।

निर्वाण की स्थिति में चेतना रहती है या नहीं विषय को लेकर भी एकमत्य नहीं है। प्रो० श्चेरबातस्की निर्वाण को चेतना तथा मानसिक प्रतिक्रियाओं का पूर्णतः बुझ जाना मानते हैं अतः निर्वाण को निर्जीव, अचेतन मानते हैं। उनके अनुसार निर्वाण में आनन्द की स्थिति का अर्थ भी केवल दुःखों का पूर्ण क्षय है।[५१८] किन्तु प्रो० सातकड़ी मुखर्जी निर्वाण को शुद्ध चेतना की स्थिति मानते हैं।[५१९]

---

५१७. भारतीय दर्शन की प्रमुखसमस्यायें–डॉ०महेश भारतीय, पृ० १३१-१३४

५१८. Central Conception of Buddhist Nirvana p. 45.

५१९. Buddhist Philosophy of Universal Flix. p. 252.

सौत्रान्तिक मत में निर्वाण :–वैभाषिकों ने जो धर्मों का दो प्रकार का स्वरूप माना था, एक शाश्वत स्वरूप और दूसरा उनकी क्षणिक अभिव्यक्ति, सौत्रान्तिक इनमें धर्मों के शाश्वत स्वरूप को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार शाश्वतवाद् भगवान् बुद्ध की शिक्षा के विरुद्ध है उनके अनुसार धर्मों की केवल क्षणिक अभिव्यक्तियाँ ही सत्य हैं। इन क्षणिक अभिव्यक्तियों का पूर्ण विरोध हो जाना निर्वाण है। यह सभी आस्रवों के साथ-साथ जीवन की भी समाप्ति है।

हीनयानियों के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति का साधन है चार आर्य सत्य तथा प्रपंच के पुद्‌गल नैरात्म्य पर ध्यान करना। वे तपस्या के मार्ग को स्वीकार करते हैं। उन्होंने भगवान् के मध्यम मार्ग को भुला दिया।

महायान सम्प्रदाय :–जैसा कि महायान और हीनयान में मूल अन्तर यह है कि हीनयान केवल व्यक्ति के निर्वाण को स्वीकार करते हैं, जबकि महायानी सभी जीवों का निर्वाण आवश्यक मानते हैं। महायानियों के अनुसार बोधिसत्त्व का मूलव्रत यह है कि जब तक संसार के सभी जीव निर्वाण प्राप्त नहीं कर लेते तब तक मैं भी निर्वाण प्राप्त नहीं करूँगा।

महायान भी दो समुदायों में विभक्त हो गया–माध्यमिक या शून्यवाद और योगाचार या विज्ञानवाद। अब इन दोनों सम्प्रदायों में बंधन और निर्वाण के स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है।

माध्यमिक मत या (शून्यवाद) में निर्वाण :–शून्यवाद में 'शून्य' का अर्थ है रहित। इसका प्रयोग दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से हुआ है। जब प्रपंच (जगत्) को शून्य कहा जाता है तो इसका अर्थ है प्रपंच परम सत्ता या स्वतन्त्र सत्ता से रहित है, व्यवहार के सभी पदार्थ अपनी सत्ता के लिए किन्हीं अन्य पदार्थों पर निर्भर करते हैं। यहीं पर प्रतीत्समुत्पाद का अर्थ है। जब परम तत्त्व को शून्य कहा जाता है तो इसका अर्थ होता है कि परम तत्त्व प्रपंच (अनेकता और विविधता) से रहित है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से इसका प्रयोग संसार या प्रपंच के लिए हुआ है तथा पारमार्थिक दृष्टिकोण से परम तत्त्व या निर्वाण के लिए हुआ है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से शून्य तथा निर्वाण तथा धर्मधातु एक ही अर्थ के वाचक शब्द हैं।[५२०]

शून्यवाद भी बन्धन का मुख्य कारण अविद्या या अज्ञान मानता है। अविद्या

५२०. अशोक कुमार लाड–भारतीय दर्शन मोक्ष-चिन्तन, पृ० ९४

या अज्ञान का अर्थ है सांसारिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना सांसारिक पदार्थों का ज्ञान हमें अपनी बुद्धि की कोटियों द्वारा होता है, किन्तु बुद्धि की कोटियों (Catagories) द्वारा हम कभी भी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकते। सांसारिक पदार्थों के विषय में हमारा ज्ञान जैसे वे हैं, वैसा नहीं है, बल्कि जैसे वे हमें बुद्धि से दिखायी देते हैं, वैसा है। बुद्धि की अपनी सीमायें हैं, वह कभी भी हमें पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं करा सकती। वह परम तत्त्व का ज्ञान सांसारिक पदार्थों के रूप में कराती है। वास्तव में बुद्धि द्वारा कराया हुआ ज्ञान अविद्या या अज्ञान ही है। इसलिए वही दुःख का मूल कारण है।[५२१] बुद्धि का कार्य है, सम्प्रत्यों, दृष्टिकोणों तथा कल्पनाओं को उत्पन्न करना।

शून्यवाद के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों और कल्पनाओं से लिप्त होना ही अविद्या है। इससे मुक्त होना ही अविद्या की समाप्ति है, और यही निर्वाण है। माध्यमिक कारिका पर अपनी वृत्ति में चन्द्रकीर्ति लिखते हैं कि हमारी कल्पनाओं का नाश ही निर्वाण है।[५२२] इस निर्वाण में न कुछ उत्पन्न होता है, न कुछ प्राप्त होता है, केवल बाह्य पदार्थों के विषय में हमारा भ्रम दूर हो जाता है। भ्रम या अविद्या के दूर होते ही स्वयं प्रकाश प्रज्ञा चमकने लगती है। यही निर्वाण का साक्षात्कार है।

शून्यवाद की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रपंच सापेक्ष है अतः अवास्तविक है—परमार्थतः न कोई वस्तु उत्पन्न होती है न नष्ट होती है। बन्धन परमार्थतः है ही नहीं तो उसके नाश का भी प्रश्न नहीं उठता। बन्धन और निर्वाण दोनों हमारी कल्पनायें हैं और इन कल्पनाओं का क्षय ही निर्वाण है। निर्वाण के लिए सत्, असत् सत्-असत् दोनों न सत् और न असत् इन विचार की कोटियों में से किसी का भी प्रयोग करना सम्भव नहीं है। ये चारों कोटियाँ निर्वाण के वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधक है।

नागार्जुन यह प्रतिपादित करते हैं कि संसार और निर्वाण में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है। मानव-बुद्धि अपनी सीमाओं के कारण परम तत्त्व के स्वरूप को नहीं जान सकती। वह अपनी कोटियों के माध्यम से तत्त्व के अंश का ज्ञान प्रस्तुत

---

५२१. अशोक कुमार लाड "भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन", पृ० ९४
५२२. स्वकल्पनाक्षयः—माध्यमिक वृत्ति, ५२४, ५

करती है। तत्त्व का पूर्ण ज्ञान केवल प्रज्ञा द्वारा प्राप्त हो सकता है। अतः परम तत्त्व ही जब कार्य-कारण-सम्बन्ध के फ्रेम में देखा जाता है तो संसार है और अब कारणता से अलग करके देखा जाता है तो निर्वाण है। दूसरे शब्दों में व्यावहारिक दृष्टिकोण से जो संसार प्रतीत होता है, पारमार्थिक दृष्टिकोण से वही निर्वाण है।[५२३]

जिस मनुष्य ने निर्वाण प्राप्त कर लिया वह संसार की विविधता के पीछे सर्वत्र एक परम तत्त्व के दर्शन करता है, वह बुद्धि की सभी कोटियों अर्थात् सम्पूर्ण व्यवहार से ऊपर उठ जाता है।

विज्ञानवाद मत में निर्वाण :–विज्ञानवाद के अनुसार वाह्य जगत की वास्तविक स्थिति नहीं है, वह केवल हमारी चेतना की सृष्टि है। केवल हमारा चित्त ही सत्य है किन्तु अपने जन्मजात अज्ञान के कारण हम उसे बाह्य पदार्थों के रूप में देखते हैं। विज्ञानवाद यह भी मानता है कि इन परिवर्तनशील पदार्थों के पीछे (जो कि वास्तव में विज्ञान रूप है एक नित्य निरपेक्ष परमसत्ता छिपी हुई है जो विशुद्ध चैतन्य-रूप है। उसको आलय-विज्ञान कहा जाता है। जितनी भी क्षणिक अभिव्यक्तियाँ हैं, सब आलय-विज्ञान की ही है।[५२४]

लंकावतार सूत्र में चेतना के दो भेद किये गए हैं–(१) व्यष्टिगत चैतन्य (प्रवृत्ति विज्ञान) और (२) परम चैतन्य (आलय-विज्ञान)। प्रवृत्ति-विज्ञान का व्यष्टिगत चैतन्य चेतना का प्रवाह है। इसके पीछे चेतना का अपरिवर्तनशील भण्डार है। जिसे आलय विज्ञान कहते हैं। आलय विज्ञान एक नित्य, अमृत कभी परिवर्तित न होने वाला चेतना का भण्डार है, जो व्यावहारिक जगत् के ज्ञाता ज्ञेय के द्वैत के मूल में हैं। यह आलय-विज्ञान ही निर्वाण है। अतः तत्त्व साक्षात्कार होता है तो सातों प्रवृत्ति विज्ञान[५२५] अपने इसी स्रोत की ओर लौटकर उसमें लय हो जाते हैं।[५२६] जब इस लय के परिणामस्वरूप अहंकार और विचार की जगत् सम्बन्धी मिथ्या कल्पनायें समाप्त हो जाती हैं, तो यह निर्वाण की स्थिति है। इस स्थिति में दृश्य जगत् की शून्यता का बोध हो जाता है।[५२७] निर्वाण क्योंकि केवल

५२३. भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन, पृ० ९८
५२४. देखिए–लंकावतार सूत्र, ३, १८६
५२५. पाँच इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान, मनोविज्ञान तथा मानस्।
५२६. लंकावतार सूत्र–२, ६२
५२७. लंकावतार सूत्र–२९८

भ्रम का नाश है।[५२८] अतः इसमें से कुछ उत्पन्न होता है, न प्राप्त होता है। असंग के अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से बन्धन और मोक्ष अर्थात् संसार और निर्वाण में किंचित् भी अन्तर नहीं है, दोनों हीं बुद्धि से उत्पन्न होने के कारण मिथ्या है। हम केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह कह सकते हैं कि पुण्य कर्मों से जीवन-मरण के चक्र का निरोध हो जाता है, और निर्वाण की प्राप्ति होती है।[५२९] लंकावतार के अनुसार निर्वाण के लिए तर्क की किसी भी कोटि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यह शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, सत् और असत् भेद-बोधों से मुक्त है। उसे मृत्यु, विनाश, निर्मित अनिर्मित, नित्य-अनित्य, त्याग-प्राप्ति, स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न आदि कुछ भी कहना संभव नहीं।

महायान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति केवल धर्म नैरात्म्य और पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से ही हो सकती है। पुद्गल-नैरात्म्य का अर्थ है यह ज्ञान की आत्मा नामक किसी नित्य द्रव्य की सत्ता नहीं है। दृश्य जगत् के सभी पदार्थ किसी नित्य द्रव्य से रहित और अनित्य हैं। यह बोध कर लेना कि दृश्य जगत् केवल भ्रम है, केवल चित्त ही विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रहा है, अतः जगत् की सत्ता अनित्य रूप से नहीं है, धर्म-नैरात्म्य कहलाता है। नित्य आत्मा को मानने से सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति होती है। आसक्ति से दुःखों की उत्पत्ति होती है। पुद्गल-नैरात्म्य को मानने से आत्मा और बाह्य जगत् के पदार्थों से आसक्ति की समाप्ति हो जाती है और परिणामतः दुःखों का भी अन्त हो जाता है।

मोक्ष के लिए बौद्ध धर्म और दर्शन में निर्वाण शब्द का प्रयोग किया जाता है। बौद्ध मत का निर्वाण भारतीय दर्शन में सर्वाधिक अस्पष्ट और विवादस्पद है। इसका कारण यह है कि भगवान् बुद्ध इस प्रकार के तत्त्व मीमांसा-संबन्धी प्रश्नों पर मौन रहा करते थे। वे मानव बुद्धि की सीमाओं को समझते थे और इस प्रकार के इन्द्रियातीत विषयों के विवेचन को अनुपयोगी मानते थे। उनके लिए सबसे बड़ी समस्या सांसारिक दुःख को दूर करने की थी। वे प्रायः अपने शिष्यों से कहते थे कि इस संसार में काम, घृणा, दुःख और जरा-मरण की आग लगी हुई है। इस आग से वही बच सकता है जो तत्त्व मीमांसा के वाग्जाल को छोड़कर नैतिक जीवन जीना प्रारम्भ कर देता है। भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण शिक्षा का सार इन चार आर्य सत्यों में निहित है-(१) संसार में दुःख है, (२) दुःखों का कारण

---

५२८. मोक्षो भ्रममात्रसंक्षयः। महायान सूत्रालंकार-६, २
५२९. मोक्षो भ्रममात्रसंशय, वही-६, ५

है, (३) दुःखों को दूर किया जा सकता है, (४) दुःखों को दूर करने का मार्ग है।

संसार में जरा-मरण ही दुःख है। इस दुःख का कारण है जाति अर्थात् जन्म लेना। जाति का कारण 'भव' अर्थात् जन्म लेने की इच्छा है। भव का कारण 'उपादान' अर्थात् सांसारिक पदार्थों में आसक्ति है। उपादान का कारण 'तृष्णा' अर्थात् इन्द्रियानुभव है। वेदना का कारण 'स्पर्श' अर्थात् इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष है। स्पर्श का कारण 'षडायतन' अर्थात् छः इन्द्रियाँ हैं। षडायतन का कारण 'नामरूप' अर्थात् मनोभौतिक शरीर-रचना है। नाम-रूप का कारण 'विज्ञान' या मातृ गर्भ में नित्य भ्रूण की चेतना है। विज्ञान का कारण 'संस्कार' अर्थात् पूर्व जन्म के कर्म और अनुभव से उत्पन्न संस्कार है। संस्कार का कारण 'अविद्या' अर्थात् अज्ञान है। ये दुःख के कारणों की बारह कडियाँ हैं–इस कारण परम्परा को 'भव-चक्र' संस्कार-चक्र' 'जन्म-मरण चक्र' या प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र' कहा जाता है।

इन उपर्युक्त हेतुओं से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण दुःख का मूल कारण अविद्या है। भगवान् के अनुसार चार आर्य सत्यों को या प्रतीत्समुत्पाद को न समझना अविद्या है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है–कारण होने पर कार्य का होना, (अस्मिन् सति इदं भवति) अर्थात् संसार में प्रत्येक वस्तु का कारण है। यदि संसार में दुःखों के कारणों को अर्थात् दुःखदायी परिस्थितियों को दूर कर दिया जाये तो दुःख दूर किया जा सकता है। सांसारिक दुःखों को दूर करने के लिए भगवान् बुद्ध ने **अष्टांगिक मार्ग** बतलाया है, जिसके आठ चरण हैं–(१) **सम्यक् दृष्टि**–दृष्टिकोण या विश्वास ठीक होना, आर्य सत्यों का सम्यक् ज्ञान होना। (२) **सम्यक् संकल्प**–सभी इन्द्रिय जन्य सुखों में आसक्ति का परित्याग तथा जीव मात्र के प्रति प्रेम करने का दृढ़ संकल्प, (३) **सम्यक् वाक्**–कठोर भाषा के प्रयोग से बचना, निरर्थक वार्तालाप से बचना तथा किसी की निन्दा न करना, (४) **सम्यक् कर्म**–कर्म में बाह्य आडम्बरों का त्याग और विनयशीलता एवं पवित्रता, अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन। (५) **सम्यक् आजीव**–आजीविका का शुद्ध होना। (६) **सम्यक् व्यायाम**–क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार तथा अन्य वासनाओं को वश में करना, (७) **सम्यक् स्मृति**–निरन्तर इस बात का स्मरण करना कि मानव-शरीर अपवित्र और अनित्य है, इससे शरीर के प्रति आसक्ति दूर होगी, (८) **सम्यक् समाधि**–इसमें ध्यान की चार अवस्थायें हैं। **प्रथम** अपूर्व आनन्द और शान्ति के अनुभव की अवस्था है जिसमें तृष्णा मिट जाती है।

द्वितीय अवस्था साधक के सभी सन्देह दूर हो जाते हैं और आर्य सत्यों के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में अपूर्व शान्ति और चित्त की अपूर्व स्थिरता उदित होती है। तीसरी अवस्था सुख दुःखातीत चेतना की है। इसमें क्रोध, काम आदि विकार शान्त हो जाते हैं, और चित्त साम्यावस्था को प्राप्त कर लेता है, इसमें साधक समाधि के आनन्द के प्रति उदासीन हो जाता है। चौथी अवस्था सभी चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है और साम्यावस्था, शारीरिक सुख और समाधि से प्राप्त आनन्द का भी मान नहीं रहता। यह पूर्ण प्रज्ञा की स्थिति है। यहीं अर्हत्व या निर्वाण है।

निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। अभिधम्म महाविभाषा शास्त्र में निर्वाण शब्द की निम्नलिखित व्युत्पत्तियाँ बतलाई गई हैं :–(१) बाण पुनर्जन्म का रास्ता, निर् छोड़ना, अतः निर्वाण स्थायी रूप में पुनर्जन्म के सब रास्तों को छोड़ देना। (२० बाण दुर्गन्ध निर् नहीं, अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति जो दुःखदायी कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है। (३) बाण घना जंगल निर् स्थायी रूप से छुटकारा पाना, अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति जिसमें स्कन्धों, तीन प्रकार की अग्नि (काम, द्वेष या ईर्ष्या और अज्ञान) और वस्तुओं के तीन प्रकार के गुण (उत्पत्ति, स्थिति और नाश) के घने जंगल से स्थायी रूप से छुटकारा पा लिया गया है, (४) बाण बुनना, निर् नहीं, अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति जो जन्म-मरण का ताना-बाना बुनने वाले सभी प्रकार के दुःखदायी कर्म रूपी धागों से पूर्णतः मुक्त है।[५३०] केशो में निर्वाण का अर्थ बुझ जाना बताया गया है। सम्भवतः ये सभी अर्थ निर्वाण द्वारा संकेतित हैं। प्रो० नलिनाक्ष दत्त निर्वाण के स्वरूप में सम्बन्ध के आधुनिक विद्वानों के मतों को चार वर्ग में प्रस्तुत करते हैं[५३१]–

(१) निर्वाण पूर्णरूप से क्षय या विनाश या उच्छेद है।
(२) निर्वाण एक शाश्वत स्थिति है जो अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है।
(३) बुद्ध द्वारा निर्वाण को परिभाषित नहीं किया गया है।
(४) निर्वाण शाश्वत, शुद्ध और अनन्त चैतन्य है।

५३०. देखिए–Sogen : Sytems of Buddhistic Thought, p. 31-42 तथा– अशोक कुमार लाड्–भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन, पृ० ६४

५३१. N. Dutta : Aspects of Mahayan and its Relation of Hinayana p. 145.

वेदान्त और सांख्य की जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के समान बौद्धदर्शन में भी निर्वाण के दो भेद प्राप्त होते हैं–'उपाधिशेष' तथा अनुपाधिशेष या 'निर्वाण' और 'परिनिर्वाण'। निर्वाण राग, द्वेष, मोह का क्षय है जो शरीर रहते भी हो सकता है। इस स्थिति को उपाधिशेष निर्वाण कहा जाता है। जब निर्वाण प्राप्त व्यक्ति द्वारा शरीर को भी त्याग दिया जाता है तो उसे 'अनुपाधिशेष निर्वाण' या 'परिनिर्वाण' कहते हैं।

हीनयान और महायान :–भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके शिष्यों में इस विषय को लेकर मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य केवल हमारा अपना निर्वाण है, या सभी जीवों का निर्वाण है। जिन्होंने केवल निर्वाण को अपना लक्ष्य माना उनका मत 'हीनयान' कहा गया, जिन्होंने सभी जीवों के निर्वाण को अपना लक्ष्य माना उनका मत 'महायान' कहा गया है।

हीनयान में निर्वाण :–कथावस्तु के अनुसार निर्वाण अपने आप में सत्य, शाश्वत और अपरिवर्तनशील स्थिति है जिसका वर्णन उत्पत्ति, परिवर्तन और विनाश की लौकिक शब्दावली में नहीं किया जा सकता। बुद्ध घोष के विशुद्मिग्ग के अनुसार 'बाण' तृष्णा को कहते हैं, उससे बाहर निकलना या तृष्णा का अन्त निर्वाण है। बुद्धघोष दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि निर्वाण केवल बुझ जाना अर्थात् निषेधात्मक स्थिति नहीं है। वस्तुतः वह एक लोकोत्तर स्थिति है जिसका वर्णन करना सम्भव नहीं फिर भी उसका अनादि, नित्य, निराकार, अमृत आदि शब्दों द्वारा कथन किया जा सकता है। मिलिन्द प्रश्न के अनुसार भी निर्वाण के स्वरूप का वर्णन भाषाा में करना सम्भव नहीं है, केवल उपमाओं द्वारा उसके स्वरूप और समृद्धि की ओर संकेत किया जा सकता है। निर्वाण दुःखों से सर्वथा अमिश्रित अनन्त सुख है। वह क्षय है तृष्णा का क्षय और परिणाम स्वरूप जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोना आदि का क्षय।[५३२]

महात्मा बुद्ध ने अन्तिम मोक्ष का आशय यह बताया है कि यह चेतना की निर्दोष अवस्थाओं के प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[५३३] किसी भी प्रकार के दबाब एवं संघर्ष से मुक्त यह एक प्रकार का मानसिक विश्राम है। दुर्वासनापरक प्रवृत्तियों के दमन के साथ-साथ तुरन्त आध्यात्मिक उन्नति भी होने

---

५३२. डॉ०महेश भारतीय–"भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्यायें" पृ० १२८-३०
५३३. सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह, २, ४, २१

लगती है। निर्वाण जो आध्यात्मिक संघर्ष की समाप्ति एवं सिद्धि है। एक निश्चित परमानन्द की अवस्था है। यह पूर्णता प्राप्ति का लक्ष्य है एवं शून्यता का अगाध गर्त नहीं है। अपने अन्दर के समस्त व्यक्तित्वभाव को विनष्ट कर देने से ही हम सम्पूर्ण विश्व के साथ संयुक्त हो सकते हैं, एवं उस महान् प्रयोजन के एक आन्तरिक अंग बन सकते हैं। उस अवस्था में पूर्णता का अर्थ होता है, उन समस्त पदार्थों के साथ एक होना जो हैं, या कभी रहे हैं, या रहेंगे। सत् पदार्थों के क्षितिज का विस्तार उस अवस्था में यथार्थ परम सत्ता तक हो जाता है। यह एक ऐसा जीवन है जो अहंभाव से विहीन एक अनन्त जीवन है, जो विश्वास, शान्ति, प्रशान्ति, परम, आनन्द, सुख, मृदुता, पवित्रता एवं प्रत्यग्रता से परिपूर्ण है।[५३४] मिलिन्द में ऐसे स्थल आते हैं जिनमें इस विषय का संकेत किया गया है कि परिनिर्वाण के पश्चात् बुद्ध के जीवन का अन्त हो गया था। महाभाग इस प्रकार के अन्त को प्राप्त हुए जिस प्रकार के अन्त में अन्य व्यक्तित्व को प्राप्त करने का मूलमात्र शेष नहीं रहता। महाभाग का अन्त हो चुका है और इसलिए उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे यहाँ है या वहाँ हैं। किन्तु सिद्धान्त रूपी शरीर के रूप में उनका निर्देश अब भी अवश्य किया जा सकता है।[५३५] हम बुद्ध की तो पूजा नहीं कर सकते, क्योंकि वे अब इस संसार में नहीं हैं और इसलिए हम उनके पवित्र अवशेषों और सिद्धान्तों की ही पूजा कर सकते हैं।[५३६]

नागसेन ने निर्वाण के विचार को अभावात्मक अथवा सब प्रकार की चेष्टा से विरहित (चित्तवृत्तिनिरोध) एवं सब प्रकार के भाव (भाव निरोध) के रूप में ही वर्णन किया है। तो भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कतिपय प्राचीन बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण का अर्थ है, सत्य की पूर्णता, अनन्त परम सुख (कैवल्य) अर्थात् सांसारिक सुखों व दुःखों से बहुत ऊँचे पद का परम आनन्द। 'हे वच्छ, तथागत जब इस प्रकार से भौतिकता की कोटि से मुक्त हो जाता है, तो बहुत गम्भीर, अपरिमेय एवं अगाध समुद्र के समान हो जाता है। भिक्षुणी खेमा कोसल के पसेनदी को विश्वास दिलाती है कि मृत्यु ने तथागत को पाँचों स्कन्धों के आनुभाविक जीवन से मुक्त कर दिया। सारिपुत्र यमक को इस प्रकार का धर्म

---

५३४. मिलिन्द–२, २, ९. ३, ४, ६, २, १, ६।
५३५. मिलिन्द–३, ५, १०
५३६. मिलिन्द–४, १ देखिए संयुत्त, १ भी।

द्रोही विचार प्रकट करने के लिए बुरा भला कहता है कि जिस भिक्षु के अन्दर से पाप निकल गया है वह मर भी सकता है। मैक्समूलर एवं चिल्डर्स निर्वाण विषयक जितने भी स्थल हैं उनका विधिपूर्वक अनुसंधान करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि एक भी स्थल ऐसा नहीं पाया जाता जिसमें यह अर्थ निकाला जा सकता हो कि निर्वाण का अर्थ शून्यावस्था अथवा अभावात्मक अवस्था है। इसलिए यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का मिथ्या विचार नष्ट होता है एवं यथार्थ सद् का भाव फिर भी रहता है। जैसे इन्द्र-धनुष तथ्य घटना एवं कल्पना का सम्मिश्रण है। इसी प्रकार व्यक्तित्व भी सत् एवं असत् का मिश्रण है। गिरती हुई वर्षा की बूंद 'रूप' है। एवं प्रकाश की पंक्ति 'नाम' है और उनके परस्पर एक-दूसरे को काटने से उत्पन्न पदार्थ का नाम 'भाव' या इन्द्रधनुष है जो भास-मात्र व भ्रांति है। किन्तु उसका आधार कुछ यथार्थसत्ता अवश्य है और वह नित्य है। संसार मेरे ऊपर निर्भर करता है, क्योंकि मैं जानने वाला हूँ और उसका ज्ञान प्राप्त करता हूँ, इस प्रकार वह मुझसे पृथक् है। केवल रूप या आकृति का ही ज्ञान हो सकता है, उसका नहीं जिसके ऊपर यह आधारित है फिर किसके लिए ज्ञान के द्वारा संसार का त्याग किया जाए अर्थात् केवल उसके रूप का ही। आकृति के रूप में ही यह उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है, क्या यह सत् और सत् का अन्त होना आवश्यक है। वह जिसके ऊपर रूप का आधार है वही मूलभूत सत् है, तथा वह कभी भी और कहीं भी असत् परिवर्तन नहीं हो सकता, और जो नित्य है उसका कभी भी और कहीं भी अन्त नहीं हो सकता।[५३७]

निर्वाण आत्मा की नित्य अवस्था है, क्योंकि यह संस्कार नहीं है, और न ही ऐसी वस्तुओं के एकत्रीकरण से बना है जो अस्थायी है। यह निरन्तर रहता है, केवल इसकी अभिव्यक्तियों में परिवर्तन होता है। यही वह है जो स्कन्धों की पृष्ठभूमि में विद्यमान है जबकि स्कन्ध जन्म एवं क्षीणता के अधीन है। परिणति की भ्रांति का आधार निर्वाण की यथार्थ सत्ता है। बुद्ध इसकी परिभाषा करने की चेष्टा नहीं करते, क्योंकि यह सबका मौलिक तत्त्व है, और इसीलिए अवर्णनीय है। यह कहा जाता है कि निर्वाण की अवस्था में, जिसकी तुलना प्रगाढ़ निद्रा के साथ विश्व में विलीन हो जाती है। बाद के महायानग्रन्थों में जिस मत पर

---

५३७. दाहलके, 'बुद्धिस्त एसेज', पृ० २५८

विशेष बल दिया गया है वह यह है कि जो कुछ है वह भवांग है अर्थात् सत् रूप का प्रवाह है। अज्ञान की वायु इसके ऊपर से बहती है। इसके प्रवाह को चञ्चल बना देती है, और इस प्रकार से इस जीवन रूपी समुद्र में कम्पन उत्पन्न करती है। प्रसुप्त आत्मा जागरित हो उठती है, और इसका प्रशान्त अबाधितमार्ग रुक जाता है। यह प्रबुद्ध हो उठती है, विचार करती है, एक व्यक्तित्व का निर्माण करती है और अपने को सत् के प्रवाह से पृथक् कर लेती है। सुषुप्ति की अवस्था में ये अवरोध छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। निर्वाण फिर से सत् की धारा में आ जाने और अबाधित प्रवाह का रूप धारण कर लेने का नाम है। जिस प्रकार से सोते हुए मनुष्य को कोई भी विचार धारा क्षुब्ध नहीं कर सकती, इसी प्रकार निर्वाण में हमें शान्तिमय विश्राम मिलता है। निर्वाण न तो शून्यरूप है और न ही जीवन है जिसका विचार मन में आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्य का भाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्ययरूप में स्वीकार नहीं करते। चूंकि यह मानव के विचार क्षेत्र से परे का विषय है, अतएव हम निषेधात्मक शब्दों द्वारा ही उसका वर्णन कर सकते हैं। यह एक ऐसी अवस्था है जो विषयी एवं विषय के परस्पर सम्बन्ध से अतीत है। इसमें आत्म चेतना की प्रतीति नहीं की जा सकती। यह क्रियाशीलता की एक ऐसी अवस्था है जो कारणकार्य भाव के अधीन नहीं है, क्योंकि यह उपाधि- विहीन स्वातन्त्र्य या मोक्ष है।

(१) यह एक यथार्थ और दृढ़ अवस्था है यद्यपि देश और काल से जकड़े हुए संसार में विद्यमान नहीं है। भिक्षुओं एवं भिक्षुणियों के स्तोत्रग्रन्थ अगाध आह्लाद के कौशलपूर्ण वर्णन से भरे पड़े हैं, जिनमें निर्वाण का अमर आनन्द मिलता है और जो वाणी का विषय नहीं है। व्यक्तिगत चेतना एक ऐसी अवस्था में प्रवेश करती है जहाँ पर सब सापेक्ष जीवन आकर विलीन हो जाते हैं। यह एक मौन अतीत है। एक अर्थ में यह आत्म विलोप है, और दूसरे अर्थ में परम् स्वातन्त्र्य है। जिस प्रकार सूर्य के उज्ज्वल प्रकाश में तारा अस्त हो जाता है, अथवा जल से विहीन बादल ग्रीष्म ऋतु के आकाश में छिन्न भिन्न हो जाता है, इसी उपमा से इसे समझा जा सकता है। बुद्ध के अनुसार यह सोचना कि निर्वाण शून्यता का नाम है, एक प्रकार का दूषित धर्मद्रोह है।[५३९]

५३८. तुलना कीजिए–"शून्यतानिनिमित्तप्रणिहितम्।"

५३९. संयुत्त, ३, १०९

बौद्धदर्शन में पुनर्जन्म एवं कर्म का सिद्धान्त :–

भारतीय दर्शनों में यह स्वीकार किया जाता है कि आत्मा ऐसी एक चेतन सत्ता है, जो अनादि काल से बार-बार जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आधार कर्म का दर्शन है। संसार में कर्म की विभिन्नता, जैसे कि कुछ मनुष्य लम्बी आयु को प्राप्त होते हैं, कुछ छोटी आयु को प्राप्त होते हैं। कुछ मनुष्य धनी होते हैं, और कुछ निर्धन होते हैं। यह जीवन विविधता इसलिए होती है कि 'जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल भोगता है।' इस मान्यता के अनुसार ही दुःखी व्यक्ति यह सोचकर उस दुःख को सहन करता है कि वह अपने कर्मों के फलों को ही भोग रहा है, उसने पिछले जन्म में कोई बूरे कर्म किये होंगे। इसी प्रकार सुखी मनुष्य भी यह विचार करता है कि पिछले जन्म में मैंने अच्छे कर्म किये हैं इसलिए मुझे इस जन्म में अच्छे कर्म करने चाहिए। महात्मा बुद्ध के पास एक पीड़ित शिष्य अपने फटे हुए माथे को लेकर आया, वह जख्मों से खून बहाते हुए सहायता की दृष्टि से आया। 'बुद्ध ने उससे कहा, इसे ऐसा ही रहने दो।' हे अर्हत् यह अपने कर्मों का फल भोग रहे हो, जिसके लिए तुम्हें पाप मोचन में शताब्दियाँ लग जाती है।'

कर्म फल के इस सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी इसी कर्म के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। कर्म का सिद्धान्त बौद्ध धर्म से बहुत पुराना है।

हिन्दुधर्म की कल्पना का अनुसरण करते हुए तथागत दुरात्मा व्यक्तियों नरक, एवं अपूर्ण व्यक्तियों के लिए व्यवस्था करते हैं। उन्होंने स्वर्ग की कल्पना को स्वीकार किया है। 'मृत्यु के पश्चात् शरीर के विलय हो जाने पर सुकृत आचरण वाले व्यक्ति का जन्म स्वर्ग में किसी सुखी अवस्था में होता है।'[५४०] किसी-किसी स्थान पर ऐसा भी आता है कि पुनर्जन्म होने से पूर्व स्वर्ग एवं नरक में कुछ-कुछ अस्थायी रूप में रहना होता है। आदि बौद्ध धर्म ने जातकों के द्वारा पुनर्जन्म के भावों को प्रचारित किया जिनमें वर्णन किया गया कि किस प्रकार पूर्वजन्मों में बुद्ध ने आत्मत्याग के अनेक कर्मों द्वारा अपने आपको पाप के साथ संघर्ष करते हुए, बोधिवृक्ष के नीचे, अन्तिम विजय के लिए सन्नद्ध किया था। यह कहा जाता है कि यदि हम अलौकिक शक्तियों का विकास कर सकें तो हम भी अपने प्रत्येक पूर्वजन्मों की अनन्त श्रृंखला का साक्षात्कार कर सकते हैं।

---

५४०. महापरिनिब्बान–१, २४

यद्यपि बौद्ध धर्म में आत्मा के देहान्तर्गमन का कोई सिद्धान्त नहीं है, और न ही एक जीवन से दूसरे जीवन में जाने का कोई विधान है। मनुष्य के मर जाने पर यह भौतिक शरीर अपने कारणों में विलय को प्राप्त हो जाता है। बौद्धदर्शन में सब कुछ क्षणिक है। जन्म लेने वाला व्यक्ति वह नहीं है जो मर गया था, दूसरा ही है क्योंकि आत्मा तो हैं ही नहीं, जो दूसरे शरीर में प्रवेश करें, यह केवल चरित्र ही है जो समान रूप में रहता है।[५४१] मृत्यु के पश्चात् जो दो जन्मों में पृथक्ता आती है, उनके मध्य में जो विधि निरन्तरता को स्थापित करती है, उसका समाधान बौद्धदर्शन में नहीं किया गया है। बौद्ध धर्म तो केवल इसे मान लेता है, यद्यपि बौद्धदर्शन में आत्मा को स्थायी नित्य एवं चेतन रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, परन्तु इतना तो अवश्य ही स्वीकार किया जाता है कि उत्पत्ति एवं विनाश तथा क्षणिक आत्मा को मानने पर भी पूर्ववर्ती आत्मा के उत्तरवर्ती आत्मा में संस्कार, स्मृति और कर्म के विपाक संक्रमित होते हैं। यह मान्यता बौद्धदर्शन में मिलती है। भौतिक शरीर अवश्य ही जल जाता है एवं परिवर्तित होकर के अपने कारणों में समाप्त हो जाता है। अर्थात् कहीं न कहीं उसकी अविछिन्न धारा किसी न किसी रूप में प्रवाहित होती रहती है। इस प्रकार पुनर्जन्म तथा कर्म फल भोग की निरन्तरता बौद्धदर्शन में अन्तर्निहित है।

बुद्ध घोष के 'विशुद्धिमग्ग' ग्रन्थ में कहा गया है कि 'चेतना अभी भी विद्यमान है, यहाँ तक कि इच्छा एवं अज्ञान अभी भी दूर नहीं हुए और उद्देश्य का अशुभ भाग अभी भी अज्ञान के कारण छिपा हुआ है, इच्छा के द्वारा चेतना का झुकाव जीवन रूपी लक्ष्य की ओर कर दिया जाता है, और कर्म जो चेतना के साथ-साथ ही आ गया, इसे उक्त उद्देश्य की ओर अग्रसर करता है। यह चेतना उस श्रृंखला के अन्दर रहते हुए जिसका झुकाव इच्छा के कारण उक्त उद्देश्य की ओर है और जिसे कर्म ने इसकी ओर अग्रसर किया है, एक खाई के ऊँचे किनारे पर के वृक्ष से लटकती रस्सी के सहारे झूलने वाले मनुष्य के समान अपने पहले विहित स्थान को छोड़ती है और दृश्यमान् पदार्थों के ऊपर निर्भर करती हुई अपनी स्थिति को संभाले रहती है एवं कर्म द्वारा निर्मित अन्य किसी विहित स्थान पर प्रकाशित होती भी है और नहीं भी होती। यहाँ पर चूंकि पहली चेतना अब नहीं, इसलिए कहा जाता है कि अमुक मनुष्य अब इस संसार में नहीं रहा, और परवर्ती चेतना चूंकि नये जीवन में फिर से उत्पन्न होती है

---

५४१. अभिधर्मकोष–३, २४

इसलिए उसे हम पुनर्जन्म कहने लगते हैं। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि यह परवर्ती चेतना नये जीवन में पूर्वचेतना से नहीं आई, और यह कि यह केवल पूर्वजन्म में वर्तमान कारण से ही अर्थात् कर्म अथवा क्षमता एवं झुकाव (नया जन्म लेने की प्रवृत्ति) से ही वर्तमान जीवन में प्रकट हुई है।[५४२]

बौद्धदर्शन में ईश्वर की अवधारणा :–

महात्मा बुद्ध का काल एक ऐसा काल था, जिसमें बहुदेवतावाद तन्त्र पर्याप्त रूप में विकसित हो गया था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुबलि, यहाँ तक कि नर बलि देने की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। उस समय कोई भी पदार्थ देवत्व की कल्पना से नहीं बचा था। जिनमें द्युलोक स्थित, नक्षत्र मण्डल, पौधे, पशु, पर्वत तथा नदियों को भी देवताओं के रूप में मान्यता दी गई थी। इतना ही नहीं अपितु विकट रूप वाले दानव छायारूप प्रेतात्मा तथा कितने ही काल्पनिक प्रतीकों को देवत्व के रूप में मान लिया था। देवताओं की इस मान्यता के कारण उपनिषदों का एक ब्रह्म कमजोर पड़ गया था। ये देवता कभी किसी से प्रसन्न होते थे, कभी किसी से कुपित हो जाते थे। इनको प्रसन्न करने के लिए कर्मकाण्डियों ने कई-कई वर्ष तक चलने वाले यज्ञों को करना प्रारम्भ कर दिया था। उनमें से बहुत यज्ञों में अजा एवं अश्वादि पशुओं की हजारों की संख्या में बलि दी जाती थी। सामान्य समाज में भ्रष्टाचार, चापलूसी, स्वयं पापकर्म को करना उसको ईश्वर की लीला पर छोड़ देना आदि की भावना के विकसित होने से समाज में घोर अत्याचार एवं अनाचार पनप गया था। महात्मा बुद्ध ने इस भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए यह उचित समझा कि इन देवताओं की कल्पना को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया जाए। क्योंकि ईश्वर के इस प्रकार के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण निष्कर्मण्यता, अनुत्तरदायिता रूपी दुर्गुणों को प्रोत्साहन मिलता है। उनका यह भी विचार था कि ईश्वर को स्रष्टा मानने पर उसे पाप एवं पुण्य दोनों का स्रष्टा मानना पड़ेगा। यह भावना कि ईश्वर पापी को भी क्षणमात्र में महात्मा बना सकता है। इन सब विवादों से बचने के लिए बुद्ध ने अपने उपदेश का इसी संसार तक सीमित रखना उचित समझा। महात्मा बुद्ध की छोटी-छोटी नैतिक शिक्षायें बहुदेवतावाद के आडम्बर को ध्वस्त करने में सफल सिद्ध हुई।

---

५४२. भारतीय दर्शन का इतिहास-डॉ० राधाकृष्णन् (अनुवाद)

कर्मवाद की गलत व्याख्या वाले सिद्धान्त का भी खण्डन किया गया। यद्यपि बुद्ध कहीं-कहीं पर इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की सत्ता को भी स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु संसार की व्याख्या में उनका कोई स्थान स्वीकार नहीं किया है। हमारे जीवन की निर्मात्री कार्य कोई दैवीय शक्ति नहीं है। मनुष्य अपने कर्मों से ही जन्म धारण करता है। कर्म के ही अनुसार माता-पिता मिलते हैं। (१) पौराणिक मत के देहधारी ईश्वर का भी बौद्ध दार्शनिक खण्डन करते हैं। विश्व संरचना के आदिकाल में भी समस्त प्राकृत विश्व का निर्माण कर्मों के अधिपति रूप शक्ति के द्वारा ही हुआ है। आचार्य मिलिन्द कर्म द्वारा निर्धारित जीवन चक्र की तुलना एक ऐसे चक्र से करता है जो अपनी ही परिधि में घूमता है, अथवा जिस प्रकार अण्डे से मुर्गी और मुर्गी से अण्डे का जन्म होता है, यह चक्र एक-दूसरे के ऊपर निर्भर करता है अर्थात् अन्योन्याश्रित है। आँख, कान, शरीर और आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आते हैं, और क्रम से फिर इन्हीं के फलस्वरूप आँख, कान, शरीर और आत्मा उत्पन्न होते हैं, जिनसे नया प्राणी उत्पन्न होता है। यही न्यायनिष्ठा अथवा औचित्य का निरन्तर स्थायी विधान है। हम इसके प्रवाह को नहीं बदल सकते। बुद्ध जो मुक्तिदाता से अधिक एक शिक्षक के रूप में हमारे सम्मुख अपने को प्रकट करते हैं, हमें सत्य का निरीक्षण करने में सहायता देते हैं वे ऐसे किसी संसार के स्रष्टा की कल्पना नहीं करते, जिसने युगों पूर्व इस संसार की श्रृंखला का प्रारम्भ किया हो। संसार के प्रवाह का कारण उनकी सम्मति में, स्वयं संसार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बुद्ध की दृष्टि में सृष्टि विद्या सम्बन्धी तर्क में कोई बल नहीं है।[५४४]

अनातपिण्डक के साथ वार्तालाप करते हुए बुद्ध ने यह स्पष्ट किया था कि यदि संसार को ईश्वर ने बनाया होता तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा उसका विनाश नहीं होना चाहिए था, न दुःख एवं विपत्ति ही होनी चाहिए थी। उचित अनुचित का भेद भी क्यों होना चाहिए यह देखते हुए कि शुद्ध अथवा अशुद्ध जो कुछ भी है, सब आता तो उसी ईश्वर से हैं। यदि दुःख और सुख एवं प्रेम और घृणा, जो सब प्राणीमात्र को व्यापते हैं, ये भी ईश्वर के ही कार्य हैं, तो उसे भी दुःख और सुख, प्रेम एवं घृणा व्यापनी चाहिए, और उस अवस्था में फिर वह पूर्ण कैसे रह सकता है? यदि ईश्वर ही कर्ता है, और सब प्राणियों

---

५४३. कर्मजं लोकवैचित्र्यम् अभिधर्म कोष, ४, १

५४४. अधिपति फल।

को मौनभाव से उस कर्ता की शक्ति के अधीन रहना है तो फिर धर्मकार्य करने से क्या लाभ? तब तो उचित एवं अनुचित सब एक समान होगें, क्योंकि सब कर्म उसी के बनाये हुए हैं और इसलिए उनके कर्ता की निगाह में भी एक समान ही माने जाने चाहिए। किन्तु यदि कहा जाये कि दुःख और शोक का कुछ अन्य कारण है तो ऐसी भी एक वस्तु हुई जिसका कारण ईश्वर नहीं है। बुद्ध के मत को साररूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि संसार न अच्छा है और न ही बुरा है, न तो हृदय विहीन है, न ही विवेक शून्य है। प्रकृति ऐसे किन्हीं नियमों का शासन स्वीकार नहीं करती है जो बाह्य से उसके ऊपर थोपे जाये। प्रकृति अपने कार्यों को स्वयं करती है।[५४५]

---

५४५. भारतीय दर्शन का इतिहास, डॉ०राधा कृष्णन् अनुवाद भाग–१, पृ० ४२०

षष्ठ अध्याय

जैनदर्शन

प्रमाणमीमांसा

जैनदर्शन में ज्ञान को स्वयं पर पदार्थ का प्रकाशक माना गया है। जैसे कि दीपक या सूर्य बाह्यपदार्थों को भी प्रकाशित करता है और स्वयं को भी प्रकाशित कराता है। उसी प्रकार ज्ञान बाह्यपदार्थों का प्रकाशक होने के साथ-साथ अपने आप का भी प्रकाशक होता है।[१]

ज्ञान का स्रोत

जीवन अनंत ज्ञान की शक्ति अपने अन्दर ही रखता है। किन्तु बाधाओं के रहते हुए सभी जीवो का ज्ञान न्यून तथा सीमित हो जाता है। जैनों के अनुसार ज्ञान की परिमितता कर्म जनित बाधाओं के कारण होती है। जिसके जीवन के ज्ञान में न्यूनता आ जाती है। इस तरह जीव की सर्वज्ञता समाप्त हो जाती है।

अन्य दर्शनों की भांति जैनदर्शन में भी ज्ञान के दो रूप बताये गये हैं– अपरोक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान। इन्हें क्रमशः अप्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान भी कहते हैं। साधारणतया ज्ञान अपरोक्ष होता है। किन्तु यह केवल अपेक्षाकृत अपरोक्ष है। अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद बताये गये हैं-व्यावहारिक अपरोक्ष तथा पारमार्थिक अपरोक्ष। इन्द्रियों या मन के द्वारा जो बाह्य तथा आभ्यान्तर विषयों का ज्ञान होता है इसे व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं।[२] पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान में आत्मा और ज्ञेय वस्तुओं का साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है। कर्म जनित बाधाओं के रहते

१.

२. (१) समीचीनः प्रवृत्ति-निवृत्ति रूपो व्यवहारः संव्यवहारः। (२) 'प्रमाण मीमांसा वृत्ति' में व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान की परिभाषा करते हुए इसे बोध इच्छा की पूर्ति करने वाला कर्म बताया है।

हुए पारमर्थिक अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। सब कर्मों का नाश होने पर इन सब बाधाओं का नाश हो पाता है तब हमें पारमर्थिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उमा स्वामी प्रभृति प्राचीन जैन दार्शनिकों के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान उसी को कहते हैं जो बिना किसी सहायता के हो।[३] हेमचन्द्र जैसे कहते हैं अन्य जैन दार्शनिकों ने साधारण इन्द्रिय ज्ञान को भी अपरोक्ष माना है। यही मत अन्यान्य पंडितों का भी है। पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के तीन भेद बताये हैं-अवधिः, मनः पर्याय तथा केवल।

अवधि ज्ञान

जब मनुष्य अपने कर्मों का पूर्णतः क्षय कर देता है तो वह पूर्ण ज्ञान शक्ति प्राप्त कर लेता है जिसमें वह दूरस्थ सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यों को भी जान लेता है। अर्थात् देश-काल की दूरी रहते हुए भी वस्तुओं का जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है उसे अवधि कहते हैं।[४]

मनः पर्याय

जब मुनष्य राग-द्वेष आदि समस्त मानसिक बाधाओं को दूर कर देता है तो उससे वह अन्य व्यक्तियों के वर्तमान तथा भूतकाल को ज्ञान सकता है। जैसे-टैली-पैथी में दूसरों के मन में प्रवेश कर लिया जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को मनः पर्याय कहते हैं।

केवल ज्ञान

जब ज्ञान के बाधक तत्त्व आत्मा से पूर्णतया दूर हो जाते हैं तब अन्ततः ज्ञान प्राप्त होता है। यह देश काल एवं विषय की सीमा से रहित सर्वज्ञता है। ये ज्ञान जो इन्द्रियों पर निर्भर नहीं है और जो केवल अनुभवगम्य ही है।

इसके अतिरिक्त दो प्रकार के परोक्ष ज्ञान हैं-मति एवं श्रुति।[५] मति ज्ञान साधारण ज्ञान है जो इन्द्रिय के प्रत्यक्ष सम्बन्ध द्वारा होता है इसके अन्तर्गत स्मृति संज्ञा अथवा पहचान अथवा प्रत्यभिज्ञा, और तर्क अथवा प्रत्यक्ष के आधार पर किया गया, आगमन अनुमान अभिनिबोध या अनुमान अथवा निगमन विधि का

---

३. इसके समर्थन में कहा गया है कि 'अक्ष' का अर्थ जीव है, इसका अर्थ इन्द्रिय नहीं, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है। (षड्दर्शनसमुच्चय) श्लोक-५५।

४. उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र-१/२९।

५. पंचास्तिकायासमयसारः, ४१।

अनुमान आदि ज्ञान आते हैं।[६] मति ज्ञान के तीन भेद किये जाते हैं-उपलब्धि अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान, भावना अथवा स्मृति और उपयोग अथवा अर्थ-ग्रहण। इन्द्रियों और मन के संयोग से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे मति ज्ञान कहते हैं।

त्रुति ज्ञान का अर्थ शब्द या आप्त प्रमाण से हैं। वह ज्ञान जो लक्षणों प्रतीकों अथवा शब्दों द्वारा हमें प्रप्त होता है, उसे श्रुति ज्ञान कहते हैं। श्रुति ज्ञान भी चार प्रकार का होता है उवलब्धि अथवा संसर्ग या साहचर्य, भावना अथवा ध्यान देना, उपयोग अथवा अर्थग्रहण और तन अथवा वस्तुओं के तात्पर्य के नाना पक्ष।[७]

ज्ञान के भेद
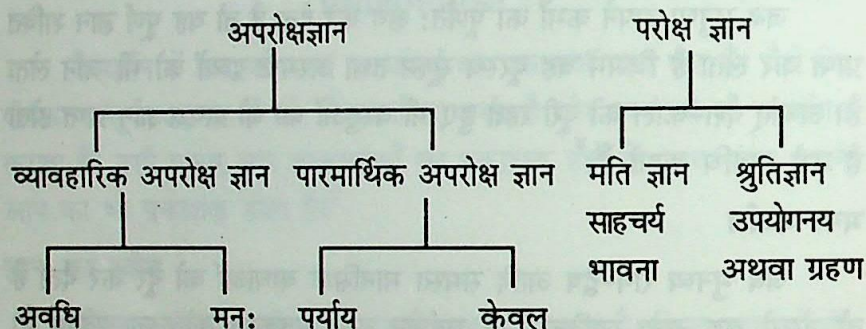
उपलब्धि → (१)भावना अथवा स्मृति (२) उपयोग अथवा अर्थग्रहण।

जैन दार्शनिकों के अनुसार मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान अवधि ज्ञान में भ्रम रहता है। किन्तु मनः पर्याय और केवल ज्ञान में केवल दोष नहीं रहता।

यथार्थ ज्ञान हमें प्रमेय पदार्थों का तदनुरूप साक्षात् कराता है और इसलिए वह क्रियात्मक रूप से उपयोगी है। लेकिन इसके विपरीत ज्ञान सदा विरोध के अधीन होता है, जबकि यथार्थ ज्ञान को विरोध का भय नही रहता है। भ्रम ज्ञान की विशेषता इसमें है कि उसमें संशय रहता है, मति एवं श्रुति दोनो पर प्रभाव रहता है, विपर्यय रहता है, अथवा सत्य का विरोधी जो अवधि में पाया जा सकता है, एवं अयथार्थ ज्ञान, जिसका कारण असावधानी एवं उदासीनता भी हो सकती हैं। आठ प्रकार के ज्ञान है, जिनमें तीन गलत है और पांच सही। एक समय में केवल एक ही ज्ञान सक्रिय रहता है।[८] दर्शन चार प्रकार का है-(१)दृष्टिगत

---

६. देखिये-पंचास्तिकायासमयसार, ४२।
७. उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र-१\३१ पृष्ठ पर देखें।
८. देखिये उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र-१\३०

संवेदनाओं द्वारा होने वाला (२)दृष्टि भिन्न संवेदनाओं द्वारा होने वाला, (३)असामान्य दृष्टि या अतीन्द्रिय पदार्थ के दर्शन शक्ति द्वारा होता है। (४)या केवल अथवा अनन्त बोध है जो सीमाओं से रहित है और जो सम्पूर्ण यथार्थ सत्ता को ग्रहण करता है।

चैतन्य जीवन का सारतत्त्व है, इसकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है-दर्शन और ज्ञान।[९] दर्शन एक साधारण बोध है, इसमें सूक्ष्म विवरण नहीं पाया जाता लेकिन ज्ञान धारणात्मक बोध है इसमें सूक्ष्म विवरण उपस्थित रहता है "वस्तुओं के सामान्य गुणों का वह बोध जिसमें विशेष गुणों का अभाव रहता है और सूक्ष्म विवरण का ग्रहण नही होता, दर्शन कहलाता है[१०] इसकी कई अवस्थाएं है:-

(I) **व्यञ्जनावग्रहः**-जिसमें चेतनावर्धन पदार्थ का प्रवाह इन्द्रियों के परिधिस्थ उपान्तों के ऊपर होता है और उसके द्वारा विषयी विषय के साथ विशेष सम्पर्क में आता है।

(II) **अर्थावग्रहः**-इसमें चेतना को उत्तेजना मिलती है और एक संवेदना का अनुभव होता है। इसमें व्यक्ति को विषय अर्थात् प्रमेय पदार्थों का ज्ञान मात्र होता है।

(III) **ईहाः**-इसमें मन प्रमेय विषय का विवरण जानने की इच्छा रखता है एवं इसके अन्य वस्तुओं के साथ सादृश्य और विभेद को जानने की इच्छा करता है।

(IV) **अवायः**-इसमें वर्तमान और भूतकाल की पुनः पुष्टि होती है और प्रमेय विषय की पहचान हो जाती है।

(V) **धारणाः**-इसमें हमें यह प्रतीत होता है कि संवेदनाएं पदार्थो के गुणों पर प्रकाश डालती है। इसका परिणाम[११] एक प्रकार से अनुभव होता है जिसके कारण ही हम आगे चलकर पदार्थ को स्मरण करने में समर्थ होते हैं। इसके विश्लेषण से पता चलता है कि पदार्थ मनोतीत यथार्थता रखता है।

जैन दार्शनिक बल पूर्वक कहते हैं चैतन्य से परे भी उसकी सत्ता है जिसका हमें इन्द्रियों द्वारा पता चलता है एवं बुद्धि उसे ग्रहण करती है।

९. देखिए माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह, ४१.
१०. देखिए माधवाचार्य कृत सर्वदर्शन संग्रह, ४३.
११. संस्कार।

प्रमाण का स्वरूप

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान के पांच प्रकारों को स्वीकार किया है-मति, श्रुति, अवधि, मनः पर्याय और केवल।[१२] इनमें से केवल पूर्ण व सवोत्कृष्ट ज्ञान है। शेष ज्ञान दोष युक्त अर्थात् आवरणात्मक ज्ञान है। किन्तु श्रुति ज्ञान ऐसा ज्ञान है जो केवल ज्ञान तक पहुँच सकता है। यह आगम तथा प्रमाणत्रय आदि के द्वारा केवल ज्ञानको प्राप्त हो सकता है। आगम से तो केवल सर्वश्रेष्ठ पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु आवरण युक्त पुरुष को आगम तक पहुँचने के लिए जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है वह है-प्रमाण व नय।

प्रमाण शब्द

1. जो प्रमा का करण है उसे प्रमाण कहते हैं।[१३]

2. प्रकर्ष रूप से संशय विपर्यय अनध्यवसायदोष रहित होकर वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रमाण है।[१४]

3. देवसूरि के अनुसार सवर, पर व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है।[१५]

4. माणिक्य के अनुसारः-"स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्"[१६] किन्तु विद्यानन्द ने माणिक्य नंदी से अलग रह कर प्रमाण का लक्षण किया है। उनके अनुसार-

"तपस्वार्थ व्यवसायात्मज्ञानं मानमितयीता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्।।"[१७]

किन्तु आचार्य उभयदेव ने विद्यानानद के 'व्यवसाय' शब्द के स्थान पर 'निर्णीत' शब्द का प्रयोग किया है।

प्रमाणों की संख्या

प्रमाणों की संख्या के विषय में दार्शनिकों का मत भिन्न-भिन्न है। जैन परम्परा में ज्ञान प्राप्ति के लिए दो प्रकार का विभाग किया है-आगामिक

---

१२. उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र-१\९ सर्वदर्शन संग्रह-५.

१३. "प्रमायाः करणं प्रमाणम्।"

१४. "प्रकर्षण-संशयादित्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते शयते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।" प्रमाण तत्त्व०

१५. देखए-प्रमाषन-१\२.

१६. देखिए-परी-१\१

१७. तत्वार्थ श्लोक-१. १०. ७७ प्रमाण पत्र पृष्ठ-५३.

विभागाश्रित और दूसरी तार्किक विभागाश्रित जिसमें मति व श्रुत आदि के रूप में जिस प्रमाण की चर्चा है वह है परोक्ष प्रमाण जिसे ही आगामिकविभागाश्रित कहते हैं तथा जिसमें अवधि मनः पर्याय और केवल आदि ज्ञान की चर्चा है वह तार्किक विभागाश्रित जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी कहा जाता है।[१८]

ऐसा भी कहा जाता है-कि विज्ञान अपना तथा दूसरों का प्रकाशक है, किसी भी बाधा से मुक्त होने पर यह प्रमाण माना जाता है। ज्ञेय वस्तुओं का विनिश्चय दो प्रकार से होता है, इसलिए विज्ञान भी दो तरह का है-प्रत्यक्ष और परोक्ष किन्तु इन सब का विस्तार पूर्वक भेद उन्ही आगमों से ही समझना चाहिए।[१९]

जैन परम्परा में प्राचीनतम तो केवल परोक्ष प्रमाण ही है[२०] सबसे पहले आर्यरक्षित ने जो जन्म से ब्राह्मण थे, और वैदिक शास्त्रों के पूर्ण ज्ञान के उपरान्त अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वार[२१] में प्रत्यक्ष, उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र[२२] में प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रमाण द्वय विभाग का निर्देश दिया है। आर्य रक्षित ने प्रत्यक्ष अनुमान आदि रूप से चतुर्विध प्रमाण विभाग दर्शाते हुए प्रत्यक्ष के परिप्रेक्ष्य में इन्द्रिय प्रत्यक्ष रूप मतिज्ञान का और आगम प्रमाण के वर्णन में श्रुतज्ञान का स्पष्ट समावेश है। फिर भी जैन आचार्यों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों को भी जैन परम्परा मानती है या नहीं। अगर मानती है तो उसकी स्वतन्त्र रूप से व्याख्या क्यों नही की जाती? जिसका उत्तर सर्वप्रथम उमास्वाति ने अपने ग्रन्थ 'तत्त्वार्थ सूत्र' में प्रकट किया, कि वे अनुमानादि दर्शनान्तरीय सभी प्रमाण परोक्ष प्रमाण में ही अन्तर्भूत हैं। जिसका पूज्यपाद ने भी अनुसरण किया।[२३] जैन विचार धारा के अनुसार प्रमाण के इन दो भेदों (प्रत्यक्ष व परोक्ष) में प्रमाण के सभी भेदों का समावेश होता है।

---

१८. उमास्वाति के तत्त्वार्थ सूत्र-१, ११-१२.

१९. विज्ञानं त्वपराभासि प्रमाणं बाधवर्जितम्। प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा ज्ञेयं विनिश्चयात्।।इति।। (सर्वदर्शन३\२०.

२०. प्रमाणं द्विधा सामान्य लक्षणसत्रे प्रमाणग्रहणं.....प्रतिक्षिप्ताः।। प्रमाण मीमांसा-९।।

२१. तथाहि प्रमाणं द्वैविध्यं किं तथा यथाहु सौगताः "प्रत्यक्षमनुमानं" च इति। प्रमाण सं०-१. २. (न्याय वि०- १. ३.)

२२. सर्वार्थ सिद्धान्त-१. १२.

२३. प्रत्यक्षं परोक्षं च अश्नुते अक्ष्णोति वा व्याप्नोति सकल द्रव्यक्षेत्रकालभानिति अक्षो जीवः अश्नुते....प्रवृत्रस्य तद्विपर्ययक्षोत्पत्तेः। (हेमचन्द्रकृत प्रमाण मीमांसा-१०.

ज्ञान के विभाग (प्रमाण):–

परोक्ष[२४]	प्रत्यक्ष[२५]
स्मृति	संव्यावहारिक[२६]
प्रत्यभिज्ञान	प्रत्यक्ष प्रमाण
तर्क ज्ञान	पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण
अनुमान प्रमाण	इन्द्रिय प्रत्यक्ष,-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष
आगम प्रमाण	विकल प्रत्यक्ष
	–अवधि
	–मनः पर्याय
	–केवल

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दोनो में ही प्रमाण के सभी भेदो का समावेश हो जाता है। प्रत्यक्ष का अपने पदार्थों के साथ अव्यवहित साक्षात् सम्बन्ध होता है जैन आचार्यों ने प्रत्यक्ष के भेद माने हैं-इन्द्रिय प्रत्यक्ष और आत्म प्रत्यक्ष।

आत्म प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद बताये गए हैं सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष को पुनः अवधि और मनः पर्याय दो रूपों में माना है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष (मतिज्ञान) के चार भेद हैं-अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। जैसा कि उस सारिणी से भी पूर्णतः स्पष्ट है:–

प्रत्यक्ष

---
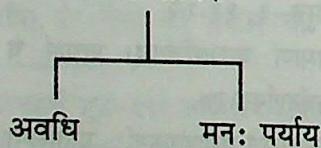
२४. अस्पष्टं परोक्षम् (प्रमाणनयतत्त्वालोक–३ék१.

२५. विशदः प्रत्यक्षम् (प्रमाण मीमांसा–१ék१ék३३.

२६. समीचीना प्रवृत्तिः निवृत्तिरूपो व्यवहारः (प्रमाण मीमांसा वृत्ति)

आत्म प्रत्यक्षः–

बिना किसी प्रमाण की सहायता के जब आत्मा को पदार्थ का जो साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है तब वह आत्म प्रत्यक्ष होता है।

(i) **सकल प्रत्यक्ष** :–सम्यक् चरित्र के द्वारा ज्ञान के सभी आवरणो के विनाश के बाद जिस शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है वहीं ज्ञान सकल या केवल प्रत्यक्ष है।[२७]

(ii) **विकल प्रत्यक्ष** :–(क) **अवधि** :–जो ज्ञान सम्यक् दर्शन आदि गुणें से उत्पन्न क्षय का कारण हो और साथ ही विषयों में व्याप्त है वह ही अवधि है।[२८]

(ख) **मनः पर्याय** :–ज्ञान के आवरण के रूप में जो इत्यादि अन्तराय हैं उनके क्षय हो जाने पर दूसरों के मन की बात को स्पष्ट करने वाला प्रत्यक्ष मनः पर्याय होता है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष :–

इन्द्रिय और मन की सहायता उत्पन्न ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है। इससे चार भेदों (अवग्रह, ईहा, अवाय तथा धारणा) के अतिरिक्त श्रुत ज्ञानी उत्पन्न होता है। इसे ही न्याय दर्शन में 'निर्विकल्पक' माना गया है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने पर भी यह इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय नहीं है।[२९]

"यह स्त्री है 'यह प्रत्यक्ष' अवग्रह' है यह पूर्व की है या पश्चिम की इसके संशय के बाद 'यह पूर्व की है' यह 'ईहा' है,[३०] किन्तु यह केवल संशय है पूर्ण निश्चित नहीं। फिर भाषा आदि के आधार पर है-किन्तु टीकाकारों ने इसे अधिक महत्त्वं नहीं दिया वे सिद्धान्त इन्हें हेतु दोषों में नहीं सम्मिलित मानते हैं। महर्षि गौतम नें भी उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है। इसलिए गणेश ने पक्षाभास का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया है।

---

२७. तपः क्रियाविशेषान्यदर्थ संबन्ते तपस्विनः तज्ज्ञान मनज्ञानासंसृष्टं केवलम्।

२८. सम्यग्दर्शनादि गुणजानि क्षयोपशमनिमित्तमवच्छिन्नविषयं ज्ञानमवधिः। ईर्ष्यान्नतराय ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति परमनोगतस्यार्थस्य स्फुटं परिच्छेदं ज्ञानं मनः पर्यायः।।

२९. अधस्तात् बहुतर विषयाग्रहणात् अवधिः। सर्वदर्शन संग्रह–पृ० ११९-१२०.

३०. ज्ञानावरणक्षयोपशमे सति इन्द्रियमनसी पुरस्कृत्य व्यापततः सन्ययार्थं मनुते सा मतिः। ज्ञानावरण क्षयोपशमे सति मति जनित स्पष्ट ज्ञानं श्रुतम्। सर्वदर्शन संग्रह–पृ० ११९.

अनुमान :–अनुमान का स्वरूप :–प्राचीन जैनदर्शन में अनुमान के लिए "अभिनिबोध" शब्द का प्रयोग किया है। "तत्त्वार्थे श्लोक वार्तिक" में आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं।[३१] साध्य विषयक निश्चय जो की हेतु के द्वारा इन्द्रिय के बिना उत्पन्न होता है उसे अभिनिवोध कहते हैं, इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं कि साध्य के साथ अविनाभाव रखने वाले हेतु से जिस शब्द, सिषाधयिषित तथा असिद्धि साध्य का ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं।

षट् खण्डागम सूत्र के व्याख्याकार वीरसेन[३२] ने अभिनिबोध का मतिज्ञान सामान्य अर्थ किया है। षट्खण्डागम[३३] में श्रुतज्ञान में ४१ पर्याय शब्द बतलाये गये हैं जिनमें एक हेतुवाद शब्द भी है इस हेतुवाद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए आचार्य बोरके कहते हैं "हिनोति गमयति परिच्छितम्। अर्थमात्मानं चेति प्रमाणपञ्चकं वा"। तात्पर्य यह है कि जो स्वयं को तथा अन्यार्थ को प्रस्तुत करता है अथवा पांचवे प्रमाण के रूप में संगृहीत है उसे हेतु कहा जाता है वह हेतु जिसके द्वारा कहा जाता है वह है हेतुवाद अर्थात् श्रुतज्ञान।

आगम में श्रुतज्ञान के दो भेद :–

(1) शब्द लिङ्गज।

(2) अशब्द लिङ्गज।

अशब्द लिङ्गज श्रुतज्ञान ही अनुमान है जिसका उदाहरण है धूम के द्वारा अग्नि का ज्ञान।

आचार्य सिद्धसेन[३४] के अनुसार साध्य के अविनाभावी लिङ्ग द्वारा, साध्य का जो निश्चयात्मक तथा अभ्रान्त ज्ञान है उसे अनुमान कहा जाता है। इसी लक्षण का अनुसरण करते अकलक ने लधीयत्रयी तथा न्याय विनिश्चय में अनुमान की परिभाषा दी है कि साध्याबिनाभूत लिङ्ग के द्वारा जो साध्य का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अनुमान कहते हैं तथा हान उपादान आदि अनुमान के फल है।

इस प्रकार, जैन मत में साध्य विज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। वहीं अनुमिति

---

३१. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक–१–१३–१२०।

३२. षट्खण्डागम सू० धवला० मतिज्ञान प्रकरण।

३३. षट् खण्डागम सू० धवला० टीकाश्रुत प्रकरण।

३४. न्याय वार्तिक–१२.

रूप फल का कारण है। जैन तार्किकों के अनुसार प्रमाण के भी दो प्रकार के फल होते हैं साक्षात् और परम्परागत यह प्रमेय के निश्चय के पश्चात् होते हैं।[३५] प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं किन्तु जैन तार्किक फल को प्रमाण से भिन्न तथा अभिन्न दोनों मानते हैं।[३६]

अनुमानके अङ्ग :–

व्याप्ति :–अन्य तार्किकों के समान जैन भी अनुमान का मुख्य आधार व्याप्ति को मानते हैं। व्याप्ति शब्दव्युत्पत्ति के आधार पर वि+आप्ति के योग से निष्पन्न होता है : जिसका अर्थ विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध।

आचार्य माणिक्यनन्दी[३७] ने व्याप्ति स्वरूप इस प्रकार उपस्थित किया है "इस वस्तु के रहने पर यह वस्तु रहती है न रहने पर नही रहती है, जैसे अग्नि के रहने पर ही धूम रहता है। अग्नि के न रहने पर नहीं रहता है।" इससे स्पष्ट है कि आचार्य अन्वय और व्यतिरेक को ही व्याप्ति का आधार मानते हैं।

प्रमेश रत्नमालाकार[३८] ने भी तर्क को ही व्याप्ति ग्राहक सिद्धकिया है। माणिक्यनन्दी[३९] ने तर्क का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है उपलब्धि के निमित्त से जो व्याप्ति ज्ञान होता है, उसे तर्क कहा जाता है जैसे-साध्य अग्नि के होने पर धूम का होना उपलब्धि है अग्नि के न होने पर धूम का न होना। इस उपलब्धि व अनुपलब्धि पर व्याप्ति का ज्ञान ही तर्क है।

आचार्य हेमचन्द्र[४०] ने आचार्य माण्क्यिनन्दी की तरह ही अविनाभाव को व्याप्ति स्वीकार किया है। आचार्य विद्यानन्द ने भी तर्क को ही अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्राहक माना है।

व्याप्ति के भेद

I. अन्वय,

II. व्यतिरेक व्याप्ति।

---

३५. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तथा हानोपदानोपेक्षाबुद्धयः फलम्।। वा०भा०–१. १. ३.

३६. प्रमाणात् फलं कथञ्चिद् भिन्नमभिन्नं चेति जैशः। प्र०र०भा०ति० १. ४. १३.

३७. परीक्षामुख सूत्र–३१२

३८. प०र० माला–३-१२ पृ०

३९. तर्कातन्निर्णय प०मु०मू०–३. १५ र० माला–पृ० १४७.

४०. पम्र०र०भा०, पृ० १४८.

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याप्ति के दो रूप प्रदर्शित किये हैं प्रथम रूप से आयोग व्यवच्छेद रूप से व्याप्ति की प्रतीति होती है। दूसरे रूप में अन्ययोग व्यवच्छेद रूप से व्याप्ति की प्रतीति होती है। व्याप्ति के ये दो रूप अन्य किसी भी जैन तर्क शास्त्री ने स्वीकार नहीं किये हैं।

प्रभाचन्द्राचार्य[४१] ने व्याप्ति के तीन भेदों का उल्लेख किया है, बहि व्याप्ति, साकल्य व्याप्ति और अन्तव्याप्ति आचार्य माणिक्य नन्दी का अनुसरण करते हुए आचार्य प्रभाचनद्र[४२] तथा लधु अनन्ववीर्य[४३] ने व्याप्ति के सहभाव नियम और क्रम भाव नियम के रूप में दो भेद स्वीकार किये हैं।

हेतु का स्वरूप

जैन तार्किकों ने हेतु का एक ही स्वरूप अन्यथानुत्पन्नत्व अविनाभावित्व माना है। पात्रस्वामी के मत को उपस्थित करते हुए आचार्य शान्तिरक्षित तत्त्वसंग्रह में कहते हैं। अन्यथानुपपन्नत्व की हेतु का ठीक लक्षण है। अन्यथानुपपन्नन्व के बिना हेतु की त्रिरूपता या पञ्चरूपोपपन्नता व्यर्थ है, 'स श्यामो मैत्रीतनयत्वात्' आदि हेतु में त्रिरूपता होने पर भी वह गमन नहीं होता है। समन्तभद्र मत में "जैन तर्क शास्त्र के इतिहास में समन्तभद्र ने सबसे पहले हेतु का स्वरूप प्रदर्शित किया है।" पात्रस्वामी से लेकर चारुकीर्ति तक सभी जैन तार्किकों ने इसी लक्षण का समर्थन किया है।

हेतु के भेद

जैन तर्क शास्त्र की परम्परा में हेतुओं का कई प्रकार से वर्णन किया गया है। पात्रस्वामी[४४] ने अन्यथानुपूर्वक आधार पर एक ही प्रकार का हेतु बतलाया है। षट्खण्डागम के व्याख्याकार वीससेन ने हेतु के दो भेद कहे हैं–१. साधन हेतु, २. दूषित हेतु।

स्थानाङ्ग सूत्र में हेतु का चार प्रकार से विभाजन किया गया है :–

१. विधि–विधि, २. निषेध–निषेध, ३. विधि–निषेध, ४. निषेध–विधि।

आचार्य अकलङ्क ने मूलरूप से हेतु के दो भेद स्वीकार किये हैं :–उपलब्धि और अनुपलब्धि। उपलब्धि के भी छः भेद किये हैं:–१. स्वभाव, २. स्वभाव

४१. तर्कान्त निर्णायः प०मु०सू० ३–१५ र०मा०पृ० १४७.
४२. प्र०मी०अनु०प्र०
४३. प्रा०क०मा० ३१५ पृ० ३३४.
४४. तत्त्व संग्रह–१३६३ पृ० ४९५.

कार्य, ३. स्वभाव कारण ४. सहचर, ५. सहचर कार्य और ६. उत्तर चरकारण सिद्धिविनिश्चय[४५] के अनुसार उपलब्धि हेतु के छः भेद इस प्रकार हैं :-१. स्वभाव, २. कार्य, ३. कारण, ४. सहचर ५. पूर्वचर ६. उत्तरचर।[४६]

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने हेतु को अन्ययानुपपत्ति के आधार पर प्रकारों में विभाजित किया है।

आचार्य अकलङ्क के अर्थ का अनुसरण करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी[४७] ने भी हेतु मे मूल भेद स्वीकार किये हैं:-उपलब्धि और अनुपलब्धि। इन दोनों के इन्होंने दो-दो भेद स्वीकार किये हैं।

उपलब्धि	अनुपलब्धि
अविरुद्धोपलब्धि	अविरुद्धानुपलब्धि
विरुद्धोपलब्धि	विरुद्धानुपलब्धि

अविरुद्धोपलब्धि[४८] तथा विरुद्धोपलब्धि के भी माणिक्यनन्दी ने छः-छः भेद किये हैं:-

अविरुद्धोपलब्धि :-१. व्याप्य, २. कार्य, ३. कारण, ४. पूर्वचर, ५. अउत्तरचर ६. सहचर।

विरुद्धोपलब्धि :-१. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध कार्य ३. विरुद्ध कारण, ४. विरुद्धपूर्वचर, ५. विरुद्ध उत्तरचर, ६. विरुद्ध सहचर।

इस प्रकार अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार के विभाजल किये हैं:-

१. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि २. व्यापकानुपलब्धि ३. कार्य अनुपलब्धि ४. कारणानुपलब्धि ५. पूर्वचरानुपलब्धि ६. उत्तरचरानुपलब्धि ७. सहचरानुपलब्धि।

इसी प्रकार विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद किये हैं:-

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि २. विरुद्ध कारणानुपलब्धि ३. विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि इसलिए आचार्य माणिक्यनन्दी ने हेतु के भेदों को ६+६+७+३=२२ मान्यता दी हैं।

---

४५. धवल टीका

४६. स्थानाङ्ग सूत्र

४७. प्रमाणात् फलं कथञ्चिद् भिन्नमभिन्नं चेति जैसः। प्र०र०भा०टि०-१. ४. १३.

४८. अविरुद्धोपलब्धि विधौषोढ़ा-व्याप्य कार्यकारण पूर्वापरसहचरभेदात्।। परीक्षा भु०सू० ३/५५

साध्यस्वरूप :–

जैन न्याय परम्परा में आचार्य सिद्धसेन[४९] दिवाकर ने साध्य का लक्षण इस प्रकार किया है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न होने वाला साध्य जैसे अग्नि पर्वत में प्रत्यक्ष बाधित नहीं हैं, आचार्य अकलङ्क ने अभिप्रेत और अप्रसिद्ध ये दो और विशेषण दिये हैं।" जिनके अनुसार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अभिराकृत जो वादी को अभिप्रेत हो तथा जो अनिश्चित "अप्रसिद्ध" हो वह साध्य है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[५०] ने भी अकलङ्क के समान ही तीन विशेषण इष्ट अवाधित तथा असिद्ध लगाकर साध्य का लक्षण किया है जो इष्ट अवाधित तथा असिद्ध हो वह साध्य है।[५१]

अपने लक्षणोक्त पदों की सार्थकता को व्यक्त करते हुए आचार्य ने कहा है[५२] कि सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थों के संग्रह के लिए लक्षण में असिद्ध पद का प्रयोग किया है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दी[५३] कहते हैं कि असिद्ध यह विशेष प्रतिवादी की अपेक्षा से प्रयुक्त है। प्रतिवादी जो असिद्ध है उसी को वादी हेतु के द्वारा सिद्ध करता है। इष्ट यह विशेषण वादी के लिए है, क्योंकि वादी के लिए जो इष्ट है वह साध्य है।

साध्य शब्द का प्रयोग आचार्य वात्स्यायन के समान ही आचार्य माणिक्यनन्दी ने भी पक्ष साध्य दो अर्थों में किया है। साध्य कभी धर्म नहीं होता है कभी साध्य विशिष्ट धर्म।

साध्य पक्ष भेद :–

१. विकल्पसिद्ध २. यह सर्वज्ञ है क्योंकि सुनिश्चित असम्भावना के बाधक प्रमाण है। शश विषाण "खरगोश के श्रृङ्ग" नहीं क्योंकि उनका अभाव है। इन दोनों अनुमानों में पक्ष सर्वज्ञ और खरगोश के श्रृंग विकल्प अर्थात् शब्द प्रयोग द्वारा सत्ता और असत्ता दोनों की सिद्धि की गई है।

---

४९. साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाद्यनिराकृतः। न्या०व०का० १४ पृ० २।
५०. साध्यं शक्यमभिप्रेतसिद्धम्। न्या०वि०का०–१०२ पृ० ५३।
५१. इष्टमवाधितमसिद्धं साध्यम्। प०सू० ३/२० प्र०क०मा०पृ० २३९
५२. परीक्षा सू०–३/२२ प्र०क०मा०पृ० ३७०।
५३. विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्त्वेतरे साध्ये। प०मु०सू०–३/२४ न्या०सू०पृ० १५५.

२. **प्रत्यक्षसिद्ध**[५४] **:**–"पर्वतो अग्निमान् धूमात्" यहाँ साध्य विशिष्ट धर्मी पर्वत प्रत्यक्ष सिद्ध है।

३. **उभय सिद्ध :**–शब्द परिणामी है इस अनुमान में पक्ष प्रत्यक्ष तथा विकल्प दोनों के द्वारा सिद्ध होने से यह उभयसिद्ध है। देश कालान्तरित ध्वनि में प्रत्यक्ष की उपयोगगिता नहीं हैं। वह विकल्प के द्वारा ही सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष सिद्ध और उभयसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मी साध्य धर्म से विशिष्टता अर्थात् संयुक्त की साध्य संज्ञा होती है।

अनुमान के भेद :–

जैन परम्परा में अनुयोगद्वार[५५] सूत्र में अनुमान के तीन भेद किये हैं।:–

१. पूर्ववत् २. शेषवत् ३. दृष्टसाधर्म्यवत्।

प्रथम दो भेद प्राचीन न्याय,[५६] साख्य,[५७] चरक[५८] आदि द्वारा जो स्वीकार किये गए हैं वहीं हैं। तृतीय उनसे भिन्न है। प्राच्य न्याय एवं सांख्य में उसे सामान्य-तोदृष्ट कहा है। जबकि अनुयोग द्वारा सूत्र उसे दृष्टसाधर्म्यवत् कहते हैं। परन्तु जैन तार्किकों ने अनुयोग द्वारा सूत्र अनुमान के तीनो भेदों को प्रश्रय न देकर आचार्य प्रशस्तपाद एवं आचार्य दिङ्नाग द्वारा प्रतिपादित अनुमान के दो ही भेद स्वार्थानुमान और परार्थानुमान को भी अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है।

१. **प्रर्ववत् अनुमान :**–इसअनुमान की व्याख्या अनुयोग सूत्र में इस प्रकार की है-"पूर्व परिचित किसी लिङ्ग के द्वारा पूर्व परिचित वस्तु का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है।" जबकि आचार्य वात्स्यायन माठर ने "कार्य से कारण के अनुमान को पूर्ववत् कहा है।"

२. **शेषवत् अनुमान :**–कारण से कार्य का अनुमान शेषवत् अनुमान कहलाता है। अनुयोगद्वार सूत्र[५९] में शेषवत् अनुमान के पांच प्रकार बताये हैं:–

१. कार्येण २. कारणेन ३. गुणेन ४. अवयवेन ५. आश्रयेण।

---

५४. प्रमाणोभयसिद्धे साध्यधर्मविशिष्टतम्। अग्निमानयदेशः परिणामी शब्द इति तथा। न्या०मु०सू० ६/२६-२७ न्या०र०पृ० १५९

५५. प्रस्तावना–न्यायावतान वार्तिकवृत्त स० दलसुख भा०भा०वि०सं०–२००५ पृ० ७१.

५६. तत् त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च–न्या०सू०–१. १. ५.

५७. त्रिविधम् अनुमानमाख्यातम्–सां०का०–५.

५८. चरकसंहिता अध्याय।। श्लोक–२१. २२.

५९. प्रस्तावना–न्या०वा०वा०पृ० सं०–दलसुख भा०भा०वि०भ० संवत्–२००५.

कार्येण :–कार्य से कारण का अनुमान "कार्येण" कहलाता है। जैसे शब्द से शंख का।

कारणेन :–कारण से कार्य के अनुमान को 'कारणेन' कहते हैं। जैसे-तन्तु से पट का।

गुणेन :–गुण से गुणी का अनुमान, गुणेन होता है, जैसे-निकष से सुवर्णका।

अवयवेन :– अवयव से अवयवी का अनुमान अवयवेन होता है। जैसे सींग से महिषी का।

आश्रयेण :–आश्रित वस्तु से अनुमान आश्रयेण कहलाता है जैसे-धूम से अग्नि का।

न्याय भाष्य[६०] में मतान्तर से परिशेषानुमान को ही शेषवत् कहा गया है जबकि अनुयोग सूत्र में इसको शेषवत् से भिन्न रखा है।

३. **दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान :**–अनुयोगद्वार सूत्र में दृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान के दो भेद किये हैं-१. सामान्य दृष्ट और २. विशेषदृष्ट।

I. सामान्यदृष्टनुमान :–

किसी एक वस्तु को देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओं का साधर्म्यज्ञान करना या अनेक वस्तुओं को देखकर किसी विशेष में तत्साधर्म्य का ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमान है। उदाहरण जैसा एक फूल है वैसे ही अनेक फूल है या अनेक फूल जैसे हैं वैसा ही एक फूल है।

II. विशेषदृष्ट साधर्म्यवत् अनुमानः–

जो अनेक वस्तुओं में से किसी एक को पृथक् करके किसी वस्तु का परिज्ञान करना ही विशेष दृष्ट साधर्म्यवत् अनुमान कहलाता है। उदाहरण-जैसे अनेक फूल है वैसे ही एक फूल है। फूल समुदाय में किसी एक फूल की पहचान करना (जैसे-गुलाब) कि यह गुलाब है। यही विशेषदृष्ट है।

कालभेद के आधार पर आर्यरक्षित ने भी अनुमान के तीन भेद किये हैंः–

(i) अतीतकाल ग्रहण

(ii) प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण

(iii) अनागत काल ग्रहण

---

६०. वात्स्यायन भाष्य, पृ० १. १. ५.

(i) **अतीत काल ग्रहण** :–उत्तमवनः निष्पन्नसस्या, पृथिवी, जलपूर्ण तडागसार नदी इत्यादि को देखकर यह अनुमान लगाया जायें कि सुवृष्टि हुई है तो वह अतीत काल ग्रहण अनुमान है।

(ii) **प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण** :–भिक्षाचर्या में प्रचुर भिक्षा मिलती देखकर सिद्ध किये जाए कि सुभिक्षु है तो वह प्रत्युत्पन्न काल ग्रहण अनुमान कहलाता है।

(iii) **अनागत काल ग्रहण** :–बादल की निर्मलता कृष्ण पहाड़ मेघ, या कोई उत्पाद देखकर सिद्ध किया जाये कि सुवृष्टि होगी तो इसे अनागत कालग्रहण अनुमान कहते हैं। कालभेद के अनुमान का वर्णन चरक में मिलता है।

आचार्य सिद्धसेन[६१] ने तो अनुमान के दो भेद स्वार्थ और परार्थ माने हैं-उनके अनुसार स्वनिश्चय के समान दूसरों को निश्चय कराने वाले अनुमान को तार्किकों ने परार्थानुमान कहा है। साध्याविनाभावी हेतु का प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उन्हे परार्थानुमान कहा जाता हैं।

आचार्य देव ने भी अनुमान के स्वार्थ और परार्थ दो भेद किये हैं।[६२] उनके अनुसार हेतु का ज्ञान तथा "व्याप्ति" सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान स्वार्थानुमान है तथा पक्ष और हेतु का कथन करने वाला वचन उपचार से परर्थानुमान है।

आचार्य हेमचन्द्र ने परार्थानुमान के भी दो भेद किये हैं, तथोपपत्तिमूलक अनुमान और अन्यथा उत्पत्ति मूलक अनुमान। आचार्य मणिक्यनन्दी[६३] और उनके व्याख्याकार प्रभाचन्द्र[६४] अनन्तवीर्य आदि ने परार्थानुमान को दो प्रकार का न मानकर हेतु प्रयोग को ही दो प्रकार का माना है।

---

६१. प्रत्यक्षेणानुमानेन प्रसिद्धाप्रकाशनात्। यत्सत्यं सदुपायत्वात् परार्थत्वं द्वयोरवि।। न्या०व०का०, पृ० २

६२. अनमानं हिद्विविधं स्वार्थं परार्थं चेति तत्र हेतुग्रहण सम्बन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमीतिः पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थानुमानमुपदर्शितमिति। प्रमाण न्या०तत्त्व० ३/९, पृ० १०

६३. स्वार्थनिश्चतसाध्याविनाभावैलक्षणात् साधनासाध्यज्ञानम्।
प्रमाण मी० हेमचन्द्र–१/२/८-९

६४. परीक्षामुख सूत्र–३/५३ न्या०र०मा०, पृ० १७७

आचार्य प्रभाचन्द्र[६५] और अनन्तवीर्य ने भी माणिक्यनन्दी का समर्थन करते हुए अनुमान का द्वैविध्य स्वीकार किया है।

स्वार्थानुमान के अंग :-

आचार्य धर्मभूषण ने स्वार्थानुमान के तीन अंग बललाये हैं-१. धर्मी २. साध्य ३. साधन। आचार्य माणिक्यनन्दी देवसूरि हेमचन्द्र आदि ने भी धर्मों अर्थात् पक्ष की प्रसिद्धि को आवश्यक माना है।

परार्थानुमान के अंग और अवयव :-

जैन न्याय परम्परा में आचार्य भद्रबाहु ने सर्वप्रथम अनुमान चर्चा के प्रसंग में न्यायावयवों की चर्चा की है। अवयवों की संख्या के विषय में भद्रबाहु ने २, ३, ५, १०, १० इस प्रकार भेद किये हैं।

आचार्य सिद्धसेन[६६] दिवाकर पहले जैन तार्किक है; जिन्होंने परार्थानुमान का विवेचन करते हुए, उसके पक्ष, प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवों का प्रतिपादन किया है।

आचार्य अकलङ्क[६७] ने पक्ष 'प्रतिज्ञा' और दो को ही परार्थानुमान का अंग माना है। दृष्टान्त को स्वीकार करके भी सर्वत्र उसकी उपयोगिता नहीं मानी है उसका कथन है कि दृष्टान्त सर्वत्र आवश्यक नहीं है अन्वय के द्वारा भी साध्य का साधन होता है।

आचार्य माणिक्यनन्दी[६८] का मत है कि उपनय और निगमन के बिना यदि केवल उदाहरण का प्रयोग किया जाए तो वह साध्यधर्म युक्त धर्मी में साध्य सिद्धि के लिए सन्देह उत्पन्न करा देता है, इसलिए उपनय व निगमन के प्रयोग की आवश्यकता होती है।

जैन तर्क भाषाकार योगविजय[६९] ने भी मन्दमतियों के लिए दृष्टान्त आदि

---

६५. उपचारनिमित्तं चास्य प्रतिपादकप्रतिपेक्षयानुकार्यकारणत्वम्।। प्र०क०मा०-३/५६, पृ० ३७९.

६६. परार्थानुमानं तत्पक्षादि वचनात्मकम्। न्या०व०का०-१३ पृ० २

६७. सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः। स दृष्यन्तः तदाभासाः साध्यादिविकल्पादयः।। न्या०वि०का० ३८०-८१

६८. म०मु०सू०-३/४०।

६९. मन्दमतिस्तु व्यत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोन्नेतुं यस्तु प्रतिबन्ध ग्राहिणः। प्रमाणस्य न स्मरति तं प्रति दृष्टान्तोऽपि जैनतर्क भाषा। प०परि०।

अवयवों का प्रयोग उपयोगी माना है। जो कि व्याप्ति युक्त हेतु का स्मरण नहीं कर सकते हैं, उनके लिए दृष्टान्त भी अनुमान का अवयव है।

दृष्टान्त भेद :–

"आचार्य सिद्धसेन दिवाकर" ने दृष्टान्त के दो भेद किये हैं-१. साधर्म्य दृष्टान्त २. वैधर्म्य दृष्टान्त।

साधर्म्यदृष्टान्त :–

जहाँ साध्य व साधन की व्याप्ति निश्चित की जाती है वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

वैधर्म्य दृष्टान्त :–

जहाँ साध्य के न रहने पर साधन की असम्भावना बतलाई जाती है उसे वैधर्म्य दृष्टान्त कहते हैं।

आचार्य माणिक्यनन्दी[७०] ने भी दृष्टान्त के दो भेद बतलाये हैं–

१. अन्वय और २. व्यतिरेक। अनन्तवीर्य ने दृष्टान्त शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि जहाँ पर साध्य और साधन लक्षण वाले दोनों धर्म अन्वय के बल से या व्यतिरेक के बल से देखे जाते हैं उसे दृष्टान्त कहते हैं।

उपनय और निगमन :–

जैन परम्परा में आचार्य माणिक्यनन्दी तथा उनके व्याख्याकारों के अनुसार हेतु का पक्ष धर्म के रूप में उपसंहार ही उपनय कहा है। उपनय शब्द की व्याख्या न्यायरत्नमाला की टिप्पणी में इस प्रकार दी है। "साध्याबिना भावित्वेन विशिष्टे-साध्यधर्मिणि उपनीयते पुनरूपचर्य ते हेतुर्येन स उपयनः" तात्पर्य यह है कि साध्य विशिष्ट धर्मी में साध्याविनाभावी हेतु का पुनरूच्चारण करना ही उपनय है तथा निगमन का लक्षण भी "हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्" के इस गौतमीय निगमन के लक्षण के समान ही प्रतिज्ञा का संहार निगमन है। निगमन शब्द की व्याख्या जैन दार्शनिक इस प्रकार करते हैं "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयः साध्य लक्षणैकार्यतया निगम्यन्ते सम्बध्यन्ते येन तन्निगमनम् "तात्पर्य यह है कि

---

७०. साध्य-साधनयोर्व्याप्तिर्निश्चीयतेतराम्। साधर्म्येण च दृष्टान्तः सम्बन्धस्मरणान्यतः।। साध्ये निवर्तमाने साधनस्याप्यसम्भवः। रव्याप्यते यत्र दृष्टान्ते वैघर्म्येणेति संस्मृतः।। न्या०व०का०–१८-१९, पृ० ३

साध्य धर्म विशिष्ट धूम वाली होने से यह पर्वत अग्नि वाला है इस प्रकार प्रतिज्ञा हेतु, उदा, उपनय को दुहराना ही निगमन है।[७१]

अनुमान के दोष :–

आचार्य सिद्धसेन ने अनुमान दोष के तीन भेद किये हैं–१. पक्षाभास २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास।

आचार्य माण्क्यि नन्दी[७२] ने अनुमान के चार दोष–पक्षाभास, हेत्वाभास, दृष्टान्ताभास, और बाल प्रयोगाभास कहे हैं।

पक्षाभास :–आचार्य सिद्धसेन ने पक्ष आभास के अनेक भेद स्वीकार किये हैं। प्रत्यक्षादि से अनिराकृत साध्याभ्युपगम को पक्ष कहा है इसलिए प्रत्यक्ष तथा लोक और स्ववचन से वाधित पक्षाभास अनेक प्रकार का है।

आचार्य दिङ्नाग के पक्ष लक्षण "साध्यत्वेनोक्षितः पक्षो विरुद्धार्थानिराकृतः" का प्रभाव आचार्य सिद्धसेन के पक्ष लक्षण में सिद्ध बाधित आदि सार्थकता को व्यक्त करते हैं।

आचार्य मणिक्यनन्दी के अनुसार बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है। क्योंकि पक्ष का लक्षण इष्ट अबाधित और असिद्ध कहा गया है। पक्षाभास के लक्षण में आये तीन विशेषणों के आधार पर पक्षाभास के तीन भेद किये हैं–१. अनिष्ट २. सिद्ध ३. बाधित।[७३] आचार्य माणिक्यनन्दी ने बाधित पक्षाभास के पाँच भेद किये हैं–(१) प्रत्यक्ष बाधित (२) अनुमान बाधित (३) आगम बाधित (४) लोक बाधित (५) स्ववचन बाधित।

(१) अनिष्ट पक्षाभास–मीमांसा के लिए शब्द अनित्य है। मीमांसक शब्द नित्यवादी होने से उसका शब्द में अनित्यता का साधन अनिष्ट है, इसलिए यह पक्षाभास है। गौतमीय नैयायिक इसे उपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान के अन्तर्गत रखते हैं।

(२) सिद्ध पक्षाभास–जो वस्तु सिद्ध है उसे हेतु प्रदर्शन से सिद्ध करने का प्रयास सिद्ध पक्षाभास का द्योतक है। जैसे शब्द श्रवणीय है।

---

७१. पक्षादि स्वरूप विप्रतिमन्तं प्रति च पक्षशुद्धयादिकम् धीति धीति सो च दशावयवो हेतुः पर्यवस्यति। जै०त०भा०प्र०परि०

७२. परीक्षामुख सूत्र–६/१२. २१. ४०. ४६।

७३. परीक्षामुख–सू० ६/१, १५.

(३) बाधित–(१) **प्रत्यक्ष-बाधित**–अग्नि अनुष्ण है क्योंकि वह द्रव्य है जैसे जल। इसमें अग्नि की अनुपलब्धता स्पर्शन प्रत्यक्ष से बाधित होता है। स्पर्शन प्रत्यक्ष से अग्नि उष्ण सिद्ध है। अतः यह प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास है।

(२) **अनुमान-बाधित**–शब्द अपरिणामी है क्योंकि वह कृतक है जैसे घड़ा। इस अनुमान प्रयोग में "शब्द परिणामी है" यह पक्ष कृतक हेतु से बाधित। जो कृतक होगा, वह अवश्य ही बाधित होगा।

(३) **आगम-बाधित**–धर्म परलोक में दुःख का जनक है, क्योंकि वह पुरुषाश्रित है जैसे अधर्म इस अनुमान प्रयोग में धर्म और अधर्म दोनों ही पुरुष पर आश्रित हैं तो भी आगम में धर्म को सुख का कारण बतलाया गया है। अतः यह आगम बाधित पक्षाभास है।

(४) **लोक बाधित**–मनुष्य के सिर का कपाल पवित्र है, क्योंकि वह प्राणी का अंग है इस अनुमान प्रयोग में नर कपाल जो कि लोक में अपवित्र माना गया है। शुचि सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। अतः यह लोक बाधित पक्षाभास है।

(५) **स्ववचन बाधित**–मेरी माता बन्ध्या है पुरुष संयोग होने पर भी गर्भ नहीं रहता। यहाँ पर मेरी माता कहकर उसे बन्ध्या कहना परस्पर विरोधी है। अतः यह स्ववचन-बाधित पक्षाभास है।

(२) दृष्टान्ताभास–

वैशेषिकों[७४] के निदर्शनाभास के प्रभाव में जिन दार्शनिकों ने दृष्टान्ताभासों को स्वीकार किया है। आचार्य सिद्धसेन ने दृष्टान्ताभासों को पहले दो भागों में बिभाजित किया है और फिर उनके छः-छः भेद किये हैं।

३. हेत्वाभास–जैन दार्शनिकों ने हेतु का एक ही लक्षण स्वीकार किया है, साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव। उसका अभाव होने पर वे हेतु को हेत्वाभास मानते हैं।[७५]

अनुमान प्रमाण में जो महत्त्व हेतु का है, वही हेत्वाभास का भी है। हेत्वाभास से होने वाला अनुमान सम्यक् नहीं होता। हेत्वाभास को न्यायदर्शन में

---

७४. साधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः। आयलक्षणहेतूत्थाः साध्यादि विकलादयः।। न्या०व०का० २४-२५, पृ० ३

७५. हेत्वाभासात्वमन्यथानुपपत्तिवैकल्यात्। न्या०वि०नि०–२. १९६, पृ० २२५.

गौतम ने षोडश पदार्थों में एक पदार्थ माना है तथा सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत नाम से पाँच प्रकार के हेत्वाभासों का प्रतिपादन किया है।[७६] वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद ने चार हेत्वाभासों का कथन किया है–असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (संदिग्ध) एवं अनध्यवसित।[७७] बौद्धदर्शन में शंकर स्वामी से लेकर मोक्षाकरगुप्त तक तीन प्रकार के हेत्वाभासों का निरूपण है–१. असिद्ध २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक।[७८] तीन प्रकार के हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए ही बौद्धदार्शनिकों ने हेतु में त्रैरूप्य (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व) स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति ने असिद्ध आदि हेत्वाभासों का न्यायविन्दु में विस्तृत निरूपण किया है।[७९] उनके अनुसार हेतु का पक्ष में होना असिद्ध या संदिग्ध होने पर असिद्ध हेत्वाभास होता है। जब हेतु का सपक्षसत्त्व एवं विपक्षासत्त्व असिद्ध या संदिग्ध हो तो वह विरुद्ध हेत्वाभास एवं सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व इन दोनों रूपों में से यदि एक असिद्ध हो और दूसरा संदिग्ध हो अथवा दोनों संदिग्ध हो तो वहाँ अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है।

जैनदर्शन में हेतु का अन्यथानुपपन्नत्व रूप एक लक्षण माना गया है, अतः उसके अभाव में एक ही हेत्वाभास होना चाहिए, किन्तु जैन दार्शनिकों ने अन्यथानुपपन्नत्व के अभाव से ही असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों को फलित कर लिया है। सिद्धसेन, वादिदेवसूरि आदि ने इन्हीं तीन हेत्वाभासों का निरूपण किया है।[८०] अकलङ्क ने मूलतः हेत्वाभास स्वीकार करते हुए भी उसके चार भेद फलित किये हैं।[८१] चौथा भेद अकिञ्चित्कर हेत्वाभास के रूप में प्रतिपादित है, शेष तीन भेदों में वे असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक (संदिग्ध)

---

७६. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।। न्यायसूत्र–१. २. ४.

७७. एतेनासिद्धविरुद्धसंदिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वम्। प्रश०भाष्य, हेत्वा०प्रक०, पृ० १८९.

७८. न्याय प्रवेश ३, तर्कभाषा (मोक्षाकर), पृ० २७-८८.

७९. द्रष्टव्य न्याबिन्दु–३. ५५-१२०.

८०. असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः। न्यायवातार–२३

८१. तस्य चैवविद्यत्वात् तदाभासानामप्येकविधत्वमेव प्राप्नोति। न्याय विनि० विवरण–२. १९९, पृ० २२५

का ही निरूपण करते हैं। अकलङ्क का अनुसरण कर माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र आदि ने भी ये चार प्रकार के हेत्वाभास निरूपित किये हैं।[८२] माणिक्यनन्दी ने जिस हेतु के पक्ष में सत्ता सिद्ध न हो अथवा जिसका पक्ष में रहना निश्चित न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहा है।[८३] साध्य से विपरीत के साथ जिस हेतु का अविनाभाव हो उसे विरुद्ध[८४] तथा जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहता हुआ विपक्ष में रहता हो उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहा है।[८५] साध्य के सिद्ध हो जाने पर अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से साध्य के बाधित होने पर वे हेतु को अकिञ्चित्कर हेत्वाभास कहते हैं।[८६] अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास का प्रतिपादन यद्यपि अकलङ्क की नवीन देन है, तथापि अकलङ्क स्वयं इसके प्रतिपादन में सुदृढ़ नहीं है। कभी वे विरुद्ध असिद्ध और अनैकान्तिक को अकिञ्चित्कर का विस्तार बतलाते हैं।[८७] तथा कभी अन्यथानुपपत्ति से रहित त्रिलक्षण को अकिञ्चित्कर कहते हैं।[८८] महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य का मत है कि अकलङ्क समस्त हेत्वाभासों को सामान्य से अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा देते हैं तथा अकिञ्चित्कर को स्वतन्त्र हेत्वाभास मानने का सुदृढ़ विचार नहीं रखते हैं।[८९]

इस प्रकार हेत्वाभासों की संख्या की दृष्टि से बौद्ध एवं जैनदर्शन में कोई मतभेद नहीं रह जाता है। दोनों दर्शनों में असिद्ध विरुद्ध एवं अनैकान्तिक भेद मान्य है। किन्तु इन हेत्वाभासों की पुष्टि में दिये गए उदाहरण एक दूसरे पर आक्षेप करते हैं। यथा बौद्धों ने असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण देते हुए कहा है—वृक्ष चेतन हैं, क्योंकि उनकी समस्त त्वचा को हटा देने पर उनकी मृत्यु हो जाती है, यह जैन दार्शनिकों द्वारा दिया गया हेतु प्रतिवादी बौद्धों के लिए असिद्ध

---

८२. हेत्वाभासा असिद्ध विरुद्धानैकान्तिकांचित्कराः। परीक्षामुख—६. २१२ प्रमेयकमलेमार्तण्ड—भाग—३, पृ० ५२५

८३. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः। परीक्षामुख—६, २२.

८४. विपरीतनिश्चताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। परीक्षामुख—६. २९. प्रमेय कमले मार्तण्ड भाग ३, पृ० ५२५।

८५. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिनैकान्तिकः। परीक्षामुख—६, ३०.

८६. सिद्धे प्रत्यक्षवाधिते च साध्ये हेतुर्किंचित्करः। परीक्षामुख—६, ३४.

८७. विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिंचित्करविस्तरैः। न्यायविनिः—२. १९७.

८८. न्यायविनिश्चय—२. २०२.

८९. अकलङ्क ग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पृ० ६३—६४.

है, क्योंकि वे विज्ञान, इन्द्रिय तथा आयु के निरोध होने को मृत्यु कहते हैं और वह मृत्यु वृक्षों में सम्भव नहीं हैं।[९०] जैन दार्शनिकों ने वृक्ष को सचेतन माना है, इसलिए उन्होंने बौद्ध मंतव्य को हेत्वाभास में रखा है, यथा वृक्ष अचेतन है, क्योंकि उनमें विज्ञान इन्द्रिय एवं आयु का निरोध रूप मरण नहीं पाया जाता। जैन दार्शनिकों ने इसे प्रतिवाद्यसिद्ध अथवा अन्यतरासिद्ध हेत्वाभास कहा है, क्योंकि यह जैन दार्शनिकों का इष्ट नहीं है।[९१]

असिद्ध, विरुद्ध एवं अनैकान्तिक हेत्वाभासों के भी बौद्ध एवं जैनदर्शन में विविध प्रकार निरूपित है तथा उन्हें सोदाहरण समझाया गया है। विस्तारभय से उनका यहाँ निरूपण नहीं किया जा रहा है, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि उन भेदों के प्रतिपादन में बौद्धों का प्रशस्तपाद के निरूपण से साम्य है एवं जैन दार्शनिकों ने बौद्धों का अनुसरण किया है। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में न्याय-वैशेषिक दार्शनिक भासर्वज्ञ की रचना न्यायसार का भी उपयोग किया है। हेत्वाभासों का निरूपण भासर्वज्ञ ने जितने विस्तार से भेदोपभेद पूर्वक किया है, संभवतः उतना अन्य किसी भारतीय दार्शनिक द्वारा नहीं किया गया। इसलिए जैन दार्शनिकों द्वारा उससे प्रभावित होना स्वभाविक था।

निग्रहस्थान–

जैनदर्शन में जय-पराजय की व्यवस्था के लिए निग्रहस्थानों का निरूपण किया गया है। न्यायदर्शन में तत्त्व निर्णय के लिए वाद तथा तत्त्वसंरक्षण के लिए जल्प एवं वितण्डा को कथा का आवश्यक अंग माना गया है। बाद में स्वपक्ष-स्थापन तथा परपक्षदूषण प्रमाण एवं तर्क पर आधारित होते हैं, जबकि जल्प और वितण्डा में छल जाति और निग्रह स्थान जैसे असदुत्तरों को भी स्थान दिया गया है। बौद्ध एवं जैनदर्शन में छल, जाति आदि के प्रयोग को अन्याय्य बतलाया गया है। अतः इन दोनों दर्शनों में जल्प एवं वितण्डा का कोई महत्व नहीं रह गया है। ये दोनों दर्शनवाद को ही कथा के रूप में स्वीकार करते हैं, नैयायिकों की भांति जल्प एवं वितण्डा को कथा का अंग नहीं मानते हैं।

जैनदर्शन में अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने निग्रह स्थानों पर

---

९०. चेतनास्तव इतिसाध्ये सर्वत्वगपहरणे प्रतिवाद्यसिद्धम्, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणस्य-मरणस्यानेनाभ्युपगमात् तस्य च तरुष्वसंभवात्। न्यायबिन्दु–३. ५९.

९१. अन्यतरासिद्धो यथा–अचेतनास्तरवो....रहितत्वात्। प्रमाण तत्त्व लोक–६. ५१.

विचार किया है। तथा वादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि को ही प्रतिवादी के निग्रहस्थान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने न्याय एवं बौद्धदर्शन समस्त निग्रहस्थानों का निरसन किया है। जैन मान्यता के अनुसार स्वपक्ष सिद्धि ही एक मात्र प्रतिवादी का निग्रह है। दूसरे शब्दों में वादी को स्वपक्ष सिद्धि से ही प्रतिवादी का निग्रह हो जाता है। अतः उनके अनुसार असाधनागवचन एवं अदोषोद भावन नामक दो निग्रहस्थान मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[९२]

प्रभाचन्द्र कहते हैं कि बौद्ध मत में भी यदि हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाती है तो दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक है। यदि हेतु से साध्यसिद्धि नहीं होती है तो उसे भी साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिए। यदि बौद्धों के अनुसार साध्य और साधन की व्याप्ति दिखाने वाला होने से दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक नहीं है तथा साध्य साधन की व्याप्ति नहीं दिखाई जाने पर हेतु साध्य का गमक नहीं हो सकता है तो प्रभाचन्द्र इसका निरसन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध कथन असंगत है, क्योंकि "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस हेतु में सबको अनित्य सिद्ध करने पर दृष्टान्त का अभाव होने से सत्त्वादि हेतु भी अगमक हो जायेगा। यदि सत्त्व हेतु विपक्ष (नित्य) से व्यावृत है अतः विपक्षव्यावृत्ति के कारण साध्य का गमक बन जाता है तो इस प्रकार सभी हेतु साध्य के गमक बन जायेंगे और दृष्टान्त व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। विपक्ष की व्यावृत्ति से हेतु का समर्थन करते हुए भी प्रतिज्ञा का निराकरण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिज्ञा के अभाव में साध्य एवं हेतु कहाँ रहेंगे? यदि प्रतिज्ञा गम्यमान उसमें रहती है तो रहा हेतु भी गम्यमान् होना चाहिए। यदि गम्यमान हेतु का मंदमति पुरुषों के लिए कथन किया जाता है तो इसी प्रकार प्रतिज्ञा का भी मंदमति पुरुषों के लिए कथन करना।

असाधनांग शब्द का भिन्न प्रयोग प्रस्तुत करते हुए प्रभाचन्द्र ने इसे बौद्ध ग्रन्थ 'वादन्याय' से स्पष्ट किया है कि "साधर्म्यपूर्वक हेतु का कथन करने में वैधर्म्य कथन गम्यमान् रहता है, अतः साधर्म्य का कथन करने पर पुनः वैधर्म्य का कथन एवं वैधर्म्य का कथन करने पर पुनः साधर्म्य का कथन करना पुनरुक्ततादोष युक्त है, अतः यह साधनांग नहीं है।"

जैनदर्शन के अनुसार हेतु सम्यक् एवं स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला होना चाहिए, उसमें साधर्म्य प्रयोग के पश्चात् वैधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग के पश्चात्

---

९२. स्वपक्षसिद्धेरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः। नासाधनाङ्ग वचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।। (प्रमेयकमल०–भाग–३, पृ० ६४०)

साधर्म्य प्रयोग से कोई अन्तर नहीं आता है। साध्यसिद्धि के अप्रतिबंधक हेतु के अधिक कहने मात्र से निग्रह होना शक्य नहीं है। प्रभाचन्द्र के अनुसार वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा स्वपक्षसिद्धि करना आवश्यक है। हेतु में साधर्म्य एवं वैधर्म्य प्रयोग से वचनाधिक्य मानकर निग्रह करना सर्वथा अनुचित है।[९३]

अदोषोद्भावन निग्रहस्थान का भी जैन दार्शनिकों ने खण्डन किया है तथा यह सिद्ध किया है कि वादी के दोषों का उद्भावन करने से प्रतिवादी का निग्रह नहीं होता है। प्रतिवादी का निग्रह उसके द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि न किये जाने पर निर्भर करता है। अदोषोद्भावन के प्रभाचन्द्र ने दो अर्थ प्रकट किये हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार प्रसज्य प्रतिषेध द्वारा दोषों के उद्भावन का अभावमात्र अदोषोद्भावन होता है तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार पर्युदास प्रतिषेध द्वारा दोषाभासों या अन्य दोषों का उद्भावन करना अदोषोद्भावन होता है इस प्रकार जैनियों द्वारा निग्रह स्थान सिद्ध होता है।[९४]

प्रत्यभिज्ञान-प्रमाण

जैन दार्शनिकों ने स्मृति की भाँति प्रत्यभिज्ञान को भी परोक्ष-प्रमाण मानना हैं। प्रत्यभिज्ञान का स्वरूप है कि वह स्मृति एवं प्रत्यक्ष का संकलनात्मक ज्ञान होता है। अकलङ्क ने प्रत्यभिज्ञान के लिए संज्ञा, संज्ञान एवं प्रत्यभिज्ञा शब्दों का भी प्रयोग किया है। विद्यानन्द ने दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया है–एकतत्व प्रत्यभिज्ञान एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान। एकत्व प्रत्यभिज्ञान में पूर्वज्ञात अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर "वहीं यह है" इस प्रकार एकता या एकरूपता का ज्ञान होता है। सादृश्यप्रत्यभिज्ञान में पूर्वज्ञात का अर्थ के सदृश अन्य अर्थ का प्रत्यक्ष होने पर "उसके सदृश यह है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान होता है।[९५]

माणिक्यनन्दी ने दर्शन (प्रत्यक्ष) एवं स्मृति से उत्पन्न संकलित ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहकर उसके अनेक उदाहरण दिये हैं, यथा–(१) यह वही देवदत्त है (२) गवय गाय के सदृश है (३) भैंस गाय से विलक्षण है। (४) यह इससे दूर है आदि। इनमें प्रथम उदाहरण एकत्व प्रत्यभिज्ञान का तथा द्वितीय उदाहरण सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का बोधक है। न्याय एवं मीमांसादर्शनों में प्रतिपादित उपमान

---

९३. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, भाग–३, पृ० ६४२–४४

९४. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, भाग–३, पृ० ६४८

९५. द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्येकत्वनिबन्धनम, तादृशमेवेदमिति सादृश्यनिबन्धनं च। प्रमा०परी०, पृ० ४२.

प्रमाण का जैनदार्शनिकों ने इसी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में समावेश कर लिया है। इन दोनों प्रत्यभिज्ञानों के अतिरिक्त वे वैलक्षण्य एवं प्रातियौगिक प्रत्यभिज्ञान का भी कथन करते हैं, तृतीय एवं चतुर्थ उदाहरण क्रमशः इन प्रत्यभिज्ञानों का बोध कराते हैं।[९६] इस प्रकार दो वस्तुओं में पारस्परिक एकता, सादृश्यता, विलक्षणता एवं दूर-निकट आदि के व्यवहार का ज्ञान माणिक्यनन्दी के अनुसार प्रत्यभिज्ञान से होता है।

प्रत्यभिज्ञान के लक्षण का सर्वाधिक विकास वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक में देखा जाता है। वादिदेवसूरि ने अनुभव एवं स्मृति से उत्पन्न तथा तिर्यक् सामान्य व ऊर्ध्वता सामान्य को विषय करने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहा है।[९७] इस लक्षण में प्रत्यभिज्ञान के कारण उसके विषय एवं स्वभाव का निर्देश हो गया है। इसके पूर्व माणिक्यनन्दी के द्वारा निरूपित लक्षण में प्रत्यभिज्ञान के कारण एवं स्वरूप का निर्देश तो हुआ है, किन्तु विषय का निर्देश नहीं था। वादिदेव ने तिर्यक्सामान्य एवं ऊर्ध्वता सामान्य का जो विषय बतलाया है वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान एवं सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में लागू होता है। 'आदि' पद से अन्य विषयों का ग्रहण हो जाता है। विभिन्न अर्थों में जो सदृश परिणति होती है वह तिर्यक् सामान्य एवं एक ही पदार्थ की विभिन्न पर्यायों या अवस्थाओं में जो सादृश्यता होती है, उसे जैनदर्शन में ऊर्ध्वता सामान्य कहा गया है।[९८] एक व्यक्ति में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह ऊर्ध्वता सामान्य विषय से होता है तथा विभिन्न मनुष्यों में जो सादृश्य का प्रत्यभिज्ञान होता है वह तिर्यक् सामान्य विषय से प्रतीत होता है। हेमचन्द्र सूरि ने प्रमाणमीमांसा में दर्शन (प्रत्यक्ष) एवं स्मरण से उत्पन्न संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान निरूपित करते हुए उसे एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य एवं तत्प्रतियोगी इत्यादि भेद वाला माना है।

तर्क–

तर्क को प्रमाण की श्रेणी में प्रतिष्ठित करना भी जैन दार्शनिकों का

---

९६. दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेदं तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि। परीक्षा० ३. ५।

९७. अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं, संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। प्रमाणनय तत्त्व०–३. ५.

९८. प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक् सामान्यं। पूर्वापरपरिणामपसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं। प्रमाणनयतत्त्वलोक–५. ४.

भारतीय न्याय को अनूठा योगदान है। जैनदर्शन में तर्क को व्याप्ति का ग्राहक एवं अवधारणात्मक ज्ञान स्वीकार किया गया है। भट्ट अकलङ्क के पूर्व जैनदर्शन में तर्क की पृथक् प्रमाण के रूप में स्थापना दिखाई नहीं देती। उमास्वामी के तत्त्वार्थ सूत्र में मतिज्ञान के पर्यायार्थक शब्दों में जिस 'चिन्ता' शब्द की गणना की गई है।[९९] उसे ही अकलङ्क ने आगे चलकर लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय आदि ग्रन्थों में तर्कप्रमाण के रूप में विकसित एवं प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने तर्क (चिन्ता) को प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का फल माना है तथा तर्क को प्रमाण मानकर अनुमान को उसका फल कहा है।[१००] अष्टशती में उन्होंने लिङ्गलिङ्गी सम्बन्ध ज्ञान को अनुमान की भाँति प्रमाण माना है।[१०१] यहाँ लिङ्गलिङ्गी-सम्वन्धज्ञान से उनका अभिप्राय तर्कप्रमाण ही प्रतीत होता है। प्रमाण सङ्ग्रह नामक कृति में अकलङ्क ने प्रत्यक्ष एवं अनुपलम्भ से होने वाले सम्भव प्रत्यय को तर्क कहा है।[१०२] यह सम्भव प्रत्यय व्याप्ति ग्राहक ज्ञान ही है, जो साकल्य से अविनाभाव सम्बन्ध का ग्रहण करता है।

विद्यानन्द ने प्रमाणपरीक्षा में तर्क का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि "जितना भी कोई धूम है वह सब अग्नि से उत्पन्न होता है। अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार सकल देश एवं सकल काल की व्याप्ति से साध्य एवं साधन के सम्बन्ध का जो ऊहापोह ज्ञान होता है वह तर्क होता है।[१०३] तर्क का दूसरा नाम ऊह भी है।[१०४] अकलङ्क ने तत्त्वार्थ सूत्र का अनुसरण करते हुए इसके लिए चिन्ता शब्द का भी प्रयोग किया है।[१०५]

माणिक्यनन्दी ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से उत्पन्न व्याप्तिज्ञान को तर्क कहा है। उपलम्भ का अर्थ है साध्य के होने पर साधन का होना तथा साध्य

---

९९. मतिः स्मृति संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोधइत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थसूत्र–१. १३.

१००. संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः। लघीयस्त्रयवृति, अकलङ्क–पृ० ५.

१०१. अष्टशती (अष्टसहस्री) पृ० २८०

१०२. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षापलम्भतः। प्रमाण सङ्ग्रह,–१२.

१०३. यावान् कश्चिद्धमः स सर्वः पावक जन्मैवापावकजन्मा वा न भवतीति सकलदेश कालव्याप्त्या साध्यसाधन सम्बद्धोहापोलक्षणो हितर्कः प्रमाणयितव्यः। प्रमाण परीक्षा–४४–४५

१०४. प्रमाण नयतत्त्वालोक, ३. ६७ एवं परीक्षा ३. ७.

१०५. लघीयस्त्रय का०, ४९.

के नहीं होने पर साधन का नहीं होना। वादिदेवसूरि ने उपलम्भ एवं अनुपलम्भ से जन्य तीन कालों की व्याप्ति को जानने वाले ज्ञान को तर्क कहा है।[१०६] उपलम्भ शब्द से यहाँ प्रत्यक्ष, आगम आदि प्रमाणों का ग्रहण किया गया है। हेमचन्द्राचार्य कहते हैं कि उपलम्भ शब्द प्रमाणमात्र का ग्राहक है मात्र प्रत्यक्ष का ही नहीं।[१०७]

अकलङ्क के पूर्व जैनदर्शन में मतिज्ञान के भेद ईहा के लिए षट्खण्डागम में ऊहा एवं तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में ऊहा एवं तर्क शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[१०८] किन्तु अकलङ्क के द्वारा ऊह अथवा तर्क को परोक्ष प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने के पश्चात् ईहा के लिए ऊहा का प्रयोग किसी भी जैन दार्शनिक ने नहीं किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो इन दोनों में स्पष्ट भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि ऊह अर्थात् तर्क तो परोक्ष प्रमाण का भेद है तथा साध्य एवं साधन की त्रैकालिक व्याप्ति का ग्रहण करता है जबकि ईहा ज्ञान वर्तमान कालिक विषयों को ग्रहण करता है एवं वह प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद है।[१०९]

जैनदर्शन में आगम प्रमाणः–

जैनदार्शनिक शब्द अथवा आगम को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानते हैं। आगम-प्रमाण का जैनदर्शन में क्या स्वरूप रहा है। इस पर विचार अपेक्षित है।

जैनदर्शन में आप्त पुरुष के वचनादि से आविर्भूत अर्थज्ञान को आगम प्रमाण कहा गया है।[११०] उपचार से आप्तपुरुष के वचनों को भी आगम माना गया है।[१११] क्योंकि उन वचनों से ही अर्थज्ञान प्रकट होता है। आप्तपुरुष को परिभाषित करते हुए वादिदेवसूरि ने कहा है कि जो अभिधेय वस्तु को यथावस्थित रूप से जानता हो तथा जैसा जानता हो वैसा कहता हो वह आप्त है।[११२] आप्त पुरुष का वचन अविसंवादी होता है।[११३] उसमें धोखा या वंचना नहीं होती।

---

१०६. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धावालम्बनम् "इदमस्मिन् सत्येव भवति।" प्रमा० ३. ७.

१०७. प्रमाणमीमांसा, वृत्ति–१. २. ५.

१०८. ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा। षट् खण्डागम–५. ५. ३८.

१०९. प्रमाणमीमांसा वृत्ति–१. १. २७.

११०. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः। प्रमाणनयतत्त्वालोकः–४. १।

१११. उपाचारदाप्तवचनं च। प्रमाण नयतत्त्वालोक–४. २.

११२. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः। प्रमाणनय तत्वालोक–४. ४.

११३. तस्य हि वचनमवि संवादि भवति। प्रमाण नयतत्त्वालोक–४. ५.

आप्त पुरुष दो प्रकार के होते हैं–लौकिक एवं लोकोत्तर।[११४] पिता, माता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हो सकते हैं तथा तीर्थंकर अथवा केवलज्ञानी पुरुष लोकोत्तर आप्त कहे गये हैं।[११५] तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित वाणी को जैनदर्शन में 'आगम' कहा गया है। ये आगम जैनदर्शन में प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित है। लौकिक व्यवहार में जिस पुरुष का वचन अविसंवादी होता है, उसे भी प्रमाण मानने में जैनदार्शनिकों को आपत्ति नहीं है। बौद्ध आदि अन्य भारतीय दार्शनिकों की भाँति जैन दार्शनिकों ने भी मीमांसासम्मत वेद के अपौरुषेयत्व एवं आगमत्व का खण्डन किया है। न्यायदर्शन में प्रतिपादित शब्द प्रमाण के स्वरूप से जैन दार्शनिकों का विरोध नहीं है, क्योंकि न्यायदर्शन में आप्तपुरुष के उपदेश को शब्द प्रमाण माना गया है।[११६]

'आगम' शब्द के स्थान पर अकलङ्क के ग्रन्थों में 'श्रुत' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। वे श्रुतज्ञान को अविसंवादी होने से प्रमाण मानते हैं।[११७] जैनदर्शन में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवल इन पाँच ज्ञानों का वर्णन हुआ है। अकलङ्क ने मतिज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क एवं अनुमान प्रमाणों के रूप में प्रस्तुत किया है, अवधि, मनःपर्यव एवं केवल ज्ञान को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है। श्रुतज्ञान का भी प्रामाण्य प्रतिपादन आवश्यक था। श्रुतज्ञान को वे शब्दात्मक सम्यग् ज्ञान के रूप में स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने श्रुतज्ञान के तीन भेद किये हैं–१. प्रत्यक्षनिमित्तक २. अनुमाननिमित्तक एवं ३. आगमनिमित्तक।[११८] श्रुतज्ञान की उत्पत्ति, प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा आगम में किसी से भी हो सकती है। वे मति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि ज्ञानों को शब्द का संयोजन होने पर श्रुतज्ञान मानते हैं।[११९] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अकलङ्क द्वारा प्रयुक्त 'श्रुतज्ञान' शब्द शब्दंयुक्त ज्ञान के

---

११४. स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च। प्रमाण नयतत्त्वालोक–४. ६.

११५. लौकिक जनकादिः लोकोत्तरस्तु तीर्थंकरादिः। प्रमाण नयः–४. ७.

११६. आप्तोपदेशः शब्दः न्यायसूत्र–१. १. ७.

११७. प्रमाणं श्रुतमर्थेषु। लघीयस्त्रय, २६.

११८. (i) त्रिधा श्रुतमविप्लवम् १-प्रमाण संग्रह–१. २.

(ii) श्रुतम् अविप्लवम् प्रत्यक्षानुमानगमनिमित्तम् १-प्रमाण संग्रहवृत्ति–१. २.

११९. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता वाभिनिबोधिकम्।
प्राङनामयोजनाच्द्धेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात्। लघीयस्त्रय–१०.

लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसमें आगम प्रमाण भी समाविष्ट है। नय सप्तभङ्गी एवं स्याद्वाद भी श्रुतज्ञान के ही फलित है। प्रमाण के द्वारा जाने गये विषय के एक अंश को नय के द्वारा जाना जाता है। प्रमाण सकलादेश एवं नय विकलादेश होता है। नय वाक्य का कथन सप्तभङ्गी एवं स्यात् के रूप में किया जाता है।

जैन दार्शनिकों ने शब्द को अर्थ का वाचक स्वीकार किया है। वे शब्द में अर्थ का वाचक होने की सहज योग्यता मानते हैं तथा शब्दों को अर्थज्ञान कराने में संकेतक मानते हैं।[१२०] शब्द अपने संकेतित अर्थ के ही प्रकाशक होते हैं। एक शब्द से समस्त अर्थों का ज्ञान नहीं होता। भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों अथवा पदार्थों का बोध होता है। शब्द एवं अर्थ में स्वाभाविक वाचक-वाच्य सम्बन्ध होता है, अर्थात् शब्द अपनी योग्यता अथवा स्वभाव से ही अर्थ के वाचक होते हैं। कुत्रचित् अर्थाभाव में शब्द उपलब्ध होने से सर्वत्र उनमें व्यभिचार नहीं कहा जा सकता। जैन दार्शनिकों ने जिस अर्थ को शब्द का वाच्य माना है वह मात्र स्वलक्षण या सामान्य लक्षण नहीं, अपितु सामान्य विशेषात्मक है।

स्मृति-प्रमाणः-

जैनाचार्यों ने स्मृति को एक प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित किया है। जिन आचार्यों ने स्मृति को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है उनमें भट्ट, अकलङ्क, विद्यानन्द, आचार्य प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्र सूरि ने स्मृति को प्रमाण के रूप में मानते हुए अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैंः-

भट्ट अकलङ्क ने स्मृति को पृथक् प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए हेतु देते हुए कहा है कि "अविसंवादी ज्ञान होने से स्मृति प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंवादी ज्ञान है।"[१२१] प्रत्यक्ष भी अविसंवादी होने से प्रमाण है, अर्थाकार होने से नहीं। यदि प्रत्यक्ष को अर्थाकार होने से प्रमाण माना जायेगा तो व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष का ग्राह्य एवं प्राप्य अर्थ भिन्न होता है।[१२२] उसके द्वारा अर्थक्रिया में विसंवाद उत्पन्न नहीं होता, इसलिए प्रत्यक्ष को प्रमाण कहा जाता है।[१२३] स्मृति के द्वारा भी अर्थक्रिया में विसंवाद उत्पन्न नहीं होता, अतः

---

१२०. सहजयोग्यतासंके तवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः। परीक्षामुख-३. ९६.

१२१. प्रमाणमविसंवादात्। १-सिद्धिविनिश्चय-३. २.

१२२. प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः। प्रमाण संग्रह का-१०. अकलङ्क ग्रन्थत्रय पृ० ९९.

१२३. अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम्। प्रमाण वार्तिक-२. ५८.

उसे भी प्रत्यक्ष की भाँति प्रमाण मानना चाहिए।[१२४] जब स्मृति विसंवादयुक्त होती है तो वह अप्रमाण या प्रमाणाभास कही जाती है।[१२५]

अकंलङ्क दूसरा और तीसरा हेतु देते हुए कहते हैं कि **'अज्ञान की निवृत्ति करने एवं विषय में प्रवर्तक होने से** भी इस मत में स्मृति प्रमाण है। भट्ट अकलङ्क कहते हैं कि स्मृति प्रमाण है तथा उसका फल प्रत्यभिज्ञा है। बिना स्मृति के प्रत्यभिज्ञा रूप फल नहीं हो सकता। अकलङ्क के मत में स्मृति का प्रामाण्य स्मृतिज्ञान से ही हो जाता है।[१२६] विद्यानन्द के द्वारा स्मृतिप्रमाण की स्थापना में हेतु प्रस्तुत किया है–

स्मृति के अभाव में प्रमाण-प्रमेय शून्यता:–विद्यानन्द स्मृति को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते कि स्मृति को अप्रमाण मानने पर प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता शक्य नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के अप्रमाण होने पर तर्क की व्यवस्था नहीं होती। तर्क के प्रतिष्ठित नहीं होने पर अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है। अनुमान के प्रवृत्त नहीं होने पर प्रत्यक्ष का प्रामाण्य अवस्थित नहीं रहता है। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के शून्य होने पर प्रमेय भी शून्य हो जाता है। अर्थात् स्मृति को अप्रमाण मानने पर समस्त प्रमाणों एवं प्रमेयों के अभाव का प्रसंग आता है, किन्तु यह शून्यवाद भी विना प्रमाण के सिद्ध नहीं होता। अतः स्मृति को प्रमाण मानना चाहिए।[१२७]

हेमचन्द्र सूरि द्वारा स्मृति प्रमाण का स्थापन करते हुए प्रस्तुत किया है–वादिदेवसूरि एवं हेमचन्द्रसूरि ने इसी प्रकार स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध किया है, किन्तु ये दोनों दार्शनिक स्मृति को गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण मानते हैं।[१२८] आचार्य हेमचन्द्र ने तो स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध होने से स्मृति का अप्रामाण्य नहीं है, अपितु अर्थ से उत्पन्न नहीं होने के कारण इसका अप्रामाण्य है।[१२९]

---

१२४. न हि तयाऽर्थं परिच्छिद्य अर्थक्रियायां विंसवाद्यते। सिद्धिविनिश्चयवृत्ति–१. ९, पृ० ३८.

१२५. मिथ्या तद्विपर्ययात् १- सिद्धिविनिश्चय–३. २.

१२६. प्रत्यभिज्ञा फलं तस्याः प्रामाण्यं प्रतिपत्तितः। प्रमाण संग्रह–१०.

१२७. स्मृतेः प्रमाणताऽपाये संज्ञायाः न प्रमाणता। तद प्रमाणतायां तु चिंता न व्यवतिष्ठते। तदप्रतिस्थितौ क्वानुमानं नाम प्रवर्तते...शून्यता।। तत्त्वार्थ श्लो०वा०–१. १३. ९-११.

१२८. ग्रहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणेऽपि नाऽप्रामाण्यम्। प्रमाण मीमांसा–१. १. ४.

१२९. न स्मृत प्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्। अपित्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्। न्या०मञ्जरी, पृ० २१.

हेमचन्द्र इसका उत्तर देते हुए बौद्धों एवं नैयायिकों से कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक अपनी सामग्री आदि से उत्पन्न होकर तथा घटादि से अनुत्पन्न रहकर भी घटादि को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा इन्द्रिय एवं मन के बल से उत्पन्न स्मृति ज्ञान भी विषय का अवभासक होता है। प्रमाण को अर्थजन्य मानने पर मरुमरीचिका आदि में जलज्ञान भी अर्थजन्य होने से प्रमाण माना जाने लगेगा। इसलिए स्मृति अर्थ जन्य नहीं होने पर भी प्रमाण है। योगिज्ञान भी अतीत एवं अनागत अर्थ को विषय करता है, किन्तु वह अर्थ से उत्पन्न नहीं होता, फिर भी उसे प्रमाण माना जाता है।[१३०]

स्मृति ज्ञान का प्रामाण्य तो उसकी अविसंवादिता से हैं तथा अपने विषय की प्रकाशकता से हैं।[१३१] हेमचन्द्र कहते हैं कि यदि स्मृति को प्रमाण नहीं माना जाये तो अनुमान को भी जलाञ्जलि देनी होगी, अर्थात् उसे भी प्रमाण मानना होगा। सभी वादी यह स्वीकार करते हैं कि (लिङ्गग्रहणसम्बन्ध स्मरणपूर्वक-मनुमानमिति) लिङ्ग एवं लिङ्गी के सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक अनुमान होता है। अतः अनुमान का होना स्मरण के आश्रित है। इसलिए स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[१३२]

अपोहवादः–

जैनदर्शन में अपोहवाद का खण्डन यूं तो अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, अभयदेव, प्रभाचन्द्र एवं वादिदेवसूरि आदि दार्शनिकों के ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ पर संक्षिप्त में उक्त दार्शनिकों का खण्डन बताया गया है–

अकलङ्क द्वारा निरसन :–अकलङ्क ने जैनदर्शनानुसार प्रतिपादित किया है कि किसी एक वस्तु में संकेत ग्रहण करके तत्सदृश अन्य वस्तुओं में भी उसका व्यवहार किया जाता है।[१३३]

यथा एक घट वस्तु में 'घट' शब्द का संकेत ग्रहण करके तत्सदृश अन्य घटों में भी 'घट' शब्द का व्यवहार किया जाता है। समस्त घटों में पृथक्-पृथक्

---

१३०. प्रमाण मीमांसा–पृ० ३४
१३१. प्रमाण मीमांसा–पृ० ३३
१३२. प्रमाण मीमांसा–पृ० ३४
१३३. तत्रैकमभिसन्धाय समानपरिणामिषु।
समयः तत्प्रकारेषु प्रवर्तेतेति साध्यते।। न्याय विनिश्चय–१९८-१९९.

रूप में 'घट' शब्द का संकेत ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रत्येक वस्तु सादृशसदृशात्मक होती है, वह तज्जातीय द्रव्यों के सदृश तथा विजातीय द्रव्यों से विसदृश होती है, यथा 'घट' वस्तु तत्सदृश घटों के सदृश तथा पट आदि से विसदृश होती है। उसकी अन्य वस्तुओं से सदृशता सामान्य है तथा विसदृशता विशेष है। सामान्य विशेष से पृथक् वस्तु में नहीं रहता तथा इसी प्रकार विशेष भी सामान्य से पृथक् वस्तु में नहीं होता, दोनों की प्रतीति एक ही वस्तु में होती है। हमें जो भी ज्ञात होता है वह सामान्य विशेषात्मक वस्तु का ही ज्ञान होता है। इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तु में ही संकेत ग्रहण होता है।[१३४]

विद्यानन्द द्वारा निराकरण :-

विद्यानन्द अपोहवाद का परिहार करते हुए कहते हैं कि यदि 'गौ' शब्द गो भिन्न की व्यावृत्ति करता है तो इसका अर्थ है कि वह गोत्व सामान्य का ही विधान करता है। इसलिए 'गौ' शब्द को अन्यापोह का विषय मानना उचित नहीं है।[१३५] यदि 'गौ' शब्द अगोनिवृत्ति को भी अन्यनिवृत्ति के रूप में प्रतिपादित करता है तो 'गौ' शब्द का कोई अभिधेय नहीं हो सकेगा एवं अनवस्था दोष का प्रसंग आ जायेगा। विद्यानन्द के कथन का तात्पर्य है कि 'गौ' शब्द के द्वारा जिस प्रकार अगोनिवृत्ति का कथन किया जाता है, क्या उसी प्रकार अनोनिवृत्ति का अनगोनिवृत्ति के रूप में अभिधान किया जाता है। यदि यह क्रम जारी रहता है तो अनवस्था दोष आ जाता है। यदि क्रम बन्द हो जाता है, तो किसी शब्द का विध्यर्य अवश्य मानना होगा।[१३६]

विद्यानन्द कहते हैं कि शब्द को बाह्यार्थ का वाचक नहीं मानकर विवक्षा का प्रतिपादक माना जाता है तो "समस्त शब्द अन्यपोह का कथन करते हैं," बौद्धों का यह कथन खण्डित हो जाता है।[१३७]

---

१३४. तत्समाना समानेषु तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये। संक्षेपेण क्वचित् कश्चिच्छब्दः संकेतमश्नुते। न्या०विनि० २१४.

१३५. यदि गोरित्यं शब्दो विधत्तेऽन्यनिवर्तनम्। विदधीत तदा गोत्वं तन्नान्यापोदृहगोचरः। तत्त्वार्थ श्लो०-१. ५. ४२.

१३६. अगोनिवृत्तिमप्यन्यनिवृत्तिमुखतो यदि। गोशब्दः कथयेन्नूनमनवस्था प्रसज्यते।। तत्त्वार्थ श्लो०वा०-१. ५. ४३.

१३७. वाक्तुरिच्छां विद्यत्तेऽसौ बहिरर्थं न जातुचित्।
शब्दोऽन्यापोहकृत्सर्वः यस्य बाध्यविजृम्भितम्।। तत्त्वार्थ श्लो० वार्तिक-१. ५. ४४.

शब्द का विषय अन्यापोह मानने पर शब्द से जनसाधारण की अर्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शब्द किसी अन्य कार्य में प्रवृत्ति करने के लिए कहे जायें तथा प्रवृत्ति किसी अन्य कार्य में हो सकती है।[१३८]

अभयदेवसूरि का योगदानः–

कुमारिलभट्ट ने अपोहवाद का निरसन एवं सामान्य का स्थापन करते हुए कहा है कि शावलेय व्यक्ति का ज्ञान होने मात्र से बाहुलेय आदि में 'गौ' प्रतिपत्ति नहीं हो सकती, इसीलिए 'गोत्व' नामक सामान्य मानना होगा, क्योंकि उसी से बाहुलेय आदि को भी हम 'गौ' रूप में जानते हैं। उन्होंने बौद्ध प्रतिपादित अगोंनिवृत्ति में गौ शब्द को शावलेय बाहुलेय आदि विभिन्न गायों में सामान्य गोत्व' का प्रतिपादक माना है। अन्यथा शाबलेय में संकेत ग्रहण करने पर 'अगोनिवृत्ति' शब्द के प्रयोग द्वारा बाहुलेय आदि गायों की भी निवृत्ति होने लगेगी। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बौद्धों ने अगोनिवृत्ति के रूप में जो 'गौ' शब्द का वाच्य माना है वह 'गोत्व' सामान्य से भिन्न नहीं है।[१३८]

अभयदेवसूरि ने कुमारिल बौद्ध एवं व्यक्तिवादी दार्शनिकों के मत का खण्डन करते हुए शब्द का वाच्य सामान्य विशेषात्मक अर्थ को सिद्ध किया है।[१४०] वे कहते हैं कि गोत्व सामान्य शावलेय, बाहुलेयादि व्यक्तियों के बिना संभव नहीं है तथा शाबलेय, बाहुलेय आदि में भी कोई न कोई समानधर्म पाये जाने के कारण उनमें गोत्व की प्रतिपत्ति होती है।

प्रभाचन्द्र का विचारः–

जैन दार्शनिक प्रभाचन्द्र ने भी अन्यापोह को पूर्वपक्ष में रखकर उसका विधिरूपेण निरसन किया है। उन्होंने अन्यापोह के निरसन में मीमांसा दार्शनिक कुमारिलभट्ट के श्लोक वार्तिक का यत्र-तत्र आलम्बन किया है।

अपोह का अर्थ निषेध है। वह दो प्रकार का है–पर्युदास एवं प्रसज्य। पर्युदास भी दो प्रकार का है। बद्धयात्मा और अर्थात्मा। शब्द इनमें मुख्यतः प्रथम

---

१३८. अन्यापोहे प्रतीते च कथमर्थे प्रवर्तनाम्।
शब्दात्सिध्येज्जनस्याय सर्वथातिप्रसंगत।। तवार्थ श्लो०वा०–१. ५. ४५.

१३९. अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्। गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम्। श्लो०वा०, अपो०परि०–१

१४०. तत्त्व बोधविधायिनी, पृ० २३७–२६५.

प्रकार के अपोह का वाचक होता है।[१४१] शब्द एवं अपोह का वाचक वाच्य भाव कार्य-कारण भाव रूप है। शब्द से बुद्धि में प्रतिविम्ब उत्पन्न होता है और वह शब्द का वाच्य होता है।[१४२]

उत्तरपक्ष से प्रभाचन्द्र जी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शब्द एवं लिङ्ग का विषय अपोह को मानना उचित नहीं, क्योंकि वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जो किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसे विषय बनाना उपपन्न नहीं है। अपोह की सिद्धि न प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है और न अनुमान प्रमाण से। प्रत्यक्ष से 'अपोह' सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है। अनुमान से भी वह सिद्ध नहीं है, क्योंकि अपोह कि सिद्धि में कोई अविनाभावी लिङ्ग नहीं है। अपोह अर्थात् अन्यव्यावृत्ति के साथ तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति सम्बन्ध घटित नहीं होता है। अतः बौद्ध मत से भी उसमें अविनाभाव नहीं हो सकता। अन्यापोह नीरूप है, अतः उसके साथ किसी का तादात्म्य तदुत्पत्ति सम्बन्ध घटित नहीं होता है।[१४३]

यदि 'गो' शब्द के मुख्यतः 'अगों' शब्द की निवृत्ति का प्रतिपादन किया जाता है तो गो शब्द सुनने के पश्चात् श्रोता को पहले 'अगौ' की प्रतिपत्ति होनी चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है। 'गौ' शब्द से 'गौ' का ही प्रतिभास होता है, 'अगौ' का नहीं। इस प्रकार गवय, हस्ती, वृक्ष इत्यादि शब्दों से ज्ञान होता है, निषेध रूप नहीं।[१४४]

जिस प्रकार स्वलक्षणादि में संकेत सम्भव नहीं होने से शब्दार्थता घटित नहीं हो पाती, उसी प्रकार 'अपोह' में भी संकेत का अभाव होने से शब्दार्थता घटित नहीं होती।[१४५] इस शब्द का यह अर्थ है, इस प्रकार निश्चय करने वाला ज्ञाता ही संकेत का प्रयोग करता है। जबकि अपोह का किसी के द्वारा इन्द्रिय आदि से निश्चय नहीं होता, क्योंकि 'अपोह' अवस्तु रूप है, जबकि इन्द्रियों का विषय वस्तुरूप होता है। अतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अपोह का निश्चय करना अशक्य है। अनुमान प्रमाण द्वारा भी अपोह का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि सामान्य को वस्तुभूत स्वीकार किये बिना अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

---

१४१. बुद्ध्यात्मा पर्युदास के विवरण हेतु द्रष्टव्य–पृ० ३३९.
१४२. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० ५५१–५५७.
१४३. न्याय कुमुदचन्द्र, पृ० ५५७–५५८.
१४४. प्रमेय कमलमार्तण्ड, भाग–२, पृ० ५३६–५३७.
१४५. प्रमेय कमलमार्तण्ड, भाग–२, पृ० ५४३.

तत्त्वमीमांसा

क्षणिकवाद का खण्डनः–

जैनदर्शन जड़ तत्त्व और चेतन तत्त्व के रूप में जीवात्मा के चेतन तत्त्व को स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है कि जो क्षणिकवाद के पक्ष में जो यह युक्ति दी जाती है कि जो सत् है वही क्षणिक है। उदाहरण देते हुए कहा है–जलधर पटलवत्। इसका उत्तर देते हुए जैनियों ने कहा है कि जलधर आदि सभी को स्थायी रूप में दिखलाई देते हैं। एक क्षण के पश्चात् कोई भी वस्तु पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसे कि घट-पट आदि का प्रयोग उनके नष्ट होने तक किया जाता है। जब किसी वस्तु के न्यून से न्यून काल की कल्पना की जाती है। तो क्षण का प्रसंग आता है। वस्तु में परिवर्तन होना और वस्तु का नष्ट होना इन दोनों सिद्धान्तों में बहुत अन्तर है। सामान्य दृष्टि से क्षण का अर्थ थोड़ी देर, इसलिए क्षण-भंगुर है। न्याय शास्त्र में क्षण का अर्थ है तीन क्षण तक ठहरना, क्योंकि पहले क्षण में उत्पत्ति, दूसरे में स्थिति और तीसरे में विनाश। लेकिन सभी वस्तुएँ वहाँ भी क्षणिक नहीं हैं। बौद्धों का क्षण तो एक क्षण का ही है। लेकिन कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक क्षण-भर ठहरे। क्षण ऐसा कालांश जिससे सूक्ष्मतर और कोई काल न हो सूक्ष्मतम कालांश। निमेष तक तो हम अनुभव कर सकते हैं किन्तु क्षण का नहीं। निमेष को ही लीजिए इसमें चार क्षण हैं–पलक चलाना, इसके पूर्वस्थान का विभाजन, पूर्व संयोग नाश उत्तरसंयोग की उत्पत्ति। क्षण का अनुभव नहीं कर पाने से ही हम चारों को एक साथ समझ लेते हैं। क्षण के रूप में काल का विभाजन करना कठिन है। जलधर यद्यपि क्षण-क्षण बदलता है पर यहाँ क्षण का अर्थ है निमेष (पलक गिरने का समय) न कि बौद्धों का क्षण। क्षण निमेष से भी होता है। अतः कोई उसे आँक नहीं सकता। जब दृष्टान्त ही ठीक नहीं तो अनुभव कैसा होगा? इसलिए अनुमान से उक्त अनुमान सिद्ध नहीं हो सकता।[१४६]

दूसरा विकल्प (दूसरे प्रमाण से इसे सिद्ध करना) भी ठीक नहीं है,

---

१४६. जलधरादौ दृष्टान्ते क्षणिकत्वमनेन प्रमाणेन प्रमितं, प्रमाणान्तरेण वा नाद्यः। गवदभिमतस्य क्षणिकत्वस्य क्वचिदस्यदृष्टचरत्वेन दृष्टान्तासिद्धावस्यानुमानस्यानुत्थानात्। (सर्व दर्शन संग्रह, पृ० ९३)

क्योंकि उसी प्रकार से क्षणिकत्व की सिद्धि सर्वत्र हो जायेगी तो फिर सत्ता को क्षणिक मानने के लिए कोई भी अनुमान करना व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रत्यक्ष से ही यह सिद्ध है कि सत्ता क्षणिक है तो घट-पट इत्यादि को क्षणिक सिद्ध करने के लिए अनुमान की क्या आवश्यकता है? यदि बुद्ध के उपदेश या शब्द प्रमाण से ही यह सिद्ध है तो भी घट, पट आदि सिद्ध हो जायेंगे। फिर क्षणिकत्व की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुमान क्यों? फिर भी यदि आप कहें कि कुछ कार्य उत्पन्न करने वालों को सत् कहते हैं तो झूठ-मूठ के साँप काटने वाले को भी सत् मानना पड़ेगा। क्योंकि इससे भी तो कुछ कार्य उत्पन्न होते हैं, अतः यह कहा गया है कि सत्ता वह है जिसमें उत्पत्ति, विनाश (व्यय) और स्थिति हो यह जैनों का मत है।

क्षणिकवाद के खण्डन की दूसरी विधि बताते हुए कहते हैं कि इसके उत्तर में बौद्ध लोग यह कह सकते हैं कि क्षणिकवाद की सिद्धि इस तथ्य से हो सकती है कि ऐसा न मानकर सत्ता का स्थायी मानने से एक ही पदार्थ में दो विरुद्ध धर्मों सामर्थ्य और असामर्थ्य की स्थिति एक साथ होने लगेगी। उदाहरण के लिए:–कोठी में रखा और जमीन में बोया बीज यदि एक ही है तो उसमें अंकुर उत्पन्न करने की सामर्थ्य है कि नहीं? यदि है तो कोठी का बीज अंकुरोत्पादन कर सकता है। सहकारी भावों को बौद्धदर्शन की विवेचना में काटा जा चुका है। यदि बीजों में अंकुरोत्पादन की सामर्थ्य नहीं है तो भूमि में बोये बीजों से भी अंकुर नहीं निकलेंगे। ऐसा भी नहीं कह सकते कि सामर्थ्य भी है, असामर्थ्य भी। दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः आप क्षणिकवाद को ही स्वीकार करेंगे।

बौद्धों का यह तर्क भी ठीक नहीं है। स्याद्वाद के सिद्धान्त को धारण करने वाले लोग अनेकान्तता के सिद्धान्त को मानते हैं इसलिए कोई भी विरोध उनके लिए असिद्ध है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित और सापेक्ष बनाने के लिए 'स्यात्, शायद' अव्यय का जोड़ना आवश्यक है। अभी हम घट की सत्ता का अनुभव करते हैं, किन्तु हमारी यह अनुभूति काल और देश पर अवलम्बित है, त्रैकालिक सत्य यह सत्ता नहीं है और न ही सार्वदेशिक। यह सापेक्ष सत्ता है, जिसके विषय में निश्चित रूप से हमारा ज्ञान नहीं हो सकता। अधिक से अधिक हम 'स्यादस्ति' कह सकते हैं। इसलिए जैनदर्शन में प्रत्येक परामर्श के पूर्व 'स्याद्' लगाते हैं। इसी सिद्धान्त को स्याद्वाद

कहते हैं। इसका दूसरा नाम अनेकान्तवाद है, क्योंकि किसी ज्ञान का निश्चय या एकान्त इसमें नहीं हो सकता। इसके अनुसार दो विरुद्ध पदार्थों जैसे सामर्थ्य-असामर्थ्य, अस्ति-नास्ति में कभी भी विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि घट का अस्तित्व और नास्तित्व दोनों ही इसके आधार पर सिद्ध हो सकता है। बौद्धों का यह कहना कि असामर्थ्य और सामर्थ्य एक ही स्थान में नहीं रह सकते, जैनदर्शन के लिए आसान है, दोनों साथ-साथ भी हो सकते हैं। क्षणिकत्व सिद्ध करने की यह युक्ति भी खण्डित हो गयी।[१४७]

बौद्ध लोग यह जो कहते हैं कि इसकी सिद्धि के लिए कपास आदि दृष्टान्त देते हैं, वह केवल कहने पर को हैं, कोई युक्ति तो उसमें नहीं देते। केवल दृष्टान्त देने से अनुमान की सिद्धि नहीं होती। रसोई घर में धूम और अग्नि देखने पर भी शंका हो सकती है कि धूमवान् पदार्थ में अग्नि का होना क्या जरूरी है? इस अवस्था में हमें दोनों के बीच कार्य-कारण भाव के रूप में युक्ति देनी पड़ेगी। तभी शंका हट सकती है, तभी पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान कर सकते हैं यों ही नहीं। कपास में क्या कोई युक्ति है? इस दृष्टान्त में वे लोग निरन्य सम्बन्धहीन नाश ही चाहते हैं। वहाँ भी नाश को निरन्वय रूप से हम लोग अंगीकार नहीं कर सकते हैं।

ठीक इसी प्रकार कपास के बीजावयवों में भी जो कार्य से सम्बन्ध होने योग्य है, लाह के रस का सेवन होता है। उन्हीं के अवयवों में फल निकलने के सम्बन्ध होते होते लाली आ जाती है। परम्परा से तो कुछ होगा ही नहीं। संस्कार कहीं और जगह हो तथा उसका फल कहीं ओर जगह यह कैसे हो सकता है? कारण वाली आत्मा में एक ही सन्तान और परम्परा में कर्म हो और कार्य आत्मा में उसके फल का उपभोग बौद्धों का यह सिद्धान्त नहीं हो सकता है।

दूसरे सन्तान परम्परा तब तक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, जब तक इसे परम्परा मिलाने वाली वस्तु सन्तानी-सन्तानों को संयुक्त करने वाला न हो। बौद्धों का कहना है कि एक ही परम्परा में उत्पन्न पूर्वक्षण की वस्तु कर्मकर्त्ता है और उत्तरक्षण की वस्तु फलभोक्ता, अर्थात् एक ही परम्परा या सन्तान का

---

१४७. सामर्थ्यसामर्थ्यालक्षणविरुद्ध धर्माध्यासात्तत्सिद्धिरिति, तदसाधु। स्याद्वादि नामनेकान्तता-बादस्येष्टतया विरोधासिद्धेः। यदुक्तं कार्यासादिदृष्टान्त इति, तदुक्तिमात्रम्। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ९४.

काम करने वाली और फल भोगने वाली दोनों ही है लेकिन उन क्षणों में परम्परा सम्बन्ध कैसे होता है? उनका सन्तानों या संयोजक कहा है? ये कोई फूल की माला तो नहीं कि तागें से परस्पर मिले हों। इसलिए सन्तानों के विना सन्तान को सिद्ध करना टेढ़ी खीर है।

ऐसा ही कहा भी है—व्यक्ति (पृथक्-पृथक् वस्तुएँ) यदि एक ही जाति या प्रकार के हों, क्रमशः एक के बाद दूसरा उत्पन्न हुए हों और आपस में यदि मिले हुए हों तो उन वस्तुओं को एक ही सन्तान परम्परा मानी जाती है।[१४८]

आप लोग अतिप्रसंग को रोकने के लिए कार्य-कारण-भाव को नियामक के रूप में उपस्थित करते हैं। लेकिन इससे अतिप्रसंग रुक नहीं सकता। ऐसा होने पर अध्यापक की बुद्धि में अनुभूत वस्तु का स्मरण शिष्य की बुद्धि के द्वारा हो सकता है अथवा उनके द्वारा उपार्जित कर्मों के फल अनुभव भी शिष्य की बुद्धि कर लेगी। इसका अभिप्राय यह है कि उपाध्याय की बुद्धि सन्तान में बहुत सी क्षणिक बुद्धियाँ है। शिष्य को समझाते समय जो उपाध्याय की क्षणिक बुद्धि है, उसके साथ दो बुद्धियाँ उत्पन्न होंगी। एक उपाध्याय में दूसरी शिष्य में। यह तो मानना होगा कि अपने अनुभूत विषय को अध्यापक इसीलिए याद करता है कि वह सन्तान में है। उसी तरह उसी सन्तान में होने के कारण उपदेश के पूर्वकाल में जो उपाध्याय की बुद्धि भी, उसका स्मरण शिष्य कर ही लेगा। इस तरह उपदेश के पहले की अध्यापक बुद्धि दो सन्तानें उत्पन्न करती हैं। उपदेश की बाद की उपाध्याय बुद्धि तथा उपदेश के बाद की शिष्य बुद्धि। अतः अध्यापक का अनुभव शिष्य स्मरण करेगा। दोनों में कार्य-कारण का सम्बन्ध है ही। फिर अति प्रसंग रुका कहाँ? एक के किये अनुभव या कार्य का स्मरण अथवा फल तो दूसरे ने ले ही लिया। यही तो अतिप्रसंग है। कार्य-कारण-भाव मानने पर भी अतिप्रसंग का कुछ नहीं बिगड़ेगा। क्षणिकवाद सिद्धान्त ही ऐसा है, जिनमें अतिप्रसंग होता ही है।[१४९]

इसी प्रकार किये गए कर्म का नाश नहीं किये गए कर्म की फल प्राप्ति का प्रसंग हो जायेगा। उपर्युक्त उदाहरण में उपाध्याय के किये गए कर्म का फल

---

१४८. सजातीयाः क्रमोत्पन्नाः प्रत्यासन्नाः परस्परम्।
व्यक्तयस्तासु संतानः स चैक इति गीयते।। इति

१४९. न च कार्यकारणभावनियमोऽतिप्रसंगं भङ्क्तुमर्हति। तथा ह्युपाध्याय बुद्धयनुभूतस्य शिष्यबुद्धि स्मरेत्तदुपचितकर्म फलमनुभवेद्वा। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ९६.

उपाध्याय को नहीं मिलता यह कर्म प्रणाश हुआ। दूसरी ओर शिष्य को जिसने कर्म भी नहीं किया, केवल उपाध्याय से क्षणिक सम्पर्क मात्र किया, फल भोगना पड़ता है। इसे सिद्धसेन के वार्तिककार ने लिखा है–(१) किये गए कर्म का नाश (२) नहीं किये हुए कर्म का फल भोगना, (३) संसार का विनाश, (४) मोक्ष का विनाश तथा (५) स्मरणशक्ति का भंग हो जाना इन दोषों की साक्षात् उपेक्षा करके जो क्षणिकवाद को मानने की इच्छा करता है वह विपक्षी वास्तव में बड़ा साहसी है।[१५०]

बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन कुमारिल ने श्लोक वार्तिक (पृ० २१७-२३) में शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र–२/२/१८ के भाष्य में जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (भाग-२, पृ० १६-३९) में तथा मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी (पृ० २१२-२६) में किया है। ये सभी उपर्युक्त पाँचों तर्कों का आश्रय लेते हैं।

(१) **कृत प्रणाश**–वस्तुओं के क्षणिक होने के कारण कोई भी वस्तु बिना फल का उत्पादन किये ही भूतकाल के गर्भ में विलीन हो जाती है। जो काम करने वाला व्यक्ति है, उसे फल नहीं मिलता क्योंकि फल मिलने तक के समय तक तो कार्य रहा ही नहीं, और न वह व्यक्ति ही रहा, जिससे काम किया गया। क्षण-क्षण में चीजें बदलती जा रही हैं। इसे ही 'कृतप्रणाश' या किये गए कर्म का नाश कहते हैं।

(२) **अकृतकर्म भोगः**–दूसरी ओर फल का भोग उसे करना पड़ेगा, जिसने काम नहीं किया, दूसरे के द्वारा काम किया गया था, फिर भी क्षणिकवाद ने उसे फल भोग करने को बाध्य ही कर दिया। देवदत्त कृत-कर्म का फल भोगता है, यजदत्त? इस प्रकार दूसरा दोष भी इसके बाद में है।

(३) **भवभंगः**–इसका अर्थ है–संसार का विनाश। संसार में प्राणियों का जन्म इसलिए होता है कि वे अपने पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का फल भोग लें। इसी से संसार चलता है, किन्तु जब सत्ता क्षणिक है, तब प्राणियों में अपने कर्मफल को भोगने के प्रति उत्तरदायित्व रहेगा ही नहीं। फिर वे क्यों जन्म लेगें। दूसरे के कर्म का फल तो दूसरा भोग ही लेगा। जो प्राणी गया सो गया। इस प्रकार संसार की उत्पत्ति असम्भव है।

(४) **मोक्षभंग :**–मोक्ष उसे कहते हैं जिसमें प्राणी कर्म फल के बन्धन

---

१५०. कृतप्राणाशाकृतकर्म भोगभव प्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ।। (की०स्तु०–१८)

से मुक्ति होकर फिर जन्म न ले। बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं, तो मृत्यु के बाद सुखी होने के लिए प्रयत्नवान् कौन होगा? आत्मा की कोई सन्तान या परम्परा भी वास्तव में नहीं चलती। यदि वास्तव में हो भी तो क्षणिकवाद सिद्धान्त को बांधा पहुँचेगी। अष्टांगमार्ग आदि जो मोक्ष के साधन बौद्धों के सम्मत हैं, वे कर्मफल के क्षणिक होने के कारण स्वयं क्षणिक हैं उनसे मोक्ष पाना बिल्कुल असम्भव है। अतएव मोक्ष के सिद्धान्त की हानि होती है।

(५) **स्मृतिभंग :**–अनुभव करने वाले व्यक्ति का तुरन्त विनाश हो जाता है, इसीलिए नाम की कोई चीज नहीं रहती। सभी लोग जानते हैं कि अनुभव करने वाला और स्मरण करने वाला व्यक्ति एक ही है, लेकिन क्षणिकवाद के अनुसार ये दो व्यक्ति हैं। भले ही ये उसी सन्तान में हों पर हैं दो व्यक्ति–इसमें सन्देह नहीं। इसी तरह प्रत्यितभिज्ञा भी असिद्ध हो जाती है। कोई किसी को पूर्वानुभव के आधार पर पहचान नहीं सकता। इसलिए बौद्धों को ये महासाहसिक कहते हैं।

जैनदर्शन बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का खण्डन करते हुए कहता है कि आत्मा नहीं है? केवल भोगमात्र होता है, दूसरी ओर बौद्ध लोग स्वर्ग प्राप्ति के लिए मन्दिर में चैत्त की पूजा भी करते हैं। सभी संस्कारों को क्षणिक मानते हैं परन्तु हजारों वर्षों तक रहने वाले मठों का निर्माण कर रहे हैं। एक ओर कहते हैं कि एक कुछ शून्य है और दूसरी ओर गुरु को धन देने का आदेश है।[१५१]

पदार्थ (द्रव्य) :–

जैनदर्शन यह मानता है कि पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं, क्योंकि भारतीय दार्शनिकों में यह मानते हैं कि पदार्थ सत् है। अन्य दार्शनिक मानते हैं कि पदार्थ असत् है। जैनदर्शन के दृष्टिकोण में समन्वयात्मक दृष्टि प्राप्त होती है। वस्तुतः जैनदर्शन की सबसे बड़ी, भारतीय दर्शन को देन है कि वह अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में सर्वत्र समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाता है। इसलिए उसने कहा है कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक है।

---

१५१. नास्त्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं,
संस्कारा: क्षणिका: युगस्थितिभृतश्चैते विहारा: कृता:।
सर्वम् शून्यमिदं वसूनि गुरुवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियतो दम्भस्य भूमि: परा।।

(न्याय मञ्जरी, पृ० ३९)

आचार्य मल्लिषेण ने अनेकान्त और स्याद्वाद में अभेद माना है। इसी अनेकान्तात्मकता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उत्पाद व्यय, ध्रौव्य से युक्त वस्तु में अनन्तधर्मात्मकता की सिद्धि की है, और इस अनन्तधर्मात्मकता को कहने की निर्दोष प्रणाली सप्तभङ्गी नय की विस्तृत समीक्षा की है। इसी सन्दर्भ में सकलादेश, विकलादेश, नयों का विस्तृत विवेचन एवं अनेकान्त पर लगाये जाने वाले दोष तथा उनका समाधान किया गया है।

यहाँ पर स्पष्ट है कि पदार्थों की संख्या अथवा प्रत्येक द्रव्य का अलग-अलग निरूपण करने का ग्रन्थकार का लक्ष्य नहीं रहा, अपितु विभिन्न युक्तियों एवं प्रमाणों का आश्रय लेकर तथा पूर्वाचार्यों के कथनों से पुष्टि कर-कर के ग्रन्थकार ने वस्तु के अनन्तधर्मात्मक स्वरूप की ही सिद्धि की है।

वस्तु का स्वरूप :-

द्रव्य का लक्षण 'सत्' किया गया है। जैनदर्शन में सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ किया गया है। जहाँ वेदान्त और सांख्य दर्शन में 'सत्' का अर्थ कूटस्थ नित्य किया गया है। बौद्धदर्शन में उत्पाद और व्ययशील ही प्रतिक्षण परिवर्तित द्रव्य को 'सत्' कहा गया है। वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण और कर्म को सत्ता के समवाय से 'सत्' कहा है, वहाँ जैनदर्शन की अपनी विशेष दृष्टि है। द्रव्य शब्द दो अर्थों से युक्त है द्रु द्रवणशीलता+य स्थायित्व। अर्थात् जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील होकर भी ध्रुव है।[१५२]

अपनी जाति का त्याग किये विना उत्तर पर्याय का ग्रहण करना उत्पाद है पूर्व, पर्याय का त्याग व्यय है और दोनों अवस्थाओं में एक द्रव्य का अन्वय बना रहना ही ध्रौव्य है। इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् यह वस्तु के स्वरूप की निर्दोष परिभाषा है।[१५३]

इस प्रकार द्रव्य नित्यानित्यात्मक ही है। जैसा कि कहा भी गया है कि सत् का अत्यन्त विनाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता सभी पदार्थ अपने गुण और पर्यायरूप से उत्पाद व्यय करते रहते हैं।[१५४]

---

१५२. द्र०प्र०मी० भाषा टिप्पण, पृ० ५५.

१५३. त०सू०, ५. ३०

१५४. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उत्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति।। पंचा०गा०-१५०.

अन्यत्र भी कहा गया है कि उत्पाद विनाश और ध्रौव्य का समवाय एक ही समय में होने से द्रव्य त्रय रूप है।[१५५]

स्याद्वादमञ्जरी में उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत् को समझाते हुए कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण उत्तरपर्यायों के होने से उत्पन्न और पूर्व पर्यायों के नाश होने से नष्ट होकर भी स्थिर और एक रहता है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र दोनों भाइयों का अधिकरण एक माना है, उसी प्रकार उत्पाद और विनाश दोनों का अधिकरण एक अन्वयी द्रव्य है, इसलिए उत्पाद और विनाश के रहते हुए भी द्रव्य सदा स्थिर रहता है। उत्पाद और व्यय रूप पर्यायों के कथंचित् अनेक होने पर भी द्रव्य कथंचित् एक माना गया है।[१५६]

यदि उत्पत्ति और विनाश के क्षण द्रव्य की स्थिरता स्वीकार न की जाए अर्थात् द्रव्य में भी उत्पत्ति और व्यय होना माना जाने लगे तो उत्पत्ति के पूर्वकाल में द्रव्य को सर्वथा असत् मानना होगा और असत् से सत् उत्पत्ति स्वीकार करने का प्रसंग उपस्थित होगा।[१५७]

द्रव्य रूप से ध्रौव्यपना :–

पूर्वपक्षी कहते हैं कि कटे हुए नाखूनों की तरह ही यह वहीं है इस प्रकार की प्रतीति होती है परन्तु वास्तव में द्रव्य वही नहीं होता सम्पूर्ण पर्याय नई-नई उत्पन्न होती है। तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि कटे हुए नाखूनों की जगह फिर से पैदा हुए नाखूनों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परन्तु उत्पाद और नाश के होते हुए द्रव्य में परिवर्तन मानने में प्रत्यक्ष से बाधा उत्पन्न होती है। उत्पाद और व्यय के होते हुए भी द्रव्य का एक सा अवस्थित रहना प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध है।[१५८]

इसीलिए कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं, फिर भी उनमें सर्वथा भिन्नपना नहीं होता। पदार्थों में आकृति और जाति से ही अनित्यपना और नित्यपना होता है।[१५९]

---

१५५. समवेदं खलु दध्वं संभवठिदिणाससण्णिद ट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं तु तत्तिदयं।। प्र०सा०गा०–१५०.

१५६. उत्पादेविनाशे च तत्साधारणम् अन्वयिद्रव्यत्वात्। इत्थमेव हि....क्रत्वात्। (स्या०मं०पृ० १९७)

१५७. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उत्पादो। पंचा०गा०–१५, १९, ६०.

१५८. प्रमार्णन बाध्यमानस्यान्वयर्स्या.....सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्।। स्या०मं०पृ० १९८

१५९. सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ...व्यवस्थानात्।। वही०, पृ० १९८

सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती व विनष्ट होती हैं :–जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से एक द्रव्य का उत्पाद व्यय रूप पर्यायों में अन्वित होना सिद्ध है, उसी प्रकार पर्यायों के उत्पाद और व्यय का भी निर्दोष अनुभव हमें होता है। श्वेत शंख में पीत रूप पर्याय का अनुभव होता है, और जब नेत्रादि विकार का नाश हो जाता है तब पुनः पीतवर्ण का ज्ञान स्खलित हो जाता है। इस प्रकार श्वेत शंख में पीतवर्ण की उत्पत्ति और पीतवर्ण के व्यय पूर्वक श्वेतवर्ण की उत्पत्ति दोनों ही दशाओं में शंख की ही एक द्रव्य रूप से अन्विति होती है। अतः पर्याय रूप से उत्पत्ति और नाश अनुभव विरुद्ध नहीं है। इसी प्रकार जीवादि पदार्थों में भी हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायों का होना अनुभव सिद्ध है। अतएव पर्यायों के अनुभव को बाधित करने वाले हेतु का सद्भाव नहीं होने से द्रव्य में उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप की सिद्धि होती है।[१६०]

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य में कथञ्चित् भेदाभेद है। जैसे कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कथंचित् भिन्न है, भिन्न लक्षण वाले होने से रूप, रस, स्पर्श और गन्ध की भाँति।[१६१]

यहाँ भिन्न लक्षण रूप हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि निम्नोक्त प्रकार से तीनों के भिन्न लक्षण हैं–

उत्पत्ति के पूर्व जिसका अभाव होता है उसका प्रादुर्भाव (आत्म-लाभ-उत्पाद) जो विद्यमान होता है, उसकी सत्ता का अभाव (व्यय) तथा द्रव्य रूप से विद्यमानता, इस प्रकार से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के परस्पर निर्दुष्ट लक्षण हैं। अतएव भिन्न लक्षण से वाक्य होने के कारण इन तीनों में कथंचित् भेद की सिद्धि होती है।

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न लक्षण वाले होने पर भी एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। यदि एक-दूसरे से निरपेक्ष हों तो आकाश पुष्प की तरह उनका अभाव मानना होगा।[१६२]

---

१६०. पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपघटे च अस्खलितपर्यायनुभवसद्भावात्।। स्या०मं०पृ० १९८

१६१. उत्पादेविनाशध्रौव्याणिस्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात् रूपादिवदिति। स्या०मं०पृ० १९९

१६२. न चामी भिन्न लक्षण अपि परस्परानपेक्षा खपुष्पवदसत्वापत्तेः। वही० १९९.

इसी की पुष्टि कुन्दाकुन्दाचार्य ने प्रवचनासार में की है। वे कहते हैं कि उत्पत्ति नाश के विना नहीं और नाश उत्पत्ति के बिना नहीं। जब तक किसी का पर्याय का नाश नहीं दूसरे का नाश भी सम्भव नहीं। इस प्रकार उत्पत्ति और नाश का परस्पर अविनाभाव है।[१६३]

इसी प्रकार उत्पाद और नाश से रहित स्थिति नहीं होती। अन्यथा उत्पाद और विनाश नहीं बन सकेगा। परिणामी के बिना परिणाम सम्भव नहीं। इसलिए वाचक उमास्वाति का कथन है कि गुण-पर्याय-वियुक्त द्रव्य नहीं होता।[१६४]

समन्तभद्राचार्य वस्तु को उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप सिद्ध करते हुए कहते हैं कि घड़े, मुकुट और स्वर्ण को चाहने वाले पुरुष घड़े के नाश मुकुट के उत्पाद और सोने की स्थिति में क्रम से शोक हर्ष और मध्यस्थ भाव रखते हैं तथा मैं दूध पीऊँगा, इस प्रकार का व्रत रखने वाला दूध पीता है, दही नहीं खाता, मैं आज दही ही खाऊँगा, इस प्रकार का नियम लेने वाला केवल दही ही खाता है, दूध नहीं पीता और गोरस न सेवन करने का व्रत लेने वाला पुरुष दूध और दही दोनों नहीं खाता। अतः प्रत्येक वस्तु के तीनों रूप है।[१६५]

वस्तु में अनन्तधर्मात्मकता की सिद्धि :-

जैनदर्शन पदार्थों में अनन्तधर्म स्वीकार करता है।[१६६] उसके अनुसार यदि पदार्थों में अनन्त धर्म न स्वीकार किये जाये, तब वस्तु की सिद्धि ही नहीं हो सकती जैसे कि अनुमान भी है-प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म माने बिना वस्तु में वस्तुत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जो अनन्त धर्मात्मक नहीं होता वह सत् भी नहीं होता जैसे आकाश पुष्प।[१६७]

जीव द्रव्य में अनन्तधर्मात्मकता :-

ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आठ मध्यप्रदोशों की स्थिरता, अमूर्तत्व, असंख्यात, प्रदेशोपना और जीवत्व इत्यादि आत्मा के सहभावी धर्म है।[१६८]

---

१६३. ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि स्रम्भव विहीणो।
उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोत्वेण अत्थेण।। प्र०सा०ग्रा०-१००.

१६४. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। त०सू०-५. ३८.

१६५. घटमौलिसुर्वर्णोर्थी नाशोत्पदस्थितिष्वयम्....त्रयात्मकम्।। आ०मी०का०-५९-६०

१६६. तत्त्वम् त्वनेकान्तमशेषरूपम् युक्त्यनुशासनम्। आप्तमी०का० ६४.

१६७. यदनन्तधर्मात्मकं न भवति तत् सदपि न भवति।
यथा वियदिन्दीवरम् इति केवलव्यतिरेकीहेतुः।। स्या०म०पृ० २०९

१६८. कर्तृत्व भोक्तृत्वं प्रदेशाष्टकनिश्चलता....सहभाविनो धर्माः। स्या०मं०पृ० २०९.

इस प्रकार एक जीव में इन अनेक गुणों का होना अनन्तधर्मात्मकता की सिद्धि करता है जो धर्म द्रव्य के साथ रहते हैं उन्हें सहभावी धर्म कहते हैं। इन्हीं सहभावी धर्मों को गुण भी कह सकते हैं।[१६९]

जीव द्रव्य में पर्यायों की विवेचना करने का ग्रन्थकार का तात्पर्य यही सिद्ध करने का है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इसी प्रकार से अन्य पदार्थों में तथा शब्दों में भी अनन्त धर्मात्मकता होती है। जिस प्रकार घड़े में कच्चापन, पक्कापन, मोटापन, चौड़ापन, कम्बुग्रीवापन, जलधारण जल आहारण, ज्ञेयपन, नयापन, पुरानापन आदि अनन्तधर्म रहते हैं उसी प्रकार सभी पदार्थों में भी अनन्तधर्मात्मकता की सिद्धि होती है।[१७०]

अनेकान्तवाद :-

जैनदर्शन के अनुसार पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म एवं रूप है। वस्तु में अनन्तधर्मों को स्वीकार करने के कारण जैनदर्शन अनेकान्त दर्शन भी कहा जाता है। जैनों के अनुसार वस्तु का स्वरूप विराट् है। उसमें सत्-असत्, भाव-अभाव आदि विरुद्ध धर्म विद्यमान रहते हैं। ध्रौव्य नित्यता का परिचायक है। तथा उत्पाद और व्यय अर्थात् उत्पत्ति और विनाश अनित्यता का सूचक हैं। संसार का प्रत्येक पदार्थ नित्य अनित्यात्मक, परिणामी-अपरिणामी, शाश्वत-क्षणिक और सत्-असत् दोनों ही है। प्रत्येक प्रदार्थ गुणरूप से नित्य तथा पर्याय रूप से अनित्य है। पदार्थ द्रव्य रूप से नित्य है, किन्तु विकार की दृष्टि से अनित्य है। उदाहरण के द्वारा इसे सरलता से समझा जा सकता है-सुवर्ण के पिण्ड को गला कर उससे विभिन्न आभूषण आदि का निर्माण होता है। बाद में सभी उन आभूषणों को गलाकर स्वर्ण पुनः पिण्ड के रूप में आ जाता है। इस प्रकार आकार में परिवर्तन होता रहा है। किन्तु द्रव्य वही रहता है। अतः वस्तु का पदार्थ द्रव्य रूप में नित्य तथा आकार यया पर्यायरूप से अनित्य है। यही पदार्थ का नित्य अनित्यात्मक स्वभाव है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। वस्तु अपने स्वरूप को दृष्टि से सत् है और अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य वस्तु के स्वरूप आभूषण

---

१६९. अनन्तधर्मात्मकत्वं च आत्मनि तावद् साकारानाकारोपयोगिता। वही, पृ० २०९

१७०. घटे पुनरामत्वम् पाकजरूपादिमत्त्वम्....एवं सर्वपदार्थेष्वापि....प्रतीत्य वाच्यम्।। स्या०मं०, पृ० २०२

आदि के स्वरूप की दृष्टि से असत् है। कोई भी वस्तु न तो सर्वथा सत् होती है और न असत् ही। प्रत्येक वस्तु किसी दृष्टि से अथवा किसी अपेक्षा से ही सत् और असत् दोनों ही प्रतीत होती है। स्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव उसी में रहता है, अन्य में नहीं। इस बात को समझने के लिए हम कह सकते हैं–घट का अपना स्वरूप है पट का अपना स्वरूप न तो घर, पर ही और न पट, घट है, दोनों का स्वरूप दोनों में अलग-अलग वर्तमान है। अतः अपने स्वरूप की दृष्टि से घट-पट दोनों ही नित्य हैं। परन्तु दूसरे के स्वभाव की दृष्टि से असत् हैं। घट टूट जाने पर विनष्ट हो जाता है। अतः असत् है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव की दृष्टि से सत् है परन्तु परस्व-भाव की दृष्टि से असत् है। इस प्रकार की दृष्टि से अथवा अपेक्षा से वस्तु अनन्त-धर्मात्मक सिद्ध होती है पदार्थ भावरूप है और अभावरूप भी। सत्-असत् भाव-अभाव विरोधी ज्ञात होते हैं किन्तु इन विरुद्ध धर्मों का समन्वय करना ही जैनदर्शन का अनेकान्तवाद कहलाता है। इसके अनुसार वस्तु का स्वरूप अनन्त है, उसमें धर्म अनन्त है। किसी भी वस्तु का सर्वथा एक रूप होना असम्भव है। संक्षेप में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि-अस्ति-नास्ति, भाव-अभाव, चिरन्तनता-नश्वरता और नित्य-अनित्य परिणाम का समन्वय करना ही अनेकान्तवाद की देन है। यह अनेकान्तवाद जैन दार्शनिकों का तत्त्व विषयक दृष्टि-कोण है। इस दृष्टि कोण का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें विरोधी धर्म भी समाहित रहते हैं। वस्तुतः समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ध्यान दिये बिना सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अनेकान्तवाद को लोग जैन धर्म की उदारता का परिणाम बतलाते हैं किसी एक वाद का ही अवलम्बन एकाङ्गीपन है। सङ्कीर्णता है, परन्तु अनेकान्तवाद से विरोधी धर्म का समन्वय करना विशाल दृष्टि एवम् उदार विचार का द्योतक है।

स्याद्वाद :–

'स्याद्वाद' के द्वारा अनेकान्तवाद का समर्थन किया जाता है। वस्तुतः स्याद्वाद एवम् अनेकान्तवाद समानार्थक शब्द है। विचार करने पर दोनों का लक्ष्य एक ही प्रतीत होता है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त गुण होते हैं। मनुष्य किसी वस्तु के एक ही गुण या धर्म का ज्ञान एक समय में प्राप्त कर सकता है। कोई मुक्त व्यक्ति ही एक काल में वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान

कर सकता है। सामान्य मानव का ज्ञान अपूर्व एवं आंशिक होता है। वस्तु के आंशिक ज्ञान को जैनी लोग 'नय' कहते हैं। 'नय' किसी वस्तु को जानने के लिए विविध दृष्टिकोण है। 'नय' सत्य के आंशिक रूप कहे जाते हैं। इनसे सापेक्ष किसी की अपेक्षा से सत्य की उपलब्धि होती है। निरपेक्ष स्वाभाविक पूर्व सत्य की नहीं।

किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में हमारा जो निर्णय होता है। वह सभी दृष्टियों से अर्थात् पूर्ण सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता विशेष परिस्थिति विशेष काल और विशेष दृष्टि से ही मानी जा सकती है। समाज के मतभेदों का कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समाज अपने ही मत को पूर्ण सत्य मानता है और दूसरे के मत की अवहेलना करता है, उसे सम्मान नहीं देता।

स्याद्वाद का अर्थ :–जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श या 'नय' के पहले उसे सापेक्ष तथा सीमित बनाने के लिए स्यात् विशेषण का जोड़ना अति आवश्यक है। स्यात् शब्द से यह सङ्केत होता है कि उसके साथ प्रयुक्त वाक्य की सत्यता प्रसंग विशेष पर ही आश्रित है। अन्य प्रसंगों में वह मिथ्या भी हो सकती है। किसी भी विषय के सम्बन्ध में हमारा जो परामर्श होता है वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। स्यात् शब्द 'अस्' धातु के विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रति रूपक अव्यय माना जाता है।

कुछ लोग स्याद्वाद का अर्थ शायद समझते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। शायद शब्द अनिश्चय का द्योतक है और स्याद्वाद एक निश्चित सिद्धान्त का सूचक है, इसी प्रकार कुछ लोग स्याद् का अर्थ कदाचित् या सम्भावना समझते हैं। किन्तु ये शब्द भी संशय के ही वाचक है। स्याद्वाद संशय का नहीं, अपितु सत्य एवं एक सुनिश्चित सिद्धान्त का द्योतक है।

स्याद्वाद को ठीक-ठीक समझने के लिए जैन-दार्शनिकों ने हाथी और छः अन्धों का दृष्टान्त दिया है। वह इस प्रकार है–

दृष्टान्त–एक बार छः अन्धों के एक समूह में प्रश्न उठा कि हाथी कैसा होता है? उन लोगों ने निश्चय किया कि चलो, स्पर्श करके जाना जाए। फलतः कोई उसका पैर कोई कान, कोई पूँछ तथा कोई उसकी सूंड पकड़ता है। जो अन्धा अपने हाथ को हाथी के जिस अंग पर रखता है, वह उसी भाग को पूरा हाथी समझ लेता है जो अन्धा हाथी के पैर का स्पर्श करता है वह हाथी को खम्भे जैसा समझता है। जो अन्धा हाथी के सूँड को स्पर्श करता है, वह हाथी

को अजगर की तरह बतलाता है और जो हाथी की पूँछ को पकड़ता है, वह उसे रस्सी जैसा बतलाता है। जो हाथी के पेट का स्पर्श करता है, वह हाथी को दीवार जैसा कहता है। जो मस्तक को छूता है, वह उसे छाती की भाँति बतलाता है। जो हाथी के कान का स्पर्श करता है, वह हाथी को सूप जैसा बतलाता है। प्रत्येक अन्धा यही सोचता है कि हाथी के आकार के विषय में उसने जो कुछ जाना है, वही सच है और शेष सब का ज्ञान गलत है, अविश्वसनीय है। वस्तुतः यहाँ सभी अन्धों का ज्ञान गलत है, क्योंकि सभी ने हाथी के एक-एक अंग का स्पर्श किया है।

आज विभिन्न दर्शनों में जो विवाद है, अपनी ही बात को पूर्ण सत्य मानकर जनों के समक्ष प्रस्तुत करने का जो हठ है वहीं सारे विवादों की जड़ है। यदि प्रत्येक दर्शन या विचारक यह सोचता है कि अन्धों की भाँति हमारा भी मत परिस्थिति विशेष में ही सही है। दूसरे का मत दूसरी दृष्टि से सही होगा, तो आपसी विचारों में मतभेद न होता। सर्वत्र सौहार्द और सम्मान की भावना होती।

उपर्युक्त कारणों से ही जैनदर्शन में प्रत्येक नय के साथ 'स्यात्' शब्द जोड़कर वाक्य बोलने का विधान किया गया है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि घड़ा लाल है तो हमें बोलना चाहिए कि स्यात् घड़ा लाल है। यदि यह कहा जाता है कि घड़ा लाल है तो इससे अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं, यदि अन्धे हाथी के रूप को बतलाते समय यह कहते कि स्यात् हाथी खम्भे के समान होता है, स्यात् हाथी रस्सी के समान होता है, तो उनका मत दोष रहित होता। वैसी स्थिति में सभी अन्धों की बातें अपने-अपने ढंग से ठीक होती तथा समग्र दृष्टि से अयथार्थ होती है। इसे ही स्याद्वाद कहा जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक ज्ञान एकाङ्गी है, आंशिक है।

सप्तभङ्गी नय :-

न्यायशास्त्र में साधारणतया परामर्श के दो रूप माने गये हैं-(१) अन्वयी जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का विधान किया जाता है अथवा (२) व्यतिरेकी जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का निषेध किया जाता है। परन्तु जैन न्याय में सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श सात प्रकार का माना जाता है। जिसे सप्तभङ्गी नय के नाम से कहते हैं। अब आगे सप्तभङ्गी नय की चर्चा विस्तार के साथ की जायेगी।

(१) स्यादस्ति :–(किसी अपेक्षा से हैं) यह प्रथम परामर्श है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाए कि स्यात् घटः अस्ति तो इसका अर्थ होगा कि किसी विशेष देश काल और प्रसंग में घट है। यह भावात्मक वाक्य है।

(२) स्यात् नास्ति :–यह अभावात्मक परामर्श है। स्यात् घटः नास्ति' का अर्थ होगा कि स्यात् घट इस समय इस स्थान पर नहीं है।

(३) स्यादस्ति च नास्ति च :–वस्तु की सत्ता किसी एक दृष्टिकोण से हो सकती है, और किसी अन्य दृष्टि से नहीं भी हो सकती। स्याद् गृहे घटोऽस्ति च नास्ति च' अर्थात् घर में किसी स्थान विशेष परिस्थिति विशेष रूप विशेष तथा परिणाम विशेष में घट है भी और किसी अन्य स्थान विशेष, परिस्थिति विशेष आदि की दृष्टि से घट नहीं भी है। जैन तार्किकों के अनुसार यह तीसरे प्रकार का परामर्श है। इसमें किसी वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व के विषय में एक साथ ही बोध होता है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने के लिए यह प्रकार भेद मान गया है।

(४) स्यात् अवक्तव्यम् :–जिस परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार करना हो तो उसके विषय में 'स्यात्' अवक्तव्यम्' का प्रयोग होता है। जैन दार्शनिक इसे परामर्श का चतुर्थ भेद मानते हैं। इस परामर्श के उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि मिट्टी का घड़ा जब पूर्ण रूप से नहीं पकता है तब कुछ काला रह जाता है, कच्चा रह जाता है। पूर्ण पक जाने पर वह लाल वर्ण का हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई पूछता है कि सभी समय और सभी अवस्थाओं में घड़े का रङ्ग कैसा होता है? तब इस प्रश्न का एक मात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि वस्तुतः घड़े के रङ्ग के सम्बन्ध में कुछ निश्चित् रूप से कहा ही नहीं जा सकता। घड़े का रङ्ग स्यात् अवक्तव्य है।

(५) स्यात् अस्ति च अवक्तव्यश्च :–सप्तभङ्गी नय के पाँचवे से लेकर सातवें नय तक का रूप निम्नलिखित रूप से बनता है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय नय के बाद चौथे नय जोड़ देने से क्रमशः पञ्चम, षष्ठ एव सप्त नय तैयार हो जाता है। प्रथम और चतुर्थ नय को एक साथ मिला देने से पाँचवा नय तैयार हो जाता है, जैसे–स्यात् अस्ति च अवक्तव्यं च अर्थात् स्यात् है भी और अवक्तव्य भी है। किसी खास दृष्टिकोण से हम घड़े को लाल कह सकते हैं, किन्तु जब दृष्टिकोण का साफ-साफ निर्देश न हो तो घड़े के रङ्ग का वर्णन

संभव नहीं हो सकता है। अतः सबकुछ मिलकर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर घड़ा लाल भी है और अवक्तव्य भी है। यह पाँचवें नय का रूप है।

(६) स्यात् नास्ति च अवक्तव्यं च :–द्वितीय और चतुर्थ नय के रूप को मिला देने से छठे परामर्श का रूप तैयार हो जाता है। किसी भी वस्तु के विषय में किसी विशेष दृष्टिकोण से कह सकते हैं–नहीं है। किन्तु दृष्टिकोण से स्पष्ट न होने पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अतः घट लाल नहीं है और अवक्तव्य भी है।

(७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च :–यह परामर्श तृतीय और चतुर्थ परामर्श को जोड़ने से बनता है। इसके अनुसार घट एक दृष्टिकोण से लाल है, दूसरे दृष्टिकोण से लाल नहीं है और जब दृष्टिकोण अस्पष्ट हो तो अवक्तव्य भी है।

सुविधा के लिए सप्तभंगी नय के विभिन्न वाक्यों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–

(१) स्यादस्ति–प्रत्येक वस्तु विधि धर्म से कथंचित् अस्तित्व रूप ही है।
(२) स्याद्नास्ति–प्रत्येक वस्तु निषेध धर्म से कथंचित् नास्तित्व रूप ही है।
(३) स्यादस्तिनास्ति च–प्रत्येक वस्तु कहीं है तथा कहीं नहीं भी है।
(४) स्यादवक्तव्यम्–प्रत्येक वस्तु एक साथ विधि निषेध धर्मों से कंथचित् अवक्तव्य ही है।
(५) स्यादस्ति अवक्तव्य–स्यात् है तथा अवक्तव्य भी है।
(६) स्याद्नास्ति च अवक्तव्यं च–स्यात् नहीं है तथा अवक्तव्य भी है।
(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च–स्यात् है नहीं है तथा अवक्तव्य भी है।

जैन-दर्शन संशयवादी नहीं है–

स्याद्वाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण जैन-दर्शन को कुछ लोग सन्देहवाद अथवा अज्ञेयवाद समझने की भूल करते हैं। सन्देहवाद ज्ञान की सम्भावना में सन्देह करता है, किन्तु वस्तुतः जैन-दर्शन सन्देहवाद नहीं है। इसके विपरीत जैन-दर्शन ज्ञान की सम्भावना की सत्यता में विश्वास करता है। वह पूर्ण ज्ञान की सम्भावना पर भी विश्वास रखता है। सामान्य ज्ञान की सम्भावना पर

भी सन्देह नहीं करता। अतः स्याद्वाद को सन्देहवाद नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। स्यात् शब्द का प्रयोग कर किसी वाक्य से उसकी असत्यता या संदिग्धता का बोध न कराकर, उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार ज्ञान, स्थान, काल और दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। अतः यह स्याद्वाद-सापेक्षवाद का सिद्धान्त है। जैनों का यह सापेक्षवाद वस्तुवादी है, क्योंकि वस्तुओं के अनन्त गुण उसके द्रष्टा के ऊपर निर्भर नहीं करते, किन्तु उनकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता है। जैन-दर्शन वस्तुओं की यथार्थ सत्ता में विश्वास करने की शिक्षा देता है।

द्रव्य विभाग :–जैनी लोग द्रव्य को दो भागों में विभक्त करते हैं–(१) अस्तिकाय (Extended) तथा (२) अनस्तिकाय (Non-Extended)। अस्तिकाय उन द्रव्यों को कहते हैं जो स्थान घेरते हैं। काल के अतिरिक्त सभी द्रव्य अस्तिकाय हैं क्योंकि सभी स्थान घेरते हैं। अस्तिकाय द्रव्य को पुनः दो भागों में विभक्त किया जाता है–(१) जीव और (२) अजीव। जैनों के जीव सम्बन्धी विचार की चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ अजीव तत्त्व के भेद और स्वरूप के विषय में विचार करना है। अजीव तत्त्व चार प्रकार के होते हैं–(१) धर्म (२) अधर्म (३) पुद्गल और (४) आकाश। द्रव्य के इस वर्गीकरण को सरलता से समझने के लिए निम्नलिखित तालिका उद्धृत है–
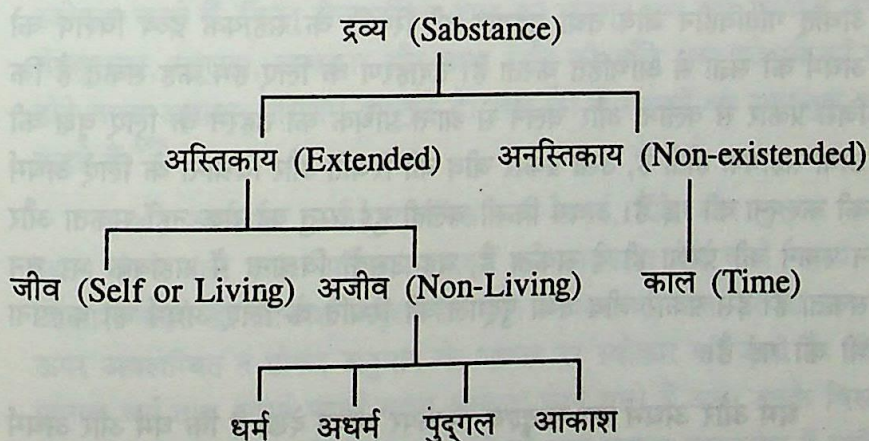
धर्म और अधर्म :–

आकाश और काल की तरह धर्म और अधर्म का अस्तित्व भी अनुमान से ही सिद्ध होता है। धर्म के लिए गति और अधर्म के लिए स्थिति (ठहराव)

प्रमाण है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि जैनों के द्वारा धर्म और अधर्म द्रव्यों की कल्पना अन्यत्र स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न है।[१७१]

धर्म :–गतिशील जीव तथा पुद्गल के सहकारी कारण द्रव्य विशेष को धर्म की संज्ञा दी गई है। उदाहरण के लिए मच्छली का पानी में चलना केवल मच्छली के कारण ही संभव नहीं हो सकता, बल्कि अनुकूल आधार या सहकारी कारण जल से ही सम्भव होता है। यदि जल न हो तो मच्छली का तैरना कैसे सम्भव होगा? यद्यपि मच्छली गतिशील है, परन्तु जल बिना उसकी गति सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गति के लिए एक सहायक वस्तु की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार जल में चलने वाली मच्छली के लिए जल सहायक या सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की गति के लिए धर्म की कल्पना की गई है। धर्म स्वयं जीव की गति की प्रेरणा से असमर्थ है, परन्तु उसकी गति के लिए सहायता भर करता है। इसी प्रकार जल मच्छली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायता मात्र देने का कार्य करता है। गति के इसी सहकारी कारण को जैन लोग धर्म कहते हैं।[१७२]

अधर्म :–अधर्म धर्म का प्रतिलोम है। अधर्म की कल्पना धर्म के विपरीत है। यह द्रव्यों के स्थिर रहने में सहायक होता है। जैन-दर्शन स्थितिशील जीव अर्थात् गतिविहीन जीव तथा पुद्गल की स्थिति के सहायक द्रव्य विशेष को अधर्म की संज्ञा से अभिहित करता है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार से क्लान्त और चलने से श्रान्त पथिक को ठहरने के लिए वृक्ष की छाया सहायक होती है, उसी प्रकार जीव की स्थिति और विश्रान्त के लिए अधर्म की कल्पना की गई है। अधर्म किसी चलती हुई वस्तु को रोक नहीं सकता और न रुकने की प्रेरणा ही दे सकता है, वह उसके विश्रान्त में सहायक भर बन सकता है। इस प्रकार जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी की गई है।

धर्म और अधर्म का सादृश्य :–ऊपर आपने देखा है कि धर्म और अधर्म में परस्पर विरोध है। किन्तु दोनों में कतिपय समानताएँ भी हैं। ये दोनों गति और

---

१७१. धर्मादयः संज्ञाः सामयिकाः–तत्त्वार्थराजवार्तिक ५, १, १७-१८.
१७२. देखिये–हरिभद्र के षड्दर्शन–समुच्चाय की गुणरत्न कृत टीका।

स्थिति के उदासीन कारण हैं। ये स्वयं क्रियाशील नहीं हैं। यहाँ धर्म और अधर्म नैतिक अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

(३) पुद्गल :– जैन-दर्शनों में पुद्गल शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण ढंग से किया जाता है। सामान्य रूप से पुद्गल शब्द पृथिवी आदि भूतों अथवा भौतिक द्रव्यों के लिए प्रयुक्त होता है। जड़-तत्त्वों को पुद्गल कहते हैं। दूसरे दर्शन पुद्गल-स्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से कहते हैं। सर्वदर्शन-संग्रह में पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति की गई है।[१७३] उसके अनुसार पुद्गल उसे कहते हैं, जिसका संयोग और विभाग हो सके। जड़ द्रव्यों का संयोग भी होता है और विभाग भी पुद्गलों को जोड़कर उन्हें एक बड़ा आकार प्रदान किया जा सकता है, और तोड़कर अति लघुरूप में भी रखा जा सकता है। पुद्गल के सबसे छोटे उस भाग को अणु कहा जाता है, जिसका कि और विभाग नहीं किया जा सकता। दो अथवा दो से अधिक अणुओं के संयोग से संघात या स्कन्ध बनता है। जीवों के शरीर और अन्य पर्वत आदि जड़ द्रव्य अणुओं से ही बने संघात है। मन, वचन तथा प्राण जड़-तत्त्वों से ही निर्मित है।[१७४]

पुद्गलो के चार गुण :–पुद्गलों अथवा पुद्गलों से बने पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं–स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप। ये चारों गुण अणुओं एवं संघातों दोनों में विद्यमान रहते हैं। अन्य दार्शनिक शब्द को भी भूतों का गुण विशेष स्वीकार करते हैं, किन्तु जैनदार्शनिक शब्द को मूलभूत गुण नहीं स्वीकार करते वे सूक्ष्मता, स्थूलता, अन्धकार और छाया आदि की भाँति शब्द को स्कन्धों का होने वाला अवान्तर परिणाम बतलाते हैं। शब्द को वे स्कन्धों का आगन्तुक गुण कहते हैं।[१७५]

(४) आकाश :–जैन दार्शनिक धर्म-अधर्म, जीव और पुद्गल आदि स्थान घेरने वाले अतः अस्तिकाय द्रव्यों को अवकाश देने वाले पदार्थ को आकाश कहते हैं। आकाश अदृश्य है। अतः आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर अनुमान के आधार पर स्वीकार की जाती है। जीव, पुद्गल धर्म तथा अधर्म पदार्थ स्थान आकाश घेरने वाले हैं अतः उनके विस्तार के लिए प्रदेश पर्याय वाले आकाश पदार्थ की सत्ता मानना आवश्यक है यही है

---

१७३. पूरयन्ति गलन्ति च।
१७४. तत्त्वार्थधिगमसूत्र–५–१९.
१७५. तन्वार्थ सूत्र–५/२४

आकाश की सिद्धि के लिए अनुमान। आकाश दो प्रकार का होता है। लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में जीव, पुद्गल धर्म एवं अधर्म आदि द्रव्यों की स्थिति होती है। अलोकाकाश की स्थिति लोक से ऊपर के भाग में होती है अर्थात् अलोकाकाश जगत् से बाहर है।

काल :–काल दिखाई नहीं पड़ता। अतः काल की सत्ता अनुमान के आधार पर स्वीकार की जाती है। जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील है। इस परिणाम के साधारण कारण के रूप में काल की सत्ता मानी जाती है। उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की बर्त्तना, स्थिति, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व तथा प्राचीनत्व काल के ही कारण संभव होता है।[१७६] काल के अभाव में वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता, प्राचीनता आदि कुछ भी संभव नहीं है। इनके अस्तित्व से यह सिद्ध होता है कि काल की सत्ता है। यहाँ इनके माध्यम से हम काल की सत्ता के विषय में विचार करें।

बर्त्तना को ही स्थिति कहते हैं। स्थित या बर्त्तना का अर्थ पदार्थ का अनेक क्षणों में वर्तमान रहना है। काल के अवयवों को विना स्वीकार किये वर्त्तना की कल्पना निराधार है। परिणाम कहते हैं अवस्थाओं के परिवर्तन को। परिणाम भी विना काल की सत्ता स्वीकार किये संभव नहीं है। एक समय का कच्चा आम दूसरे समय में पक भी जाता है। आम की दोनों अवस्थायें एक काल में नहीं हो सकती। काल के परिवर्तन के विना एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं हो सकते। इस प्रकार पूर्व क्षण एवम् अपर क्षण में व्याप्त रहने वाली क्रिया काल के ही कारण संभव हो पाती है। प्राचीन तथा नवीन, पहले तथा बाद के भेद भी काल के बिना सिद्ध नहीं हो सकते। ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल के ही ऊपर अवलम्बित है। इन सारी युक्तियों से हम काल का अनुमान करते हैं।

काल अनिस्तकाय है :–काल का देशिक विस्तार नहीं माना जाता, क्योंकि वह स्थान नहीं घेरता है। अतः काल अनस्तिकाय कहा जाता है।[१७७]

काल का भेद :–जैन दार्शनिकों के अनुसार काल के दो भेद होते हैं–(१) पारमार्थिक (Real Time) तथा (२) व्यावहारिक (Empirical Time)। क्षण, मिनट तथा घण्टा आदि व्यावहारिक काल के उदाहरण हैं। इन काल–खण्डों

---

१७६. वर्त्तना परिणाम क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्र–५/२२
१७७. देखिये–षड्दर्शन समुच्चय पर गुणरत्न की टीका।

का आरम्भ और अन्त होता है। लोक-व्यवहार में जिसे हम समय कहते हैं। वह व्यावहारिक काल ही है।

पारमार्थिक काल नित्य और निरवयव माना गया है। यह एक और अविच्छिन्न रूप से सतत् विद्यमान माना जाता है।[१७८]

जीव का स्वरूप :–जैन मत के अनुसार चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। जैन-दर्शन में ज्ञान या चैतन्य आत्मा का गुण माना गया है। किन्तु यह ध्यान रखना है कि यहाँ न्याय-दर्शन की भाँति चैतन्य तथा आत्मा में गुण-गुणी का सम्बन्ध नहीं माना गया है। चैतन्य जीव का गुण है, इस कथन का यही अभिप्राय है कि जीव चैतन्य स्वरूप है।[१७९] चैतन्य के अभाव में जीव की कल्पना करना भी संभव नहीं है। चार्वाक दर्शन की भाँति ये यह नहीं मानते कि चैतन्य कोई आकस्मिक गुण है। यहाँ यह भी ध्यान रखना है कि आत्मा, जीव, चैतन्य और ज्ञान ये शब्द समानार्थक हैं। चैतन्य अथवा ज्ञान का कार्य है अन्य वस्तुओं को और अपने आप को भी प्रकाशित करना। इसी बात को यदि दूसरे ढंग से कहे तो कह सकते हैं कि ज्ञान का सामान्य धर्म है अपने स्वरूप को जानते हुए पर पदार्थ को प्रकाशित करना। अतः जैनों ने कहा है–ज्ञानं स्वपरभासि। चैतन्य की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गई है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अपने को प्रकाशित करता है एवं संसार की समस्त वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार आत्मा या चैतन्य अपने को तथा अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार आवरण से आच्छादित होने के कारण सूर्य पर्याप्त प्रकाश नहीं दे सकता, उसी तरह आत्मा भी बन्धन में पड़ा होने के कारण अनन्त ज्ञान प्रसार नहीं कर सकता। आत्मा जब कर्म-बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो जाता है तब उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। मूलतः आत्मा में ये गुण नैसर्गिक रूप से विराजमान रहते हैं, किन्तु जब तक बन्धन है, बाधाएँ हैं तब तक जीव सर्वज्ञता आदि गुणों से विभूषित नहीं हो सकता। वह सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं बन सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि बन्धन के कारण सभी जीवों का ज्ञान सामर्थ्य आदि सीमित हो जाते हैं, न्यून हो जाते हैं। सभी जीवों के दर्शन, ज्ञान आदि गुण एक समान नहीं होते। इन्हीं ज्ञान आदि गुणों में अन्तर होने के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभ एवं अशुभ कर्मों

---

१७८. भारतीय दर्शन का परिशीलन–डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी पृष्ठ–८२-८५

१७९. चेतनालक्षणो जीवः। सर्वदर्शनसंग्रह तथा षड्दर्शन समुच्चय कारिका–४९

का कर्ता और उन कर्मों के फलों का भोक्ता स्वयं ही है। संसार की प्रत्येक वस्तु में जीवों की सत्ता स्वीकार की गई है।

जीव की नित्यता :–जैनदर्शन जीव को नित्य मानता है। जीव नित्य होते हुए भी आकार-विहीन है। ये दोनों विशेषतायें शरीर में नहीं पायी जाती, क्योंकि यह पौद्गलिक शरीर अनित्य और मूर्तिक है। इनके अतिरिक्त जीव की अन्य और भी विशेषतायें हैं, जिनमें कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

(क) मूलतः जीव (आत्मा) स्वयं ज्ञाता (Knower) है। वह संसार के पदार्थों को जानता है। अर्थात् उनका ज्ञान प्राप्त करता है। वह स्वयं को जानता हुआ अन्य पदार्थों को भी जानता है। अतः वह स्व-पर-प्रकाशी है।

(ख) जीव कर्मों का कर्त्ता (Doer) है। कर्म करने में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। ईश्वर आदि कोई अन्य उसका प्रेरक नहीं है। जीव शुभ अथवा अशुभ कर्म करके स्वयं अपने अच्छे या बुरे भाग्य का निर्माता है, विधाता है। जैन-दर्शन का यह आत्म सम्बन्धी विचार सांख्य के आत्म सम्बन्धी विचार से भिन्न है। सांख्य-दर्शन आत्मा को अकर्त्ता मानता है।

(ग) जीव कर्म-फलों का भोक्ता (Experinet) माना गया है, अतः अपने द्वारा किये गए कर्मों के फलों का भोक्ता है, अतः सुख और दुःख का अनुभव भी उसे ही करना पड़ता है।

(घ) जीव अनन्त है। ज्ञान आदि गुणों के अपने-अपने कर्म के अनुसार होने से सभी जीव समान नहीं होते। परस्पर गुणों में महान् अन्तर होने के कारण जीवों के अनन्त भेद है अर्थात् जीव अनन्त है।

जीवों के अनन्त चतुष्ट्य :–प्रत्येक जीव में स्वभाविक रूप से चार प्रकार की पूर्णतायें पाई जाती हैं। इन्हें अनन्त चतुष्ट्य कहते हैं। इनके नाम हैं–(१) अनन्त दर्शन (Infinite Faith), (२) अनन्त ज्ञान (Intfinite Knowleage) (३) अनन्त बल (Infinite Power) और (४) अनन्त सुख (Infinite Bliss) किन्तु पहले निर्देश किया गया है कि इन गुणों पर आवरण पड़ जाने से उनके ये गुण सीमित हो जाते हैं, न्यूनाधिक हो जाते हैं।

जीव समग्र शरीर में व्याप्त रहता है :–जीव की उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि यह जीव अमूर्त होते हुए भी मूर्ति

ग्रहण कर लेता है। यही कारण है कि जीव को अस्तिकाय[१८०] द्रव्यों के वर्ग में रखा गया है। अमूर्त जीव के मूर्ति (शरीरकार) ग्रहण करने की तुलना हम प्रकाश से कर सकते हैं। प्रकाश का कोई आकार नहीं होता। वह निराकार होता है। फिर भी वह जिस कक्ष (Room) को आलोकित करता है। उसके अनुसार प्रकाश का भी आकार बन जाता है। प्रकाश की ही भाँति जीव भी जिस शरीर में रहता है, उसके सर्वाङ्ग में व्याप्त होने के कारण उसी आकार को ग्रहण कर लेता है, अतः जैनदर्शन के अनुसार जीव सर्वव्यापी न होकर शरीरमात्र व्यापी है।

जीव का परिमाप :–जीव शरीर के आकार के अनुसार परिणमित होता है, अतः वह परिणामी है। जीव के आकार के विषय में आत्मा को विभु मानने वाले अद्वैतवेदान्तियों तथा अणु मानने वाले वैष्णवों के उभय अन्तों को छोड़कर जैनदर्शन ने मध्यम मार्ग को अपनाया है। अर्थात् आत्मा को शरीर परिणाम स्वीकार किया है। प्राणियों के शरीर के आकार में अन्तर होने के कारण आत्मा के भी भिन्न-भिन्न आकार हो जाते हैं। विशालकाय हाथी के शरीर में रहने वाले आत्मा का आकार भी उसके विशाल शरीर के बराबर है। इसके विपरीत सूक्ष्म चींटी आदि जीवों के शरीर में व्याप्त आत्मा का रूप उनके शरीर के आकारानुसार सूक्ष्म है।

जड़-द्रव्य और आत्मा में अन्तर :–आत्मा समग्र शरीर में व्याप्त रहता है, किन्तु आत्मा की व्याप्ति का आत्मा के शरीर परिमाण का यह अर्थ नहीं है कि यह भी जड़ द्रव्यों की तरह किसी खाली स्थान को पूरा घेर लेता है। इसका तो इतना ही अर्थ है कि शरीर के प्रत्येक भाग में यह आत्मा तिल में तैल की तरह व्याप्त रहता है। सामान्यतः जिस स्थान में यदि कोई जड़ द्रव्य है तो वहाँ वह स्थान में उस समय कोई अन्य द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु आत्मा के सम्बन्ध में यह स्थिति नही है। जिस स्थान में आत्मा है, वहाँ दूसरे आत्मा का भी सन्निवेश संभव है। जैन-दार्शनिकों का कथन है कि जैसे एक कक्ष में दो दीपक रह सकते हैं वैसे ही एक स्थान पर दो आत्मा भी रह सकते हैं।

चार्वाक मत का खण्डन और आत्मा की सिद्धि में प्रमाण :–चार्वाक ने शरीर को ही आत्मा माना है। वह शरीर और आत्मा को अभिन्न कहता है। चैतन्य को वह शरीर का गुण बतलाया है। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है।

---

१८०. जो द्रव्य घेरते हैं उन्हें "अस्तिकाय" कहा जाता है।

जैन-दर्शन आत्मा को शरीर से पृथक् प्रतिपादित करता है। अतः शरीरात्मवादी चार्वाक के मत का वह खण्डन करता है।

जैन-दर्शन चार्वाक के आत्म-सम्बन्धी विचार का खण्डन करते हुए इस प्रकार प्रमाण प्रस्तुत करता है–

(क) चार्वाक का मत है कि शरीर में ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। चैतन्य का कारण शरीर है किन्तु यदि यह बात होती तो शरीर के रहते प्रत्येक अवस्था में चैतन्य उसमें रहता। पर ऐसा होता नहीं है। मूर्च्छा, गहरी निद्रा तथा मृत्यु के समय शरीर तो रहता है, किन्तु उसमें चैतन्य नहीं रहता। अतः शरीर को चैतन्य का कारण मानना असंगत है।

(ख) लोक में प्रायः लोग कहते हैं कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ। वहाँ मैं का अर्थ होता है 'आत्मा' और 'मोटा' होता है शरीर। अतः इस कथन से प्रतीत होता है कि शरीर और आत्मा अभिन्न है। किन्तु ऐसा कहते समय चार्वाक यह नहीं ध्यान देता कि इस प्रकार के कथन आत्मा और शरीर के निकटतम अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध को ही प्रमाणित करते हैं। इनसे यह अर्थ निकालना कि शरीर और आत्मा अभिन्न है सर्वथा असंगत होगा।

(ग) यदि चैतन्य को शरीर का गुण माना जाए तब तो शारीरिक भिन्नता के आधार पर चैतन्य में भी परिवर्तन मानना पड़ेगा। लम्बे और स्थूल शरीर में चेतना की मात्रा प्रबल होगी और लघु एवं दुर्बल शरीर में चेतना की मात्रा कम होगी। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अतः मानना पड़ेगा कि चेतना शरीर का गुण नहीं है।

आत्मा के अस्तित्व के लिए प्रमाण :–प्रसिद्ध जैन-दार्शनिक एवं षड्दर्शन-समुच्चय के टीकाकार गुणरत्न ने चार्वाक के संशयवाद की तीव्र आलोचना की है। उन्होंने आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए जो युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं उनका संक्षेप नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) 'मैं सुखी हूँ' यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है। इसी अनुभव से आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान हमें होता है। जब किसी प्रकार द्रव्य के गुणों को देखते हैं तो कहते हैं कि हम उस द्रव्य को ही देख रहे हैं। इसी प्रकार आत्मा के गुणों का अनुभव करके ही हम आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। सुख-दुःख आदि धर्मों के अनुभव से हमें उनके धर्मी आत्मा का प्रत्यक्ष ही अनुभव हो जाता है।

चार्वाक आत्मा के देहातिरिक्त अस्तित्व को नहीं स्वीकार करते। ऐसी अवस्था में शरीर आत्मा रहित है, यह कथन निष्प्रयोजन होगा। जिस वस्तु का एक जगह निषेध किया जाता है। उसका अस्तित्व कहीं न कहीं अवश्य रहता है।[१८१]

इसके अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को अन्य युक्तियों के आधार पर भी जैन-दार्शनिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनका कहना है कि-"शरीर को कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार सञ्चालित कर सकता है। अतः इसका संचालक अवश्य ही कोई चेतन होगा। जो संचालक होगा वही आत्मा है।" चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण और त्वचा ये पाँच इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन हैं। इनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी प्रयोजक कर्त्ता की आवश्यकता है। जो प्रयोजक कर्त्ता है, वहीं आत्मा है।

संसार में देखा जाता है कि घट-पट आदि जड़ पदार्थ की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण के अलावा एक निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। शरीर का वह निमित्त कारण और कोई नहीं, आत्मा ही है। इस प्रकार प्रभूत युक्तियों एवं तर्कों के आधार पर जैन दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

जैन-दर्शन अनेकात्मवादी है :-जैन-दर्शन अनन्त जीवों की सत्ता स्वीकार करता है। जीव अनेक है, इस बात में विश्वास रखने के कारण जैन-दर्शन अनेकात्मवादी है। जैन-दर्शन की ही भाँति सांख्य और न्याय-दर्शन ने भी अनेकात्मवाद का समर्थन किया है। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक लाईबनीज भी चिद्‌बिन्दु (Monad) को अनेक मानता है। चिद्‌बिन्दु और कुछ नहीं आत्मा का प्रतिरूप ही है।

जीव बद्ध और मुक्त

द्रव्यों का प्रकार भेद :-जैन-दर्शन के अनुसार संसार के सभी द्रव्य दो भागों में विभक्त है-अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय।[१८२] एक मात्र काल ही अनस्तिकाय द्रव्य है। शेष सभी द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का यौगिक अर्थ है-अस्ति है, काय शरीर स्थान या आकाश में जिनका वे अस्तिकाय है। पुनः

---

१८१. यन्निषिध्यते तत् सामान्येन विद्यत एव।" गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चय

१८२. देखिए-स्याद्वादमञ्जरी।

अस्तिकाय को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–जीव और अजीव। जीव आत्मा को कहते हैं।

बद्ध और मुक्त :–आत्मा के दो प्रकार होते हैं–बद्ध (Bound) और मुक्त (Liberated) मोक्ष प्राप्त किये हुए जीव मुक्त कहे जाते हैं। आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को बन्धन और आत्मा और शरीर के सार्वकालिक वियोग को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष को ही निर्वाण भी कहा गया है। बन्धनग्रस्त जीव बद्ध कहे जाते हैं। यदि इसी बात को हम एक वाक्य में कहना चाहे तो कह सकते हैं–"संसार बन्धन है, संसाराभाव मोक्ष है। बद्ध जीवों के पुनः दो प्रकार होते हैं–त्रस और स्थावर। 'त्रस' जीव गतिमान् या जङ्गम होते हैं। स्थावर जीव वे हैं, जो गतिहीन होते हैं।[१८३] ये जीव, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु अथवा वनस्पतिरूप शरीरों में रहते हैं। इनके पास एक ही ज्ञानेन्द्रिय है–स्पर्श की। अर्थात् स्थावर जीव एक मात्र स्पर्शेन्द्रिय वाले होते हैं। अतः इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहा जाता है। ये केवल स्पर्श का ही अनुभव कर पाते हैं। त्रस जीवों में न्यूनाधिक विकास देखने को मिलता है। इनमें क्रमशः दो, तीन, चार और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि सीपी, घोंघा आदि की केवल दो इन्द्रियाँ ही होती हैं–त्वक् तथा जिह्वा (रसना)। चींटी आदि की तीन इन्द्रियाँ होती हैं–त्वक्, जिह्वा(रसना) तथा नासिका।। मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि की चार इन्द्रियाँ होती हैं–त्वक्, जिह्वा, नासिका (घ्राण) तथा चक्षु। मनुष्य पशु और पक्षियों को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं–त्वक्, जिह्वा (रसना), घ्राण (नासिका) चक्षु और श्रोत्र।

जैनों ने जितने जीवों की चर्चा की है सभी चेतन है। चैतन्य जीव का मुख्य लक्षण है, किन्तु जहाँ तक चैतन्य के विकास या मात्रा का सम्बन्ध है, उसमें भिन्नता पाई जाती है। भिन्न-भिन्न जीवों में मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। कुछ जीवों में चेतना का कम विकास होता है तो कुछ जीवों में इसकी मात्रा परिपूर्ण होती है। चेतना का सर्वाधिक विकास मुक्त जीवों में होता है और सबसे कम विकास स्थावर जीवों में मिलता है। अतः चेतना-विकास के एक छोर पर स्थावर होते हैं तो दूसरे छोर पर मुक्त जीव है।[१८४]

---

१८३. जो अपने शरीर से स्थान घेरते हैं वे 'अस्तिकाय' है और जो स्थान नहीं घेरते हैं वे 'अनिस्तकाय' है।

१८४. भारतीय दर्शन का परिशीलन–"डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी," पृ० ८५-८८

ईश्वर का प्रत्याख्यान

आचार्य मल्लिषेण के अनुसार ईश्वर की सत्ता मानने में निम्न प्रकार के दोष दिखाये हैं जैसा कि-

ईश्वर को जगत्कर्ता मानने में दोष-

नैयायिक अनुमान प्रमाण के आधार पर ईश्वर में कर्तृव्य स्थापन करते हैं। प्रमाण द्वारा व्याप्ति के सिद्ध होने पर ही साधन से साध्य का ज्ञान होता है।[१८५] किसी भी कार्य का कर्त्ता या तो सशरीरी होता है या अशरीरी। ईश्वर न तो सृष्टि का सशरीरी कर्त्ता सिद्ध होता है, और न ही अशरीरी। दोनों ही स्थितियों में व्याप्ति न बनने के कारण कर्तृत्व रूप साध्य की सिद्ध नहीं होती।

कर्तृत्व निराकरणः-

ईश्वर को सशरीरी कर्त्ता मानने से प्रत्यक्ष से बाधा आती है क्योंकि घास, वृक्ष, बादल, इन्द्रधनुष आदि का हमें कोई भी सशरीरी कर्त्ता दिखाई नहीं देता और इस प्रकार जहाँ-जहाँ कार्यत्त्व है वहाँ-वहाँ सशरीरी कर्तृत्व है; यह व्याप्ति नहीं बनती। कार्यत्त्व हेतु यहाँ साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जो हेतु पक्ष, विपक्ष और सपक्ष में रहता है। उसे प्रमेय होने से तो यहाँ प्रमयेत्व हेतु अग्नि रूप साध्य के धारक पर्वत पक्ष में महानस रूप समझ में और पर्वत से भिन्न साध्य के अभाव रूप जलाशय आदि विपक्ष में भी रहता है, इसलिए यहाँ अग्नि की सिद्धि में दिया गया प्रमेयत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है, उसी प्रकार पृथिवी आदि का कर्त्ता है, क्योंकि ये सभी कार्य हैं यहाँ पृथिवी आदि पक्ष में घट आदि में सपक्ष में तथा ईश्वर के द्वारा नहीं बनाएं हुए वृक्ष आदि विपक्ष में भी कार्यत्त्व हेतु चला जाने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।[१८६] अतः व्यक्ति नहीं बन सकने से ईश्वर सशरीरी कर्त्ता सिद्ध नहीं होता।

ईश्वर को अशरीरी कर्त्ता मानने में कई दोष आते हैं। ईश्वर का अशरीतत्त्व से तात्पर्य ग्रन्थकार ने अदृश्यत्त्व लिया है। अतः यहाँ शंका होती है कि ईश्वर का शरीर ईश्वर विषयक महात्म्य विशेष के कारण नहीं दिखाई देता है अथवा हम लोगों के दुर्भाग्य के कारण।

---

१८५. साधानं हि सर्वत्रा व्यापतो प्रमाणेन सिद्धायां साधयं गमयेत्। स्या. मं., पृ. ३२.
१८६. प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुभ्रावौ। कार्यत्त्वस्य दर्शनात् प्रम्रेयत्वादिवत् साधारणनैकान्तिको हेतुः।—वही, पृ.३२.

ईश्वर के महात्म्य के कारण ईश्वर का शरीर अदृश्य होता है, यह पक्ष स्वीकार करने में इतरेतराश्रय दोष उपस्थित होता है। ईश्वर के महात्म्य के कारण ईश्वर के शरीर की अनुपलब्धि है अथवा ईश्वर के अशरीरी होने से ईश्वर का महात्म्य है। अतः प्रमाण का अभाव होने से यह पक्ष विश्वास के योग्य नहीं हैं।[१८७]

जीवों के दुर्भाग्य से जिस प्रकार पिशाचादि का शरीर हमें दिखाई नहीं देता उसी प्रकार ईश्वर के शरीर की अनुपलब्धि भी जीवों के दुर्भाय के कारण होती है, ऐसा मानना भी युक्ति संगत नहीं है। इस प्रकार ईश्वर शरीर का बंध्या पुत्र की तरह अभाव होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता या कि शरीर है परन्तु दुर्भाग्यवश हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है।[१८८] ऐसा कुछ भी निर्णयात्मक ज्ञान हमें नहीं होता, अतः यह पक्ष भी मान्य नहीं है।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तवैषम्य दोष :-

ईश्वर को अशरीरी कर्त्ता मानने में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त विषम हो जाता है। घटादिक तो सशरीरी कर्त्ता निर्मित होते है परन्तु आकाश की अशरीरी कर्त्ता कैसे कार्य कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता। यदि ईश्वर को अशरीरी कर्त्ता मानते हैं तो अनुमान होगा कि जगत् अशरीरी ईश्वर का बनाया हुआ है, कार्य होने से घट की तरह। इस अनुमान में घट दृष्टान्त और जगत् दार्ष्टान्तिक में समता नहीं है क्योंकि घट सशरीरी का बनाया हुआ माना जाता है; तथा जिस प्रकार अशरीरी आकाश कोई कार्य नहीं कर सकता उसी तरह अशरीरी ईश्वर भी कार्य करने में असमर्थ है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक विषय होने से व्याप्ति नहीं बन सकने से ईश्वर को अशरीरी कर्त्ता भी नहीं मान सकते।[१८९]

नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत कार्यतव हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित है। धर्मी के सार्थकता सिद्ध हुए बिना ही हेतु का कथन किया गया है। जगत् रूप साध्य के एक देश सब काल में उत्पन्न वृक्ष, विद्युत्, मेघ आदि किसी कर्त्ता

---

१८७. सिद्धे हि माहात्म्य विशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च महात्म्यविशेषसिद्धिरिति।। स्या. मं., पृ. ३३.

१८८. किं तस्यासत्वाद् अदृश्यशरीरत्व बान्ध्येयादिवत् किं वास्मदाद्यदृषटवैगुण्यात् पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात्।। स्या. मं., पृ. ३३.

१८९. अयारीरश्चेत् तदा दृषटान्तदार्ष्टान्तिकयोवैर्षम्यात्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्याः। अशरीरस्य च .... आकाशादिवत्। वही

बनाये हुए नहीं देखे जाते, यहाँ प्रत्यक्ष है बधित धर्मों के अनन्तर हेतु का कथन किया है; अतः हेतु दोषपूर्ण हैं।[१९०]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि ईश्वर इस जगत् का सशरीरी अशरीरी किसी प्रकार से कर्त्ता सिद्ध नहीं है। तथा त्रैलोक्य को सृष्टि करने वाला ईश्वर बढ़ई की तरह साक्षात् शरीर की मदद से जगत् को बनाता है, यह स्वीकार किया जाये तो पृथिवी पर्वत आदि के निर्माण करने में बहुत समय लगेगा और बहुत समय तक भी तीनों लोकों की रचना न हो सकेगी और यदि यह माना जाए कि संकल्प मात्रा से ही ईश्वर सृष्टि रचता है तो इसमें यद्यपि कोई दोष नहीं है, परन्तु संकल्प मात्रा से तो नियत देश में रहने वाले सामान्य देव भी उन-उन कार्यो का सम्पादन करते हैं।

ईश्वर के एकत्व का निराकरणः-

नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर एक है। यदि एक है, या बहुत से ईश्वर मानें तो मतभेद उत्पन्न होने से कार्य नहीं होगा। अतः कार्य में अनवस्था न आवे इसलिए एक ईश्वर माना है, परन्तु उपयुक्त कथन पूर्णतः सत्य नहीं है; क्योंकि सैंकड़ों कीड़ियाँ एक ही बमी को बनाती हैं, बहुत से शिल्पी एक ही महल को बनाते हैं, बहुत सी मधुमक्खियाँ एक ही शहद के छत्ते को बनाती है फिर भी वस्तुओं की एकरूपता में विरोध नहीं आता। अतः कार्य की एक रचना के आधार पर एक ईश्वर मानना युक्ति संगत नहीं है।[१९१]

तीन रत्न शब्द से समझे जाने वाले सुप्रसिद्ध सम्यक् दर्शन आदि तीनों का निरूपण 'परमागमसार' (नामक ग्रन्थ) में हुआ है जो (ग्रन्थ) अर्हतों के प्रवचनों के संग्रह के रूप में है-सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र मोक्ष के मार्ग हैं। तीनों एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग का निर्माण करते है। इसके लिए दण्डचक्रादिन्याय है। जैसे-दण्ड, चक्र, सूत्र, मृत्तिकाआदि सब मिलकर घट का निर्माण करते हैं न कि पृथक्-पृथक् उसी प्रकार ये सब

---

१९०. कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः धर्म्येकदेशस्य तरूविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्यद्यमानस्य... .... हेतु भणणनात्। स्या. मं., पृ. ३३.

१९१. अनेककीटीकाशत निष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः अनेक शिल्पि काल्पितत्त्वेडपि प्रासादीनां नैकसरधानिर्वतितत्त्वेऽपि मधुक्छत्रादीनां चैकरूपताया अविभागेनोपलम्भात्। स्या. मं., पृ० ३४.

मिलकर ही मोक्ष मार्ग बनाते हैं। तृणारणिमणिन्याय से ये काम नहीं करते। तृण अग्नि का कारण है, उसी प्रकार अरणि उसी प्रकार मणि। तीनों भिन्न हैं। तीनों रत्नों का मिलना ही कारण नहीं है (कारणतावच्छेदकं तु न मिलितत्त्वम्)द्ध किन्तु तीनों में प्रत्येक की वृत्ति (Action) कारण का निर्माण करती है।[१९२]

आचार शास्त्रा

जैनियों का आचार शास्त्र बौद्धों के नीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक कठोर है। बौद्ध मत में आत्म हत्या का निषेध किया गया है जैन दार्शनिकों का कहना है कि इससे जीवन में वृद्धि होती है। इसलिए इनकी मान्यता है कि तपस्या अधिक कठोर प्रतीत हो, और हम अपने मनोवेगों को न रोक सके, तपस्या को भी सहन न कर सके, तो वैसी अवस्था में इस मत मे आत्म हत्या का विधान है। कभी-कभी यह भी तर्क सम्मत माना जाता है कि बारह वर्ष तक तपस्या की तैयारी के पश्चात् मनुष्य अपनी आत्म हत्या कर सकता है। क्योंकि उस अवस्था में निर्वाण आवश्यक है।

उस युग की अन्य दार्शनिक मतों के अनुसार जैन मत में भी स्त्रियों को प्रलोभन के पदार्थों में परिगणित किया गया है।[१९३] जैनियों का यह भी विश्वास है कि अन्य मतावलम्बी भी जैन मतों के नियमों का परिपालन कर सकते हैं। रत्नशेखर अपने 'सम्बोध-सत्तरी' नामक ग्रन्थ की प्रारम्भिक पंक्तियों में कहता है :-भले ही कोई श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य किसी भी मत का अनुयायी जो कोई भी जीवात्मा से असली स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है आर्थात्-प्राणिमात्रा को अपनी आत्मा के समान समझता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

मोक्ष का विधान प्रायः समस्त भारतीय चिन्तन परम्परा में प्राप्त होता है। जैन मत के अनुसार निम्न श्रेणी की प्रकृति का उचित आत्मा के द्वारा दमन किया जाना परमावश्यक है। जब जीवात्मा उस बोझ से मुक्त होती है जो इसे नीचे की ओर दबाए हुए है तो वह विश्व के ऊपर शिखर तक उठ जाती है जहाँ मुक्तात्माओं का निवास है। अन्तरात्मा में नितान्त परिवर्तन होने से ही मुक्ति का

---

१९२. रत्नत्रयपदवेदनीयतया प्रसिद्धं सम्यग्दर्शनादित्रितयमर्हत्प्रवचन संग्रहपरे परमागमसारे प्ररूपितम्—सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग अति। (त.सू.-१/१)

१९३. सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट २२:४८।

मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य के स्वभाव में सुधार करने एवं नये कर्म के निर्माण को रोकने के लिए नैतिकता (सदाचार) के पूरे उपकरण की आवश्यकता है। निर्वाण का मार्ग त्रिरत्नो अर्थात् भगवान् जिन में आस्था रखने उनके सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त करने और निर्दोष आचरण में से होकर जाता है। ''तत्त्वों में या यथार्थ सत्ता में विश्वास रखना ही यथार्थ विश्वास है। संशय एवं भ्रान्ति से रहित यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञान है। बाह्य जगत् के पदार्थों के प्रति राग एवं द्वेष के भाव से रहित जो तटस्थता का भाव है वही यथार्थ आचरण है।''[१९४]

ये तीनों एक साथ मिलकर एक मार्ग बनाते हैं और तीनों पर एक साथ ही आचरण करना चाहिए। ज्ञानी एवं श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति का पांच प्रकार का आचरण ही सदाचार या धर्म है। अर्थात् (१) अंहिसा, जिसका तात्पर्य केवल हिंसा के त्यागमात्र का भाव ही नहीं किन्तु समस्त सृष्टि के प्रति सच्ची दयालुता का भाव रखना है, (२) उदारता एवं सत्यभाषण (३) सदाचरण जैसे आस्तेय या चोरी न करने का भाव, (४) वाणी, विचार एवं कर्म की पवित्राता और (५) समस्त सांसारिक स्वार्थों का त्याग। ये सब धर्मात्मा पुरुष के लक्षण हैं। अन्तिम नियम की व्याख्या को कभी-कभी पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया जाता है और यह विधान किया जाता है कि धर्मात्मा पुरुषों को बिल्कुल नग्न रहना चाहिए। वस्तुतः इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि जिस सीमा तक हम भेद भावों के प्रति सचेत रहते हैं और लज्जा का भाव भी हमारे अन्दर रहता है तब तक हम मुक्ति से दूर रहते हैं। जैनियों का नीतिशास्त्र विश्वास एवं कर्म दोनों पर ही बल देता है। साधारण संसारी पुरुषों एवं तपस्वियों के लिए भिन्न-भिन्न नियमों का विधान है।[१९५] ऐसे सब कर्म जो मनुष्य को मानसिक शान्ति देते हैं, पुण्यकर्म है। पुण्य-अर्जन के नौ प्रकार हैं, जैसे भूखे को भोजन देना, प्यासे को जल पिलाना, गरीब को वस्त्र देना, साधुओं को आश्रय देना आदि-आदि। हिंसा अर्थात् किसी को दुःख पहुँचाना बहुत बड़ा पाप है। अन्य पापों में असत्याचरण, बेईमानी, अपवित्रता, लोभ आदि की गणना है। क्रोध, अभिमान, छल, लालच या तृष्णा हमें संसार से जकड़ते हैं और इनके विपरीत धैर्य, नम्रता, निश्छलता, एवं सन्तोष धर्मिक प्रेरणाओं को बढ़ावा देते हैं। अन्य पाप जैसे घृणा, कलह, मिथ्या, निन्दा, किसी के विरुद्ध प्रचार करना, दूसरों को अपशब्द कहना, आत्मसंयम का अभाव,

---

१९४. पञ्चास्तिकायसमयसार-११५ और भी देखिए—तत्त्वार्थसूत्रा-१:१.
१९५. तत्त्वार्थ सूत्र—६७:२० और आगे।

मक्कारी, और मिथ्या विश्वास इत्यादि भी वर्जित बताए गए हैं। पाप ईश्वर के प्रति अपराध नहीं बल्कि केवल मनुष्य समाज के प्रति अपराध हैं।[१९६]

जैनमत का विशिष्ट स्वरूप है अहिंसा अर्थात् उस सबके प्रति पूज्यबुद्धि एवं उन सबके भोग का त्याग जिसमें जीव है। उक्त नियम का अत्यन्त कट्टरता के साथ पालन करने के कारण जैनियों में कुछेक ऐसी विधियां प्रचलित हो गई जिनका अन्य मतावलम्बी विद्वान् उपहास करने लगे। कही किसी जीव की हत्या न हो जाए इस विचार से कुछेक जैनी चलने से पूर्व मार्ग में झाड़ देते हैं, मुख पर पर्दा डालकर चलते हैं।

जिससे कि कोई जीवित जन्तु श्वास के साथ नाक में न चला जाए, पानी को छानकर पीते हैं और शहद का भी त्याग करते हैं यह सत्य है कि शाब्दिक अर्थों में अंहिसा का पालन नहीं हो सकता। महाभारत में कहा है– (''यह संसार ऐसे जन्तुओं से भरा है) जो आखों से नहीं देखे जा सकते, बल्कि तर्क द्वारा ही अनुमान से जाने जाते हैं। जब हम अपनी पलकों को चलाते हैं तो उनके अंग टूट कर गिर पड़ते हैं।'' भगवत् पुराण में कहा है कि ''जीवन अन्य जीवन का प्राण है''।[१९७] यदि इन साधारण तथ्यों को भुला दिया जाए तो जीवन लगभग असम्भव ही हो जाए। एक कट्टर जैनी के व्यवहार में एक प्रकार का विकृत भय कि कहीं किसी भी रूप में अकस्मात् जीव हिंसा न हो जाए, सदा व्याप्त रहता है।

जैनदर्शन में समाज के चार विभाग दिये गए हैं। इनमें भिक्षु और भिक्षुणियों तथा अन्य साधारण धर्मबन्धु एवं धर्मभगिनियाँ सम्मिलित हैं। बौद्ध संघ में सांसारिक सदस्य धार्मिक पुरोहितों से भिन्न थे और दोनों एक ही समुदाय के सदस्य नहीं होते थे। बौद्धों की अपेक्षा संख्या में बहुत न्यून होने पर भी और धर्म-प्रचार के प्रति कोई विशेष उत्साह न होने पर भी जैन मत भारत में जीवित हैं जबकि बौद्ध मत गायब हो गया। श्रीमती स्टीवेन्सन इस ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या इस प्रकार करती है। ''जैन मत का स्वरूप कुछ ऐसा था कि जिसके कारण यह आवश्यकता पड़ने पर अपने आवश्यक अंगों के जरिये आपत्ति से अपनी रक्षा कर सकने की क्षमता रखता था। बौद्ध मत के समान इसने कभी अपने को उस समय के प्रचलित मतों से एकदम पथक् नहीं किया। इसने सदा

---

१९६. भरतीय दर्शन का इतिहार-(नीतिशास्त्रा)-डाँ० राधाकृषणन्, पृ. २०८-९९.
१९७. १:१३-४६, ''जीवों जीवस्य जीवनम्।''

ब्राह्मणों को अपने पारिवारिक पुरोहितों के स्थान में नियुक्त किया जो इनके जन्म के समय भी सब संस्कारों के अध्यक्ष होते थे, और प्रायः वे ही मत्यु एवं विवाह आदि के समय और मन्दिरों में पूजन आदि के लिए भी धर्माध्यक्ष होते थे। इसके अतिरिक्त अपने प्रमुख चरितनायकों में जैनियों ने हिन्दू देवताओं, यथा, राम एवं कृष्ण आदि के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित रख लिए थे। महावीर की संगठन-सम्बन्धी प्रतिभा के कारण भी जैनमत एवं उचित स्थान में खड़ा रहा, क्योंकि जैनमत ने सर्वसाधारण को भी संघ के आन्तरिक भाग के रूप में स्वीकृत किया, जबकि बुद्ध मत में उनका कोई भान न था और न उसकी व्यवस्था में उनके लिए कोई स्थान था। इस लिए जब सारे-देश में अत्याचार के तुफान आए तब जैनमत ने सरलता के साथ हिन्दुधर्म के अन्दर शरण प्राप्त कर ली और हिन्दूधर्म ने अपने विशाल हृदय से सहर्ष उसका स्वागत किया तथा विजेताओं को जैनमत एवं उस विशाल हिन्दुधर्म में कोई भिन्नता प्रतीत न हो सकी।[१९८]

कर्म भौतिक दृष्टिकोण के कारण ही जैन बौद्धों के विपरीत बाह्य कर्म को उसके आन्तरिक उद्देश्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। बौद्ध एवं जैन मत दोनों ही जीवन एवं व्यक्तित्त्व के त्याग के विषय में एकमत हैं। दोनों की ही दृष्टि में जीवन एक प्रकार का संकट है जिससे हर प्रकार से छुटकारा पाना आवश्यक है। इन दोनों मतों के अनुसार, हमें अपने आपको उन सब बन्धनों से मुक्त करना है जो हमें प्रकृति के साथ जकड़कर दुःखों का कारण बनते हैं। ये दोनों ही निर्धनता एवं पवित्र-जीवन, शान्ति एवं धैर्य के साथ दुःख सहन को गौरवमय समझते हैं। हाँप्किंस परिहासपूर्वक जैन पद्धति का इन शब्दों में व्यंग्यचित्र प्रस्तुत करता है: जैन सम्प्रदाय वह है जिसमें इन मुख्य-मुख्य बातों पर बल दिया गया है, 'मनुष्य को परमेश्वर की सत्ता का निषेध करना चाहिए, मनुष्य की पूजा करनी चाहिए, एवं नुकसान पहुँचाने वाले कीड़ों का भी पालन-पोषण करना चाहिए।[१९९] जैन मत एवं बौद्ध मत के नैतिक पक्षों में जो अद्भुत समानताएं पाई जाती है, उनका कारण यह है कि दोनों ने ही इस विषय में अपने विचार ब्राह्मणों द्वारा रचित ग्रन्थों से उधार लिए है। ''ब्राह्मण तपस्वी एक आदर्श के रूप में उनके आगे था जिससे दोनों ने तपस्वी जीवन की बहुत सी महत्वपूर्ण क्रियाएं एवं संस्थाएं उधार के रूप में ग्रहण की।[२००]

---

१९८. 'दी हार्ट आफ जैनिज्म', पृष्ठ १८-१९.

१९९. 'दी रिजिजन्स आफ इण्डिया, पृष्ठ २९७.

२००. ''सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, २२, पृष्ठ २४.

संसार के प्रवर्तन के कारण स्वरूप कर्मों के नष्ट हो जाने पर उद्यत (पाप नाश के लिए) श्रद्धावान् तथा ज्ञानवान् पुरुष का पाप में ले जाने वाली क्रियाओं से निवृत्त हो जाना ही सम्यक् चरित्र है।[२०१] अर्हत ने इसका वर्णन विस्तार पूर्वक किया है–'पाप के साथ सम्बन्ध का सब प्रकार से त्याग करना चरित्र है। अंहिसा आदि व्रतों के भेद से वह पाँच प्रकार का है। वे हैं–अ़हिंसा, सूनृत, (सत्य), अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अंहिसाव्रत–प्रमाण से भी जब चरों (मनुष्य, पशु-पक्षी आदि) और स्थावरों (लता, वृक्ष आदि) के प्राणों का विनाश नहीं किया जाता है–वही अंहिसा-व्रत है।

सत्यव्रत–प्रिय (सुनने में सुखद), पश्य (अन्त में सुखद) तथा तथ्य (यथार्थ) सत्य वाणी को सूनृत व्रत कहते। वह वाणी सच्ची होकर भी सच्ची नहीं है, जो प्रिय नहीं या हितकर नहीं है।

अस्तेयव्रत–बिना दिये हुए किसी वस्तु को न लेना अस्तेय व्रत है। धन मनुष्यों के बाहरी प्राण हैं उनके हरण से तो प्राणों का हरण होता है।

ब्रह्मचर्यव्रत–दिव्य आगामी जीवन में भोग्य और औदरिक इसी शरीर में भोग्य कामनाओं का कृत अनुमत तथा दूसरों से कराये गए तीनों विधियों से (मन वचन तथा कर्म से) त्याग देना ब्रह्म (ब्रह्मचर्य) है जो अठारह तरह का है।

अपरिग्रहव्रत–सभी वस्तुओं में इच्छा का त्याग कर देना अपरिग्रह है क्योंकि इच्छा (मूर्च्छा) के द्वारा असत् (बुरी या सत्ताहीन) वस्तुओं में चित्त की विकृति हो जाती है।[२०२]

पातञ्जलि ने योगसूत्रों में यम के रूप में इन्हीं पांच व्रतों का उल्लेख किया है जा योग-शास्त्र के अष्टाङ्ग-मार्ग में प्रथम मार्ग के रूप में आते है। ब्रह्म के अनुसार आचरण करना ब्रह्मचर्य है। यह अठारह प्रकार का है। काम दो हैं–दिव्य और औदरिक। इन दोनों के भी तीन-तीन भेद होंगे, क्योंकि ये कृत,

---

२०१. संसरणकर्मोच्छित्तावुद्यतस्य श्रद्दधानस्य ज्ञानवतः पापगमनकारण क्रियानिवृत्तिः सम्यक्चारित्रम्। सर्वदर्शन, पृ० १२१

२०२. सर्वथावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते। कीर्तितं तदहिंसादिव्रतभेदेन पञ्चधा। अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।। सर्वदर्शन, कारिका-२१, पृ० १८८

अनुमत और कारित हो सकते हैं। इस प्रकार छह भेद हुए। अब मन वचन या कर्म से प्राप्त होने के कारण इसके भी तीन-तीन भेद हुए। इस प्रकार अठारह भेद हुए—अठारह कामनाओं के त्याग से अठारह ब्रह्मचर्य हुए—१. मनः कृत-दिव्यकामत्याग, २. मनः कृतीदरिककाम त्याग, ३. मनोऽनुमत दिव्य-कामत्याग आदि।

जैनदर्शन में इन पांच व्रतों के साथ पांच भावनाओं का भी निरूपण किया है। पांच भावनाओं के द्वारा पांच प्रकार से क्रमशः भावित अर्थात् व्यवहृत, ये महाव्रत संसार के अक्षय पद की सिद्धि करते हैं। इन भावनाओं का निरूपण करते हुए कहा है कि हास्य (विनोद, लोभ, भय एवं क्रोध का तिरस्कार (प्रत्याख्यान) सदैव करके तथा सोच-समझ कर आलोचना करके भाषण के द्वारा सूनृत व्रत का व्यवहार करना चाहिए।[२०३] ये सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र मिलकर मोक्ष का कारण बनते हैं, प्रत्येक पृथक्-पृथक् नहीं। जैसे रसायन-सेवन में उसका ज्ञान उस पर विश्वास तथा उसका प्रयोग तीनों मिलकर फल देते हैं; पृथक्-पृथक् नहीं।

सभी व्रतों की भावनाएं भिन्न-भिन्न हैं। केवल सूनृत की भावनाओं का निर्देशक श्लोक ही उद्धृत किया गया है। अन्य भावनाएं इस प्रकार है :

(१) **अंहिसा की भावनाएँ** :- वाग्गुप्ति = विषयों में जाने की इन्द्रियों की जो प्रवृत्ति है। वचन द्वारा उस प्रवृत्ति से अपनी रक्षा। ईर्यासमिति=जन्तुओ की रक्षा के लिए देखकर पैर रखते हुए चलना। आदानसमिति=आसनादि को देखकर यन्त्र पूर्वक लाँघना, उसे ग्रहण करना या उठाना। आलोकित पानभोजन-देखकर पानी पीना या खाना।

(२) **सूनृत की भावनाएँ** :- (१) हास्य का परित्याग करके बोलना, क्योंकि इससे असत्य भाषण में प्रवृति देखी जाती है। (२) लोभ का परित्याग करके बोलना (३) भय त्याग कर बोलना। (४) क्रोध त्याग कर बोलना, क्योंकि इन सबों से झूठ बोलने की ओर प्रवृति होती है। (५) सोच समझ कर बोलना।

(३) **अस्तेय की भावनाएँ** :- (१) शून्य स्थानों पहाडों की गुफाओं में निवास। (२) दूसरों के द्वारा व्यक्त स्थानों में रहना। (३) दूसरों के किसी काम

---

२०३. भावनाभिर्भावितानि पञ्चभिः पञ्चधा क्रमात्।
महाव्रतानि लोकस्य साधयन्त्यव्ययं पदम्।। सर्वदर्शन, पृ० १२३ (२७)

में रुकावट नहीं डालना। (४) आचार-शास्त्र के नियमों से भिक्षा में मिली हुई वस्तु की शुद्धि। (५) दूसरों के साथ मेरा-तेरा न करना।

(४) **ब्रह्मचर्य की भावनाएँ :-** स्त्री-प्रेम की बातें न सुनना। स्त्री के सुन्दर शरीर को न देखना। पहले की रति का स्मरण न करना। शक्ति वर्धक रस-रसायनों का सेवन नहीं करना। अपने शरीर के सस्कारों का त्याग करना (आभूषणों का प्रयोग नहीं करना)।

(५) **अपरिग्रह की भावनाएँ :-** श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द के प्रति राग-द्वेष न होना। रसनेन्द्रिय का रस के प्रति रागद्वेष न होना। चक्षुइन्द्रिय का रूप के प्रति राग-द्वेष न होना। स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श के प्रति रागद्वेष न होना। घ्राणेन्द्रिय का गन्ध के प्रति रागद्वेष न होना।[२०४]

जैनदर्शन में शुभ एवं अशुभ कर्मों के विषय में अन्य दर्शनों से पृथक मत को अपनाया है जैनमत में 'कर्म' न तो कोई क्रिया है, न "अदृष्ट" जैसा संस्कार। यह एक प्रकार का पुद्गल (matter) है जो अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप में सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। ये पुद्गल-कण जब जीव के सम्पर्क में आते हैं तो जीव में प्रवेश कर उसमें बहुत परिवर्तन कर देते हैं। ये ही जीव के बन्धन के कारण होते हैं। जीव में ये तब तक बने रहते हैं जब तक जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं हो जाती।

जीव के बन्धन के चार कारण बताये गये हैं :-

(१) **मिथ्यात्व**–किसी वस्तु को जो वह नहीं है वह समझना

(२) **अविरति**–आत्मानुशासन का अभाव अर्थात् शास्त्रीय आदेशों का पालन न करना

(३) **कषाय**–लोभ, मोह, क्रोध आदि भाव।

(४) **योग**–आत्मा की क्रिया।

मिथ्यात्व या अज्ञान के कारण मनुष्य में आत्मानुशासन का अभाव होता है। जिससे लोभ, मोह बादि कषाय उस पर अधिकार कर लेते हैं। कषायों के कारण आत्मा के अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है जिसके कारण कर्म-पुद्गल

---

२०४. हास्यलोभभयक्रोधप्रत्याख्यानैर्निरन्तरम्।
आलोच्य भाषणेनापि भावयेत्सूनृतं व्रतम्।। सर्वदर्शन, पृ० १२३ (२८)

आत्मा की ओर आकृषट होते हैं। ये कर्म-पुद्गल अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। यदि मनुष्य में भाव अच्छे है तो अच्छे कर्म-पुद्गलों के आत्मा में प्रविष्ट होने की प्रक्रिया को ''आस्रव'' कहा जाता है।

कर्म-पुद्गल के कण जीव में प्रविष्ट होकर उसके साथ घुल-मिल जाते हैं। जीव के साथ उनका संयोग ऐसा माना गया है जैसे दूध और पानी का अथवा अग्नि और अयः पिण्ड (लोहे के गोले) का। जीव में प्रविष्ट कर्म-पुद्गलों के कणों को ''कर्म-प्रकृति'' कहा जाता है। इनके विभिन्न प्रकार के प्रभाव होते हैं। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के साथ, चाहे वह शारीरिक या मानसिक हो और चाहे कितनी ही सूक्ष्म हो, कर्म-पुद्गल जीव में प्रविष्ट होते हैं और उसको ढक लेते है। किन्तु कर्म-पुद्गलों के कणों की संख्या और प्रकृति जीव के चरित्र पर निर्भर करती है। यदि जीव का चरित्र अच्छा है तो इसमें अच्छी कर्म-प्रकृतियाँ एकत्रित होंगी, यदि जीव का चरित्र बुरा है तो बुरी कर्म-प्रकृतियाँ होगी। यही जीव का बन्धन है।[२०५] इस बन्धन को अच्छे विचारों और कर्मों द्वारा दूर किया जा सकता है।[२०६]

कर्म-पुद्गल जब एक बार शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं तो वहाँ बिना किसी फल को उत्पन्न किये सुप्त पड़े रह सकते हैं जब तक कि इनको अभिव्यक्ति का उचित अवसर न मिले। कर्म जीव को कितने समय तक और कितनी तीव्रता से बांधेगें, यह कर्मो के प्रविष्ट होने के समय की मानसिक स्थिति (अध्यवसाय) पर निर्भर करता है। जब कर्मों की शक्ति समाप्त हो जाती है तो वे शक्तिहीन होकर जीव से बाहर आ जाते हैं। कर्म-पुद्गलों का जीव से बाहर निकलना ''निर्जरा'' कहलाता है। जीव में ''आस्रव'' और ''निर्जरा'', ये दोनों ही नित्य होते रहते हैं जिस कारण जीव संसार में विभिन्न स्थितियों में चक्कर काटता रहता है।[२०७]

जीव की चेतना इस पर निर्भर करती है कि उसमें किस प्रकार का कितना पुद्गल एकत्रित हो गया है। जीव स्वभावतः सर्वज्ञ होता है किन्तु पुद्गल की शक्ति से आच्छन्न होकर चेतना के विभिन्न स्तरों में स्थित होता है, यहाँ तक

---

२०५. सकषायत्वाद् जीवः कर्मणः योग्यान् पुद्गलावादत्ते स बन्धः। तत्त्वार्थसूत्र ८.२-३

२०६. K.K. Anand : Op.Cit., p. 67

२०७. K.K. Anand : Op.Cit., p. 67

कि धातु आदि में चेतना केवल स्पर्श-इन्द्रिय द्वारा अभिव्यक्त होती है।[२०८] इस प्रकार चेतना की विभिन्न स्तर की अभिव्यक्ति के अनुसार विभिन्न प्रकार के जीवों का निर्माण होता है।

जीव के शरीर का निर्माण कैसे होता है ? कर्मों का जीव पर जो प्रभाव होता है वह संस्कार के रूप में बना रहता है। जीव इस प्रकार के पिछले जन्मों के अनेक संस्कारों से युक्त रहता है। ये सुप्तावस्था में पड़े हुए संस्कार आत्म-सन्तुष्टि चाहते हैं और जीव के अवयवों में क्रिया उत्पन्न करते हैं जिससे पुद्गल जीव के प्रति आकृष्ट होकर भविष्य के कर्मों के लिए शारीरिक आधार तैयार कर देता है। जीव से सम्बद्ध हुआ यह पुद्गल "कर्मशरीर" कहलाता है और मोक्ष-पर्यन्त जीव से जुड़ा रहता है। शरीर-निर्माण की इस प्रक्रिया में जीव निमित्त-कारण का काम करता है और पुद्गल उपादान कारण का। जैसे कुम्हार के मन में घट के निर्माण के पूर्व घट का 'भाव' रहता है और फिर मिट्टी लेकर वह वास्तविक घट का निर्माण कर देता है, उसी प्रकार जीव के अन्दर होने वाला प्रत्येक परिवर्तन "भाव-कर्म" कहलाता है जो पुद्गल-कणों को जीव में प्रविष्ट होने के लिए बाहर से आकृष्ट करता है। जिनसे भौतिक शरीर का निर्माण होता है। यह भौतिक शरीर "द्रव्य-कर्म" कहलाता है। भाव-कर्म और द्रव्य-कर्म ये दोनों साथ-साथ निर्मित होते रहते हैं। अतः शरीर को सभी संस्कारों का फल माना जा सकता है किन्तु शरीर के विशिष्ट गुण विशिष्ट कर्म के फल हो सकते हैं। जैनदर्शन यह मानता है कि माता-पिता से प्राप्त शरीर की प्रत्येक विशेषता—परिवार, रंग, आकार, वायु इन्द्रियाँ, इनकी संख्याएं और विशिष्ट गुण सभी कर्मों से निर्धारित होते हैं।[२०९]

इस प्रकार जीव का जन्म उसके पूर्व कर्मों से नियंत्रित होता है। उसके जीवन में नये-नये कर्म आकर उसमें प्रविष्ट होते रहते हैं जिनके कारण वह नये-नये जन्म प्राप्त करता रहता है। वह विभिन्न जन्मों और योनियों में तब तक चक्कर काटता रहता है जब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता।

---

२०८. जैन-दर्शन कण-कण में चेतना मानता है और यह मानता है कि जीव एक इन्द्रिय से लेकर पांच इन्द्रियों तक के होते हैं। धातु में भी जीव है और उसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय है।

२०९. K.K. Anand : Op.Cit., p. 68

निर्वाण (मोक्ष)

जैनदर्शन के अनुसार निर्वाण शून्यावस्था का नाम नहीं है। इस दर्शन में परमानन्द एवं जीवात्मा का प्रवेश माना जाता है। उस आनन्द का निर्वाण में अन्त नहीं है। इस निर्वाण में शरीर का वियोग तो है। परन्तु सत्ता से रहित नहीं होना है।

जैनदर्शन में मिथ्या दर्शन आदि बन्धन के कारण है। उनका निरोध कर लेने पर नये कर्मों का अभाव होकर निर्जरा-रूपी कारण के सम्पर्क से पूर्वोपार्जित कर्मों का विनाश हो जाता है, तब सब प्रकार के कर्मों से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है, यदि मोक्ष है। कहा है-बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा से सभी कर्मों से बच जाना मोक्ष है। उसके बाद प्राणी ऊपर ही चला जाता है जब तक लोक का अन्त न मिल जाए।[२१०]

जैन लोग मोक्ष के दो कारण मानते हैं-संवर और निर्जरा। संवर से आस्रव कर्मोदय रुकता है, नये कर्म उत्पन्न नहीं होते। निर्जरा से अर्जित कर्मों का भण्डार भस्म कर दिया जाता है। इस प्रकार कर्मो के बन्धन से बिल्कुल निकल जाना मोक्ष है। इसके विपरीत कर्मसम्पृक्त होना बन्ध है। मोक्ष होने पर प्राणी ऊपर की ओर उठता-उठता लोकों को पार करके सबसे ऊपर पहुँच जाता है। जैसे हाथ और डण्डे से गोलाकार धुमाया गया कुम्भकार का चाक (चक्र) घुमाने वाले हाथ और डण्डे की क्रिया बन्द हो जाने पर भी, उसके बल से ही संस्कार क्षीण न होने के कारण घूमता ही जाता है उसी प्रकार संसार में स्थित आत्मा ने अपवर्ग की प्राप्ति के लिए कई बार जो योग किया था, अब मुक्ति हो जाने पर उस के अभाव में भी पहले संस्कार से लोकों के ऊपर तक चली जाती है- यह सिद्ध होता है। अथवा जैसे मिट्टी का लेप करके भारी बनाया गया लौकी का तुम्बा पानी में नीचे गिरता जाता है, लेकिन जब मिट्टी का बन्धन छूट जाता है तब ऊपर चला आता है-उसी प्रकार कर्म से रहित होकर आत्मा बिना किसी संग के कारण ऊपर जाती है। बन्धन का नाश होने से टेंड़ के बीज की तरह या अग्निशिखा की तरह अपनी ऊर्ध्वगामिनी प्रकृति के कारण आत्मा ऊपर जाती है।[२११]

---

२१०. मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुनां निरोधेऽभिनवकर्माभावान्निर्जराहेतुसन्निधानेनार्जितस्य कर्मणो निरसनादात्यन्तिककर्ममोक्षणं मोक्षः। सर्वद०सं०द्र० (त०सू० १०/२)

२११. यथा हस्तदण्डादिभ्रमिप्रेरितं कुलालचक्रम्......अग्निशिखावत्। सर्वद०सं०, पृ० १४५

स्याद्वाद मञ्जरी में न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के मोक्ष के स्वरूप का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि आचार्य मल्लिषेण ने निरतिशय, सर्वोत्तम सुख रूप ही मोक्ष है। परन्तु कुछ गुणों का उच्छेद जैन भी मानते हैं। जिसका विस्तृत वर्णन किया गया है :-

बुद्धि का उच्छेद :-

बुद्धि का अर्थ है ज्ञान इसे वैशेषिक भी स्वीकार करते है। जैन मत में पांच भेद किए गए है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवल ज्ञान। उनमें प्रथम चार ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के एक देश क्षय और उपशम से उत्पन्न होने वाले हैं, अतः केवल ज्ञान के आविर्भाव के साथ ही उनका उच्छेद हो जाता है।[२१२]

केवल ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण सब द्रव्य और सब पर्यायों को जानता है। इसीलिए मोक्षावस्था में निर्दोष रूप से अपने स्वरूप में स्थिर रहता है।

सुख का उच्छेद :-

वैयोविक जहाँ मोक्षावस्था में सुख का आत्यन्तिक अभाव मानते हैं। वहाँ जैन कथञ्चित् रूप से मोक्ष में सुख का अभाव मानते हैं। वेदनीय कर्म जो कि सांसारिक सुख-दुःखा का कारण है; इसका मोक्षावस्था में उच्छेद हो जाता है। अतः मोक्षावस्था में कर्मोत्पन्न सुख का भी उच्छेद हो जाता है।[२१३] मोक्षावस्था में अंतरहित असीमित, आत्मिक सुख रहता है।

दुःख :-

अधर्म न रहने से दुःख नहीं रहता, दुःख का आत्यन्तिक उक्ष्छेद हो जाता है।[२१४]

अधर्म :-

दुःख का कारण अधर्म है, अतः दुःख न रहने से अधर्म नहीं रहता।

---

२१२. तथाहि बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते तच्च मतिश्रुतावधिभानः पर्याय केवलभेदात्पञ्चधा। तत्राघं ज्ञानचतुष्टयं क्षायोपशमिकत्वात् केवलज्ञानाविर्भाव काल एव प्रलीनम्। स्या०मं०, पृ० ६४-६५

२१३. सुखं तु वैषयिकं तत्र नास्ति। तद्धेतोर्वेदनीय कर्मणोऽभावात्। स्या०मं०, पृ० ६४-६५

२१४. दुःखस्य चाधर्ममूलत्वात्तदुच्छेदादुच्छेदः। वही, पृ० ६५

धर्म का नाश :-

धर्म से ही वैषयिक सुख की प्राप्ति होती है अतः उसके धर्म के उच्छेद के साथ ही वैषयिक सुख का भी उच्छेद होता है, परन्तु निरपेक्ष सुख का नाश नहीं होता।[२१५]

इच्छा और द्वेष मोह के भेद हैं, मुक्त जीव के मोह का समूल नाश हो जाता है। अतः इच्छा और द्वेष का आत्यन्तिक उच्छेद जैनों को भी अभिप्रेत है।[२१६]

मुक्त जीव का कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि वे कृतकृत्य होते हैं। अतः मुक्त जीव के प्रयत्न का भी उच्छेद होता है।[२१७]

धर्म और अधर्म के रहने पर मुक्त जीव के पुण्य-पाप का भी उच्छेद होता है। क्योंकि धर्म-अधर्म के रहने पर प्राणियों को मोक्ष नहीं मिल सकता।[२१८]

संस्कार मतिज्ञान का ही भेद है, अतएव मतिज्ञान के क्षय होने के बाद ही संस्कार का भी नाश हो जाता है। इसलिए मुक्त जीव का संस्कार भी नहीं होता।[२१९]

इस प्रकार उपर्युक्त निवारण से ज्ञात होता है कि आत्मा के विशेष गुणों का कथञ्चित् उच्छेद होने पर भी मोक्षावस्था में ज्ञान और सुख का अभाव नहीं होता। अतः मोक्षावस्था में केवल ज्ञान और निरतिशय सुख दोनों का सद्भाव रहता है ऐसा जैनियों का मत है।

जैन के मोक्ष की विवेचना करते हुए जैनाचार्य अभयदेवसूरि ने सांख्य-दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी स्वरूप की आलोचना करते हुए कहा है कि बुद्धि दोनों ओर दर्पण वाली है, जिस एक ओर तो दर्पण के समान बुद्धि में पदार्थो का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओर पदार्थों का प्रतिबिम्ब पुरुष रूपी दर्पण पर पड़ता है। बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में दिखाई देना ही भोग है। इसी से पुरुष भोगता है आत्मा में कोई विकार नहीं आता।[२२०]

---

२१५. यत्तु निरतिशयक्षयमनपेक्षमनन्तं च सुखं तद्गाढं विद्यते। वही, पृ० ६५

२१६. इच्छाद्वेषयोः पुनर्मोहभेदत्वात् तस्य च समूलकार्षकषितत्वादभावः। वही, पृ० ६५

२१७. प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव। कृतकृत्यत्वात्। वही, पृ० ६५

२१८. धर्माधर्मयोस्तु पुण्यपापापर्यायियोरुच्छेदोऽस्त्येव। वही, पृ० ६५-६६

२१९. संस्कारश्च मतिज्ञानविशेष एव तस्य च मोहक्षयानन्तरमेव क्षीणत्वादभाव इति।

२२०. बुद्धिदपर्णसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पणकल्पे पुंस्यध्यारोहिति। वही, पृ० ६६ भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्तिः।। वही, पृ० १३८

मोक्ष के सम्बन्ध में सांख्य की मान्यता है कि बुद्धि ही धर्म-अधर्म अज्ञान राग-विराग तथा ऐश्वर्य अनैश्वर्य धर्मों से अपने का बांधती है और ज्ञान नामक धर्म से, मुक्त हो जाती है।[२२१] पुरुष को जब इस प्रकार का विवेक ज्ञान हो जाता है कि यह प्रकृति ही समस्त दुःखों की जड़ है; मेरा संसर्ग होना उचित नहीं है तो इस भेद विज्ञान से वह कर्म फलों का नहीं भोगता, उनकी तरफ देखता भी नहीं।[२२२]

प्रकृति भी यह पुरुष मुझसे विरक्त हो गया है इसने मुझे कुरूप समझ लिया है, मेरे द्वारा लाए कर्म फलों को यह नहीं भोगेगा। यह समझ कर कोढ़ी स्त्री की तरह स्वयं ही पुरुष के पास नहीं जाती।[२२३] जिस प्रकार नटी एक बार नृत्य दिखाकर विरत हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति भी विरत हो जाती है।[२२४] प्रकृति का संसर्ग हट जाने पर पुरुष अपने निजी शुद्ध चैतन्य मात्र में स्थित हो जाता है वही स्वरूप में अवस्थिति मोक्ष है।

आचार्य मल्लिषेण ने सांख्य के इस मत की समीक्षा करते हुए कहा है कि जो प्राकृतिक बन्ध हैं वह जैनदर्शन सम्मत मिथ्यादर्शन[२२५] में वैकारिक बन्ध अविरति में दाक्षणिक बन्ध प्रमाद कषाय और योग मे गार्भित हो जाता है और जैनदर्शनानुसार ये जीव के ही बन्ध सिद्ध होने पर जीव के ही संसार की सिद्धि होती है। बन्ध और मोक्ष का एक ही अधिकरण होने से मोक्ष भी पुरुष के ही सिद्ध होता है।[२२६]

अनादि भव परम्परा से बद्ध और पुरुष के विवेक को न समझने का अपृथग्भाव ही बन्ध है, यदि ऐसा न मानकर साँख्य कहें कि सभी पदार्थों की उत्पत्ति का कारण प्रकृति है यह प्रकारान्तर से कर्म को ही मानता है। कर्म जैन मत में भी अचेतन है। अतः कर्म बन्ध पुरुष के ही मानना चाहिए।[२२७]

---

२२१. रूपैः सप्तभिरेव तु.................रूपेण। वही, पृ० ६३

२२२. दृष्टामयेत्युपेक्षक एकोदृष्टादृमित्युपरमत्यन्या। वही, पृ० ६६

२२३. माठरवृत्तिः, पृ० १२२

२२४. रङ्गस्य दर्शयित्वा......................प्रकृति। सां०कारि० ५९

२२५. स त्रिविधोऽपि कल्पनामात्रं..........................कर्मबन्धहेतुष्वेवान्तर्भावात्। स्या०मं०, पृ० १४१

२२६. बन्धमोक्षयोश्चैकाधिकरणत्वाद् य एव बद्धः स एव मुच्यत इति पुरुषस्यैव मोक्ष। स्या०मं०, पृ० १४१

२२७. प्रकृतिः सर्वोत्पत्तिमतां................................अचेतनत्वाच्च। स्या०मं०, पृ० १४१

पुरुष का विवेक ज्ञान एवं प्रकृति का विराम ही मोक्ष है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति का स्वभाव सदा प्रवृत्ति करना है। प्रकृति अपने स्वभाव से सभी निवृत्ति नहीं हो सकती[२२८] और इस तरह पुरुष को कभी मोक्ष नहीं मिल सकेगा।[२२९]

प्रकृति की नटी की तरह निवृत्ति हो जाती है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि एक बार नृत्य दिखा कर चले जाने पर भी दर्शकों के आग्रह से नर्तकी फिर नृत्य करने लगती है, वैसे ही पुरुष को अपने स्वरूप दिखाकर प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर भी प्रकृति की फिर से प्रवृत्ति हो सकती है।[२३०] और भी प्रकृति अचेतन है वह विचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती।

षड्दर्शन समुच्चय के टीकाकार गुण रत्न ने एक और युक्ति प्रस्तुत की है। यदि ऐसा मान भी लिया जाये कि प्रकृति निवृत्त हो जाती है तो, क्योंकि ज्ञान बुद्धि का ही गुण है अतः प्रकृति का सान्निध्य दूर होते ही पुरुष अज्ञानी कहा जाने लगेगा।[२३१]

अमूर्त चेतना शक्ति का प्रतिबिम्बित होना ही योग है, ऐसा मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चेतना शक्ति अरूपी है। अतः वह प्रतिविम्बित नहीं हो सकती। प्रतिबिम्बित होना मूर्त पदार्थ का स्वभव होता है।[२३२]

प्रतिबिम्बित होने का स्वभाव सक्रियता की अवस्था में ही सम्भव है। निष्क्रिय पदार्थों में प्रतिबिम्बित होने का भाव नहीं बन सकता। स्फटिक आदि पूर्व रूप के त्याग उत्तर रूप से अध्यासित होकर ही क्रिया रूप में परिणत होने से ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करते हैं। अतः पुरुष सक्रियता की आपत्ति होगी। यदि ऐसा न मानें तो अन्ध पाषण आदि में भी प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिए।[२३३] इस प्रकार स्पष्टतः सांख्य नहीं कह सकते कि आत्मा में कर्तृत्व औरा भोक्तृत्व नहीं है।

---

२२८. प्रवृत्तिस्वभावायाः प्रकृतेरौदासीन्यायोगात्। स्या०मं०, पृ० १४१

२२९. यथेयं कृतेऽपि शब्दाद्युपलम्भे......................प्रवर्तिष्याते। स्या०मं०, पृ० १४२

२३०. तस्या अचेतनाया विमृश्यकारित्व...................स्यानपेत्वात्। स्या०मं०, पृ० १४१

२३१. ज्ञानस्य बुद्धिधर्मत्वाद् बुद्धेश्च प्रकृत्यासममुपरतत्वात्। ष०द०समु० की टीका, पृ० २९१

२३२. न चामूर्तायाश्चिच्छक्तेर्बुद्धौ प्रतिबिम्बोदयो युक्तः। तस्य मूर्तधर्मत्वात्। स्या०मं०, पृ० १३८

२३३. स्फटिकादावपि तथा परिणामेनैव.........................न प्रतिबिम्बः। वही, पृ० १३९

यह कहना कि बुद्धि अचेतन होकर भी चेतना शक्ति के सम्बन्ध से चेतना युक्त जैसी प्रतिभषित होती है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पुरुष आदि के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से दर्पण कभी भी चैतन्य रूप से परिणित नहीं हो जाता। चेतना और अचेतना का स्वभाव अपरिवर्तनीय होता है।[२३४]

महर्षि पातञ्जलि ने जो कहा कि यह प्रतिसंक्रमण औपचारिक होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योकि तत्त्वों का निर्णय करने में उपचार अनुपयोगी होता है।[२३५] औपचारिक प्रतिसंक्रमण यदि मान भी लिया जाये तो सुख दुःख को आधार रहित मानने की आपत्ति उठेगी, क्योंकि वास्तव में सुख-दुःख आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं है और वृद्धि जड़ होने से सुख-दुःख का आधार नहीं हो सकती।[२३६]

उपर्युक्त विवेचन के आधर पर निष्कर्ष निकलता है कि बन्ध और मोक्ष आत्मा में ही सम्भव है: जड़ प्रकृति में नहीं।

षड्दर्शन समुच्चय टीकाकार गुणरत्न का भी कहना है कि आत्मा स्वभाव से अमूर्त है परन्तु यह संसारी जीव अनादि काल से आठ प्रकार से पुद्गल कर्मों से बंधा हुआ है: इसके चारों कर्म पुद्गलों का एक बड़ा भारी पिण्ड है, जिसे कार्माण शरीर कहते हैं। इस कार्माण शरीर के सदा साथ लगे रहने के कारण स्वभाव से अमूर्त भी आत्मा मूर्त हो रहा है।

अतः संसारी आत्मा मूर्त भी सिद्ध हो तो जैनमत में कोई हानि नहीं आती कर्म बन्ध के कारण सशरीरी तथा मूर्त भी आत्मा को मानते है।[२३७] इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है।

डॉ० राधाकृष्णन् ने जैनदर्शन के निर्वाण के विषय में कहा है कि मुक्तात्मा के विषय में हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते और यथार्थ में न ही हम जानते हैं कि मुक्तात्मा अनेक पूर्णता की दशा को हम इस भाववाचक रूप से वर्णन करते हुए कह सकते हैं कि यह कर्म एवं कामना से मुक्त नितान्त एवं

---

२३४. न हि चैतन्यवति पुरुषादौ..................................भावत्वेन। वही, पृ० १३९
२३५. उपचारस्तत्त्वचिन्तायामनुपयोगी इति प्रेक्षावतामनुपादेय एवायम्। वही, पृ० १३९
२३६. तथा च प्रतिप्राणिप्रतीतं..................................तस्याजऽत्वेनभ्युपगमात्। वही, पृ० १३९
२३७. यतः खलु संसारिणो जीवस्याष्टकर्म पुद्गलवेष्टितत्वेन सशरीरत्वात् कथञ्चिन्मूर्तत्वान्नायं दोषः। षड्०समु० टीका, पृ० २२९

परम निश्चेष्टता की दशा है-एक ऐसा विश्राम है जिसमें न कोई परिवर्तन है और न जिसका अन्त ही है, एक-अनुरागहीन और वर्णनातीत शान्ति की दशा। भूतकाल के कृत कर्म की शक्ति नष्ट हो चुकी होती है और आत्मा यद्यपि अभी विद्यमान है, फिर से शरीर धारण का कोई अवसर उसके लिए नहीं है। यद्यपि अत्यन्त दृढ़तापूर्वक तो नहीं तो भी मुक्तात्मा के सम्बन्ध में निश्चयात्मक वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि इसमें असीम चेतना, विशुद्ध चिन्तन, परम स्वातन्त्र्य एवं स्थिर आनन्द आदि गुण विद्यमान रहते है।[२३८] प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य रखती है, क्योंकि दर्शन और ज्ञान आत्मा के व्यापार हैं, इन्द्रियों के नहीं। मुक्तात्मा के जीवन का आरम्भ है, अन्त नहीं है; जबकि एक बुद्ध आत्मा के जीवन का आरम्भ नहीं मिन्तु अन्त नहीं। ये मुक्तात्माएं अपने एक समान पद के कारण परस्पर एक-दूसरे से संयुक्त होने का आनन्द अनुभव करती हैं। उनके आत्म रूपी द्रव्य में एक विशेष शक्ति रहती है, जिसके द्वारा ऐसी आत्माओं का सह-अस्तित्त्व सम्भव हो सकता है। मुक्तात्मा के साम्य का निर्णय प्रवाहरूप मधुर सम्बन्ध के द्वारा जो पिछले भौतिक जीवन की आकृति को स्थिर रखता है-एवं भूतकाल के ज्ञान द्वारा होता है। मोक्ष का यह आदर्श अत्यन्त पूर्णरूप में चौबीस तीर्थंकरों के जीवनों में अभिव्यक्त होता है।[२३९]

जैनदर्शन के अध्यात्म शास्त्र पर विचार किया जाये तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शुद्ध आत्मा तथा विशद्ध प्रकृति जिसके पृथक्त्व को माना जाता है। वस्तुतः एक ही सर्वव्यापक की आवश्यकताएँ मानी जा सकती हैं। जो एक दूसरे के विरोधी है; किन्तु एक ही पूर्ण सत्ता के पृथक् न किये जा सकने वाले अवयव हैं। जैनदर्शन में यद्यपि सर्वव्यापक ब्रह्म के अस्तित्त्व को उस रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है, जिस रूप में द्वैत एवं अद्वैत दर्शनों में स्वीकार किया गया है। इनके यहाँ विशुद्ध आत्मा केवल एक भावात्मक परम सत्ता है। जिसे किसी के विरूद्ध संघर्ष करने की आवश्यकता से पृथक् रूप में सत्ता है।

---

२३८. पञ्चास्तिकायसमयसार, २८

२३९. 'भारतीय दर्शन का इतिहास'-राधाकृष्णन्, पृ० ३०५
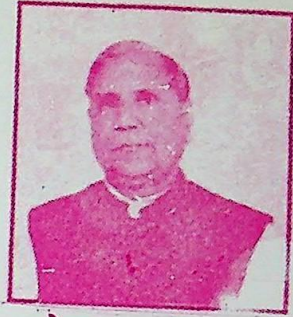
लेखक परिचय

नाम– डॉ० जयदेव वेदालंकार
पिता का नाम–श्री जुगलाल सिंह
जन्म स्थान–झाड़ौदा कलाँ, नई दिल्ली-४३
जन्म तिथि–५.१२.१९४१
शिक्षा–

हाई स्कूल–पंजाब विंश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
वेदालंकार–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार
सिद्धान्त भूषण–दयानंद उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर (हरियाणा)
एम०ए०–गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पी-एच०डी०–मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ
डी० लिट्०–रांची विश्वविद्यालय, बिहार

ग्रन्थ–

वैदिक दर्शन, भारतीय दर्शन की समस्याएँ, उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, भारतीय दर्शन में प्रमाण, वैदिक साहित्य का इतिहास, भारतीय दर्शन तत्त्व एवं ज्ञान मीमांसा के मौलिक सम्प्रत्यय, भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास (पाँच खण्ड)।

राष्ट्रीय पुरस्कार–

१. स्वामी प्रणवानन्द दर्शन पुरस्कार, १९८७
२. आर्य साहित्य पुरस्कार शान्ताक्रुज, मुम्बई १९९८
३. उत्तर-प्रदेश संस्कृत अकादमी विशेष पुरस्कार १९९९
४. वेद-वेदांग राष्ट्रीय पुरस्कार २०००, स्वामी गंगेश्वरानन्द वेद प्रतिष्ठान नासिक
५. वर्षीय उत्तम ग्रन्थ-२००२ (भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली)।